प्रकाशक : अशोक प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली ।

मूल्य : रु० १६ ००

प्रथम संस्करण : १९६०

पृष्ठ संख्या : ५९२+२०=६१२

मुद्रक : पाईनियर फाइन आर्ट प्रेस तथा शिवजी प्रेस दिल्ली ।

पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित कर दिया। विहारी का निम्नलिखित पद्य राजा मानसिंह के विषय मे उपलब्ध हुआ है, जिसमे मानसिंह की प्रशसा की गई है '—

महाराजा मानसिंह पूरब पठान मारे, सोनित की सरिता अजौं न सिमिटति है।
सुकवि 'बिहारी' अजौं उठत कवन्ध कूदि अजौं लौं त्यौं रन में रनो ही न मिटति है।।
अजौं लौं पिशाचन ही चहलतें चौंकि चौंकि सची मघवा की छतियान लिपटति है।
अजौं ओढ़ेहू कपाली आली आली खाले अजौं लगि काली मुख लाली ना मिटति है।।[1]

किन्तु अकबर ने शीघ्र ही अनुभव कर लिया था कि राजपूत मैत्री सर्वथा निरापद नही है। अकबर ने बडी कठिनाई से और बडी साघना के वाद शाहजादा सलीम को प्राप्त किया था और स्वभावत उसकी कामना सलीम को ही उत्तराधिकार प्रदान करने की थी। परन्तु मानसिंह अपने भाजे खुसरो को उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। मानसिंह के सकोच के कारण अकबर को भी विवश होकर खुसरो का समर्थन करना पडता था, जिससे सलीम को निरन्तर सघर्ष और विद्रोह के लिए वाध्य होना पडना था।[2]

मानसिंह की मृत्यु के वाद नेतृत्व जोधपुर के हाथो मे चला गया। इसके दो कारण थे। एक तो मानसिंह ने भाजे खुसरो के समर्थनमे जहागीर से विरोध मोल ले लिया था। दूसरे मानसिंह के उत्तराधिकारी भावसिह इत्यादि दो-एक राजा अयोग्य सिद्ध हुए थे। कुछ समय वाद जगतसिह के पौत्र जयसिंह को वीकानेर की राजकुमारी जोधावाई के उद्योग से वही महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त हो गया, जिसका उपभोग राजा मानसिंह ने किया था। जयसिंह भी महान् शक्तिशाली और प्रतिभा-सम्पन्न शासक था। इसने मुगलो की मान-मर्यादा बढ़ाने मे वहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। जयसिह का समस्त जीवन मुगल सेना-नायक के रूप मे सैंकडों सफल अभियानो से भरा हुआ था। इसके नाम से मुगलो के विरोधी थरति थे। उत्तराधिकार के सम्वन्ध मे जयसिंह ने औरगजेव का साथ दिया था और दाराशिकोह तथा दूसरे विरोधियो के दमन मे प्रमुख भाग लिया था। जयसिंह की तत्परता और वीरता का इसमे अनुमान लगाया जा सकता है कि औरगजेव के आतक से जब दारा विभिन्न देशी नरेशो की शरण मे जाता था तब जयसिंह का पत्र उसके पहुचने के पहले ही वहा पहु च जाता था और उसके आतक से दारा को कही शरण नहीं मिलती थी, यहा तक की दारा के समधी ने भी उसे अपने यहा आश्रय नही दिया था। हिन्दू-नरेशो मे औरगजेव के दो प्रवलतम विरोधी थे—छत्रसाल वु देला और वीर शिवाजी। जयसिंह ने छत्रसाल से औरगजेव की सधि कराई थी और शिवाजी को दरवार मे उपस्थित होने पर वाध्य किया था। जयसिह के जीवन काल में

१—देखो—श्री विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र लिखित 'बिहारी' का परिशिष्ट।

२—कर्नल टाड ने बूदी के लेखों के आधार पर लिखा है कि इसलिये अकबरने माजून में विष मिलाकर मानसिंह को मार डालने की चेष्टा की थी जिसको धोखे में खाकर स्वयं मर गया।

समर्पण

पूज्य पितृ-चरण श्री पण्डित संकटाप्रसाद जी त्रिपाठी
की पुण्य-स्मृति में, जिनकी वात्सल्यमयी
सदाकांक्षा ही प्रस्तुत प्रबन्ध के
रूप में फलवती
हुई है।

(१) आई जावन लेन जिय नेहै चली जवाइ।
(२) को जाने ह्वैहै कहा; व्रज उपजी अति आगि।
(३) तजतु अठान न, हठ पर्यो सठमति, आठौं जाम।
भयौ वामु वा वाम कौं रहै कामु वेकाम॥
(४) चलत-चलत लौं लै चले सव सुख सग लगाइ।
ग्रीषम-वासर सिसिर-निसि प्यौ मो पास वसाइ॥
(५) सकुचि सुरत-आरभ हीं विछुरी लाज लजाइ।
ढरकि ढार ढुरि ढिग भई ढीठि ढिठाई आइ॥
(६) खुलति न मोमन वधि रही वहै अधखुली दीठि।
(७) मनु ह्वै जात अजौं वहै उहि जमुना के तीर।

मन तो सर्वदा वही रहता ही है। अतएव "मन वही हो जाता है" कहना किसी प्रकार भी सगत नहीं हो सकता। अत इस अर्थ का वाध हो जाता है और इस का लक्ष्यार्थ निकलता है "मन की भावना या विचार" इस से व्य जना होती है प्रेम की उत्कटता और वियोगजन्य दु ख की अधिकता।[1]

(८) बढ़त निकसि कुच कोर-रुचि, कढत गौर भुजमूल।
मनु लुटि गो लोटनु चढत चोटत ऊचे फूल॥
(९) प्रानपिया हिम मैं बसी नख रेखा ससि भाल।
भलौ दिखायौ आइ यह हरि-हर-रूपु रसाल॥

यह कथन खण्डिता नायिका का नायक से है। कोई भी स्त्री अपने प्रियतम पर परस्त्री सभोग चिन्हो से युक्त होने पर उसकी प्रशसा नही कर सकती और न इस वात पर हर्ष ही प्रगट कर सकती है। अत नायिका के द्वारा नायक की यह प्रशसा वाधित हो जाती है और विपरीत लक्षणा से उसका लक्ष्यार्थ निकलता है—"तुम मुझ से सच्चा प्रेम नही करते। तुम्हारे मस्तक मे परस्त्री सभोग-सूचक नखक्षत वना ही हुआ है। तुम्हारा इस प्रकार आना मुझे अच्छा नहीं लगता।" इसका व्यग्यार्थ होगा—"तुम वडे धूर्त और छली हो, सर्वदा मुझ से झूठे प्रेम का वहाना किया करते हो और मुझ से छिपाकर दूसरी स्त्री से प्रेम करते हो। आज तुम्हारी चोरी खुल गई है। अव मै तुम्हारे धोखे मे कभी नही आ सकती।"[2]

(१०) अर तें टरत न वर-परे, दई मरक मनु मैन।
होडाहोडी बढ़ि चले चितु, चतुराइ, नैन॥

१—मिलाइये—"आत्मीयाम् मतिमारधाय" काव्यप्रकाश।
२—मिलाइये—"उपकृत वहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व तत शरदा शतम्॥ काव्यप्रकाश
इसी प्रकार —पलन पीक अजन अधर ।
कत अटकन निधरक फिरो ।
उर मानिक की उर वसी ।

दो शब्द

कुछ समय पूर्व मुझे प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डु-लिपि का अध्ययन करने का सुयोग मिला था और तभी से मेरे मन पर इसके कृती लेखक की विद्वत्ता और गम्भीर चिन्तना-शक्ति का अच्छा प्रभाव रहा है। अपने विषय की परिपूर्ण समीक्षा होने के अतिरिक्त इसमे अनुसधान की एक विशष दृष्टि का उन्मेप है। अग्रेजी मे थीसिस' शब्द का मूल अर्थ है प्रतिज्ञा। सफल शोध-प्रबध लिखने के लिए अनुसधाता को कोई विशेप मौलिक स्थापना कर उसे सिद्ध करना पडता है। अनुसन्धान का यह एक अत्यन्त विशिष्ट और मूलभूत रूप है। इसमे सन्देह नही कि साहित्यिक शोध के क्षेत्र मे इस पद्धति का निर्वाह सर्वत्र सम्भव नही है, किन्तु फिर भी इसके महत्त्व मे किसको सन्देह हो सकता है ? मुझे प्रसन्नता है कि डा० त्रिपाठी ने अपने प्रबन्ध मे ध्वनि-काव्य की दृष्टि से बिहारीसतसई का सागोपाग अध्ययन प्रस्तुत कर अनुसन्धान की इस विशिष्ट मौलिक पद्धति का सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। काव्य-शास्त्र का निर्भ्रान्त ज्ञान होने के कारण लेखक की दृष्टि ध्वनि के सूक्ष्म भेद-प्रभेदों के निर्णय मे भी कही उलझी नही है। अत्यन्त विश्वासपूर्वक वे यथाप्रसङ्ग अपने मन्तव्य व्यक्त करते गये है। लेखक का आधार-फलक बडा विशाल है—शोध-प्रबन्ध की योजना की दृष्टि से आप उसकी उपयुक्तता पर शङ्का भी कर सकते है किन्तु अत्यन्त रोचक और उपयोगी सामग्री का उद्घाटन कर तथा लेखक के व्यापक अध्ययन का परिचय देकर ग्रथ के महत्त्व-वर्धन मे उसने निश्चय ही योग-दान किया है। मुझे विश्वास है कि रीतिकाव्य के शास्त्रविद् रसिक इसका समुचित आदर करेंगे।

अध्यक्ष हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

— नगेन्द्र

परिचय

प्रस्तुत रचना विद्वद्वरो के कर-कमलो मे सौंपते हुए मुझे गर्व और प्रसन्नता के भावो की एक समन्वयात्मक अनुभूति हो रही है। प्रसन्नता इसलिये है कि हिन्दी साहित्य को एक वास्तविक अनुसन्धान कृति प्रस्तुत की जा रही है और गर्व इसलिये है कि उसकी रचना मेरे ही निर्देशन मे हुई है। यह रचना आगरा विश्वविद्यालय से स्वीकृत पी-एच० डी० की थीसिस का यत्किंचित् परिवर्तित एव परिवर्धित रूप है। इसमे हिन्दी के एक उस महाकवि का अनुसन्धानात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जो मुक्तक दोहो की सतसई लिखकर ही हिन्दी के महाकवियो मे उच्चातिउच्च पद के अधिकारी बन गये हैं। उनके इस अधिकारित्व का प्रमुख कारण दोहा जैसे छोटे से छद मे असीम पयोधि जैसे प्रतीयमान अर्थ की प्रतिष्ठा है। यह प्रतीयमान अर्थ अनिर्वचनीय है। आनन्दवर्धन के शब्दो मे महाकवि पद का अधिकारी वहा साहित्यकार हो सकता है जिसके काव्य मे इस प्रतीयमान अर्थ की प्रतिष्ठा रहती है। उनकी उक्ति है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तम् विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥

अर्थात् जिस प्रकार ललना-सौंदर्य मे अवयव-गत सुडौलता के अतिरिक्त एक लावण्य नामक अनिर्वचनीय तत्त्व पाया जाता है उसी प्रकार महाकवि की वाणी मे छद-अलकार-गुण आदिगत चमत्कार के अतिरिक्त एक अनिर्वचनीय प्रतीयमान अर्थ की प्रतिष्ठा रहती है। बिहारी के अध्येताओ ने अधिकतर उनका अध्ययन अलकार आदि की दृष्टि से ही किया था जिससे महाकवि का समूचा सौंदर्य स्पष्ट नही हो पाया था। उसके इस सौंदर्य को स्पष्ट करने के लक्ष्य से ही इस रचना की सर्जना हुई है। इसमे उनका अध्ययन प्रतीयमान अर्थ या व्यग्य की दृष्टि से किया गया है जो हिन्दी साहित्य क्षेत्र मे सर्वथा मौलिक है। लेखक के साहित्यशास्त्रीय पाडित्य की पुट ने रचना को और भी अधिक प्रौढ और प्राजल बना दिया है। अपने मेधावी शिष्य की ऐसी मौलिक रचना का विद्वत्-समाज मे अभिनन्दन करते हुए मुझे बडा परितोष है। ईश्वर करे वह इसी प्रकार की उच्च साहित्य-साधना मे अग्रसर हो और अपनी नवीन मौलिक रचनाओ से हिन्दी का कान्त कलेवर चमत्कृत करे।

अध्यक्ष-सस्कृत विभाग,
के०जी०के० कालेज,
मुरादाबाद

गोविन्द त्रिगुणायत
एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्०

भूमिका

'अनेक सवाद'-भरी बिहारी-सतसई के अध्ययन की एक लम्बी परपरा है। हिन्दी का यह ग्रथ सुदुर्लभ-सौभाग्यशाली है जिसकी टीकाये और अनुवाद पहले ही सस्कृत और उर्दू मे भी हो चुके है। परन्तु टीका, व्याख्या और अनुवाद की प्रगाढ परपरा होते हुए भी, यह कहा जा सकता है कि अध्ययन सीमित क्षेत्र मे ही होता रहा। आधुनिक शिक्षा-विकास के साथ साहित्य के अध्ययन के जो नवीन क्षेत्र उद्घाटित होते जा रहे है, उनमे भी हमारे प्राचीन काव्य नूतन सम्भावनाओ से युक्त सिद्ध हो रहे है। ऐसा सिद्ध हो रहा है कि जो काव्य लोकप्रिय, स्मरणीय एव युगान्तरस्थायी होता है, वह अपने अन्तर्गत इन नूतन सम्भावनाओ को भी छिपाये रहता है। हिन्दी साहित्य के प्रसग मे यह बात दो अति प्रसिद्ध काव्यो—रामचरित मानस और बिहारी सतसई—के सम्बन्ध मे पूर्णतया सत्य है। रामचरित मानस जहा पहले धार्मिक और साहित्यिक महत्त्व का ग्रथ समझा जाता था, वहा अब वह सास्कृतिक, सामाजिक एव राजनैतिक महत्त्व का ग्रथ सिद्ध हो रहा है। इसी प्रकार बिहारी-सतसई जो केवल रमणीय काव्य की ही दृष्टि से पढी जाती रही है, अब वह सास्कृतिक, मनोवैज्ञानिक एव ऐतिहासिक विशेषताओ से सम्पन्न ग्रथ स्पष्टत सिद्ध हो रहा है। अत हिन्दी काव्यो का इन नवीन दृष्टियो से अध्ययन अपेक्षित है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी काव्य के गौरव की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए, प्रतिष्ठित गौरव वाले साहित्यो की परम्परा मे उसके ग्रथो के साथ हिन्दी ग्रथो के तुलनात्मक अध्ययन की भी आवश्यकता है। इन परम्पराओ और तुलनाओ के बीच रख कर ही हम राष्ट्रभाषा हिन्दी के काव्य का समुचित मूल्याकन कर सकते है। ऐसे अध्ययन न केवल अधिक विश्वसनीय होते है, वरन्, वे सत्काव्यो की रचना की प्रेरणा भी देते है। 'मुक्तक काव्य की परम्परा और बिहारी' के रूप मे प्रस्तुत यह अध्ययन इस दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व रखता है। 'बिहारी सतसई' के अध्ययन के व्याज से इसके लेखक डा० राम सागर त्रिपाठी ने भारतीय मुक्तक-काव्य की परम्परा का सागोपाग एव सरल सारगर्भ समीक्षण प्रस्तुत किया है। इससे स्पष्ट होता है कि लोक की सहज काव्य-प्रतिभा मुक्तक के रूप मे प्रायः प्रस्फुटित होती है। साथ ही यह काव्य सहज स्मरणीय होने के कारण अधिक प्रचलित एव स्थायी होता है। बडे-बडे प्रबन्ध काव्य मौखिक रूप मे उतने दीर्घजीवी नही होते जितने छोटे-छोटे धार्मिक

भावना, रसत्व या जीवनानुभव से सयुक्त मुक्तक होते है। इसके अतिरिक्त मुक्तक जहा बहुमुखोच्चरित हो सहज प्रचार पाते है, वहा दीर्घकाय प्रबन्ध सामान्यतया कठिनाई से ही इस सौभाग्य को प्राप्त करते है।

कला की दृष्टि से भी मुक्तक काव्य में अभिव्यक्ति-भगिमा एव चमत्कार की विशेषता प्रबन्ध की अपेक्षा अधिक रहती है। मुक्तककार जहा एक-एक शब्द को सभाल कर प्रयुक्त करता है, एक-एक वर्ण को सजा कर रखता और उसकी मात्रा को तोलकर लगाता है और इस प्रकार एक दृष्टिपात में ही अपनी पूर्णकला की चमत्कृति की चकाचौंध दिखा सकता है, वहा प्रबन्धकार को कथाप्रवाह और चरित्र-चित्रण के प्रति अधिक जागरूक रहने के कारण कला के प्रति अधिक सजग होने का अथवा चमत्कार-प्रदर्शन का अवसर उतना नही मिलता। वरन्, वहा कुतूहल और भावना की तीव्रता के कारण कला की सूक्ष्मता और जटिलता समझने का धैर्य भी पाठक को नही रहता।

मुक्तक काव्य की सुन्दर परम्परा के साथ ही समस्यापूर्ति काव्य का भी विकास हुआ। मुक्तक काव्य का कलागत उत्कर्ष अपने एक विशिष्ट रूप में समस्या-पूर्ति काव्य में पाया जाता है जिसके अध्ययन की भी आवश्यकता है। मुक्तक का यह रूप सुभाषित, सूक्ति या चमत्कार काव्य मे आया है।

यह कहना भी अधिक सगत नहीं है कि सास्कृति, समाज एव इतिहास का समावेश केवल प्रबन्ध काव्य मे ही रहता है। बिहारी जैसे मुक्तककारो ने अपने दोहो में इन तीनो की विशेषतायें भर दी है। उदाहरणार्थ सास्कृति-चित्रण के कुछ दोहे निम्नाकित है —

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाउ।
तरि ससार पयोधि कौं, हरि नावै करि नाउ॥
जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काचै नाचै वृथा, साचै रांचै राम॥
तजि तीरथ, हरि राधिका, तन दुति करि अनुराग।
जिहि ब्रज केलि निकुंज मग, पग पग होतु प्रयाग॥

उपर्युक्त दोहो में वेशभूषा एव अन्य बाह्याडम्बरो को छोडकर भक्तिभाव को ग्रहण करने का उपदेश है और उसमें भी सर्वोपरि है प्रेम-भक्ति का सकेत। यह प्रेम-भक्ति-भावना भारतीय सास्कृति का महत्त्वपूर्ण अग थी। इसी प्रकार बिहारी के दोहो में सामाजिक जीवन से सम्बन्धित सूक्तिया देखिये —

बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु।
भलौ भलौ कहि छोडियै, खोटै ग्रह जप दानु॥
अरे परेखा को करै, तुही बिलोकि विचारि।

कहै यहै श्रुति सुमृति हू, सबै सयाने लोग।
तीन दबावत निसकहीं, पातक राजा रोग॥
करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि।
रे गंधी, मति अंध तू, अतर दिखावत काहि॥
रह्यौ न काहू काम कौ, सत न कोऊ लेत।
बाजू टूटे बाज कौं, साहब चारा देत॥

उपर्युक्त दोहो मे सामाजिक नीति की सूक्तिया है, परन्तु वे सब समकालीन समाज के विशिष्ट प्रसगो से सबन्ध रखती है। इनमे मध्ययुगीन समाज की दशा के अनुरूप सूक्तिया देख पडती है।

इसी प्रकार इतिहास की घटनाओ और व्यक्तियो से सम्बन्धित दोहे भी बिहारी के अनेक है, यहा तक कि जयपुर के आस-पास तो लोगो का विश्वास है कि उनके अधिकाश दोहे किसी न किसी सामाजिक या ऐतिहासिक घटना से सम्बन्ध रखते है और उन्ही घटनाओ का प्रतिबिम्ब होने के कारण बिहारी के दोहो का दरबार मे इतना आदर होता था। इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले कुछ दोहे बिहारी के निम्नाकित है —

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहि काल।
अली कली ही सौ बिंध्यौ, आगे कौन हवाल॥
स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखु विहग विचारु।
बाज पराये पानि परि, तू पच्छीनु न मारु॥
सामा सेन सयानको, सबै साहि के साथ।
बाहुबली जयसाहि जू, फते तिहारैं हाथ॥
यौ दल काढे बलक तें, तै जयसिंह भुवाल।
उदर अघासुर कै परैं, ज्यों हरि गाइ, गुवाल॥
घर घर तुरकिनि हिन्दुनी, देति असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर चुरी, तैं राखी जय साहि॥

उपर्युक्त उदाहरण इस बात को प्रमाणित करने के लिए दिये गये है कि बिहारी जैसे मुक्तककारो की रचनाओ का अध्ययन सास्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक आदि दृष्टियो से भी किया जा सकता है।

बिहारी के दोहो के इतने अधिक प्रभावशाली होने का एक प्रमुख कारण समाविष्ट नाटकीय तत्त्व है। ये तत्त्व विशेषरूप से उनके रसात्मक मुक्तको मे देखे जा सकते है। मुगल शासनकाल मे नाटक-रचना को हतोत्साहित किया गया। यही कारण है कि उस समय के हिन्दी-साहित्य मे भी नाटक रचना सुदुर्लभ है। ऐसी दशा मे कवियो की नाटकीय प्रतिभा प्रबन्धकाव्यो, पदो एव मुक्तको मे प्रस्फुटित

हुई । इन्ही काव्यो को पढकर या लीलारूप मे अभिनय कर जन-सामान्य ने अपनी नाटकीय अभिरुचि की तुष्टि की । अत सूर, तुलसी, विहारी, देव, पद्माकर जैसे महाकवियों की रचनाओ मे नाटकीय तत्त्वों का समावेश देखने को मिलता है। इन रचनाओ की लोकप्रियता का भी यह एक प्रधान कारण था।

नाटकीय तत्त्व, प्रबन्ध काव्यो मे तो कथा-तत्त्व के साथ सहज ही समाविष्ट हो सकते है, परन्तु, मुक्तक काव्य मे समाविष्ट करना कुछ कठिन कार्य है । फिर भी इस दिशा मे विहारी को अद्वितीय सफलता मिली है। नाटकीय विशेषता को स्पष्ट करते हुए दशरूपककार आचार्य धनजय ने लिखा है :—

अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् रूप दृश्यतयोच्यते ।
रूपकम् तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम् ।।७।।

इससे स्पष्ट है कि अवस्था की अनुकृति, रूप-योजना, चित्रात्मक वर्णन नाटक की विशेषता है। हम कह सकते हैं कि किसी व्यक्ति का स्वरूप, क्रियाकलाप, भावानुभूति अथवा किसी घटना को प्रत्यक्ष कर सजीव रूप से सामने प्रस्तुत कर देना नाटकीय विशेषता है। ऐसी दशा मे हम निश्चयत कह सकते हैं कि विहारी के मुक्तक नाटकीय विशेषताओ से सम्पन्न हैं । इन विशेषताओ से युक्त कुछ उदाहरण देखिये :—

अंग अग नग जगमगत, दीपसिखा सी देह।
दिया वढाये हू रहै, वड़ौ उजारौ गेह ।।
छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोवनु अग।
दीपति देह दूहुन मिलि, दीपति ताफता रग ।।
मिलि चदन वेदी रही, गोरे मुख न लखाइ।
ज्यों ज्यो मद लाली चढ़ै, त्यों त्यो उघरति जाइ ।।

उपर्युक्त प्रकार के विहारी के अनेक दोहे हैं जिनमे रूप लावण्य का चित्रण चटकीले ढग पर किया गया है, जिससे सामने सजीव लावण्य मूर्ति अकित हो जाती है। इनसे भी अधिक निखरे हुए विहारी के वे चित्र है जो क्रियाकलाप को प्रत्यक्ष करते हैं। उदाहरणार्थ देखिये :—

चितई ललचौंहैं चखनु, डटि घूघट पट माह ।
छल सो चली छुवाइ कै, छिनकु छबीली छांह ।।
कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात ।
भरे भौन में करत है, नैनन ही सब बात ।।
मुंह धोवति एडी घसति, हसति अनगवति तीर।
घँसति न इंदीवर नयनि, कालिन्दी के तीर ।।

कहने की आवश्यकता नही कि इन दोहों मे अभिनय की विशेषता है जो नाटक का गुण है। विहारी के इन अभिनयात्मक चित्रो को भुलाया नही जा

सकता है। साथ ही यह भी सत्य है कि विहारी सतसई ऐसे क्रियाकलापमय चित्रो से भरपूर है। ये क्रियाकलाप प्राय विभाव या अनुभाव रूप मे है। इसके साथ-साथ ऐसे भी दोहे है जिनमे भाव प्रत्यक्ष हुआ है। दो-एक उदाहरण देखे जा सकते है—

छला छबीले लाल को, नवल नेह लहि नारि।
चूमति, चाहति, लाइ उर, पहिरति धरति उतारि॥
नासा मोरि, नचाइ दृग, करि कका की सौंह।
काटे सी कसकै हिये, गडी कटीली भौंह॥

इन दोहो मे प्रेम (रति) भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति है जो नाटकीय विशेषता के साथ प्रत्यक्ष होती है। भाव के इस प्रकार के प्रत्यक्षीकरण के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इसके साथ-ही-साथ घटनाओ को सजीव रूप मे स्पष्ट करने वाले दोहे भी विहारी सतसई मे अनेक हैं, जैसे —

कुंज भवन तजि भवन को, चलिये नन्दकिसोर।
फूलति कली गुलाब की, चटकाहट चहु ओर॥
घर घर तुरकिनी हिन्दुनी, देत असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर चुरी, तै राखी जय साहि॥
अहे दहेडी जिनि धरे, जिनि तू लेहि उतारि।
नीकै है छींको छुवे, ऐसे ही रहि नारि॥

इन समस्त उदाहरणो से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि विहारी के काव्य मे नाटकीय विशेषता विद्यमान है जो उसे इतना प्रभावशाली बनाती है।

मुक्तक काव्य मे इस नाटकीय विशेषता को लाने के लिए भाषा पर अधिकार चाहिए और यह मानना पडेगा कि विहारी को वह अधिकार विलक्षण रूप से प्राप्त है। उन्होंने इसी अधिकार से जगमगाती शब्द-योजना एव उक्ति-वैचित्र्य का सम्पादन किया था। सतसई के सात सौ दोहो मे ही उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द-भडार विशाल है। ठेठ ग्रामीण शब्दो से लेकर उत्कृष्ट साहित्यिक शब्दावली का प्रयोग सतसई मे हुआ है और दोनो ही प्रकार की प्रयुक्त शब्दावली मे एक मोहक आभा और रमणीयता विद्यमान है।

विहारी ने अपने शब्दो के बहुविध प्रयोग मे वैचित्र्य-सम्पादन किया है। कहीं तो वह पुनरुक्ति रूप मे है और कहीं अनेकार्थी शब्द-प्रयोग के रूप मे। कहीं विरोध द्वारा वैचित्र्य है, तो कहीं असंगति का चमत्कार है। उदाहरणार्थ —

सालति है नटसाल सो, क्यो हू निकसति नाहि।
मनमथ नेजा नोक सी, खुभी खुभी जिय माहि॥
हरि हरि बरि बरि उठति है, करि करि थकी उपाइ।
वाको जुर बलि बैद जो, तो रस जाइ तु जाइ॥

~ \

औरै ओपु कनीनिकनु, गनी घनी सिरताज।
मनौ धनी के नेह की बनी छनी पट लाज।।
खेलन सिखये अलि भलै, चतुर अहेरी मार।
कानन चारी नैन मृग, नागर नरन सिकार।।

बिहारी के शब्द-प्रयोग के साथ-साथ शब्द-मैत्री, वर्ण-मैत्री, वर्णावृत्ति आदि के चमत्कार भी उनके दोहो मे एक चमक भर देते हैं और बहुत से लोग उनके काव्य पर इन्हीं विशेपताओ के कारण लट्टू हैं। इसमे सन्देह नहीं कि ये विशेपतायें सर्व-प्रथम प्रभाव डालती है और यदि इस वर्ण-शब्द-सौष्ठव के साथ-साथ अर्थगत विशेपता भी हुई तो काव्य की उत्कृष्टता असंदिग्ध रूप से सिद्ध हो जाती है। जैसे :—

सायक सम मायक नायन, रगे त्रिविध रग गात।
झखौं बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात।।

उपर्युक्त दोहे मे यक और जल जात शब्दो के विविध प्रयोगो का चमत्कार है। अर्थ के अतिरिक्त शब्द का भी विलक्षण आकर्पण है। परन्तु इससे भी कठिन ट जैसे वर्णों की आवृत्ति का चमत्कार है। इसका भी एक उदाहरण प्रस्तुत है —

लटकि लटकि लटकतु चलतु, डटतु मुकुट को छाह।
चटक भर्यो नटु मिलि गयो अटक भटक वट मांह।।

उपर्युक्त कोमला और परुषा वृत्तियो के साथ एक उपनागरिका का उदाहरण तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही है :—

रस सिंगारु मजनु किये, कजनु भजनु देन।
अजन रजन हू बिना, खजन गजन नैन।।

यह बिहारी की वर्णों एव शब्दो की योजना विशिष्ट चमत्कार की साधन है। बिहारी के अनुकरण पर अब इसी प्रकार का चमत्कार दो-एक दोहो मे दिखा लेना और बात है पर हिन्दी काव्य मे प्रारम्भिक सतसई ग्रन्थो मे उपर्युक्त चमत्कार लाना बिहारी की मौलिकता है। शब्द-प्रयोग के प्रसग मे बिहारी का शब्द-निर्माण भी बड़ा वैशिष्ठ्यपूर्ण है। दोहे के साचे मे ढालने के लिये तथा वर्ण-मैत्री और शब्द-सक्षेप की आवश्यकतावश बिहारी ने शब्दो के नवल रूपो की रचना की है जैसे, झुलमुली, टलाटली, चितचटपटी, उड़ाइक, सायक (सायंकाल का सक्षेप), कैबा (कै बार का सक्षेप), रचौहै (रचने वाले), लगौहै, चोरटी, गोरटी, बडबोली आदि।

ऐसी बात नही कि बिहारी ने शब्दो को विकृत न किया हो। अर (अड़), वर (बल), नट साल, रोज़ (रोज़ा), अनही चितै, मोपु (मोक्ष), सक्रौनु (सक्रमण), कर्कै (करिकै), असोह (अशोष्य), मुत्तिय (मौक्तिक) आदि अनेक उदाहरण

विहारी द्वारा प्रयुक्त त्रिकुन शब्दो के दिये जा सकते हैं। अत भाषा की दृष्टि से भी विहारी की सतसई का अध्ययन बडा मनोरजक है।

प्रस्तुत प्रबन्ध मे डा० रामसागर त्रिपाठी ने बिहारी का अध्ययन एक मुक्तककार कवि के रूप मे किया है। मुक्तक काव्य की समृद्धि भारतीय परम्परा है। परन्तु उसके बीच भी बिहारी का स्थान अति उच्च है। वे सस्कृत, प्राकृत एव हिन्दी भाषाओ के सर्वश्रेष्ठ मुक्तककारो के बीच शीर्ष स्थान के अधिकारी हैं। मुक्तक की विविध विशेषतायें तो बिहारी के दोहों मे विद्यमान हैं ही, उनके दोहो मे मुक्तक के विविध प्रकारो के सुन्दर उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं। विद्वान् लेखक ने इसे भली भाति सिद्ध किया है।

यद्यपि विहारी की रचना मे अलकार, रस, रीति, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि, आदि सभी के सुन्दर से सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं , परन्तु, लेखक ने उसे ध्वनि-प्रधान रूप मे सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उसका प्रतिपादन युक्ति-सगत होता हुआ भी, इस स्थापना मे मतभेद हो सकता है। फिर भी लेखक के प्रमाण पुष्ट है, क्योकि ध्वनिवादी कहने पर ही बिहारी की रचना का बहुविध गौरव और महत्त्व अधिक स्पष्ट होता है, अलकार या रसवादी कहने पर नही। क्योकि ध्वनि के भीतर इनका स्वत एव उत्कृष्ट रूप मे समावेश है।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध विद्वत्ता एव मौलिकता—दोनो ही प्रकार की विशेषताओ से गौरवान्वित है। अध्ययन की इसी प्रकार की परम्परा मे डा० त्रिपाठी द्वारा और भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य होगा, इसकी हमे आशा है। साथ ही विश्वास है कि इस ग्रन्थ का विद्यार्थियो एव विद्वानो के द्वारा आदर होगा।

वसन्त पचमी
२०१६ वि०

भागीरथ मिश्र
एम०ए०, पी-एच०डी०
रीडर, हिन्दी-विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

विषय-सूची

प्राक्कथन पृष्ठ १ से १६ तक

विहारी विषयक साहित्य का विस्तार। विहारी विषयक साहित्य का वर्गीकरण। विहारी पर पद्यात्मक व्याख्यायें। गद्य टीकायें। स्वतन्त्र आलोचनायें। विहारी विषयक साहित्य की सीमायें। विहारी परक आलोचना का उपेक्षित अंश। प्रस्तुत रचना का विषय विभाजन। प्रस्तुत रचना की मौलिकता। आभार प्रदर्शन। उपसहार।

प्रथम खण्ड : मुक्तक-काव्य परम्परा

प्रथम अध्याय पृष्ठ १७ से ४५ तक

मुक्तक-काव्य और उसका प्रारम्भिक रूप। मुक्तक शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ। मुक्तक शब्द के कोष-गत विभिन्न अर्थ। मुक्त तथा मुक्तक शब्द के विभिन्न अर्थ तथा उनके आधार पर मुक्तक-काव्य की सामान्य विशेषताओं का अध्ययन। मुक्तक का प्रवृत्तिविषयक अनुसन्धान। मुक्तक का क्षेत्र तथा उसके उपभेद। मुक्तक-काव्य सकलन। प्रारम्भिक मुक्तक सग्रह—ऋग्वेद तथा अथर्ववेद। ऋग्वेद की प्रधानता तथा सक्षिप्त परिचय। ऋग्वेद का साहित्यिक महत्त्व। ऋग्वेद का शाखा-भेद तथा प्राप्य सहिता। ऋग्वेद का साहित्यिक अध्ययन। ऋग्वेद का साहित्यशास्त्रीय अध्ययन। ऋग्वेद का धार्मिक दृष्टि से एक अध्ययन। ऋग्वेद का सूक्ति-काव्य की दृष्टि से अध्ययन। ऋग्वेद मे दान स्तुतिया। ऋग्वेद का चित्र काव्य। ऋग्वेद के साहित्यिक सूक्तो का वर्गीकरण, विभाजन तथा अवान्तर प्रकार। उपसहार।

द्वितीय अध्याय पृष्ठ ४६ से १३७ तक

रसात्मक मुक्तक। काल विभाजन। प्रथम चरण प्रकृति-काल—वैदिक काव्य, थेरी गाथा, थेर गाथा, नान्दी और अनुयोगदार। द्वितीय-चरण—प्राकृत काल। इस काल की राजनैतिक स्थिति, आर्थिक स्थिति, सामाजिक स्थिति, कवि जीवन, कवि सम्मेलन, निष्कर्ष। परिस्थिति का काव्य से सम्बन्ध। शृंगार रस की प्रधानता के मनोवैज्ञानिक कारण। शृंगार रस की प्रधानता के काव्य-शास्त्रीय कारण। द्वितीय-चरण की सामान्य विशेषतायें। प्रकृति-काव्य। नर-काव्य। निष्कर्ष। द्वितीय-चरण की प्रमुख रचनायें—गाथा सप्तशती, ऋतु-संहार, अमरुकशतक, चौर-

पञ्चाशिका, मयूराष्टक, आर्यासप्तशती। सग्रह ग्रन्थो मे उल्लिखित कवि। मेघदूत के आदर्श पर लिखे हुए मुक्तक। स्त्री कवयित्रिया। प्राकृत तथा अपभ्र श भाषा के मुक्तक। तृतीय-चरण—भक्ति-काल, सामाजिक स्थिति। धार्मिक स्थिति। भक्ति के विकास मे बौद्ध-धर्म की महायान शाखा का प्रभाव, जैन-धर्म का प्रभाव, इस्लाम-धर्म का प्रभाव। दार्शनिक स्थिति। निष्कर्ष। भक्ति-काल की सामान्य विशेषतायें। इस काल के प्रमुख कवि। कृष्ण काव्य की बृहत्त्रयी—जयदेव, विद्यापति, सूरदास। कृष्ण काव्य के दूसरे कवि—परमानन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्ददास, छीतस्वामी, मीरा, रसखान, हितहरिवश। दूसरे कवियो की रचनाओ मे कृष्ण-काव्य की छाप। आलम्बनेतर विषयक काव्यकार—तुलसीदास, दूसरे कवि। पुरानी परम्परा के कवि—गग, रहीम, सेनापति, केशव, अन्य कवि। निष्कर्ष।

तृतीय अध्याय पृष्ठ १३८ से २०६ तक

रसेतर मुक्तक। धार्मिक मुक्तक, सामान्य परिचय। पौराणिक स्तोत्र, बाणभट्ट, मयूर, शकर, पञ्चस्तवी। कालिदास के नाम पर प्रसिद्ध स्तोत्र, आनन्द-वर्धन, अन्य स्तोत्रकार, जैन-स्तोत्र, बौद्ध-स्तोत्र, स्तोत्र-साहित्य का सिहावलोकन। हिन्दी धार्मिक परम्परा, विद्यापति, सूरदास, तुलसी, निष्कर्ष। सूक्ति-काव्य, वैदिक सूक्तिया, ब्राह्मण-ग्रन्थो मे सूक्तिया, उपनिषदो मे सूक्तिया, पुराणो मे सूक्तिया, बौद्ध-जैन-आगम साहित्य मे सूक्तिया, नवीन शैली की सूक्तिया। भर्तृहरि, शकराचार्य जी, जैन-धर्म सम्बन्धी सूक्ति-मुक्तक। दिगम्बर अमितगति के मुक्तक-ग्रन्थ। हेमचन्द्र तथा उनके समय के कवि। सोमप्रभसूरि, सग्रह-ग्रन्थ। फुटकर मुक्तको पर एक दृष्टि। बौद्ध-साहित्य मे सूक्ति-मुक्तक। सिल्हण, क्षेमेन्द्र, अप्पयदीक्षित, नीलकण्ठ दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ। कथा-सूत्र के माध्यम से सूक्ति लिखने वाले कवि—दामोदर गुप्त, क्षेमेन्द्र, अमितगति तथा हेमचन्द्र, अपभ्र श के सूक्ति-मुक्तक, हिन्दी सूक्ति-मुक्तक। निष्कर्ष। प्रशस्ति मुक्तक, ऋग्वेद इत्यादि से प्रशस्तिया, भोज-प्रबन्ध, राजेन्द्र कर्णपूर। रुद्र कवि कृत भाव-विलास, पण्डितराज जगन्नाथ, हिन्दी प्रशस्ति मुक्तक। अपभ्र श तथा डिंगल मे प्रशस्तिया। करणेश बन्दीजन तथा दूसरे कवि। निष्कर्ष। प्रथम-खण्ड का उपसहार।

द्वितीय खण्ड : बिहारी का विशेष अध्ययन

प्रथम अध्याय पृष्ठ २०९ से २३७ तक

बिहारी का समय। सामयिक परिस्थितियो का कवि-मानस पर प्रभाव। राजनैतिक स्थिति। मुगल राज्य की शासन व्यवस्था। आमेर के राजघराने का मुगल बादशाहो से सबन्ध। बिहारी का राजनैतिक दृष्टि-कोण। बिहारी की वाणी मे विशिष्ट राजनैतिक घटनाओ का प्रतिफलन। बिहारी के अप्रस्तुत विधानो मे

राजनैतिक स्थिति का प्रतिफलन । विहारी की अन्योक्तिया और राजनैतिक स्थिति । विहारी सतसई मे राजनैतिक स्थिति के प्रतिफलन का सिंहावलोकन । सामाजिक स्थिति तथा विहारी की वाणी मे उसका प्रतिफलन । ऊँचनीच का भेद-भाव, ग्राम और नगर का भेद-भाव, आभूषण, रहन-सहन तथा रीति रिवाज, अन्धविश्वास, आमोद-प्रमोद, त्यौहार तथा उत्सव, व्यक्तिगत परिस्थितिया । विहारी के जीवन का निर्णय करने के साधन । सतसई मे प्रत्यक्ष उल्लेख । टीकाकारो के जीवन-वृत्त परक अर्थ । आचार्य केशव और विहारी का पिता-पुत्र सम्बन्ध—एक दृष्टि, विहारी के गुरु नरहरि दास, विहारी का महाराज जयसिंह के आश्रय मे निवास, विहारी का ससुराल मे रहना, विहारी के जीवन-वृत्तपरक कतिपय प्रसिद्ध दोहे, विहारी का दोहा वद्ध जीवन चरित्र, आलोचको द्वारा निर्णीत विहारी का जीवन, व्यक्तिगत जीवन का विहारी के काव्य पर प्रभाव ।

द्वितीय अध्याय — **पृष्ठ २३८ से ३०४ तक**

काव्यशास्त्रीय परम्परा और विहारी । भारतीय काव्यशास्त्र और मुक्तक परम्परा का सम्बन्ध । भारतीय काव्यशास्त्र के मूलतत्व । काव्यशास्त्र के इतिहास का काल-विभाजन तथा सम्प्रदाय भेद, अलकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय,दो अन्य सप्रदाय—वक्रोक्ति और औचित्य । हिंदी काव्यशास्त्र । विहारी का साहित्य शास्त्र विषयक दृष्टिकोण । ध्वनि-सिद्धान्त · एक परिचय । ध्वनि काव्य की दृष्टि से विहारी का अध्ययन । अविवक्षित वाच्य—स्वरूप, उपयोग तथा भेद । विहारी के काव्य मे शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य, वाक्यगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य, पदगत विवक्षितान्यपरवाच्य, वाक्यगत विवक्षितान्यपरवाच्य, निरूढा लक्षणा की ध्वन्यात्मकता । विवक्षितान्यपरवाच्य—विविक्षतान्यपर वाच्य परिचय, विवक्षितान्यपर वाच्य के भेद, अभिधा-मूलक ध्वनि के आधार—वक्ता की विशेषता मे ध्वनि, काकु अथवा ध्वनि विकार से व्यजना, वाक्य से व्यजना, वाच्यार्थ की शक्ति से व्यजना, अन्यसन्निधि से व्यजना, प्रस्ताव या प्रकरण से व्यजना, देश की विशेपता मे व्यंजना, काल की विशेपता से व्यजना, चेष्टा इत्यादि मे व्यजना । विविक्षतान्यपर वाच्य के भेद—शब्द शक्ति मूलक ध्वनि—शब्द शक्ति से वस्तु ध्वनि के उदाहरण, शब्द शक्ति से अलकार ध्वनि के उदाहरण । अर्थ शक्तिमूलक ध्वनि के भेद, अर्थ शक्ति मूलक वस्तु ध्वनि .—लोक सम्भव वस्तु से वस्तु ध्वनि । कवि-कल्पित वस्तु से वस्तु ध्वनि, कवि निवद्ध वक्तृकल्पित वस्तु से वस्तु ध्वनि, स्वत सम्भव अलकार से वस्तु ध्वनि । कवि कल्पित अलकार से वस्तु ध्वनि । कवि-निवद्ध वक्तृकल्पित अलंकार से वस्तु ध्वनि । अर्थशक्तिमूलक अलंकार ध्वनि—अलंकार ध्वनि का आशय, अलकार ध्वनि के भेदोपभेद, स्वत. सम्भव वस्तु से अलकार ध्वनि, कल्पित-वस्तु से अलकार ध्वनि, स्वत. सम्भव अलकार से ध्वनि, कल्पित अलकार से अलकार ध्वनि, उभय शक्तिमूलक ध्वनि, ध्वनि काव्य के भेदोपभेदो के विषय

मे पण्डितराज तथा काव्यप्रकाश-कार का मत-भेद तथा बिहारी की मान्यता। निष्कर्ष । पण्डितराज के अनुसार उत्तम काव्य ।

तृतीय अध्याय **पृष्ठ ३०५ से ४१४ तक**

असल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य अथवा रस ध्वनि । रस ध्वनि का क्षेत्र । रसास्वादन की प्रक्रिया । कतिपय मतो की परीक्षा । रसास्वादन के उपकरण —नायिका-भेद की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन । नायिका-भेद के प्रमुख ग्रन्थ । वात्स्यायन मुनि का काम सूत्र । नाट्य शास्त्र, दशरूपक, रसमजरी, साहित्य दर्पण । हिन्दी मे नायिका भेद—सूरदास, नन्ददास, रहीम, कृपाराम, केशव, चिन्तामणि । नायिका भेद—सक्षिप्त विवेचन तथा विश्लेषण । बिहारी का नायिका भेद— स्वकीया । स्वकीया के भेद मुग्धा, प्रथमावतीर्ण यौवना, प्रथमावतीर्ण मदन विकारा, रति मे वामाचरण, मान मे मृदुता, समधिक लज्जावती, अज्ञातयौवना, ज्ञातयौवना, नवोढा, विश्रब्ध नवोढा । मध्या नायिका—मध्या की सामान्य विशेषताये । प्रौढा नायिका—सामान्य विशेषतायें । मध्या और प्रौढा के अवान्तर भेद—मध्या-धीरा, मध्या-अधीरा, मध्या धीराधीरा, प्रौढा—धीरा, प्रौढा-धीराधीरा, प्रौढा-अधीरा । परकीया नायिका—कन्या, परोढा । परकीया के उपभेद—गुप्ता, विदग्धा (वचन विदग्धा, क्रिया विदग्धा), लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना, मुदिता । साधारणी नायिका । ज्येष्ठा कनिष्ठा । अवस्था भेद से नायिका भेद—स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, कलहान्तरिता, वासकसज्जा, विप्रलब्धा, विरहोत्कण्ठिता । दशा भेद से नायिका भेद । अन्यसम्भोग-दुःखिता, गर्विता । नायिका की सहायिकाये—स्वयं दूती, पर दूती । नायक के भेद । नायिकाओ के अलकार । अगज अलकार—भाव, हाव, हेला । अयत्नज अलकार—शोभा, कान्ति, दीप्ति । नखशिख-वर्णन—चरण, जघन, नितम्ब, कटि, स्तन, हस्त, ग्रीवा, चिबुक, अधर, दशन, कपाल, नासिका, नेत्र, भृकुटि, मस्तक, समस्त मुख-वर्णन, केश-वर्णन । माधुर्य अलकार, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य । यत्नज अलकार—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित, केलि । उद्दीपन विभाव । अनुभाव । सात्त्विक भाव । स्तम्भ, स्वेद, रोमाच, स्वरभग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय । भाव-परिचय । भाव-ध्वनि, निर्वेद, ग्लानि, शका असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जडता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण त्रास, वितर्क । रति की भावध्वनि रूपता । रसध्वनि-परिचय, सम्भोग शृगार । विप्रलम्भ तथा उसके भेद, पूर्वराग, मान, विरह, प्रवास । काम की [illegible] अभिलाष, [illegible], [illegible], तन्मयता, अगो का असौष्ठव, व्याधि-कृशता, [illegible] । [illegible] । रसाभास और भावाभास । भाव-सन्धि, भावोदय, भाव-[illegible] ।

चतुर्थ अध्याय — पृष्ठ ४१५ से ४३२ तक

अलकार। अलकार-सम्प्रदायवादियो का दृष्टिकोण। ध्वनिकार का मत। ध्वनि-सिद्धान्त की दृष्टि से अलकारो का वर्गीकरण। अलकारों की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन। रसाभिव्यञ्जन मूलक अलकार। रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भाव-सन्धि, भावशवलता। वस्तुव्यञ्जना मूलक अलकार—समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त, अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति। व्यंग्यार्थोपस्कारक अलकार। स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति। अतिशयोक्तिमूलक अलंकार। पूर्णोपमा, लुप्तोपमा (धर्मलुप्ता, उपमेयलुप्ता, वाचकलुप्ता, धर्मवाचक लुप्ता), रूपक, अपन्हुति, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, व्यतिरेक, असगति, मीलित, दीपक। बिहारी का चमत्कार विधान। अविचारित रमणीय, विचार्यमाण रमणीय, सम्पूर्ण सूक्ति-व्यापी, सूक्त्येकदेशदृश्य, शब्द-चमत्कार, अर्थ-चमत्कार, शब्दार्थगत, अलकारगत, रसगत, प्रख्यात वृत्तिगत।

पञ्चम अध्याय — पृष्ठ ४३३ से ४६४ तक

मुक्तक-काव्य परम्परा की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन। बिहारी के रसात्मक मुक्तक। कृष्ण-काव्य परम्परा। राधा-कृष्ण का सामान्य नायिका और नायक के रूप मे चित्रण। दर्शन तथा आकर्षण, उत्कण्ठा की तीव्रता, सकेत तथा अभिसार हास्य-विनोद, दूती सम्प्रयोग, भावगोपन, खण्डिता वर्णन, वियोग-वर्णन, कृष्ण-चरित्र की विशेष घटनायें—बाललीला, शृ गारिक लीला, चीरहरण, रासलीला, भ्रमरगीत। कृष्ण के लोकोत्तर कृत्य—पूतनावध तथा विश्वरूप दर्शन, गोवर्धन धारण, रुक्मिणी हरण, अघासुर वध, दावानलपान। प्राकृत मुक्तक। क्षेत्र, प्रसगयोजना, द्विविध शैली, रस के उपकरण, सयोग तथा वियोग। प्रकृति-काव्य परम्परा—वसन्त-वर्णन, ग्रीष्म-वर्णन, वर्षा-वर्णन, शरद्-वर्णन, हेमन्त-वर्णन, शिशिर-वर्णन, दूसरे प्राकृतिक वर्णन। धार्मिक-मुक्तक। समन्वयवाद तथा एकता का उपदेश, प्रत्यक्षकृत स्तुति-परक दोहे, परोक्षकृत स्तुति-परक दोहे, आध्यात्मिक तत्त्व, बिहारी का सम्प्रदाय। सूक्ति-काव्य—धार्मिक सूक्तिया—वैराग्य का उपदेश, गुरु-भक्ति तथा भगवद्भक्ति, नाम-जप, ईश्वर-विश्वास, एकरसता, बाह्याडम्बर का त्याग, कपट का परित्याग, केवल भगवान् से प्रेम करने का उपदेश, सत्सगमहिमा स्त्री निन्दा। आर्थिक सूक्तिया—धन के विषय मे सूक्तिया, दुष्टो की निन्दा, कुसग-निन्दा, स्थान का महत्त्व, गुणो का महत्त्व, विनय की प्रशसा, पूजीवाद मे मर्यादातिक्रमण की स्वाभाविकता, मित्रता मे क्रोध न करने का उपदेश, राजा द्वारा दरिद्रो का ही शोषण, अन्योक्ति-पद्धति। समस्त सूक्ति-सार—बिहारी का सुख-मय जीवन-यापन के लिये कर्त्तव्योपदेश। काम-परक सूक्तिया। प्रशस्ति-काव्य। निष्कर्ष।

षष्ठ अध्याय — पृष्ठ ४६५ से ५१६ तक

बिहारी की भाषा। बिहारी का भाषा-व्याकरण। ब्रजभाषा . एक परिचय।

विहारी की भाषा । सिद्ध-शब्द सज्ञाये । सिद्ध-शब्द सर्वनाम । साध्य-शब्द क्रिया । शब्दो का प्रयोग । मुहावरो का प्रयोग । भाषा की रमणीयता । शब्दालकार ।

सप्तम अध्याय **पृष्ठ ५१७ से ५८५ तक**

विहारी का आलोचनात्मक अध्ययन । बिहारी का महत्त्व, काव्य के उपादान, विहारी की प्रतिभा और अभ्यास, बिहारी की निपुणता । शास्त्रो का ज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक, दर्शन, राज-धर्म, युद्ध-विद्या, विज्ञान, गणित, कर्म-काण्ड, काम-शास्त्र । विहारी का एतिह्य-ज्ञान—महाभारत, रामायण, पुराण । बिहारी का लोक-ज्ञान । नट का खेल, नृत्य, गान-विद्या, पतगबाजी, चोर-मिहिचनी, लट्टू नचाना, चौगान का खेल, मृगया, कृषि, पुष्पो का ज्ञान, बागवानी, ऋतु-चर्या, वनस्पतियो के स्वभाव का ज्ञान, जगली जीवो के स्वभाव का ज्ञान, देश-विदेश का ज्ञान, अन्ध-विश्वास, जादू-टोना, मुसलमान सन्यासी, वास्तु-कला । बिहारी के उपजीव्य—हाल और विहारी, अमरुक और विहारी, गोवर्धनाचार्य और विहारी, सस्कृत के अन्य कवि तथा विहारी, विद्यापति तथा विहारी, हिन्दी के अन्य कवि तथा विहारी—कवीर, नानक, सूर, तुलसी, रहीम, मलूकदास, केशव, सुन्दरदास, सेनापति, रसखानि । विहारी के दोष—शब्द-दोष, वाक्य-दोष, अर्थ-दोष, अलकार-दोष, रस-दोष, विहारी का हिन्दी-साहित्य मे स्थान । उपसहार ।

परिशिष्ट सहायक ग्रथो की सूची **पृष्ठ ५८६ से ५६२**

प्राक्कथन

विहारी उन महाकवियो[1] मे एक हैं जिन्हे अपने जीवनकाल में ही या उसके कुछ ही वाद कवियो के कवि वनने का सुयोग प्राप्त हो जाता है। अपने रचना-काल से ही विहारी-सतसई कवियो, आलोचको और व्याख्याकारो का आकर्षण-केन्द्र रही है। अनेक कवियो ने विहारी के दोहो पर कुंडलिया लगाई, कई कवियो ने विहारी के दोहो पर कवित्त-सवैया वद्ध व्याख्यात्मक अनुवाद किये। सस्कृत ग्रथों के हिन्दी मे कई एक अनुवाद हुए थे, किंतु यह सौभाग्य केवल विहारी-सतसई को ही प्राप्त हुआ, कि सस्कृत मे भी उसका अनुवाद किया गया। यह अनुवाद दोहावद्ध भी है, और सस्कृत-पद्यवद्ध भी। इसके अतिरिक्त फारसी मे भी विहारी-सतसई का अनुवाद हुआ। व्याख्याओ की जितनी भरमार विहारी-सतसई पर हुई है उतनी सभवतः हिन्दी-साहित्य के किसी ग्रथ पर नही हुई। आधुनिक-काल के प्रारम्भिक चरण में जब आलोचना साहित्य का हिन्दी मे प्रथम पदार्पण हुआ, उस समय पत्र-पत्रिकाओं तथा आलोचनात्मक ग्रथो मे सबसे अधिक विहारी की ही समीक्षा की गई। यह तो विहारी पर प्रत्यक्ष साहित्य लिखने की वात हुई, इसके अतिरिक्त अनेक कवियो ने सतसई के आदर्श पर नये सतसई-ग्रथ लिखे, और रीतिकाल के प्राय सभी शृंगारिक कवियों ने सतसई से भाव लेकर अपनी रचनाए प्रस्तुत करने की चेष्टा की। सक्षेप मे विहारी परवर्ती अनेक कवियो के उपजीव्य वन गये।

विहारी के विषय मे जितना भी साहित्य लिखा गया है, उसे हम तीन भागों मे विभाजित कर सकते हैं —(१) पद्यात्मक व्याख्यायें, जिनमें फारसी और सस्कृत के अनुवाद भी सम्मिलित है, (२) टीका-ग्रथ, (३) स्वतन्त्र आलोचनाये जिनमें पत्र-पत्रिकाओ के लेख, इतिहास, ग्रथो के परिचयात्मक लेख और स्वतन्त्र पुस्तकें सम्मिलित हैं।

(अ) विहारी पर पद्यात्मक व्याख्यायें :—

(१) पठान सुल्तान की कुण्डलियाँ-वद्ध टीका —शिवसिंह सरोज मे इनका पूरा नाम सुल्तान मुहम्मद खा लिखा है। ये राजगढ भूपाल के नवाव थे। कहा जाता है कि इन्होने पूरी विहारी सतसई पर कुंडलिया लगाई थी। किन्तु यह ग्रंथ

---

१. आनन्दवर्धन ने ध्वनि की महत्ता के आधार पर महाकवित्व के निर्णय का आदेश दिया है, इस प्रकार विहारी महाकवि हैं।—ध्वन्यालोचन, प्रथम उद्योत।

उपलब्ध नही होता। विहारी-विहार की भूमिका मे केवल ५ कुडलिया लिखी है। रत्नाकर ने 'कविवर विहारी' मे लिखा है कि उन्होने ५ कुडलिया और सुनी थीं। इसके अतिरिक्त यह ग्रथ अभी तक उपलब्ध नही हो सका है।

(२) **कृष्ण कवि की प्रबन्ध-बद्ध टीका** —कृष्ण कवि जयपुराधीश सवाई जयसिंह के समय मे वर्तमान थे। इन्होने विहारी सतसई पर कवित्त और सवैया बनाकर सतसई के दोहो को स्पष्ट करने की चेष्टा की। इस टीका मे विहारी के आशय को समझने मे बडी सहायता मिलती है। कवित्त-सवैयो के साथ कवि ने दोहो की छन्दगत विशेषता, वचना, बोद्धव्य और नायिका-भेद भी दे दिया है। यह एक उपयोगी टीका है।

(३) **अमर चन्द्रिका** —सवत् १७९४ मे विजयदशमी गुरुवार को सूरतिमिश्र द्वारा रची गई यह दोहाबद्ध टीका उच्चकोटि की नही कही जा सकती। इसमे दोहो का अर्थ दोहो मे ही खोलने की चेष्टा की गई है, जिससे अर्थ के समझने मे बडी उलभन पडती है। दोहो मे ही शका-समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

(४) मिश्रबन्धु विनोद मे विहारी सतसई की एक पद्यात्मक टीका का उल्लेख किया गया है और उसका रचना-काल सवत् १८५० के आस-पास दिया गया है। किन्तु यह ग्रथ अभी तक उपलब्ध नही हो सका है।

(५) **नवाब जुल्फिकारअली की कुडलिया** —सवत् १८७३ के आस-पास इस ग्रथ की रचना हुई थी। इन कुडलियो मे विहारी के दोहा-गत अर्थ को अधिक बढाकर कहने की चेष्टा की गई है। वस्तुत ये कुडलिया दोहो का पल्लवनमात्र है। इनमे दोहो का अर्थ समझने मे विशेष सहायता नही मिलती है।

(६) मिश्रबन्धु विनोद मे सवत् १९१० के आस-पास लिखी हुई ईश्वरी-प्रसाद कायस्थ की कुडलिया-बद्ध टीका का उल्लेख किया गया है।

(७) **रस-कौमुदी**—अयोध्या-निवासी श्री जानकीप्रसादजी उपनाम रसिक-विहारी ने विहारी के ३१६ दोहो का विस्तार कवित्त-सवैयो मे किया था। ये कवित्त-सवैये सामान्यतया अच्छे है। इस टीका का रचना-काल सवत् १९२७ है।

(८) शिवसिंह सरोज मे २०वी शताब्दी के मध्य की लिखी हुई उप सत-सैया नामक टीका का उल्लेख किया गया है। इसके रचयिता का नाम गगाधर लिखा है। इस टीका मे सतसई का तिलक कुडलिया तथा दोहो मे बनाया कहा जाता है।

(९) पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने भी 'विहारी-विहार' मे प्रत्येक दोहे पर एक या अधिक कुडलिया लगाई है। इनकी कविता सामान्यतया अच्छी तथा पाण्डित्यपूर्ण है।

(१०) **विहारी सुमेर**—यह टीका साहबजादा बाबा सुमेरसिंह की लिखी हुई बतलाई जाती है। विहारी-विहार मे लिखा है कि यह टीका अपूर्ण है, किन्तु

रत्नाकर ने लिखा है कि वावा सुमेरसिंह ने यह टीका उन्हें स्वय दिखलाई थी और उस समय 'सभवत.' पूरी थी। इसमे विहारी के दोहों पर कुंडलिया लगाई गई है। विहारी विहार मे इनकी ८ कुंडलिया दी गई हैं।

(११) गुलदस्तए-बिहारी—मुंशी देवीप्रसाद जी 'प्रीतम' ने विहारी के दोहों का उर्दू शेरो में अनुवाद किया। उर्दू में हिन्दी शब्दो का बेखटके प्रयोग इन शेरो की एक वहुत वडी विशेषता है। दोहे के विस्तृत अर्थ को उर्दू शेरो मे समेटने मे मुशी जी को पर्याप्त सफलता मिली है।

(१२) गुल्जारे-बिहारी—रत्नाकर ने लिखा है कि उर्दू शेरो मे इस नाम का एक अनुवाद राधेश्याम प्रेम वरेली से प्रकाशित हुआ था। रत्नाकर ने इसे स्वय नही देखा था, किन्तु इसका उल्लेख गुल्दस्तये-विहारी मे किया गया था। अनुमानत. इसका अनुवाद गुल्दस्तये विहारी के ढग पर लिखा गया होगा। गुल्दस्तये-विहारी में कवि का नाम नही दिया गया है।

(१३) आर्यागुम्फ-टीका—काशीराज के प्रधान कवि श्री हरिप्रसाद जी ने आर्यागुम्फ नाम की टीका लिखी। इसका समय १८३७ के आस-पास का है। इस टीका मे विहारी के दोहो का सस्कृत आर्या-छन्दों मे सफल अनुवाद किया गया है।

(१४) शृंगार सप्तशती—यह टीका सवत् १९२५ में लिखी गई थी। ग्रथ में ही ग्रंथकार ने अपने विषय मे जो कुछ कहा है उससे अवगत होता है कि ग्रथकार का नाम परमानन्द था, पिता का नाम व्रजचन्द्र तथा पितामह का नाम मुकुन्दभट्ट था। इन्होंने विहारी के दोहो का सस्कृत दोहो मे अनुवाद किया और अपने वनाये हुए सस्कृत दोहो की सस्कृत मे ही मल्लिनाथी शैली पर टीका भी की है और साथ ही अलकार इत्यादि का भी विवेचन किया है। कवि ने आश्चर्य-जनक सफलता के साथ हिन्दी दोहो को सस्कृत मे परिवर्तित किया है।

(१५) सवैया-छन्द—यह टीका ईश्वर कवि की लिखी हुई है। ग्रथ में टीका-कार का परिचय दिया हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि ग्रथकार को अनेक विषयो का ज्ञान था, तथा इसने छोटे-वडे २७ ग्रथो की रचना की थी। विहारी-सतसई के प्रत्येक दोहे का एक सवैये मे अनुवाद किया गया है। इन्होंने अपनी सवैया-छन्द नामक टीका कृष्ण कवि के आदर्श पर वनाई थी। किन्तु इसमें कवि को अधिक सफलता नही मिली। इस टीका मे दोहो का अर्थ समझने में कुछ भी सहायता नहीं मिलती। टीकाकार ने अपनी समझ के अनुसार विहारी का भाव सवैया छन्द में भरने की चेष्टा की है।

इसके अतिरिक्त कुछ कुण्डडिया भारतेन्दु वावू के नाम पर भी प्रसिद्ध हैं जिनका उल्लेख विहारी-विहार की भूमिका मे किया गया है।

(आ) गद्य टीकाएं:—

विहारी-सतसई पर गद्य-टीकाओं की अत्यधिक भरमार है। कुछ टीकायें

उपलब्ध होती है और कुछ का केवल परिचय ही अधिगत होता है। बिहारी की प्रमुख टीकाओ का परिचय नीचे दिया जा रहा है —

(१) बिहारी-सतसई की सर्वप्रथम टीका रत्नाकर के अनुमान के अनुसार स० १७१९ वि० मे लिखी गई थी। रत्नाकर ने लिखा है कि यह टीका सभवत कृष्णलाल की बनाई हुई है, जिसका उल्लेख लालचन्द्रिका मे किया गया है। इस टीका मे वक्ता और बोद्धव्य का निर्देश कर अर्थ-मात्र लिख दिया गया है। अलकार निर्देश की चेष्टा नही की गई है। भाषा अधिकतर अस्पष्ट है।

(२) **मानसिंह की टीका** —इसकी रचना उदयपुर के महाराणा राजसिंह के निर्देश पर स० १७३२ के आस-पास की गई। यह टीका सामान्य कोटि की है और साधारण अवतरण के साथ दोहे का अर्थमात्र दे दिया गया है।

(३) **अनवर चन्द्रिका** —यह टीका १७७१ मे नवाब अनवर खा के तत्त्वावधान मे लिखी गई थी। इसके लेखक सम्भवत शुभकरण और कमलनयन थे। इस टीका मे प्रकरण तथा काव्य-शास्त्रीय निर्देश-मात्र किया गया है। टीकाकारो ने अर्थ के स्पष्टीकरण की भी आवश्यकता नही समझी।

(४) **साहित्य-चन्द्रिका**—यह टीका पन्ना वाले कर्ण कवि की रची हुई है। इसका रचना-काल १७९४ बतलाया जाता है। यह टीका अनवर-चन्द्रिका के आदर्श पर काव्य शास्त्रीय निर्देश करती है। साथ ही अनवर-चन्द्रिका की इस सबसे बडी कमी की पूर्ति भी इससे हो जाती है कि इसमे अर्थ के स्पष्टीकरण की भी चेष्टा की गई है।

(५) **रस-चन्द्रिका**—यह टीका स० १८०९ मे अनवर गढ के छत्रसिंह के अनुरोध से ईसवी खा नामक किसी व्यक्ति ने बनाई थी। यह टीका अर्थ समझने की दृष्टि से उच्चकोटि की है और यथाशक्ति इसमे काव्य-शास्त्रीय निर्देश भी दिये गये हैं।

(६) **हरिप्रकाश की टीका**—यह टीका १९वी शती के मध्य मे हरि नामक किसी कवि के द्वारा लिखी गई थी। यह टीका भी उच्चकोटि की है। यह टीका सतसई-समझने के लिए बडी उपयोगी है।

(७) **सतसैया वर्णार्थ टीका**—इस टीका को सवत् १८६१ मे ठाकुर कवि ने बाबू देवकीनन्दन की प्रसन्नता के लिये बनाया था। इस टीका को वर्णार्थ-प्रकाशिका तथा देवकीनन्दन की टीका भी कहते हैं। टीका के नामकरण से ही अवगत होता है कि टीकाकार ने सतसई के प्रत्येक वर्ण का अर्थ लिखने का प्रयत्न किया है। साधारण ढग से अर्थ को अधिक से अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। आवश्यकतानुसार प्रश्नोत्तर रूप मे भी अर्थ को समझाया गया है और स्थान-स्थान पर साहित्य शास्त्रीय निर्देश भी कर दिये गये हैं।

(८) **रणछोड़ जी की टीका**—यह टीका रणछोडराय दीवान की लिखी हुई है और एक उच्चकोटि की टीका है। सतसई के पाठक इससे विशेष लाभान्वित हो सकते हैं। सक्षिप्त अवतरण और काव्यशास्त्रीय निर्देश के साथ इस टीका मे अर्थ को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है।

(९) **लाल-चन्द्रिका**—यह विहारी की परम प्रतिष्ठित टीकाओ मे एक है। आगरे के एक औदीच्य गुजराती ब्राह्मण लल्लू जी लाल ने इस टीका की रचना १९ वी शती के मध्य भाग में की थी और सर जार्ज ग्रियर्सन की भूमिका के साथ यह टीका प्रकाशित हुई। इस टीका मे वक्तृ-बोद्धव्य का निर्देश कर अर्थ लिखा गया है और प्रश्नोत्तर रूप मे भी अर्थों को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। प्राय. प्रत्येक दोहे पर काव्यशास्त्रीय निर्देश दिये गये हैं।

(१०) **प्रभुदयाल पाण्डेय की टीका**—यह टीका प्रभुदयाल पाण्डेय की लिखी हुई है और कलकत्ते से प्रकाशित हुई है। यह खडी वोली मे लिखी हुई प्रथम टीका है। किन्तु इसमे विहारी के दोहो का पाठ वहुत ही भ्रष्ट कर दिया गया है, जिससे अर्थ मे गड़वडी पड जाती है। पर टीका की भाषा उत्तम है और अन्वय तथा शब्दव्युत्पत्ति का क्रम अच्छा है।

(११) **भावार्थ प्रकाशिका टीका**—यह टीका प० ज्वालाप्रसाद जी मिश्र की लिखी हुई है। ये भारत धर्म महामण्डल के सवल उपदेशक थे और सस्कृत के अनेक ग्रन्थो का भाषान्तरण इन्होने किया था। यह टीका सवत् १९५४ मे समाप्त हुई थी। यह टीका उत्तम नही है। रत्नाकर जी के शब्दो मे यह विद्या-वारिधि जी की अनधिकारचेष्टा ही है। प० पद्मसिह शर्मा ने 'सतसई-सहार' शीर्षक से इसका पर्याप्त रूप मे प्रत्याख्यान किया है।

(१२) **सजीवन भाष्य**—यह सतसई के परम भक्त पण्डित पद्मसिह शर्मा की लिखी हुई अत्यन्त प्रसिद्ध टीका है। इसके प्रारम्भ मे शर्मा जी ने एक विस्तृत भूमिका दी है, जोकि टीका के प्रथम भाग के रूप मे प्रकाशित हुई है। दूसरे भाग मे टीका प्रारम्भ हुई है। किन्तु यह टीका कतिपय दोहो तक ही सीमित है। पण्डित जी ने वडे ही पाण्डित्य के साथ विहारी को मूर्धन्य कवि सिद्ध करने की चेष्टा की है।

(१३) **संस्कृत की गद्य टीका**—इस टीका का उल्लेख विहारी-विहार की भूमिका मे किया गया है। व्यास जी ने इस टीका को उत्तम टीका लिखा है।

(१४) **संस्कृत में दूसरी गद्य-टीका**—इस टीका में वक्तृ-बोद्धव्य का निर्देश कर अर्थ स्पष्ट किया गया है और नायिका-भेद भी वतलाया गया है। रत्नाकर के अनुसार यह टीका देवकीनन्दन की टीका का भाषान्तर मात्र है। इसके लेखक का पता नही है।

(१५) **बिहारी-बोधिनी**—प्रसिद्ध साहित्यकार लाला भगवानदीन ने यह टीका सं० १९७८ मे बनाई थी । इस टीका मे सर्वप्रथम शब्दार्थ दिये गये है, फिर संक्षिप्त अवतरण-निर्देशपूर्वक दोहे का मन्तव्य समझाया गया है । इसके बाद 'विशेष' शीर्षक मे दोहे से सम्बन्धित अन्य तत्त्व दे दिये गये है और अन्त मे अलंकार निर्देश दिया गया है । टीका छात्रो के लिये नितान्त उपयोगी है ।

(१६) **रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी की टीका**—यह टीका सं० १९८२ मे प्रकाशित हुई थी । इसमे दोहो का भावार्थ सरल शब्दो मे देकर बाद मे शब्दार्थ दे दिया गया है ।

(१७) **बिहारी रत्नाकर**—यह बिहारी की सर्वोत्तम टीका है । बिहारी का आशय-जिज्ञासु छात्र रत्नाकर का सदा आभारी रहेगा । यह टीका अत्यन्त स्पष्ट तथा अनुसन्धानात्मक है । इसमे समस्त दोहो का उपयुक्त अवतरण देकर उसका अर्थ स्पष्ट किया गया है । यदि टीकाकार को विशेष शब्दो पर कोई टिप्पणी करनी हुई है तो उसको अवतरण के पहले दे दिया गया है और यदि दोहे के विषय मे कोई बात कहनी हुई है तो अर्थ लिखने के बाद उसे यथास्थान लिख दिया गया है । पादटिप्पणी मे विभिन्न टीकाओ के पाठभेद भी दिये गये है । इस टीका के प्रकाशित हो जाने से शेष समस्त टीकाये साहित्य-मर्मज्ञो की दृष्टि मे अपना महत्त्व खो बैठी । निस्सदेह हिन्दी-साहित्य के लिए रत्नाकर की यह अपूर्व देन है ।

उक्त टीकाओ के अतिरिक्त बहुत-सी ऐसी टीकायें है, जिनका उल्लेख या तो मिश्र-बन्धुओ ने किया है या शिवसिंह जी ने । कतिपय टीकाओ का उल्लेख बिहारी-विहार की भूमिका मे भी किया गया है । कुछ टीकाओ का पता श्रुति-परम्परा से रत्नाकर को प्राप्त हुआ था । किन्तु ये टीकायें प्रकाश मे नही आ सकी । बिहारी पर गुजराती तथा फारसी मे भी टीकाये लिखी गई । छोटूराम के नाम पर एक ऐसी टीका की भी चर्चा है, जिसमे समस्त दोहो का वैद्यकपरक अर्थ लगाया गया है । इस प्रकार टीकाकारो को प्राप्त करने का जो सौभाग्य बिहारी को प्राप्त हुआ है वह अन्य किसी भी कवि के लिये दुर्लभ है ।

(इ) स्वतन्त्र आलोचनायें—

बिहारी के अधिकतर टीकाकारो ने प्रारम्भ मे बिहारी का आलोचनात्मक परिचय दिया है । इन परिचयो को हम स्वतन्त्र आलोचना के क्षेत्र मे सन्निविष्ट कर सकते है । निम्नलिखित तीन भूमिकायें बिहारी के अध्ययन की दिशा मे विशेष महत्त्व रखती है —

(१) **बिहारी विहार की भूमिका**—इसमे बिहारी के जीवनवृत्त तथा बिहारी-विषयक साहित्यिक सामग्री पर विशेष महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है । बिहारी-विषयक साहित्य का अनुसन्धान करने की दिशा मे यह भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

(२) सर जार्ज ग्रियर्सन ने लालचन्द्रिका की भूमिका मे मुक्तक-काव्य परम्परा तथा विहारी-विषयक दूसरे तत्त्वो पर अच्छा प्रकाश डाला है और परवर्ती व्याख्याकारो तथा विहारी के पाठको और विचारको ने इस भूमिका का पर्याप्त आश्रय लिया है।

(३) **सञ्जीवन भाष्य की भूमिका**—यह पृथक् पुस्तक के रूप मे प्रकाशित हुई है और भाष्य के प्रथम भाग के रूप मे प्रसिद्ध है। इसमे श्री पद्मसिंह जी शर्मा ने सस्कृत, हिन्दी तथा दूसरी भाषाओ के कवियो से विहारी की तुलना प्रस्तुत की है जो कि अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण है, किन्तु इसमे शर्मा जी का विहारी के प्रति अनुचित पक्षपात व्यक्त होता है। इसमे विहारी की प्रतिभा और पाण्डित्य की प्रशसा की गई है और सतसई का सौष्ठव स्थापित किया गया है। 'सतसई सहार' शीर्षक से पण्डित ज्वालाप्रसाद जी मिश्र की टीका की मखौल उडाई गई है, तथा एक लेख मे विहारी पर मिश्रवन्धुओ द्वारा लगाये गये दोषो का निराकरण करने की चेष्टा की गई है। इस भूमिका मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित है।

विहारी के विषय मे आलोचनात्मक निवन्धो और पुस्तको की रचना का सूत्रपात मिश्रवन्धुओ के हिन्दी नव-रत्न से हुआ। हिन्दी नव-रत्न मे नौ कवियों की आलोचना प्रस्तुत की गई और काव्य-सौंदर्य के तारतम्य के आधार पर उनके स्थान निर्धारित किये गये। इसमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वात यह थी कि कवि देव को तृतीय और विहारी को चतुर्थ स्थान दिया गया। इससे साहित्य-जगत् मे एक क्रान्ति सी मच गई। वास्तविकता यह थी कि अभी तक रसिक-वर्ग का ध्यान देव के काव्य-सौष्ठव की ओर गया ही नही था। अतएव आलोचको को यह वात कुछ विचित्र सी जान पडी, और पूर्ण शक्ति से एक ओर देव की अपेक्षा विहारी को अच्छा सिद्ध किया जाने लगा तथा दूसरी ओर (मिश्रवन्धुओ द्वारा) देव को अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने की चेष्टा की जाने लगी। इस दिशा मे तत्कालीन सरस्वती पत्रिका ने विशेष कार्य किया। मिश्रवन्धुओ के अतिरिक्त अन्य उच्चकोटि के विद्वान् विहारी के पक्ष मे ही थे। यहा तक कि आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास मे इसी प्रसग को लेकर लिख दिया कि "कवियो की विशेषताओ के मार्मिक निरूपण की आशा मे जो इस पुस्तक को खोलेगा उसे निराश ही होना पडेगा।"

पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने सञ्जीवन-भाष्य की अपनी भूमिका मे मिश्रवन्धुओ के प्रतिवाद के लिये ही विहारी को हिन्दी, सस्कृत, उर्दू अरवी, फारसी इत्यादि के सभी कवियों से अधिक अच्छा सिद्ध करने की चेष्टा की। यद्यपि पद्मसिंह शर्मा की आलोचना वाह-वाही से भरी है तथापि उससे प्रगाढ पाडित्य भी अभिव्यक्त होता है, इसमें सदेह नही। पण्डित कृष्णविहारी मिश्र ने 'देव और विहारी' नामक पुस्तक लिखकर देव को वडा सिद्ध किया। इस पुस्तक मे शिष्टता, सभ्यता और मार्मिकता के साथ दोनो कवियो की रचनाओ की युक्ति-युक्त तुलना

की गई है। 'देव और विहारी' पुस्तक का उत्तर लाला भगवानदीन ने 'विहारी और देव' मे दिया। लालाजी ने मिश्रबन्धुओ और कृष्ण-विहारी मिश्र के आक्षेपो का पूर्ण समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न किया है। अच्छा ही हुआ कि तुलनात्मक आलोचना की यह भद्दी प्रवृत्ति यही पर रुक गई।

पत्र-पत्रिकाओ के लेखो, इतिहास-ग्रथो के परिचयो और निबन्धो के अतिरिक्त विहारी पर कई एक आलोचनात्मक पुस्तके प्रकाशित हो चुकी है, जिनमे कतिपय पुस्तको के नाम नीचे दिये जा रहे है —

१—बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर—कविवर विहारी।
२—श्री विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र—विहारी की वाग्विभूति।
३—श्री विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र—विहारी।
४—श्रीमती कमला गर्ग—विहारी वैभव।
५—श्री भारत-भूषण सरोज—विहारी।
६—श्री मिश्रबन्धु—विहारी सुधा।
७—श्री मुरलीधर श्रीवास्तव—विहारी की काव्य-साधना।
८—श्री रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'—कविवर विहारी।
९—श्री रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'—विहारी-दर्शन।
१०—डा० रामरतन भटनागर—विहारी एक अध्ययन।
११—श्री लोकनाथ द्विवेदी—विहारी-दर्शन।
१२—श्री हरदयालुसिंह—विहारी-विभव।

विहारी-विषयक साहित्यिक सामग्री का यही संक्षिप्त परिचय है।

विहारी-विषयक साहित्य की सीमायें

विहारी के दोहो को लेकर जो कुण्डलिया, सवैया, घनाक्षरी, कवित्त इत्यादि लिखे गये है उनमे हम विहारी के विषय मे कुछ अधिक ज्ञात करने की आशा ही नही कर सकते। इनमे केवल विहारी के आशय को चमत्कारोत्पादन के साथ समझने-समझाने की चेष्टा की गई है और रसास्वादन ही उन ग्रन्थो का मुख्य मन्तव्य रहा है। यही बात भाषान्तर के अनुवादो के विषय मे भी कही जा सकती है। प्रारम्भ मे कुछ लेखको ने संक्षिप्त भूमिका लिखकर विहारी के जीवन इत्यादि के सम्बन्ध मे यत्किंचित् विचार भी प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। संस्कृत पद्यानुवाद करके जहा व्याख्या भी साथ मे दी गई है उनमे अलकारशास्त्रीय विवेचन भी उपलब्ध होता है। यही बात दूसरी टीकाओ के विषय मे भी कही जा सकती है। टीकाओ मे कही कही प्रश्नोत्तर के रूप मे शका-समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है और कही-कही अलकारशास्त्रीय विवेचन भी दिया गया है। अलकारो का ही अधिक विस्तार है शेष नायिका-भेद इत्यादि का सकेत मात्र कर दिया गया है। ध्वनि-शास्त्र की दृष्टि से तो सम्भवत बहुत ही कम विचार हुआ है। अलकार-

शास्त्रीय निर्देश मे मतभेद भी पर्याप्त मात्रा मे पाया जाता है और अशुद्धिया भी बहुत अधिक है ।

विहारी पर लिखे हुए स्वतन्त्र निबन्धो या पुस्तको मे तुलनात्मक आलोचना की ही प्रधानता है । विहारी और देव की तुलना से इस प्रकार की आलोचना का जन्म हुआ था और बाद मे सस्कृत, हिन्दी और उर्दू के अनेक कवियो से तुलनात्मक आलोचना प्रस्तुत की गई । इस प्रकार की आलोचना न तो वाछनीय ही थी और न उससे विहारी के मानस का अध्ययन ही किया जा सकता था । कतिपय आलोचको ने मुक्तक-परम्परा का सक्षिप्त दिग्दर्शन कराते हुए भावात्मक तथा कलात्मक दृष्टि से भी विहारी की आलोचना की और दोहे के विकास तथा सतसई परम्परा पर भी यत्किचित् प्रकाश डाला । किन्तु इसे हम विहारी का पूर्ण अध्ययन नही कह सकते । इस दिशा मे नि सन्देह श्री विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र तथा श्री लोकनाथ जी द्विवेदी का कार्य अधिक प्रशसनीय रहा है । स्वर्गीय श्री रत्नाकर जी ने विहारी के जीवन चरित्र, विहारी-विषयक साहित्यिक सामग्री और विहारी की भाषा के विषय में पर्याप्त अनुसधान किया, जिसके लिये साहित्यिक-जगत् उनका सदा आभारी रहेगा। विहारीविषयक आलोचना मे श्री पद्मसिह जी शर्मा का नाम प्रधान रूप से लिया जाता है । शर्मा जी ने विहारी सतसई के काव्य-सौन्दर्य पर वहुत ही उच्च कोटि की आलोचना लिखी है । किन्तु ये आलोचनायें फुटकर विचारों के रूप मे ही हमारे सामने आई और उनमे उन तत्त्वोका विचार नही किया जा सका कि जिससे विहारी के मानस का निर्माण हुआ था ।

कवि की रमणीय मानस-अभिव्यक्ति ही काव्य है । कवि-मानस एक ओर सामयिक परिस्थितियो और दूसरी ओर जातीय परम्परा के उपादान-सूत्रो के समवाय से निर्मित होता है । प्रत्येक जाति, प्रत्येक समाज और प्रत्येक धर्म का एक स्वतन्त्र विकास-क्रम होता है, जिससे कवि-मानस का निर्माण हुआ करता है । समाज के इतिहास मे परिस्थितियो के प्रभाव से स्वतन्त्र विचारधाराओ का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है । नवीन विचारधारा तिरोभाव को प्राप्त होने वाली विचारधारा से ही अपने उपादान सूत्रो का आदान करती है । इस प्रकार एक विचारधारा के आविर्भाव मे सभी पुरानी विचारधारायें और परम्परायें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे कारण होती हैं । कवि के मानस का निर्माण उसकी सामयिक परिस्थितियो और सामाजिक चेतनाओ के द्वारा होता है, जिनमे पुरानी परम्पराए भी कारण के रूप मे सन्निहित रहा करती है । अतएव किसी कवि के मानस का ठीक रूप मे अध्ययन करने के लिए यह नितात अपेक्षित है कि कवि की वाणी जिस दिशा में प्रवृत्त हुई है उस दिशा मे हम उन समस्त परम्पराओ का अध्ययन करें और यह देखने की चेष्टा करें कि किस प्रकार विकास-क्रम से कवि के समाज का निर्माण हुआ, तथा उसका कवि के मानस-निर्माण मे कहा तक योगदान रहा ।

विहारी मुक्तक-काव्य के सम्राट् है। मुक्तक की दिशा मे मुक्तक की सभी विशेषताओ से पूरित होने मे वे अपना उपमान नही रखते। सर जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार भारतीय काव्यानन्द का ठीक रूप मे यदि कही प्रस्फुटन हुआ है तो वह उसके मुक्तक-काव्य मे हुआ है।[1] मुक्तक-काव्य मे ही भारतीय उदात्तवृत्ति का पूर्ण सामजस्य अधिगत होता है। भारत ही का नही विश्व का सबसे प्राचीन सकलन ऋग्वेद मुक्तक काव्य सग्रह ही है। ऋग्वेद से लेकर विहारी के समय तक अनेक प्रकार की परम्परायें मुक्तक क्षेत्र मे उद्भूत हुई। इन परम्पराओ का काल-क्रम से अन्त होता गया और उनका स्थान दूसरी प्रकार की परम्परा ने ले लिया। पुरानी तिरोभूत परम्परा से प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त न करने वाला व्यक्ति भी नवीन परम्परा द्वारा उससे प्रभावित हुए विना नही रहता। अतएव विहारी का ठीक रूप मे अध्ययन करने के लिये यह नितान्त अपेक्षित है कि पुरानी परम्पराओ और उनके परिवर्तनो पर प्रकाश डाला जावे तथा उन परिवर्तनो के कारणो पर भी विचार किया जावे और यह देखा जावे कि नवीन परम्परा के उद्भव मे प्राचीनता का कितना तत्त्व विद्यमान है

पुरानी परम्परा के साथ कवि की सामयिक परिस्थिति और विशेष रूप से उसकी व्यक्तिगत परिस्थिति भी कारण होती है। अतएव जहा मुक्तक की प्राचीन परम्पराओ का अध्ययन आवश्यक है वहा यह देखना भी अत्यन्त आवश्यक है कि सामयिक सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियो का कवि के मानस-निर्माण मे कहा तक सहयोग रहा है। नि सन्देह विहारी के आलोचको ने इस दिशा मे दृष्टिपात नही किया। कुछ आलोचको ने हाल के समय मे मुक्तक काव्यकारो का परिचय देने की चेष्टा की और सर जार्ज ग्रियर्सन प्रभृति दो-चार विद्वानो ने ऋग्वेद के समय से ही मुक्तक-काव्य परम्परा के अनुसधान की चेष्टा की।[2] किन्तु जब तक विभिन्न कलाकृतियो की पृष्ठभूमि और सामान्य विशेषताओ पर प्रकाश न डाला जावे तब तक यह बात स्पष्ट नही हो सकती कि किसी कलाकृति का सामान्य रूप क्या था और उसका परवर्ती रचना पर क्या प्रभाव पडा। कहने की आवश्यकता नही कि इन तथ्यो के विश्लेषण की ओर आलोचको का ध्यान गया ही नही है।

प्रस्तुत रचना

प्रस्तुत रचना दो भागो मे विभक्त है। प्रथम भाग मे मुक्तक काव्य की परम्पराओ पर विचार किया गया है और दूसरे भाग मे विहारी का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। मुक्तक-काव्य परम्परा के दो रूप प्राप्त होते है,एक तो शास्त्रीय परम्परा और दूसरा वस्तुमूलक परम्परा। अलकार-शास्त्रो मे जिन सिद्धान्तो का प्रवर्तन हुआ है और उनमे कलाकृतियो के जो भेदोपभेद निर्णीत किये गये है वह

१—लालचन्द्रिका की भूमिका—सर जार्ज ग्रियर्सन।

२—लालचन्द्रिका की भूमिका—सर जार्ज ग्रियर्सन।

भी एक परम्परा है। इस विषय मे अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं, अतएव प्रस्तुत रचना मे इस परम्परा पर विशेष प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं समझी गई। केवल अलकारशास्त्रीय प्रकरणो मे ही सक्षिप्त परिचय दे दिया गया है और उसके आधार पर बिहारी के योगदान की मीमासा की गई है। दूसरी परम्परा है वस्तु-मूलक परम्परा। इस पर अभी तक कोई भी अनुसधानात्मक ग्रन्थ नही लिखा गया। अतएव प्रस्तुत रचना के प्रथम खण्ड मे इसी वस्तु-मूलक परम्परा का परिचय देने की चेष्टा की गई है।

अब तक समुपलब्ध होने वाला सबसे प्राचीन मुक्तक-सकलन ऋग्वेद ही है। ऋग्वेद के देखने से अवगत होता है कि इनकी विचारधारा के विकास मे अनेक परम्पराए कारण हुई होगी, जिनके प्रभाव से ऋग्वेद के समय में इतने प्रौढ काव्य की रचना सम्भव हो सकी। किन्तु आज के युग में इन प्राचीन परम्पराओं के अध्ययन का न तो कोई साधन है और न आज के युग मे यह सम्भव ही है। अतएव ऋग्वेद ही सर्वप्रथम मुक्तक-काव्य ठहरता है, जिसमे अनेक कवियो (ऋषियो) की रचनाए सगृहीत हैं। ऋग्वेद का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इसमे रचनाओं के पाँच प्रवृत्ति-निमित्त विद्यमान हैं—(१) रसात्मक-मुक्तक, (२) धार्मिक-मुक्तक, (३) सूक्ति-मुक्तक, (४) प्रशस्ति-मुक्तक और (५) चित्र-मुक्तक। चित्र-मुक्तक को परवर्ती साहित्य मे काव्य सीमा से बाह्य कर दिया गया है और बिहारी ने भी अपने काव्य मे चित्र-मुक्तक को प्रश्रय नही दिया है।[1] अतएव चार प्रकार की मुक्तक-परम्पराओं का प्रस्तुत रचना मे अध्ययन किया गया है क्योंकि इससे हमारी प्राचीनतम काव्य-पद्धति पर स्पष्ट प्रकाश पडता है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि काव्यप्रकाश इत्यादि मे प्रौढतम काव्य के जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं उनसे मिलते-जुलते उदाहरण ऋग्वेद मे विद्यमान हैं। अर्थ-शक्तिमूलक ध्वनियो की सत्ता तो एक सामान्य सी बात है। शब्द-शक्तिमूलक ध्वनियो के मन्तव्य से लिखे हुए सूक्त भी ऋग्वेद मे पाये जाते है। श्लेषमयी उच्चकोटि की रचनाये भी ऋग्वेद मे अधिगत होती है। इन सब पर प्रकाश डालने के लिये ऋग्वेद का शास्त्रीय विवेचन भी प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

मुक्तक की दिशा मे प्रधानता रसात्मक मुक्तको की ही है। रसात्मक मुक्तको की दृष्टि से ऋग्वेद से बिहारी के समय तक मुक्तक-काव्य के सम्पूर्ण इतिहास को तीन कालो मे विभक्त किया गया है—(१) आदिकाल अथवा आर्ष-काल। इस काल मे प्रकृति पर आरोपित रसमयता ही आस्वादन मे निमित्त हुई है। (२) मध्यकाल अथवा प्राकृत-काव्य-काल। प्राकृत-व्यक्तियो के विषय मे मानव-प्रेम का इस काल मे प्राधान्य रहा। इस काल का प्रारम्भ हाल के समय से हुआ और यह काल जयदेव के समय तक चलता रहा। इस काल की राजनैतिक, सामाजिक इत्यादि

१ साहित्य-दर्पण, दशम परिच्छेद।

परिस्थितियो का भी अध्ययन किया गया है।[1] (३) उत्तर-काल या भक्ति-काल। यह काल जयदेव के समय से बिहारी के समय तक चलता रहा। इसमे निर्दिष्ट विभावो के विषय मे प्रेम का वर्णन प्रधान रहा। इन कालो के विभिन्न कलाकारो का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। किन्तु प्रधानता सामयिक परिस्थितियो और सामान्य विशेषताओ के अध्ययन के लिये ही दी गई है। दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति धार्मिक प्रवृत्ति थी। ऋग्वेद से स्तोत्ररचना-प्रवृत्ति पुराणो मे आई और बौद्धो तथा जैनो के द्वारा भी अपनाई गई। मुक्तक-काव्य परम्परा मे इन स्तोत्रो का भी पर्याप्त महत्त्व है। इनके अध्ययन मे भी कवियो की अपेक्षा सामान्य विशेषताओ को प्रमुखता प्रदान की गई है। तीसरे प्रकार की प्रवृत्ति सूक्ति-काव्य सम्बन्धिनी है। सूक्तियो को तीन भागो मे विभक्त किया गया है—(१) धार्मिक-सूक्ति (२) आर्थिक-सूक्ति और (३) कामसम्बन्धी-सूक्ति। इन सभी प्रकार की सूक्तियो और इनके प्रमुख कवियो का परिचय दिया गया है। यद्यपि सूक्ति-काव्य मे चमत्कारमात्र उपास्य होता है। रस-विकलता के कारण उसे हम प्रधान मुक्तको की सीमा मे नही ले सकते। तथापि अपने विस्तार तथा महत्त्व के कारण उनका परित्याग भी नही किया जा सकता। चौथे प्रकार की प्रवृत्ति प्रशस्ति-काव्यसम्बन्धिनी है। प्रशस्ति काव्य मे हृदय तत्त्व की न्यूनता होने के कारण न तो उच्चकोटि का साहित्य ही निर्मित होता है और मात्रा मे अधिक होते हुए भी सुरक्षित नही रहता। इस प्रकार की कृतिया अपना कुछ स्थान अवश्य रखती है, अतएव इन पर भी सक्षेप मे विचार किया गया है। मुक्तक काव्य खड का यही सक्षिप्त परिचय है। यह खड तीन अध्यायो मे विभक्त है।

प्रस्तुत रचना का दूसरा खण्ड बिहारी के विशेष अध्ययनपरक है। इसमे ७ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय मे बिहारी की सामयिक परिस्थितियो का चित्रण किया गया है। बिहारी की रचना मे राजनैतिक, सामाजिक तथा व्यक्तिगत परिस्थितियो का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। उस समय की राजनैतिक अवस्था चिन्ताजनक थी, और राज-सत्ता प्राय सघर्ष का कारण बन जाती थी। सामाजिक जीवन भी गिरता जा रहा था। इन सब परिस्थितियो का विस्तृत विवेचन तथा उनमे बिहारी पर लक्षित होने वाला प्रभाव इस अध्याय का मुख्य विषय है।

दूसरे अध्याय मे मुक्तक काव्य परम्परा के आधार पर बिहारी का अध्ययन प्रारम्भ होता है। यह परम्परा दो भागो मे बाटी गई है, शास्त्रीय-परम्परा और अनुभूत परम्परा। काव्य-शास्त्र मे अनेक सिद्धान्तो का प्रचलन लक्ष्य-ग्रन्थो के आधार पर ही हुआ है। आनन्दवर्धन ने स्वीकार किया है कि लक्ष्य परीक्षा के आधार पर ही ध्वनि सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ है। यही बात दूसरे सम्प्रदायो के

[1] [illegible] मुक्तको में जिन वर्णित नायक-नायिकाओ का कल्पित घटना का चित्रण [illegible] है, [illegible] भी बिहार में लागू हो सकता है।

विषय मे भी कही जा सकती है। इसे हम मुक्तक-काव्य परम्परा ही कह सकते है, क्योकि लक्षण-ग्रथो मे उदाहरण अधिकतर मुक्तक-काव्य के आधार पर ही दिये गये हैं।

रत्नाकर ने 'कविवर विहारी' नामक पुस्तक मे विहारी के दो दोहाबद्ध जीवन-चरित्रो का उल्लेख किया है।[1] इसके देखने से ज्ञात होता है कि विहारी बहुत समय तक शाहजहा बादशाह के दरबार मे रहे थे। यह वह समय था, जबकि पडितराज जगन्नाथ शाहजहा के यहा रहते थे। पडितराज को भी शाहजहा के दरबार मे लाने का श्रेय जयपुर के महाराज जयसिंह को ही प्राप्त है। कहा जाता है कि विहारी ने अपने भान्जे को पडितराज के द्वारा शिक्षा दिलवाई थी। इससे सिद्ध होता है कि विहारी पडितराज के सम्पर्क मे अवश्य आये होगे और उन्होने उनकी रचना रस-गगाधर का भी परिचय अवश्य प्राप्त किया होगा। पडितराज ने दावा किया है कि उदाहरणानुरूप काव्य की रचना कर मैंने काव्य-शास्त्र का विवेचन किया है, उसमे मैंने दूसरे का कुछ भी नही रखा है। यद्यपि विहारी ने ऐसा कोई दावा तो नही किया है, किन्तु इनकी रचना को देखने से यह धारणा दृढ हो जाती है कि विहारी ने भी पडितराज का पदानुसरण कर अपने दोहो की रचना उदाहरण के मन्तव्य मे ही की थी। पडितराज ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्य हैं और विहारी की रचना से भी यही सिद्ध होता है। यही कारण है कि आचार्य शुक्ल प्रभृति विद्वानो ने विहारी को रीति-ग्रन्थकारो मे स्थान दिया है। प्रस्तुत रचना के द्वितीय तथा तृतीय अध्यायो मे ध्वनि-शास्त्र की दृष्टि से विहारी का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसके अन्तर्गत अविवक्षितवाच्य, विवक्षित वाच्य, सल्लक्ष्य-क्रम तथा असल्लक्ष्य-क्रम सभी प्रकार की ध्वनिया आ जाती है। साथ ही रसध्वनि के उपकरण नायक-नायिका भेद, सहचर, नायिकाओ के अलकार, विभिन्न प्रकार के अनुभाव, सचारी भाव, भाव की अनेक प्रकार की ध्वनिया, इन सबका विस्तृत अध्ययन किया गया है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि विहारी सतसई मे सभी प्रकार के उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं। प्रारम्भ मे लक्षण-शास्त्र का परिचय देकर शास्त्रीय पद्धति पर विहारी के दृष्टिकोण का विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय मे अलकारशास्त्र की दृष्टि से विहारी का अध्ययन किया गया है। अनेक टीका-ग्रन्थो मे विहारी के अलकारो का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। अतएव अलकारो का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। इस विषय मे अधिक विस्तार की आवश्यकता नही समझी गई।

पचम अध्याय मे वस्तु-मूलक परम्परा की दृष्टि से विहारी का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार शास्त्र-मूलक परम्परा के अन्तर्गत सभी प्रकार के ध्वनि-काव्य के भेद तथा अग-प्रत्यग विहारी की रचना मे अधिगत हो जाते है उसी प्रकार वस्तु-मूलक परम्परा के भी भेदोपभेद इस रचना मे पूर्ण रूप से प्राप्त हो

---

१. रत्नाकर-लिखित कविवर विहारी—प्रकरण ७।

जाते है। इस अध्ययन मे वस्तु-मूलक परम्परा के उन चारो भेदोपभेदो का सम्बन्ध बिहारी मे दिखलाया गया है, जिनका विवेचन प्रस्तुत निबन्ध के प्रथम खण्ड मे किया गया है। षष्ठ अध्याय भाषा के सम्बन्ध मे है। इसमे दो दृष्टिकोणो से विचार किया गया है—भाषा की शुद्धि और भाषा की रमणीयता। ब्रजभाषा मे बिहारी के समय तक मनमानी चल रही थी। एक ही शब्द को अकारान्त, आकारान्त, उकारान्त, ऊकारान्त कैसा भी लिख लिया जाता था। ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व कर लेना तो एक मामूली सी बात थी। बिहारी ही पहले कवि थे, जिन्होने पहले पहल ब्रजभाषा के परिमार्जित रूप को अपने हृदय मे अकित कर उसके अनुसार ही प्रयोग किया। इनकी विभक्तियो मे मनमाना प्रयोग नही पाया जाता है। यहा तक कि इन्होने तुकबन्दी के लिये भी दीर्घ का ह्रस्व और ह्रस्व का दीर्घ नही किया है। अतएव बिहारी की भाषा पृथक् अनुसधान का विषय है। रत्नाकर ने इसपर पर्याप्त कार्य किया था और उनका विचार इस प्रकार का निबन्ध प्रस्तुत करने का था। किन्तु काल के कठोर प्रहार से उनकी यह आकाक्षा स्वप्न होकर ही रह गई। प्रस्तुत अध्याय मे बहुत ही सक्षेप मे बिहारी द्वारा मान्य सुबन्त, तिङन्त और कृदन्त रूपो पर प्रकाश डाला गया है। बिहारी का भाषा-व्याकरण लिखने मे रत्नाकर से पर्याप्त सहायता ली गई है। अध्याय के अन्तिम भाग मे भाषा की रमणीयता पर भी सक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। निबन्ध का अन्तिम अध्याय आलोचनात्मक अध्ययनपरक है। इसमे बिहारी की प्रतिभा और निपुणता, बिहारी के काव्य के उपजीव्य, दोषदर्शन और बिहारी का हिन्दी साहित्य मे स्थान-निर्णय इत्यादि प्रस्तुत किया गया है। यही इस निबन्ध का सक्षिप्त विषय-विभाजन है।

प्रस्तुत रचना की मौलिकता

प्रस्तुत रचना को तैयार करने मे लेखक ने स्वच्छन्द रूप से मौलिक ग्रन्थो के अतिरिक्त तत्सम्बन्धी दूसरे ग्रन्थो की पूरी सहायता ली है। लेखक इन समस्त ग्रन्थकारो का आभारी है। किन्तु प्रस्तुत रचना की अन्तरात्मा सर्वथा मौलिक है। प्रस्तुत रचना की मौलिकता के विषय मे निम्नलिखित कतिपय निर्देश किये जा सकते है —

१—अनेक विद्वानो ने ऋग्वेद को प्रथम मुक्तक-सकलन माना था, किन्तु उसका काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से अभी तक अध्ययन नही हुआ था। ऋग्वेद का काव्यशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन और उसके ५ प्रकार के प्रवृत्ति-निमित्तो का अनुसधान सर्वथा नया है जो कही अन्यत्र दृष्टिगत नही होता।

२—रसात्मक मुक्तको को आदि, मध्य तथा अत इन कालक्रमो मे विभाजित कर उनके कारणो तथा परिस्थितियो का अध्ययन ग्रन्थ की दूसरी मौलिकता है।

३—बिहारी मे सभी प्रकार की प्रवृत्तियो के समन्वय का अध्ययन सर्वथा मौलिक है, जो अन्यत्र दृष्टिगत नही होता है।

४—इतिहास की पूरी पृष्ठ भूमि मे बिहारी का अध्ययन और उसके प्रभाव के तारतम्य का विश्लेषण प्रस्तुत रचना की चौथी मौलिकता है।

५—प्रस्तुत रचना मे बिहारी को ध्वनिवादी सिद्ध किया गया है। यह भी नवीन अनुसधान पर ही आधारित है।

६ – बिहारी का लक्षण-शास्त्र के दृष्टिकोण से अनेक विद्वानो ने अध्ययन किया था। किन्तु ये अध्ययन बिहारी मे विभिन्न शास्त्रीय तत्त्वो के दर्शाने तक ही सीमित थे। बिहारी के आधार पर सभी प्रकार की ध्वनिसम्बन्धी विशेषताओ का अध्ययन अभी तक नहीं हुआ था। प्रस्तुत रचना मे काव्य-शास्त्रीय तत्त्वो का विवेचन करके बिहारी के उदाहरणो मे उनकी सगति बैठाई गई है। ग्रन्थ का मूल प्रवृत्ति-निमित्त यही है। उदाहरणो की सगति के लिये प्रत्येक लक्षण को पूर्ण रूप से तोलने की चेष्टा की गई है और दूसरे आलोचको तथा व्याख्याताओ के निर्देशो पर भी पूर्ण रूप से विचार किया गया है। आलोचना का यह शास्त्रीय दृष्टिकोण सर्वथा नवीन है। बिहारी के विषय मे ही नही, किसी अन्य कवि के विषय मे भी अभी तक इस प्रकार की शैली मे आलोचना लेखक के देखने मे नहीं आई।

प्रस्तुत रचना रीतिकाल की प्रारम्भिक रचना बिहारी-सतसई पर पूर्ण प्रकाश डालती है और बिहारी से पूर्व मुक्तक-सम्पत्ति का सर्वांगीण परिचय प्रदान करती है। यदि पाठकगण इसमे भारतीय मुक्तक-साहित्य-जगत् की विभिन्न काल की विभिन्न परिस्थितियो और विशेषताओ का चित्र प्राप्त कर सकेंगे, यदि मुक्तक-काव्य जगत् की महनीय कृति बिहारी सतसई की पृष्ठभूमि का ठीक परिचय प्राप्त हो सकेगा तो लेखक अपने प्रयास को सफल समझेगा।

अन्त मे लेखक उन समस्त ग्रन्थकारो का आभार प्रदर्शित करना अपना कर्त्तव्य समझता है, जिनके ग्रन्थो से प्रस्तुत रचना मे सहायता ली गई है। इस दिशा में सबसे अधिक प्रेरणा आदरणीय डा० नगेन्द्र जी की[1] पुस्तको से प्राप्त हुई है। पूज्य डा० महोदय का अधिनिबन्ध 'रीति-काव्य की भूमिका तथा देव और उनका काव्य' ही प्रस्तुत रचना का आदर्श रहा है और निबन्ध को दो खण्डो मे विभाजित करने की प्रेरणा उक्त पुस्तक से ही प्राप्त हुई है। मै रीति-ग्रन्थो को भी अनेक कारणो से मुक्तक-काव्य परम्परा की मूल प्रवृत्तियो का परिचायक ही मानता हू। उक्त पुस्तक मे रीति-ग्रन्थो और तत्सम्बन्धी विषयो की परम्परा का परिचय दिया जा चुका था। वस्तुमूलक परम्परा का अनुसन्धान अभी तक नहीं हुआ। अतएव उसी का अनुसन्धान इस रचना के प्रथम खण्ड मे प्रस्तुत करके बिहारी मे उन दोनो परम्पराओ का समन्वय दिखलाया गया है। इसके अतिरिक्त श्री डा० महोदय द्वारा सम्पादित लक्षण-शास्त्रीय अन्य ग्रन्थो से भी पर्याप्त सहायता ली गई

---

१. इस दिशा में लेखक स्वर्गीय श्री रत्नाकर जी तथा लोकनाथ जी द्विवेदी का भी नितान्त आभारी है। इन महानुभावों की रचनाओं से भी लेखक ने पर्याप्त लाभ उठाया है।

है। श्री डा० त्रिगुणायत जी के प्रति आभार प्रदर्शित करना मानो उनके सौहार्द का मूल्य चुकाना है। वे ही इस निबन्ध के निर्देशक रहे है और उनकी अनुकम्पा ही प्रस्तुत निबन्ध मे मूर्तिमती हो गई है। उनके विवेक तथा सौहार्दपूर्ण पथ-प्रदर्शन के अभाव मे प्रस्तुत निबन्ध सम्भव ही नही था। मै इस दिशा मे डा० भगीरथ जी मिश्र तथा श्री विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र का अन्तस्तल से आभारी हू जिन्होने अपना बहुमूल्य समय देकर प्रस्तुत रचना को व्यवस्थित रूप देने मे बहुत बडा योगदान दिया हैं। उक्त महानुभावो की रचनाओ से भी लेखक ने पर्याप्त लाभ उठाया है। श्री डा० रमाशकर जी शुक्ल रसाल का भी वरदान तथा निर्देशन लेखक को प्राप्त हुआ है। तदर्थ लेखक श्री शुक्ल जी का भी नितान्त आभारी है। अमरोहा जैसे छोटे नगर मे टाइप की असुविधा भी एक बहुत बडी समस्या थी। इस दिशा मे मुझे मेरे ही शिष्य श्री धीरेन्द्र नाथ जी शुक्ल से बहुत बडी सहायता मिली है। उन पर मेरा अधिकार है और मेरा आशीर्वाद सदा उनके साथ है। मैं अशोक प्रकाशन के सञ्चालक महोदय श्री जगदीश चन्द्र जी गुप्त का भी अन्तस्तल से आभारी हू, जिन्होने आशातीत शीघ्रता के साथ प्रस्तुत निबन्ध के प्रकाशन का कार्य सम्पन्न किया। प्रूफ रीडिंग तथा मूल प्रतिशोधन मे मेरे पितृव्य-पुत्र श्रीरामशरण जी त्रिपाठी ने मेरा बहुत अधिक हाथ बटाया है। प्रकाशन मे कुछ असुविधाओ का सामना करना पडा है। बिहारीके दोहो मे चन्द्रबिन्दु यथास्थान नही लगाये जा सके क्योकि प्रकाशक के अनुसार उतनी मात्रा मे चन्द्रबिन्दु प्रेस मे विद्यमान नही थे। एतदर्थ मै अपने सहृदय पाठको से क्षमा प्रार्थना करता हू। बिहारी के दोहो का क्रम भी एक सा नही है। अतएव उद्धृत दोहो पर सख्या डालना उचित नही समझा गया। जहा कही कथन के सक्षिप्तीकरण के लिये किसी दोहे को बिना ही उद्धृत किये उसका आशय दे दिया गया है, वहा रत्नाकर की टीकावाली क्रमसख्या का ही सकेत कर दिया गया है।

अन्त मे सहृदय पाठको से निम्नलिखित श्लोक निवेदित कर मै अपना वक्तव्य समाप्त करता हू —

न चात्रातीव कर्तव्य दोषदृष्टिपर मन ।
दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्ताना प्रकाशते ॥

विनीत

रामसागर त्रिपाठी

प्रथम-खण्ड

मुक्तक-काव्य परम्परा

जयन्ति ते पञ्चमनादमित्र-
चित्रोक्तिसन्दर्भविभूषणेषु ।
सरस्वती यद्वदनेषु निय-
माभाति वीणामिव वादयन्ती ॥

\+ \+ \+

तन्त्री नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति रंग ।
अनबड़े बड़े, तरे जे बूड़े सब अंग ॥

प्रथम अध्याय

मुक्तक-काव्य और उसका प्रारम्भिक रूप

मुक्तक शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ—मुक्त शब्द से सज्ञा मे कन्[1] होकर मुक्तक शब्द निष्पन्न हुआ है। मुक्तक शब्द मे निष्ठार्थक 'क्त' प्रत्यय है जो भूतकाल में कर्म कारक मे हुआ करता है[2] और फलाश्रय के समानाधिकरण[3] विशेषण का प्रत्यायन कराता है। अतएव विशेषण से सज्ञा की निष्पत्ति के लिए कन् जोडा गया है। इस निष्पत्ति के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति होगी—मुच्यते स्मेति मुक्तम्, मुक्तम् ह्रस्व द्रव्य मुक्तकम् अर्थात् मुक्तक उस द्रव्य का नाम है जो छोडा जा चुका हो और जिसका कलेवर छोटा हो।

मुक्तक शब्द के विभिन्न अर्थ—मुक्तक शब्द के विभिन्न कोष-ग्रन्थो में निम्नलिखित अर्थ प्राप्त होते है —

१ एक विशेष प्रकार का अस्त्र जो फेंककर मारा जाता हो[4]।
२ फेंककर मारा जानेवाला कोई अस्त्र[5]।
३ एक प्रकार का गद्य जिसमे समास का प्रयोग बिलकुल न हो या अत्यल्प मात्रा मे हो[6]।
४. कविता का एक चरण।
५ छन्दो का एक विशेष प्रकार।
६. एक प्रकार का काव्य जो पूर्वापर-निरपेक्ष स्वत.पर्यवसित पद्य तक सीमित हो।

मुक्तक शब्द का काव्य के साथ समास करने पर प्रथम दो अर्थों का स्वतः निरास हो जाता है। चतुर्थ तथा पचम अर्थ छन्द शास्त्र सम्बद्ध है। अत इन्हें हम काव्यो के प्रकारो मे सन्निविष्ट नही कर सकते। शेष दो अर्थ वृत्तगन्धोज्झित गद्य और स्वत पर्यवसित एक पद्य-गत काव्य, काव्य से सम्बद्ध होते है। समास-विरहित गद्य, गद्य साहित्य का सर्वाधिक रमणीय प्रकार है और वैदर्भी रीति का प्रमुख लक्षण है। किन्तु यह शैली का ही एक विशेष प्रकार है। और काव्य-भेदो में इसकी गणना समीचीन नहीं कही जा सकती। दूसरी बात यह है कि इस भेद का

---

१ सज्ञायाम् कन् ५।३।८७
२ तयोरेव कृत्यक्तखलर्था' पा सू. ५।३।८७
३. निष्ठा पा. सू. ३।२।१०२
४. शब्द रत्नाकर
५. सस्कृत-इग्लिश डिक्शनरी
६. साहित्य दर्पण उल्लास ६

साहित्य मे न तो अधिक प्रचलन ही हुआ और न गद्य साहित्य के भेदोपभेदो मे इसका परिगणन ही किया जाता है।

प्रधानतया मुक्तक काव्य का प्रयोग पूर्वापर-निरपेक्ष स्वत पर्यवसित काव्य के लिये होता है। मुक्त शब्द से निष्पन्न होने के कारण यह शब्द इस अर्थ मे सर्वथा उपयुक्त भी है।[1] केशव-कृत शब्द कल्पद्रुमकोश मे मुक्त शब्द के निम्न-लिखित अर्थ दिये हुए है —

विना कृत विरहित व्यवच्छिन्न विशेषितम्।
भिन्न स्यादथ निर्व्यूहे मुक्त योवातिशोभन ॥

यहा पर विनाकृत विरहित व्यवच्छिन्न विशेपित और भिन्न अर्थ लगभग एक ही है। इन अर्थो से आपातत सिद्ध हो जाता है कि जो काव्य अर्थ-पर्यवसान के लिए परापेक्षी न हो वह मुक्तक कहलाता है। प्रबन्ध काव्य मे अर्थ का पर्यवसान प्रबन्धगत होता है। इसके प्रतिकूल मुक्तक काव्य मे प्रबन्ध की अपेक्षा नही होती। निर्व्यूह शब्द भी इसी अर्थ का परिचायक है। निर्व्यूह शब्द का अर्थ है पूरा किया हुआ। पूर्ण होने के कारण स्वत पर्यवसित पद्य गत-काव्य मे मुक्तक सज्ञा सगत हो जाती है शेष दो अर्थ विशेपित और अतिशोभन विशेष ध्यान देने योग्य है। रसचर्वणा या चमत्कृति प्रबन्ध मे केवल एक पद्य मे अपेक्षित नही होती और न प्रबन्ध काव्य का प्रत्येक पद्य रसप्रवण तथा चमत्कृति-प्रधान हुआ करता है। किन्तु मुक्तक काव्य मे रस की समस्त विशेपताये और चमत्कृति के सारे उपकरण एक ही पद्य मे अपेक्षित होते है। अतएव विशेपित अर्थ की सगति मुक्तक काव्य के साथ बैठ जाती है। इसी प्रकार रमणीयता काव्य का प्रधान धर्म और काव्यत्व का प्रमुख परिचायक है। अतिशोभन इस अर्थ से मुक्तक काव्य की इसी विशेपता का परिचय प्राप्त होता है। मुक्त शब्द के दो अर्थ और है—प्राप्त-मोक्ष तथा आनन्दित। इसी मुक्त की सज्ञा मुक्तक है। यदि इन समस्त अर्थो की सगति बिठाई जावे तो मुक्तक का अर्थ होगा—ऐसा पद्य जो परत निरपेक्ष रहते हुए पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति मे समर्थ हो, काव्य के लिए अपेक्षित चमत्कृति इत्यादि विशेपताओ से युक्त हो, अपनी काव्यगत विशेपताओ के कारण जो आनन्द देने मे समर्थ हो, जिसका गुम्फन अत्यन्त रमणीय हो और जिसका परिशीलन ब्रह्मानन्द-सहोदर रसचर्वणा के प्रभाव से हृदय की मुक्तावस्था को प्रदान करनेवाला हो। निस्सन्देह ये सभी गुण प्रबन्ध काव्य तथा नाटका मे भी अपेक्षित होते है। किन्तु रसमयता तथा चमत्कृति उनमे प्रबन्ध-व्यापिनी होती है। प्रबन्ध काव्य मे न तो सभी पद्य रसमय ही होते है और न सर्वत्र उनमे चमत्कृति ही उपलब्ध होती है। उसमे हृदय की मुक्तावस्था का अधिगम प्रबन्ध के द्वारा होता है। और प्रबन्ध मे नीरस पद्य भी सरस पद्यो मे सन्निविष्ट होकर सरसता सम्पादन मे सारगर्भित हो जाते है। वस्तुत प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक मे रसाभिव्यक्ति और चमत्कृति सम्पादन अधिक दुष्कर होता है। प्रबन्ध मे

१ केशवकृत शब्दकल्पद्रुम

पात्र परिचित होते हैं। उनके विषय मे हमारी एक धारणा बन जाती है। उनका नाम तथा उनकी उपस्थिति ही हमारे किसी विशेष रसास्वादन मे निमित्त हो जाती है। दूसरी बात यह है कि महाकाव्य, खडकाव्य, आख्यायिका, नाटक इत्यादि मे यदि कथानक का निपुणतापूर्वक निर्वाह किया जावे तो पढनेवाले का मन कथा के रस मे निलीन हो जाता है और गुण-दोष पर अधिक विचार नहीं करता। प्रबन्ध काव्य मे कथानक वशीकरण होता है। हमारे अन्दर निरन्तर कौतूहल भावना जागृत रहने के कारण और परिणाम जानने के लिये उत्सुक होने से हमारी चित्तवृत्तिया सम्मुख आए हुए दोषो पर इतना ध्यान नही देती। यदि अनिच्छा से ही कोई दोष दृष्टिगत हो जावे तो परिणाम ज्ञान की आकुलता मे हम एक दम आगे बढ़ जाते हैं और काव्यगत गुण-दोषों पर सामूहिक रूप मे ही विचार करते हैं ऐसे काव्यों मे यदि थोड से भी पद्य अच्छे बन पडे और उनमे ही रसपरिपाक पूर्णता को प्राप्त हो जाये तो हम समस्त प्रबन्ध की मुक्तकण्ठ से प्रशसा करने लगते हैं। ऐसे प्रबन्धान्तर्वर्ती सैंकडो नीरस पद्यो की ओर हमारा ध्यान ही नही जाता। इसके प्रतिकूल मुक्तक मे प्रत्येक पद्य स्वतन्त्र होता है। पद्य के छोटे मे कलेवर मे ही रस की सारी सामग्री जुटानी पडती है। पाठको के मन पर पात्रो का कोई प्रभाव पहले से अकित नहीं रहता। रसान्वेषण—लोलुप मन केवल एक ही पद्य में व्यासक्त हो जाता है। वहा कथा उपष्टम्भक नही होती। मुक्तक मे हम किसी दोष की, उपेक्षा नही कर सकते जब कि प्रबन्ध मे कथा के प्रवाह मे पडकर हम साधारण दोषो की ओर ध्यान भी नही देते। मुक्तक मे प्रत्येक शब्द पर हमारा ध्यान जाता है जब कि प्रबन्ध में कतिपय पद्यो की सुन्दरता मे ही प्रबन्ध चमचमा उठता है और अनेक शब्द क्या सैंकडो पद्य भी हमारी उपेक्षा का विषय बन जाते हैं। शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार का जो अनुसन्धान मुक्तक मे किया जाता है वह प्रबन्ध मे नही इस प्रकार अतिशोभन, आनन्दन, मोक्षप्रापण और निर्मुक्तता ये गुण मुक्तक मे ही प्रधान होते हैं और इसी आधार पर इसका नामकरण किया गया है। आचार्य शुक्ल ने मुक्तक के विषय मे लिखा है :–

"मुक्तक मे प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमे कथा-प्रसग मे अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है। इसमे तो रस के जैसे छींटे पडते हैं जिनसे हृदय की कलिका थोडी देर के लिये खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक काव्य एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसीलिये सभा-समाजो के लिये वह अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यो द्वारा सघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अग का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि एक रमणीय खड दृश्य इसी प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है। इसके लिये कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा-सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यन्त सक्षिप्त और सशक्त भाषा मे कल्पित करना पडता है। अत जिस कवि मे कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति जितनी अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना मे अधिक सफल होगा।"

मुक्तक का प्रवृत्ति विषयक अनुसन्धान—वैदिक साहित्य मे और विशेष रूप से मन्त्र संहिता मे काव्य शब्द का अनेक वार प्रयोग आया है किन्तु काव्य के उपभेदो का कही भी उल्लेख प्राप्त नही होता। वस्तुत वैदिककाल मे प्रबन्ध काव्य का प्रचलन ही नही हुआ था और मुक्तक को ही काव्य की सज्ञा प्राप्त थी। वैदिककाल मे सभी काव्य मुक्तक ही थे और उसके उपभेद करने की आवश्यकता ही नही समझी गई थी। निरुक्त और व्याकरण की महत्त्वपूर्ण रचनाओ मे काव्य के अनेक अंगो का उल्लेख पाया जाता है किन्तु कही भी प्रबन्ध और मुक्तक के विभाजन का सकेत नही मिलता।

अलकार शास्त्र का कोई अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ अधिगत नही होता। अलकार शास्त्र के प्राचीनतम ग्रन्थ जो कि हमे इस समय उपलब्ध होते है केवल दो है—भामह का काव्यालकार और दण्डी का काव्यादर्श। नाट्य शास्त्र कुछ पहले की रचना है। किन्तु इसे हम अलकार शास्त्र का ग्रन्थ नही कह सकते। यद्यपि नाट्य शास्त्र मे भी अलकारो का विवेचन हुआ है तथापि यह विवेचन इसी सिद्धान्त को मान कर किया गया है कि ऐसा कोई शास्त्र नही होता जिसका सम्बन्ध नाट्य शास्त्र से न हो। वस्तुत अत्यन्त प्राचीन काल मे काव्य शास्त्र और नाट्य शास्त्र ये दो पृथक्-पृथक् शास्त्र माने जाते थे। काव्य मे अलकारो को प्रमुखता प्राप्त थी और नाट्य मे रस को। यद्यपि काव्य मे रसो पर भी विचार किया जाता था और रसवत् इत्यादि अलकारो को रस इत्यादि की सत्ता मात्र से ही स्वीकार कर लिया जाता था, इसी प्रकार नाट्य मे वाणी के भूषण के रूप मे अलकारो को भी स्वीकार किया जाता था तथापि दोनो एक ही है, यह बात उस समय तक आचार्यो न स्वीकृत नही की थी और न दोनो के एकीकरण की चेष्टा की गई थी। प्राचीन शास्त्रो और इन लक्षण ग्रन्थो मे काव्य शास्त्र के अनेक आचार्यो का उल्लेख प्राप्त होता है। किन्तु इन प्राचीन ग्रन्थो का पता अभी तक नही चलाया जा सका है। अतएव यह निश्चय रूप से नही कहा जा सकता कि अत्यन्त प्राचीन काल मे प्रबन्ध और मुक्तक जैसा कोई विभाजन स्वीकृत था या नही।

भामह और दण्डी के ग्रन्थो म इस प्रकार का विभाजन पाया जाता है। किन्तु इन ग्रन्थो को देखने से अवगत होता है कि उस समय तक इन आचार्यो को काव्य-भेदो की कोई स्थिर तथा सर्वजन-सम्मत परम्परा नही प्राप्त हुई थी। दण्डी ने स्फुट काव्य को मुक्तक सज्ञा प्रदान की है जबकि भामह ने इसे अनिबद्ध काव्य कहा है। इसी प्रकार भामह जिसे महाकाव्य कहते है, दण्डी उसे सर्गबन्ध की सज्ञा प्रदान करते है।[1] इससे प्रकट होता है कि ये सज्ञाये उस समय तक स्थिरता को प्राप्त नही हो सकी थी। दण्डी स्वय मुक्तक काव्य की वास्तविक सीमा और उसके वास्तविक स्वरूप के विषय मे कुछ भ्रान्त से प्रतीत होते है। इन्होने सर्वथा स्फुट असम्बद्ध काव्य को मुक्तक सज्ञा प्रदान न कर प्रबन्धान्तर्गत लिखे गए पद्य को मुक्तक कहा

१ काव्यादर्श—[illegible]

है ।[1] इसीलिये उसकी पृथक् परिभाषा करने की आवश्यकता नही समझी गई ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है काव्य मे अलकारो की प्रधानता थी और नाट्य मे रस की । किन्तु अलकार शब्द आभूषण का वाचक है और आभूषणो को कभी आत्मा नही माना जा सकता । अलकार सर्वथा वाह्य होते हैं, हम उन्हे आभ्यन्तर कभी नही कह सकते । इसीलिये कुछ आचार्यो ने नाट्य के अनुकरण पर काव्य मे भी रस का ही आत्मत्व अगीकृत किया । इन आचार्यो के विचार से नाट्य रस के समान काव्य रस शब्द का प्रयोग भी असगत नही कहा जा सकता । काव्य मे भी नाट्य के समान ही विभाव, अनुभाव और सचारी भाव के द्वारा पुष्ट होकर स्थायी भाव रस-रूपता को धारण कर सकता है । नाट्य मे अनुभाव अभिनेय होते हैं किन्तु काव्य मे वे वर्ण्य हो जाते हैं । ज्ञात होता है कि काव्य की आत्मा के रूप मे रस अथवा अलकार को स्वीकार किये जाने के पक्ष और विपक्ष मे बहुत समय तक विवाद चलता रहा होगा और दोनो ओर बहुत-सी युक्तिया दी जाती रही होगी । मुनि ने अग्निपुराण मे जो निष्कर्ष निकाला है और दोनों पक्षो मे जो सामजस्य स्थापित करने की चेष्टा की है उससे इस विवाद की व्यापकता ध्वनित होती है । मुनि ने महाकाव्य के विषय में लिखा है —

वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् । (३३७-३३)

अर्थात् यह मानने मे आपत्ति नही हो सकती कि काव्य मे वाग्वैदग्ध्य (अलकार) ही प्रधान है । तथापि महाकाव्य का जीवन तो रस को ही मानना पडेगा । इससे स्पष्ट है कि मुनि ने वैदग्ध्य भगी भणिति को काव्य मे प्रधान मान कर उन लोगो की ओर सकेत किया है जो काव्य की आत्मा अलकार को ही मानते हैं । दूसरी ओर रस को काव्य का जीवन मान कर इस बात का परिचय दिया है कि उस समय तक काव्य मे भी रस की अपरिहार्यता अगीकृत की जा चुकी थी । उसी को उन्होने काव्य-जीवन के रूप मे सिद्धान्तित किया था । किन्तु मुक्तक मे भी रसमयता हो सकती है इस ओर मुनि का ध्यान नही गया था और मुक्तक का लक्षण करते हुए उन्होने उसमे चमत्कार को अपरिहार्य मान लिया —

मुक्तक श्लोक एकवैकश्चमत्कारक्षम. सताम् । (३३७—३६)

अर्थात् मुक्तक एक ही श्लोक को कहते है जो सहृदयो मे चमत्कार का आधान करने मे समर्थ हो । स्पष्ट ही है कि मुनि के सामने मुक्तक की रसमयता का प्रश्न ही नही था । हाँ, उनके ग्रंथ से इस बात का पता अवश्य चलता है कि इस समय तक मुक्तक की स्वतन्त्र सत्ता अवश्य मानी जा चुकी थी और मुक्तक केवल सर्ग बन्धाश के रूप मे ही प्रतिष्ठित नही था ।

मुक्तक की रसमयता की ओर सर्वप्रथम ध्वनिकार ने सकेत किया था । उन्होने लिखा है —

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बद्धु मिच्छता ।

---

१ मुक्तक कुलक कोष संघात इति यत्पुन । सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्त: पद्यविस्तर. ।

यहा पर मुक्तक का प्रयोग सर्वथा स्वाभाविक रूप मे हुआ है और आलोककार आनन्दवर्धन ने मुक्तक के विषय मे लिखा है—"तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिन कवेस्तदाश्रयमौचित्यम् अन्यत्र कामचार ॥"[1] अर्थात प्रबन्धो के समान मुक्तको मे भी कवि का अभिनिवेश रसबन्ध के विषय मे हो तो उस रस के अनुकूल औचित्य का पालन कवि को वहा पर भी करना चाहिये। यदि कवि के अन्दर इस प्रकार का रसबन्धन का अभिनिवेश न हो तो स्वेच्छा से कवि किसी प्रकार के औचित्य का पालन कर सकता है। किन्तु इतने से ही आलोककार को सतोष नही हुआ। मुक्तक मे भी रस हो सकते है उन्हे यह वात विशेष रूप से कहनी पडी—"मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिन कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तका शृगाररसस्यन्दिन प्रबन्धायमाना प्रसिद्धा एव।"[2] अर्थात् देखा जाता है कि जिस प्रकार काव्यो मे सामग्री के सयोग से कवियो का अभिनिवेश रसबन्ध मे होता है उसी प्रकार मुक्तको मे भी हुआ करता है। जैसे अमरुक कवि के मुक्तक प्रबन्ध के समान रसप्रवण प्रसिद्ध ही है।

साहित्य शास्त्र मे ध्वनिकार, आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त का वही स्थान है जो व्याकरण मे पाणिनि, कात्यायन और पतजलि का है।[3] इन आचार्यो के प्रतिपादन के बाद यह बात निर्भ्रान्त रूप मे स्वीकृत कर ली गई कि नाट्य तथा प्रबन्ध के समान मुक्तक मे भी रसाभिनिवेश सम्भव है इस प्रकार नाट्य और प्रबन्ध के बहुत बाद मुक्तक मे रस की सत्ता अगीकृत की गई। बाद के आचार्यो ने मुक्तक के लक्षण को एक पद्य मे अर्थ की परिसमाप्ति तक ही सीमित कर दिया। परवर्ती लक्षण-ग्रन्थो मे जहा कही मुक्तक की परिभाषा की गई है वहा केवल इतना ही कह दिया गया है कि जो पद्य अर्थ की समाप्ति मे स्वतन्त्र हो, उसे मुक्तक कहते है।

मुक्तक का क्षेत्र तथा उसके उपभेद—मुक्तक का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। कविता का प्रथम परिस्फुरण मुक्तक मे ही होता है। आचार्य वामन ने लिखा है कि अनिबद्ध रचना मे सिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद मे ही निबद्ध रचना मे सिद्धि मिलती है। कतिपय कवि मुक्तक रचना तक ही अपने को सीमित रखना चाहते है, यह ठीक नही है। अग्नि के प्रथम परमाणु की भाति मुक्तक रचना कभी चमकती नही।" वामन के मत मे मुक्तक के स्फुट कलेवर मे काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य का प्रकाशन नही हो सकता। मुक्तक प्रबन्ध का एक सोपान मात्र है। उसकी सार्थकता इसी मे है कि उसकी रचना के द्वारा प्रबन्ध-रचना मे नैपुण्य प्राप्त हो। राजशेखर ने भी मुक्तक को प्रबन्ध की अपेक्षा गौण स्थान दिया है। उनका कहना है—

[1] ध्वन्यालोक—तृतीय उद्योत, पृ० ३८० [2] उसी पर लोचन टीका
P V Kane

॥ मुक्तके कवयोऽनन्ता. प्रबन्धे कवय शतम् ।
महाकाव्ये तु कविरेको द्वौ दुर्लभास्त्रय । (का० मी० अ० १०)

अर्थात् मुक्तक रचनाकार असख्य कवि होते है, प्रबन्धकार एक समय मे केवल सौ ही मिल सकते हैं, महाकाव्यकार एक समय मे केवल कोई एक या दो हो सकते हैं तीन का मिलना तो कठिन ही हैं। वामन और राजशेखर की इस स्थापना मे इतना सत्य तो अवश्य है कि महाकाव्य मे जीवन का पूरा चित्र रहता है और मुक्तक मे किसी क्षणिक स्थिति या मनोदशा का। अत प्रबन्ध का प्रभाव मुक्तक की अपेक्षा अधिक व्यापक और अधिक स्थायी होता है। किन्तु व्यवहार की दृष्टि से एक सीमा तक मान्य होते हुए भी यह सिद्धान्त तत्वत निर्दुष्ट नही है। इसमे सदेह नही कि मुक्तक मे विस्तार के अभाव मे व्यापकता का समावेश सम्भव नहीं। परन्तु उसकी एकाग्रता शीघ्र ही तीव्रता की सृष्टि कर सकती है और काव्य मे व्यापकता की अपेक्षा तीव्रता का मूल्य कम नही है। व्यापक जीवन का विस्तार यदि भव्य है तो स्पन्दित जीवन की भव्यता भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही। यदि वनस्थली की अपनी शोभा है तो पुष्प-गुच्छ की अपनी शोभा भी पृथक् ही है।

सामान्यतया मुक्तक के क्षेत्र मे स्वमात्र-विश्रान्त वे समस्त पद्य आ जाते है जो किसी प्रबन्ध का अग न हो और रमणीयता का सम्पादन करने मे समर्थ हो॥ रमणीयता का सम्पादन दो प्रकार मे हो सकता है—१ विभावादि के सयोग से स्थायी भाव का रसरूपता को धारण करना एक प्रकार है और (२) वैदग्ध्य भगी भणिति के द्वारा लोकवृत्त का अभिधान दूसरा प्रकार है। प्रथम प्रकार रसात्मक मुक्तक के नाम से अभिहित किया जा सकता है और दूसरा प्रकार सूक्ति या सुभाषित मुक्तक के नाम से। रसात्मक शब्द उपलक्षण है, इसके अन्तर्गत हृद्गत भावनाओ से सम्बन्ध रखनेवाले सभी प्रकार के मुक्तक आ जाते हैं। भावना का आलम्बन प्रकृति भी हो सकती है, परमात्मा की सत्ता भी हो सकती है और कोई दिव्य शक्ति भी हो सकती है। इस प्रकार जहा रसात्मक मुक्तको मे विभिन्न रसो से सम्बन्ध रखनेवाले स्वतत्र पदो का समावेश हो जाता है वहा भगवद्भक्ति, स्तोत्र, प्रकृति काव्य तथा राज-विषयक रति का भी समावेश हो जाता है। किन्तु रसात्मक मुक्तक की सज्ञा केवल उन्ही पद्यो को प्राप्त हो सकती है जिनमे किसी भाव की अभिव्यक्ति हो। मानव अथवा प्रकृति के प्रति जो रति भाव होता है उसका अभिव्यक्ति का मन्तव्य भावाभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ और नहीं होता। इसके प्रतिकूल स्तोत्र साहित्य मे देवताओ को सतुष्ट कर उनसे कुछ प्राप्त करना ही मन्तव्य होता है। इसी प्रकार राजविषयक रति मे भी झूठी प्रशसा के द्वारा राजा लोगो का यशोगान कर उन्हे सतुष्ट करना ही लक्ष्य रहता है।

प्राचीन साहित्य मे देवविषयक रति और राजविषयक रति मे भावाभिव्यक्ति के स्थान पर चमत्कारपूर्ण उक्तियो का अधिक प्राधान्य था। ये पद्य एक ओर भावाभिव्यक्ति की ओर झुके हुए थे और दूसरी ओर चमत्कारपूर्ण

उक्तियों की ओर। अतएव न तो इन्हें रसात्मक मुक्तकों में सन्निविष्ट कर सकते हैं और न सूक्तियों में। ये मुक्तक मध्यम मार्ग का अवलम्बन करनेवाले हैं। अतएव इनको दोनों से बाह्य पृथक् श्रेणी में रखना ही समीचीन होगा। इस प्रकार मुक्तकों को हम वस्तु की दृष्टि से चार भागों में विभक्त कर सकते हैं —

(१) **रसात्मक मुक्तक**—इनमें रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावसंधि भावोदय, भावशान्ति और भावशबलता इत्यादि भाव से संबंध रखनेवाले सभी प्रकारों का समावेश हो जाता है। भाव मानव-विषयक भी हो सकता है और प्रकृति विषयक भी।

(२) **धार्मिक मुक्तक**—इनमें देवविषयक रति से सम्बन्ध रखनेवाले सभी मुक्तक सन्निविष्ट हो जाते हैं। वैदिक ऋचायें, पौराणिक स्तोत्र तथा बौद्ध और जैन स्तोत्र इन धार्मिक मुक्तकों में आ जाते हैं।

(३) **प्रशस्ति मुक्तक**—इनमें राजाओं तथा दूसरे आश्रयदाताओं की दान-शीलता, वीरता और सौन्दर्य-वर्णन के पद्य सन्निविष्ट हो जाते हैं।

(४) **सूक्ति मुक्तक**—इनमें भाव आस्वादन का विषय नहीं बनते अपितु चमत्कार ही उपास्य होता है। इनमें उक्ति वैचित्र्य के द्वारा सालंकार अथवा निरलंकार वस्तु अभिव्यक्त की जाती है। इनमें कल्पना की उड़ान, ऊहोक्ति, वर्णन-वैचित्र्य या शब्दार्थ-वैचित्र्य प्रधान तत्त्व माने जाते हैं।

माध्यम की दृष्टि से भी मुक्तक काव्य के दो भेद किये जा सकते हैं, पाठ्य मुक्तक और गीति मुक्तक। पाठ्य मुक्तक में कवि अपनी ही अनुभूति को सरस बनाकर सहृदय पाठक को रसमग्न कर देता है। स्वानुभूति निरूपिणी कविता में जब कवि अपनी भावनाओं की मधुरिमामयी व्यंजना करता है और उसकी अनुभूति तीव्रतर हो जाती है तब उसमें संगीतात्मकता फूट पड़ती है। सुख और दुःख के भावातिरेक के कारण कवि के अन्तःकरण के स्वतःप्रेरित उद्‌गार ही गीति का रूप धारण कर लेते हैं। दूसरे शब्दों में कवि के हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का संगीतात्मक चित्र ही गीतिकाव्य है। राजशेखर के मुक्तक के उपभेद उक्त वर्गीकरण में ही गतार्थ हो जाते हैं।

मुक्तक काव्य संकलन—मुक्तक काव्य संकलन के दो भेद प्रसिद्ध हैं—कोष और संघात। कोष की परिभाषा करते हुए साहित्य दर्पण में लिखा है—

> कोषः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः।
> व्रज्याक्रमेण रचितः स एवातिमनोरमः ॥[१]

अर्थात् एक-दूसरे की अपेक्षा न रखनेवाले पद्यों के समूह को कोष कहते हैं। यदि कोष की रचना व्रज्या क्रम से हो तो वह कोष बड़ा ही मनोरम बन जाता है। मुक्तक संकलन दो प्रकार के प्राप्त होते हैं—कुछ संकलन तो अक्रम होते हैं और कुछ में किसी क्रम अथवा व्रज्या का सहारा ले लिया जाता है। साहित्यदर्पण के टीकाकार ने व्रज्या दो प्रकार की बतलाई है एक तो जिसमें एक जाति के पद्यों का

१ सा० द०, ६।३२९।

एकत्र सकलन किया जाता है चाहे वह वर्ण्य-विषय के आधार पर हो चाहे छन्द की दृष्टि से हो। दूसरे प्रकार की व्रज्या वर्णानुक्रम से होती है। व्रज्याक्रम से घटित कोष-ग्रन्थ अच्छा माना जाता है क्योकि इसमे एक तो विषय तथा छन्द के निरन्तर परिवर्तन न होने से बुद्धि विच्छेद नही होता और एक ही स्थान पर एक विषय का पूर्ण आस्वादन हो जाता है। कोष के लिये यह अनिवार्य नियम नही है कि उसके अन्दर आने वाले सभी पद्य एक कवि के ही लिखे हुए हो। अनेक कवियो के लिखे हुए पद्यो का सकलन भी कोष की सज्ञा प्राप्त कर सकता है। दूसरे प्रकार का मुक्तक सकलन सघात कहलाता है। इसके लिये यह अनिवार्य नियम है कि यह एक ही कवि का लिखा हुआ हो। सम्पूर्ण सकलन मे केवल एक ही वृत्त हो और सम्पूर्ण सकलन इस दृष्टि से किया गया हो कि उससे एक कथा समाप्त हो जावे। मेघदूत, वृन्दावन इत्यादि काव्य-सकलनो को विद्वानो ने सघात काव्य माना है—

यत्र कविरेकमर्थं वृत्तेनैकेन वर्णयति काव्ये।
सघात स निगदितो वृन्दावनमेघदूतादि ।

(काव्यादर्श की नृसिहदेव कृत टीका)

काव्यादर्श के टीकाकार श्री रगाचार्य जी ने लिखा है कि सघात काव्य वही हो सकता है जिसमे कथावस्तु कल्पित हो। यदि कथावस्तु लोक-प्रसिद्ध हो तो उसे परिकथा की सज्ञा प्राप्त होती है। हम सूर सागर इत्यादि सकलनो को परिकथा की सज्ञा प्रदान कर सकते है।

प्रारम्भिक मुक्तक संग्रह[1]

सभ्यता के अरुणोदय काल मे हमे दो महान् मुक्तक सग्रह उपलब्ध होते है एक है ऋग्वेद और दूसरा अथर्ववेद।[2] ऋग्वेद धनिकवर्ग, अधिकारियो, राजा-महाराजाओ और सुसस्कृत सामाजिको का प्रतिनिधि है तथा अथर्ववेद सर्वसाधारण जनता की तथा निम्न वर्ग की रीति-नीति और सामाजिक व्यवस्था का दिग्दर्शन कराता है।[3] शेष दो वेद साम और यजु ऋग्वेद से ही कुछ पद्यो को लेकर गीति तथा ऋतु के आधार पर क्रमबद्ध

१ काव्य शास्त्र में काव्य के जो भेदोपभेद गिनाये गये हैं और उनमें जो प्रवृत्ति निमित्त दिखलाये गये हैं वह भी मुक्तक काव्य की ही एक परम्परा है। आलोककार ने लिखा है—'लक्ष्ये पुनः परीक्ष्यमाणे तदेव काव्यजीवितम्' अर्थात् लक्ष्य परीक्षण करने पर वही काव्य का जीवन सिद्ध होता है। इससे प्रकट है कि आचार्यों का काव्यशास्त्रीय विवेचन काव्य-परम्परा का ही विवेचन है उसमें भी मुक्तक काव्य का ही क्योंकि उदाहरणों का सकलन मुक्तक काव्य से ही किया गया है। किन्तु काव्यशास्त्रीय परम्परा का विवेचन अनेक ग्रन्थों में किया जा चुका है। अतएव यहा पर केवल वस्तुमूलक परम्परा का विवेचन किया जावेगा। काव्यशास्त्रीय परम्परा का दिग्दर्शन यथास्थान कर दिया जावेगा।

२ सहिता का अर्थ है सकलन। ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों के लिये सहिता शब्द का प्रयोग होता है, अत ये दोनों ही सग्रह-ग्रन्थ हैं।

३ देखो वैदिक एज के ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के प्रकरण।

कर दिये गये हैं, अत स्वतन्त्र वेद नही कहे जा सकते। अथर्ववेद मे भी ऋग्वेद को ही आधार तथा आदर्श मानकर मन्त्रो का सकलन किया गया है और स्वतन्त्रतापूर्वक ऋग्वेद के मन्त्रो का उपादान किया जाता हैं। इस प्रकार वैदिक काव्य का एक मात्र उपजीवक ऋग्वेद ही है। ऋग्वेद केवल भारोपीय भाषा परिवार की ही नही अपितु समस्त विश्व की तथा मनुष्य मात्र की प्रथम पुस्तक है। यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि विश्व के पुस्तकालय मे ऋग्वेद से अधिक प्राचीन कोई दूसरी पुस्तक नही। दूसरे देश भी अपनी सभ्यता की प्राचीनता का दावा करते है। जबकि ऋग्वेद का रचना-काल ई० पू० २५०० या ३००० वर्ष से अधिक पुराना नही माना जाता, तब ऐसीरिया के विद्वान् प्रथम सरगाओ का समय ईसा से ३००० वर्ष पूर्व मानते है और तूरानियन सभ्यता को इससे भी पूर्व ले जाते है। मिस्र के लोग अपनी सभ्यता को ईसा से ४००० वर्ष पूर्व बतलाते है और चीन के लोग अपनी सभ्यता को भी उतना ही प्राचीन सिद्ध करते हैं। किन्तु भारतीय साहित्य मे उपर्युक्त साहित्यो मे एक मौलिक अन्तर है। मिस्र के साहित्य से हम शासको की नामावली और युद्ध के उल्लेख के अतिरिक्त और कुछ नही जान सकते। ऐसीरिया और बेबीलोन के लेख भी हमसे कुछ ऐसी ही कहानी कहते है। प्राचीन चीन के लेख सभ्यता और सस्कृति के विकास और प्रसार पर कोई प्रकाश नही डालते। किन्तु भारतीय साहित्य का रूप कुछ और ही है। न तो इसमे राजाओ की वशावली दी गई है और न युद्धो और दूसरी घटनाओ का विवरण ही है। किन्तु इसमे हमे सभ्यता और सस्कृति के विकास और प्रसार का स्पष्ट और सुसम्बद्ध चित्र प्राप्त होता है जो कि हमे किसी दूसरे साहित्य मे प्राप्त नही होता। जहा तक भारतीय साहित्य का सम्बन्ध है उसकी प्राचीनता पर न तो मिस्र के स्मारक साहित्य अथवा भोजपत्र की नामावली के द्वारा विवाद किया जा सकता है और न वह ऐसीरिया के साहित्य के विवाद का ही विषय हो सकता है।"[1] किन्तु ऋग्वेद की साहित्यिक प्रौढता उसकी कलात्मकता और भावात्मकता तथा उसमे अभिव्यक्त होनेवाला सस्कृति का निखरा हुआ रूप—इन सब बातो को देखने से स्वभावत सिद्ध हो जाता है कि वैदिक साहित्य के आविर्भाव के पहले साहित्य तथा सस्कृति की अनेक परम्परायें पनपी होगी। समाज ने अनेक उत्थान-पतन देखे होगे। अनेक प्रकार के सघर्षो ने जाति की जीवनी शक्ति को अधिकाधिक दृढ और सक्षम बनाया होगा और उसमे अनेक प्रकार के साहसो का आधान किया होगा, जिससे कष्टो और कठिनाइयो को सहते हुए भी आर्यजाति ने विकास की दिशा मे अविराम प्रगति करने की क्षमता प्राप्त की। निसदेह ऋग्वेद की रचना तथा सकलन उस समय मे हुआ होगा, जबकि अनेक युगो से व्यवहृत होने के कारण प्राचीन ऋषियों व कवियो और आचार्यो के प्रति श्रद्धा और मान्यता की भावना

1. History of San. Lit. by Weber

जागृत हो गई होगी।[1] जिस प्रकार आज हम वैदिक साहित्य की प्रामाणिकता अगीकार करते है, उसी प्रकार उस समय के कवियो ने भी अपने प्राचीन कवियो के प्रति आभार प्रदर्शित किया और श्रद्धा की भावना अभिव्यक्त की है। हमे ऋग्वेद मे अनेक स्थलो पर प्राचीनो और नवीनो का उल्लेख मिलता है।[2] इसी प्रकार प्राचीन रचनाओ के प्रति आभार प्रदर्शित किया गया है[3] और नवीन मन्त्रो को स्वीकार करने की प्रार्थना की गई है।[4] अनेक स्थानो पर भूतकाल का प्रयोग किया गया है।[5] ब्लूम फील्ड ने लिखा है कि ऋग्वेद मे लगभग ५००० पक्तियो मे पुनरुक्ति पाई जाती है।[6] इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार एक ही पक्ति को लेकर आजकल समस्या-पूर्ति की जाती है उसी प्रकार उस समय भी अनेक कवियो ने प्रचलित पक्ति को लेकर समस्या-पूर्ति की होगी। इन सब बातो से सिद्ध होता है कि ऋग्वेद अनेक परम्पराओ के विकास का फल है।[7] किन्तु आज उस पूर्ववर्ती रचना का कोई चिह्न अधिगत नही होता। अतएव हमे ऋग्वद को ही विश्व का सबसे प्राचीन मुक्तक सकलन मानना पड़ता है।

ऋग्वेद का साहित्यिक महत्त्व—जिस प्रकार भारतीय रीति-नीति, आचार-विचार, धर्म-दर्शन इत्यादि सभी सास्कृतिक विषयो का मूल उद्गम एकमात्र वेद ही है उसी प्रकार मुक्तक काव्य का भी मूल स्रोत हमे वेद और विशेष रूप से ऋग्वेद मे ही अधिगत होता है।[8] इस बात को अस्वीकार नही किया जा सकता कि ऋग्वेद की ये ऋचायें या कम-से-कम इनमे से कुछ ऐसी अवश्य है जिन पर कविता की

१. देखो Discovery of India

२. यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवा, देवा भागम् यथा पूर्वे सजानाना उपासते, त्वेह यत् पितरश्चिन्न इन्द्र विश्वा वामा जरितारो असन्वन् (७।१८।१)ये च पूर्व ऋषयः ये च नूतना इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्रा (७।२२।९) ने चिद्धि पूर्वे कवयो गृणन्त (७।५३।१) पुरा देवा अनवद्यास आसन (७।९१।४) त इद्देवानाम् सधमाद आसन् ऋतावान कवय पूर्व्यसः (७।७६।४)।

३. भूरि चक्र मरुत पित्र्याणि उक्थानि।

४. प्र वाम् मन्मानि ऋचसे नवानि कृतानि ब्रह्म जुजुषन्निमानि (७।६१।६)। शुचि नु स्तोम नवजातमद्य इन्द्राग्नी वृत्रहणा जुषेथाम् (७।९३।१)।

५. ऋच सामानि जज्ञिरे छन्दासि जज्ञिरे तस्मात् तस्मात् जाता अजावय (पुरुष सूक्त) ब्राह्मणोस्य मुखमासीत (पुरुष सूक्त)।

६. विण्टरनित्ज—हिस्टरी आफ इण्डियन लिटरेचर वाल्यूम १, अ० १।

७ किन्तु खुद ऋग्वेद के पीछे विचार और सभ्यता के जीवन के कई युग रहे है, जिनमें सिंधु घाटी की मेसोपोटामिया की और दूसरी तहजीबें पनपी थीं। इसलिये यह मुनासिब ही है कि ऋग्वेद में अपने पूर्वजों, ऋषियों और पहले के मार्ग दर्शकों के नाम पर किया गया समर्पण मिलता है। (डिस्कवरी आफ इण्डिया)

८ सर जार्ज ग्रियर्सन ने मुक्तक काव्य का मूल उदगम ऋग्वेद से ही माना है। (देखो लालचन्द्रिका की भूमिका) वस्तुतः ऋग्वेद अनेक शताब्दियों तक बिखरे हुए मुक्तक काव्य का सकलन मात्र ही है। (देखो वैदिक एज)

देवी गर्व कर सकती है। यद्यपि काव्य के रूप मे ऋग्वेद मे परवर्ती उच्चकोटि की रचनाओं की अपेक्षा पर्याप्त अन्तर है, तथापि उसमे कुछ ऐसी अनिर्वचनीय सुन्दरता ओत-प्रोत है जिसका अतिक्रमण नही किया जा सकता। इसी प्रकार यद्यपि हमे उच्चकोटि की दार्शनिक विचारधारा के दर्शन ऋग्वेद मे नही होते तथापि उसमे ऐसे तत्त्व अवश्य विद्यमान है जिनके सामने परवर्ती दर्शनकारो को भी नतमस्तक हो जाना पडता है। जब तक ऋग्वेद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि न स्वीकार की जावे तब तक कालिदास की परिष्कृत रचना, कपिल की दार्शनिक शक्ति, जयदेव की आनन्दमयी रहस्यात्मक प्रवृत्ति, व्यास तथा वाल्मीकि की प्रसाद गुण पूर्ण शैली ये सब जो कि अपने मे इतने अधिक महत्त्वपूर्ण है, रेगिस्तान की हरी-भरी टुकडियो के रूप मे बिखर जायेंगे।[1] महर्षि पतजलि ने लिखा है कि ऋग्वेद की २० शाखायें है।[2] शौनकीय प्रातिशाख्य मे ५ शाखाओ का उल्लेख मिलता है—शाकल, बाष्कल, आश्वालायन, शाखायन और मडूक। शाकल इत्यादि ऋग्वेद के रचयिता नही किन्तु सकलनकर्ता है। इसीलिये आश्वालायन गृह्य सूत्र मे इनको ऋषि न मानकर आचार्य माना गया है। कही-कही ऐतरेयी और कौशीतकी इत्यादि दूसरी शाखाओ का भी उल्लेख पाया जाता है और विष्णुपुराण मे भी कतिपय शाखा भेद प्रवर्तको के नाम गिनाये गये है।[3] किन्तु इस समय केवल शाकल सहिता ही उपलब्ध होती है। आज जब हम ऋग्वेद का नाम लेते है तो उसका अभिप्राय इसी शाकल सहिता से होता है। कही-कही दूसरी सहिताओ के कतिपय सूक्तो अथवा मन्त्रो को परिशिष्ट के रूप मे शाकल सहिता मे जोड दिया गया है। अष्टम मण्डल मे वालखिल्य के ११ सूक्त तथा ८० मन्त्र परिशिष्ट रूप मे जोड हुए है। ये और बाष्कल सहिता के लगभग ३६ सूक्त स्थान-स्थान पर बिखरे हुए है। यहा पर यह प्रश्न उठ सकता है कि वालखिल्य के ये ८० मन्त्र और बाष्कल सहिता के ये छोटे-छोटे मन्त्र खण्ड शाकल सहिता मे क्यो जुड गये? कारण स्पष्ट है। जब हम परवर्ती वैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करते है और उसमे यज्ञ-विधि पर विचार करते है तो हमे ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न वर्गो मे यज्ञ की भिन्न-भिन्न विधिया प्रचलित थी तथा उन वर्गो मे भी परिवारो के अनुसार ही यज्ञो की व्यवस्था होती थी। बाद मे जब एक सामान्य विधि के प्रचलित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई तब शाकल सम्प्रदाय मे जो त्रुटिया ज्ञात होती थी उनको पूरा करने के लिये वालखिल्य तथा बाष्कल शाखाओ मे कुछ मन्त्र ले लिये गये। जब हम इतना मान लेते है कि वालखिल्य तथा बाष्कल सहिताओ से वे ही मन्त्र शाकल सहिता मे सन्निविष्ट हो सके है जो शाकल शाखा मे प्रतिष्ठित न थे तथा यज्ञ के काम आते थे, तब यह बात भी स्वभावत सिद्ध हो जाती है कि शाकल सहिता भी केवल इसीलिये जीवित रह सकी कि वह वर्ग-विशेष मे

[1] History of Indian Lit vol I by Winternitze
[2] [illegible]
[3] [illegible]

सम्मानित थी दूसरे वर्गों की विधिया और तत्सम्बन्धी साहित्य लुप्त हो गया। इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान समय मे ऋग्वेद के नाम पर जो साहित्य हमे उपलब्ध होता है, केवल उतना ही ऋग्वेद नही है किन्तु कालक्रम से अनेक सहितायें लुप्त हो गई है और विशाल साहित्य-राशि का हमे केवल एक अशमात्र ही अधिगत हो सका है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि धार्मिक तथा पौरोहित्य साहित्य के अतिरिक्त दूसरे विषयो से सम्बद्ध भी कुछ-न-कुछ साहित्य अवश्य विद्यमान था। धार्मिक तथा पौरोहित्य साहित्य एक सम्प्रदाय के द्वारा सुरक्षित रखा जा सका और दूसरे प्रकार का साहित्य अकाल कवलित हो गया।

यद्यपि ऋग्वेद के सकलन का मूल प्रवृत्ति-निमित्त यज्ञपरक मन्त्रो को सकलित करना ही था और अधिकतर इसी मन्तव्य से मन्त्रो का उपादान हुआ है तथापि इस सग्रह मे कुछ ऐसे मन्त्र अवश्य विद्यमान हैं जिनका यज्ञ-विधि तथा पौरोहित्य परम्परा से किसी प्रकार का कोई भी सम्बन्ध नही है। यद्यपि प्रकृति के अनेक तत्त्व हमे देवत्व से आवृत ही समुपलब्ध होते हैं तथापि कुछ ऐसे भी चित्र विद्यमान हैं जो देवत्व से सर्वथा निर्मुक्त कहे जा सकते हैं। विण्टरनित्ज ने लिखा है—"बहुत से सूक्त न तो सूर्यदेव को ही अर्पित किये गये है, न अग्निदेव को, न आकाशदेव को, न वायुदेवो तथा जलदेवो को न उषादेवी को ही ये सूक्त अर्पित किये गये है, किन्तु स्वय प्रकाशमान सूर्य रात्रि के आकाश मे चमकता हुआ चन्द्र, वेदी या चूल्हे से उठती हुई अग्नि की लपटें अथवा मेघों के मध्य से फूटनेवाली बिजली की दीप्ति, दिन का निर्मल आकाश अथवा रात्रि का नक्षत्रो से भरा हुआ आकाश, गरजता हुआ वायु, मेघो अथवा नदियो से प्रवाहित होनेवाला जल, प्रकाश-मयी उषा और विस्तीर्ण फलवती भूमि इन समस्त प्राकृतिक दृश्यो का कवित्वमय वर्णन किया गया है, पूजा की गई है और प्रार्थनाये की गयी है।"[1] जिस प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण मे ऋग्वेद एक बडी ही मनोरम और महत्वपूर्ण रचना है उसी प्रकार साहित्य के दूसरे क्षेत्रो मे भी इसका महत्त्व कम नही है। चाहे अवि-वक्षित वाच्य हो चाहे विवक्षितान्य—पर वाच्य के रसध्वनिभाव-ध्वनि अलकार-ध्वनि या वस्तु-ध्वनि मे कोई भेद हो, चाहे शब्द शक्तिमूलक ध्वनि हो और चाहे अर्थशक्तिमूलक ध्वनि हो हमे ऋग्वेद मे प्रत्येक के उदाहरण बडी ही सुगमता से प्राप्त हो जायेंगे। ऋग्वेद कलात्मक और रसात्मक कृतियो का भण्डार है, इसमें कवित्वमय भाषा मे अनेक हृदयहारिणी सूक्तिया पाई जाती हैं। अतएव परवर्ती काव्य जगत् का ठीक रूप मे अध्ययन करने के लिये यह नितान्त अपेक्षित है कि ऋग्वेद का एक विश्लेषणात्मक अध्ययन कर लिया जावे और उसके मूल तत्त्वो का अनुसन्धान करके यह देखा जावे कि परवर्ती काव्य मे उसका किस प्रकार विकास हुआ।

---

१. History of Indian Literature by Winternitz.

ऋग्वेद – एक अध्ययन

अनादिकाल से मनुष्य का प्रकृति के साथ अविच्छिन्न और अविच्छेद्य सम्पर्क चला आ रहा है। प्रकृति मे एक ऐसी रमणीयता ओतप्रोत है, उसमे एक ऐसा आतम-विभोर करनेवाला आकर्षण विद्यमान है कि मानव उसकी ओर बरबस आकृष्ट हो जाता है और उसमे अपनी हृत्तन्त्री मिलाने मे अभूतपूर्व सुख-शान्ति का अनुभव करता है। दृष्टि के प्रसार पर्याप्त अनन्त विस्तृत नीलाकाश, सौन्दर्य-शालिनी सुकुमार उषा का अनुगमन करनेवाला आदित्य, असीम महासागर मनुष्य की अन्तरात्मा के सदा आकर्षण-केन्द्र रहे है और मनुष्य ने दुख और दैन्य मे पराजित अपने अन्तस्तल की शान्ति के लिये सदा ही इनका आश्रय लेने की चेष्टा की है। निसन्देह तापतप्त जगतीतल की शान्ति के निमित्त ही स्रष्टा ने इस अनुपम रमणीयता को जन्म दिया है और उसका उपभोग भी सहृदय व्यक्ति ही कर सकते है। सर्वप्रथम वैदिक ऋषियो ने इस जादू भरी प्रकृति की सुन्दरता का अनुभव किया था और उसके प्रभाव से उनके हृदय मे जिस आनन्द-मरन्द का प्रवाह उमडा उससे उन्होने समस्त भावुकवर्ग को आप्यायित और आप्लावित कर देने की चेष्टा की। उस समय तक नर काव्य का न तो इतना प्राधान्य ही हुआ था और न भौतिक कृत्रिमता की इतनी दृढ प्राचीर ही मानव को प्रकृति के सम्पर्क से व्यवहित करने मे सक्षम हो सकी थी कि मनुष्य प्रकृति का उसके वास्तविक स्वरूप मे निरीक्षण न कर सकता। उस समय प्रकृति को केवल उद्दीपन विभाव के सकुचित प्रकोष्ठ मे अवरुद्ध होने के लिये वाधित नही किया जा सका था। यही कारण है हमे कविता के उस आदिकाल मे भी प्रकृति के ऐसे मनोरम और आकर्षक चित्र उपलब्ध होते है जो किसी देश-विशेष की नही किन्तु सारे विश्व की स्थायी सम्पत्ति है और जिनको काल की सर्वग्राहिणी शक्ति छू तक नही सकी है। उस वर्णन मे एक शक्ति है, एक सौन्दर्य है, एक सजीवता है, एक सत्य है जो शिव से मेल कराती है।

प्राकृतिक वर्णन मे सबसे अधिक मनोहर और सबसे अधिक सुकुमार कल्पनाये हमे उषा के प्रसग मे प्राप्त होती है। एक ओर तो इसकी कोमलकान्त पदावली स्तुत्य है और दूसरी ओर साधारण किन्तु हृदयस्पर्शिनी भावनायें अनोखा चमत्कार उत्पन्न करती है। चमचमाती हुई उषा बडे गर्व के साथ आती है, उस समय वह ऐसी प्रतीत होती है मानो उसका रमणीय कलेवर उसकी माता के द्वारा आभूषित किया गया है, जिसको अपनी पुत्री के सौन्दर्य पर गर्व है उसने एक नर्तकी के समान भडकीले वस्त्र धारण किये है और अपने सुन्दर अग-प्रत्यग दर्शको को दिखलाती हुई आती है। प्रकाश का आभरण धारण किये हुए वह पूर्व मे दिखाई देती है और वहीं से अपने सौन्दर्य का जादू दर्शको के ऊपर प्रसारित करती है। प्राची के आकाश के फाटको को खोलकर [illegible] के [illegible] करती हुई अपना उपमान नही रखती। "गौर वर्ण वाली

भलीभाति सजी हुई, अपने सौन्दर्य को समझनेवाली, स्नान करके ऊपर को उठी हुई रमणी की भाति यह आकाश की पुत्री उषा द्वेष्य अन्धकार को (अथवा कालुष्य और अन्धकार को) बाधित करती हुई तथा प्रकाश फैलाती हुई हमारे नेत्रो के सामने आकर खडी होती है। यह आकाश की पुत्री कल्याणरूपिणी मागलिक वेष धारण करनेवाली किसी पतिव्रता रमणी की भाति सामने आने पर लज्जा से अपना मस्तक झुका लेती है। अपने पूजक को कृतार्थ करती हुई यह नित्ययौवना पूर्ववत् इस समय भी दिन के प्रकाश को लाई है।"[1] इसी प्रकार उषा "जलतरगो की भाति[2] आती हुई दिखलाई देती है।"[3] महान् प्रकाश से शोभित होती हुई अपनी छाती खोल देती है।"[4] केवल सौभाग्यशालिनी विस्तीर्ण तथा प्रतिष्ठित उषा को कोमल लाल किरणें ही नही धारण करती किन्तु वह वीर भी है और एक क्षिप्रगामी सैनिक की भाति तथा एक वीर धनुर्धर की भाति अन्धकार का अपसारण भी करती है।[5] उषा अन्नवती है धनवती है और मरण-धर्मरहित है, यह उषा सम्यक् सचरण करनेवाले सूर्य की पत्नी है और अन्धकार को इसी प्रकार समेटती है जैसे कोई तरुणी अपने वस्त्र को लपेट कर रखती है।[6] जिस प्रकार एक रूपवती रमणी सभी के आनन्दमय कौतूहल का कारण बनती है, उसी प्रकार उषा भी सभी को आनन्द देती हुई आती है।[7] इसी प्रकार और भी अनेक मनमोहक चित्र हमे उषा के प्रसग मे प्राप्त होते हैं। दूसरे शुद्ध प्राकृतिक वर्णनों मे सूर्य, पर्जन्य, मरुत् इत्यादि के वर्णन सम्मिलित है। सूर्य को देवताओ का प्रकाशमान चित्रवर्ण का मुख बतलाया गया है। जो कि मित्र वरुण, अग्नि इत्यादि देवताओ के नेत्र है। वह स्थावर और जगम सभी की आत्मा है और आकाश, पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष को आवृत करके प्रकाशित होता है।[8] वह प्रकाशित होनेवाली उषादेवी का अनुगमन उसी प्रकार करता है जैसे कोई रसिक किसी रमणी का अनुसरण करता हो।[9] यह सूर्य देव की ही महत्ता है कि फैले हुए कर्मतन्तुओ को शीघ्र ही मध्य ही मे समेट लेता है और घोडो को छोडते ही रात्रि अपना नीला आवरण सारे विश्व पर तानने लगती है।[10] वैसे ही सूर्य उषादेवी का अनुगमन करते हुए विश्व के समक्ष उपस्थित होते हैं उसी समय.—

यत्रा नरः देवयन्तो युगानि,
वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम् ॥

मनुष्य कालक्रम से अपेक्षित विधि का सम्पादन करते हुए कल्याणकारक

---

१ ऋग्वेद V 40—5, 6
२ अपा नोमय.
३ ऋग्वेद VI—61—1
४. आविर्वक्षा कृणुते VI—64—2
५ VI—62—3
६ III—64—4
७ I—48—5
८. I—115—1
९ I—115—2
१०. III—115—4

कर्म फल के निमित्त मागलिक स्तोत्रो का पाठ करने लगते है।[1] पर्जन्य विषयक सूक्त भी प्राकृतिक वर्णन की दृष्टि से बडे ही महत्वपूर्ण है। 'यह राक्षसो और वृक्षो को तोड डालता है। उसकी बलशाली भुजाओ से सारा विश्व भयभीत रहता है।' इसी प्रकार उसके गर्जन की बैल की गर्जना से उपमा दी गई है और सिहनाद को उत्पन्न करनेवाला बतलाया गया है। वायु का मन्द प्रवाह, बिजली की चमक, आकाश का मेघावरण, पृथ्वी की हरीतिमा इत्यादि का पर्जन्य के साथ विस्तार से वर्णन है। वायु के एक साथ बहते हुए प्रवाह की अज्येष्ठ एकनिष्ठ सगे भाई से तुलना की गई है। वायु के प्राकृतिक वर्णन की दृष्टि से दशम मडल का १६८-वा सूक्त बडा ही महत्वपूर्ण ह —

"वायु के रथ की महिमा का क्या वर्णन किया जावे यह सभी स्थावर-जगम समूह को तोडते-फोडते और वज्र के समान घोष करते हुए चला जाता है। आकाश को स्पर्श करते हुए यह लाल प्रकाश को उत्पन्न करता है और पृथ्वी पर वायु उछालते हुए चलता है। वायु के झोके जब मिलकर आगे को बढते है तब चराचर सभी उसके साथ उसी प्रकार चल देता है जैसे कोई स्त्री मनुष्य समूह के पीछे चल देती है। वायुदेव उसी के साथ एक रथ पर बैठ कर विश्व के सम्राट् की भाति वेग से आगे बढते है। अन्तरिक्ष मे मार्ग से चलते हुए कभी एक भी दिन के लिये भी विश्राम नही करते। यह जल का मित्र है, प्रथम उत्पन्न हुआ है और सत्यवान नियम का पालन करनेवाला है। यह समस्त विश्व मे व्याप्त है और कोई नही कह सकता कि कहा से उत्पन्न हुआ है और किस प्रकार विश्व मे व्याप्त हो गया है। (प्राण रूप मे सचरण करने के कारण) यह इन्द्रादि देवो की भी आत्मा है और ससार का गर्भ है तथा स्वच्छन्द विचरण करता है। इस वायु का शब्द ही सुनाई देता है रूप दिखाई नही देता "

इसी प्रकार के अनेक वर्णन प्रकृति को आलम्बन मानकर किये गये है और पारिभाषिक अर्थ मे भाव-ध्वनि के क्षेत्र मे आकर उत्तम काव्य की श्रेणी मे सम्मिलित किये जा सकते है। उषा के प्रसग मे शृगार रस के बडे ही मनमोहक चित्र है और पर्जन्य तथा वायु के प्रसग मे वीर रस की स्थान-स्थान पर बडी सुन्दर व्यजना होती है। किन्तु यहा पर शृगार और वीर ये दोनो रस कवि की प्रकृति विषयक रति के अग हो गये है। अत ध्वनि काव्य न होकर अपराग गुणीभूत व्यग्य अथवा प्रय अलकार ही कहे जावेगे।

शृगार रस की प्रधानता हमे सवाद-सूक्तो मे प्राप्त होती है। प्रथम प्रसिद्ध सवाद है पुरूरवा और उर्वशी का।[2] ऋग्वेद मे सवाद मात्र दिया हुआ है कथा का [illegible] शतपथ[3] मे करना पडता है। पुरूरवा मर्त्यथा और उर्वशी अप्सरा थी। उर्वशी ने पुरूरवा से इस शर्त पर विवाह किया था कि यदि पुरूरवा उसे शय्या के

१ I–115–2
२ X–95
३ ५ १

अतिरिक्त अन्यत्र नग्न दिखलाई पडेगा तो वह पुरूरवा का साथ छोडकर स्वर्गलोक को लौट जावेगी। देव-गण उर्वशी को लौटाना चाहते थे। अत उन्होंने छलपूर्वक उर्वशा को पुरूरवा का नग्न साक्षात्कार शय्या से अन्यत्रकरा दिया और पूर्व निश्चय के अनुसार चार वर्ष का आनन्दमय साहचर्य छोडकर उर्वशी "प्रथम उषा की भाँति" पुरूरवा के पास से चली गई। पुरूरवा ने अन्वेषण करते हुए उर्वशीको एक सरोवर में क्रीडा करते हुए प्राप्त किया। प्रस्तुत सूक्त मे पुरूरवा अपनी हृदय-वेदना का वर्णन कर और अपनी करुण दशा वतलाकर उर्वशी को लौटाना चाहता है और उर्वशी निरन्तर प्रत्याख्यान करती चली जाती है। इस सूक्त मे शृ गार रस का अच्छा परिपाक हुआ है। यद्यपि यहाँ पर पुरुष-प्रवृत रति है किन्तु फिर भी हम इसे रसाभास नही कह सकते, क्योकि पुरूरवा और उर्वशी मे दाम्पत्य-भाव है। उर्वशी मे पुरूरवा के प्रति द्वेष अथवा औदासीन्य की भावना नही है। उसे पुरूरवा ने पूर्ण सहानुभूति है किन्तु वह प्रतिज्ञा-बद्ध होने के कारण उसके अनुनय-विनय को स्वीकार नही कर सकती। यम-यमी सूक्त रसाभास का अच्छा उदाहरण है। यद्यपि यह रति स्त्री-प्रवृत है तथापि यम-यमी का भाई-बहन का सम्बन्ध इस रति को रसाभास होने के लिये वाध्य कर देता है। यम-यमी भाई-बहन है। यमी निर्जन प्रदेश मे समुद्र के मध्यवर्ती एक द्वीप मे यम से गर्भाधान करने की प्रार्थना करती है और यम धर्म-व्यतिक्रम की वात कहकर उसे ठुकराते है। यमी अपनी व्याकुलता अपनी काम-परवशता और अपनी उत्तेजना की वात कहकर यम को द्रवित करने की चेष्टा करती है। पुत्र-प्राप्ति का भी प्रलोभन दिखलाती है, एकान्त स्थान वताकर आशका का भी निवारण करती है और यह भी वतलाती है कि प्रजापति का भी अनुमोदन प्राप्त हो जावेगा। किन्तु यम अपनी शान्त, गम्भीर प्रवृत्ति के अनुसार निरन्तर निषेध करते जाते है। उन्हे भाई-बहन का यह सम्बन्ध उचित प्रतीत नही होता और एकान्त स्थान तथा अदृष्ट स्थान की वात को यह कहकर निषेध करते हैं कि ब्रह्मा जी के दूत सदा और सर्वत्र विचरण करते रहते हैं। जव यमी सव प्रकार से निराश हो जाती है और उसके इस कथन का भी यम के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पडता कि जिस भाई के होते हुए वहन कष्ट भोगती है वह भाई कुत्सित होता है तव वह यम को कायर, हृदयहीन कहकर पुकारती है किन्तु यम निरन्तर उसे किसी अन्य पुरुष से कामवासना शान्त कराने की सम्मति देते जाते हैं। इस सूक्त मे प्रणय निवेदन और उसके प्रत्याख्यान का अच्छा चित्र अकित किया गया है। ये दोनों विप्रलम्भ शृ गार के उदाहरण हैं। सम्भोग शृ गार के रूप मे सूर्या सूक्त के दाम्पत्य प्रेम विषयक मन्त्रो को उद्धृत किया जा सकता है। इस प्रकार शृ गार रस के अनेक रूप सुरक्षित हो गये है। किन्तु ऋग्वेद का सवसे प्रधान अग युद्ध वीर ने वेष्टित है। इन्द्र विषयक सूक्तो मे इन्द्र के उत्साह का वर्णन करते हुए कवि नही थकता। आलम्वन के रूप में वृत्र, शम्वर, पणि, पिप्रु, चुमुरि और वर्चिन इत्यादि अनेक प्रति-द्वन्द्वियो का उल्लेख किया गया है। किन्तु आश्रय की वीरता को अधिकाधिक

प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से आलम्बन की वीरता का वर्णन नही किया गया है। युद्ध वीर के साथ ही साथ रौद्र, भयानक इत्यादि कठोर रसो का भी सन्निवेश हो गया है। दान-स्तुति मे दस्य इत्यादि की वीरता का वर्णन किया गया है और दया तथा धर्म वीर का तो ऋग्वेद एक महान् सग्रहालय ही है। हास्य रस के प्रसग मे भी मण्डूक सूक्त और शिशुआगिरस का सोम सूक्त उपस्थित किये जा सकते है।

सल्लक्ष्य क्रम व्यग्य की जैसी अनेकरूपता हमे परवर्ती साहित्य मे समुपलब्ध होती है उसकी हम ऋग्वेद से आशा ही नही कर सकते। किन्तु कतिपय उदाहरण कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते है —

एवा च त्व सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारत्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवा सुभगे भजाम ॥[1]

यहा पर यही व्यक्त होता है कि पणिसरया को अपने पक्ष मे करना चाहते है। इस प्रकार यहा पर स्वत सम्भवी वस्तु से वस्तु ध्वनि है। हिरण्यगर्भ सूक्त की प्रसिद्ध पक्ति "कस्मै देवाय हविषा विधेम" से ध्वनि निकलती है—अन्य देवता तुच्छ है केवल हिरण्यगर्भ ही एक महान् देवता है जो हवि का अधिकारी है।" यहा पर वस्तु से व्यतिरेकालकार ध्वनि निकलती है। सूरदास ने इसी बात को वाच्य-वृत्ति मे कहा है—(और देव सब रक भिखारी त्यागे बहुत अनेरे।) विनयपत्रिका मे अन्य देवताओ से वैषम्य व्यजना वृत्ति के आधार पर ही स्थापित किया गया है। अलकार से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण निम्नलिखित मन्त्र मे प्राप्त होता है —

परा हि मे विमन्यव पतन्ति वस्यइष्टये।
वयो न वसती रुप ॥

यहा पर उपमालकार से ध्वनित होता है कि कवि का एक मात्र शान्त सुरक्षित और आनन्ददायक आश्रय वरुण देव ही है। इसी प्रकार —

परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यतीरनु।
इच्छन्तीरुरुचक्षसम् ॥

से भी वही ध्वनि निकलती है। इस वाक्य मे "परिकराकुर अलकार भी है। अत उपमा और परिकराकुर का अगागिभाव सकर है।" 'उरुचक्षसम्' मे एक हेतु भी है। अतएव काव्य-लिंग और परिकराकुर का सदेह भी हो सकता है। यदि यहा पर "वरुणम्" का अध्याहार कर लिया जावे तो यह परिकर अलकार भी हो जावेगा। निम्नलिखित पद्य विरोधाभास का बडा ही सुन्दर उदाहरण है —

नीचा वतन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्त सहन्ते।
दिव्या अगारा इरिणे न्युप्ता शीता सन्तो हृदय निर्दहन्ति ॥[2]

(१) यह अक्ष नीचे जाते है और ऊपर स्फुरित होते है। यह विरोध है अक्षो के गिरते ही हृदय मे एक घबराहट और उत्कण्ठा उत्पन्न हो जाती है। यह

---

1 R V 10—104—9
2 R V 10 34 9

विरोध का परिहार है। (२) इनके हाथ नही हैं किन्तु यह हाथ वालो को जीत लेते हैं। यह विरोध है। द्यूतकार पराजित हो जाता है यह अर्थ करने से विरोध का परिहार हो जाता है। (३) स्वय शीतल होते हुए हृदय को जलाते हैं। यह विरोध है। हृदय मे वेदना उत्पन्न करते हैं इस अर्थ से विरोध का परिहार हो जाता है। यहा पर अक्षो को अगार कहा गया है और अक्षो से उनका अध्यवसाय सिद्ध है। अतएव यहा पर रूपकातिशयोक्ति अलकार है जो कि उक्त विरोधाभास का अग हो गया है। इस प्रकार यहा पर अगागिभाव सकर है।

उपमा अलकार ही सबसे प्राचीन अलकार है। ऋग्वेद मे उपमायें भरी पडी हैं। जिस समय यज्ञ मे श्रेणीवद्ध यूप गाडे जाते हैं और उन पर श्वेत वस्त्र फहराते हुए शोभित होते हैं तथा इतने उठ जाते हैं कि देवो के माग (अन्तरिक्ष) को भी घेर लेते हैं तब ऐसे मालूम पडते हैं जैसे श्रेणीवद्ध हस उड रहे हो और उनका शब्द श्रुति-सुखद प्रतीत हो रहा हो। जिस प्रकार धनुप की दो कोटियां प्रत्यचा से बाधी जाती हैं उसी प्रकार शत्रुओ के बाधने की बात कही गई है। इसी प्रकार 'मृगो न भीम. कुचरो गिरिष्ठ' की उपमा भी सुन्दर है। कहीं-कही उपमा माला-रूप मे भी पायी जाती है .—

बलवान् इन्द्र सग्रामो मे तरणि है घोडे के समान है, आकाश और पृथ्वी मे व्यापक होने वाले मेघ के समान है। यज्ञ के कार्य मे पूषा देव के समान है और स्तोताओ के लिये पिता के समान है। यहा पर इन्द्र को अनेक उपमायें दी गई हैं तथा तरणि मे रूपक भी है। यहा पर इन दोनो मे एकाश्रयानुप्रवेश सकर है।

सवत्सर शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिण ।
वाच पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषु ॥[1]

यहा पर वाचक लुप्तोपमा है। अथवा मण्डूक मे व्रतधारी ब्राह्मण का आरोप किया गया है और उसमे दोनो का बोलना निमित्त है। अतएव श्लिष्ट शब्द निबन्धन रूपक भी कहा जा सकता है और प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का एक धर्म में सम्बन्ध होने के कारण तुल्ययोगिता हो सकती है। इस प्रकार इन अलकारो का यहा पर सन्देह सकर हैं। इसी प्रकार —

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवै सपिवते यम ।
अत्रा नो विश्पति· पिता पुराणां अनु वेनति ॥ १०-१३५-१

यहा पर भी वाचक लुप्तोपमा और रूपक का सकर है। यदि 'यस्मिन्' को स्थान-वाचक न मान कर वृक्ष का विशेपण माना जावे तो रूपकातिशयोक्ति अलकार भी हो सकता है।

वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वय रुहेम। ३-८-११

यहा पर दीपक अलकार है। दान-महिमा-वर्णन मे निम्नलिखित मन्त्र दीपक का एक अनूठा उदाहरण है —

१. R V 7-103-1

कृषन्नित्फाल आशित कृणोति यन्नध्वानमय वृङ्क्ते चरित्रैः ।
वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभिष्यात् ।। १०-११७-७

"जोत कर के फाल कृषक को भोक्ता बनाता है, मार्ग मे चलते हुए मनुष्य अपने कर्म के द्वारा स्वामी के लिये धन प्राप्त करता है, शास्त्रार्थ करते हुए ब्राह्मण शास्त्रार्थ न करने वालो को आनन्द देता है । परोपकारक दानी व्यक्ति दान न देने वालो का बन्धु हो जाता है । "कलात्मक सौन्दर्य के लिये श्लेष का प्रयोग भी यत्र-तत्र पाया जाता है । जैसे —

याजामयो वृष्ण इच्छन्ति शक्ति नमस्यन्तीर्जानते गर्भमस्मिन् ।
अच्छा पुत्र धेनवो वावशाना महश्चरन्ति बिभ्रत वपू षि ।।

यहा पर कई शब्दो के तीन-तीन अर्थ है (१) जामय —औषधिया, किरणें और पत्नी । (२) वृष्ण —जल बरसाने वाला इन्द्र, जल बरसाने वाला सूर्य और गर्भाधान की शक्ति रखने वाला पुरुष । इसी प्रकार शक्ति से भी विभिन्न प्रकार की शक्तिया अभिप्रेत है । मन्त्र का विश्वेदेव देवता है । अत सूर्य और इन्द्र परक अर्थ तो प्राकरणिक हो गये । दोनो अर्थो को एक साथ जोडने के लिए श्लेष मूलक तुल्य योगिता माननी पडेगी । इन दोनो अर्थो मे अभिधा के नियन्त्रित हो जाने पर एक तीसरा पत्नी परक अर्थ उसमे उपमा हो जायेगा । इस प्रकार यह उपमा अलकार ध्वनि का बडा ही सुन्दर उदाहरण है और उसमे धेनु की वाच्योपमा उसका सौन्दर्य और भी बढा देती है । दोनो (व्यग्य और वाच्य) उपमाओ का अगागि भाव सकर हो जाता है । इस प्रकार इस पूरे वाक्य का यह अर्थ होगा—"जिस प्रकार पत्निया अपने पति से गर्भाधान की शक्ति को चाहती है और धेनुओ के समान सुन्दर पुत्र की कामना करती हुई उनके सामने नम्र हो जाती है तथा गर्भ को प्राप्त किया करती है । बाद मे सुन्दर स्वरूप धारण करने वाले महत्वपूर्ण पुत्र को प्राप्त कर लेती है इसी प्रकार औषधिया इन्द्र मे गर्भाधान (वर्षा द्वारा सेचन) की शक्ति को चाहती हैं और उनके सामने नम्र होकर गर्भ को धारण करती है तथा समय आने पर व्रीहि, यव, नीवार इत्यादि को प्राप्त कर लेती हैं अथवा उसी प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य से गर्भाधान (जल को खीचन) की शक्ति को चाहती है और नम्र होकर उससे गर्भ भी प्राप्त कर लेती हैं तथा समय आने पर मेघ-रूपी सुन्दर पुत्र को भी प्राप्त कर लेती हैं ।" इसी सूक्त का दूसरा उदाहरण है —

प्रमे विविक्वां अविदन्मनीषा धेनु चरन्तीं प्रयुतामगोपाम् ।
सद्यश्चिद्या दुदुहे भूरि धासेरिन्द्रस्तदग्नि पनितारो अस्या ।। ३-५७-१

यहा पर भी इन्द्र और अग्नि की एक साथ प्रार्थना मे गाय और वाणी का श्लेष है और उसमे रूपकातिशयोक्ति का अगागि भाव सकर है ।

उषो वाजन वाजिनि प्रचेता स्तोम जुषस्व गृणतो मघोनि ।
पुराणी देवि युवति पुरन्धिरनु व्रत चरसि विश्ववारे ।। ३-६१-१

यहा पर उषा के लिये "वाजेन वाजिनि" (अन्न के कारण अन्नवाली) और मघोनि (धनवाली) तथा "विश्ववारे" (सबके द्वारा वरण करने योग्य) यह विशेषण दिये गये हैं जो स्तुति के औचित्य का समर्थन करते हैं। अतएव साभिप्राय विशेषण होने से परिकर अलकार है। "पुराणी" और "युवति" मे विरोधाभास भी है। इनका यहां पर एकाश्रयानुप्रवेश सकर है। इस प्रकार भावात्मक और कलात्मक दृष्टि से ऋग्वेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है।

किन्तु ऋग्वेद का बडा महत्त्व इस बात मे है कि हमे इसमे विश्व के धर्म-दर्शन और पौराणिक उपाख्यानो का मूल उद्गम प्राप्त होता है। धार्मिक काव्य की दृष्टि से यास्क ने वर्ण्य विषय को तीन भागो मे विभक्त किया है—प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक। प्रत्यक्षकृत उन ऋचाओ को कहते हैं जिनमे सुवन्त विभक्तियो का प्रयोग किया गया हो और प्रथम पुरुष के द्वारा उनका आख्यान किया जावे। इस प्रकार के मन्त्रो में देवताओ की लोकोत्तर शक्ति का वर्णन किया गया है। इस प्रकार के वर्णन मे इन्द्र विषयक सूक्तो का प्राधान्य है। इन्द्र के श्वास लेने से ही उनकी महत्ता और पौरुष के कारण पृथ्वी और आकाश दोनो काप उठे, इन्द्र ने पृथ्वी को दृढ किया और घूमनेवाले पर्वतो को स्थिर किया, उत्तम अन्तरिक्ष को चारो ओर फैलाया उसने आकाश को स्थिर किया। (२-१२-१२) इन्द्र के लोकोत्तर कर्मों का बडे विस्तार से वर्णन किया गया है, सात नदियो को प्रवाहित करना, अहि का वध इत्यादि अनेक लोकोत्तर कर्मों का वर्णन मिलता है। "हे मनुष्यो तुम इन्द्र की स्तुति करो जिसका लोकोत्तर प्रभाव शत्रुओं के तेज को नष्ट कर देता है और पृथ्वी को चारो ओर अभिभूत करता है, जो इन्द्र मनुष्यो को धारण करने वाला है, समुद्र से भी अधिक विशाल है और अन्धकार को वारण करने वाले अपने तेज से पृथ्वी और आकाश को परिपूरित कर रहा है। (१०-८९-१) जब इन्द्र रक्षा करता है तभी विजय-लाभ होता है और इन्द्र के कुपित होने पर पराजय निश्चित है। त्रित्सुओ की जब इन्द्र ने रक्षा की तब वे विजयी हुए और जब इन्द्र ने कोप किया तब वे पराजित हो गये। (७-१८-१५) इस प्रकार वीरता और पराक्रम का अतिरंजित कवित्वमय वर्णन इन्द्र तथा दूसरे देवताओ के प्रसगो मे किया गया है। यही परोक्षकृत मन्त्रो के नाम से निरुक्त मे अभिहित किये गये हैं।

यास्क ने दूसरे प्रकार के मन्त्र प्रत्यक्षकृत मन्त्रो के नाम मे अभिहित किये हैं। इन मन्त्रो मे मध्यम पुरुष तथा त्वम् इस सर्वनाम का प्रयोग हुआ करता है। इन मन्त्रो के द्वारा ऋषि देवता से लौकिक सुख-समृद्धि देने की प्रार्थना करता है। "हे इन्द्र हम मे युद्ध करने वाले शत्रुओं का नाश कर दो, जो सेना की इच्छा करते हैं या हम मे युद्ध करना चाहते हैं उन्हें नीचे गिराओ। (१०-१५२-४) जो शत्रु हमे क्षीण कर रहा हो उसे निकृष्ट अन्धकार मे ले जाओ। हे अग्नि देव! यह समिधा तुम्हारा ईंधन है तुम इससे बढो और प्रदीप्त होओ तथा हमे भी बढाओ और प्रदीप्त करो। सन्तान, पशु, ब्रह्मतेज, अन्न इत्यादि के द्वारा हमारी वृद्धि

करो।" इस प्रकार के मन्त्रो की प्रधान ध्वनि लौकिक सुख की प्राप्ति ही है और अधिकतर निरपेक्ष स्वार्थमयी कामनायें भी प्रधान है। किन्तु यह नही कहा जा सकता कि इस प्रकार के मन्त्रो मे उदात्त भावनाये दृष्टिगत होती ही नही। अनेक स्थानो पर विश्वमगल की कामनाये की गयी है, राष्ट्रोन्नति के गीत गाये गये है और सर्वसाधारण के लिये अपेक्षणीय सद्गुणो को प्राप्त करने और दुर्गुणो का बहिष्कार करने की प्रार्थनाये समुपलब्ध होती है। लोक-मर्यादा के पालन करने के लिये देवताओ को भी पराधीन बतलाया गया है और इस प्रसग मे ऋत की प्रशसा तथा अनृत की निन्दा अनेक बार की गई है। समस्त प्राणियो के प्रति सद्भावना वैदिक सम्प्रदाय का मुख्य धर्म है। किन्तु जो लोग ऋत मार्ग का उल्लघन करते है उनको कठोर-से-कठोर दण्ड देने की प्रार्थना की गई है।

इस प्रसग मे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि वैदिक ऋषि मे न तो समर्पण बुद्धि है और न आत्मगर्हणा की भावना ही है जिसका हमे परवर्ती साहित्य मे प्राधान्य प्राप्त होता है। यहा एक हाथ देने और दूसरे हाथ लेने का सिद्धान्त अपनाया गया है। गीता के "देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु व" वाले सिद्धान्त के पूर्ण दर्शन हमे इस महान् सकलन मे होते है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि वेद मे प्राय सख्य-भाव की भक्ति ही समुपलब्ध होती है। वैदिक ऋषि जब अपने यज्ञ का समुचित पुरस्कार प्राप्त नही कर पाता तब स्पष्ट शब्दो मे कह सकता है कि "हे शक्ति के पुत्र और घृत से हवन किये हुए अग्निदेव! यदि तुम मनुष्य होते और मै मित्र के समान देव होता तो हे वसो न तो मेरा स्तोता शाप का पात्र ही बनता न वह बुद्धिहीन होता, न शत्रु होता और न अशोभन बुद्धि से ही बाधित होता।" (३-१६-२५,२६) उसी प्रकार—'हे इन्द्र जैसे तुम अकेले ही समस्त सम्पत्ति के अधिकारी हो उस प्रकार यदि मै होता तो मेरा स्तोता सदा गायो का स्वामी बना रहता। हे शचीपते! यदि मै तुम्हारी ही भाति गोपति होता तो अपने मनीषी स्तोता को धन प्रदान करने की इच्छा करता और यथेष्ट धन देता भी। हिन्दी के भक्ति युग मे इस प्रकार की सख्य-भाव की भक्ति की प्रधानता रही है। सूरदास और बिहारी ने भगवान् के विरद को ललकारा ही है। तुलसीदास तो सबसे आगे बढकर भगवान् का पुतला ही निकालने लगे।

यास्क ने तीसरे प्रकार के मन्त्रो को आध्यात्मिक कहा है। परन्तु आध्यात्मिक शब्द का प्रचलित अर्थ यास्क को अभिप्रेत नही है। इस श्रेणी मे यास्क ने शपथ और अभिशाप के मन्त्रो को रखा है तथा किसी भाव-विशेष का प्रतिपादन करने वाले मन्त्रो को भी इसी श्रेणी मे सन्निविष्ट किया है जैसे "उस समय न तो मृत्यु ही थी न अमरता ही।" (१०-१२९-२) अथवा "पहिले अन्धकार अन्धकार मे ही आवृत था।' (१०-१२९-३) इसी श्रेणी मे परिदेवना, निन्दा और प्रशसा को भी सन्निविष्ट किया गया है। ज्ञात होता है यहा पर यास्क का मन्तव्य उन मन्त्रो मे है जिन पर व्यक्तिगत छाप पडी हो। इस प्रकार के मन्त्र ऋग्वेद मे अनेक स्थानो पर आते

हैं। विश्वामित्र का नदी विषयक सूक्त तथा वशिष्ठ द्वारा सुदास के दस राजाओ पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद इन्द्र के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन के मन्त्र इस श्रेणी मे आ सकते हैं। इसी श्रेणी मे वशिष्ठ द्वारा रोगनिर्मुक्ति के लिये की हुई वरुण की प्रार्थना भी आ सकती है। हमे ज्ञात है कि बाहु पीडा के अवसर पर तुलसीदास जी ने हनुमद्बाहुक बनाया था और "बीसी विश्वनाथ की" के अवसर पर विनयपत्रिका की रचना की थी। सम्भवत इस प्रकार के मन्त्र विशेष अवसरो पर लिखे गये थे। इस विषय मे वैदिक ऋषि की दृढता भी प्रशसनीय है—"आपकी प्रशसा करने के कारण लोग चाहे मेरी निन्दा करें या प्रशसा, चाहे मुझे निकल जाने को कहे किन्तु मैं तुम्हारी ही शरण पडा रहूगा।" (१-४ ५,६) सूर मे भी कुछ ऐसी ही दृढता पाई जाती है—"सूर तबहु न द्वार छाडे डारिहौ कढराय" बिहारी तो भक्ति के उद्देश्य से कुटिलता भी छोडने को उद्यत नहीं हैं।

करौ कुबतु जगु कुटिलता तजौं न दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत त्रिभंगी लाल॥

लोकोत्तर चमत्कार और आनन्दानुभूति के साथ प्रशस्त जीवन का उपदेश देना भी कवि-कर्म का एक महत्त्वपूर्ण अग है। अनादि काल से कवि अपने विश्व को अधिक सस्कृत, अधिक सुव्यवस्थित और अधिक कर्त्तव्यपरायण बनाने की चेष्टा करते आये हैं और इस कार्य के लिये एक ओर तो कलात्मक और भावात्मक चमत्कार का आस्वादन कराते हुए मधुमती भूमिका मे पहुचाने की चेष्टा की गई है और दूसरी ओर वाच्य-वृत्ति के द्वारा भी सदाचार का प्रतिपादन किया गया है। कही-कही कवि देवताओ मे अपेक्षित गुणो का आधान कर और सदाचार के लिये देवताओ को भी पराधीन बना कर सदाचार का महत्व स्थापित करता है दूसरी ओर अपने दोषो का उल्लेख कर उनके दूर करने की प्रार्थना करता है। इस प्रकार की सूक्तियो का मन्तव्य सर्वसाधारण मे सद्गुणो का प्रचार करना ही होता है। कही-कही कवि आदेशात्मक भाषा मे भी उपदेश देने की चेष्टा करता है। ऋग्वेद मे इस प्रकार की सूक्तिया अनेक स्थानो पर पाई जाती है। विश्व-मगल की भावना और राष्ट्रोन्नति के गीतो के साथ अनेक स्थानो पर सर्वसाधारण के लिये अपेक्षणीय सद्गुणो का वर्णन किया गया है और दुर्गुणो के निराकरण की प्रार्थनायें की गई है। इस प्रसग मे ऋत की प्रशसा और अनृत की निन्दा अनेक बार आई है। "हे मरुत पवित्र आपके लिये हमारी आहुतिया भी पवित्र हो। पवित्र आपके लिये हम पवित्र यज्ञ प्रेरित करते है। पवित्र से जन्म लेने वाले स्वय पवित्र और दूसरो को भी पवित्र करने वाले मरुत सत्य जल का स्पर्श करते हुए सत्य से ही सत्य को प्राप्त होते हैं।" (४-५६-१२) "पापियो की वही दशा होती है जो अभ्रातृका स्त्रियो की होती है। जिस प्रकार उन्हें पति का घर छोडकर पिता के घर जाना पडता है उसी प्रकार वह व्यक्ति भी यज्ञादि के सत्य मार्ग को छोडकर असत्य मार्ग पर चलते हैं। जिस प्रकार पति से द्वेष करने वाली स्त्रियाँ दुष्ट दुराचारिणी हो जाती हैं उसी प्रकार वे पापी भी मानसिक और वाचिक

सभी प्रकार के सत्य से रहित होकर पापियों द्वारा अनुभव किये हुए गम्भीर और अगाध नरक में पड़ते हैं।" (४-५-५) यज्ञ भी सत्य रूप है इसीलिये यज्ञ करना भी परम धर्म माना गया है। हमे ज्ञात है कि भारतीय मनीषियों ने विश्व को यज्ञ-मय देखा था —

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतय संशितव्रता ।। (गीता)

इस प्रकार की सूक्तियों की दृष्टि से द्यूतकार सूक्त (१०-३४) अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस सूक्त में द्यूत के दोषों पर अत्यन्त सबल भाषा में प्रकाश डाला गया है। "मेरी पत्नी मुझ पर कभी क्रोध नहीं करती थी और न मुझे कभी लज्जित ही करती थी। मेरे मित्रों के प्रति और मेरे प्रति वह कितनी उदार और कल्याणकारिणी थी। केवल द्यूत के लिये ही मैंने अपनी प्रियतमा सती साध्वी पत्नी का तिरस्कार कर दिया। मेरी सास मुझसे घृणा करती है। प्रियतमा तिरस्कार करती है, प्रार्थना करने पर भी मुझ दुःखी से सहानुभूति दिखलाने वाला कोई नहीं मिलता। जिस प्रकार वृद्ध अश्व का मूल्य बाजार में नहीं मिलता उसी प्रकार मुझे कितवपन का उपभोग प्राप्त नहीं होता। जिसके धन को अक्षदेव ने ले लेने की इच्छा की उसकी पत्नी का साथ कोई और ही करता है। पिता-माता और भाई कहते हैं इसे ले जाओ, हम इसे नहीं जानते।" इसके बाद कलात्मक शैली में द्यूत के दोष दिखलाये गये हैं—"यह अक्ष नीचे को चलते हैं, किन्तु ऊपर को स्फुरित होते हैं (द्यूतकार के हृदय पर रेंगते हैं) बिना हाथ के भी हाथ वालों को पराजित कर देते हैं। जब यह ईंधन रहित प्रदेश में अंगारों के समान फेंके जाते हैं तब शीतल होते हुए भी हृदय को जलाकर राख कर देते हैं।" फिर द्यूतकार की दुर्दशा का वर्णन है—"द्यूतकार की पत्नी उसके द्वारा परित्यक्त होकर सन्ताप करती है। माता उसके स्वच्छन्दचारी होने के कारण खिन्न रहती है। वह ऋणी रहता है, भय करता है, पैसे की खोज में रहता है और रात में उसे दूसरों के घर जाना पड़ता है। जब वह किसी स्त्री को देखता है तब दुःखी होता है, जब दूसरों की पत्नी तथा उसके भरे-पूरे परिवार को देखता है तब उसे सन्ताप होता है, प्रातः होते ही उन लाल पासों को डाल देता है और शाम होते-होते एक भिखारी बनकर सो जाता है।" अन्त में—'हे द्यूतकारी, अब तुम द्यूत मत खेलना अब तुम खेत ही जोतो और अपने धन को ही बहुत समझकर उसमें प्रेम करो। हे धूर्तो! पत्नी इसी से मिलती है, इसी से स्त्री मिलती है यह बात मुझसे सबके प्रेरक सूर्य देव ने कही है।'

हृदय में रहने वाली पापात्माओं के निराकरण की यह प्रार्थना कितनी सुन्दर है —

उलूकयातु शुशुलूकयातु जहि श्वयातुमुत कोकयातु म् ।
सुपर्णयातु मुत गृध्रयातु दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥
(ऋ० ७-१०४-२२)

"हे इन्द्र देव ! हम लोगो मे उलूक के समान मोह, भेडिये के समान क्रोध, कुत्ते के समान पारस्परिक द्वेष, कोक पक्षी के समान काम वासना, मोर के समान मद और पशु के समान लोभ—ये छ पशुतायें निरन्तर वनी रहती हैं। आप इन्हें इसी प्रकार नष्ट कर दीजिये जिस प्रकार पत्थर से (कच्चा घडा) नष्ट कर दिया जाता है।" सारे विश्व की मगल-कामना का एक उदाहरण —

प्रिय मा कृणु देवेषु प्रिय राजसु मा कृणु ।
प्रिय सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥

(अ० १६—६२—१)

"केवल देवताओ का प्रिय मत करो और न केवल राजाओ का प्रिय करने की चेष्टा करो । अपितु सभी की मगल-कामना करो फिर चाहे वह शूद्र हो चाहे आर्य हो।" इसी प्रकार—"हमारे जीवन मे मधुरता का पूर्ण सचार हो, हमारा मिलन मधुरतामय हो, हमारा वियोग मधुरतामय हो, हम वाणी से मधुर भाषण करें और हमारी दृष्टि भी मधुरिमामयी हो जावे।"

अनेक स्थानो पर लौकिक जीवन की सफलता के उपदेश दिये गये है और इसके लिये सगठन अत्यन्त आवश्यक वतालया गया है। ऋग्वेद का अतिम सूक्त इस दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। "तुम्हारा सकल्प और अध्यवसाय समान हो, तुम्हारे हृदय समान हो और तुम्हारा मन समान हो, जिसमे तुम्हारा सौहित्य शोभनीय हो जावे।" "हे मनुष्यो ! तुम मिलकर चलो, मिलकर वातचीत करो, मिलकर दूसरे के विचार प्राप्त करो। जिस प्रकार पहिले के देव एक साथ मिलकर ज्ञान प्राप्त करते हुए अपने-अपने भागो को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार पणि और सरमा का सवाद सूक्त भी भौतिक स्वार्थ-साधन की दिशा मे अच्छा उदाहरण है। कही-कही स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के विषय मे भी अच्छी सूक्तिया पाई जाती है। जैसे उर्वशी का पुरूरवा से कथन—"हे पुरूरवा ! तुम आत्महत्या न करना, न नष्ट ही हो जाना और न हानिकारक भेडिये ही तुम्हे खा जाये। याद रक्खो स्त्रियो की मैत्री कभी स्थायी नही होती। स्त्रियो का हृदय उतना ही कठोर और निर्मम होता है जैसा कि वछडे इत्यादि को छलपूर्वक मारने वाले अन्य पशुओ का हुआ करता है।

धर्मेतर काव्य मे दूसरे प्रकार के सूक्त दान-स्तुति के हैं। इन सूक्तो मे परवर्ती राजघरानो के कवियो के समान ही यजमानो के दान का अतिरजित वर्णन किया गया है। कक्षीवान् ऋषि का सिन्धु प्रदेश के शासक भाव्य के दान की प्रशसा का सूक्त इसी वात को प्रकट करता है। (३—१२६) राजा के सहस्र सामेयागो मे पुरोहित वनाने की सौ मुद्रा, सौ अश्व, सौ गायें इत्यादि देने की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की गई है। इसी प्रकार इसी सूक्त मे स्वनय के द्वारा श्याम अश्व और वधुओ (सम्भवत दासियों) सहित दस रथ और साठ हजार गायो के प्राप्त करने की वात कही गई है। अष्टम मडल मे कुरगक राजा की दानशीलता की प्रशसा की

गई है। (८—४—१९) इसी प्रकार और भी अनेक दानो का वर्णन किया गया है। यह मन्त्र साहित्य की दृष्टि से उच्चकोटि के नही कहे जा सकते। किन्तु दान-स्तुतियो मे भिक्षु नामक आगिरस ऋषि का सामान्य दान की प्रशसापरक सूक्त निस्सन्देह उच्चकोटि का है। "देवताओ ने भूख को मनुष्य को मारने के लिये नही बनाया, क्योकि परिपूर्ण भोजन किये हुए व्यक्ति को प्राय मृत्यु प्राप्त हो जाती है। दाता का धन सर्वदा समाप्त ही नही हो जाता किन्तु कृपण को कभी कोई सुखदायक नही मिलता।" सूक्त के अग्रिम भाग मे भी इस बात पर बल दिया गया है कि सच्चा मित्र प्राप्त करने के लिये मनुष्य को उदार बनना चाहिये। इसी प्रसग मे धन की अस्थिरता भी बतलाई गई है और जो एकाकी भोग करता है उसको पापी तथा मूर्ख कहा गया है। "उसका धन प्राप्त करना व्यर्थ है वह उसके लिये वध ही है। ऐसा व्यक्ति अपने धन मे न तो किसी मित्र को और उससे देवो को ही प्राप्त कर पाता है।" इस प्रकार दान सूक्तो मे एक ओर दानियो की प्रशसा और दूसरी ओर दान की महिमा इन दोनो का वर्णन प्राप्त होता है।

जिस प्रकार कबीर की उलटवासिया और सूर के दृष्टिकूट प्रसिद्ध है, उसी प्रकार ऋग्वेद मे कतिपय पहेलिया मिल जाती है। इस दृष्टि से सूक्त १—१६४ ध्यान देने योग्य है। उदाहरण के लिये—"यह जो चमक रहा है। आरोग्य के लिये जिसकी उपासना करना आवश्यक है, जो पालक है, जिसका आह्वान करना उचित है, इसका मध्यम भ्राता सर्वत्र व्याप्त है, इसके तीसरे भाई की पीठ पर घी रहता है, इस सात पुत्रो वाले प्रजा के स्वामी को हम जानते है।" सम्भवत यहा पर सूर्य से अभिप्राय है, जिसकी किरणे स्वास्थ्यवर्धक होती है और जो मेघ इत्यादि के द्वारा जगतीतल का पालक है। इसका मझला भाई वायु बतलाया गया है, क्योकि वह बीच मे रहता है और अपहरण किये हुए जल का साझीदार होता है। तीसरा भाई अग्नि है, क्योकि वह भी सूर्य के प्रकाश का भाग लिया करता है। सूर्य के सात पुत्र उसकी सात रगो की किरणे है।

"एक चक्र वाले रथ मे सात घोडे जुते हुए है, इसे सात नामो वाला एक घोडा खीचता है, इस अजर, अमर और सदा गतिशील पहिये मे तीन नाभि है जिसके ऊपर सारा विश्व विद्यमान रहता है।"

सम्भवत यहा पर भी सूर्य के रथ का ही अभिप्राय है। सात वर्णो वाली किरणो को घोडा माना गया है। अथवा यज्ञ का रथ है और उस के सात पुरोहित घोडे है। इस रथ की तीन नाभि तीन ऋतुये है, सभी के इस रथ पर आरूढ होने का आशय यह है कि सभी इस सूर्य के कारण जीवन निर्वाह करते है। इसी प्रकार "जिसने उसकी रचना की वह उसको बिल्कुल नही जानता। जिसने उसे देखा है उसी से वह छिपा हुआ है, वह माता के गर्भ मे छिपा हुआ पडा है, उसके अनेक पुत्र है फिर भी उसका समूल नाश हो गया है।"

"दो पक्षी एक साथ मिले हुए मैत्री के साथ रहने वाले, एक ही वृक्ष पर

बैठे हैं उनमे से एक पके हुए स्वादिष्ट फलो को खा रहा है और दूसरा न खाते हुए भी उस को देख रहा है।"

"एक रथ मे बारह घुमाव है, एक चक्र है, तीन नाभि है, और तीन सौ साठ घूमने वाले तार हैं।" यहाँ पर स्पष्ट ही बारह महीने, एक वर्ष, तीन ऋतु और तीनसौ साठ दिनो का उल्लेख है।

"आकाश मेरा पिता है और मुझे जन्म देने वाला है, यहा पर नाभि है माता महता पृथ्वी है, ऊपर को उठी हुई दो चमुओ (सेनाओ अथवा सोम पात्रो) के बीच मे पिता ने पुत्री के गर्भ धारण किया।" यहा पर पर्जन्य का पृथ्वी में गर्भ धारण करने का वर्णन है। इसी प्रकार की अनेक पहेलिया इस ग्रथ मे मिलती है। यही वैदिक मुक्तक काव्य के वर्ण्य विषय का नक्षिप्त परिचय है।

उपर्युक्त विवेचन और विश्लेषण के आधार पर सिद्ध होता है कि ऋग्वेद की रचना और सकलन की आधारभूत निम्नलिखित ५ प्रवृत्ति—निमित्त विद्यमान है —

(१) **रसात्मक काव्य**—यद्यपि ऋग्वेद के संकलन का मूलाधार धार्मिक तथा पौरोहित्य परम्परा मे प्रतिष्ठित सूक्तो का सकलन करना ही था तथापि इसके विशाल कलेवर मे शुद्ध भावात्मक और कलात्मक सूक्त भी प्रचुर मात्रा मे विद्यमान हैं। इस प्रकार के सूक्तो का प्रवृत्ति-निमित्त एकमात्र रसात्मक आस्वादन ही है। अतः हम इस प्रकार के काव्य को रसात्मक काव्य कह सकते हैं। यहाँ पर रसात्मक शब्द उपलक्षण मात्र है जिससे सब प्रकार के भावात्मक और कलात्मक काव्य का सकलन हो जाता है।

(२) **धार्मिक काव्य**—धार्मिक साहित्य मे प्रचुरता ऐसे ही सूक्तो की है जो यज्ञ-विधि के लिये उपयुक्त है। ऐसे सूक्त काव्यात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नहीं कहे जा सकते। किन्तु कुछ ऐसे भी सूक्त विद्यमान है जिनमें धार्मिक भावना को काव्यात्मक रूप दिया गया है। इस प्रकार के सूक्तो को हम धार्मिक मुक्तक कह सकते हैं। इस प्रकार के सूक्तो को, यास्क ने प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक—इन तीन वर्गों मे विभाजित किया है। यह विभाजन युक्ति-युक्त और समीचीन है तथा इसमे समस्त धार्मिक काव्य का समाहार हो जाता है।

(३) **सूक्ति-काव्य**—उपदेशात्मक सूक्तो को सूक्ति या सुभाषित काव्य के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इस मे लोकवृत्त अथवा नैतिक शिक्षा का अभिधान काव्य की अनुरञ्जनकारिणी भाषा मे किया जाता है और इनमें गुडमिश्रित औषधि का भाति चमत्कार उत्पन्न करते हुए सदुपदेश दिया जाता है। विद्वानो ने इस प्रकार के सूक्ति-काव्य को निम्नलिखित तीन भागो मे विभाजित किया है —

(अ) **धार्मिक सूक्ति**—इसमे सत्य, त्याग, उदारता, अहिंसा इत्यादि धर्म

के मूल तत्वों का उपदेश रहता है। धार्मिक सूक्ति और धार्मिक काव्य इन दोनों में एक मौलिक अन्तर है। धार्मिक सूक्ति में सदाचार सम्बन्धी सर्वजनीन मूल सिद्धान्तों का उपादान होता है और धार्मिक काव्य में विशिष्ट धर्म से सम्बन्ध रखने वाले उपास्यों की महत्ता, उनसे समीहित प्राप्ति की आशंसा और व्यक्तिगत निवेदन, तत्व निरूपण इत्यादि का कथन किया जाता है। यही दोनों का भेदक तत्व है।

(आ) आर्थिक सूक्तियां—भारतीय साहित्य में अर्थशास्त्र के अन्तर्गत केवल वित्त सम्बन्धी विषय ही नहीं आते। किन्तु उनमें लोक-वृत्तानुकूल उपदेश भी रहते हैं और यह भी प्रतिपादन रहता है कि एक व्यक्ति अपने भौतिक जीवन में सफलता किस प्रकार प्राप्त कर सकता है। कहीं-कहीं लोक की सामान्य स्वार्थमयी प्रवृत्ति का उल्लेख करके पाठक को उसके प्रति जागरूक किया जाता है और कहीं-कहीं स्वार्थ-साधन के उपायों का भी विवेचन किया जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार की सूक्तियां सर्वदा धर्मानुकूल ही हों किन्तु यदि ये धर्मानुकूल भी होती हैं तो भी इनमें स्वार्थ-वृत्ति ही काम्य होती है, धर्म-भावना गौण होती है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में इन सभी प्रकार की सूक्तियों का समावेश होने के कारण इनको आर्थिक सूक्ति के नाम से अभिहित किया जाता है। किन्तु इनको व्यावहारिक सूक्ति कहना अधिक समीचीन हो सकता है।

(इ) कामपरक सूक्तियां—इस प्रकार की सूक्तियों में स्त्री पुरुष सम्बन्ध के विषय में कुछ मौलिक तथ्यों का प्रस्फुटन किया जाता है। यह तथ्य स्वभाव सम्बन्धी भी हो सकते हैं और प्रभाव सम्बन्धी भी। रसात्मक काव्य (शृंगार रस) से इनमें यह भेद होता है कि रसात्मक काव्य में विभाव-अनुभाव इत्यादि का आश्रय लेकर साधारणीकरण की प्रक्रिया अपनाई जाती है और या तो प्रसिद्ध प्रतीकों द्वारा या काल्पनिक अनुमेय प्रतीकों के आधार पर रसचर्वणा की जाती है तथा व्यक्तिगत क्षेत्र से सर्वसाधारण परिस्थिति में पहुंचाया जाता है जब कि कामपरक सूक्तियों में प्रतीक की आकांक्षा नहीं होती और न व्यक्तिगत उद्भावना ही अभीष्ट होती है। केवल स्वभाव या प्रभाव सम्बन्धी तथ्यों का उद्घाटन ही कर दिया जाता है।

(ई) प्रशस्ति काव्य—भारतीय साहित्य और समाज में दानशीलता सर्वदा महत्वपूर्ण रही है। सम्पत्ति के उपार्जन और संचय का भार यद्यपि सर्वदा वर्ग-विशेष का ही दायित्व रहा है तथापि सम्पत्ति पर किसी वर्ग का एकाधिकार कभी नहीं माना गया। किन्तु धार्मिक वृत्ति के आधार पर दानशीलता को प्रोत्साहन देकर इस भावना का निर्वाह किया जाता रहा है, इसके लिये वैधानिक आश्रय की आवश्यकता का कभी अनुभव नहीं किया गया। केवल दानशीलता ही नहीं, सामाजिक सुव्यवस्था के लिये जो वीर वृत्ति अपेक्षित होती है उसका संरक्षण, प्रचार और प्रत्यभिनन्दन भी कवि-कर्म का एक प्रधान अंग रहा है। इसी प्रकार

दान-वृत्ति और वीर-वृत्ति मे प्रवृत्त महानुभावा का अनुरञ्जन भी अपेक्षित होता है। अतएव राजा लोगो के सौन्दर्य की प्रशसा और उनके प्रति अगनाओ का आकर्षण भी दिखलाया गया है। इस प्रकार के वर्णन मे अधिकतर अत्युक्ति ही प्रयुक्त होती रही है। इस प्रकार इस वर्णन को हम तीन भागो मे विभाजित कर सकते है: (१) दानशीलता का वर्णन, (२) वीरता का वर्णन, और (३) सौंदर्य का वर्णन। तीनो को मिलाकर प्रशस्ति काव्य की सज्ञा दा जा सकती है। किन्तु ऋग्वेद मे आश्रयदाताओ की दानशालता का ही वर्णन किया गया है। उनकी विजय इत्यादि को देवताओ का प्रसाद मानकर देवताओ के प्रति आभार प्रदर्शित किया गया है और सौन्दर्य वर्णन प्रकृति के प्रसग मे ही किया गया है इस प्रकार एक ओर तो राजा लोग अवलिप्त होने से वच जाते है और दूसरी ओर उनकी काम-वृत्ति भी तीव्र नही होती। वाद के कवियो ने आश्रयदाताओं के वर्णन मे शेष दो प्रकार के वर्णन भी सन्निविष्ट कर दिये। अतएव इस प्रकार के काव्य को दान-विपयक काव्य न कहकर प्रशस्ति-काव्य कहना ही अधिक समीचीन होगा।

(५) **चित्र काव्य**—पहेलिकाओ को इसी वर्ग मे सन्निविष्ट किया जा सकता है। वाद मे सर्वतोभद्र, खड्गवन्ध, मुरजवन्ध इत्यादि वर्ण-विन्यास सम्वन्धी भेद और प्रहेलिका इत्यादि अर्थानुगत भेद इसी वर्ग मे सम्मलित हो गये।

जहाँ तक चित्रकाव्य का सम्वन्ध है इसे साहित्य शास्त्राचार्यों ने काव्य-सीमा मे वाह्य कर दिया। कारण यह था कि चित्रकाव्य के द्वारा न तो रसास्वादन मे सहायता प्राप्त होती है, न चमत्कार-वृत्ति की ही तृप्ति होती है और न कौतूहल वृत्ति की ही शान्ति होती है। केवल वर्ण शव्द और अर्थ की विशेपता से मनोरञ्जन मात्र होता है। केवल तने से ही चित्रकाव्य काव्यत्व का अधिकारी नही हो सकता। सवसे वडी वात यह है कि काव्य का जीवन रस इससे उपहत हो जाता है। इसीलिये काव्य-शास्त्रज्ञो ने इसे उक्ति-वैचित्र्य मात्र माना है। यही कारण है कि विहारी ने चित्रकाव्य का परित्याग कर दिया। अतएव यहाँ पर हम रसात्मक मुक्तक, धार्मिक मुक्तक, सूक्ति मुक्तक और प्रशस्ति मुक्तक—इन चार प्रकार के मुक्तको की परम्परा का सक्षिप्त परिचय देते हुए विहारी मे उन चारो प्रकारो के प्रतिफलन का विवेचन करने की चेष्टा करेंगे। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि मुक्तक के क्षेत्र मे चारो प्रकार अपनी पृथक् सत्ता सर्वथा स्थापित किये हुए हैं। किन्तु कही-कही पर विभिन्न प्रकारो का सकर इस प्रकार हो गया है कि उनको किसी एक वर्ग मे सन्निविष्ट करना कठिन हो जाता है। यह कठिनता उम समय अधिक वड जाती है जवकि भक्ति के विकास के साथ-साथ धार्मिकता और भावात्मकला के एकीकरण की चेप्टा दृष्टिगत होती है। ऐसे अवसरो पर प्रवृत्ति-निमित्त विषयक प्रधानता को आधार मान कर ही उन रचनाओ को किसी वर्ग मे सन्निविष्ट किया गया है।

———

अध्याय २

रसात्मक मुक्तक

काल विभाजन

पिछले अध्याय मे वैदिक मुक्तक काव्य का भावात्मकता और कलात्मकता की दृष्टि से विश्लेषण किया जा चुका है। इस प्रकार की कलात्मक प्रवृत्ति भारतीय सभ्यता के अरुणोदय काल मे अनेक शताब्दियो तक प्रतिष्ठित रही। वस्तुत ऋग्वेद किसी एक काल की रचना नही है अपितु अनेक शताब्दियो मे बिखरी हुई एक विस्तृत साहित्य-राशि का सकलन मात्र है। "ऋग्वेद का अभिप्राय एक पुस्तक से नही है जैसा कि उदाहरण के लिये पुराण एक पुस्तक है और न किसी एक समय मे सगृहीत कतिपय पुस्तको का एक परिपूर्ण सग्रह ही है। जिस प्रकार बाइबिल या त्रिपिटक एक समय के सग्रह है अपितु अनेक शताब्दियो मे लिखा हुआ सम्पूर्ण महान साहित्य है जो कि परम्परागत रूप मे अनेक शताब्दियो तक चला आया और अन्त मे नवीन पीढी ने इसको पवित्र ज्ञान अथवा ईश्वरीय ज्ञान घोषित कर दिया। इस घोषणा मे केवल प्रचीनता ही कारण नही थी किन्तु इसका महत्त्वपूर्ण विषय भी कारण था।"[1] इसे हम मुक्तक परम्परा का प्रथम उत्थान कह सकते है जो कि बहुत समय तक अप्रतिहत गति से प्रवाहित होता रहा और अन्त मे अपने भक्तो के हृदयो मे श्रद्धा की भावना को प्रश्रय देकर सर्वदा के लिये तिरोहित हो गया। वैदिक सहिता काल के उपरान्त लिखे हुए समस्त साहित्य मे सहिताओ की व्याख्या और उनके विनियोग की चेष्टा ही दृष्टिगत होती है। यदि नवीन रचनाओ मे किसी प्रकार का अभिनिवेश रहा भी होगा तो भी आज हमे उसका कोई भी ज्ञान नही। वैदिक काल के अन्तिम चरण (उपनिषत्काल) मे भी हमे स्वतन्त्र मुक्तक के रूप मे लिखा हुआ कोई भी काव्य-ग्रन्थ समुपलब्ध नही होता। सम्भव है उपनिषदो के आध्यात्मिक निबन्धो मे यत्र-तत्र बिखरी हुई सूक्तियो का कुछ अश मुक्तक के रूप मे ही लिखा गया हो और बाद मे यथा-स्थान उसे सन्निविष्ट कर दिया गया हो किन्तु उसके आधार पर हम मुक्तक काव्य का कोई स्वरूप स्थिर नही कर सकते और न हम उसे मुक्तक परम्परा मे सन्निविष्ट ही कर सकते है। आनन्द वर्धन और अभिनव गुप्त के अनुसार प्रबन्ध की भाँति मुक्तक भी प्रबन्धाग के रूप

[1] History of Indian Lit , by Winternitze

मे ही स्वीकृत किये जा सकते हैं वे स्वतन्त्र मुक्तक की मामा मे नही आते।[1]

बौद्ध-साहित्य मे भी रमात्मक मुक्तक की दृष्टि से लिखा हुआ साहित्य उपलब्ध नही होता। केवल थेरगाथा और थेरी गाथा मे हमे उमका प्रभाव दिखाई पडता है और यह बात स्वीकार करने के अनेक कारण हैं कि उस ममय भी रसात्मकता और भावात्मकता की दृष्टि से कुछ-न-कुछ रचना अवश्य हुई होगी। किन्तु उस समय का वही साहित्य सुरक्षित रह सका जो कि किसी सम्प्रदाय के द्वारा अपनाया गया अथवा जिसका उपयोग धार्मिक प्रचार के लिये भी किया जाता था। आश्रयदाताओ की कमी से अथवा दीर्घकाल के व्यवधान से दूसरे प्रकार का काव्य सुरक्षित नही रह सका। फिर भी थेर गाथा और थेरी गाथा भारतीय मुक्तक साहित्य की उच्चकोटि की रचनाओ मे सनिविष्ट किये जा सकते हैं जिनकी तुलना ऋग्वेद से कालिदास तक की जा सकती है। इसका प्रभाव परवर्ती काव्य पर भी यथेष्ट रूप मे पडा है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण मुक्तक ग्रन्थ हाल की गायासप्तशती है। इन सप्तशती के प्रारम्भ मे निम्नलिखित गाथा दी हुई है —

सत्तसताइ कइवच्छलेन कोडीय मज्य आरम्भि।
हालेन विरइ आइ साल काराणं गाहाणम्॥ (१—३)

(कवियो के प्यारे हाल ने एक करोड मे से अलकारो से युक्त सात सौ गाथायें बनाई) इसमे ज्ञात होता है कि हाल के मामने एक करोड गाथाओ का सकलन विद्यमान था और हाल ने उनमे मे मात सौ उत्ताम गाथाओ का सकलन कर दिया। यहा पर विरचित का अर्थ रचना करना नही है अपितु सकलन करना है। इस प्रकार हमे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ भी ऋग्वेद के समान ही एक स्वतन्त्र ग्रन्थ नही है अपितु एक विस्तृत समय मे लिखे हुए मुक्तक पद्यो का सकलन मात्र है।[2] ग्रन्थ के अन्त माक्ष्य और वहि साक्ष्य दोनो आधारो पर सिद्ध होता है कि इसका सकलन आन्ध्र के सुसमृद्ध राज्य मे शातवाहन के दरवार मे हुआ था। इस ग्रन्थ से हमे उम समय की मुक्तक परम्परा का सुसम्बद्ध और स्पष्ट चित्र प्राप्त होता है। यही मे एक परम्परा भी चलती हुई प्रतीत होती है जो गुप्त काल और उसके वाद मे भी प्रतिष्ठित रही। इम परम्परा की मवसे वडी विशेषता यह है कि इसमे वैदिक काल की वहुमुखी प्रवृत्ति के स्थान पर एक निश्चित सकुचित धारा मे कविकर्म प्रवृत्त होता हुआ दिखलाई देता है। प्रकृति काव्य-रचना विषयक अभिनिवेश तो जाता ही रहा माथ ही वीरभावो की अभिव्यक्ति का युग भी समाप्त हो गया। मुक्तक काव्य जगत् मे सर्वत्र रसराज शृगार का एक छत्र राज्य स्थापित हो गया और उसकी वेगवती मनोरम धारा प्रवाहित हो चली। इन

१. ध्वन्यालोक लोचन उद्योत ३

२. देखो—History of Indian Sanskrit Literature by Kalt तथा गा। सप्तशती की भूमिका।

परम्परा की एक बहुत बडी विशेषता यह है कि इसमे विभावो का निर्देश नही है। शृंगार रस की अभिव्यक्ति किन्ही विशेष प्रकार के नायक और नायिकाओं को लक्षित करके नही की गई है। काव्य से केवल इतना ही प्रतीत होता है कि कवि ने किसी विशेष नायक-नायिका की एक विशेष दशा का चित्रण किया है जो कि किसी के विषय मे भी सभव हो सकता है। नायक-नायिका के व्यक्तित्व के उन्नयन का भार पाठक पर छोड दिया गया है। यद्यपि इसके अपवाद भी प्राप्त होते है जैसे हाल की सप्तशती मे दो गाथायें राधा-कृष्ण से सम्बद्ध है, एक गाथा मे गोपियो के प्रेम का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार दो-एक गाथाओ मे शिव-पार्वती के प्रेम का भी वर्णन है, इसी प्रकार विशेष परिस्थिति मे चौर कवि ने अपने प्रेम का आलम्बन राजकुमारी को बनाया है। तथापि ये रचनाये परिमाण मे इतनी न्यून है कि इनको हम काल की सामान्य प्रवृत्ति नही मान सकते।

रसात्मक मुक्तक परम्परा की उक्त परिस्थिति मे परिवर्तन जयदेव के समय मे उपस्थित होता है। अब शृंगार रस के आलम्बन के रूप मे राधा और कृष्ण पूर्ण रूप से आसनासीन हो गये। कही-कही भगवान् राम को भी आलम्बन या आश्रय मानकर रसाभिव्यक्ति की गई। इस प्रकार की रचनाओ को हम धार्मिक मुक्तको मे सन्निविष्ट नही कर सकते। इन रचनाओ का प्रधान प्रवृत्ति-निमित्त रसाभिनिवेश और कलात्मकता ही है। दूसरी बात यह है कि इस समय तक आते-आते काव्य-शास्त्र भी अपने प्रौढ प्रकर्ष को प्राप्त हो चुका था और रसात्मक काव्य-धारा एक रूढिबद्ध प्रणाली पर प्रवाहित हो चली थी। मुक्तक के क्षेत्र मे शृंगार रस का प्राधान्य था ही। अतएव इस काल मे राम-भक्ति के स्थान पर कृष्ण-भक्ति को मुक्तक के क्षेत्र मे विशेषता दी गई। यह समस्त काव्य रसात्मक कृतियो मे ही सन्निविष्ट किया जा सकता है क्योकि इसका मुख्य प्रवृत्ति-निमित्त रसात्मकता ही है। धार्मिक मुक्तको मे हम उसी काव्य को सन्निविष्ट कर सकते है जिसमे वैदिक परम्परा के अनुसार या तो अपने आराध्य की लोकोत्तर महत्ता की अभिव्यञ्जना की गई हो या किसी प्रकार की आशसा की गई हो अथवा किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन, आत्म-निवेदन, भक्ति की ओर प्रेरणा और सासारिकता की गर्हणा मे से कोई बात हो। इसके अतिरिक्त जो काव्य राधा-कृष्ण इत्यादि को विभाव के रूप मे स्वीकृत कर रसचर्वणा के मन्तव्य से लिखे गये है उन्हे हम रसात्मक मुक्तक ही कहेगे। यह बात दूसरी है कि इन आलम्बनो को आराध्य के रूप मे स्वीकृत कर लेने के कारण ही कवियो मे इनके रसात्मक वर्णन की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है। जहाँ भक्ति के आलम्बन और रसात्मक कविता के आलम्बन मे भेद है वहा यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिए विद्यापति के आराध्य के रूप मे भगवान् शकर जी प्रतिष्ठित हुए है और रसात्मक कविता का आधार राधा-कृष्ण माने गये है। इस प्रकार हम देखते है कि इस काल मे सर्वत्र रसात्मक रचना किसी विशेष विभाव को मानकर ही चलती है। यह परम्परा बिहारी के समय तक चलती

है। इस प्रकार हम इस समस्त रसात्मक मुक्तक परम्परा को निम्नलिखित तीन भागो में विभाजित कर सकते है —

१—पारम्भिक काल अथवा हाल से पूर्ववर्ती काल—इसमे वैदिक काल तथा बौद्ध, जैन काल सम्मिलित है। इस काल की रचनाओ में प्रकृति को प्रधानता प्राप्त थी। अतएव इसे हम प्रकृति काल कह सकते है।

२—हाल से जयदेव तक—इस काल मे प्राकृत जन विषयक रचनाओ का बाहुल्य था। अतएव इसे हम प्राकृत काल के नाम से अभिहित कर सकते है।[1]

३—जयदेव से बिहारी तक—इसे हम भक्ति काल के नाम से अभिहित कर सकते है क्योंकि इस काल की रचनाओं मे भक्ति काव्य का बाहुल्य है। अगले पृष्ठो मे इसी विभाजन के आधार पर मुक्तक काव्य-परम्परा का परिचय दिया जावेगा।[2]

(१) प्रथम चरण—प्रकृति काल

(अ) वैदिक काव्य—भावात्मकता की दृष्टि से वैदिक काव्य की समीक्षा प्रथम अध्याय मे की जा चुकी है। सक्षेप मे रसात्मकता के विषय मे हमे ऋग्वेद में निम्नलिखित तत्व अधिगत होते हैं :—

कठोर रस—जातीय सघर्ष का प्रतिफलन होने के कारण वेद मे वीर रस की ही प्रधानता है। अन्य रसों की अपेक्षाकृत न्यूनता है। वीर रस का आश्रय इन्द्र हैं और आलम्बन अनेक असुर जो इन्द्र पर असफल वल प्रयोग की चेष्टा करते है और इन्द्र अनायास ही उन पर विजय प्राप्त कर लेते है। स्पष्ट ही है कि हमारे ऋषियो ने आर्यो की विजय का श्रेय योद्धा सम्राटो को देना उचित नही समझा किन्तु इस विजय को इन्द्र देवता का प्रसाद ही माना है। इस प्रकार एक ओर वे योद्धाओ के अवलेप की शाति करते हैं और दूसरी ओर उन्हे आगे बढने के लिये प्रोत्साहित करते है। वीर रस के परिपाक के लिये विरोधियो की वीरता को अधिक प्रसार नही दिया गया है किन्तु अनायास ही विजय लाभ दिखलाया गया है। युद्ध वीर के साथ ही रौद्र, वीभत्स और भयानक का भी समावेश हो जाता है। दान वीरता और धर्म वीरता भी स्थान-स्थान पर अधिगत होती है किन्तु अपेक्षाकृत उनका प्रसार कम ही है।

शृ गार रस—शृ गार रस के क्षेत्र मे मानव-भावनाओ का आरोप प्राकृतिक दृश्यो और विशेषकर उषा के प्रसग मे किया गया है। इस दिशा मे आलम्बन का महत्व परवर्ती काव्य जैसा दिखलाई नही देता। नख, शिख तथा अग-प्रत्यग का पृथक्-पृथक् वर्णन नही किया गया है, किन्तु सामूहिक प्रभाव कोमलता, सुकुमारता कामुकता इत्यादि का ही चित्रण दिखलाई देता है। कही-कही विशेष अवस्था का

१. यदि अधिक स्पष्ट करना चाहें तो इसे हम अनिर्दिष्ट विभाव काल कह सकते हैं।
२. इस काल को हम निर्दिष्ट विभाव काल भी कह सकते हैं।

भी चित्रण किया गया है, जैसे सद्यस्नाता के प्रसग मे। अभिसार के दोनो रूप इसमे विद्यमान है। एक ओर तो नायिका नायक को अभिसार कराती है दूसरी ओर नायिका स्वय भी अभिसार करती है। वासकसज्जा का भी चित्रण उषा के प्रसग मे दिखलाई देता है। सचारी भावो मे लज्जा, अवहित्था इत्यादि प्रमुख सचारियो का ही चित्रण है। अन्य भावो की उपेक्षा की गई है। प्रेम के प्रत्याख्यान का भी अच्छा चित्रण है। एक ओर स्त्री के प्रणय की अवहेलना पुरुष की ओर से दिखलाई गई है और दूसरी ओर पुरुष के प्रणय की अवहेलना स्त्री की ओर से दिखलाई गई है। इस दिशा मे मानसिक सताप और भावना की तीव्रता का वर्णन प्रशसनीय है। शृगार रस मे स्वकीया और परकीया दोनो प्रकार की नायिकाओ का चित्रण है। रस और रसाभास दोनो के उदाहरण विद्यमान है। ध्वनि और गुणीभूत व्यग्य दोनो रूपो मे शृगार रस का उपादान हुआ है। इस प्रकार शृगार रस बहुमुखी है और उसमे माधुर्य गुण का सर्वथा बाहुल्य है।

हास्य रस—कही-कही अश्लील शब्दो का प्रयोग किया गया है जो कि भरत के अनुसार हास्य रस की सीमा मे आता है। मण्डूक सूक्त मे हास्य रस का अच्छा परिपाक हुआ है।

करुण रस—मृत व्यक्तियो और आहत सैनिको के प्रसग मे करुण रस की हल्की-सी छाया मिलती है।

शात रस—यजुर्वेद के ४०वे अध्याय मे जो कि ईशावास्योपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है, शात रस अधिगत होता है।

ऋग्वेद मे उपमाओ की भरमार है। ये उपमायें अधिकतर अनायास ही आयी है और रस की परिपोषक है। औपम्य मूलक दूसरे भी अलकार यथास्थान आ गये है, जिनमे मालोपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति इत्यादि प्रमुख है। कही-कही कार्य-कारण भाव मूलक अलकार भी विद्यमान है और विरोध मूलक अलकार अधिक चमत्कार कारक है। शब्दालकार भी अपना पृथक् महत्त्व रखते है। अनुप्रास तो एक साधारण सी वस्तु है, यमक और पुनरुक्तवदाभास[1] जैसे प्रौढ कलात्मक अलकार भी उपस्थित है।[2] सकर और ससृष्टि की कमी नहीं है। जहा अर्थ शक्ति मूलक ध्वनियो मे वस्तु और अलकार दोनो की ध्वनि पाई जाती है वहा शब्द शक्ति मूलक ध्वनि के भी भेद यत्र-तत्र विद्यमान है। इस प्रकार यद्यपि ऋग्वेद का महत्त्व मुक्तक काव्य के दृष्टिकोण से कम तथा धार्मिक और याज्ञिक दृष्टिकोण से अधिक हुआ है तथापि मुक्तक काव्य के कलात्मक और भावात्मक उदाहरण भी इसमे बडे ही सुन्दर ढग से आ गये है। इनका क्षेत्र उतना अधिक व्यापक नही है

१ यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव।
२ [illegible] अध्याय प्रथम।

जितना कि बाद के साहित्य मे उपलब्ध होता है तथापि बाद के काव्य जगत् जैसी एकदेशीयता भी इस सकलन मे नही है। इसमे अनेक रसो और भावो का उचित समावेश है और अलकारो का भी उचित मात्रा मे उपादान हुआ है। यही वैदिक काव्य के भावात्मक अशों का सक्षिप्त परिचय है।

(आ) थेरी गाथा—ऋग्वेद के बाद हाल के समय तक प्रथम चरण की सबमे अधिक महत्वपूर्ण भावात्मक मुक्तक रचना है। यह खुद्दक निकाय के १५ भागों मे एक है। इसका नाम सर्वदा थेर गाथा के साथ लिया जाता है। इन दोनो पुस्तको मे बौद्ध सन्यासियो के आतरिक जीवन पर प्रकाश डाला गया है। थेरी गाथा मे ७३ खण्ड और ५१८ पद्य हैं। प्रत्येक खण्ड मे एक थेरी का नाम लिखा हुआ है। थेरी गाथा पर धम्मपाल नामक एक कवि ने पाचवी शती के आस-पास एक टीका लिखी। इस टीका मे थेरियो की जीवन-गाथा लिखी है जो कि या तो पद्यो के आधार पर उन्नीत कर ली गई है या गढ़ ली गई है और सर्वथा विश्वसनीय नही हो सकती। श्रीमती रायस डेविड ने अपने "साम्स् आफ सिस्टर्स" मे लिखा है कि गौतम बुद्ध के जीवन-काल मे बौद्ध सन्यासियो ने गगा की घाटी मे जैसा जीवन बिताया है उसका ठीक उपदेशात्मक चित्र हमे इन गाथाओ मे प्राप्त होता है। धम्मपाल ने प्राय. सभी गाथाओ के विषय मे लिखा है —

अर्हत्त पन पत्त्वा परिपत्ति पंच्चवेक्खित्वा। उदानवसेन इमा गाथा अभासि।" अर्थात् अर्हत पद को प्राप्त होकर भावनावश ये गाथायें कही गई हैं। रायस डेविड ने इन गाथाओ के विषय मे लिखा है, "इन पद्यो मे हम भावना या शक्ति की अभिव्यक्ति देखते है जो या तो नवीन रूप मे उद्भूत हुई हैं अथवा नवीन धाराओ मे विभक्त कर दी गई हैं, जब इन गाथाओं मे शान्ति की प्रतिध्वनि श्रवण गोचर होती है उस समय भी इनमें भावना तथा आनन्द की अभिव्यक्ति होती है।"

ये गाथायें स्त्रियो के विषय मे लिखी हुई है और नारी हृदय का ठीक रूप मे प्रतिनिधित्व करती है। श्रीमती रायस ने थेर गाथा और थेरी गाथा की तुलना करते हुए शब्द प्रयोग, भावना और शब्द-शक्ति पर ध्यान दिया है। उन्होने लिखा है कि भिक्षुणिओ की गाथा मे हृदय तत्व तथा भावना का प्राधान्य है और थेर गाथा में प्रकृति चित्रण किया गया है। भिक्षुणियों की गाथा मे वास्तविक जीवन के चित्र अधिक उच्चकोटि के उतरे हैं। इस प्रकार इन गाथाओं मे कवित्व की सच्ची भावना अन्तर्निहित है। यदि कविता मे भावना की प्राथमिक सत्ता स्वीकार कर ली जावे और उसका उद्बोधन घटना के आधार पर माना जावे तो ऐसी दशा मे परिस्थिति-वश भावनाओं के उद्दीपन होने के कारण गाथायें उच्चकोटि की कविता मे आयेंगी।

इस सग्रह मे विभिन्न भिक्षुणियो के नाम पर अलग-अलग गाथाओ का सकलन किया गया है। अनेक गाथाए ऐसी भी हैं जो किसी एक भिक्षुणी के नाम

पर संकलित तो कर दी गई हैं किन्तु वे सर्वथा परस्पर असम्बद्ध है। इस संकलन की अनेक गाथाओ में उच्चकोटि का कवित्व प्राप्त होता है और गीति काव्य या नाटक का आनन्द आता है।

ये गाथाए स्वय भिक्षुणियो ने बनाई है या उनसे सुनकर किसी दूसरे ने इन्हें कविता का रूप दे दिया है, यह कहना कठिन है। यदि ये गाथाए स्वय भिक्षुणियो द्वारा न लिखी गई होती तो इनमे हमे वह हृदय तत्व अधिगत नही होता जो इनमे प्राप्त होता है। उदाहरण के लिये अम्बपाली की कविता मे जो उसकी युवावस्था और वृद्धावस्था की तुलना की गई है वह वास्तव मे बहुत ही उच्चकोटि की कविता का नमूना है, इसमे सन्देह नही। इन गाथाओ मे कुछ बहुत ही पुरानी है। डा० पिशेल ने चाया और सुन्दरी की गाथाओ को बहुत ही प्राचीन बतलाया है। श्रीमती रायस ने ऋषिदासी की कविता मे अनेक शैलियो के दर्शन किये है और सुमेधा की रचनाओ को अत्यन्त प्राचीन बतलाया है।

इन गाथाओं का सामाजिक चित्रण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इनमे हमे वर्ण-व्यवस्था का भेदभाव राजकुमारी, रानी, सेठानी, सुशिक्षित तथा सुसभ्य ब्राह्मणी, दासी, वेश्या, नाचने-गाने और सुन्दरता तथा कटाक्षो के द्वारा जीविकोपार्जन करने वाली भिखारी, पहाडिन, व्याध की स्त्री तथा और भी कई प्रकार की स्त्रियो के दर्शन होते है। जीवन के विभिन्न तत्वो के प्रभाव से वे आर्हत जीवन की ओर आकृष्ट होती है और गृहस्थ जीवन का परित्याग करती है। कही बुद्ध का जीवन तथा व्यक्तित्व, कही किसी शिष्य की उच्चकोटि की शिक्षा, कही संवेग, कही प्राचीन जीवन के संस्कार उनको बौद्ध धर्म की ओर झुकाते है। दूसरी गाथाओ मे जीवन के कटु अनुभव जैसे पुत्र मरण, वैधव्य, निराशा, पति या पुत्रो का दुर्व्यवहार, खेद, अपमान, दुराचार, दुर्गत पिता के प्रति कर्तव्य बुद्धि इत्यादि के कारण उनका आकर्षण संघ की ओर हो जाता है। इस नयी अवस्था मे आकर उन्हे स्वतन्त्रता, आशा, अवसर, उन्नति का पर्याप्त साधन इत्यादि के दर्शन होते है। यही उन्हें अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर प्राप्त होता है। भिक्षुणिया संघ मे प्रविष्ट होकर किसी भिक्षुणी से शिक्षा प्राप्त कर इतनी दृढता से अपने सन्मार्ग का पालन करती है कि अन्त मे निर्वाण की अधिकारिणी बन जाती है। मोक्ष मे दोनो तत्व है नकारात्मक भी और स्वीकारात्मक भी। भावना और माया का परित्याग, प्रवृत्तियो का पूर्ण दमन और सत्ता का परित्याग एक ओर है और दूसरी ओर अन्तर्दृष्टि, आनन्द, शान्ति, सुरक्षा इत्यादि विद्यमान है साथ ही नैतिकता का भी पर्याप्त विकास है। कहीं-कहीं ऐश्वर्य तथा वैभव के उच्चकोटि के चित्र भी खीचे गये है। सुजाता, अनोपमा, इत्यादि थेरियो ने अपने सौन्दर्य, शृंगार और ऐश्वर्य का अच्छा वर्णन किया है। बाद मे ये वैराग्य से प्रव्रज्या लेती है। चाला, सुचाला, और उपचाला [illegible] है, तीनो के साथ कामदेव का संवाद बडा सुन्दर बन पडा है।

अम्वपाली के प्रसग मे अग-प्रत्यग का वर्णन किया गया है जिसमे आभूषणो की सुन्दरता भी सन्निविष्ट की गई है। इनकी उपमानो द्वारा यौवन तथा वृद्धावस्था की तुलना वहुत अधिक प्रसिद्ध है।

(इ) थेर गाथा मे ३६ भाग और १२७९ पद्य हैं। इनमे प्रस्तावना की तीन गाथायें सम्मिलित नही है। ये गाथायें २६४ थेरो की कही हुई हैं। पद्यो की सख्या के आधार पर इनका वर्गीकरण किया गया है, किन्तु यह क्रम सर्वथा ठीक नहीं है। गाथा के अन्त मे जो सख्या दी हुई है उससे यह सख्या मेल नही खाती। ज्ञात होता है वहुत-सी गाथाओ का लोप हो गया है। इन गाथाओ पर भी धम्मपाल की परमत्थ दीपनी टीका है। सघ के जीवन मे आने से पहले यह थेर गृहस्थ थे। किसी घटना से प्रभावित होकर ससार का परित्याग कर दिया। इन्होने नवीन जीवन मे आकर जो अनुभव प्राप्त किये उनका इन गाथाओ मे वर्णन है। रायस डेविड ने लिखा है कि ११४ थेरो ने वाह्य अनुभव लिखे है, १४१ ने आन्तरिक अनुभव लिखे है और ९ ने सम्मिनित अनुभव लिखे हैं। एक ओर इन गाथाओ में नैतिकता छलकती है, दूसरी ओर प्रकृति-प्रेम तथा मनोमोहक जीवन के चित्र विद्यमान है। यह समझ मे नही आता कि भिक्षुओ को एकान्त-साधना के निमित्त ससार त्याग देने पर भी इतना प्रकृति मे प्रेम क्यो हो गया। प्रकृति की महत्ता, उच्चता और ऐश्वर्य के कोमल चित्रो को सामने रखकर उनकी गम्भीरता और दु खवाद के सिद्धान्त को आघात पहुचता है। विण्टर नित्ज ने लिखा है—"इसमे सदेह नही कि इन धार्मिक कविताओ मे प्रकृति के मनोमोहक चित्र भारतीय मुक्तक-परम्परा के वहुमूल्य रत्न है। जगल और पर्वतो के दृश्यो के बीच मे बैठकर भिक्षुगण साधना करते थे जव गम्भीर दृष्टि होती थी तथा विजली कडकती थी तव भी इन्हें आनन्द आता था।"[1] ये महात्मा भी जो जीवन के सुख-दु ख के प्रति सर्वथा उदासीन है अपने को वसन्त के सौन्दर्य वर्णन से पृथक नही रख सके। श्रीमती रायस ने लिखा है—"थेर गाथा की इन पक्तियो को हम निस्सकोच शैली और कीट्स की किसी भी उच्चकोटि की रचना की तुलना मे रख सकते है। थेरी गाथा के समान इनमे भी सभी वर्गों का सामाजिक चित्रण किया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, शिल्पकार कारीगर, मजदूर, अभिनेता, राजा के अवैध पुत्र, सामान्य व्यक्ति इत्यादि सभी प्रकार के व्यक्तियो को इन गाथाओ मे स्थान मिला है।"[2]

(ई) नन्दी और (उ) अनुयोगदार जैन धर्म के दो महान् ग्रथ है। परम्परा के अनुसार इनकी रचना देवर्धि ने की थी। विण्टरनित्ज ने लिखा है कि जैन धर्म की जितनी भी ज्ञातव्य वातें है, उन सवका इन ग्रथो मे समावेश पाया जाता है। इनमें काव्य रस पर पूरे-पूरे प्रकरण है और उदाहरण के रूप मे शृगार रस सम्वन्धी पद्य लिखे गये हैं।

---

१ देखो हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, द्वारा विण्टरनित्ज।
२. देखो रायस डेविड लिखित पाम्स आफ ब्रदर्स।

साहस नही हुआ। इस काल मे कोई ऐसा सघर्ष दिखाई नही देता जिसने व्यापक रूप मे जन-जीवन को आक्रान्त किया हो, केवल शातवाहन और शक राजाओ मे कभी-कभी छोटे-मोटे सघर्ष होते रहते थे जिनमे कभी शातवाहन वश वालो की विजय हो जाती थी और कभी शक लोगो की। एक बात और थी—जिस प्रकार उस समय के विदेशी आक्रान्ताओ ने अपने विजित भू-भाग पर आधिपत्य जमा कर भारत मे आत्मीयता का अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया था, उसी प्रकार देशी नरेशो मे भी राजपूत युग की भाति मिथ्याभिमान को लेकर व्यर्थ की बातो मे लड बैठने की प्रवृत्ति नही थी। इस समय के इतिहास की विशेषता यह है कि यदि कोई महत्त्वाकाक्षी नृपति दिग्विजय के लिये यात्रा करता था तो उसे अधिक प्रतिरोध का सामना नही करना पडता था। कारण यह था कि एक ओर तो उसका मन्तव्य छोटे-छोटे राज्यों का अन्त करना नही होता था किन्तु केवल अश्वमेध के लिये पृष्ठभूमि तैयार करना ही होता था और दूसरी ओर उनका आदान भी विमर्ग के लिये ही होता था।[1] इस प्रकार यह समय राजनीतिक शान्ति और सुव्यवस्था का युग था जबकि काव्य और कला पूर्ण विकास की ओर अग्रसर हो सकते थे।

आर्थिक स्थिति—जिस प्रकार उस समय की राजनीतिक स्थिति कला, साहित्य और विज्ञान के विकास के लिये सर्वथा उपयुक्त थी, उसी प्रकार आर्थिक स्थिति भी सर्वथा सन्तोषजनक थी। व्यवसाय और उद्योग का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था और जन-जीवन आर्थिक चिन्ताओ से सर्वथा मुक्त था। व्यापार-पद्धति और उद्योग-धन्धों के बल पर भारत विश्व का सबसे अधिक समृद्ध तथा सम्पन्न राष्ट्र बन गया था।[2] भारत की सम्पत्ति विदेशो मे एक साधारण लोकोक्ति का रूप धारण कर चुकी थी। अनेक प्राचीन कथानको के आधार पर प्राचीन भारतीय सम्पत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। ईसा की दूसरी शताब्दी मे कोशल के अनाथ-पिण्डक नामक एक व्यापारी ने श्रावस्ती का जैत्र वन नामक एक उद्यान बुद्ध को भेंट करना चाहा और उस उद्यान के स्वामी से यह शर्त निश्चित हुई कि जैत्र वन मे समस्त भूमि पर जितनी स्वर्ण-मुद्रायें बिछ जावें उतना मूल्य उस जैत्र वन का होगा। दूसरी शताब्दी के भरहुत के स्तूप पर इस घटना का विस्तार से उल्लेख किया गया है तथा इस बात का वर्णन किया गया है कि किस प्रकार स्वर्ण से भरी हुई अनेक गाडियां जैत्र वन को गई थी। जैन सिद्धान्त साहित्य के कथानको मे लिखा है कि आनन्द नामक एक व्यक्ति ने जैन धर्म स्वीकार करने के अवसर पर चार करोड स्वर्ण भार एक सुरक्षित स्थान पर, चार करोड स्वर्ण भार व्याज

१ आदान हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।—कालिदास

२ कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे राजसत्ता के जिन विभागों का वर्णन किया है उससे ज्ञात होता है कि भारत उद्योग धन्धों के क्षेत्र में एक सुसम्पन्न राज्य था।

पडोस मे एक छोटा-सा प्रकोष्ठ होता था जिसमे बढईगीरी के साधारण उपकरण रहते थे जिसका प्रयोजन यह होता था कि यदि सयोगवश वीणा इत्यादि मे कोई कमी आ जावे तो तत्काल उसे ठीक कर लिया जावे। सघन वृक्षो के झुरमुट मे कुञ्ज होते थे जिनके पास ही वृक्ष पर झूला पडा होता था। मनोरजन के अनेक उपकरण सर्वदा विद्यमान रहते थे जिनमे चित्रकला के उपकरणो की प्रधानता थी। वर्तिका पात्र, रग इत्यादि यथा स्थान सन्निहित रहते थे। सुभाषित की चुनी हुई पुस्तकें भी कमरो मे विद्यमान रहती थी।[1]

कन्याओ और बालको की शिक्षा की पृथक्-पृथक् विधिया प्रचलित थी। लडकियो को विशेष रूप से कुमार-अवस्था मे ही काम-शास्त्र की शिक्षा देने की व्यवस्था की जाती थी। कन्याओ की शिक्षा मे कलाओ का सर्वाधिक महत्त्व था। उन्हे अनिवार्य रूप से गायन, वाद्य, नृत्य, आलेख्य, शृगार विधि इत्यादि का ज्ञान प्राप्त करना होता था। इसके अतिरिक्त रत्नो का ज्ञान, जल-क्रीडा, ऋतु के अनुसार वस्त्रो के धारण करने का ज्ञान, जादूगरी, बहुरूपियापन, सौन्दर्य-वर्धक योग, पाक-शास्त्र तथा आसव इत्यादि तैयार करने की निपुणता इत्यादि बातें सीखनी पडती थीं। काव्य-कला, अन्त्याक्षरी इत्यादि मे भी निपुणता प्राप्त करनी पडती थी और बढईगीरी की छोटी-मोटी बातें, चटाई बुनना, कढाई का काम, वास्तु-विद्या, पशु-पक्षियो के स्वभाव और उनसे मनोरजन सम्पादन करने की दक्षता भी उन्हे प्राप्त करनी होती थी। नाना प्रकार के जूए का खेल, ताश का खेल इत्यादि मे निपुणता उनमे अपेक्षित थी। प्राय सभी स्त्री-पुरुष चित्रकला मे निपुण थे जैसा कि उस समय के नाटको को देखने से ज्ञात होता है। स्त्रिया ओठ रगने तथा अगराग इत्यादि बनाने मे निपुण होती थी और शरीर के विभिन्न अगो को व्यवस्थित ढग से सजाती थी। मृच्छकटिक मे वसतसेना के भवन का वर्णन बडे ही विस्तार से किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय वेश्यायें अत्यन्त सम्पन्न जीवन व्यतीत करती थी। इस समय के साहित्य मे वेश्याओ का उल्लेख बडे गौरव के साथ किया गया है। राजकुमारियो और ऊचे घराने की स्त्रियो के साथ उनकी गणना होती है तथा राजशेखर ने लिखा है कि प्राचीन काल मे वेश्याओ का भी प्रमुख स्थान था। इससे ज्ञात होता है कि उस समय वेश्याये समाज मे कलापूर्ण तथा अगर्हित जीवन व्यतीत करती थी।[2]

स्त्री-पुरुषो का सारा समय आमोद-प्रमोद मे व्यतीत होता था। दैनिक-चर्या, सामयिक चर्या और उत्सव इत्यादि की चर्या मे सर्वत्र आमोद-प्रमोद की प्रधानता थी। सायकाल मे सगीत गोष्ठी नित्य-प्रति होती थी। अभिसारिकाओं और काम-क्रीडा मे प्रवृत्त पुरुषो की प्रेम-लीला दैनिक कृत्य मे सम्मिलित थी। मदिरा-पान नित्य-प्रति किया जाता था, किन्तु कभी-कभी मदिरा-पान का विशेष आयोजन

१ वात्स्यायन सूत्र के द्वितीय अधिकरण में यह सब विस्तारपूर्वक बतलाया गया है।

२ राजशेखर की काव्य-मीमासा।

भी होता था जिसमे मित्रमडली के लोग तथा अभ्यागत व्यक्ति भाग लेते थे। इस काल की जितनी भी स्त्री-मूर्तिया प्राप्त हुई है वे सब प्राय नग्न ही है और अनेक स्थानो पर मदिरा-पान-प्रवृत्त स्त्री-पुरुष युग्म दिखलाये गये है। उद्यान-गमन, समस्या-क्रीडा-गोष्ठी, समवाय इत्यादि प्रमुख आमोद-प्रमोद के साधन थे। अनेकानेक प्रसिद्ध सगीतज्ञ, गायक, कवि तथा काम-कला निपुण व्यक्ति आमन्त्रित किये जाते थे और उनको पुरस्कार भी दिया जाता था। कभी-कभी इस प्रकार की गोष्ठी कई दिनो तक चला करती थी। ऋतुओ के अनुसार वनविहार का आयोजन होता था। इस प्रकार की क्रीडाओ का मुख्य लक्ष्य प्रकृति-प्रेम नहीं किन्तु प्रकृति-सम्पर्क मे काम-क्रीडा तथा प्रेम-लीला ही प्रधान थी। सम्भवत यही कारण था कि आगे चलकर प्रकृति का आलम्बन रूप तिरोहित हो गया और प्रकृति उद्दीपन के रूप मे पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गई। जीवन को रसमय बनाने मे रसिकवर्ग इतना अधिक प्रवृत्त हुआ था कि देव-मन्दिरो की यात्रा और धार्मिक समारोहो मे कामियो के सम्मिलन का ढग निकाला जाता था। इस प्रकार सारा समाज विलासिता और कामुकता से पूर्णरूप से आक्रान्त था। स्त्रियो को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। सक्षेप मे इस काल मे स्त्री-पुरुषो का जीवन कला, विलास और आमोद-प्रमोद से परिपूर्ण था। चरक मे मित्र-मडली के गुणो में उनका हर समय विलास-वासनामय होना एक विशेष गुण माना गया है। बौद्ध धर्म ने जिस त्याग, तपस्या और उदारता का प्रचार किया था वह भावना धीरे-धीरे लुप्तप्राय होती जा रही थी और भौतिकता प्रसार पाती जाती थी।

कवि-जीवन—ऊपर जिस रहन-सहन का वर्णन किया गया है वह सर्व-साधारण के विषय मे है। कवियो तथा कलाकारो का जीवन इसकी अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट और अधिक सम्पन्न था। उनके जीवन मे सुख-समृद्धि का विशेष स्थान था। राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र ने कवियो की जिस जीवनचर्या का वर्णन किया है वह केवल उनके समय से ही सम्बद्ध नही है, किन्तु चिर अतीत मे भी कवियों का जीवन कुछ उसी प्रकार का होता था। कवियो का निवास-स्थान अधिकतर नदी या सरोवर के तट पर सुरम्य प्रदेश मे होता था। जहा नदी या सरोवर का तट सम्भव नही होता था वहा कृत्रिम तडाग बनाये जाते थे और इस बात का ध्यान रखा जाता था कि ये भवन सब ऋतुओ मे सुखकर हो। यद्यपि छोटा-सा उद्यान प्रत्येक घर के समीप विद्यमान रहता था किन्तु कवियो के भवनो के उद्यानो मे एक वाटिका विशेष सुसज्जित और सुसमृद्ध रहती थी। इस वाटिका मे अनेक प्रकार के वृक्ष लगाये जाते थे और लता-मडप विशेष मनोहर होते थे। भवन से कुछ दूरी पर एक क्रीडा-पर्वत बनाया जाता था जहा कवियो के खेल तथा आमोद-प्रमोद इत्यादि की व्यवस्था रहती थी। भवन के पास एक वापी तथा एक छोटा सरोवर होता था जिसमे कमल लगाये जाते थे। नदियो अथवा समुद्र के आवर्तन की शोभा भी इन भवनो मे विद्यमान होती थी। कुल्यायें इधर-उधर जल को प्रवाहित करती थी। वाटिका मे अनेक

प्रकार के पशु-पक्षी निवास करते थे। वाटिका मे इस प्रकार की कुज बने होते थे जिनमे आतप का सताप सरलता से नष्ट हो सके। एक झूला विद्यमान रहता था। भवन मे वारागृह यन्त्र भी होते थे और लतामडप भी विद्यमान रहते थे। कक्ष या तो सर्वथा निर्जन होता था या ऐसा परिचारक वर्ग रहता था जो कि काव्याभिनिवेश से उत्पन्न हुए निर्वेद को शान्त करने के लिये मौन होकर सभा प्रकार के आदेशो का पालन करने के लिये तत्पर रहे। अन्त पुर शिक्षित होता था और मित्र-मण्डल सभी भाषाओ मे निपुण होते थे।

राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र ने उस समय के कवियो का दैनिकचर्या का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। दिनचर्या मे काव्य-गोष्ठी का भी उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय इस प्रकार की गोष्ठिया प्रतिदिन होती रहती होगी। केवल पुरुष ही नही स्त्रिया भी इस प्रकार का कवियो जैसा जीवन-यापन करने की अधिकारिणी थी। राजशेखर के समय तक स्त्री-शिक्षा पर प्रतिवन्ध लग चुका था और स्त्रियो का कवयित्री हो सकना एक अतीत की घटना वन गई थी। किन्तु राजशेखर के समय मे यह परम्परागत प्रसिद्धि अवश्य विद्यमान थी कि चिरअतीत मे राजकुमारिया, महामात्य इत्यादि की पुत्रिया, गणिकायें और नटो की भार्यायें कविता करने मे निपुण होती थी। प्रतिभा कभी भी प्रतिवन्ध को सहन नही कर सकती। अनेक प्रतिवन्धो मे भी उसका प्रस्फुटन अनिवार्य होता है। यही कारण है कि अनेक प्रतिवन्धो के होने पर भी प्रत्येक काल मे कवयित्रिया होती रही है। इसी लिए राजशेखर ने "सुनी जाती है और देखी भी जाती है"—इन दोनो क्रियाओ का प्रयोग किया है। इससे सिद्ध होता है कि राजशेखर के समय तक स्त्री-शिक्षा तथा स्त्रियो की काव्य-रचना गर्हित दृष्टि से देखी जाने लगी थी। इसीलिए राजशेखर ने स्त्रियो के कवयित्री होने का सवल भाषा मे समर्थन किया है।

कवि-सम्मेलन—इस काल मे कवि-सम्मेलनो की भी भरमार थी। कवि-सम्मेलन प्राय राजा लोगो की अध्यक्षता मे हुआ करते थे। इन सम्मेलनो के लिये विशेष प्रकार के भवन वनवाये जाते थे जो अत्यन्त विशाल और विस्तृत होते थे। राजशेखर की काव्य-मीमासा से ज्ञात होता है कि कवि-सम्मेलनो का आयोजन कई कई दिन तक चलता था। कवि-सम्मेलन भवन मे यथा-स्थान वैठने का नियम था। वीच-वीच में आलोचना भी चलती थी। इन भवनो से सयुक्त क्रीडा-प्रागण भी होते थे जिनमे समयानुसार क्रीडा का आयोजन किया जाता था। अन्त मे वाहर से आये हुए कवि तथा कलाकारो का दान-मान आदि द्वारा सतोष किया जाता था। इस विषय में राजशेखर ने वासुदेव, शातवाहन, शूद्रक और साहसाक का उल्लेख किया है तथा लिखा है कि वहुत समय तक राजा लोगो के दान के आदर्श यही लोग वने रहे। इससे एक तो यह लाभ होता था कि विभिन्न प्रदेशो के निवासी कवि तथा कलाकारो का परस्पर परिचय हो जाता था, शास्त्रीय विषयो का मन्थन भली-भाति

हो जाता था, कवि तथा कलाकारो का सर्वसाधारण मे सम्मान वढ जाता था और राजोपजीवी धनवानो को कवियो का सम्मान करने की प्रेरणा प्राप्त हो जाती थी। क्योकि जैसा आचरण राजा का होता था उसी का अनुसरण करने की प्रवृत्ति सर्व-साधारण में हो जाती थी।

राजशेखर ने जिन कवि-सम्मेलन सम्बन्धी भवनो का वर्णन किया है ठीक उन्ही से मिलते-जुलते दो भवन अव भी कन्नौज मे पुराने किले के ध्वसावशेप पर विद्यमान है। एक कन्नौज के पूर्व मे है और दूसरा पश्चिम मे। इन भवनो मे अनेक स्तम्भ है, जिनके मध्य मे एक वेदी के उपयुक्त स्थान वना हुआ हे। सम्भवतः यही स्थान कवियो के वैठने के लिये प्रयुक्त किया जाता होगा। इसके अतिरिक्त मत्तवारणी और वहिर्द्वार की गणना भी राजशेखर के वर्णन से मेल खा जाती है। मध्य भाग मे चारो ओर से घिरा हुआ एक विशाल केन्द्रीय स्थान है। किन्तु अव ये भवन मुसलमानो के हाथ मे है। इसीलिये केन्द्रीय स्थान को तोडकर मुसलमानी शैली पर उनको धार्मिक स्थान के रूप मे परिणत कर दिया गया है और दोनो मे ही पश्चिमी भाग को तोडकर एक लम्वी दीवाल उठा दी गई है। उन भवनो को देखने से ही इस परिवर्तन का पता चल जाता है। सम्भवत ये भवन प्रारम्भ मे कवि-सम्मेलनो को आयोजित करने के लिये वनाये गये होगे और वाद मे जव मुसलमानो के आक्रमण के अवसर पर कन्नौज का विशाल दुर्ग धराशायी किया गया, उस समय ये स्थान मुसलमानो के सरक्षण मे आ गये होगे। अव भी हिन्दू पश्चिमी भवन को सीता-रसोई के नाम से पुकारते हैं और इस प्रकार उनके हिन्दू काल से सम्वन्ध की स्मृति परम्परागत रूप मे सुरक्षित वनी हुई है।

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष सुविधापूर्वक निकाले जा सकते है —

१ ईसा की प्रथम शताव्दी के आस-पास भारत मे राजनीतिक दृष्टि से सुख-शान्ति थी। न तो किसी प्रकार का वाह्य आतक ही था और न आन्तरिक उपद्रव ही जन-जीवन को किसी प्रकार विक्षुव्ध करने का कारण वन रहा था।

२ इस समय मे सर्वाधिक समृद्ध साम्राज्य आन्ध्र के शातवाहनो का था और उनका आधिपत्य मगध पर भी स्थापित हो चुका था।

३. आन्ध्र राज्य ऐश्वर्य, विलासिता और आमोद-प्रमोद का एक प्रधान केन्द्र वना हुआ था और यहा के राजा लोग कला, कविता तथा सास्कृतिक चेतना को आश्रय देने मे उदाहरण वन गये थे।[1]

४ देश वनधान्य से परिपूर्ण था। कुछ तो विदेशी व्यापार के कारण, कुछ आन्तरिक सुविधाओ से देश मे चारो ओर सुख-समृद्धि की एक लहर दौड़ी हुई थी।

---

१. राजशेखर ने काव्य-मीमासा में दान में शातवाहन का अनुकरण करने का प्रतिपादन किया है।

५ सम्पत्ति के साथ विलासिता तथा आमोद-प्रमोद का आधिक्य अनिवार्य होता है। यही बात उस समय सर्वसाधारण के जीवन मे दृष्टिगत हो रही थी। चारो ओर विलासप्रियता तथा मनोरजन इत्यादि का प्राधान्य था और लोगो की दिनचर्या विलासितामय थी।

६. रमणिया कलापूर्ण जीवनयापन करती थीं और उनको कलाओ की शिक्षा देना अनिवार्य था।

७ कलाओ के साथ काम-शास्त्र की शिक्षा भी कन्याओं को देना आवश्यक समझा जाता था।

८ समाज मे इस प्रकार का वातावरण विद्यमान था जिससे कला, साहित्य और विज्ञान की ओर सर्वसाधारण की तथा कलाकारो की प्रवृत्ति हो सकती थी।

९ कवियो का जीवन आमोद-प्रमोदमय और अधिकतर कृत्रिम ही था। प्रकृति के सम्पर्क से व्यवहित होकर वे एकान्त-साधना मे जीवन व्यतीत करते थे और कवित्व के लिये उपयुक्त वस्तुओं का सकलन अपने निवास-स्थानो पर ही करने की चेष्टा किया करते थे।

१०. उन दिनो कवि-सम्मेलनो और कवि-गोष्ठियो की भरमार थी। कवि लोग दूर-दूर तक इन सम्मेलनो मे सम्मिलित होने के लिये यात्रा किया करते थे। इससे इन्हें देश-विदेश का ज्ञान प्राप्त होता था।

उपर्युक्त परिस्थिति का काव्य को प्रभावान्वित करना अवश्यभावी था। यह बात स्वाभाविक ही थी कि काव्य-जगत् मे प्रकृति का तिरोधान हो जाता और उसका स्थान नरकाव्य को अधिगत हो जाता। जब सारा समाज और विशेष रूप से कविवर्ग प्रकृति से व्यवहित होकर भौतिक चकाचौंध मे जीवनयापन करने लगा था, जबकि प्रकृति का सम्पर्क भी पारस्परिक प्रेमास्वादन के निमित्त ही स्थापित किया जाता था और जब दिनचर्या, नैमित्तिकचर्या तथा वार्षिकचर्या मे सर्वत्र कला का आस्वादन ही प्रधान हो गया था तब उस समय के काव्य से शुद्ध प्राकृतिक चित्रो को प्राप्त करने की सम्भावना हो ही कैसे सकती थी? दूसरी बात यह भी थी कि उस समय जन-जीवन किसी प्रकार के सघर्ष मे व्यस्त नही था। अतएव वैदिककाल की सच्ची वीर भावनाओ की अभिव्यक्ति का अवसर भी नही था। कविता मे शृगार रस का शासन पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया था और दूसरे रस एक तो सामने आने का साहस ही बहुत कम करते थे अथवा यदि आते भी थे तो भी उन्हे जन-समाज का सम्मान प्राप्त करने मे निराश ही होना पडता था। मुक्तक काव्य के क्षेत्र मे तो कवि अपने काव्याभिनिवेश के अनुसार विषय का उपादान करने के लिये स्वाधीन हुआ करता है। अतएव उस क्षेत्र मे शृगार रस का साम्राज्य हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। प्रबन्ध काव्यो तथा नाट्य

काव्यो मे भी हमे शृ गार रस की प्रधानता ही दृष्टिगत होती है। कही-कही कवि प्रबन्ध-निर्वाह के लिये भी अपने शृ गार रस के व्यामोह का सवरण नही कर सकते थे। इसके बहुत ही सुन्दर उदाहरण हमे बृहत्त्रयी के काव्यो मे उपलब्ध हो जाते है। शिशुपाल वध मे भगवान् कृष्ण की इन्द्रप्रस्थ की यात्रा के प्रसग मे केवल रति-क्रीडा के वर्णन करने मे ही आधे से अधिक महाकाव्य व्यय कर दिया गया है जो कि प्राकरणिक कभी नही कहा जा सकता। उसी प्रकार किरातार्जुनीय मे अर्जुन की तपस्या को भग करने के लिए गन्धर्व और किन्नरी भेजी गई है। मार्ग मे उनके शृ गार को विस्तार देने के लिए लगभग उतना ही भाग व्यय किया गया है। वेणी सहार मे वीर रस के बीच मे भी शृ गार रस की प्रधानता का यही कारण है जैसा कि कालिदास ने ताटका वध मे और माघ ने युद्ध वर्णन मे यत्र-तत्र किया है। कही-कही युद्ध-वर्णन मे भी शृ गार रस के समावेश करने की चेष्टा की गई है। आशय यह है कि शृ गार रस की प्रधानता उस समय की परिस्थितियो के अनुकूल थी। जन साधारण के अनुरञ्जन के लिये कवियो को अप्रासगिक भी शृ गार रस का उपादान करना पडता था।

शृ गार रस की प्रधानता के मनोवैज्ञानिक कारण—उपर्युक्त सामयिक परिस्थितियो के अतिरिक्त शृ गार रस की प्रधानता के और भी अनेक कारण है। सबसे पहली बात यह है कि कवि-कर्म का मुख्य व्यापार सौन्दर्य-चित्रण करना और रस का आस्वादन कराना है। यह सौन्दर्य रूप-सौन्दर्य भी हो सकता है और नाद-सौन्दर्य भी तथा करणेतर सम्बद्ध भी हो सकता है। इस सौन्दर्य का पर्यवसान स्त्री-रूप मे होता है। चरक मे कहा गया है —

इष्टा ह्येकैकशोऽप्यर्था पर प्रीतिकरा स्मृता।
कि पुन स्त्री-शरीरे ये सघातेन व्यवस्थिताः॥
सघातो ह्येन्द्रियार्थाना स्त्रीषु नान्यत्र विद्यते। चिकि० अ० २

(इन्द्रियो का एक-एक भी विषय अभीष्ट तथा अत्यन्त आनन्द देने वाला होता है, फिर स्त्री के शरीर का तो कहना ही क्या जिसमे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये सभी इन्द्रियो के अर्थ सामूहिक रूप मे स्थित होते तथा आनन्द देते है। इन्द्रियो के अर्थो की समूहावलम्बनात्मक स्थिति केवल स्त्री शरीर मे ही होती है। कहीं दूसरे स्थान पर नही होती। अतएव सर्वाधिक सौन्दर्य-पूर्ण स्त्री शरीर के चित्रण मे कवि-कर्म का प्रधानतया प्रवृत्त होना स्वाभाविक ही था। दूसरी बात यह है कि भारतीय मनीषियो ने धर्म, अर्थ और काम को सर्वदा समान महत्व दिया है। तीनों का सतुलन और अविरोध ही वैयक्तिक साधना की सफलता का मूल मत्र है और सामूहिक गति-विधि की पूर्णता का परिचायक है। धर्म और अर्थ साधन है तो काम साध्य है। यदि धर्म और अर्थ साधना रूप वृक्ष के मूल तथा स्कन्ध हैं तो काम फल है। विना काम प्राप्ति के धर्म और अर्थ निरर्थक हो जाते हैं। धर्म और अर्थ साधना प्रधान होते हैं और काम उपभोग प्रधान। इसलिये भी उपभोग रूप

काव्य रसास्वादन में काम की प्रधानता होना सगत ही है।"

ध्वनिकार ने माधुर्य गुण का परिचय देते हुए कहा है—"शृ गार रस ही परम आह्लादजनक होता है, अत वही मधुर कहा जाता है। शृ गार रस का आश्रय लेकर माधुर्य गुण का अवस्थिति होती है।" इस कारिका की व्याख्या करते हुए अभिनव गुप्त ने कहा है कि शृ गार रस की भावना ही ऐसा है जो देव, तिर्यक्, पशु और मनुष्य प्रत्येक स्थान पर पाई जाती है। जिस प्रकार ज्ञानी-अज्ञानी, स्वस्थ कोई भी व्यक्ति जैसे ही शक्कर को अपनी जिह्वा पर डालता है वैसे ही उसे मधरता का अनुभव होने लगता है, उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति क्यो न हो, शृ गार रस से उसकी आत्मा वासित अवश्य होती है। अत सबके लिये सर्वाधिक आह्लाद-जनक होने कारण शृ गार रस ही मधुर रस होता है। भरत मुनि ने शृ गार रस की परिभाषा करते हुए लिखा है कि ससार मे जो कुछ भी पवित्र, उज्ज्वल, मेध्य अथवा दर्शनीय हो, उस सबका अनुमान शृ गार के द्वारा हो जाता है तथा जो भी व्यक्ति उज्ज्वल वेश वाला हो वह शृ गारमय कहा जाता है।

अनेक साहित्याचार्यो ने विभिन्न तर्कों के आधार पर कई रसो को रस-राज सिद्ध करने की चेष्टा की है। कुछ समालोचक भरत मुनि के निम्नलिखित श्लोक को लेकर शान्त रस को रसराज सिद्ध करने की चेष्टा करते है —

स्व स्व निमित्तमाश्रित्य शान्ताद् भाव प्रवतते।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ॥

(चित्त की प्रशमावस्था या शान्तावस्था से ही अपने-अपने निमित्त का आश्रय लेकर कोई भी भाव उद्भूत होता है और निमित्त के अभाव मे पुन वह भाव शान्त अवस्था मे हो जाता है।) इसी प्रकार दूसर लोगो ने रस मे चमत्कार की प्रधानता का आधार लेकर अद्भुत रस को रसराज सिद्ध करने की चेष्टा की तथा कुछ और आलोचको ने सभी रसो का उद्भव दु ख की भावना से ही मान कर, करुण रस को रसराज के रूप मे प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। किन्तु इन आलोचको की सम्मति अधिक सम्मानित नही हो सकी। कारण यही है कि भावना के दो छोर माने जाते है—सुख और दु ख। शृ गार रस ही केवल ऐसा रस है जिसका विरोध किसी पक्ष से नही होता। इस रस मे दोनो पक्ष विद्यमान रहते हैं। दूसरी बात यह है कि सचारियो का जितना बाहुल्य शृ गार रस मे होता है, इतना दूसरे रसो मे नही होता। रस-विरोध परिहार के प्रकरण मे ध्वनिकार ने लिखा है कि विरोध-परिहार का विशेष विचार शृ गार रस मे ही होना चाहिए। कारण यह है कि शृंगार रस की आत्मा रति का परिपोष ही है और रति स्वल्पतम विरोध के कारण के उपस्थित होते ही भग हो जाती है इसीलिये रति सर्वाधिक सुकुमार मानी जाती है। कहा जाता है कि यो तो रसत्व जाति ही सुकुमार होती है। दूसरे रस तो कुछ-न-कुछ विरोधी रसो को सहन कर लेते है, किन्तु शृ गार रस थोडे से भी विरोध को सहन नहीं कर सकता। नि सदेह शृंगार रस सभा

सासारिक व्यक्तियो के लिये नियमपूर्वक अनुभव का विषय होता है। इसीलिये सभी रसो की अपेक्षा अधिक कमनीय होता है और सभी की अपेक्षा अधिक प्रधान माना जाता है। यह तो हुई शृ गार रस मे दूसरे विरोधी रस के समावेश की बात। इसके प्रतिकूल दूसरे रसो मे शृ गार रस का उपादान दूषित नही माना जाता। आशय यह है कि विनेय व्यक्तियो को उन्मुख करने के लिये यदि काव्य-शोभा का आधान करना हो तो शृ गार रस अथवा उसके अगो का स्पर्श दूषित नही माना जाता। उदाहरण के लिये शान्त रस शृगार का सर्वथा विरोधी है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि—"जिस प्रकार कोई तरुणी अपने प्रियतम के वियोग मे सासारिक सतापो का अनुभव करती है और फिर जब सयोगवश उसे अपने प्रियतम का स्पर्श प्राप्त हो जाता है, तब वह आनन्दातिरेक से अपने को भूल-सी जाती है, उसी प्रकार हे भगवन् ! मेरी चेतना आप से वियुक्त होकर ससार के विभिन्न सतापो का अनुभव करती है और जब कभी थोडा सा भी आपका सस्पर्श प्राप्त कर लेती है तब आनन्दातिरेक से अपने को भूल सी जाती और सर्वथा अपने को आप मे ही लीन कर देती है।" यहा पर शान्त रस के विभावो और अनुभावो का शृ गार रस की भगिमा के साथ निरूपण किया गया है। आशय यह है कि काव्य का सबसे बडा प्रयोजन विनेय व्यक्तियो को विनय के उपदेश ग्रहण कराना है। यह कार्य तब तक भली-भाति नही हो सकता, जब तक विनेय व्यक्ति उन्मुख न हो जावें और तब तक काव्य-शोभा का ठीक रूप मे सम्पादन भी नही माना जा सकता। अधिकतर व्यक्तियो का अन्त करण शृ गार रस की वासना से वासित होता है। अतः शृ गार रस के द्वारा वे व्यक्ति सरलतापूर्वक आनन्द का अनुभव करते हुए विनय के उपदेशो की ओर उन्मुख हो जाते है। इस प्रकार सभी रसो का अधिकारी होने के कारण शृ गार रस ही सबसे अधिक प्रधान माना जाता है।

काव्य के क्षेत्र मे शृ गार रस के प्रधान रूप से प्रतिष्ठित हो जाने का एक और बहुत बडा कारण था। धीरे-धीरे कवि-कर्म ध्वनिकार की वैदग्ध्य-भगी-भणिति और कुन्तक की वक्रोक्ति की पृष्ठभूमि तैयार करने मे प्रवृत्त हो रहा था। यो तो काव्य का सबसे बडे लक्ष्य लोकोत्तर आनन्द का अनुभव कभी स्वशब्द वाच्य हो ही नही सकता और उसकी निष्पत्ति विभाव और अनुभाव द्वारा ही साध्य होती है किन्तु इस काल तक आते-आते वस्तु-व्यजना और अलकार-व्यजना ने पूर्ण रूप से काव्य के क्षेत्र मे अपना अधिकार जमा लिया था। किसी बात को इस रूप मे कहना कि वह केवल सहृदय हृदय-सम्वेद्य ही हो सके और वाच्य-व्यतिरिक्त नवीन अर्थ की उद्भावना के साथ-साथ सहृदय के हृदय मे एक तडप उत्पन्न कर सके यह कवि-व्यापार का प्रधान क्षेत्र बन गया था। वही भाव कवि-कर्म का प्रधान विषय हो सकता था जिसमें अधिक-से-अधिक किसी बात को छिपाकर कहने का अवसर हो कहने की आवश्यकता नही कि इस दिशा मे सर्वाधिक प्रशस्त पद पर आसीन होने का एकमात्र अधिकारी शृ गार रस ही हो सकता था। इस रस मे उक्ति-वैचित्र्य का जितना अवसर है

उतना और किसी दूसरे रस मे हो ही नही सकता। स्वाभाविक वात है कि अतस्तल मे जितनी प्रेम-पीडा उद्भूत होती है उतना ही सकोच वढता है। जव तक अभीष्ट वस्तु का उपभोग प्राप्त न हो जावे तव तक हृदय मे शान्ति स्थापित नही होती और वह अभीष्ट प्राप्ति जिस व्यक्ति के हाथ मे होती है उस व्यक्ति के सामने ही उसको प्रकट करने मे सवसे अधिक सकोच होता है। प्रियतम पर अपनी भावना व्यक्त करने की जितनी उत्कण्ठा होती है उतना ही उससे अपना भाव छिपाया जाता है। यही नही जव वही प्रियतम अपनी भावना स्वय व्यक्त करने आता है तव भी उसके सामने निष्ठुरता धारण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। यदि भावना प्रकट हो जाती है तो अवधीरणा का भय रहता है। इसी वात को अमर कलाकार कालिदास ने इस प्रकार कहा है —"महती उत्कण्ठा के होते हुए भी प्रियतम की प्रार्थना पर कुटिलता धारण कर ली जाती है। वालायें प्राय सम्भोग-सुख की कामना करते हुए भी स्वागदान मे कातर हो जाती है। इस प्रकार कुमारियो को केवल कामदेव ही पीडित नही करता अपितु समय का अतिक्रमण कर कुमारिया भी कामदेव को पीडित करती हैं।"[1] विहारी के शब्दो मे —

सरस सुमिल चित तुरग की करि करि अमित उठान।
गोइ निवाहे जीतियै खेलि प्रेम चौगान॥

उपर्युक्त परिस्थिति के अतिरिक्त लोक का भय भी सवसे वडा प्रतिवन्धक होता है। एक ओर अपने प्रियतम पर अपनी भावना को इस रूप मे व्यक्त करने की आकाक्षा होती है कि प्रियतम कही उपेक्षा न कर दे और दूसरी ओर इस वात का भी भय होता है कि कही लोक-निन्दा न होने लगे। दूसरी ओर प्रियतम की छोटी-छोटी वातें, उसका चलना-फिरना, उठना-वैठना—सभी कुछ मधुर प्रतीत होता है जिसको अपने निकटवर्ती सहचर पर प्रकाशित करने मे एक अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। साथ ही केवल अपनी ही नहीं दूसरे की रति का अवलोकन भी आनन्दमय कौतूहल का कारण वन जाता है। प्रेम की अनेक दिशायें होती हैं। सम्भोग के अनन्त रूप होते हैं। प्रेम की योजना के लिये मध्यस्थ अपेक्षित होता है जिसको स्वय ही इतनी अधिक निपुणता से चलना पडता है कि प्रेम की सयोजना भी सुविधापूर्वक हो जावे और किसी प्रकार का दोप भी न उत्पन्न हो। इन सव कारणो से रति-भाव मे वैदग्ध्य-भगी-भणिति और वक्रोक्ति का अनन्त क्षेत्र है और यही कारण है कि काव्य के क्षेत्र मे शृगार ही सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसी वात को भरत मुनि ने इस प्रकार कहा है—"जो कि कामना होते हुए भी स्त्रियों की अभिलाषा विपरीत व्यवहार मे होती है, जो कि स्त्रिया सम्भोग वचा जाने की इच्छा किया करती है, जो कि समाज मे उनके स्वच्छन्द रत्याचरण का निषेध किया जाता है और जो कि स्वतन्त्रतापूर्वक स्त्रियो की प्राप्ति कठिन होती है

१. शाकुन्तल।

स ये, ही वातें रति के एक वहुत वडे ग्रानन्द का हेतु है। ग्रर्थात् स्त्रियो का विघ्नित म्भोग ही मनुष्य को वहुत वडा ग्रानन्द देनेवाला होता है।"

सक्षेप मे उस समय की राजनीतिक, सामाजिक, ग्रार्थिक ग्रौर सास्कृतिक रिस्थिति शृ गार-भावना के ग्रनुकूल थी। कवियो की व्यक्तिगत परिस्थिति भी कवियो को इस दिशा मे प्रवृत्त होने की प्रेरणा प्रदान कर रही थी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी शृ गाररस ही समस्त जीव-जन्तुग्रो ग्रौर सभी प्रकार की परिस्थितिवाले व्यक्तियो की भावना के ग्रनुकूल होता है। ग्रन्य रसो का क्षेत्र इतना व्यापक नही होता। शृ गार रस मे सुख तथा दु ख दोनो पक्षो का समान प्राधान्य होता है। सचारीभावो की पर्याप्त ग्रधिकता होती है। शृ गार रस सवसे ग्रधिक कोमल होता है। इसमे किसी भी विरोधी रस का समावेश उसे मलिन वना देता है किन्तु शृ गार रस के माध्यम से व्यक्त किया हुग्रा कोई भी भाव ग्रधिक शोभा धारण कर लेता है। उक्ति-वैचित्र्य जो कि काव्य का जीवन है इस रस मे सवसे ग्रधिक सम्भावित हो सकता है। वस्तु-व्यजनाग्रो तथा ग्रलकार-व्यजनाग्रो का सवसे ग्रधिक ग्रवसर शृगार रस मे ही है। इन्ही कारणो से काव्य के क्षेत्र मे शृ गार रस ही सवसे ग्रधिक महनीय पद का ग्रधिकारी हुग्रा ग्रौर उसी का ग्रखण्ड साम्राज्य समस्त काव्य-जगत् पर ग्रवाध रूप मे स्थापित हो गया। यही उस समय के परिवर्तन के मूल प्रवृत्ति-निमित्त थे।

सामान्य विशेषतायें

इस काल की समस्त काव्य-वस्तु को हम दो भागो मे वाट सकते है—प्रकृति-काव्य ग्रौर नर-काव्य। पहले वतलाया जा चुका है कि इस काल मे प्रारम्भ से ही प्रकृति-वर्णन का स्थान नर-काव्य ने ले लिया। काव्य-जगत् मे स्त्री-पुरुष सम्वन्धी काव्य की ही प्रधानता हो गई ग्रौर प्रकृति-सौन्दर्य के स्थान पर स्त्री-सौन्दर्य-चित्रण मे ही कवि-कर्म प्रवृत्त रहा। किन्तु इसका ग्राशय यह नही है कि उस समय प्रकृति-काव्य का सर्वथा ग्रभाव ही वना रहा। समय-समय पर प्रकृति-काव्य भी लिखा गया ग्रौर कतिपय वडी ही महत्त्वपूर्ण रचनायें सामने ग्रायी। किन्तु इस काल के प्रकृति-काव्य मे एक व्यवस्थित पद्धति पर ही रचना करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। कालिदास इत्यादि दो-एक कवियो को छोडकर शेप कवि न तो प्रकृति के सम्पर्क मे ही ग्राना चाहते थे ग्रौर न उनका प्राकृतिक ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता था। ग्रधिकतर निश्चित प्रणाली का ग्रनुसरण किया जाता था ग्रौर उसके लिये उस समय ग्रथ भी तैयार थे। इस कार्य के लिये देश ग्रौर काल का विभाजन कर लिया गया था तथा उसी के ग्रनुसार वर्णन किया जाता था। राजशेखर ने इस प्रकार के विभाजन का वर्णन वडे विस्तार से किया है। प्राकृतिक चित्रण की दिशा मे पड्ऋतु वर्णन की ही प्रधानता थी, प्रत्येक ऋतु के लिये पृथक्-पृथक् पशु, पक्षी तथा वृक्ष ग्रौर दूसरे प्रकार की विशेपताग्रो की कल्पना कर

ली गई थी और उसी आधार पर उन ऋतुओ के वर्णन करने की परम्परा चल दी थी। कही-कही ऋतुओ की गणना वर्षा से की जाती थी और कही-कही वसन्त से। वर्षा, शरद्, वसन्त और ग्रीष्म मे वृक्षो और पशु-पक्षियो का बहुतायत से वर्णन किया जाता था। किन्तु हेमन्त और शिशिर मे एक-दो को छोडकर पुष्पों का सर्वथा अभाव ही बतलाया जाता था। प्रस्तुत समय मे प्रकृति-वर्णन के अनेक रूप उपलब्ध होते है। कही-कही प्रकृति पर मानव-भावनाओ और अनुभावो का आरोप किया गया है तथा दूसरे स्थानो पर प्राकृतिक-सौन्दर्य का तादात्म्य मानव-सौन्दर्य से दिखलाया गया है। कही-कही प्रकृति को मानव मनोवृत्ति के प्रकाश मे देखने की चेष्टा की गई है तो अन्यत्र इन भावनाओ का बिना स्पर्श किये हुए प्रकृति अपने स्वच्छन्द तथा निर्मुक्त अवस्था मे दिखलाई गई है। कही-कही प्रकृति भाव विशेष की उद्दीपक होकर भी आई है। प्रकृति से सादृश्य-विधान भी इस युग की एक विशेषता रही है। अतएव अनेक अलकार प्रकृति से ही अनुप्राणित हुए है। कही-कही कोई प्रेमी या प्रेमिका प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन के द्वारा सकेत स्थान की व्यजना करते हुए दिखलाये गये है और कही-कही उन स्थानो के द्वारा स्मृति जागृत करने की चेष्टा की गई है। इस प्रकार प्रकृति-काव्य को हम निम्नलिखित प्रकारों मे विभाजित कर सकते है :—

(१) **मानव-वृत्त का प्रकृति पर आरोप**—इस प्रकार के वर्णन मे प्रकृति मानव की भावनाओ अथवा अनुभावो से ओत-प्रोत दिखलाई गई है।

(२) **प्रकृति-वृत्त का मानव पर आरोप**—इसमे प्राकृतिक वर्णन स्त्रियो के सौन्दर्य-वर्णन के मन्तव्य से किया जाता है और मानव-सौन्दर्य के उपक्रान्त होने के कारण गौण स्थान का अधिकारी होता है। कवियो ने कही-कही नायिकाओ के शरद् के रूप मे दर्शन किये है और कही निशा के रूप मे तथा कही सध्या के रूप मे। इन सब वर्णनो मे मानव पर प्राकृतिक सौन्दर्य का आरोप मिलता है।

(३) **चेतन वृत्त का प्रकृति पर आरोप**—इस वर्णन मे मानव वृत्त का नहीं अपितु चेतन वृत्त का प्रकृति पर आरोप किया जाता है। अनन्त विस्तृत नीलाकाश रूपी गहन वन मे चन्द्रमा का सिह के रूप मे वर्णन करना एक सामान्य विषय रहा है, इसी प्रकार अन्य वर्णन भी पाये जाते है।

(४) **स्वतन्त्र प्रकृति का वर्णन**—आनन्दवर्धन ने लिखा है कि स्वतन्त्र प्रकृति वर्णन हो ही नही सकता। प्रकृति वर्णन मे किसी-न-किसी रूप मे चेतन वृत्त का आरोप रहता अवश्य है। यह कथन इसी अर्थ मे सही माना जा सकता है कि अधिकतर आरोपित प्रकृति का ही वर्णन इस काल मे हुआ है। दूसरी बात यह है कि कवि और सहृदय की भावनाओ से निरपेक्ष प्रकृति का वर्णन सम्भव ही नही है। यही आनन्दवर्धन का मन्तव्य हो सकता है। अन्यथा काव्य मे स्वतत्र प्रकृति का वर्णन उपलब्ध हो ही जाता है। यह वर्णन दो रूपो मे

मिलता है—या तो प्राकृतिक वस्तुओं का इस रूप मे तथा ऐसे सयोग के साथ परिगणन करा दिया गया है जो कि चमत्कार उत्पन्न करने मे समर्थ हो अथवा बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से प्राकृतिक वस्तुओं की तत्समकक्ष दूसरी वस्तुओं से तुलना कर दी गई है।

(५) मानव भावनाओं के प्रकाश में प्रकृति के वर्णन—मानव की मनोवृत्ति जिस समय जैसी होती है उसे प्रकृति का भी वैसा ही स्वरूप दृष्टिगत होता है। एक सयोगी को सायकाल की सध्या की अरुणिमा प्रकृति के द्वारा आकाश पर बिखरे हुए कुंकुम के समान प्रतीत होती है तो वियोगिनी को वही दृश्य रक्त की लाली के समान दिखाई देता है। मानव सदा अपने सुख-दु.ख को प्रकृति से मिलाने का अभ्यस्त रहा है और उसी के रूप मे प्रकृति का उपादान भी कवि-कर्म का एक प्रधान लक्ष्य रहा है।

(६) उद्दीपन के रूप में प्रकृति का वर्णन—भावुकता मनुष्य का एक स्वाभाविक गुण है। किन्तु परिस्थितियो का इन भावनाओं पर प्रभाव अवश्य पडता है। चन्द्रिका पूर्ण प्रकाश के साथ छिटकी हुई हो, मल्लिका की सुगन्ध नासा-रन्ध्र को आप्यायित कर रही हो और सुदूर से आती हुई गीतिध्वनि कर्ण-प्रीणन बन रही हो ऐसी दशा मे प्रियतम की स्मृति स्वभावत जागृत हो ही जाती है और मानव-भावना उद्दीप्त हुए बिना नही रहती। चतुर्थ कोटि मे इससे अन्तर यह है कि चतुर्थ कोटि मे प्रकृति का वर्णन प्रधान होता है और परिस्थिति सापेक्ष उसका वर्णन किया जाता है तथा इस वर्णन मे मानव भावनाओं के उद्दीपन के रूप मे प्रकृति का उपादान होता है।

(७) अलकारो के रूप में प्रकृति का चित्रण—कालिदास इत्यादि प्रतिष्ठित कवियो ने उपमा, रूपक इत्यादि के रूप मे प्राकृतिक तत्त्वो का अधिकतर उपादान किया है। इस रूप मे भी प्रकृति के सुन्दर चित्र उपस्थित किये गये है।

(८) व्यंजक के रूप में प्रकृति-चित्रण—कही-कही प्रकृति वर्णन के व्याज से या तो सकेत-स्थान की सूचना दी जाती है या हृदयगत अभिलाषा अपने प्रियतम के सामने इस रूप में व्यक्त की जाती है कि उसे तटस्थ व्यक्ति न समझ सके और प्रियतम के सामने हीनता भी न हो। ऐसी स्थिति मे प्राकृतिक वर्णन वाच्य होता है और भावान्तर व्यग्य। वाच्यार्थ सामर्थ्य से ही व्यजना निकलती है। अत इस वर्णन को हम व्यजक के रूप मे प्रकृति वर्णन मान सकते है।

समस्त प्रकृति चित्रण के लिये यह एक सामान्य नियम है कि इस वर्णन मे सच्चाई होनी चाहिए।[1] सच्चाई का अर्थ यह है कि उस वर्णन के द्वारा कवि का अज्ञान प्रकट न हो। वर्णन को देखकर यह प्रभाव अवश्य पडना चाहिए कि कवि को प्राकृतिक परिस्थिति का ज्ञान है। कारण यह है कि असत्यता का प्रतिभास ही

१ 'देखो-रसज्ञ रजन' श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखित।

काव्यरस का सबसे बड़ा प्रतिबन्धक होता है। यदि केशव के समान धनिया और धान एक साथ दिखलाये जावें तो पाठक विरक्त हो जावेगा। उसे उस वर्णन मे किसी प्रकार का आनन्द नही आएगा। इसके प्रतिकूल यदि कालिदास का ईख और धान का वर्णन सामने आवेगा तो उस वर्णन मे एक सत्य प्रकट होगा और उससे पाठक कभी विरक्त नही होगा। किन्तु परम्परा के आधार पर कुछ वर्णनो के विषय मे कवियो मे समझौता रहता है। यद्यपि ये वर्णन लोकानुगत नही होते तथापि अनेक शताब्दियो की परम्परा मे विकसित होने के कारण वे लोकानुगत के समान ही हो जाते हैं और असत्य के रूप मे उनका प्रतिभास नही होता। इन वर्णनो मे जो तथ्य स्वीकृत रहते है उन्हे कवि-समय-ख्याति के नाम से पुकारा जाता है।

नर-काव्य—पहले बतलाया जा चुका है कि इस काल मे प्रकृति-काव्य *गौणातिगौण अवस्था को पहुँच गया था।* प्रकृति-सौन्दर्य का स्थान नारी-सौन्दर्य ने ले लिया था। वस्तुत इस काल का लगभग समस्त रसात्मक मुक्तक-काव्य स्त्री-पुरुष की प्रेम-लीलाओ से भरा है और सामान्य भाव का चित्रण भी अनिर्दिष्ट नायक-नायिकाओ के प्रसग मे किया गया है। भरत मुनि का आदेश है कि काव्य अथवा नाट्य-वस्तु तथा उसकी उपचार विधि का उपादान कामसूत्रो से होना चाहिए।[१] वास्तविकता यह है कि इस काल के समस्त रसात्मक मुक्तक काव्य-जगत् पर वात्स्यायन का कामसूत्र छाया हुआ है। कामसूत्रो मे कामशास्त्र की प्राचीन परम्परा के अनुसार सात अधिकरण रखे गए है। साधारण, साम्प्रयोगिक, कन्या-सम्प्रयुक्तक, भार्याधिकारिक, पारदारिक, वैशिक तथा औपनिषदिक। औपनिषदिक अधिकरण आयुर्वेद से सम्बन्ध रखता है। अत यह काव्य के उपयुक्त नही हो सकता। शेष ६ प्रकरणो का रसात्मकता के सम्पादन के लिए पूरा उपयोग किया गया है। इन अधिकरणो मे अनेक अध्याय है और अध्यायो मे कई-कई प्रकरण है। इन अधिकरणो का विषय अत्यन्त व्यापक है। दैनिक आमोद-प्रमोदमय जीवन किस प्रकार का होता है ? वार्षिक उत्सव कौन-कौन से होते है ? सामयिक आमोद-प्रमोदो का आयोजन किस प्रकार किया जाना चाहिए ? इत्यादि प्रश्नो का उत्तर बड़े विस्तार से दिया गया है। इसके अतिरिक्त सुरत समय के चुम्बन इत्यादि क्रिया-कलापो का भी पर्याप्त विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। किन्तु कामसूत्रो का सर्वाधिक भाग भावनाओ के निरूपण मे व्यय हुआ है। विभिन्न प्रकार की स्त्रियो को किस प्रकार वश्य करना चाहिए। किन अवस्थाओ मे स्वय अभियोग हितकर होता है और किन अवस्थाओ मे दूती का प्रयोग अच्छा होता है ? किन चेष्टाओ से भाव-परीक्षण करना चाहिए ? स्त्रियो को पुरुषो पर किस प्रकार अधिकार करना चाहिए ? इत्यादि प्रश्नो का विस्तृत उत्तर देना ही कामसूत्र का प्रधान विषय है और इन सबका समावेश मुक्तक-काव्य मे पूर्णरूप से हुआ है।

[१] उपचारविधि सम्यक् कामसूत्रसमुत्थितम्।

काम-सूत्रो के जो विषय काव्योपयोगी थे और काव्यो मे जिनका समावेश आ था उनका ठीक वर्गीकरण और विभाजन बाद के आचार्यों ने साहित्य-शास्त्र किया। नायिका-भेद, नायिकाओ के अलकार, दूतीकर्म, अनुभाव, सञ्चारी भाव त्यादि रसोपयोगी तत्त्वो के निरूपण मे कामसूत्रो का आधार सर्वत्र लिया गया है और इस प्रकार के निरूपण का मुख्य मन्तव्य तत्कालीन काव्यो की सामान्य विशेषताओ का अध्ययन करना ही है। इन सबका पर्याप्त विस्तार अलकार-ग्रन्थो मे वेद्यमान है, अत अनपेक्षित होने के कारण इनका उल्लेख नही किया जा रहा है। सक्षेप मे निम्नलिखित विशेषतायें इस काल के काव्यो मे पाई जाती है —

१ कविता के विषय का उपादान कामसूत्रो के आधार पर होता था।

२ अनिर्दिष्ट नायक और नायिका की किसी विशेष दशा का वर्णन करना ही इस काल की कविता का मुख्य लक्ष्य था।

३ कविता के क्षेत्र मे उच्च घराने की, सामान्य कोटि की और निम्न-श्रेणी की सभी प्रकार की नायिकाओ का समावेश होता था।

४ कविता मे व्यजना की प्रधानता थी और उक्ति-वक्रता सबसे अधिक भावपोषक मानी जाती थी।

५. कविता मे बाह्य चमत्कार और तडकीले-भडकीलेपन का महत्त्व नही था। शब्द-चमत्कार के स्थान पर अर्थ-चमत्कार ही अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था।

६ कविता के क्षेत्र मे अनुभावो का अधिक चमत्कार था। स्त्री-सौन्दर्य के दर्शन अधिकतर भावना से सम्वलित रूप मे ही किये जाते थे।

७ प्रेम-प्रसग के वर्णन मे सामयिक रीति और नीति, आचार-व्यवहार इत्यादि का भी पर्याप्त मात्रा मे प्रतिफलन हुआ है।

८ कवि प्रस्तुत विधान मे या दूसरे रूप मे अपनी अनेक शास्त्र-विज्ञता का परिचय दिया करते थे। वैद्यक, ज्योतिष इत्यादि अनेक शास्त्रो के विभिन्न सिद्धान्तो के आधार पर उद्भावनायें की जाती थी।

९ यद्यपि ये कवितायें लक्षण-ग्रन्थो के उदाहरण सकलित करने के लिये नही लिखी जाती थी तथापि इनमे लक्षण-ग्रन्थो के उदाहरण प्रस्तुत करने की पर्याप्त क्षमता थी। कवि-कर्म एक विशिष्ट बन्धे हुए मार्ग पर चलने का अभ्यासी होता जा रहा था और कवियो को सहायता देने के लिये अनेक पुस्तकें प्रस्तुत की जा रही थी। इस बात का विस्तार से निरूपण किया जा रहा था कि कवियो को किन-किन अवस्थाओ मे कौन-कौन-सी भावनाओ और अनुभावो का वर्णन करना चाहिये।

१० कविता धीरे-धीरे दिखावटी वस्तु और मनोरञ्जन का साधन बनती जा रही थी। कवि लोग प्रत्यक्ष आधार पर नही अपितु पुस्तकीय आधार पर कविता करने के आदी होते जा रहे थे।

११ प्रारम्भ मे काम-शास्त्र से सम्वन्ध रखनेवाली कविता प्राकृत भाषा मे ही होती थी। वाद के कवि सस्कृत मे भी इस प्रकार की कविता करने लगे थे।

१२ इस काल की प्रारम्भिक और परवर्ती रचनाओ मे प्रवृत्ति-निमित्त मूलक पर्याप्त अन्तर है। अपभ्र श कविता-काल तक आते-आते कविता मे वाह्याडवर की प्रधानता वढ चली थी। काव्य कही-कही अलकार के मन्तव्य से ही लिखे जाने लगे थे। अपभ्र श की कविता मे कामिनियो की कामना के रूप मे जहा एक ओर शृ गारिक व्यजनाएँ हुई है, वहा दूसरी ओर वीर भावो की भी वहुत ही सुन्दर व्यजनाए दृष्टिगत होती हैं।

१३ इस काल की कविता मे कही-कही देवताओ के विपय मे रति भाव का भी वर्णन मिलता है किन्तु इस प्रकार के वर्णन की वहुत कमी है। अधिकतर कविता लौकिक-क्षेत्र मे ही विचरण करती रही है।

१४ उक्ति-वैचित्र्य और चमत्कार भी इस काल मे प्रधान थे, किन्तु इस कार्य के लिये अस्वाभाविकता हेय समझी जाती थी।

१५ अत्युक्ति अलकार केवल अतिशयोक्ति के रूप मे ही समीचीन माना जाता था। अन्यथा यह अरसिक लोगो की वस्तु माना जाता था। ग्राम्यता एक वहुत वडा दोप समझा जाता था।

ये ही उस काल के सामान्य प्रवृत्ति-निमित्त थे।

इस काल की प्रमुख रचनायें

(१) **गाथा सप्तशती**—जैसाकि पहले वतलाया जा चुका है, लगभग एक करोड गाथाओ से सकलित करके चमत्कारपूर्ण सात सौ गाथाओ का यह कोप-ग्रन्थ आन्ध्र के सुसमृद्ध राज्य मे प्रस्तुत किया गया था। इस समय आन्ध्र मे शात-वाहन अथवा शालिवाहन राजाओ का शासन था। गाथा सप्तशती का सकलन करनेवाले शातवाहन के विपय मे स्वर्गीय श्री दुर्गाप्रसाद जी महामहोपाध्याय ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। डाक्टर पेटरसन को वूदी-नरेश से गाथा सप्तशती की एक प्रति प्राप्त हुई थी। इसकी समाप्ति पर कवि के विपय मे सक्षिप्त परिचय दिया गया है। इससे ज्ञात होता है कि कुन्तल नरेश शातवाहन की सभा अनेक विद्वानो से परिपूर्ण थी। वृहत्-कथा के लेखक गुणाढ्य तथा कलाप व्याकरण के रचयिता शर्ववर्मा इत्यादि इन्ही की सभा के रत्न थे। इनकी राजधानी प्रतिष्ठान (वर्तमान पैठान) थी। पिता का नाम द्वीपिकर्ण और पत्नी का नाम मलयवती था। ये मलयवती के उपदेश से पडित हुए थे। कहा जाता है कि एक वार जल-क्रीडा के अवसर पर मलयवती ने इन महाराज की सस्कृतानभिज्ञता की हँसी उडाई थी। इससे सन्तप्त होकर इन्होने शर्ववर्मा से व्याकरण का पाडित्य प्राप्त किया

था और उसके पुरस्कार मे शर्ववर्मा को भरु कच्छ का प्रदेश समर्पित किया था। इनके हाल, शाल, शालवाहन इत्यादि अनेक नाम थे। हाल का उल्लेख बडे गौरव के साथ अनेक कवियो और शास्त्रकारो ने किया है तथा इनको दानियो का आदर्श माना है। इनकी रसिकता का पता इसी बात से चल सकता है, जैसा कि कामसूत्र मे लिखा हुआ है, इन्होने सुरत काल मे हर्षोन्मत्त होकर अपनी प्रियतमा मलयवती के कैंची मार दी थी जिससे उसका देहावसान हो गया था। इन महाराज ने प्राकृत के प्रसार के लिए पर्याप्त प्रयत्न किया था[1] जिसका उल्लेख श्री भोजदेव ने अपने सरस्वती कण्ठाभरण मे किया है —

के नासन्ना ढयराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिण ।
काले श्रीसाहसाकस्य के न संस्कृतभाषिण ॥

इस सतसई मे स्थान-स्थान पर शालिवाहन महाराज की दानशीलता और वीरता की प्रशसा की गई है। इससे ज्ञात होता है कि इन गाथाओ का सकलन भी स्वय शालिवाहन ने नही किया होगा। इनके आश्रित किसी दूसरे कवि ने इन गाथाओ का सकलन कर महाराज को अर्पित कर दिया होगा और यह सतसई शालिवाहन महाराज के ही नाम पर प्रचलित हो गई। साहित्य मे प्राय हाल के द्वारा श्रीपालित नामक कवि के सरक्षण का वर्णन मिलता है। सम्भव है, इन्ही श्रीपालित ने इस सप्तशती की रचना अथवा सकलन किया हो और यह भी सम्भव है कि कही-कही इसमे हाल की बनाई हुई गाथायें भी सन्निविष्ट की गई हो।

सस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासकार कीथ महोदय ने लिखा है कि इन गाथाओ मे केवल ४३० गाथाये ऐसी है जो कि अब तक उपलब्ध होनेवाली समस्त प्रतियो मे मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि इस पुस्तक मे परिवर्तन तथा परिवर्धन भी पर्याप्त मात्रा मे हुआ है। आज जिस रूप मे यह पुस्तक उपलब्ध होती है वह रस का एक अखण्ड भण्डार है। इसने स्वय को ही नही प्राकृत भाषा को भी अमर बना दिया है। सस्कृतसाहित्य मे कविगण इस सप्तशती की प्रशसा करते नही थकते। आचार्य गोवर्धन ने अपनी आर्या सप्तशती की रचना करते हुए लिखा है कि "इस प्रकार की सरस वाणी प्राकृत भाषा मे ही सम्भव है। किन्तु मैंने इसे सस्कृत मे अवतरित किया है। यह मेरी चेष्टा ऐसी ही है जैसे मैने यमुना की कलकल-वाहिनी धारा को आकाश मे पहुचा दिया हो।" बाण ने इस रचना को अविनाशी और अग्राम्य कहा है तथा विशुद्ध जातिवाले रत्नो से भरे हुए कोष के समान माना है। इसी सप्तशती के आधार पर यह प्रायोवाद चल दिया कि प्राकृत भाषा मे ही शृगार-रसमयी रचना हो सकती है।

वस्तुत यह ग्रन्थ भारतीय काव्य-जगत् मे अपना जोड नही रखता। सस्कृत काव्य शास्त्र के लक्षणो से यह सर्वथा परिपूर्ण है। व्यजना का जैसा सुन्दर, सुमधुर

१ राजशेखर ने काव्य-मीमासा में लिखा है कि शातवाहन का अन्त पुर प्राकृत-भाषामय था।

नमावेश हमे इस सग्रह मे मिलता है वैसा कही अन्यत्र दुर्लभ है। रस की दृष्टि से यह काव्य सर्वथा भरा-पूरा है। शृगार रस प्रधान है औ उसका अप्रतिद्वन्द्वी साम्राज्य प्रत्येक स्थान पर लक्षित होता है। यह ग्रन्थ ठीक रूप मे वैदर्भी शैली में लिखा गया है। इसमे अलकारो का स्थान-स्थान पर वडा ही सुन्दर और उचित प्रयोग किया गया है। व्यग्य का तो ऐसा साम्राज्य है कि एक भी पद्य ऐसा नही है जिसमे व्यग्यार्थ अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त होता हुआ न दिखलाई दे। इसके काव्य-शास्त्रीय उत्कर्ष का इसी से पता चल सकता है कि रुद्रट, मम्मट, विश्वनाथ, आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त इत्यादि महान् आचार्यों ने सस्कृत का महत्त्व स्थापित करने की चेष्टा करते हुए भी उदाहरणो के लिए इनके सामने अपने हाथ फैलाये है। व्यग्यार्थ का प्रसिद्ध उदाहरण—"भ्रम धार्मिक विश्रब्ध " वाला पद्य इसी सप्तशती का है। यह वात पूर्ण वल के साथ कही जा सकती है कि मुक्तक काव्य का इस रूप मे सवमे पहला यह ग्रन्थ सभी परवर्ती ग्रन्थो का आदर्श रहा है और इसमे कुछ ऐसे तत्त्व अवश्य विद्यमान है, जिनका अतिक्रमण न हो ही सका है और न हो ही सकता है।

लक्षण-शास्त्र की दृष्टि से यह ग्रन्थ जितना अधिक महत्त्वपूर्ण है, उतना ही अपने वर्ण्य-विषय के विस्तार की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है। समाज के प्राय प्रत्येक वर्ग का इसमे प्रतिनिधित्व किया गया है। एक ओर नागरिक जीवन का चित्रण है, दूसरी ओर देहाती निम्न वर्ग के व्यक्तियो का भी चित्रण पर्याप्त मात्रा मे पाया जाता है। इसमे मानव जीवन का इतने निकट से अध्ययन किया गया है जैसा कि सस्कृत के दूसरे ग्रन्थो मे कम सम्भव हो सका है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि इसमे मानव-जीवन की सीधी-साधी अभिव्यक्ति ही प्रधान लक्ष्य है। कही-कही वहुत ही उच्चकोटि की अलकृत कविता विद्यमान है। किन्तु यह कविता भी ऐसे कवियो की लिखी हुई प्रतीत होती है जो जीवन को निकट से देखना चाहते थे। इसमे सभ्य समाज का और साथ-ही-साथ गोप, गोपी, खेत की रखवाली करने वाली, चक्की पीसनेवाली, शिकारी, मजदूर इत्यादि सभी का वर्णन आता है। इसमे साधारण दृष्टिकोण आकर्षक और मनोरजक है। साधारण प्रेम साधारण परिस्थितियो मे दिखलाया गया है। यदि वर्षा दो प्रेमियो को एक स्थान पर छिपने के समय प्रेम रसास्वादन का अवसर देती है तो शीतकाल उसी प्रकार मे मिलाता है। कही कोई नायिका अपने अभिसार-स्थान शालिक्षेत्र के पक जाने पर अभिसार स्थान के व्याहत होने के कारण दुखी हो रही है तथा उसे उसकी सखी दूसरे सन के खेत के तैयार हो जाने की वात कहकर समझाती है। कोई नायिका किस प्रकार आखो मे आसू भरकर अपने प्रियतम को रोकने की चेष्टा करती है, जरा इसका भी एक चित्र देखिये —

एको विरुद्ध सारो न देइगन्तु अपाहिणवलन्तो।
किं उण वाहा उलिय लोअण जअल पिय अमाए॥ (१-२५)

(यदि एक भी काला मृग यात्रा के समय दाहिनी ओर से बाई ओर को आ रहा हो तो यात्रा सम्भव नही होती। (क्योकि कृष्ण-सार यात्रा के समय दाहिनी ओर से बाई ओर आ रहा हो तो यह अशकुन माना जाता है और यात्रा सम्पन्न नही होती।) फिर भला प्रियतमा के आसुओ से भरे हुए दो नेत्ररूपी काले मृगो के सामने आ जाने पर तो कहना ही क्या ?) भावना की पराकाष्ठा वहा पर हो जाती है जहा पर प्रियतम के लौटने पर भी नायिका वस्त्राभरण इसलिए धारण नही करती क्योंकि अभी उसका पडोसी नही लौटा है और उसके शृगार करने से उसकी पडोसिन को कष्ट होगा। किसी वैद्य जी से एक नायिका अनुरक्त है। अभिसार का समय आ गया है। नायिका के पति महोदय घर पर बैठे है। अब भला नायिका अपने प्रियतम वैद्यजी से मिलने किस प्रकार जा सकती है ? उसे चटपट एक उपाय सूझता है। वह बिच्छू के काट लेने का बहाना करती है। उसकी सखी उसका हाथ पकडकर वैद्य जी के यहा ले जाने की बात कहती है और नायिका हाथ कपाती हुई तथा रोती हुई उक्त वैद्यजी से मिलने चली जाती है। इसी प्रकार कही कोई नायिका गोदावरी तट पर पके हुए मधूक वृक्ष के नीचे मिलने का नायक को कुशलतापूर्वक सकेत देती है। दूसरे स्थान पर डाकुओ द्वारा घेरी हुई नायिका का वर्णन है। कही कोई दत्त-सकेता नायिका कुञ्ज मे बैठी हुई जीर्ण पर्णों की आहट ले रही है। दूसरे स्थान पर सखी मान के कारण विमुख लौटे हुए नायक के कारण पश्चात्ताप करती हुई नायिका को उपालम्भ दे रही है। इस प्रकार इस पुस्तक मे भारतीय प्रेम के सभी स्वरूप प्राप्त होते है। दृष्टि के मिलने से लेकर गृहस्थ और बच्चो के प्रेम तक का वर्णन किया गया है। इसमे शहरी जीवन की अपेक्षा देहाती जीवन का ही अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन है। प्रकृति के आलम्बन और उद्दीपन रूप मे नाना दृश्यो का इसमे वर्णन मिलता है। कुछ भागो पर थेर गाथा और थेरी गाथा का भी प्रभाव स्पष्ट रूप मे लक्षित होता है, जिसमे बौद्ध सन्यासिनी प्रकृति के नाना रूपो का वर्णन करती है। इस ग्रन्थ मे नीति-सूक्तियो का भी अच्छा समावेश हुआ है तथा दूसरे वर्णन भी इसमे यथास्थान सन्निविष्ट हो गए है। कई गाथाओ मे श्री शातवाहन महाराज की दानशीलता और वीरता का भी वर्णन किया गया है। यह वर्णन भी दूसरे प्रशस्ति-काव्यो के समान अधिक अतिरजित नही है। कही-कही किसी दुर्गत कुटुम्बी की दशा का भी अच्छा वर्णन है। यद्यपि नख-शिख वर्णन का आग्रह तो नही दिखलाई देता तथापि अनेक अगो का कवित्वमय वर्णन किया गया है। ऋतुओ का वर्णन भी अच्छा बन पडा है।

कवि गृहस्थ-जीवन के प्रेम को ही महत्त्व देता है और स्वकीया प्रेम को ही प्रेम का आदर्श समझता है। पत्नी के आदर्श की स्थापना करते हुए कवि कहता है—"जो महिलायें घर के सुख-दुःख तथा कीर्ति और अकीर्ति को जानती है वे ही वास्तविक महिलाए होती है। शेष महिलाए मनुष्य के लिए साक्षात् जरा-रूपिणी

होती है। इन कुलवती महिलाओं का उपालम्भ हासपूर्वक ही होता है। ये आवश्यकता से अधिक आदर दिखलाकर ही अपना क्रोध प्रकट करती है और इनके प्रणय-कलह की सीमा अश्रुकण ही होते ह।" किन्तु समाज मे सर्वत्र सुमहिलाए ही तो नही होती। समाज का पूर्ण चित्रण करने के लिए कवि को रसाभास का भी काव्य मे समावेश करना पडा है। देवर के प्रेम का वर्णन इसी रसाभास के अन्दर कहा जा सकता है। कही-कही पर इनका वर्णन औचित्य की मर्यादा का अतिक्रमण भी कर जाता है। कोई नायिका किसी मन्दिर मे अपने प्रियतम से मिला करती थी और सहवास के अवसर पर और कुछ सुलभ न होने पर गणेशदेव की मूर्ति पीठ के नीचे लगा लिया करती थी। अब प्रियतम के वियोग हो जाने पर जब वह गणेशदेव का पूजन करने जाती है तभी वही मूर्ति उसके लिए उद्दीपन का कार्य करती है। इसी प्रकार पुष्पवती के पास लिटाने का भी वर्णन अनुचित है। छोटी बालिका को पैरो पर बिठाकर खिलाने मे पुरुषायित की कल्पना भी अनुचित है। सम्भव है कवि का मन्तव्य भावज का देवर से मजाक करने का रहा हो और वह बालिका देवर की बहन हो। किन्तु ऐसे वर्णन सख्या मे बहुत थोडे हैं और इस काव्य के महत्त्व को कम नही कर सकते।

इस ग्रन्थ मे कई एक पद्य देवताओ के प्रेम के विषय मे भी है। कही-कही पार्वती और शकर के प्रेम का वर्णन किया गया है। दो-एक पद्यो मे राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण का भी नाम आता है। लक्ष्मी-नारायण के प्रेम का चित्रण भी दो एक गाथाओ का विषय है। किन्तु ये वर्णन परिमाण मे इतने न्यून हैं कि इन्हे हम इस काल की सामान्य प्रवृत्ति नही कह सकते। एक गाथा मे विक्रमादित्य की दानशीलता का भी उल्लेख किया गया है तथा एक दूसरी गाथा मे बुद्ध का भी नाम आया है— "पृथ्वी पर शुको के मुखो के समान कान्तिवाले पलाश-कुसुम इस प्रकार पडे पडे है मानो बुद्ध भगवान् के चरणो की वन्दना करने के लिए भिक्षुओ का समूह पृथ्वी पर पडा हो।" इस ग्रथ मे हमे उस समय के आचार-विचार, रहन-सहन, उत्सव, वस्त्र इत्यादि का भी पर्याप्त वर्णन मिलता है तथा प्राकृतिक दृश्यो मे मध्यदेश, विन्ध्याचल, नर्मदा, गोदावरी इत्यादि का विशेष वर्णन किया गया है। परवर्ती मुक्तककारो के लिए यही सतसई आदर्श सिद्ध हुई और गोवर्धनाचार्य की आर्या-सप्तशती तथा बिहारी की सतसई तो स्पष्ट रूप मे इसी सतसई के आदर्श पर लिखी गई।

(२) ऋतुसहार नामक एक छोटा-सा काव्य महाकवि कालिदास के नाम से प्रसिद्ध है। नहीं कहा जा सकता कि यह काव्य कालिदास का ही लिखा हुआ है अथवा किसी दूसरे कवि ने अपने काव्य की प्रतिष्ठा बढाने के लिये इसको कालिदास के नाम से प्रसिद्ध कर दिया है। इसमे हमें कालिदास की कला के सच्चे दर्शन नही होते। यदि यह काव्य कालिदास का लिखा हुआ भी होगा तो यह सबसे पहले लिखा

गया होगा। इसमें उद्दीपन के रूप मे विभिन्न ऋतुओ का चित्रण किया गया है। ऋतुओ का वर्णन ग्रीष्म काल से प्रारम्भ होता है। ऋतु-सौन्दर्य की उद्दीपकता दिखलाई गई है और साथ मे कामिनियो का वर्णन भी पर्याप्त मात्रा मे किया गया है। इस काल के प्रकृति काव्यो मे उसका अच्छा मान है।

(३) अमरुशतक—आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्त ने अमरुशतक को मुक्तक काव्य का आदर्श माना है तथा लिखा है कि प्रबन्धो के समान मुक्तको मे भी कवियो का रसबन्धाभिनिवेश देखा जाता है जैसे अमरुक के शृ गार रसनिष्यन्दी मुक्तक प्रबन्ध के समान महत्त्वपूर्ण प्रसिद्ध ही है। कहा भी जाता है कि "अमरुक का एक-एक श्लोक भी प्रबन्धो के समान महत्त्वपूर्ण है।" वस्तुत. यह रचना महत्त्व की दृष्टि से इस आदर की सर्वथा अधिकारिणी है। यदि गाथा सप्तशती को छोड दिया जावे अथवा दूसरे शब्दो मे केवल सस्कृत मुक्तक काव्य पर ही विचार किया जावे तो अमरुक शतक मे बढकर दूसरी मुक्तक रचना सस्कृत साहित्य-जगत् मे समुपलब्ध नही होती। यद्यपि इसमे गाथा सप्तशती के समान जीवन की अनेकरूपता दृष्टिगत नही होती, यद्यपि इसमे आलम्बन की बहुमुखी प्रवृत्ति तथा उद्दीपन की विविधता के दर्शन नही होते यद्यपि इसमे समाज का उतना स्पष्ट और विशद चित्रण नही और व्यजना का उतना चमत्कार दृष्टिगत नही होता तथापि भावनाओ का जैसा घात-प्रतिघात और तीव्रता इस शतक मे समुपलब्ध होती है, वह साहित्य-जगत् मे सर्वथा अद्वितीय है, इसमे सदेह नही।

अमरु या अमरुक का व्यक्तित्व सर्वथा रहस्यमय है। कुछ लोगो का कहना है कि शकराचार्य ने परकाय प्रवेश द्वारा काश्मीर के राजा के शरीर मे प्रवेश किया था और उस राजा के रूप मे कामशास्त्र का अनुभव प्राप्त करने की चेष्टा की थी जिससे मण्डन मिश्र की पत्नी को कामशास्त्र सम्बन्धी प्रश्नो का उत्तर दिया जा सके। उस राजा के अन्त.पुर मे १०० पत्निया थी। इसी आधार पर उन्होने १०० पद्यो की रचना की थी। इसी आधार पर इनके पद्यो की शान्तरस-परक व्याख्या करने की भी चेष्टा की गई है। किन्तु न तो इस किंवदन्ती को विश्वसनीय ही कहा जा सकता है और न इसके मानने का कोई पुष्ट प्रमाण ही प्राप्त होता है। आनन्दवर्धन (७५०) ने भी इसका उल्लेख किया है और वामन (८००) ने भी इसके पद्यो को उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है इनका समय आठवी शताब्दी या उससे पहले ही होगा। कुछ लोग इन्हे कालिदास से भी पहले ले जाते है। किन्तु भाषा और शैली की दृष्टि से ग्रथ ७वी शताब्दी के पहले का नही जान पडता। इस शतक की सख्या अनियत है। कीथ ने अपने इतिहास मे लिखा है कि अमरुक की ४ प्रतिया प्राप्त हुई है, जिनमे एकसी सख्या नही है। जो पद्य सभी मे प्राप्त हो जाते है उनकी सख्या केवल ५१ है। कुछ लोगो ने इसके आधार पर नायिका-भेद का निरूपण करने की चेष्टा की तथा दूसरे लोगो ने इस ग्रथ को

अलकारो के उदाहरण के रूप मे लिखा हुआ सिद्ध करने का प्रयत्न किया। किन्तु यह ग्रथ इन दोनो उद्देश्यो से लिखा गया नही जान पडता। इस ग्रथ का एक मात्र मन्तव्य शृगार रस के मुक्तको की रचना करना ही था, इसके अतिरिक्त और कुछ नही।

इस शतक मे अधिकतर विप्रलम्भ शृगार का ही चित्रण किया गया है और विप्रलम्भ मे भी मान-विप्रलम्भ का। मान के अनेक रूप दृष्टिगत होते हैं। मुग्धा का मान, मध्या का मान, प्रौढा का मान, नायिका को नायक द्वारा मनाने की चेष्टा, सखी द्वारा मनाने की चेष्टा, नायक का निराश होकर लौट जाना, नायिका का पश्चात्ताप, सखी का उपालम्भ इत्यादि अनेक मान-विषयक वर्णन किये गये हैं। कही नायिका दूती प्रेषण करती है, कही सखी नायिका को मान की विद्या सिखा रही है और नायिका उसको वैदग्ध्यपूर्ण उत्तर देती है। सखी नायिका को मान की विधि सिखाती है। वह कहती है—"अरी मुग्धे, क्या तूने अपने इस लडकपन मे ही सारा समय बिता देने की सोची है ?"

मान धारण करो, दृढता धारण किये रहो और अपनी इस सिधाई का परित्याग कर दो (इसीमे जीवन का आनन्द प्राप्त होगा)। इसपर नायिका एकदम घबरा उठती है और वैदग्ध्य के साथ सखी से कहती है—"धीरे-धीरे कहो कही ऐसा न हो कि मेरे प्रियतम जो कि मेरे अन्त करण मे ही विद्यमान हैं, कही तेरी इस बात को सुन लें।" जरा इस नायिका की परेशानी को देखिए—सखी ने मान-विधि सिखाई है और नायिका ने प्रयत्नपूर्वक मान की चेष्टायें धारण कर ली हैं—किन्तु उससे रहा नही जाता। उसने भ्रूभग रचा है किन्तु चितवन मे अधिक उत्कण्ठा दृष्टिगत हो रही है। चित्त को कठोर बना लिया है किन्तु शरीर फिर भी अत्यधिक रोमाचित हो रहा है। "मैंने अपनी वाणी रोक ली है किन्तु इस दग्ध मुख पर मुस्कराहट आ ही जाती है। जब प्रियतम के परोक्ष मे ही स्थित होने पर मान की यह दशा हो रही है तब भला यदि प्रियतम सामने आ गया तब मान का निस्तार किस प्रकार हो सकेगा।" नायक और नायिका ने एक-दूसरे से मान किया है। दोनो एक ही शय्या पर एक-दूसरे की ओर से करवट बदले हुए लेटे हैं। एक-दूसरे से बोलना-चालना बिल्कुल बन्द कर रखा है और रोष प्रदर्शन का अभिनय कर रहे है, यद्यपि एक-दूसरे के हृदय मे अनुनय करने की उत्कण्ठा विद्यमान है, तथापि गौरव की रक्षा कर रहे हैं। इसी समय दोनो के अपाग घूमते है और उनके नेत्र मिल जाते है। इस प्रकार उनका मान-कलह भग हो जाता है और दोनो हास, उत्तेजना और वेग के साथ एक-दूसरे के गले मे चिपट जाते है। यह तो हुई प्रणय-मान की बात, अब जरा ईर्ष्या-मान के भी एक दो नमूने देख लीजिये—नायिका प्रियतम के अपराधो से दुबली होती जा रही है, आशका, भय और कोप से उसके शरीर मे कम्पन उत्पन्न हो रहा है।

प्रियतम प्रेमपूर्वक पूछता है—"तुम्हारे शरीर मे इतनी कृशता क्यो उत्पन्न हो गई है, यह कम्पन क्यो उत्पन्न हो रहा है और तुम्हारे मुख पर कपोलो की पाण्डुता क्यो बढ रही है ?" इस प्रकार प्रियतम के पूछने पर नायिका ने भोलेपन से उत्तर दे दिया कि यह स्वाभाविक ही है। यह कह मु ह घुमाकर अपने पलको मे लगे हुए अपने आसुओ को एक गहरी सास के साथ गिरा दिया। नायिका के मनाने के समय का यह उत्तर-प्रत्युत्तर भी कितना सुन्दर है। नायक—"बाले ?" नायिका—"नाथ" (प्रियतम नही) नायक—"हे मानिनि ! यह रोष छोड दो ।" नायिका—"रोष करके मैंने क्या कर लिया ?" नायक—"तुम ने रोष करके मेरे हृदय मे खेद उत्पन्न कर दिया।"

नायिका—"तुम्हारे हृदय मे खेद क्यो उत्पन्न हुआ ? तुमने क्या अपराध किया है?" नायक—"फिर तुम गद्गद स्वर मे रो क्यो रही हो ?" नायिका—"मै किसके सामने रो रही हू ?" नायक—"यह देखो, मेरे ही सामने रो रही हो?" नायिका—"मै तुम्हारे सामने क्यो रोऊगी, मै तुम्हारी कौन लगती हू ?" नायक—"तुम मेरी प्रियतमा हो।" नायिका—"प्रियतमा ही तो नही हू इसीलिये तो रो रही हू।" मान की पराकाष्ठा भी देखिये, नायिका ने मान किया है, सखी समझाते-समझाते थक गई है। वह अन्त मे कहती है, "तुम्हारा प्राण-प्रियतम बाहर नीचे को सर किये हुए अपने नाखून से भूमि कुरेद रहा है। सखियो ने खाना-पीना छोड रखा है और निरन्तर रोते-रोते उनकी आंखें फूल गई है। पिंजडे मे बन्द शुको ने सारा हसना और पढना छोड रखा है। तुम्हारी यह दशा है, अरे कठोर हृदयवाली, अब तो मान छोड दो।" प्रवास के प्रसग मे ही नायिका की क्या दशा हो गई है, इसका भी एक चित्र देखिये। नायिका कह रही है—"प्रियतम के प्रस्थान का समाचार मिलते ही मेरे वलय निकलकर कलाइयो को छोड गये। मेरे प्यारे मित्र आसू भी निरन्तर जा ही रहे है। धैर्य क्षण भर भी रुकना नही चाहता, चित्त पहले ही जाने को तैयार बैठा है। प्रियतम ने जाने का निश्चय किया ही था कि यह सब साथ ही जाने को उद्यत हो गये। हे जीवन, जाना तुम्हे भी है ही फिर वलय, आंसू इत्यादि तुम्हारे जीवन के साथी हैं, इनका साथ क्यो छोड रहे हो ? तुम भी इन्ही के साथ क्यो नही चले जाते ?" सयोग शृ गार के भी दो-एक उदाहरण अच्छे है किन्तु इनकी सख्या बहुत ही कम है। दो एक उदाहरण देखिये— "कमरा अकेला है (सखिया छोडकर चली गई है)। नायक नीद का बहाना किये हुए लेटा हुआ है। नायिका वासगृह को शून्य और नायक को सोता हुआ देखती है। चुपके से उठती है और यह निश्चय करने के लिये कि क्या नायक वास्तव मे सो रहा है बडी देर तक उसके मुख को देखती रहती है। जब विश्वास हो जाता है कि नायक वास्तव मे सो रहा है तब स्वच्छन्दतापूर्वक उसका चुम्बन करती है और जब देखती है कि उसके चुम्बन करने से नायक का चेहरा प्रफुल्लित हो गया है

और कपोल रोमाचित हो गये है तव लज्जा से अपना सर झुका लेती है। प्रियतम उठता है और हसते हुए उस वाला (नवोढा) का वहुत समय तक चुम्बन करता रहता है।" जरा नायिका की निपुणता भी देख लीजिये। "दम्पति रात-भर बातें करते रहे। वही पर घर के शुक भी टगे हुए थे। शुको ने उन सव वातो को सुना और याद कर लिया। प्रात काल नायक और नायिका तथा समस्त गुरुजन और परिवार के लोग उपस्थित हैं। तोता सवके सामने ही रात की वातो को दोहराना प्रारम्भ कर देता है। नायिका चतुरतापूर्वक अपने आभूषणो मे से पद्मराग का एक टुकडा लेकर तोते की चोच मे रख देती है। तोता उसे अनारदाना समझकर कतरने लगता है और इस प्रकार उसका मुख मुद्रण हो जाता है तथा नायिका की लज्जा रह जाती है।" कही-कही सीधे-सादे वर्णन भी प्राप्त होते हैं—कोई व्यक्ति किसी अभिसारिका से पूछ रहा है—"हे वाले, इस घने अन्धकार मे तुम कहा जा रही हो?" अभिसारिका उत्तर देती है, "जहा मेरा प्राणाधिक प्रियतम निवास करता है मै वही जा रही हू।" वह व्यक्ति पूछता है—"तुम अभी वाला ही हो फिर भी अकेले तुम्हे भय क्यो नही लगता?" इस पर अभिसारिका कहती है—"धनुष चढाये हुए कामदेव हमारी सहायता के लिये उपस्थित है, फिर भला हमे भय किस वात का?" कही-कही पर कला का उत्कर्ष भी पर्याप्त मात्रा मे पाया जाता है। मगलाचरण मे कवि ने लिखा है—"शकरजी के वाण की अग्नि त्रिपुर युवतियो से जिसका व्यवहार अपराध मे आर्द्र-कामुक के समान रहा तुम्हारे सब दु.ख और दैन्य को काट डाले। जिस प्रकार अपराधी नायक नायिका को मनाने के लिये यदि उसका हाथ पकडता है तो नायिका झटककर उसे अलग कर देती है, उसी प्रकार जव शकरजी के वाण की अग्नि त्रिपुर-युवतियो के हाथ मे लगी तव उन युवतियो ने उसे झटककर अलग कर दिया। इसी प्रकार वस्त्र पकडने पर झटक दिया, वाल पकडने पर पृथक् कर दिया और चरणो मे गिरने पर सम्भ्रम के कारण उसे देखा भी नही।" इस प्रकार यह रचना शृगार रस की एक अद्वितीय रचना है। इसमे भावात्मकता और कलात्मकता दोनो का मनोहर सामजस्य है। अलकारो का वडा ही उचित और मधुर प्रयोग है। शैली सीधी-सादी और प्रसाद गुण पूर्ण है। भाषा शक्तिशालिनी है और दीर्घ तथा अस्वाभाविक समासो का सर्वथा अभाव है। सवसे वडी वात यह है कि सूक्तियो की दृष्टि से नही, इसके पद्य रस-निष्पत्ति की दृष्टि से लिखे गये है और पाठक के हृदय मे अपना अभूतपूर्व सौन्दर्य का जादू प्रसारित करने मे समर्थ है। वास्तव मे सहृदय व्यक्तियो पर अमरुक का एक वहुत वडा आभार है और हम अमरुक की कृति प्राप्त कर धन्य हो गये है।

(६) चौर पचाशिका—इस नाम की पुस्तक की दो प्रतिया प्राप्त हुई है। एक काश्मीर मे और दूसरी दक्षिण भारत मे। दोनो प्रतियो मे केवल ३४ पद्य ऐसे

है जो समान रूप से मिलते ह, शेप पद्य पृथक्-पृथक् है। इन दोनो प्रतियो मे इस के कर्ता का नाम विल्हण लिखा हुआ है। सम्भवत ये विक्रमाकदेवचरित के रचयिता ही विल्हण है। दोनो ही पुस्तको मे लिखा है कि कवि का गुप्त प्रेम एक राजकुमारी से था। इस रहस्य के प्रकट हो जाने पर राजा ने कवि को मृत्यु-दण्ड का आदेश दिया। कवि ने अपने प्रेम की अतीत घटनाओ के ससमरण मे प्रस्तुत पुस्तक के ५० पद्यो की रचना की और मृत्यु-दण्ड प्राप्त होने के पूर्व वह पुस्तक राजा की सेवा मे भेज दी। राजा पुस्तक की कोमल-कान्त पदावली, भावो की मनोहरता और कथा की रमणीयता से मुग्ध हो गये तथा मृत्यु-दण्ड का आदेश वापस लेकर अपनी पुत्री का विवाह कवि से करा दिया। पुस्तक देखने से भी इस कथा की सत्यता सिद्ध होती है। पुस्तक मे पुराने ससमरण ही है और पुस्तक से यह भी सिद्ध होता है कि इसकी नायिका राजकुमारी है। एक पद्य मे मृत्यु काल का वर्णन भी किया गया है। उक्त दोनो प्रतियो में राजा तथा राजकुमारी का नाम भी दिया गया है किन्तु दोनो प्रतिया परस्पर मेल नही खाती। काश्मीर की प्रति में लिखा है कि महिलापत्तन के वीरसिंह की पुत्री चन्द्ररेखा के साथ कवि का प्रेम था और उसी के प्रेम के स्मरण के रूप में इस ग्रन्थ की रचना की गई थी। दक्षिण की पुस्तक में लिखा है कि पाचालेश्वर मदनाभिराम की पुत्री यामिनी पूर्णतिलका से कवि का प्रेम था। टीकाकार राम तर्कवागीश के अनुसार इस पुस्तक में चौरपल्ली के राजकुमार सुन्दर के द्वारा कालिका की प्रार्थना कराई गई है जवकि वीरसिंह ने विद्या के साथ गुप्त प्रेम करने के अपराध में उन्हे मृत्यु-दण्ड दे दिया था। यह भी कहा गया है कि इस पुस्तक का कवि चौर था। विल्हण की दूसरी रचना से उनका किसी राजकुमारी के साथ प्रेम करना सिद्ध नही होता। सम्भव है विल्हण के चौरमय प्रेम की काल्पनिक कथा लेकर इस काव्य की रचना की गई हो। विल्हण काश्मीरी थे और दक्षिण के दरवार में रहे थे, सम्भव है कि यह विल्हण की ही कृति हो। इसकी रचना-शैली प्रौढ है जो कि विक्रमाकदेवचरित्र में उपलब्ध नही होती। इन दोनो काव्यो की शैलियो में इतना अतर है कि दोनो एक ही व्यक्ति की रचना है इस पर विश्वास करना कठिन हो जाता है। किन्तु दोनो काव्यो में प्रसाद गुण पूर्ण शैली अपनाई गई है। यद्यपि ग्रन्थ मे केवल चौरी प्रेम के स्मरण सचारी का ही प्रधानतया काव्य के विषय के रूप मे उपादान किया गया है तथापि काव्य मे एकरूपता नही आती और प्रेम के अनेक रूपो के इसमे दर्शन हो जाते है। कवि अनेक आनन्द-क्रीडाओ का स्मरण कर खेद का अनुभव करता है। "आज भी मुझे उस समय का स्मरण आ रहा है जवकि वह (राजकुमारी) दर्पण देख रही थी। सहसा मैं पीछे से आ गया। जैसे ही मेरी प्रतिमा दर्पण मे सक्रात हुई कि उस के अन्दर सहसा कम्पन उत्पन्न हो गया एक दम हडवडा गई, लज्जाकुल हो गई और उसमे विलास का आविर्भाव हो गया।" कितना सुन्दर भाव-शवलता का चित्रण।

है। राजकुमारी मे कितनी उत्कण्ठा है जरा इसके भी दर्शन कर लीजिये—"मै एक बार किवाड की आड मे छिपा खडा था। (किन्तु उसे मेरी उपस्थिति का पता नही था) वह अपने मुख को अपने हाथ पर रखे हुए मेरे ही मार्ग की ओर अपनी दृष्टि लगाये बैठी थी और कोमल काकली स्वरो मे ऐसे गानो को गुनगुनाती हुई गाने की इच्छा कर रही थी जिसमे मेरे नाम के वर्ण आ जाते थे। मैं अपने अन्त करण से उसकी दशा का स्मरण कर रहा हू ।"

इसके बाद सम्भोग का चित्र देखिये। "उसने अपनी भुजलताओ का कण्ठपाश मेरे कठ मे डाल दिया था और अपने दोनों स्तनो से मेरे वक्षःस्थल को परिपूर्ण रूप से वेष्टित कर कुछ थोडा अपने नेत्र प्रान्तो को सिकोडती हुई लीला और विलासो मे कटाक्ष करती हुई मेरी ओर देखती जाती थी और मुख का पान कर रही थी। आज भी मुझे उस भोले-भाले मुख वाली राजकुमारी की उस दशा का स्मरण हो रहा है।" सम्भोग के उपरान्त सोने के अवसर पर उसके शब्द भी कितने मधुर हैं—"एक बार वह (सहवास के उपरान्त) कुछ निद्रित हो गई थी। निद्रा से उसके नेत्र मिच गये थे। एक तो वह वैसे ही मदमस्त थी। उस समय निद्रावस्था मे ही बडबडाते हुए उसने कुछ शब्दो का उच्चारण किया जो कि बडे ही मधुर थे और जो न तो निरर्थक ही थे और न सार्थक ही। आज भी जब मुझे उन शब्दो का स्मरण हो आता है तब मेरे हृदय मे उन शब्दो की एक विचित्र प्रकार की प्रतिध्वनि उत्पन्न हो जाती है।" केवल सम्भोग शृगार ही नही वियोग शृगार की उत्कठा भी दर्शनीय है। प्रणय-मान और ईर्ष्या-मान दोनो का सुन्दर और सजीव वर्णन हुआ है। प्रणय-मान का चित्र देखिये—"रात मे हम दोनो लेटे हुए थे। वह कोप मे भरी हुई थी तथा मुझ से बोलती नही थी। इसी समय मुझे छीक आ गई। (छीक आने पर मगल कामना से कोई व्यक्ति या तो 'जीवेम शरद शतम्' कहे या कान मे स्वर्ण लगा दे—यह एक सामान्य परिपाटी है।) वह उस समय बोल नही सकती थी। अतएव उसने 'जीवेम शरदः शतम्' तो नहीं कहा परन्तु कान मे कनक पत्र लगा दिया। आज भी वह बात याद कर मेरे हृदय मे उसका चित्र घूम सा जाता है।" अब एक चित्र ईर्ष्या-मान का भी देखिये—"मुझ से अपराध हो गया था। मैं उसको मनाने के लिये उसके चरणो पर पडा हुआ था किन्तु उसने मेरी परवाह भी नही की और सहसा मुझे छोडकर जाने लगी। मैने उसके वस्त्र का छोर पकडा तो मेरे हाथ से झटक कर छुटा लिया और क्रोध मे भरकर कठोरता के साथ 'मुझ से मत बोलो', 'मुझ से मत बोलो' कहती हुई चली गई। आज भी मुझे उसके उस स्वरूप का ध्यान आ रहा है।" ये पद्य बडे ही सरस और उच्चकोटि की भावनाओ से भरे हुए है इसमे सन्देह नही।

(५) मयूराष्टक—बाण के श्वशुर मयूर का लिखा हुआ एक छोटा-सा ग्रथ है। इसमे शृगार रस के पद्य लिखे गये है। मयूर हर्ष के दरबारी कवि थे।

कहा जाता है कि एक वार वाण से उनकी पत्नी ने मान किया। वाण उसको रात भर मनाते रहे किन्तु वह मानने को उद्यत नही हुई। वाण ने उसको मनाते हुए एक पद्य वनाया .—

गतप्राया रात्रि कृशतनु शशी शीर्यतइ व।
प्रदीपोऽय निद्रावशमुपगतो घूर्णत इव ।।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो।

(हे प्रियतमे ! रात्रि प्राय व्यतीत हो चुकी है। चन्द्रदेव भी अपना सौन्दर्य खो चुके है। दीपक मानो निद्रावश झूम रहा है। मान की अवधि प्रणाम ही होनी चाहिये, फिर भी तुम क्रोध को नही छोड रही हो।) वाण यही तीन पाद वना पाये थे कि सहसा मयूर आ गये और उन्होंने चौथे पाद की पूर्ति कर दी :—

स्तनप्रत्यासत्त्या हृदयमपिते चण्डि कठिनम्।

(कठोर स्तनो के पास रहते-रहते हे कोपने ! तुम्हारा हृदय भी कठोर हो गया है।)

यह सुनकर मयूर-पुत्री (वाण की पत्नी) ने अकाल मे ही रस भग से दुखित होकर शाप दे दिया और मयूर कुष्ठी हो गये। इस कुष्ठ को दूर करने के लिये उन्होंने सूर्य-शतक की रचना की। तव कही कुष्ठ से इनका छुटकारा हुआ। इनका मयूराष्टक काव्य कला की दृष्टि से वहुत उच्चकोटि का नहीं कहा जा सकता। शैली क्लिष्ट और दुरूह है, जिससे ये उच्चकोटि के कवि ज्ञात नही होते। इनकी शैली वाण से वहुत अधिक मिलती है, इससे इनका वाण का समसामयिक होना सिद्ध होता है। एक नायिका का चित्र देखिये, जो कि प्रियतम से सम्भोग कराकर लौटी है —

एषा का स्तनपीनभारनमिता मध्ये दरिद्रावति।
विभ्रान्ता हरिणीव लोलनयना सत्रस्तयूथोद्गता।।
अन्त स्वेदगजेन्द्रगण्डगलिता सलीलया गच्छति।
दृष्ट्वा रूपमिव प्रियागगहन वृद्धोपि कामायते।।

(यह कौन स्थूल स्तनो के भार से मध्य मे झुकी हुई तेजी से वढती चली जा रही है। इसके नेत्र चचल हो रहे हैं मानो विभ्रम मे पडी हुई हरिणी डरे हुए मृगो के झुण्ड से भागकर आई है। इसके शरीर पर पसीने की बूदें आ गई है और कभी-कभी यह विलासपूर्वक चलने लगती है तव ऐसा प्रतीत होता है मानो मद गलित कपोलो वाली कोई हथिनी हो। इसके इस मधुर प्रिय अगो से गहन रूप को देखकर वृद्ध के हृदय में भी कामना उत्पन्न हो जाती है।)

आर्यासप्तशती—वारहवी शताब्दी के आस-पास लिखी हुई एक ७६० आर्याछन्दो की पुस्तक है। दूसरी रचना वगाल के लक्ष्मणसेन के पच रत्नो मे

अन्यतम गोवर्धन की लिखी हुई है और इसकी रचना का आदर्श हाल की गाथा सप्तशती रही है। कवि ने स्वय कहा है कि शृगार रस की जो धारा प्राकृत में प्रवाहित हो रही थी उसको मैने सस्कृत मे अवतीर्ण किया है। यह मेरा प्रयास ऐसा ही है जैसे भूमि पर प्रवाहित होनेवाली कालिन्दी को मैने आकाश मे पहुचा दिया हो। इससे सिद्ध होता है कि गाथा सप्तशती के ढग की एक पुस्तक सस्कृत मे भी प्रस्तुत करने का कवि का विचार था। इसीलिये कवि ने आर्याछन्द चुना जो कि गाथा के विलकुल अनुकूल पडता था। इस पुस्तक में ७०० आर्याछन्द है जिनको वर्णानुक्रम से क्रमवद्ध किया गया है। इसमे प्राकृत गाथाओ का अवाञ्छनीय अनुकरण है तथा ७०० की सख्या पूरी करने के लिये अनेक वार एक ही भाव आया है। रचना भी शिथिल है। यदि यह ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से लिखा गया होता, प्राकृत गाथाओ के अनुकरण की प्रवृत्ति न रही होती तो सम्भवत कवि को अधिक सफलता प्राप्त होती। कवि की प्रतिभा का अनुमान इसी वात से लगाया जा सकता है कि स्वय जयदेव ने इनकी प्रशसा मे कहा है—"शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्य—गोवर्धनस्पर्धी कोऽपि न विश्रुत।" आचार्य गोवर्धन ने अपनी सफलता की दर्पोक्तिया भी सरल भाषा मे की है। अपनी आर्याओ के विषय मे उन्होने लिखा है—"गोवर्धन की आर्याओ के पद रीति और गीत सभी कुछ कोमल है। ये रसपूर्ण आर्या सज्जनो के हृदयो का निरन्तर अभिसार करने वाली है, मदन के अद्वैत की उपनिषद् है और सर्वथा निर्मल है।" इसी प्रकार आर्याओ की ध्वनि, उक्ति इत्यादि की भी प्रशसा की है तथा अपने सन्दर्भ को कवियो के समर मे सिंहनाद करने वाला कहा है और अमृत से तुलना प्राप्त करने वाला तथा विश्व के आनन्द का मूल वतलाया है। यह दर्पोक्तियो की परम्परा इतनी अधिक वढ़ी कि परवर्ती कवि अपने को सर्वोत्तम धन्य घोषित करने लगे।

आचार्य गोवर्धन ने अधिकतर विषय हाल से ही लिये है तथापि उनमे सर्वत्र चमत्कार उत्पन्न करने की चेष्टा की है। यदि हाल का महत्त्व ध्वनि की दृष्टि से है तो गोवर्धन ने उसे अलकृत करने की चेष्टा की है। यदि गाथा सप्तशती मे विष्णु की कौस्तुभ मणि को भगवती लक्ष्मीदेवी का दर्पण कहा गया है तो गोवर्धन ने उसमे पुरुषायित काल मे मुख देखने की कल्पना कर ली है। गाथा मे "हे सुभग सहस्रो महिलाओ से भरे हुए तुम्हारे हृदय मे न समाती हुई वह नायिका प्रतिदिन दूसरा काम न करते हुए अपने कृश शरीर को और भी कृश वनाती जा रही है।" इस प्रकार नायिका की प्रेम दशा व्यक्त की गई है। आर्याकार ने इसमे नष्टकील की कल्पना वडी सुन्दर की है। "स्थूल और विशाल जघा तथा ऊरुओ वाली वह नायिका यद्यपि वाहर दृष्टिगत नहीं होती तथापि नायक के हृदय मे ऐसी समा गई है जैसे मानो पूरी तौर से कील गाड दी गई हो और वह दिखाई न

पड रही हो। इससे दूसरी नायिकाओ को हृदय मे आने का अवसर ही प्राप्त नही होता।" "नायिका दिन मे विनय से नम्र रहती है और रात्रि मे काम कला विलास से उसका शरीर शोभित रहता है। जिस प्रकार प्रज्वलित और शान्त औषध का प्रत्यभिज्ञान कठिनाई से हो सकता है उसी प्रकार रात और दिन मे वह एक ही है इस वात का ज्ञान भी कठिनाई से हो सकता है।" यही वात गाथा मे साधारण ढग मे कह दी गई है। "रति काल में सैकडो आदेश देती है और उसके कपोल निरन्तर हर्ष से विकसित रहते है किन्तु प्रात काल उसका मुख लज्जा से झुक जाता है। तब यही पता नही चलता कि यह वहा रातवाली ही नायिका है।" इस नायक की ओर भी देखिये जो ऐसी नायिका से तो प्रेम करता है जो उससे प्रेम नही करती और जो उससे प्रेम करती है उसकी ओर वह ध्यान भी नही देता' उसकी ऐसी ही दशा है जैसे समुद्र दोनो कूलो के वीच मे रहता है। समुद्र तो कूलों का स्पर्श किये रहता है किन्तु इस अभागे नायक को इनमें किसी का सम्पर्क प्राप्त ही नही होता। गाथा सप्तशती में इन शब्दो में उपालम्भ दिया गया है। "हे सुन्दर यद्यपि तुम धवल हो फिर भी तुमने हमारे हृदय को श्वेत नही किया। मैंने तुम्हे अपने अनुराग भरे हृदय में वसा लिया है किन्तु फिर भी तुम रक्त नही हो सके।" इसी आशय को लेकर आर्याकार ने लिखा है।' 'हे सखी! तुम महान् रसमय सुन्दर आशय वाले उसके हृदय मे निरन्तर निवास करती रहती हो फिर भी कुछ भी आर्द्रता तुम मे नही आती जिस प्रकार वडवाग्नि निरन्तर समुद्र मे रहती है फिर भी उसमे आर्द्रता नही आती।" किसी नायिका की कामना कितनी सुन्दर है— "यदि प्रियतम के वियोग मे मेरा हृदय फट भी जावे तो भी मुझे उसी प्रकार आनन्द का अनुभव होगा जिस प्रकार प्रियतम की सुरत-क्रीडा मे जोश के कारण शय्या के वस्त्र फट जाने मे आनन्द का ही अनुभव होता है।"

गाथा के समान आर्या मे भी स्थान-स्थान पर सदाचार की मर्यादा का उल्लघन पाया जाता है। कही पुष्पवती के सहवास का वर्णन किया गया है, कही पुआर पर देवर-भावज की सुरत-क्रीडा की व्यजना की गई है। कही पर-पुरुप-समागम के अवसर पर गृह-पति के आ जाने से उसे अपने नैहर का वताकर छुपाने की वात है और कही अन्धकार मे प्रियतम की भुजाओ पर मस्तक रखे हुए पर-पुरुप से सहवास की प्रशसा की गई है। कही-कही नग्न नायिका का पर्याप्त रूप मे वर्णन किया गया है। प्रियतमा के चरण प्रहार की वात तो एक साधारण सी वात है। "नायक चरणप्रहार के भय से कुपित नायिका को विलकुल छोडना नहीं चाहता क्या वायु से सचालित पर्णपुटो से ताडित होकर भ्रमर लता का परित्याग कर देता है।" नायक को इस प्रकार की मार मे भी आनन्द ही आता है। "क्रोध से चञ्चल नेत्र वाली होकर नायिका जैसे-जैसे अपने हाथो और पैरो से उस पर प्रहार करती जाती है नायक वैसे ही वैसे उसको और अधिक रुठाता जाता है।" यद्यपि परकीया नायिका का भी

वर्णन शास्त्रसम्मत है, तथापि वर्णन ऐसा होना चाहिये जिससे रस मे व्याघात उपस्थित न हो, आदर्श नीचे न गिर जावे और अश्रव्यता स्फुरित न होने लगे। साहित्यमर्मज्ञो का सिद्धान्त है कि औचित्य का उपनिबन्धन भी रस का सबसे बडा सहायक है। किन्तु असती, कुलजा प्रतिवेशिनी की आसक्ति का मर्यादा के उल्लघन के साथ वर्णन करना कभी समीचीन नही कहा जा सकता, जिसके आनन्द के सामने आचार्य गोवर्धन ब्रह्मानन्द को भी तृण मानते हैं वह आनन्द रसज्ञो का आनन्द कभी नही हो सकता। आचार्य गोवर्धन मर्यादा का इतना अधिक उल्लघन कर गये है कि शव के चुम्बन का भी वर्णन निसकोच रूप मे किया है। यद्यपि चमत्कार की दृष्टि से आर्या अच्छी बन पडी है और कही-कही अप्रस्तुत योजना भी सुन्दर है तथापि गाथा के आदर्श पर आर्याओ के लिखने का आचार्य गोवर्धन का दावा सत्य सिद्ध नही हो सका, इस मे सदेह नही।

संग्रह ग्रन्थो में उल्लिखित कवि[1]

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है अनेक कवियो की कृतियो का परिचय हमे केवल सग्रह ग्रन्थो और लक्षण ग्रन्थो से ही प्राप्त होता है, अन्यथा उनका कोई ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नही हो सका है। ऐसे कवियो मे पाणिनि नामक एक कवि का उल्लेख किया गया है। अभी तक तो यह समझा जाता था कि ये व्याकरणकर्ता ही पाणिनि है। किन्तु अब यह निश्चित रूप से सिद्ध हो चुका है कि ये दूसरे ही पाणिनि थे। इनके नाम पर उद्धृत पद्य बडे ही सरल और मनोहर है। "तन्वगी के स्तनो को देखकर युवक आनन्द विभोर होकर प्रशसा मे अपना सर हिलाने लगता है, मानो स्तनो के बीच मे गडी हुई अपनी दृष्टि को खीच-खीच कर निकालना चाहता है।" कोई स्त्री अपने प्रियतम के अपराध को सुनकर दुखित हो रही है और उसको समझाते हुए एक सखी कह रही है—"हे कृशोदरी! तुम्हारे हाथो के तलभाग बडे ही लाल वर्ण के है, इन पर तुम ने अपना क्षीण कपोल रख लिया है, उन कपोलो पर आखो के अञ्जन से मिले हुए आसू बहकर आ रहे है जिससे तुम्हारे लाल हाथ काले हुए जा रहे हैं। तुम व्यर्थ ही ऐसा क्यो कर रही हो? हे मुग्धे चञ्चलता के कारण भ्रमर कही जाकर किसी कन्दली का चुम्बन कर ले किन्तु क्या वह खिली हुई मालती के परिमल को भुला सकता है?" कही-कही पर इनका प्रकृति वर्णन बडा ही सुन्दर बन पडा है। "पूर्व दिशा ने देखा कि पश्चिम दिशा का सूर्य के साथ समागम हो रहा है और उससे उसका राग बढ़ रहा है तब पूर्व दिशा ने अपना मुख काला कर लिया। सच ही है स्त्रिया ईर्ष्या रहित हो ही नही सकती।" इसी प्रकार मेघ वर्णन मे "रात्रियो को क्षीण करके, बलात् नदियो के जल का अपहरण करके, समस्त पृथ्वी को तपाकर और समस्त वृक्षो के समूह को सुखा कर सूर्य

---

१ सग्रह ग्रन्थों में सुभाषित रत्न भाण्डागार विशेष प्रसिद्ध है।

न जाने कहाँ चला गया, इसी बात को देखने के लिये बिजली रूपी दीपक लिये हुए मेघ चारो ओर घूम रहे है।" इसी प्रकार बादलो की गरजना को चन्द्रबिम्ब रूपी बछड़े को न देखने के कारण रात रूपी गाय की हुंकार बतलाया गया है। निस्सन्देह ये एक उच्चकोटि के कवि सिद्ध होते हैं और हम इनकी मनोहर कृतियो से वंचित रह गये है। कही कही इन्होने असाधु शब्दो का प्रयोग किया है जिसमे भी यही ज्ञात होता है कि ये वैयाकरण पाणिनि से भिन्न कोई दूसरे ही पाणिनि थे।

सग्रह ग्रंथो मे ऐसे भी कवियो का उल्लेख मिलता है जिन की कविता विद्यमान नही है किन्तु काव्य की दृष्टि से उनका अधिक महत्त्व है। बहुत से पद्य ऐसे ही कवियो के नाम पर दिये गये है जिनके वे पद्य हो ही नही सकते। एक सखी नायक को नायिका की दशा कितनी सुन्दर व्यजना वृत्ति मे बतला रही है—"अब तुम विश्वस्त रहो और सतोष करो नायिका ने अपना साराबि योग-जनित दुःख दूसरो को बाट दिया है। निरन्तर निकलनेवाला नेत्र जल तो उसने अपने बान्धवो को प्रदान कर दिया, चिन्ता गुरुओ को समर्पित कर दी, दैन्य परिपूर्णरूप से परिजनो को प्रदत्त कर दिया तथा सन्ताप सखियो को दे दिया। अब केवल श्वासो का ही सताप उसे रह गया है। वह भी आज ही कल मे छोडनेवाली है।" सखिया तालवृन्त से नायिका के सताप को शात करने की चेष्टा कर रही है तब नायिका कहती है—"हे सखी रुको नलिनीदल ताल वृन्त से तुम मेरे ऊपर वायु क्यो कर रही हो? मेरे हृदय मे जो मदनाग्नि विद्यमान है वह कही प्रज्वलित न हो उठे।" वाक्कूट की नायिका के सताप की भी पराकाष्ठा है। देखो वह अपने प्रियतम को सदेश देती हुई क्या कह रही है—"हे पथिक यदि तुम्हें वहा जाना पडे जहा मेरा प्रियतम रहता है तो तुम कह देना कि ससार के लिये असह्य ग्रीष्म का सताप नवीन जल-पतन की सम्भावना से भयभीत होकर पुंजीभूत होकर विरहिणी के हृदय मे प्रविष्ट हो गया।" वाक्कूट को किसी ओर देखने का अवकाश ही नही—"एक ओर आम के वृक्षो पर धुएँ के समान भौंरे निरन्तर मँडरा रहे है। फूटनेवाली कलियो के उद्भेद से दूसरी ओर अशोक के वृक्ष प्रज्वलित हो रहे है। तीसरी ओर किंशुक की कलिया अगारो के समान दिखलाई पड रही है। कष्ट की बात है हम अपने नेत्रो को कहा विश्राम दें चारो ओर विधाता वाम ही प्रतीत हो रहा है।" प्रसिद्ध बौद्ध धर्मकीर्ति को इसी बात का दुःख है कि लोग बडे-बडे कवियो की बडी से बडी अत्युक्ति को सहन कर लेते हैं पर छोटे कवियो की अत्युक्ति को दोष बतलाया जाता है—"वानरो से लाये हुए शैलो से वाल्मीकि ने समुद्र ही बधवा दिया। वेदव्यास ने समुद्र का बन्धन अर्जुन के बाणो से ही करा दिया। फिर भी कोई भी उनकी अत्युक्ति की बात नही कहता। किन्तु हम सरीखो के प्रबन्धो मे लोग वाणी और अर्थ को तराजू के समान तोलते है और जरा भी कमी आई कि निन्दा के लिये मुंह फैला दिया। हे प्रतिष्ठे! मैं तुम्हें नमस्कार करता

हू ।" धर्मकीर्ति के शृगार-रस सम्बन्धी पद्य बडे अच्छे बन पडे है और लक्षण ग्रथो मे प्राय आचार्य उनके उदाहरण देते हैं ।

भारतीय साहित्य मे हास्य रस की सर्वत्र कमी रही है ।[१] किन्तु कही-कहीं अच्छी उक्तिया पाई जाती हैं । हास्यरस का आलम्बन वैद्य और ज्योतिषी ही प्रधान रूप से रहे है । एक कवि वैद्य को प्रणाम कर रहा है—"हे वैद्यराज मैं तुम्हे नमस्कार करता हू । तुम अनेक मानवो को नष्ट करने मे बडे ही निपुण हो । तुम्हारे ऊपर भार रखकर यमराज सुखपूर्वक विश्राम करते है ।" एक वैद्य का उत्तर कितना सुन्दर है । "हे वैद्य मुझे दाह का बहुत बडा ज्वर सतप्त कर रहा है । कोई औषधि बतलाओ ।" वैद्य उत्तर देता है—"एक शकोरा शराब पी लो और खपरे मे मेरे लिये भी लेते आओ ।" वैद्यो और ज्योतिषियो के अशुद्ध शब्दो पर किसी ने अच्छा कटाक्ष किया है—"व्याकरण रूपी सिह से डरे हुए अपशब्द रूपी मृग बेचारे कहा जावें यदि गुरुजन, ज्योतिषी, वैद्य और पडितो के मुख रूपी गह्वर उन्हे न मिल जावें ।" कही-कही समस्या पूर्तिया भी देखी जानी हैं । कालिदास अथवा किसी दूसरे कवि के किसी चरण को लेकर पद्य को पूर्ण करने की परम्परा रही है । क्षेमेन्द्र ने एक पद्य या एक पाद को लेकर पद्य को पूर्ण करना कवित्व के अभ्यास का एक साधन माना है और प्राय इस प्रकार की रचनायें प्राप्त हो जाती है । कालिदास से मेघदूत का अनुकरण अनेक कवियो द्वारा किया गया है । सबसे पहले घटकर्पर सामने आया । कहा जाता है कि यह कालिदास का बनाया हुआ है । किन्तु न तो इसकी सत्यता मे कोई प्रमाण ही है और न यह सम्भव ही प्रतीत होता है । इसमे एक विरहिणी नायिका ने वर्षा-काल के प्रारम्भ मे नायक के पास २१ पद्यो मे सदेश भिजवाया है । यह परिस्थिति मेघदूत के सर्वथा विपरीत पडती है । काव्य के अन्त मे लेखक ने कहा है कि यदि अनुप्रास तथा यमको मे मेरा कोई भी अतिक्रमण करेगा तो मै फूटे घडे मे उसका पानी भरूगा । इसी दावे के आधार पर पुस्तक का नाम घटकर्पर रखा गया है । प्रो० जैकोबी ने कल्पना की है कि यह पुस्तक मेघदूत से पहले लिखी गई होगी । क्योकि यदि यह बाद मे लिखी गई होती तो लेखक को इस प्रकार के दावा करने का साहस ही नही होता । किन्तु शैली इत्यादि से इस प्रकार की कल्पना का समर्थन नही होता । दूसरी बात यह है कि इसमे अनुप्रास तथा यमक के क्षेत्र मे सबका अतिक्रमण करने का दावा किया गया है जो कि किसी काव्य के मुख्यत्व का द्योतक नही है और न कालिदास के मेघदूत से इस दावे मे कोई विरोध ही आता है । इसमे कही-कही भावनायें कोमल तथा मनोरम है किन्तु सब बातो को देखने से यह रचना आधुनिक मनोवृत्ति का

---

१. हास्य रस के क्षेत्र में श्री नीलकण्ठ दीक्षित लिखित कलि-विडम्बन अच्छा काव्य है, परन्तु भारतीय साहित्य स्मित को ही उत्तम हास्य मानता है । लोट-पोट हो जाने वाली हसी अधमों की मानी जाती है । देखिए साहित्य दर्पण परि० ३ ।

अनुवर्तन करती हुई नही जान पडती। फिर भी रचनाकाल मे इसको अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ था जैसाकि इनको विक्रम के नवरत्नो मे स्थान दिये जाने से प्रमाणित होता है।

कुछ कवियो ने मेघदूत की पक्तियो को समस्या के रूप मे मानकर रचना की है[1] जिनमे चरित्रसुन्दर का लिखा हुआ शीलदूत अधिक प्रसिद्ध है। यह जैन कवि थे। इसने मेघदूत की प्रत्येक पक्ति को समस्या के रूप मे स्वीकार कर उसकी पूर्ति करने की चेष्टा की है। इसकी रचना प्रौढ है। अन्तिम पद्य मे कवि ने स्वय रचना काल दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि इसकी रचना १४२० मे हुई थी।

मेघदूत की पक्तियो को लेकर समस्या पूर्ति के रूप मे लिखा हुआ दूसरा ग्रन्थ "नेमिदूतम्" है। यह नेमि आचार्य जैनियो के तीर्थंकर है। जैन धर्म-प्रचारको ने सर्व साधारण को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये नेमि आचार्य का भगवान् कृष्ण मे सम्बन्ध स्थापित किया था। नेमि आचार्य भगवान् कृष्ण के बडे भाई थे। वैराग्यवश ये चित्रकूट चले गये थे और वहा तपस्या करना प्रारम्भ कर दिया था। विरह व्यथित होकर इनकी पत्नी राजीमती भी वही जाती है और अपनी विरह वेदना निवेदित कर अपने घर लौटा लाने की चेष्टा करती है। मेघदूत के समान ही वह पहले अपने प्रियतम को घर का मार्ग निर्दिष्ट करती है और बाद मे अपनी विरह-वेदना निवेदित करती है। कवि ने कालिदास की कला मे अपनी कला ऐसी मिला दी है कि सहसा भेद लक्षित करना असम्भव हो जाता है। वही वैदर्भी शैली, वही प्रसाद-गुणपूर्णता और वही माधुर्य इन गीतिकाओ मे भी समुपलब्ध होता है, जिनके दर्शन हमे मेघदूत मे हुए थे। ग्रन्थ देखने से प्रतीत होता है कि कवि प्रतिभाशाली है और रचना-कौशल भी उसमे पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है। मेघदूत की अतिम पक्ति प्रत्येक पद्य के अन्त मे आती है।

इस परम्परा मे पार्श्वाभ्युदय भी अधिक प्रसिद्ध है। इसमे मेघदूत की प्रत्येक पक्ति को लेकर समस्या पूर्ति के रूप मे रचना की गई है और इस प्रकार समस्त मेघदूत को भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति मे वेष्टित कर लिया गया है।

मेघदूत की परम्परा मे सनेह रासय (सदेश रासक) एक अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है। इस ग्रन्थ की रचना मुलतान निवासी अब्दुल रहमान ने ११ वी शताब्दी के अतिम चरण मे की थी। इस ग्रन्थ मे विजयनगर की प्रोषितपतिका स्तम्भ तीर्थ को जानेवाले सामोह के एक पथिक के द्वारा धन प्राप्त करने की इच्छा से स्तम्भतीर्थ मे रहने वाले अपने प्रियतम के पास सदेश भिजवाती है। यह ग्रन्थ तीन भागो मे विभाजित किया गया है। पहले भाग मे कवि-परिचय तथा कवि का

१ मेघदूत-खण्ड काव्य तथा मुक्तक काव्य दोनों रूपों का माना जाता है, परन्तु मेघदूत के आधार पर लिखे हुए काव्य मुक्तक ही हैं।

आत्म निवेदन है। सदेश का वास्तविक विषय दूसरे भाग से प्रारम्भ होता है। विजयनगर की एक प्रोषितपतिका अपने प्रियतम की वियोग दशा से पीडित है। इसी समय वह एक पथिक को जाते हुए देखकर शीघ्रतापूर्वक उसकी ओर बढती है। उस नायिका के वस्त्रो तथा अगो की अस्तव्यस्तता का वर्णन बडी ही कवित्व-पूर्ण शैली मे किया गया है और हमे रघुवश तथा कुमारसम्भव की अज तथा शकर को देखने के लिये उत्कठित रमणियो की स्मृति दिलाता है। वह विरहिणी उस पथिक के परिचय तथा गन्तव्य स्थान के विषय मे पूछती है और पथिक सामोह का कुछ विस्तृत वर्णन कर अपने गतव्य स्तम्भतीर्थ को बतलाता है। इस पर नायिका उमड पडती है और उस पथिक से अपना सदेश ले जाने की प्रार्थना करती है। पथिक यात्रा की शीघ्रता मे है परन्तु विरहिणी के आसू उसको विरह दशा सुनने के लिये विवश कर देते है। वह विरहिणी से प्रियतम के वियोग की ऋतु के विषय मे प्रश्न करता है और तृतीय भाग मे नायिका बडे विस्तार से षड्ऋतु वर्णन करती है। नायिका सदेश देकर जैसे ही परावृत होती है वैसे ही उसका प्रियतम आ जाता है और काव्य दोनो प्रणयी व्यक्तियो का सयोग कराकर समाप्त हो जाता है। काव्य मे सामोह के पेड-पौधे तथा नागरिक जीवन के वर्णन, विरह वर्णन, षड्ऋतु वर्णन इत्यादि की प्रधानता है और इन्ही फुटकर विषयो को लेकर पद्यो की रचना हुई है। केवल उनमे एकसूत्रता स्थापित करने के उद्देश्य से पथिक की सक्षिप्त कहानी गढ ली गई है। यद्यपि रचना एक मुसलमान की है किन्तु कवि ने इतना अधिक हिन्दू शैली को आत्मसात् किया है कि इसमे किसी अहिन्दू की कृति होने का भान ही नही होता। कवि ने रचना मे पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

स्त्री कवयित्रियां —

सग्रह ग्रन्थो और प्रशस्तियो मे अनेक स्त्री कवयित्रियो का उल्लेख प्राप्त होता है। किन्तु इनका कोई भी मुक्तक सकलन अभी तक समुपलब्ध नही हो सका है। सग्रह ग्रन्थो मे जहा कही भी उदाहरण के रूप मे इनकी कवितायें उद्धृत की गई है उससे ज्ञात होता है कि समय-समय पर अनेक कवयित्रिया होती रही हैं और इनकी कवितायें भी पुरुषो से किसी प्रकार कम नही होती थी। यदि इनकी रचनाओ का पूर्ण और सुव्यवस्थित सकलन सुरक्षित रखा गया होता तो उसका हमारे काव्य-जगत् मे बडा ही महत्वपूर्ण स्थान होता। किन्तु खेद है कि आज हमे इन कवयित्रियो के फुटकर पद्य ही यत्र-तत्र बिखरे हुए दिखाई देते है और कुछ का तो केवल नाम ही उपलब्ध होता है। अनेक कवयित्रियो की प्रशसा मे तो सूक्तिया भी प्रसिद्ध हैं। काव्य मे सर्वोत्तम वैदर्भी रीति मानी जाती है और उसके बाद पाचाली का नम्बर आता है। वैदर्भी रीति के सर्वोत्तम कवि कालिदास हैं और पाचाली रीति के बाणभट्ट। किन्तु यदि इनके बाद दूसरा किसी का नाम आता है तो वे स्त्री कवयित्रिया ही हो सकती है। वैदर्भी रीति मे कालिदास के बाद सरस्वती के समान कविता मे निपुण विजया कर्णाटी का नाम ही आता है —

सरस्वतीव कर्णाटी विजयाका जयत्यसौ ।
या वैदर्भगिरा वास कालिदासादनन्तरम् ।।

सम्भवत ये वही कर्णाटी (कर्णाट-राजप्रिया) है जिन्होने अपने विषय मे लिखा है—"एक कवि (ब्रह्माजी) कमल से उत्पन्न हुए। दूसरे (वेदव्यास) नदी तट पर उत्पन्न हुए तथा तीसरे (वाल्मीकि) वल्मीक से प्रादुर्भूत हुए। ये महान् कवि है। इन्हे हम नमस्कार करती है। किन्तु यदि आजकल के कविगण अपनी गद्य-पद्य रचनाओं से चित्त को चमत्कृत करने का दावा करते हो तो कर्णाट-राज की पत्नी मैं उनके सर पर अपना बाया चरण रखने को प्रस्तुत हू।"

इसी प्रकार पाचाली रीति मे भी बाण के बाद शील भट्टारिका का ही नाम लिया जा सकता है।

शब्दार्थयो समो गुम्फ पाचाली रीतिरिष्यते।
शीलभट्टारिका-वाचि बाणोक्तिषु च सा यदि ।।

स्त्री कवयित्रियो मे सबसे अधिक विज्जिका का नाम लिया जाता है। विज्जिका की निम्नलिखित गर्वोक्ति कितनी चमत्कारपूर्ण है —

नीलोत्पलदलश्यामा विज्जिका मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्त सर्वशुक्ला सरस्वती ।।

"दण्डी ने कहा है कि सरस्वती सर्वथा श्वेत है। मालूम पडता है दण्डी ने मुझे देख नही पाया था। मै विज्जिका तो नीलोत्पल के समान श्यामवर्ण की हू। फिर उन्होने (मुझ सरस्वती को) सर्वशुक्ला कैसे लिख दिया।"

विकटनितम्वा के विषय मे यह उक्ति कितनी सुन्दर है

के वैकटनितम्बेन गिरा गुम्फेन रजिता ।
निन्दन्ति निजकान्तानाम् न मौग्ध्यमधुर वच ।।

"ऐसे कौन लोग हैं जो विकटनितम्वा की वाणी के समूह से अनुरक्त होकर अपनी प्रियतमाओ के मुग्धता के मधुर वचनो का तिरस्कार नही करते।"

इसी प्रकार —

सूक्तीना स्मरकेलीना कलाना च विलासभू ।
प्रभुदेवी कविर्लाटी गतापि हृदि तिष्ठति ।।

प्रभुदेवी नाम की लाट देश की कवयित्री जो कि सूक्तियो, काम-क्रीडाओ और कलाओ की विलासभूमि थी यद्यपि आज इस लोक मे नही है तथापि सहृदयो के हृदयो मे अपना घर किये हुए है।

विकटनितम्वा, विज्जिका, मारुला और मोरिका इत्यादि कवयित्रियाँ अधिक प्रसिद्ध है, इनकी रचनाओ मे सर्वत्र शृगार रस की ही प्रधानता है। एक कवयित्री की वैदग्ध्य भगी भणिति का एक नमूना देखिये —

धन्यासि या कथयसि प्रियसगमेऽपि,
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।।

नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण,
सख्य शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि ।

कोई नायिका सखियो की गोष्ठी मे प्रियतमो के साथ प्रेमालाप करने की चर्चा चलने पर कहती है—सखियो, तुम धन्य हो जोकि प्रियतम के समागम के अवसर पर सैकडो प्रकार के प्रेमालाप स्वच्छन्दतापूर्वक कर लेती हो । मेरी तो नीवी की ओर प्रियतम जैसे ही हाथ बढाते हैं (मै इतनी आनन्द विभोर हो जाती हू) कि मै शपथ खाकर कहती हू कि मुझे कुछ भी स्मरण ही नही रहता कि मैं कहा हू ।

यह श्लोक कितना सुन्दर है —

चतुर सखि मे भर्ता स्वय हि यल्लिखति तत्परो न वाचयति ।
तस्मादप्यधिको मे स्वयमपि लिखित स्वय न वाचयति ॥

कोई स्त्री कह रही है—"हे सखी मेरा पति बडा ही निपुण है जो कुछ लिख देता है उसे कोई पढ ही नही सकता ।" "इस पर दूसरी स्त्री उत्तर देती है—"इससे भी अधिक मेरा पति निपुण है कि स्वय लिखा हुआ स्वय ही नही पढ सकता ।"

इन कवयित्रियो की नीति-सूक्तियो मे भी शृ गार रस का पुट पाया जाता है ।

प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा के मुक्तक

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है प्रेमप्रधान शृ गारिक रचनाओं के लिये देश भाषाओ को ही प्रमुखता दी जा रही थी । पहले प्राकृत भाषाओ मे शृ गार रस के मुक्तक लिखे जाते थे फिर उनका स्थान अपभ्र श भाषाओ ने ले लिया । हमे प्राकृत और अपभ्र श मुक्तको की कोई भी क्रमबद्ध परम्परा उपलब्ध नहीं होती और न उसका कोई महत्त्वपूर्ण सकलन अभी तक अधिगत हो सका है । श्वेताम्बर जैन जयवल्लभ कृत वज्जलग्ग एक प्रसिद्ध रचना है । इसका समय निश्चित नही है । इसमे चरित्र-व्यवहार और प्रेम सम्बन्धी कविता है । प्रेम-सम्बन्धी पद्य सम्पूर्ण ग्रथ मे दो-तिहाई मे है । इसमे अपभ्र श मिश्रित महाराष्ट्री मे आर्याछन्द का प्रयोग किया गया है ।

अपभ्र श के रसात्मक मुक्तको के सकलन की दृष्टि से हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है । यह व्याकरण सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन और सिद्धहेमचन्द नाम से प्रसिद्ध है । वस्तुत अपभ्र श भाषा की कविता के विकास की दिशा मे जितना उपकार इस एक ग्रन्थ से हुआ है उतना दूसरे ग्रन्थ से नही हुआ । इसमे उदाहरण के रूप मे प्राकृत, सस्कृत और अपभ्र श तीनो के उदाहरण दिये गये हैं । प्राकृत और सस्कृत जनसमाज मे अधिक समादृत थीं । अतएव लेखक ने इन दोनो भाषाओ के शब्दो का उद्धरण मात्र ही पर्याप्त समझा किन्तु अपभ्र श भाषा की पूरी गाथायें दे दी है । इनका समय ईसा की १२वीं

शताब्दी है। ये गुजरात के सोलकी नरेश सिद्धराज जयसिंह तथा उनके भतीजे कुमारपाल के सभा-भूषण थे और इनके दरबार मे हेमचन्द्र का सर्वाधिक सम्मान था। इन्होने ही अन्त मे कुमारपाल को जैन धर्म मे दीक्षित किया था। कहा जाता है कि सिद्धराज जयसिंह के आदेश से ही हेमचन्द्र ने व्याकरण की रचना की थी। वास्तविकता यह है कि यदि इन महानुभाव का आविर्भाव न हुआ होता तो अपभ्रंश की महती साहित्य-राशि के प्रकाश मे आने मे एक बहुत बडा व्याघात उपस्थित हो जाता। इस व्याकरण मे जो उदाहरण सकलित किये गये है वे एक काल की रचना नही जान पडते। अभी तक यह पता नही चलाया जा सका है कि इन मुक्तको का सकलन किन ग्रन्थो से किया गया है।

इन उदाहरणो मे स्थान-स्थान पर शृगार रस के बडे ही उत्कृष्ट पद्यो का समावेश हुआ है। इनको देखने से हमे हाल की गाथाओ का स्मरण हो आता है।

प्रिय सगमि कउनिद्दडी पियेहापरक्खहोकेंव।
मयि बिन्निवि विन्नासिया निंदन ऐवन तेंव॥

(प्रियतम के समागम मे नीद कहा और प्रियतम के वियोग मे भी नीद कहा? मैं दोनो प्रकार से नष्ट हुई। नीद न ऐसे ही आती है और न वैसे ही।)

सखी कितनी निपुणता से नायक की विरह-व्यथा का वर्णन कर नायिका को नायक की ओर आकर्षित करना चाहती है—

विही एमइँ भणिय तुहुँ माकुरुवाकी दिट्ठि।
पुत्तिसकरणी पल्लिजिव मारयिहियइ पइट्ठि॥

(हे बिटिया, मैंने तुझ से कहा था कि बाकी दृष्टि मत कर। हे पुत्री, वह अनीदार बर्छी की भाति हृदय मे प्रविष्ट होकर मारती है।)

एक नायिका की कथा सुनिये -

अगहि अगुन मिलिउ हलि अह रे अहरुन पत्तु।
पिअ जोअन्तिहे मुह कमलु एत्वइ सुरउ समत्तु॥

(हे सखी, न तो प्रियतम के अग मे अग ही मिला और न अधर को ही अधर प्राप्त कर सका। प्रियतम का मुख कमल देखते ही देखते यो ही सुरत समाप्त हो गया।)

कही-कही अत्युक्ति भी मनोरम बन पडी है। प्रियतम के आगमन के अवसर पर नायिका की चूडिया एक दम टूटकर गिर जाती है क्योकि वह आगमन की प्रसन्नता मे इतनी अधिक मोटी हो जाती है। इसी प्रकार वियोग होते ही एक क्षण मे चूडिया निकलकर भूमि पर गिर जाती है।

पइ मेलन्तिहें मुहुमरणु मइ मेलन्त हो तुज्झु।
सारसु जसु जो वेग्गला सोविकृदन्त हो सज्झु॥

(तुझे छोडते हुए मेरा मरण है और मुझे छोडते हुए तेरा मरण है। सारस के समान जो दूर रहेगा वह कृतान्त का साध्य होगा।)

कही-कही उद्दीपनो का समावेश भी अच्छा है। उद्दीपनो मे पपीहा पर विशेष रूप से सूक्तिया प्राप्त होती हैं।

उअकणिआर पफुल्लि अउकचण कंति पयासु।
गोरी वयण विणिज्जिअउ व सेवइ वणवासु।।

(यह देख कचन के समान कान्ति वाला कर्णीकार प्रफुल्लित हो गया। ऐसा मालूम पडता है जैसे मानो गौरी के वदन से पराजित होकर वनवास सेवन करता हो।)

निम्नलिखित उत्प्रेक्षा भी कितनी सुन्दर है —

विम्वाहरि तणुरयण वणु किहिठिड सिरिआणन्द।
निरुवम रसु पियें पियेविजणु सेसहोदिण्णीमुद्द।।

(सखी के विम्वाधर पर रदन-व्रण (दन्तक्षत) की आनन्दश्री कैसी स्थित है। निरुपम रस पीकर प्रियतम ने मानो शेष पर मोहर लगा दी है।)

भण सहि निहुअउ तेवं मइ जइ पिउ दिट्ठु सदोसु।
देव न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडअतासु।।

(हे सखी यदि मेरा प्रियतम सदोप है तो यह वात मुझसे ऐसे एकान्त में कहो जहा मेरा मन भी न जान सके क्योकि यह प्रियतम का पक्षपाती है।)

नायिका प्रियतम को सदेश देने मे लज्जित होती है क्योकि एक तो वह प्रवास मे साथ नही गई और दूसरे वियोग हो जाने पर मरी नही। यह नायिका कितनी रूपगर्विता है। इसे विश्वास ही नही होता कि प्रियतम चले ही जावें— "यदि प्रियतम जा रहे हैं तो जाने दो रोको नही। मैं भी देखू कि यह कितने पग चल सकते हैं। हृदय मे तिरछी होकर तो मैं ही अडी हू प्रियतम केवल जाने का आडम्बर कर रहे हैं।"

एकाध पद राधा और कृष्ण के प्रेम मे सम्वन्धित भी है —

हरि नचाविअ पगणइ विह्मइ पाडिउ लोउ।
एवहिं राह पओहरह जभावइ त होउ।।

(हरि को प्रागण मे नचाया। लोगो को विस्मय मे डाल दिया। अव राधा के पयोधरो को जो भावे सो हो।)

कही कोई नायिका सन्ध्या समय मे प्रियतम से कलह कर लेने पर पश्चात्ताप कर रही है, कही नित्यप्रति शीत को कलकित करने पर पश्चात्ताप किया जा रहा है। कही किसी पथिक को आसुओ और श्वासो से अचल को गीला-सूखा करती गे नही हुई री के दर्शन होते हैं। एक नायिका का चित्र और देखिये —

उदाहरण दिये ॥ वलयावलि निवडणभएणधण उद्धब्भुअजाइ।
अतएव लेखक ने इन द॥ वल्लह विरह मह दहहो थाइ गवेसइ नाइ॥

किन्तु अपभ्रंश भाषा की पूर् रह व्यथा से इतनी कृश हो गई है कि इस डर से कही वलय

न गिर जावें निरन्तर ऊपर को वाहु उठाकर ही चला करती है । तव ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रियतम के विरह सरोवर की थाह ले रही है ।)

किन्तु इन उदाहरणो मे नायिकाए प्रियतम की विरह-व्यथा मे जलने और कुढने वाली ही नही है और न इतनी कोमल ही है कि कपोलों पर गुलाव की पखुडी लगने से शरीर मे खरोंच पडने का भय हो । इनमे अनेक नायिकायें वडी ही वीर वृत्ति वाली है और केवल रसिक ही नही अपितु गुणवान् तथा वीर पति की कामना करती है । इस प्रकार इन गाथाओ मे वीरभावो की वडी ही सुन्दर व्यजनायें स्थान-स्थान पर लक्षित होती हैं और वीरो के गुणो का काव्य शैली में वडा ही मनोरम चित्रण किया गया है ।

निम्नलिखित पद्य वहुत ही प्रसिद्ध हैं —

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कतु ।
लज्जेजं जु वय सियहु जइ भग्गा घर एतु ।।

(हे वहन, यदि मेरा पति मारा गया तो यह अच्छा ही हुआ । यदि वह भागकर घर आता तो मुझे समवयस्काओं मे लज्जित होना पडता ।) एक नायिका पार्वती जी से क्या मागती है —

आयहिं जम्महिं अन्नहिं विगोरि सुदिज्जहि क तु ।
गय मत्तह चत्तकुसह जो यब्भिडइ हसन्तु ।।

(हे गोरी ! इस जन्म मे और दूसरे जन्म मे भी वह कन्त दीजिये जो मत-वाले और त्यक्ताकुश गजो से हसता हुआ जा भिडे ।)

इस नायिका को प्रियतम की सिंह की उपमा भी अच्छी नही लगती .—

क तुजु सीहहो उवमिग्रहत महु खण्डिउ माणु ।
सीहु निरक्खय गयहणइ पिउ पय रक्ख समाणु ।।

(प्रियतम जो सिंह से उपमित हुआ उससे मेरा मान खण्डित हुआ । सिंह नीरक्षक (रक्षक रहित) गजों को मारता है जव कि प्रियतम पद रक्षको सहित गजों को मारता है ।)

एक नायिका के प्रियतम मे सभी गुण हैं किन्तु केवल दो दोष उसे अखरते हैं एक तो यह कि दान देते हुए केवल नायिका ही वच गई और युद्ध करते हुए केवल तलवार शेष रही । इसी प्रकार एक नायिका को केवल यह चिन्ता है कि उसके प्रियतम के युद्ध करने पर कोई भी कपाल विना फूटे नही रहता । अव तो वेचारे कापालिक अभग्न कपाल के अभाव मे अपनी साधना किस प्रकार करेंगे । एक दूसरी नायिका अपने प्रियतम की इस वीर वृत्ति को देखकर आनन्दित हो रही है कि उसके प्रियतम के पैरो मे आतें उलझी हुई हैं, कन्धे पर सर झूल रहा है फिर भी उसके हाथ से तलवार नही छूटती । वह अपने प्रियतम की इस वीर वृत्ति पर निछावर हुई जा रही है । कही-कही सर्वसाधारण मे भी वीर भाव की अच्छी अभिव्यक्ति दिखाई पडती है ।

नायिकाओ के सौन्दर्य का वर्णन भी पर्याप्त मात्रा मे पाया जाता है। वयः सधि के कुछ अच्छे पद्य विद्यमान है। स्तनो के वीच की दूरी इतनी कम है कि नायक का मन भी वहा नही पहुच पाता। साथ ही विस्तार का भी अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है। स्तन इतने वढ जाते है कि प्रियतम अधर चुम्बन कर ही नही पाता। यह तो लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। एक नायिका की कामना भी प्रशसनीय है कि यदि प्रियतम का समागम उसे प्राप्त हो जावेगा तो वह उस के अगो मे ऐसे ही समा जावेगी कि जिस प्रकार मिट्टी के घडे मे पानी समा जाता है।

अपभ्रशभाषाओ के ये मुक्तक नि सदेह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अभी तक उस मूल स्रोत का अनुसन्धान ही नही किया जा सका जहा से यह सकलन प्रस्तुत किया गया है। यदि मूल गाथा सकलनो का कभी अन्वेषण किया जा सका तो साहित्य-जगत् मे यह एक वडी ही महत्त्वपूर्ण खोज होगी और हम महत्त्वपूर्ण काव्य राशि को प्राप्त कर सकेंगे। कतिपय स्फुट मुक्तक इधर-उधर विखरे हुए मिलते है।

(३) तृतीय चरण—भक्ति-काल

विक्रम की १२वी शताब्दी के अन्तिम चरण मे मुक्तक-काव्य जगत् में नवीन परिवर्तन उपस्थित हुआ। इस समय से लेकर काव्य जगत् मे हमे नई गति-विधि, नई शैली, नये विषय और नई विचारधारा के दर्शन होते है। रसात्मक मुक्तक के क्षेत्र मे अभी तक नायक और नायिका अनिर्दिष्ट ही रहते थे। किन्तु इस समय से लेकर नायक-नायिका के प्रतिष्ठित पद पर विशिष्ट व्यक्ति स्थापित कर दिये गये। यद्यपि यह प्रवृत्ति सर्वथा नवीन नही थी जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है। सामान्य वर्णन के वीच-वीच मे कही पर राधा-कृष्ण, गोपी-कृष्ण, शिव-पार्वती इत्यादि को शृगारिक लीलाओ का वर्णन भी दृष्टिगत हो जाता है किन्तु इस प्रकार की रचनाओ की सख्या इतनी न्यून है कि हम उसके आधार पर इस प्रकार की रचना को समय की सामान्य प्रवृत्ति नही मान सकते। इसके प्रतिकूल १२वी तथा १३वी शताब्दी से निर्दिष्ट विभावो के विषय मे रचना करने की एक सामान्य प्रवृत्ति वन गई। यद्यपि इस काल मे भी दो-चार रचनायें पुरानी शैली पर भी अनिर्दिष्ट विषयक पाई जाती है तथापि समय की सामान्य प्रवृत्ति निर्दिष्ट व्यक्तियो के विषय मे ही रसात्मक रचना करने की वन गई थी।

ये निर्दिष्ट व्यक्ति राधा-कृष्ण या गोपी-कृष्ण थे। कुछ कवियो ने राम-सीता तथा शिव-पार्वती को लेकर भी मुक्तक रचनाएँ की है। विशिष्ट व्यक्ति देव या देवकल्प ही थे। अतएव इस काल को दिव्य काल या भक्ति काल के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इस परिवर्तन मे उस समय की सामाजिक, धार्मिक तथा दार्शनिक परिस्थिति मूल कारण थी। अतएव उस पर सक्षिप्त विचार कर लेना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

(क) सामाजिक स्थिति

आलोच्य काल राजनीतिक पतन का काल था। हर्ष के बाद कन्नौज की केन्द्रीय शक्ति क्षीण हो जाने पर भारत छोटे-छोटे राज्यो मे विभाजित हो गया था और ये राज्य परस्पर सघर्ष मे भारत की शक्ति क्षीण करतेजा रहे थे। इस परिस्थिति का अनुचित लाभ लेकर विदेशी आक्रान्ता (मुसलमान) अपना पैर जमाते जा रहे थे। धीरे-धीरे विदेशी सस्कृति को अपने साथ लेकर आई हुई मुसलमान जाति भारतीय समाज के साथ घुल-मिल गई थी और उसका प्रभाव भी समाज पर पर्याप्त मात्रा मे लक्षित होने लगा था। दूसरी ओर हिन्दू समाज मे बौद्ध धर्म के ध्वसावशेष वज्रयानियो का प्राधान्य बढ गया था। हिन्दू-समाज मे यह युग तन्त्र-युग के नाम से पुकारा जाता है।

तन्त्र साहित्य का अवलोकन करने से उस समय की सामाजिक स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। वैसे तो अथर्ववेद मे ही अनेक प्रकार के जादू-टोने, वशीकरण, मारण-मोहन, उच्चाटन इत्यादि के दर्शन होते है किन्तु ईसा की चौथी शताब्दी के आस-पास महायानियो ने धारणी नाम से नये साहित्य को जन्म दिया जिसमे जादू-टोने इत्यादि के लिये एक वर्ग ही बन गया और उसे अति शीघ्र प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई। ११वी १२वी शताब्दी तक पहुचते-पहुचते सर्वसाधारण में अन्धविश्वास का प्राधान्य हो गया और इस क्षेत्र मे मिथ्याडम्बर की प्रतिष्ठा बढ़ गई। अशिक्षित तथा आडम्बर धारण करने वाले व्यक्ति जनता के आदर भाजन बन गये। तन्त्र, यन्त्र, मन्त्र इत्यादि की प्रधानता हो गई और छोटे-छोटे बीज मन्त्रों की शक्ति पर विश्वास किया जाने लगा।

हिन्दू समाज मे हमें इस समय तीन सम्प्रदायो के दर्शन होते है—शाक्त, शैव तथा वैष्णव। शाक्त साहित्य को तन्त्र कहा जाता है। इसी प्रकार वैष्णवो की सहितायें तथा शैवो के आगम प्रसिद्ध है। तीनो पुस्तको मे एक ही सी बातें पायी जाती है। ये पुस्तकें रहस्यमयी पुस्तकें मानी जाती थी और बिना गुरूपदेश के इनको पढने का किसी को अधिकार नही था। इनके मन्त्र साधक के कान मे दिये जाते थे और इस प्रकार गुरु से कान फुंकवा कर साधक स्वय सिद्ध बन जाता था तथा दूसरे को उपदेश देने लगता था। सिद्ध होने तथा गुरुत्व को प्राप्त करने के लिये न तो उच्च शिक्षा ही अपेक्षित थी और न साधना। मन्त्र को कान मे फुकवा लेना ही पर्याप्त था।[1] तन्त्र ग्रन्थो मे योग साधना पर बल दिया गया है। किन्तु वह योग साधना परमात्मा से एकता प्राप्त करने के लिये नही अपितु जादू की शक्ति प्राप्त करने के लिये होती थी। इसी प्रकार सर्वसाधारण को अपनी ओर खीचने के लिये महात्माओ को कुछ न कुछ दार्शनिक उपदेश भी देना पडता था। किन्तु यह

१ आचार्य शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास।

दार्शनिक उपदेश किसी सिद्धान्त विशेष पर स्थिर नही होता था और न इसमे कोई व्यवस्थित विचार धारा ही चलती थी। तन्त्रो मे कही अद्वैतवाद की छाप दिखाई पडती है और कही एकेश्वरवाद की। इसके अतिरिक्त तन्त्र ग्रन्थो मे उत्सव, रीति-रिवाज तथा सामाजिक स्थिति का भी वडे विस्तार से वर्णन किया गया है।[1]

विण्टरनित्ज ने लिखा है कि "हिन्दुत्व के दूसरे विषयो मे जो बात सत्य है उससे भी अधिक मात्रा मे शाक्त तन्त्रो के विषय मे यह बात कही जा सकती है कि इनमे मनुष्य के मस्तिष्क के द्वारा सोचे हुए ऊचे से ऊचे और नीचे से नीचे विचार साथ-साथ पाये जाते है। शाक्तो की पवित्र पुस्तको मे एक ओर देवत्व के विषय मे उच्चतम विचार तथा दार्शनिकता के दर्शन होते है और दूसरी ओर सबसे अधिक जगली अन्धविश्वास और चक्कर मे डालने वाले रहस्यमय जादू-टोना के दुराचारो (Occultism) का वर्णन मिलता है।" उच्चकोटि की दार्शनिकता सर्व-साधारण पर प्रभाव जमाने के लिये है और निम्नकोटि की दुराचार की सामग्री समय का प्रतिनिधित्व करती है। इन तन्त्रो का सर्वाधिक प्रभाव वगाल मे था और वगाल से ही वौद्धो के साथ आसाम, नैपाल, तिव्वत और चीन तक इनका प्रचार हुआ था।

तन्त्र साहित्य को देखने मे ज्ञात होता है कि इनमे शक्ति की उपासना के विषय मे विचार भारत के प्राचीन साहित्य से ही लिया गया है। इनमे ब्रह्मवाद अपने उसी रूप मे पाया जाता है जिस रूप मे उपनिषदो मे विद्यमान है। शाक्तो के अनुसार ब्रह्म केवल चिरन्तन शक्ति है और कुछ नही। ससार के समस्त प्राणियो का आविर्भाव माता के गर्भ से होता है अतएव सबसे वडी रचनात्मक शक्ति पिता के रूप मे नहीं परन्तु माता के रूप मे देखी जानी चाहिये, यही कारण है कि रचनात्मक शक्ति के सभी वाचक स्त्रीलिंग है। यही शक्ति प्रकृति कहलाती है और इसी को उमा, काली, दुर्गा, लक्ष्मी, राधा आदि अनेक नामो से पुकारा जाता है। ये समस्त नाम एक ही शक्ति के परिचायक है और इन्ही को जगन्माता के नाम से पुकारा जाता है। जैसे एक ही चन्द्र का अनेक स्थानो मे अनेक प्रकार का प्रतिविम्व पडता है उसी प्रकार एक ही शक्ति अनेक देवी-देवताओ के रूप मे प्रतिफलित तथा प्रतिविम्वित होती है—ब्रह्मा, विष्णु, महेश उसी शक्ति के प्रतिफलन हैं। यह शक्ति ही महाकाल की माता है और यह महागत मधूक मद्य का पान कर शक्ति के समक्ष नृत्य किया करते है।

इस आनन्दमयी रचना शक्ति की उपासना मे पचतत्वो की प्रधानता है—मद्य, माम, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन। मद्य वह शक्ति है जो समस्त चिन्ताओ को भुलाकर आनन्द देने मे समर्थ होती है। मास और मत्स्य से शारीरिक तथा वौद्धिक शक्ति वढती है और मनुष्य मे सन्तानोत्पादन की शक्ति आती है। मुद्रा या

१ Winternitze—History of Indian Literature Vol II

स्वादिष्ट भोजन ही तीनो लोको के कल्याण का साधन है और भूमि से उद्भूत शक्ति का मानव मे सचार करनेवाला है। मैथुन सभी जन्तु-जगत् के लिये सर्वा-तिशायी आनन्ददाता, समस्त प्राणियो का मूल और आदि-अन्त रहित विश्व का मूल कारण है।

इन पच तत्वो का सेवन चक्र के अन्दर किया जाता था। "प्रवृत्ते भैरवी-चक्रे सर्वे वर्णा द्विजातय.। निवृत्ते भैरवी-चक्रे सर्वे वर्णा पृथक्-पृथक्।" भैरवी-चक्र के अन्दर एक विशेप प्रकार की विधि का सम्पादन किया जाता था जिससे सभी पुरुषो के लिये सभी स्त्रिया उपभोग्य हो जाती थी। वर्ण-व्यवस्था का भी विचार छूट जाता था। माता को छोडकर कोई भी स्त्री उपभोग्य हो सकती थी। कोई भी साधक चक्र मे आकर किसी भी स्त्री से अपने को सम्बद्ध कर सकता था और एक सूक्ष्म विधि के द्वारा उसे अपनी पत्नी बना सकता था। एक ओर देवी की उपासना हृदय-कमल पर देवी को बैठाकर अपना हृदय-कमल प्रदान करने के द्वारा बतलाई गई है और दूसरी ओर मद्यमास इत्यादि पच तत्वो के द्वारा बतलाई गई है।

इस तन्त्र पद्धति पर अनेक सम्प्रदाय बन गये थे, जिनके द्वारा केवल मानव की ऐहलौकिक उपभोग लालसा की तुष्टि होती थी। श्री सम्प्रदाय, चोली सम्प्रदाय इत्यादि अनेक सम्प्रदायो मे यही उपभोग की प्रधानता थी। कौल धर्म भी योग और भोग का अपूर्व सम्मिलन स्थल था। कौल-धर्म मे भी उपर्युक्त पच तत्व ही मुक्ति तथा भुक्ति के साधन माने जाते थे। कुलार्णव-तन्त्र मे लिखा है कि—"ब्राह्मण को हर समय मद्यपान करना चाहिये, क्षत्रियो को युद्ध मे, वैश्यो को गाय खरीदने मे और शूद्र को दाह कर्म सस्कार के अवसर पर मद्यपान करना चाहिये। मदिरापान का पराकाष्ठा भी अत्यन्त उदारता के साथ निश्चित की गई है—"शराब तब तक पीते जाना चाहिये जब तक भूमि पर गिर न पडे। गिर पड़ने के बाद पुन उठकर पीनी चाहिये। इससे पुनर्जन्म नही होता।" कुल चूडामणि मे भी केवल अपनी स्त्री मे ही सतुष्ट न रहने तथा दूसरी स्त्रियो का भी उपभोग करने का उपदेश है। प्रपच सार मे लिखा हुआ है कि कौल-धर्म के किसी भी साधक के वश मे देव तथा दानव-मानव इत्यादि किसी की भी स्त्रिया शीघ्र उसकी हो जाती है, वे उसके पास प्रेम की मदिरा का पान किये हुए आती है और अपने आभूषण उसकी ओर फेकती है, उस समय उनका रेशमी वस्त्र लटकता है और बिखरे हुए बालो के मध्य से उनके मुख-मण्डल के दर्शन होते हैं। उनका प्रत्येक अग प्रेम की असह्य वेदना से काँपता है, . वे उस समय काम बाणो से विद्ध होती हैं और उनके मुख से प्रेमोच्छ्वास निरन्तर निकलते रहते हैं। तन्त्र साहित्य मे कही-कही कृष्ण और राधा की प्रेम-लीलाओ का भी वर्णन है और राधा को महाकाली का एक प्रतिरूप माना गया है। ज्ञानार्णव तन्त्र मे कुमारी-पूजन को ही सबसे बडी साधना माना गया है।

इस प्रकार एक ओर भारतीय समाज दुराचारो मे फसा हुआ था और जनता के चरित्र का स्तर अत्यन्त गिर गया था, दूसरी ओर वर्ण-व्यवस्था अपना भीषणतम रूप धारण कर चुकी थी। चार वर्णों के अतिरिक्त एक पाचवा वर्ण अन्त्यज भी सत्ता मे आ गया था।

समाज मे स्त्रियो की दशा और भी गिरती जा रही था। लडकियो की छोटा आयु मे विवाह करने की प्रथा बढ रही थी और यदि उनका पति मर जावे तो या तो उन्हे वैधव्य जीवन बिताना पडता था या चिता मे जल जाना होता था। विधवाओ के साथ व्यवहार अच्छा नही होता था, अतएव अधिकतर दूसरा मार्ग ही अपनाया जाता था। स्त्रियो की स्वतन्त्रता समाप्त हो गई थी। कालिदास इत्यादि की रचनाओ मे हमे जिस स्त्री-स्वातन्त्र्य के दर्शन होते है, उसका सर्वथा अभाव हो गया था। पर्दा प्रथा बढ रही थी। स्त्रियो को एकात जीवन व्यतीत करना पडता था, स्त्रिया केवल उपभोग की ही वस्तु मानी जाने लगी थी। कही-कही स्त्रियो के कारण राजा लोगो मे युद्ध होते थे और स्त्रियो को विवश होकर ऐसे व्यक्तियो के साथ विवाह के बन्धन मे पडना पडता था जिन्हे वे नही चाहती थी। कभी-कभी उनके कारण भी स्वयम्बर-स्थल अथवा विवाह-मण्डप रक्त-रजित हो जाते थे। पुरुष अनेक विवाह करके स्त्रियो को यातना देते थे।

अल्बरूनी ने हिन्दू-धर्म की प्रशसा की है और लिखा है कि "हिन्दुओ के पास बहुत उच्चकोटि की पुस्तकें है किन्तु ये पुस्तकें थोडे से पढे-लिखे लोगो के लिये ही है जबकि सर्वसाधारण का सम्बन्ध केवल मूर्तियो तथा मन्दिरो मे निरर्थक रीतियो, निरर्थक साधनाओ और कष्टदायक प्रतिबन्धो से ही है।" अल्बरूनी ने आश्चर्य प्रकट किया है कि जिस देश मे अमृत की धारा बहती है वहा पर लोगो को विष पान कराया जा रहा है।

उदार धर्म केवल कतिपय ब्राह्मणो की ही सपत्ति बन गया था। सर्व साधारण को अज्ञानान्धकार मे तथा अनुचित अन्धविश्वासो मे रखा जाता था। इस समय प्रत्येक वस्तु असम्बद्ध प्रतीत हो रही थी और राष्ट्रीय जीवन बुझ चुका था।

निस्सदेह हिन्दू जाति को अपने इस असयत जीवन के लिये बहुत बडा दण्ड देना पडा। इस समय के उपरान्त ८०० वर्ष के लिये उनका इतिहास शून्यवत् हो गया। विश्व की सर्वप्रथम सभ्य हुई जाति सामाजिक रूप मे जीवन-हीन और राजनीतिक दृष्टि से सर्वथा उपहासास्पद बन गई।

(ख) धार्मिक स्थिति

ऊपर जिस सामाजिक अवस्था का चित्रण किया गया है उसका अर्थ यह नही है कि उस समय विद्वान् थे ही नही। उस समय भी उच्चकोटि के विद्वान् थे यद्यपि उनकी सख्या बहुत थोडी थी। ये विभिन्न शास्त्रो का गम्भीरता-

पूर्वक अध्ययन करके अपने मौलिक सिद्धान्तो के प्रवर्तन की चेष्टा मे निरत रहते थे किन्तु इन शास्त्रो का अध्ययन-अध्यापन इने-गिने शिक्षितो का ही व्यापार था। सर्वसाधारण का सम्बन्ध अन्ध-विश्वासी और पाखण्डी अशिक्षितप्राय धर्म-गुरुओ से था। ये धर्म-गुरु सर्वसाधारण पर अपना प्रभाव जमाने के लिए विभिन्न शास्त्रो का परिचय देने की चेष्टा किया करते थे किन्तु उनकी यह योग्यता प्रत्यक्ष नहीं अपितु अप्रत्यक्ष सुनी-सुनाई बातो तक ही सीमित थी। उस समय की सबसे बडी विशेषता भक्ति का विकास है।

सामान्यरूप से हमे उस समय हिन्दू-धर्म पर प्रभाव डालने वाले तीन तत्व अधिगत होते हैं (१) बौद्धधर्म की महायान शाखा, (२) जैन-धर्म और (३) मुसलमान धर्म।

(१) बौद्ध धर्म की महायान शाखा—बौद्ध धर्म त्याग तपस्या और उदारता का धर्म था। भगवान् बुद्ध ने चार आर्य सत्यो और आठ मार्गों का प्रतिपादन करते हुए सर्वसाधारण के लिये मोक्ष मार्ग प्रशस्त किया था। यदि हम सक्षेप मे बौद्ध धर्म की अन्तरात्मा का परिचय देना चाहें तो कह सकते है कि बौद्धधर्म के अनुसार सर्व साधारण जीवन मे दुख की सत्ता सर्वत्र लक्षित होती है। दुख का उद्गम व्यक्तिगत सुख-सतोष की उद्दीप्त कामना से ही होता है। यदि हम दुख का अत्यन्ताभाव चाहते है तो कामना का परित्याग ही उसका एकमात्र साधन है। कामना का परित्याग तथा निर्वाण का अधिगम ऐहिक सुख-भोग और पूर्ण सन्यास के मध्य मार्ग का अवलम्बन करने से तथा नैतिक और व्यवस्थित जीवन के निर्वाह के द्वारा ही सम्भव है। सासारिक सफलता तथा निर्वाण प्राप्ति के लिये नैतिकता तथा धार्मिक जीवन निर्वाह पर इतना अधिक बल दिया गया है कि इस प्रकार के जीवन के सामने ईश्वरोपासना को भी तुच्छ तथा हेय ठहराया गया है।

धीरे-धीरे भारत की राजनीतिक स्थिति बदलती गई। भारत पर यवन, शक, हूण इत्यादि अनेक जातियो के आक्रमण हुए और ये जातिया पूर्ण रूप से भारतीय समाज मे मिल-जुल गयी। अतएव आवश्यकता इस बात की हुई कि बौद्ध धर्म मे कुछ ऐसे परिवर्तन कर लिये जावे जो एक ओर तो विदेशी आगन्तुको को अपनी ओर आकृष्ट कर सकें और दूसरी ओर नव विकसित हिन्दू धर्म के अनुयायियो मे भी प्रतिष्ठित हो सकें। नैतिकता तथा सन्यास सर्वसाधारण के वश के बाहर की बात थी। अत बौद्धधर्म मे एक नवीन शाखा का आविर्भाव हुआ और वह शाखा महायान (अर्थात् सर्वसाधारण को निर्वाण पद पर ले जाने वाला यान) नाम से विख्यात हुई। इस शाखा ने इस बात का प्रतिपादन करना प्रारम्भ कर दिया कि केवल बौद्ध धर्मानुकूल जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति ही निर्वाण का अधिकारी नही होता अपितु जो व्यक्ति भगवान् बुद्ध से प्रेम करता है वह भी निर्वाण का

अधिकारी हो जाता है। अवश्यकतानुकूल महायान सम्प्रदाय का साहित्य भी बहुत अधिक लिखा गया है। ललित-विस्तर महा-वस्तु जैसे महाग्रन्थो का प्रणयन हुआ और साथ ही महायान सूत्रो को लिखकर महायान की पृष्ठभूमि तथा उसका सिद्धान्त पक्ष भी समझाने की चेष्टा की गई।

महायान शाखा मे बुद्ध पूर्ण ब्रह्म के पद पर आसीन हो गये जिन की कृपा के आकाक्षी ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शक्र इत्यादि सभी देवता रहते है। बुद्ध अनादि-निधन अव्यय ब्रह्म है जो सर्वदा रहे है और सर्वदा रहेंगे। बुद्ध अपने विषय मे स्वय कहते है—"मै इस ससारका पिता हू, मै स्वयभू तथा विश्व का त्राता शिक्षक हू। मै जानता हू कि ससार के व्यक्ति किस प्रकार कुपथागामी हैं। यही कारण है कि मै अपने को ससार से चला गया प्रकट कर दिया करता हू।" भूतदया तथा मान और दुर्बलता के विचार से ही बुद्ध निर्वाण को प्राप्त हुए से ज्ञात होने लगते है। इस बात को समझाने के लिए अनेक कथानक लिखे गये है। उदाहरण के लिए एक वैद्य पिता के अनेक पुत्र हे। पुत्र बीमार हो जाते है। वैद्य उन को औषध प्रदान करता है। पुत्रो मे कुछ औषध पान कर लेते हैं और कुछ हठ वश औषध लेना स्वीकार नही करते। तब वैद्य वहा से चला जाता है। पुत्र अपने को असहाय पाकर औषध सेवन करने लगते है तब पिता उन को बार-बार देखने आता है और इस प्रकार उन्हें रोग से मुक्त करने की चेष्टा करता है। यही दशा बुद्ध की भी है। बुद्ध अपने भक्त पुत्रो को सुबुद्धि प्रदान करने के लिये निर्वाण मे गये हुए से प्रतीत होने लगते है किन्तु पुन पुन उपदेश देने के लिये मृत्यु लोक मे आया करते है। उन का मृत्यु-लोक मे अवतीर्ण होने का मन्तव्य होता है—"सद्धर्म की महती वृष्टि करना, सद्धर्म का ढोल पीटना, सद्धर्म की मैत्री ध्वजा फहराना, सद्धर्म का महान् प्रकाश विकीर्ण करना "इत्यादि। "जो व्यक्ति बुद्ध का उपदेश सुनता है, जो व्यक्ति किसी प्रकार का धर्माचरण करता है, जो व्यक्ति नैतिक जीवन व्यतीत करता है वह बुद्ध पदवी को प्राप्त हो जाता है। साथ ही जो व्यक्ति चिन्हो की पूजा करता है, जो स्तूप बनवाता है, जो किसी प्रकार की बुद्ध की रत्न, पाषाण अथवा काष्ठ की मूर्ति की प्रतिष्ठा करता है, बच्चे भी यदि वे क्रीडा मे धूलि के स्तूप बनाते हैं या भित्तियो पर बुद्धकी मूर्तिया बनाते है, जो व्यक्ति बुद्ध स्तूपो पर पुष्प अथवा सुगधित द्रव्य चढ़ाते है या उन के सामने नृत्य गान करते है अथवा जो एक बार भी सयोगवश भी बुद्ध का आदरपूर्वक स्मरण करते है वे समस्त व्यक्ति निर्वाण पद को प्राप्त होकर बुद्ध बन जाते है।" शिष्य, अनेक बुद्ध और बोधिसत्व का भेद बाह्य भेद ही है आन्तरिक नही इस विषय मे सद्धर्म पुण्डरीक मे एक बडी ही रोचक कथा दी हुई है—"एक ही माता के कई पुत्र है। वे सब एक पुराने टूटे-फूटे मकान मे रहते है। सयोगवश मकान मे आग लग जाती है। द्वार एक ही है। पिता मे इतनी शक्ति है कि वह अपनी गोद मे लेकर पुत्रो को बाहर ले जा सकता है। परन्तु पुत्र अग्नि का भय न जानते हुए पिता के पास आते नही है किन्तु इधर-उधर खेलते

हुए घूमते-फिरते है, पिता उन को खिलौनो के भिन्न-भिन्न प्रलोभन देता है। किसी को बैल गाडी, किसी को घोडा गाडी, किसी को दूसरे प्रकार की गाडी देने का प्रलोभन देता और इस प्रकार इन खिलौनो के लोभ मे बच्चे बाहर दौड आते है। पिता उन सबको एक एक प्रकार की बहुमूल्य गाडिया प्रदान कर देता है, बच्चे सतुष्ट हो जाते है। ठीक यही दशा बुद्ध की भी है। बुद्ध भी अपने तीन प्रकार के शिष्यो को एक ही प्रकार का निर्वाण दान करते है यद्यपि प्रलोभन भिन्न प्रकार के देते है। बुद्ध की लोकातीत शक्ति का भी अतिरजित वर्णन इन महायान सूत्रो मे किया गया है। भगवद्गीता के कृष्ण की ही भाति हगे अनेक स्थानो पर बुद्ध के अनेक रूपो का वर्णन प्राप्त होता है। सब कुछ वर्णन करते हुए भी बुद्ध की अनिर्वचनीयता शेष ही रह जाती है।

महायान शाखा मे बुद्ध के त्रिकाय की कल्पना की गई है —

(१) धर्मकाय—यही बुद्ध का वास्तविक स्वरूप है। इसमे न आदि है न अन्त है न परिवृत्ति है, न प्रकटीभाव ही है और न अन्तर्धान ही है।

(२) सम्भोगकाय—समयानुसार भक्तो पर अनुकम्पा करने के लिये बुद्ध महापुरुप का सुन्दर स्वरूप धारण कर लेते है। इस काया मे बुद्ध के अनेक प्राचीन जन्मो मे अविगत गुणो का समवाय होता है।

(३) रूपकाय—सामान्यत सर्वसाधारण के पथ-प्रदर्शन के लिये बुद्ध एक भौतिक स्वरूप धारण कर लेते है। इस प्रकार के रूपकाय असख्य हैं जो कि अनेक लोको का नेतृत्व करते है। गौतम बुद्ध इसी रूपकाय मे है। इस त्रिकाय कल्पना ने सर्वसाधारण के सामने आराधना का एक विस्तृत क्षेत्र उपस्थित कर दिया। इस धर्म द्वारा सर्वसाधारण को एक बलवती और व्यापक प्रेरणा प्राप्त हुई। बुद्ध के साथ ही अनेक बोधि सत्वो की भी पूजा की जाने लगी।

महायान शाखा के अनुसार बुद्ध निर्वाण-पदवी पर स्वत आरूढ नही हो जाते, किंतु उनका यह व्रत है कि जब तक ससार के सभी प्राणी निर्वाण पदवी को प्राप्त नही हो जावेंगे, तब तक मैं स्वय निर्वाण पदवी पर आरूढ नही हो सकता। बुद्ध कहते है—"मैने यह व्रत अपने ऊपर ले लिया है। सभी प्राणी—नरक मे रहने वाले प्राणी भी जो दण्डस्वरूप इन लोको मे भेजे गये है—मेरी करुणा के अधिकारी है। इन सभी प्राणियो का दुख भार मै अपने ऊपर लेता हू, मैं इसे सहन करता हू, मै इससे पीछे नही हटता हू, मैं इस पर कम्पायमान नही होता समस्त प्राणियो का भार मुझे वहन करना है, क्योकि मैंने समस्त प्राणियो के उद्धार का व्रत लिया है। मैंने समस्त जीवित प्राणियो को जन्म, जीवन, रोग, मृत्यु, पुनर्जन्म के घने जगल मे होते हुए सुरक्षित रूप मे निर्वाण पद तक ले जाने का व्रत लिया है। अतएव मै समस्त प्राणियो का दुख भार अपने ऊपर ले लेता हू। मैं अपने मोक्ष का विचार नहीं करता हू, किन्तु समस्त महत्त्वपूर्ण ज्ञान का साम्राज्य प्रदान करना चाहता हू। मैं

समस्त प्राणियो का दु ख-भार अपने ऊपर लेता हू··· क्योकि यह अधिक अच्छा है कि सभी प्राणियो के स्थान पर मै ही दु.ख-भार अपने ऊपर ले लू । ···· मैं समस्त प्राणियो के लिये ही कष्ट अपने ऊपर ले लेता हू ।" इसीलिये बुद्ध त्रिकाय मे स्थित है। धर्मकाय ससार मे व्यापक है, सम्भोगकाय की सत्ता केवल स्वर्ग मे है और तब तक स्थित रहेगी, जब तक विश्व के समस्त पदार्थ धर्मकाय मे विलीन नही हो जावेंगे। रूपकाय का ही जगतीतल मे आविर्भाव होता है।

आगे चलकर महायान शाखा भी दो भागो मे विभक्त हो गई—(१) मन्त्र-यान और (२) वज्रयान। मन्त्रयान मे मन्त्रो द्वारा बुद्ध भगवान् की आराधना तथा भक्ति ही पर्याप्त मानी गई, जबकि वज्रयान वाले एक पग और आगे बढ गये। वज्रयान के अनुसार बुद्ध और बोधिसत्व की शक्ति ही रचना मे कारण है। बुद्ध और बोधिसत्व पुरुष है और उनकी शक्ति स्त्री है। बुद्ध चैतन्यस्वरूप और निर्लेप हैं तथा उनकी शक्ति क्रियाशील है। बुद्ध (परमात्मा) तक पहुचने के लिये देवियो (प्रकृति या शक्ति) का माध्यम अपनाना चाहिये। प्रपच रचना दाम्पत्य सयोग और सुरत के द्वारा होती है। इसीलिए इन विचारो के विस्तार के साथ दाम्पत्य-सयोग तथा सुरत धर्म के प्रधान अग बन गये और उनका उपदेश धर्म के रूप मे दिया जाने लगा। हीनयान ने ध्यान और आत्मनिग्रह द्वारा व्यक्तित्व के ह्रास का उपदेश दिया था। महायान ने बुद्ध तथा बोधिसत्वो की कृपा के द्वारा मोक्ष प्राप्ति उसमे और जोड दी थी। नवीन सम्प्रदाय वज्रयान मे मोक्ष प्राप्ति के लिये देवियो की उपासना तथा आतरिक विधियो से उनका वशीकरण आवश्यक बतलाया गया। वज्र शब्द के अनेक अर्थ है। रत्न, इन्द्रायुध, शून्य, विज्ञान इत्यादि अनेक अर्थों के साथ वज्र का अर्थ पुरुष का लिंग भी है। यही अर्थ शाक्तो और वज्रयानियो की रहस्यात्मक प्रवृत्ति मे कारण बना।

वज्रयान शाखा वालो ने जिन देवियो की कल्पना की थी, उनमे प्रमुख थी, तारा अर्थात् तारने वाली। परमात्मा की शक्ति का आश्रय लेकर मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, इसीलिये इस शक्ति को तारा कहते है। निम्नकोटि की भी कतिपय देविया है, जिनमे अधिकतर निम्न जाति की स्त्रिया ही है। इन देवियो को जिस साधना से वश्य किया जाता था, उसे तन्त्र (वश मे करने वाला) कहते थे, इसी से तन्त्र विद्या का उदय हुआ। शाक्त धर्म के समान वज्रयानियो की भी साधना के चार अग थे। इस प्रकार बौद्ध धर्म की शिक्षा इस काल तक आते-आते सर्वथा परिवर्तित हो गई थी।

ऊपर बौद्ध धर्म के धार्मिक दृष्टिकोण मे परिवर्तन का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। जैन-धर्म की कथा इससे सर्वथा विपरीत थी। जैन धर्म का विस्तार ईसा की तीसरी शताब्दी पर्यन्त उत्तर से दक्षिण तक प्राय समस्त भारत मे हो

गया था। जैनियो ने अनेक बार राजाश्रय भी प्राप्त किया और कई राजा लोगो को स्वधर्म मे दीक्षा भी दी। किन्तु जैन धर्म कभी भी सर्वसाधारण धर्म न तो बन ही सका और न जैन धर्म ने इस बात की चेष्टा ही की। वस्तुत जैन धर्म व्यक्तिगत साधनापरायण धर्म है। इसमे उदाराशय आत्मसयमी व्यक्तियो के लिये ही अवसर है और ऐसे व्यक्ति प्रत्येक काल मे बने ही रहते हैं। यही कारण है कि अपने जन्म से लेकर आज तक जैन-धर्म सर्वदा ही बना रहा। किन्तु इसके अनुयायियो ने सर्वसाधारण को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये धार्मिक दृष्टिकोण मे परिवर्तन करने की आवश्यकता नही समझी। ये अपने सीमित क्षेत्र मे ही सन्तुष्ट रहे। केवल इतना अवश्य हुआ कि जैनियो ने बौद्ध तथा हिन्दू-धर्म से होड लेने के लिए तीर्थंकरो की प्रार्थना मे स्तोत्र बनाये और अन्य देवी-देवताओ पर तीर्थंकर का महत्त्व भी स्थापित किया। इससे आगे बढकर इन साधको ने तीर्थंकरो की माधुर्योपासना के प्रतिपादन की आवश्यकता नही समझी। अतएव कृष्ण-सम्प्रदायके विकास मे इन महात्माओ का केवल इतना ही हाथ रहा कि ये भी हिन्दू धर्म की प्रतिद्वन्द्विता मे खडे हुए और इन्होने भी तीर्थंकरो की उपासना की ओर जनता को किसी-न-किसी रूप मे आकृष्ट करने की चेष्टा अवश्य की। अतएव इस नवीन उत्थान मे उनका योग नही के बराबर रहा है।

भारतीय धर्म साधना को प्रभावित करने वाला तीसरा धर्म था मुसलमान धर्म। मुसलमान बहुत पहले दक्षिण भारत मे आ गये थे और वहा उनका पर्याप्त प्रसार हो गया था। दक्षिण के अनेक व्यक्तियो ने मुसलमान धर्म स्वीकार कर लिया था। उत्तर भारत मे भी सिन्ध, मुल्तान और पजाब मे मुसलमानो के राज्य स्थापित थे ही। गजनवी के वार्षिक आक्रमणो से इनका प्राय समस्त उत्तर भारत मे प्रसार हो गया। यद्यपि महमूद गजनवी ने भारत मे राज्य स्थापित करने की चेष्टा नही की तथापि जहा-जहा उसने विजय प्राप्त की वहा-वहा स्वभावत उसके कुछ अनुचर छूटते गये। जब दो सस्कृतियो का सम्मिलन होता है, तब आदान-प्रदान प्राय अनिवार्य हो जाता है। फलत मुसलमान धर्म ने भी नवीन धार्मिक आन्दोलन को पर्याप्त मात्रा मे प्रभावित किया और उसे प्रगति भी दी।

इस्लाम शब्द का अर्थ है–"ईश्वरेच्छा के प्रति आत्मसमर्पण तथा उससे उत्पन्न होने वाली शान्ति।" मुहम्मद साहब ने एक ही ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है, जिसके अतिरिक्त न तो कोई देवता है और न कोई दूसरा पूजा के योग्य है। ईश्वर को अल्लाह कहा जाता है जिसका अर्थ है–"केवल एक श्रेष्ठतम दैवी शक्ति।" मुहम्मद साहब का आदेश था–"केवल एक ही ईश्वर की सत्ता है, न तो कोई उसका सहचर है न सहयोगी। कोई भी दूसरा व्यक्ति, वस्तु या पदार्थ पूजनीय है ही नही, केवल ईश्वर की पूजा करो।" इस्लाम धर्म का मूल सूत्र है—"ईश्वर के अतिरिक्त और कोई देवता नही है और मुहम्मद ईश्वर के दूत है।" हमे विश्व मे

जो अनेकरूनता के दर्शन हो रहे हैं उसमे एकसूत्रता का अनुसन्धान परम आवश्यक है। इस्लाम धर्म अपने अनुयायियो को दैवी एकता का सौन्दर्य समझाने के लिये एक मनोमोहक चित्र प्रदान करता है। ईश्वर एक हैं न तो उसकी समानता की कल्पना ही की जा सकती है और न उसकी समानता विद्यमान ही है। न उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी है न सहचर। ईश्वर की एकता सत्ता की एकता की परिचायिका है। जीवन के सौन्दर्य, शक्ति तथा ज्ञान सब एक ही है और यह एकता ईश्वर की एकता मे ही पर्यवसित होती है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि हम भव-सागर के प्राणी ईश्वरीय ज्ञान किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं ? हम उसके निकट किस प्रकार पहुच सकते हैं ? हम ईश्वर पर विश्वास किस प्रकार कर सकते है ? दृश्यमान जीवन का आध्यात्मिक चिन्तन ही ईश्वरीय ज्ञान का साधक होता है। प्रकृति, क्रिया कलाप तथा मानव जीवन के शक्तिमय आनन्द के चिन्तन से हमारे अन्त करणो मे ईश्वर के कतिपय गुणो का स्फुरण हो जाता है। यही ईश्वरीय गुण ईश्वरीय ज्ञान के साधक होते हैं। ईश्वर का सर्व धान गुण जो हमारे हृदयो मे स्फुटित होता है वह है उसकी दयालुता। मनुष्य जाति की सख्यातीत वढी-चढ़ी आवश्यकताये ही ईश्वर की दयालुता को सिद्ध करती है तथा उसका अनुभव सहृदय व्यक्ति ही कर सकता है। पवित्रता ईश्वर का दूसरा गुण है । मनुष्य जाति की यातनाओ पर विचार करने से यह वात निश्चित रूप मे सिद्ध हो जाती है कि ईश्वरीय नियमो की अवहेलना मानव जाति पर आपत्ति लाने वाली होती है। ईश्वर ने सद्धर्म के नियम बना दिये है, जिनके द्वारा उसकी करुणा विना किसी भेद भाव के चारो ओर को विस्तारित होती है । यह करुणा सभी जातियो, सभी वर्गों और सभी प्राणियो के लिये एक समान होती है। किन्तु नियम की अवहेलना मानव को दण्ड की ओर ले जाने वाली होती है । मुहम्मद साहब ने ईश्वरीय दूत के रूप मे इस सत्य मार्ग का दिग्दर्शन कराया है।

ईश्वर तक पहुचने का मार्ग है प्रार्थना और भक्ति। न तो महात्माओ की प्रार्थना करो, न मध्यवर्ती व्यक्तियो की और न पैगम्बरो की केवल ईश्वर की प्रार्थना करो। ईश्वर-प्रार्थना को ही सर्वोपरि मानकर समस्त दिन को प्रार्थना के आधार पर विभाजित कर दिया गया है, जिससे सासारिकता मनुष्य को अधिक व्यथित न कर सके और समय-समय पर परमात्मा की प्रार्थना का ध्यान आता रहे। ईश्वर-उपासना के अग के रूप मे ही व्रत, उपवास और तीर्थ यात्रा का भी महत्त्व पर्याप्त मात्रा मे इस्लाम मे स्थापित किया गया है। डा० ताराचन्द ने मुसलमान धर्म का परिचय इन शब्दो मे दिया है—"मुहम्मद साहब ने जिस धर्म का उपदेश दिया वह अत्यधिक साधारण था। इसमे कम-से-कम सिद्धान्त निरूपण और कर्म-काण्ड पर कम-से-कम बल दिया गया था, क्योकि कुरान के अनुसार ईश्वर मनुष्य के भार को सरल और हलका करना चाहता था। उसका प्रधान तत्त्व ईश्वर का एक होना है और

सबसे प्रधान कर्म-काण्ड दैनिक प्रार्थना है । व्रत-दान, तीर्थ-यात्रा और ईश्वर के पैगम्बर के रूप मे मुहम्मद साहब पर विश्वास ये ही इस्लाम धर्म के प्रधान आधार-स्तम्भ हैं। ·· ·· ·· ईश्वर के एकत्व के सिद्धान्त से बहु-देवोपासना तथा मूर्ति-सस्करण का सर्वथा प्रत्याख्यान हो गया। इस्लाम धर्म के उद्बोधन के प्रधान तत्त्व थे, परमात्मा की सार्वकालिक निकटता तथा उसकी सर्व-व्यापिनी शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव, ईश्वरेच्छा की प्रतिकूलता से उत्पन्न होने वाले भयानक परिणामो से भय, परमात्मा के लिये सर्वभावेन आत्मोत्सर्ग का विचार और उसकी कृपा तथा अनुकम्पा पर परिपूर्ण निर्भरता।

सामान्य रूप से इस्लाम धर्म का यही मूलतत्व था। हजरत मुहम्मद साहब ने यही कल्याण मार्ग प्रदर्शित किया था। किन्तु काल-क्रम मे मुसलमान धर्म अनेक शाखा भेदो मे विभाजित हो गया । इनमे शिया लोगो का प्रमुख स्थान था। इन शिया लोगो मे अनेक वर्ग ऐसे थे जो हिन्दू धर्म से बहुत अधिक साम्य रखते थे। वे गुलूव और तक्सीर मे विश्वास करते थे। गुलूव गुणातिरेक को कहते है, जिसमे मनुष्य ईश्वर हो सकता है और तक्सीर दोषो को कहते है, जिसके द्वारा ईश्वर भी मनुष्यता को प्राप्त हो जाता है । इसके अतिरिक्त कतिपय वर्गो मे पुनर्जन्म (तमासुख) तथा अवतार (तश्वीह) जैसे सिद्धान्त भी माने जाने लगे। ये लोग इमाम की दिव्यरूपता को अगीकार करते है और इनमे से कुछ ऐसे थे जो कुरान के प्रकट अर्थ को न स्वीकार कर रूपक के रूप मे उसकी व्याख्या करते थे । इनके मत मे प्रार्थना का अर्थ है, इमाम की प्रार्थना, जकात का अर्थ है इमाम के लिये दान और हज (तीर्थयात्रा) का अर्थ है इमाम के स्थानो के दर्शन। शिया लोगो के सभी वर्गों का एक तत्व यही है कि वे दैवी भावापन्न व्यक्ति की सत्ता कल्याण मार्ग के लिये अनिवार्य मानते हैं । इस सत्ता को इमाम के नाम से अभिहित करते है। अली तथा उनके पुत्र हसन तथा हुसेन की मृत्यु से इन लोगो का राजनीतिक नेतृत्व समाप्त हो गया था किन्तु उनका धार्मिक नेतृत्व अक्षुण्ण बना रहा है । अली तथा उनके उत्तराधिकारी इस्लाम के अनिवार्य नेता बन गये। इनमे प्रकाश विद्यमान था । अत ये सर्वथा निर्दोष थे और दूषण इन मे कभी आ ही नही सकता था। ये परमात्म-शक्ति से परिपूर्ण अवतार माने जाते थे। इन्ही शिया लोगो मे अब्द अल्लाह इब्ने मयूम द्वारा प्रवर्तित एक वर्ग आविर्भूत हुआ जो हिन्दू धर्म के समान ही ईश्वर को निर्गुण, निर्विकार, निराकार मानता था। इनके मत मे वही निर्विकार ब्रह्म सृष्टि के पहले विद्यमान था और उसने अपनी इच्छा से ही एक दूसरी सगुण शक्ति ससार की रचना और नियन्त्रण के लिये उत्पन्न की। इस प्रकार ब्रह्म तथा ईश्वर की भावना इन लोगो मे विद्यमान थी।

उपर्युक्त सक्षिप्त परिचय से स्पष्ट हो जाता है कि इस्लाम के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वर्ग शिया सम्प्रदाय मे एक प्रकार की अवतार-निष्ठा, पुनर्जन्म की

भावना और दैवी शक्ति मे मानवी भाव-प्राप्ति के प्रति आस्था विद्यमान थी। इस विचार धारा मे हिन्दू विचार-धारा के बहुत से तत्त्व विद्यमान थे।

(ग) दार्शनिक स्थिति

वैदिक काल और जैन बौद्ध काल पर्यन्त उत्तर भारत धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक इत्यादि क्षेत्रो मे समस्त भारत का नेतृत्व करता रहा किन्तु ८वी शती के आस-पास यह नेतृत्व अकस्मात् परिवर्तित हो गया और इन समस्त क्षेत्रो मे दक्षिण भारत का नेतृत्व समस्त भारत मे स्वीकार कर लिया गया।

विक्रम की ८वी शताब्दी मे श्री शकराचार्य जी का आविर्भाव मालावार मे हुआ। उस समय दक्षिण भारत की धार्मिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। समस्त धार्मिक जगत् अनेक सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया था। शैव और वैष्णव सम्प्रदायो के रूप मे भक्ति की भूमिका प्रस्तुत की जा चुकी थी। किन्तु साम्प्रदायिक सघर्ष धीरे-धीरे उग्र रूप धारण करता जा रहा था। श्री शकराचार्य जी ने उचित समय मे रगमच पर अवतीर्ण हो कर समस्त मतवादो और सम्प्रदायो के एकीकरण के लिये अपना महत्त्वपूर्ण ब्रह्मवाद स्थापित किया। वैसे तो भेदमे अभेद दर्शन समस्त चिन्तन-धाराओ का मूल तत्त्व है तथापि भगवान् शकर ने अभेद दर्शन की जो महत्त्वपूर्ण पराकाष्ठा ब्रह्मवाद के रूप मे प्रतिष्ठित की है उसकी तुलना अन्यत्र विश्व मे दुर्लभ है। "धार्मिक विचार-धारा से सर्वथा पृथक् केवल शुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से ही विचार करने पर, श्री शकराचार्य जी के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त भारतीय भूमि पर उत्पन्न सभी प्रकार की दार्शनिक चिन्तन-धाराओ मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और सबसे अधिक आनन्ददायक है। न तो वेदान्त का ही शकर के सिद्धात से पृथग्भूत कोई सिद्धान्त और न वेदान्त के अतिरिक्त कोई भी दार्शनिक विचार अपनी शक्ति, गम्भीरता, सूक्ष्मता और विचारशीलता मे शकर की तुलना मे खडा हो सका है।" शकराचार्य जी ने एक ओर अद्वैत ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा कर ज्ञान के क्षेत्र मे अभेद-वाद की स्थापना की दूसरी ओर अविद्या के क्षेत्र मे आकर लौकिक दृष्टि से वैयक्तिक साधना का भी सर्वथा प्रत्याख्यान नही किया। एक ओर शकर का ब्रह्म वाद व्यक्ति को सकुचित क्षेत्र से ऊपर उठा कर उस मे असीमित ब्रह्मरूपता का आधान करता है और दूसरी ओर माया के व्यवधान से आभासित होने वाले चैतन्य मे जीवत्व और ईश्वरत्व की स्थापना कर व्यक्तिगत साधना को महत्त्व प्रदान करता है।

ब्रह्म की अद्वैतता और जगत की मायिकता ही शकर के दर्शन का सार है। तुरीयावस्था मे जीव और प्रकृति दोनो ही ब्रह्ममय प्रतीत होने लगते है और उस समय सर्वदा अभेद तथा अद्वैत दृष्टि का आविर्भाव हो जाता है। बुद्धि-भेद सर्वथा तिरोहित हो जाता है। माया के आवरण मे प्रतिभासित होने वाली समूहावलम्बना चैतन्य सत्ता ही ईश्वर की सज्ञा से अभिहित होती है। यह ईश्वर उपासना का

विषय भी हो सकता है और इसी आधार पर शकर मतानुयायियो ने भी समय-समय पर विभिन्न देवताओ की उपासना की है तथा तन्निमित्तक स्तोत्रों की रचना की है किन्तु इस उपासना मे दो दोष आते है—एक तो उपासना के लिये उपास्य-उपासक का तात्त्विक भेद अनिवार्य होता है जो कि अद्वैत मत मे प्रतिपादित नही किया जा सकता। दूसरी बात यह है कि जिसको हम ईश्वर के नाम से अभिहित करते है वह भी तो वस्तुत माया अथवा अविद्या से आवृत है। जब हमे उसकी अविद्या-जन्यता तथा अविद्या से आवृत होना प्रतीत ही होता रहता है तब उसके प्रति वास्तविक उपास्य बुद्धि को प्रश्रय प्राप्त नही हो सकता। ऐसी दशा मे अद्वैतवाद दार्शनिक दृष्टि से पूर्ण होते हुए भी भक्ति के सिद्धान्त के अनुकूल नही पडता इसी लिये अद्वैतवाद के प्रतिकूल वेदान्त सूत्र के दूसरे व्याख्याकारो और वैष्णव सम्प्रदायो का आविर्भाव हुआ। इस काल के वेदान्त-सूत्रो के व्याख्याकारो मे तीन प्रमुख है—रामानुज, माध्व और निम्बार्क। इन व्याख्याकारो ने भेदवाद को किसी न किसी रूप मे तात्त्विकता प्रदान की।

रामानुज का लक्ष्य शकर के विवर्तवाद और मायावाद का खडन करना था। इनके मत मे ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और उसे ईश्वर, पुरुषोत्तम इत्यादि अनेक नामो से पुकारा जाता है। विश्व की रचना, सरक्षण और विनाश उसी के क्रिया-कलाप है। रामानुज शून्य से विश्व की उत्पत्ति नही मानते। क्योकि ऐसी दशा मे विश्व के प्रतिभास की कल्पना ही नही की जा सकती। रामानुज के परिणामवाद का सार यह है कि प्रारम्भ मे ब्रह्म सर्वथा अद्वैत था। ब्रह्म से ही प्रकृति और जीव की उत्पत्ति हुई। प्रकृति और जीव दोनो सत्य है और ईश्वरेच्छा से प्रवृत्त होने वाले है। जीव नित्य, शुद्ध-बुद्ध, चैतन्यस्वरूप और इन्द्रियातीत होता है तथा इसकी सत्ता ईश्वराधीन होती है। जीव ईश्वर को दो उपायो से प्राप्त कर सकता है—भक्ति के द्वारा तथा प्रपत्ति के द्वारा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यो के लिये भक्ति का मार्ग है और शूद्रो के लिये प्रपत्ति का। भक्ति और प्रपत्ति का लक्ष्य है मोक्ष प्राप्त करना। मुक्तावस्था मे जीव ईश्वर के समीप्य का आनन्दानुभव करता है। इस अवस्था मे जीव के अन्दर सृष्टि-रचना के अतिरिक्त समस्त ईश्वरीय शक्तिया आ जाती हैं। जीव पाच प्रकार के माने जाते है।

(१) नित्य—वे जीव होते है जो कभी ससार चक्र मे पडते ही नही।
(२) मुक्त—वे जीव होते है जो ससार के बन्धन को तोड कर ईश्वर का सामीप्य प्राप्त कर लेते हैं।
(३) केवल—जो व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा को शुद्ध कर जीवन-मरण के बन्धन से रहित हो जाते है।
(४) मुमुक्षु—जो मुक्ति की इच्छा करते हैं और उनके लिये प्रयत्नशील रहते हैं। और,
(५) बद्ध—जो ससार के सम्बन्ध मे अब तक पडे हुए है।

भावना और दैवी शक्ति मे मानवी भाव-प्राप्ति के प्रति आस्था विद्यमान थी। इस विचार धारा मे हिन्दू विचार-धारा के बहुत से तत्त्व विद्यमान थे।

(ग) दार्शनिक स्थिति

वैदिक काल और जैन बौद्ध काल पर्यन्त उत्तर भारत धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक इत्यादि क्षेत्रो मे समस्त भारत का नेतृत्व करता रहा किन्तु ८वी शती के आस-पास यह नेतृत्व अकस्मात् परिवर्तित हो गया और इन समस्त क्षेत्रो मे दक्षिण भारत का नेतृत्व समस्त भारत मे स्वीकार कर लिया गया।

विक्रम की ८वी शताब्दी मे श्री शकराचार्य जी का आविर्भाव मालावार मे हुआ। उस समय दक्षिण भारत की धार्मिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। समस्त धार्मिक जगत् अनेक सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया था। शैव और वैष्णव सम्प्रदायो के रूप मे भक्ति की भूमिका प्रस्तुत की जा चुकी थी। किन्तु साम्प्रदायिक सघर्ष धीरे-धीरे उग्र रूप धारण करता जा रहा था। श्री शकराचार्य जी ने उचित समय मे रगमच पर अवतीर्ण हो कर समस्त मतवादो और सम्प्रदायो के एकीकरण के लिये अपना महत्त्वपूर्ण ब्रह्मवाद स्थापित किया। वैसे तो भेदमे अभेद दर्शन समस्त चिन्तन-धाराओ का मूल तत्त्व है तथापि भगवान् शकर ने अभेद दर्शन की जो महत्त्वपूर्ण पराकाष्ठा ब्रह्मवाद के रूप मे प्रतिष्ठित की है उसकी तुलना अन्यत्र विश्व मे दुर्लभ है। "धार्मिक विचार-धारा से सर्वथा पृथक् केवल शुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से ही विचार करने पर, श्री शकराचार्य जी के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त भारतीय भूमि पर उत्पन्न सभी प्रकार की दार्शनिक चिन्तन-धाराओ मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और सबसे अधिक आनन्ददायक है। न तो वेदान्त का ही शकर के सिद्धात से पृथग्भूत कोई सिद्धान्त और न वेदान्त के अतिरिक्त कोई भी दार्शनिक विचार अपनी शक्ति, गम्भीरता, सूक्ष्मता और विचारशीलता मे शकर की तुलना मे खडा हो सका है।" शकराचार्य जी ने एक ओर अद्वैत ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा कर ज्ञान के क्षेत्र मे अभेद-वाद की स्थापना की दूसरी ओर अविद्या के क्षेत्र मे आकर लौकिक दृष्टि मे वैयक्तिक साधना का भी सर्वथा प्रत्याख्यान नही किया। एक ओर शकर का ब्रह्म वाद व्यक्ति को सकुचित क्षेत्र से ऊपर उठा कर उस मे असीमित ब्रह्मरूपता का आधान करता है और दूसरी ओर माया के व्यवधान से आभासित होने वाले चैतन्य मे जीवत्व और ईश्वरत्व की स्थापना कर व्यक्तिगत साधना का महत्त्व प्रदान करता है।

ब्रह्म की अद्वैतता और जगत की मायिकता ही शकर के दर्शन का सार है। तुरीयावस्था मे जीव और प्रकृति दोनो ही ब्रह्ममय प्रतीत होने लगते है और उस समय सर्वदा अभेद तथा अद्वैत दृष्टि का आविर्भाव हो जाता है। बुद्धि-भेद सर्वथा तिरोहित हो जाता है। माया के आवरण मे प्रतिभासित होने वाली समूहावलम्बना चैतन्य सत्ता ही ईश्वर की सज्ञा मे अभिहित होती है। यह ईश्वर उपासना का

मे तत्व के तीन भेद हैं—चित्, अचित् और ब्रह्म । ब्रह्म सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ
ाच्युत विभव से पूर्ण है । ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है ।
ाख्या, जीवाख्या तथा मायाख्या इन तीन शक्तियो से सम्बन्ध रखता है ।
ाधिष्ठित अपनी शक्ति को विक्षिप्त करके जगदाकार मे अपनी आत्मा को
त करता है । इस मत मे कृष्ण ही ब्रह्म हैं । कृष्ण की शक्ति अचिन्त्य तथा
है । वे ऐश्वर्य तथा माधुर्य दोनो के आश्रय है । रमा, लक्ष्मी और भू उनके
की अधिष्ठात्री है और गोपी तथा राधा उनके प्रेम तथा माधुर्य की । यही
कृष्ण जो प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति राधा तथा अन्य आह्लादिनी
गोपियो से परिवेष्ठित रहते है, निम्बार्क सम्प्रदाय के उपास्य हैं । चित् तत्व
मा है । यह देहादि अचित् पदार्थों से भिन्न ज्ञानस्वरूप होते हुए भी नित्य
और ज्ञान का आश्रय है । यह अणु परिमाण तथा कर्ता है । यह प्रत्येक
मे भिन्न है तथा जीवन, बन्धन और मुक्ति की योग्यता से युक्त है । ईश्वर
जीव प्रेर्य, ईश्वर व्यापक जीव व्याप्य, ईश्वर अंशी तथा जीव अंश है । जीव
ार के होते है—बद्ध और मुक्त । मुक्त भी दो प्रकार के होते हैं—नित्य-
तथा साधन-मुक्त । देव मनुष्य आदि मे अनादि कर्म रूपिणी माया से आबद्ध
द्ध-जीव कहलाते है । सद्गुरु के बताये मार्ग का अनुसरण करने से भगवान् की
ो कृपा और प्रसाद प्राप्त होते है । फिर जीव भगवान् की कृपा के फलस्वरूप
लाभ करता है । मुक्ति दो प्रकार की होती है—क्रम-मुक्ति और सद्योमुक्ति ।
र के द्वारा स्वर्गादि का भोग करते हुए कल्पान्त मे जो सायुज्य लाभ होता है
म-मुक्ति कहलाती है और श्रवणादि भक्ति के आधार पर जो बन्धन-मुक्त
ते हैं वे सद्योमुक्ति के भागी होते है । जो सकाम भक्ति करते है उन्हे
ानन्द-प्रधान मुक्ति मिलती है तथा जो निष्काम भक्ति करते हैं, उन्हें
न्द-प्रधान मुक्ति प्राप्त होती है । भगवान् की अनादि अनन्त इच्छारूप शक्ति
जीवो के देह का सस्थान करती है । कर्मादि के बन्धन की अवस्था मे जीव
त्य देह आवृत रहती है । जब जीव भगवत्-कृपा से उसका सामीप्य प्राप्त
है तभी वह अपने प्रकृति के बन्धन से मुक्त होकर अपने नित्य चित् देह को
करता है । भगवन्-प्रसाद के द्वारा प्राप्त देह निर्विकार तथा भगवत्-सेवा के
होती है । नित्य-मुक्त जीव सदैव भगवत् स्वरूप गुणादि का अनुभव
वाले तथा स्वभावत भगवदनुभावित होते है । गरुड, सनकादि नित्य-सिद्ध
नित्य-मुक्त जीव हैं । अचित् तत्व तीन प्रकार का होता है—प्राकृत, अप्राकृत
ाल । प्राकृत त्रिगुणात्मक है । कारण अवस्था मे नित्य तथा कार्य-अवस्था
त्य है । महत् तत्व से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त समस्त विश्व प्राकृत तत्व का ही
। इसकी स्वतन्त्र सत्ता नही है । भगवान् की अपेक्षा रखती है । सत्व, रज,
तीन गुणो के द्वारा प्रकृति आत्मा की देहेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि आदि के

इस प्रकार रामानुज ने उच्च वर्णों की महत्ता स्वीकार करते हुए भी शूद्र तथा अन्त्यजों के लिये भी प्रपत्ति के द्वारा मोक्ष मार्ग सुलभ बना दिया।

वेदान्त सूत्रो के दूसरे प्रतिष्ठित भाष्यकार हैं आचार्य माध्व। इनका जन्म रामानुज के बाद मे हुआ था। इन्होने शकर के अद्वैतवाद तथा मायावाद का खण्डन कर द्वैतवाद की स्थापना की। इन्होने पाच प्रकार का भेद माना है जो सत्य है और जिसके ज्ञान होने से ही जीव को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। पाच भेदो के कारण ही ससार को प्रपच कहते है। माध्व के मत मे परमात्मा अनन्त गुणयुक्त है,प्रत्येक गुण असीम है। ईश्वर आठ प्रकार के कार्य करता है–सृष्टि, स्थिति, सहार, नियम, आवरण, बोधन, बन्धन और मोक्ष-लक्ष्मी परमात्मा से भिन्न चेतन द्रव्य है। यह परमात्मा के आधीन रहती है और परमात्मा के सकेत पर उक्त आठ कर्मो का सम्पादन करती है। प्रकृति दो प्रकार की होती है—अजड तथा जड। अजड प्रकृति लक्ष्मीरूपा है जो भगवान् की पत्नी के रूप मे है। सीता, रुक्मिणी इत्यादि उसके रूप हैं। जड प्रकृति काल, त्रिगुण, महत् इत्यादि का कारण तथा इनसे भिन्न है। लक्ष्मी इत्यादि अधिष्ठात्री हैं। सृष्टि को रचना करने के लिये भगवान् इन्हें तीन गुण-नामक भागो मे विभाजित करते हैं। इन्ही से महत्, अहकार, बुद्धि, मन, इत्यादि की प्रपत्ति होती है। परमात्मा के अनुग्रह से जीव को ज्ञान मिलता है और भगवान् के अनन्त कल्याण समूह का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। फिर भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रेम का नाम परमा भक्ति है। भगवान् के परम अनुग्रह से जीव परमात्मा के लोक तथा अपने स्वरूप मे पहुचता है तथा मध्यम और अधम अनुग्रह मे स्वर्ग इत्यादि को प्राप्त करता है। प्रकृति तथा अविद्या के बन्धन मे मुक्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय भगवान् की कृपा प्राप्त करना है।

निम्बार्क या निम्बादित्य माध्व के समकालीन और रामानुज के परवर्ती थे। डाक्टर भण्डारकर ने इनका समय ११६२ दिया है। इनके दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है—वेदान्त-पारिजात-सौरभ तथा दश-श्लोकी। प्रथम पुस्तक ब्रह्म-सूत्रो पर भाष्य है तथा दूसरी पुस्तक मे ज्ञेय पञ्चक का निरूपण किया गया है। इनका एक सविशेष निर्विशेष श्रीकृष्णस्तवराज भी प्रसिद्ध है, जिसमे २५१ श्लोक हैं। इनके मत मे जीव ब्रह्म का भेद भी है और अभेद भी। ब्रह्म चित् और अचित् से भिन्न है, परन्तु दोनो ही तत्व ब्रह्मात्मक है। जिस प्रकार दीप और वृक्ष से रहित रहकर उनकी प्रभा तथा पत्र कार्य नही कर सकते उसी प्रकार दोनो ही तत्व ब्रह्माश्रित ही रहते है। मुक्त अवस्था मे जीव परस्पर मित्र रहते हुए भी ब्रह्म से अद्वैत हो जाते है। जीव ईश्वर से अविभाज्य तथा उसका अश है। प्रकृति भी मकडी के जाले की भाति ब्रह्म से अविभाज्य तथा तदश ही है। इस प्रकार विभाग-सहित अविभाग ही ब्रह्म, जीव और प्रकृति का सम्बन्ध है। निम्बादित्य

के मत मे तत्व के तीन भेद है—चित्, अचित् और ब्रह्म। ब्रह्म सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और अच्युत विभव से पूर्ण है। ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। यह पराख्या, जीवाख्या तथा मायाख्या इन तीन शक्तियो से सम्बन्ध रखता है। वह स्वाधिष्ठित अपनी शक्ति को विक्षिप्त करके जगदाकार मे अपनी आत्मा को परिणत करता है। इस मत मे कृष्ण ही ब्रह्म है। कृष्ण की शक्ति अचिन्त्य तथा अनन्त है। वे ऐश्वर्य तथा माधुर्य दोनो के आश्रय है। रमा, लक्ष्मी और भू उनके ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री है और गोपी तथा राधा उनके प्रेम तथा माधुर्य की। यही व्रज के कृष्ण जो प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति राधा तथा अन्य आह्लादिनी शक्ति गोपियो से परिवेष्ठित रहते है, निम्बार्क सम्प्रदाय के उपास्य है। चित् तत्त्व जीवात्मा है। यह देहादि अचित् पदार्थों से भिन्न ज्ञानस्वरूप होते हुए भी नित्य ज्ञाता और ज्ञान का आश्रय है। यह अणु परिमाण तथा कर्ता है। यह प्रत्येक शरीर मे भिन्न है तथा जीवन, बन्धन और मुक्ति की योग्यता से युक्त है। ईश्वर प्रेरक, जीव प्रेर्य, ईश्वर व्यापक जीव व्याप्य, ईश्वर अशी तथा जीव अश है। जीव दो प्रकार के होते है—बद्ध और मुक्त। मुक्त भी दो प्रकार के होते है—नित्य-मुक्त तथा साधन-मुक्त। देव मनुष्य आदि मे अनादि कर्म रूपिणी माया से आबद्ध जीव बद्ध-जीव कहलाते है। सद्गुरु के बताये मार्ग का अनुसरण करने से भगवान् की अहैतुकी कृपा और प्रसाद प्राप्त होते है। फिर जीव भगवान् की कृपा के फलस्वरूप मोक्ष लाभ करता है। मुक्ति दो प्रकार की होती है—क्रम-मुक्ति और सद्योमुक्ति। कर्मादि के द्वारा स्वर्गादि का भोग करते हुए कल्पान्त मे जो सायुज्य लाभ होता है वह क्रम-मुक्ति कहलाती है और श्रवणादि भक्ति के आधार पर जो बन्धन-मुक्त हो जाते हैं वे सद्योमुक्ति के भागी होते है। जो सकाम भक्ति करते है उन्हे ऐश्वर्यानन्द-प्रधान मुक्ति मिलती है तथा जो निष्काम भक्ति करते है, उन्हें सेवानन्द-प्रधान मुक्ति प्राप्त होती है। भगवान् की अनादि अनन्त इच्छारूप शक्ति मुक्त जीवो के देह का सस्थान करती है। कर्मादि के बन्धन की अवस्था मे जीव की नित्य देह आवृत रहती है। जब जीव भगवत्-कृपा से उसका सामीप्य प्राप्त करता है तभी वह अपने प्रकृति के बन्धन से मुक्त होकर अपने नित्य चित् देह को प्राप्त करता है। भगवन्-प्रसाद के द्वारा प्राप्त देह निर्विकार तथा भगवत्-सेवा के योग्य होती है। नित्य-मुक्त जीव सदैव भगवन् स्वरूप गुणादि का अनुभव करने वाले तथा स्वभावत भगवदनुभावित होते है। गरुड, सनकादि नित्य-सिद्ध तथा नित्य-मुक्त जीव हैं। अचित् तत्व तीन प्रकार का होता है—प्राकृत, अप्राकृत और काल। प्राकृत त्रिगुणात्मक है। कारण अवस्था मे नित्य तथा कार्य-अवस्था मे अनित्य है। महत् तत्व से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त समस्त विश्व प्राकृत तत्व का ही कार्य है। इसकी स्वतन्त्र सत्ता नही है। भगवान् की अपेक्षा रखती है। सत्व, रज, तम इन तीन गुणो के द्वारा प्रकृति आत्मा की देहेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि आदि के

रूप मे परिणत होकर जीव का वन्धन करती है। प्रकृति का यह कार्य जीव के मोक्ष का प्रतिवन्धक है। अप्राकृत तत्त्व अचित् का शुद्ध अश है। यह प्रकृति तथा काल से भिन्न है। नित्य विभूति, विष्णु-पद, परम-व्योम, परम-पद, ब्रह्म-लोक अप्राकृत तत्व के दूसरे नाम है। यह भगवान् के सकल्पमात्र से अनेक रूप लेने वाला है। भगवान् तथा उनके आश्रित नित्य-मुक्त जीवो के भोगो का उपकरण तथा उनके निवासस्थान के रूप मे इस शुद्ध तत्व के अनेक रूप होते है। काल के प्रभाव से रहित होने के कारण यह परिणाम तथा विकार से भी रहित है। काल, जड, तत्त्व, सृष्टि का सहकारी तथा प्राकृत सम्पूर्ण पदार्थो का नियामक है। काल सर्वदा भगवान् के आधीन है। यह तत्त्व नित्य तथा विभु है।

भगवान् की कृपा से ही दैन्यादि भाव की भक्ति उत्पन्न होती है। निम्बार्क मत मे भगवान् की कृपा का फल भगवान् की शरण का प्राप्त करना है। भगवान् की कृपा के वल से उनकी शरण मिलने के वाद भक्त भी भक्ति-रस का आस्वादन करता है। नवधा-भक्ति के अभ्यास से भगवान् के प्रति प्रेम या रति मिलती है। प्रेम-भक्ति पाच प्रकार की मानी गई है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा उज्ज्वल। उज्ज्वल भक्ति को ही इस सम्प्रदाय मे प्रमुखता दी गई है तथा कृष्ण के साथ राधा की स्तुति की गई है।

इन व्याख्याकारो के अतिरिक्त दक्षिण के सन्तो और महात्माओ की एक वहुत वडी परम्परा है। वस्तुत दक्षिण भारत मे सातवी शती से १२ वी शती पर्यन्त दो प्रकार के महात्मा हुए—एक तो अडियार जिन्होने शैव मत का प्रचार किया और दूसरे आलवार जिन्होने वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार किया। इन्ही लोगो के सतत प्रयत्न से दक्षिण मे परवर्ती धार्मिक भावना का वीजारोपण हुआ। दक्षिण से ही भक्ति का प्रचार वृन्दावन, महाराष्ट्र, वगाल, तथा समस्त उत्तर भारत मे हुआ। वाद की कई शताब्दियो तक भारतीय काव्य-जगत् इन्ही महात्माओ की विचार-धारा से अनुप्राणित रहा।

ऊपर जिन सामयिक परिस्थितियो का वर्णन किया गया है उनसे निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते है —

(१) तृतीय चरण के प्रारम्भिक काल मे भारत की राजनीतिक स्थिति अव्यवस्थित थी। देश के छोटे-छोटे राज्यो मे एकसूत्रता तथा सहयोग का अभाव था और वैदेशिको (मुसलमानो) का आतक तथा प्रभाव वढता जा रहा था।

(२) सस्कृतियो के सम्पर्क से पारम्परिक आदान-प्रदान अनिवार्य हो गया था। साथ ही एक प्रशस्त मार्ग की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था जिसको दोनो सम्प्रदायवादी अगीकृत कर सकें।

(३) धार्मिक साधना मे सदाचार पालन के स्थान पर पूजा का महत्त्व वढता जा रहा था। वौद्ध धर्मानुयायी बुद्ध के उपदेशो को पालन करने के स्थान

पर भगवान् बुद्ध की पूजा मे ही कर्तव्य की इतिश्री समझने लगे थे। महावीर स्वामी तथा जैनियो के दूसरे तीर्थंकरो की भी उपासना प्रारम्भ हो गई थी।

(४) जनता मे अनाचार का पूर्ण प्रसार हो चुका था। तन्त्र वाद के नाम पर अनेक दुराचारो को प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा था। ऐसे अवसर पर इस बात की आवश्यकता बनी हुई थी कि जनता की शृगारिक भावना को भगवद्भक्ति की ओर उन्मुख कर दिया जावे। भगवद् विषयक रति भाव के आस्वादन मे तत्कालीन समाज के बहुत कुछ दुर्गुणो के दूर हो जाने की सम्भावना का अनुभव किया जा रहा था।

(५) शकर के मायावाद और ब्रह्मवाद के प्रतिरोध के रूप मे अनेक आचार्य उत्पन्न हो गये थे। इन आचार्यों ने शास्त्रीय पद्धति पर भक्ति का प्रतिपादन कर दिया था। विशेष रूप से कृष्णभक्ति के प्रसार की दिशा मे इन आचार्यों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था।

सामान्य विशेषताएं

इस काल मे द्वितीय उत्थान काल की भाति नर-काव्य का ही प्राधान्य रहा। उसी प्रकार का आलम्बनोद्दीपनादि का चित्रण, वे ही अनुभाव, वे ही सचारी भाव और स्थायीभाव साहित्य जगत् मे अखण्ड साम्राज्य स्थापित किये रहे। प्रकृति अब भी कवियो की दृष्टि से व्यवहित हो रही। अन्तर केवल इतना हुआ कि अभी तक कल्पित नायक-नायिकाओ के प्रसग मे शृगार आदि रसो का चित्रण होता था, अब विशिष्ट आलम्बन उनके स्थान पर आरूढ हो गये। अभी तक प्राकृत काव्य लिखा जाता था अब दिव्य अथवा दिव्यादिव्य रूप मे उसका परिणमन हो गया। इस काल पर सबसे अधिक प्रभाव श्रीमद्भागवत का रहा है। वैसे हमारे साहित्य मे कृष्ण के अनेक रूप पाये जाते है। वेदो मे कृष्ण ऋषि रूप मे आते हैं। कौषीतकी ब्राह्मण तथा छान्दोग्योपनिषद् मे घोर आगिरस के शिष्य देवकीपुत्र कृष्ण का उल्लेख वेद-वेदाग के ज्ञाता के रूप मे हुआ है। महाभारत मे कृष्ण बलवान् योद्धा अदम्य साहसी, निपुण राजनीतिज्ञ, कुशल वक्ता तथा महान् कर्मवीर के रूप मे आये है। गीता में कृष्ण कुशल वक्ता के रूप मे आते है और समस्त उपनिषदो का सार अर्जुन को अर्पित करते है। आगे चलकर भगवान् का यह लोक-रक्षण रूप समाप्त हो जाता है और उनका लोक-रजन का रूप सामने आता है। हरिवश पुराण मे, जो कि महाभारत का ही परिशिष्ट है, कृष्ण के बाल चरित्र का प्रथम बार उल्लेख किया गया है और कृष्ण को गोपियो से सम्बद्ध किया गया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण और श्रीमद्भागवत मे कृष्ण की कथा विस्तार के साथ कही गई है। पद्म पुराण, वायु पुराण और वामन पुराण मे भी कृष्ण की कथा आई है, किन्तु अत्यन्त सक्षेप मे। इन पुराणो मे महाभारत तथा गीता के कर्मवीर कृष्ण दृष्टि से ओझल हो जाते हैं और भगवान् की प्रेम मूर्ति के दर्शन होने लगते है। भगवान् की उपासना

रस रूप मे की गई है और रसो मे भी शृंगार रस ही प्रमख है । असुरो के वध मे अन्य रसो का सकेत मात्र दे दिया गया है ।

कृष्ण चरित्र का सर्वाधिक रमणीय और सर्वाधिक महत्वपूर्ण चित्रण श्रीमद्-भागवत मे किया गया है । इसमे राधा को छोडकर कृष्ण चरित्र के सभी प्रेममय रूप विद्यमान हैं । प्रस्तुत काल पर श्रीमद्भागवत का सबसे अधिक प्रभाव पडा है । किन्तु ब्रह्मवैवर्त पुराण की राधा का भागवत के कृष्ण से अविच्छिन्न और अविच्छेद्य सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया । इस काल मे हमे कृष्ण-साहित्य के दो रूप अधिगत होते है । कुछ कवि तो, जिनमे हमारे मूर्धन्य कवि जयदेव और विद्यापति भी हैं, सामान्य नायक-नायिका के रूप मे कृष्ण का चित्रण करते है । नाम-मात्र से ही हम इसे कृष्ण-साहित्य मे सन्निविष्ट कर सकते हैं अन्यथा इसकी योजना सामान्य नायक-नायिकाओ मे भी पूर्ण सफलता के साथ की जा सकती है । दूसरे कवि कृष्ण चरित्र की विशिष्ट परिस्थितियो का उल्लेख करते है, जो कि सामान्य चरित्र से कृष्ण को सर्वथा पृथक् कर देती हैं । इस प्रकार के कवि भागवत के विभिन्न चरित्रो को लेकर मुक्तक रचना मे प्रवृत्त हुआ करते थे । उन चरित्रो मे प्रधानता गोचारण, चीर हरण, राम लीला और भ्रमर गीत की हुआ करती थी । कुछ कवियो का काव्य तो भागवत के अनुवाद के रूप मे अवतीर्ण हुआ था । इनमे सयोग और वियोग दोनो प्रकार के शृंगार का पूर्ण तन्मयता के साथ चित्रण किया गया है । शृंगार रस के शास्त्रीय दृष्टि से सभी रूप कृष्ण चरित्र मे मिल जाते है । स्वकीया और परकीया दोनो रूपो मे गोपियो के दर्शन किये गये है । शृंगार रस के अतिरिक्त वात्सल्य का भी इन काव्यो मे पूर्ण परिपाक हुआ है । माखन चोरी इत्यादि मे इसी वात्सल्य के दर्शन होते है । राधा-कृष्ण तथा गोपी-कृष्ण के प्रेम के अतिरिक्त मुक्तक काव्य के क्षेत्र मे दूसरे आलम्बन भी प्रतिष्ठित हुए, जिनमे राम तथा शिव मुख्य है । किन्तु कृष्ण चरित्र की व्यापकता के सामने दूसरे चरित्र प्रसार न पा सके । जैसा कि बतलाया जा चुका है इस काल मे व्यक्तित्व की उपासना का प्राधान्य बढ रहा था । वैष्णव धर्म के लिये यह सिद्धान्त विदेशी नही था । वासुदेवोपासना बहुत प्राचीन काल से भारत मे चल रही थी और कृष्ण का गोप रूप भी ईसा की दूसरी शताब्दी मे प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था । गाथा सप्तशती की कतिपय गाथायें कृष्ण-गोपी प्रेम के विषय मे लिखी गई थी और कालिदास ने भी गोप-वेष विष्णु का उल्लेख किया है । समय आने पर यही गोप रूप शृंगार रस के रूप मे अपना लिया गया । इससे दो लाभ हुए । तान्त्रिक युग की घृणित चरित्रहीन परम्पराओ के स्थान पर एक ओर शुद्ध भक्ति का प्रचार हुआ और दूसरी ओर दुर्व्यसनो मे आसक्त जन-समूह भगवद्भक्ति की ओर उन्मुख किया गया ।

इस क्षेत्र मे अधिकतर महात्माओ के द्वारा ही कार्य हुआ । ये महात्मा किसी सम्प्रदाय मे सम्बद्ध थे और निवृत्ति मार्ग के अनुयायी थे । भगवल्लीला विषयक

रचनायें गा-गा कर नृत्य करते थे जिस से सभी दर्शक गण मुग्ध हो जाते थे। इस परम्परा मे परकीया प्रेम ही आदर्श प्रेम माना गया है क्योकि प्रेम की जितनी तीव्रता परकीया प्रेम मे होती है उतनी दूसरे प्रकार के प्रेम मे नही। नारद भक्ति सूत्र मे लिखा है "व्रज गोपियो के समान भगवान् मे समस्त आचारो का अर्पण कर देना और भगवान् के वियोग मे परम व्याकुलता का अनुभव करना ही सच्ची भक्ति है। किन्तु इस अवस्था मे भी भगवान् के माहात्म्य ज्ञान की विस्मृति नही होनी चाहिये क्योकि उस अवस्था मे वह प्रेम जारो का जैसा हो जाता है।" यह भक्ति वास्तव मे निवृत्तिपरक होती है क्योकि—"इस मे लोक और वेद के व्यापार का परित्याग हो जाता है, प्रियतम भगवान् मे अनन्यता उत्पन्न हो जाती है और विरोधी विषयो मे उदासीनता भी होती ही है अत यह भक्ति कामनायुक्त नही हो सकती।" इस भक्ति परम्परा मे सदाचार का भी माहात्म्य है। नारद भक्ति सूत्र मे लिखा है—"दुस्सग का तो सर्वथा परित्याग कर ही देना चाहिये क्योकि इस से काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रश, बुद्धिनाश तथा सर्वनाश उत्पन्न होते है। ये काम-क्रोध इत्यादि यद्यपि तरगो की भाति हृदयो मे उठते हैं किन्तु धीरे-धीरे समुद्र बन जाते हैं।······ एकान्त सेवी, निस्त्रैगुण्य और योगक्षेम का त्याग करने वाला ही लोक बन्धन का उन्मूलन कर सकता है। जो व्यक्ति कर्म फलो का भी छोड देता है, कर्मों को भी छोड देता है, वेदो का भी परित्याग कर देता है केवल भगवान् के प्रति अनुराग को धारण करता है वही व्यक्ति स्वय भी तरता है और लोको को भी तार देता है।" भक्ति सूत्रो मे लिखा है कि भगवान मे सभी चरित्रो को अर्पित कर देना चाहिये और यदि काम-क्रोध इत्यादि करना हो तो भगवान् के प्रति ही करना चाहिये।

इन महात्मा कवियो का सदेश है कि भगवान् से किसी न किसी प्रकार का व्यक्तिगत सबन्ध अवश्य स्थापित कर लेना चाहिये। भगवान् की प्रेमरूपा भक्ति ११ प्रकार की बतलाई गई है जिस मे भगवान् के साथ अनेक सबन्धो के स्थापित करने की ओर सकेत किया गया है। यह सम्बन्ध दास्य, सख्य, कान्तासक्ति या वात्सल्य रूप मे कोई भी हो सकता है। साराश यह है कि इस परम्परा मे भगवान् की अनन्त लीलाओ मे आनन्द लिया जाता है जिसका लीलाओ मे आनन्द लेने के अतिरिक्त और उद्देश्य नही होता और न कोई फल ही होता है, सबसे बडा फल निर्वाण भी उन भक्त महात्माओ के लिये सर्वथा हेय ही होता है। काव्य जगत् मे भगवान् की लीलाओ मे आनन्द दोनो रूपो मे प्राप्त होता है—कवि स्वय भगवत्-प्रेम का आश्रय होकर आया है और विरह-वेदना का आलम्बन भगवान् को बनाया गया है तथा गोपियो को भी आश्रय मानकर भगवत्-प्रेम का वर्णन किया गया है।

इस काल की रचना मनोरजन के लिये नही अपितु सिद्धान्तो का प्रचार

करने के लिये हुई है। वीर गाथा काल मे ही धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हो गये थे जो आगे चल कर पुष्पित और फलित हुए। सर्वप्रथम व्यापक प्रतिष्ठा कबीर ने प्राप्त की। कबीर की शिष्य-परम्परा ने हिन्दी को माध्यम बनाया और धीरे-धीरे हिन्दी सर्वविध विचारो के प्रचार के लिये उपयुक्त हो गई। यह राजनीतिक युग न था। धार्मिकताकी प्रधानता थी। इस काल मे धर्म को ही भावना या मनोविकार का साधन बनाया गया। भक्तिमूलक धार्मिक आन्दोलनो का नेतृत्व रामानन्द और वल्लभाचार्य तथा उनकी शिष्य-परम्परा ने किया। कबीर के वैष्णव होने मे सदेह हो सकता है। उन पर सूफी मत की छाप बतलाई जाती है। किन्तु वैष्णव सम्प्रदाय और सूफी मत दोनो मे बहुत बातो मे साम्य है। सम्भव है दोनो ने एक-दूसरे को प्रभावित किया हो। कबीर यद्यपि अवतार के विरोधी तथा निर्गुणवादी थे तथापि उनकी रचनायें वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखी जा समती है। विद्यापति यद्यपि शैव थे तथापि उनकी रचनायें वैष्णव भक्तो का कण्ठ-हार है। चैतन्य महाप्रभु उनके पदो को गाते-गाते भक्ति विभोर हो जाते थे। उनका प्रभाव सूर पर ही नही चण्डी-दास जैसे अहिन्दी भाषियो पर भी लक्षित होता है। राम और कृष्ण काव्य-कारो ने काव्य कला को अपने चरम उत्कर्ष पर पहुचा दिया। एक ओर पूर्व मे विद्यापति के ललित मनोरम पद, दूसरी ओर गिरिधर गोपाल की मतवाली मीरा के मरुस्थल को भी सुरभित कानन बना देने वाले गीत, सूर की लोकातीत कविता हिन्दी साहित्य की अपूर्व निधि हैं इस मे सदेह नही। इस काल मे धर्म तथा लौकिक रागात्मक्ता का इतना गहरा सम्बन्ध हो गया था कि दोनो को पृथक् कर सकना सर्वथा असभव प्रतीत होता है। यही कारण है कि रीति काल के कवियो की शृ गार भावना मे भी भक्तो को भगवद् भक्ति की गन्ध आती है। यहा पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि द्वितीय उत्थान काल की प्राकृत जन विषयक प्रवृत्ति के भी दर्शन यदा कदा इस काल मे हो जाते हैं। प्रकृति फिर भी उपेक्षित ही रही। उसका उपादान प्रधानतया उद्दीपन रूप मे ही हुआ। इस काल मे दूसरे छन्दो की अपेक्षा गीत का प्राधान्य रहा और भाषाओ मे व्रज तथा अवधी अपनाई गई। नीचे बहुत ही सक्षेप मे इस काल के प्रमुख कवियो का परिचय दिया जाता है।

इस काल के प्रमुख कवि

(अ) कृष्ण काव्य की वृहत्त्रयी

(१) जयदेव—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने जयदेव के विषय मे लिखा है—"जयदेव का अभिमान कि 'अगूर और ईख की मिठास उनकी कविता के आगे फीकी है" बहुत सत्य है। इस मिठाई मे न पुरानी होने का डर है न चीटो का डर है। निर्जन मे, जगल मे, पहाड मे जहा बैठने को बिछौना भी न हो वहा गीत गोविन्द सब आनन्द सामग्री देता है। जहा कोई मित्र, भक्त, प्रेमी न हो वहा यह सब कुछ बनकर साथ रहता है। जहा गीत गोविन्द है, वहीं वैष्णव गोष्ठी है, वही रसिक समाज है

वही वृन्दावन है, वही प्रेम सरोवर है, वही भाव समुद्र है, वही गोलोक है और वहीं प्रत्यक्ष ब्रह्मानन्द है।"

जयदेव का केवल एक ही काव्य है गीत गोविन्द। यह कलेवर तथा विस्तार की दृष्टि से बहुत बड़ा काव्य नही है। किन्तु इसका जितना प्रभाव हिन्दी वैष्णव साहित्य पर पडा है उतना किसी पुस्तक का प्रभाव नही पडा। इसमे १२ सर्ग है। सर्वप्रथम मगलाचरण और प्रस्तावना तथा कवि परिचय के चार पद्य दिये गये हैं, फिर एक अष्टपदी और एक पद के द्वारा भगवान् के दश अवतारो का वर्णन है। इसके बाद एक अष्टपदी और एक पद्य के द्वारा भगवान् की स्तुति की गई है। इतना अश प्राक्कथन कहा जा सकता है। इसके बाद वास्तविक ग्रन्थ का प्रारम्भ होता है। विरहोत्कण्ठिता राधा के सामने उद्यान-भ्रमण के अवसर पर एक गोपी वसन्त वर्णन करती है और दूर से भगवान् कृष्ण की रास-लीला दिखलाती है जिस मे अनेक गोपिया अपनी प्रेममयी चेष्टाओ के साथ भगवान् कृष्ण से विहार कर रही हैं। यह देख कर राधा को ईर्ष्या होती है और वे रुष्ट होकर चली जाती है। यह जान कर कृष्ण भी वियोग व्यथा से पीडित होकर अन्य गोपियो का साथ छोड कर यमुना तट पर एक कुज मे राधा के विषय मे चिन्ता करने लगते है। इस के बाद दूती प्रयोग किया जाता है जो कि राधा से कृष्ण की विरहव्यथा का निवेदन करती है। इसी प्रकार राधा भी दूती प्रयोग करती है जो कि कृष्ण के सामने राधा की विरहव्यथा का निवेदन करती है। यहा पर हमे प्रोषितपतिका का अच्छा चित्रण प्राप्त होता है। सखी राधा की वियोग व्यथा से पीडित होकर कृष्ण को राधा के पास लाने की चेष्टा करती है। इसी समय चन्द्रोदय हो जाता है। कवि ने इस प्रसग मे वासकसज्जा, विप्रलब्धा और कलहान्तरिता का अच्छा चित्रण किया है। कृष्ण के आगमन मे विलम्ब देख कर राधा एकदम उत्पीडित हो जाती है। राधा मानिनी हैं, कृष्ण आकर उन्हें मनाने की चेष्टा करते है। राधा कलहान्तरिता हैं। सखिया उन्हें समझाती हैं। कृष्ण राधा को मना कर चले जाते हैं। रात्रि आ जाती है। सखी राधा को अभिसार के लिये प्रेरित करती है। इसके बाद राधा का प्रसाधन प्रारम्भ होता है। राधा की अभिलाषाओ का वर्णन आता है। सखी कृष्ण की उत्कण्ठा का वर्णन कर राधा को अभिसार की शीघ्रता के लिये प्रेरित करती है। इसके बाद अभिसार होता है। फिर स्वाधीनपतिका का वर्णन है। रति-श्रान्त भी कृष्ण से राधा अपने प्रसाधन की अभ्यर्थना करती है। इसके बाद सयोग शृगार का वर्णन आता है। अन्त मे गीतगोविन्द की प्रशसा के साथ काव्य समाप्त हो जाता है।

गीतगोविन्द का यही सक्षिप्त कथा-सार है। इतनी छोटी सी पुस्तक का साहित्य पर इतना अधिक प्रभाव पडा कि साहित्य की धारा ही बदल गई और काव्य मे एक नवीन चेतना स्थायी रूप से घर कर गई। इसका सबसे बडा कारण

यह है कि इस पुस्तक मे भाषा को छोडकर और कुछ भी पुराना नही है। सभी कुछ मौलिक ही है। गीत शैली मे सर्वप्रथम लिखने का श्रेय जयदेव को ही प्राप्त है। इसके पहले गीत नही लिखे गये थे। गीत परम्परा इन्ही से प्रारम्भ होती है। दूसरी विशेषता है तुकबन्दी की। हिन्दी साहित्य में तुकबन्दी का जो अखण्ड साम्राज्य छाया है उस पर जयदेव की काव्य-कला की बहुत बडी छाप है। इनसे पहले तुकबन्दी किसी भी काव्य मे नही दिखलाई देती और न पुराने आचार्यों ने इसका लक्षण ही लिखा है। अभी तक राधा प्रकाश मे नही आयी थी। यह जयदेव का ही प्रभाव था कि राधा-कृष्ण प्रेम का आदर्श केवल काव्य जगत् मे ही नही हमारे समाज की नसो मे भी समा गया। इसी प्रकार शताब्दियो से चली आती हुई मुक्तक-काव्य परम्परा को राधा-कृष्ण प्रेमपरक बना देने का श्रेय जयदेव को ही प्राप्त है। वैष्णव भक्ति का काव्य से सयोग करा देना भी जयदेव का ही काम था। इनके प्रभाव का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि कृष्ण-काव्य के विषय मे प्रबन्ध परम्परा ही समाप्त हो गई। भागवत के अनुवाद के नाम पर सूर सागर लिखने वाले महात्मा सूरदास ने भी अपनी रचना को जयदेव की शैली पर सर्वथा गीतात्मक तथा मुक्तक ही रखा है।

इस पुस्तक का गुम्फन बडा ही मनोहर तथा विवेकपूर्ण है। भावनाओ का चित्रण गीतो मे किया गया है और प्रसग-योजना तथा कथानक-निर्देश के लिये दूसरे पद्य काम मे लाये गये है। कही-कही दूसरे पद्यो द्वारा गीत का साराश भी व्यक्त कर दिया गया है। गीतो और पद्यो के सयोग से काव्य मे नीरसता नही आने पाती है। इसकी जैसी ललित कोमल-कान्त पदावली अन्यत्र दुर्लभ है। पण्डितवर ईश्वर-चन्द्र विद्यासागर ने लिखा है—"इस महाकाव्य गीत गोविन्द की रचना जैसी मधुर, कोमल और मनोहर है, उस प्रकार की दूसरी कविता सस्कृत साहित्य मे अत्यन्त अल्प है। वरच ऐसा ललित पद-विन्यास, श्रवण-मनोहर अनुप्रास-छटा तथा प्रसाद गुण और कही नही है।" जयदेव जी नितान्त करुण-हृदय और परम धार्मिक थे। भक्ति-विलमिन महत्त्व छटा और अनुपम प्रीति व्यजक उदार भाव ये दोनो उनके अन्त-करण मे निरन्तर प्रतिभासित होते थे।

जयदेव श्री रामादेवी और भोजदेव के पुत्र थे तथा उमापति, शरण, गोवर्धन और धोयी कवि के साथ बगाल के राजा लक्ष्मणसेन के सभा-पण्डित थे। इनका विवाह पद्मावती के साथ हुआ था। कहा जाता है कि इस कन्या के पिता को स्वप्न मे भगवान् जगन्नाथ देव ने जयदेव के साथ पुत्री के विवाह करने का वरदान दिया था। जयदेव के विषय मे अनेक किवदन्तिया प्रसिद्ध हो गयी। इनके जन्म-स्थान पर प्रति वर्ष मेला लगता था। प्रताप रुद्रदेव ने आदेश दिया था कि उनके राज्य मे केवल गीत गोविन्द ही गाया जावे। इस पर अनेक टीकायें तथा अनुवाद ग्रन्थ लिखे गये और यूरोप मे सर विलियम जोंस की प्रति से इसका इतना

अधिक सम्मान हुआ जितना कि मेघदूत तथा शकुन्तला का गेटे ने किया था। इसमे सन्देह नही कि इस पुस्तक का प्रभाव केवल काव्य जगत पर ही नही पडा अपितु तान्त्रिक अनाचारो मे फमे हुए समाज को भी वैष्णव-भक्तिमय कर देने का श्रेय इसी पुस्तक को प्राप्त है। चैतन्य महाप्रभु इत्यादि भक्त गरण आनन्द विभोर होकर इसके पद्यो को गाया करते थे और सर्वसाधारण पर इसका अभूतपूर्व प्रभाव पडता था। जयदेव ने अपने काव्य की प्रशसा मे ठीक ही लिखा है कि–'माध्वीक की (जयदेव की वाणी की तुलना प्राप्त करने की) चिन्ता उचित नही है। हे शक्कर! तुम बडी कठोर हो, तुममे उतना माधुर्य कहा? हे द्राक्षा! तुम्हे अब कौन देखेगा? हे अमृत! जयदेव की वाणी के सामने तुम तो मर गये। हे दूध! तुम्हारा रम तो जलमय है। जयदेव की वाणी समस्त शृगार का सार तथा मगलमय तत्व बिखेर रही है। अतएव हे पक्व आम्रफल! तुम रोओ, चिल्लाओ और हे कान्ताधर! तुम तुलना करने का साहस न करो।"

(२) **विद्यापति**—विसपी जिला दरभगा के रहने वाले थे। ये शिवसिंह, लखियादेवी, विश्वासदेवी, नरसिंहदेवी तथा मिथिला के कई अन्य आश्रयदाताओ के सरक्षण मे रहे थे। शिवसिंह ने इन्हे विसपी गाव तथा अभिनव जयदेव की उपाधि एक ताम्र पत्र द्वारा प्रदान की थी। ये सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे और इनकी लिखी हुई सस्कृत की ११ पुस्तकें उपलब्ध होती है। मैथिली भाषा मे इनके पद अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनका रूपान्तर वगाली मे वहुत पाया जाता है। इनके पदो की महत्ता इसी से प्रकट है कि वगाली लोग इन्हे अपनी ओर घसीटते हैं, हिन्दी वाले अपनी ओर और मैथिली वाले अपनी ओर। रसमयता के साथ चमत्कार का सयोग इतना सुन्दर और महत्वपूर्ण वन पडा है कि उसकी तुलना हिन्दी-साहित्य मे दुर्लभ है। इनकी कविता मे शृगार रस का प्रस्फुटन वहुत ही स्पष्ट हुआ है। विभाव, अनुभाव, सचारी भाव और स्थायी भावो की स्पष्ट प्रतीति होती है। इनके काव्य मे वीच-वीच मे कृष्ण-विषयक ईश्वरीय अनुभूति नही होती, कि तु कृष्ण चञ्चल नायक और राधा चञ्चल नायिका के रूप मे दिखाई गई है। इनकी दृष्टि मे विश्व के समस्त शृगार की प्रतिमूर्ति राधा और कृष्ण ही हैं। इनके प्रेम-चित्रण मे वासना का रग वहुत गहरा है। कृष्ण उन्मत्त नायक के रूप मे सामने आते है और राधा मतवाली नायिका के समान। इनके काव्य की दूसरी विशेषता यह है कि इन्होने वाह्य जगत् का ही विशेष वर्णन किया है, अन्तर्जगत् का वहुत कम।

विद्यापति के पदो को हम तीन भागो मे विभक्त कर सकते है —(१) शृगारिक, (२) भक्ति-सम्वन्धी और (३) विविध विषयक। शृगार रस के विभाव के रूप मे राधा-कृष्ण का चित्रण हुआ है और भक्ति के विभाव के रूप मे शिव-पार्वती का। शृगार रस का प्रारम्भ यौवन के वाद होता है। शैशव को हटाकर जव यौवन आधिपत्य स्थापित करना चाहता है तव शैशव सहसा पराजय स्वीकार नही

करता। इसीलिये विद्यापति की कविता मे सर्वप्रथम शैशव और यौवन की सन्धि के दर्शन होते हैं। यौवन के आने पर किस प्रकार शारीरिक तथा वाह्य चेष्टा-सम्बन्धी परिवर्तन होते हैं, इसका विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। यौवन राजा है। उसके आते ही कर्मचारियो को अपने-अपने स्थान पर नियुक्त कर दिया जाता है। शैशव शीघ्र नही हटता, किन्तु धीरे-धीरे उसे पराजित होना पडता है। फिर भी कुछ समय तक नायिका शैशव के प्रभाव से भूल कर ही वैठती है। इसके वाद तारुण्य पूर्ण अधिकार कर लेता है, जिससे नायिका की शोभा वढ जाती है। विद्यापति ने यौवन-जन्य सौन्दर्य का वडा ही विस्तृत तथा रोचक वर्णन किया है। इस दिशा मे इनकी उच्चकोटि की एक-एक कल्पनायें दर्शनीय हैं। दोनो स्तन ऐसे प्रतीत होते है, मानो किसी देवता ने चकई-चकवा को भुजपाश ने वाधकर रख दिया है कि कही उड न जायें। कवि ने सद्यःस्नाता का पर्याप्त वर्णन किया है। जव नायिका ने स्नान करने के वाद शरीर पोछा तो ऐसा निर्मल हो गया जैसे सोने के कटोरो को किसी ने औटकर रख दिया हो। जव स्तनो पर चन्दन लगा कर ऊपर मे हार पहिना तो ऐसी शोभा वढ गयी मानो भगवान् शकर ने भस्म रमा ली हो और ऊपर से गगा जी की धारा गिर रही हो।

धीरे-धीरे नायक नायिका के शरीर को देख लेता है। वायु के वेग से वस्त्र गिर जाता है और नायिक उसे उठा कर ठीक कर लेती है। इस वीच मे जो दृश्य दिखलाई पड जाता है, कवि ने उसकी उपमा विजली की चमल से दी है। नायक-नायिका की परस्पर देखा-देखी मे वाह्य-सौन्दर्य की ही प्रधानता रहती है। इन प्रसगो मे कवि की एक-से-एक उच्चकोटि की कल्पना के दर्शन होते है। दूती की शिक्षा का भी पर्याप्त विस्तार हुआ है। नायक-नायिका रात भर विहार करते रहे हैं। प्रात काल हो गया है। नायक छोडना नही चाहता। नायिका समझाती है। इस प्रसग मे प्रात काल का अच्छा वर्णन वन पडा है। वसन्त का वर्णन भी मनोरम हुआ है। इसके अतिरिक्त विरह-मान भी विद्यापति का महत्त्वपूर्ण विषय है। भावो तथा मनोदशाओ का वर्णन भी यत्र-तत्र सफलतापूर्वक किया गया है। भाव केवल कल्पित ही नही, किन्तु अनुभवसिद्ध भी है। विद्यापति वास्तव मे शृगारी कवि थे। यद्यपि एक-दो पद्यो मे कृष्ण के लोकोत्तर रूप की ओर सकेत भी पाया जाता है और इन्होने हरिहर का अभेद भी प्रतिपादित किया है, किन्तु यह शैव ही थे। राधा-कृष्ण को इन्होने केवल शृगार रस के विभाव के रूप मे अपनाया था। कवि की सरसता और सहृदयता मे किसी को सदेह ही नही हो सकता। नायक और नायिका के प्रेम को लेकर उसके अग-प्रत्यग का वर्णन करने मे कवि सिद्धहस्त है। इनकी कवितायें पढने वालो के मन मे रस का सचार करती हैं। स्वभावोक्ति मे तो ये अपना जोड नही रखते। अलकारो का प्रयोग वडा ही स्वाभाविक हुआ है। इनकी कविता मे भी राधा-कृष्ण सामान्य नायक-नायिका ही वने रहे। कृष्ण के जीवन की विशेष घटनाओं का इन्होने भी वर्णन नही किया।

(३) सूरदास—हिन्दी-मुक्तक-परम्परा ही नही समस्त हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य माने जाते है। इन्होंने जयदेव और विद्यापति के आदर्श पर गीत काव्य लिखा था। जयदेव और विद्यापति ने भगवान् के लौकिक प्रेम का ही वर्णन किया था, जिसमे कृष्ण और राधा के नाम को छोडकर कही भी उनकी परमात्मसत्ता के दर्शन नही होते और न कृष्ण के प्रेम मे जीवन का सर्वांगीण वर्णन ही प्राप्त होता है। कृष्ण चरित्र की विशिष्ट परिस्थितियो और घटनाओ का स्पर्श जयदेव और विद्यापति ने नही किया था। सूर काव्य की दो बहुत बडी विशेषतायें तथा मौलिकतायें है—एक तो इन्होने कृष्ण के प्रेममय रूप का पूर्ण तथा सर्वांगीण चित्रण किया है, कृष्ण जीवन की विशिष्ट घटनाओ और परिस्थितियो की उपेक्षा नही की, दूसरे इन्होने जयदेव या विद्यापति के समान केवल राधा-कृष्ण-प्रेम की प्रौढावस्था तथा परकीया रूप का वर्णन नही किया, अपितु बचपन से ही राधा-कृष्ण का साहचर्य दिखलाकर प्रेम का बडा मनोरम विकास दिखलाया है। साथ ही राधा-कृष्ण का विवाह करा का स्वकीयात्व की भी स्थापना कर दी है।

हिन्दी मे कृष्ण-काव्य के विस्तार का बहुत बडा श्रेय आचार्य श्री वल्लभ को प्राप्त है। इनके पुष्टिमार्ग मे दीक्षित होकर ही सूर इत्यादि कृष्ण-काव्यकारो ने भक्ति-रस की अमृतमयी स्रोतस्विनी बहाई है। शकराचार्य जी ने भगवान् की निर्गुण सत्ता को सत्य और साकार सत्ता को मायिक तथा व्यावहारिक माना था। इसके प्रतिकूल आचार्य वल्लभ ने भगवान् की साकार सत्ता (कृष्ण रूप) को सत्य और निर्गुण को उसका आशिक तिरोहित रूप कहा। श्री कृष्ण परब्रह्म है। पुरुषोत्तम कृष्ण मे आनन्द की चरम अवस्थिति है और इनकी सभी लीलायें नित्य हैं। गोलोक मे नित्य रूप मे यमुना, वृन्दावन, निकुंज इत्यादि सब कुछ है। वहा भगवान् की नित्य लीला होती है। भगवान् की इस नित्य लीला मे प्रवेश करना ही जीव की सर्वोत्तम गति है। भगवान् अपने को जीवो के रूप मे बिखराकर लीला किया करते हैं। प्रेम साधना द्वारा भगवान् की लीलाओ मे आनन्द लेना और उसके द्वारा भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करना पुष्टि कहलाता है। इसी आधार पर वल्लभाचार्य के सिद्धान्त को पुष्टि मार्ग कहते है।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है नारद-भक्ति-सूत्र मे भक्ति के ११ भेद किये गये थे। इसी आधार पर ११ प्रकार की आसक्ति का वल्लभ-सम्प्रदाय मे विस्तृत विवेचन किया गया है। वल्लभ-सम्प्रदाय के समस्त कवि और विशेषरूप से सूरदास भक्ति के इसी विभाजन को लेकर चलते है। सूर के भ्रमर गीत मे हमे गुणतादात्म्यासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परम-विरहासक्ति के दर्शन होते हैं। बाल-कृष्ण मे रूपासक्ति और वात्सल्यासक्ति के दर्शन होते है। इसी प्रकार गोवर्धनधारण मे पूजासक्ति, गोपिकाओ के परस्पर वचनो मे स्मरणासक्ति, मुरली-स्तुति में दास्यासक्ति, गोचारण मे सख्यासक्ति और गोपी-विहार तथा विरह-वर्णन मे कान्तासक्ति के दर्शन होते हैं।

सूर-सागर का दशम-स्कन्ध सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें श्री कृष्ण के प्रति माधुर्य और वात्सलय भावो की व्यजना बडे ही मनोरम रूप मे आ गई है। सूर के कृष्ण माधुर्य और प्रेम की प्रतिमूर्ति है। सर्वप्रथम कृष्ण का बालरूप हमारे सामने आता है। बच्चों की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चेष्टाओ का वर्णन किया गया है। घुटनो चलना, घर की देहरी को नाघ न पाना, तोतली भाषा मे बात करना, मक्खन लेकर मणिखम्भ के प्रतिबिम्ब को खिलाना इत्यादि बच्चो की छोटी-छोटी बातो का बडे ही मनोवैज्ञानिक ढग से वर्णन किया गया है। धीरे-धीरे कृष्ण बडे होकर एक नटखट बालक के रूपमे तैयार होते है। क्रीडा क्षेत्र मे जाते है। इसी प्रसग मे माखन चोरी के मनोमोहक चित्र उपस्थित किये गये हैं भगवान् का सौन्दर्य सभी गोपियो के लिये आकर्षण केन्द्र है। उनके गोचारण से हम उन्हे मानव से भी आगे बढकर पशु-जगत् से सहानुभूति स्थापित करते देखते है। उनकी रासलीला, दानलीला, मानलीला, चीरहरण इत्यादि मे हमे शृगाररस के अभूतपूर्व मधुर चित्र दृष्टिगत होते हैं। विप्रलम्भ शृगार ही रसो मे सबसे अधिक मधुर माना गया है और सूर-काव्य मे विप्रलम्भ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बन पडा है (भ्रमर गीत मे प्रेम-साधना तथा मधुरा-भक्ति पराकाष्ठा पर पहुच गई है।) इस प्रकार सूर मे प्रेम-साधना का सर्वांगीण विकास देखा जाता है।

काव्य-कला की दृष्टि से सूर का स्थान बहुत ऊचा है। कहा जाता है कि जिस विषय मे सूर ने जो कुछ कह दिया है, उससे आगे बढ़कर और कुछ कहने का अवसर ही नही रहा। उनकी कविता का सबसे बडा गुण है माधुर्य। एक तो ब्रज भाषा यो ही मधुर मानी जाती है, फिर सूर की पद-योजना और गीति शैली ने उसे और अधिक माधुर्य की चरम सीमा पर पहुचा दिया है। उनकी कविता मे हमे मानव के सच्चे उद्गार सुनाई देते है। उनके कहने का ढग भी बहुत अच्छा है। जो कुछ वह कहते हैं, वही पर मानो कथन की समाप्ति हो जाती है। वाक्-चातुर्य भी उनमे उच्चकोटि का है। भ्रमर-गीत वाक्चातुर्य का अच्छा नमूना है। इनका काव्य-ज्ञान भी बहुत ऊचा है। रस के सभी अग, सभी प्रकार के सचारी-भाव इनकी कविता मे पाये जाते है। अनुभावो का भी पर्याप्त विस्तार है। इनके अलकारो के प्रयोग-विस्तार मे इनकी कल्पना-शक्ति और चमत्कारिणी प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। काम की दोनो दशाओ का इनकी कविता मे समावेश है। इसमे सन्देह नही कि हिन्दी-साहित्य सूर की रचना से कृतार्थ हो गया है और जब तक हिन्दी-साहित्य है सूर अपनी प्रतिभा के कारण सर्वथा उसके मूर्धन्य बने रहेगे।

(आ) कृष्ण काव्य के दूसरे कवि

वल्लभाचार्य के बाद उनकी गद्दी पर आचार्य श्री विट्ठलनाथ जी बैठे। इन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय मे दीक्षित होकर कविता करने वाले ८ कवियो को सम्मिलित कर अष्ट छाप की स्थापना की। इन मे सूरदास जी प्रमुख थे। दूसरे थे

परमानन्द दास। ८४ वैष्णवन की वार्ता के अनुसार ये कन्नौज के एक दरिद्र परिवार मे उत्पन्न हुए थे। ये स्वभाव से विरक्त थे। इन्होने विवाह नही किया था। प्रारम्भ से ही कीर्तन करने वालो का मण्डल इनके यहा एकत्र रहा करता था। एक बार ये मकर स्नान करने प्रयाग गये और वहा वल्लभाचार्य के सम्पर्क मे आकर वल्लभ सम्प्रदाय मे दीक्षित हो गये। ८४ वैष्णवन की वार्ता के अनुसार इन्होने सहस्रावधि पद लिखे थे। इनके पदो का कोई सग्रह प्रकाशित नही हुआ है। केवल कुछ फुटकर पद ही यत्र-तत्र भक्तो के मुख से सुनाई देते है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट के अनुसार इन्होने दान लीला पर एक स्वतन्त्र पुस्तक भी लिखी थी पर इस का कोई पता नही चलता। परमानन्द के वल्लभ सम्प्रदायी पदो मे भगवान् की वाल लीला के पद अधिक प्रसिद्ध है जिन मे जन्माष्टमी, पालना, छठी, अन्नप्राशन, कन-छेदन, मृत्तिका भक्षण दान के पद इत्यादि अनेक विषय सम्मिलित है। इसी के साथ इनके स्फुट विषयो पर भी पद मिलते है। काकरौली मे एक परमानन्द सागर भी प्राप्त हुआ है जिस मे भगवान् की अनेक प्रकार की लीला का वर्णन है।

अष्ट छाप के तीसरे कवि है **कुम्भनदास**। ८४ वैष्णवन की वार्ता के अनुसार ये गोवर्धन पर्वत के निकट रहते थे। इनका विवाह भी हुआ था और ७ पुत्र तथा पुत्र-वधुए भी थी। ये खेती पर निर्वाह करते थे और निर्धनतामय जीवन व्यतीत करते थे। ये सर्वप्रथम वल्लभाचार्य के सम्पर्क मे आये थे। कहा जाता है कि एक बार अकवर ने अपने दरवार मे इन्हें बुलवाया और इस पर इन्होने यह पद गाया —

सन्तन को कहा सीकरी सो काम।
आवत जात पनहियां टूटी बिसरि गयो हरि नाम।
जाको मुख देखे दुख लागै ताको करन परी परनाम॥
कुम्भनदास लाल गिरधर बिनु यह सब झूठो धाम॥

कुम्भनदास के पद वल्लभ सम्प्रदाय के ग्रन्थो मे मिलते है। इन के पदो का सग्रह विशेष रूप से कीर्तन सग्रह, राग सागरोद्भव, राग कल्पद्रुम और राग रत्नाकर मे किया गया है। इन पदो मे भी जन्माष्टमी, वधाई, पालना, इन्द्रमान-भग, गोवर्धन पूजा, छाक, हिण्डोरा, राखी, धमार, होली, वसन्त, दधिमथन, खण्डिता, सखी वचन, सुरतान्त, स्वामिनी जू के प्रभु के प्रति हास्य वचन इत्यादि अनेक विषयो का वर्णन है।

अष्ट-छाप के चौथे कवि **कृष्णदास** का जन्म गुजरात के एक गाँव मे हुआ था। इनके माता पिता शूद्र थे। पर इनकी प्रतिभा वडी प्रखर थी। कहते है कि पिता के असत्य आचरण के विरुद्ध वचपन मे ही घर से निकल गये थे। प्रारम्भ मे इनकी शिक्षा व्यवस्थित न हो सकी। किन्तु वाद मे वल्लभ सम्प्रदाय मे दीक्षित हो जाने के वाद इनका व्रज भाषा पर वडा अधिकार हो गया। नाभादास ने इनकी कविता को निर्दोष लिखा है। विट्ठलनाथ जी ने इनकी व्यावहारिक वुद्धि से प्रसन्न होकर

इन्हे सारा अधिकार सौंप दिया था। इन के नाम पर कई ग्रथ प्रसिद्ध हैं पर वे उपलब्ध नही होते। इनके कुछ पद ही प्राप्त होते हैं जिन मे जन्माष्टमी, बाल लीला, राधा जी की बधाई, दान, मुरली, रास, पालना, कनछेदन, गोसाई जी की बधाई, हिंहोरा, शृगार, शयन, इत्यादि के पद सम्मिलित हैं।

सूरदास को छोड कर अष्टछाप मे नन्ददास का सर्वोच्च स्थान है। ये शुक्ल वश के सनाढ्य ब्राह्मण थे। इन के दीक्षा गुरु आचार्य विट्ठलनाथ थे। इनक अध्ययन गम्भीर था और ये अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध थे। कुछ लोग इन्हे गोस्वामी तुलसीदास जी का भाई बतलाते हैं पर यह बात प्रमाणित नही है। कह जाता है कि ये लौकिक प्रेम से भगवद्-भक्ति की ओर झुके थे। ये सूरदासके साथ भ रहे थे। इनके लगभग २२ ग्रथ प्रसिद्ध है। प्रमुख ग्रन्थो मे रास पचाध्यायी एक प्रौढ़ तथा प्रसिद्ध रचना है। इसके पदों मे रास का वर्णन किया गया है। इन्होने छन्दो मे भी रास लीला लिखी है। इन के ग्रन्थो मे विरहमजरी, रसमजरी, अनेकार्थमजर तथा रूपमजरी ये पाच मजरिया प्रसिद्ध है इन ग्रथो मे विभिन्न विषयो पर सूक्तिय का सकलन किया गया है। इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तक भ्रमरगीत है जिसमे उद्ध और गोपियों का बडा ही मनोरजक सवाद दिया हुआ है। इन्होने कुछ पद भी लि थे जिन मे वल्लभ सप्रदाय के अन्य कवियो की भाति जन्माष्टमी, राधा जी व बधाई, दान लीला, मान लीला, बाल लीला रासलीला, हिंडोरा, गोचारण, धमा कीर्तन इत्यादि अनेक विषयों पर पद लिखे गये थे। भक्तमाल मे इनकी रचना को दो भागों मे बाटा गया है—रीति विषयक और भगवान् की लीला विषयक। उनव रस मजरी, नाममाला, अनेकार्थ मजरी रूप मजरी, ये ग्रथ रस रीति से सबद्ध शेष कृष्ण लीला मे। भक्ति की दृष्टि मे रस रीति के ग्रथो मे उस रस-रीति का वर्ण है जिसका पालन नन्ददास ने अपने पदो मे किया है और काव्य की दृष्टि से ये ग्र नायक-नायिका भेद तथा भाषा की शक्ति से सबन्ध रखते हैं।

कुम्भनदास के कनिष्ठ पुत्र चतुर्भुजदास जी अष्टछाप के कवियो मे ए हैं। भक्त होने के कारण पिता का इन पर सर्वाधिक प्रेम था। इन के दो विव हुए थे तथा एक पुत्र भी बतलाया जाता है। पर इन का मन गृहस्थी मे नही लगता था। बचपन से ही ये गोसाईं विट्ठल नाथ के सपर्क मे आ गये थे तथा उनकी सेवा मे रत रहते थे। इन के नाम पर भक्तमाल, मिश्र-बन्धु विनोद तथा खोज रिपोर्ट मे कई पुस्तकें लिखी है। किन्तु इस नाम के कई कवि हुए हैं। कीर्तन सग्रहों मे छपे हुए इनके पदो के अतिरिक्त अन्य रचनायें प्रमाणित नही होती। इनके रचे हुए पदो मे जन्माष्टमी, राधा जी की बधाई, दशहरा, गोवर्धन पूजा, श्याम घटा, छाक, पालना, बाल लीला, दान, रास, वसन्त, धमार, खण्डिता, मान छुडाना इत्यादि से सबद्ध १३७ पद उपलब्ध होते है। कुछ पद अप्रकाशित भी हैं जिनमे मानापनोदन, सुरतान्त युगल रस वर्णन, भ्रमर गीत इत्यादि विषयो का समावेश है।

अष्टछाप के एक अन्य कवि **गोविन्द दास** का जन्म भरतपुर के एक सनाढ्य परिवार मे हुआ था। ये गृहस्थ थे। इनके एक पुत्र और एक पुत्री का उल्लेख मिलता है। ये बाद मे अपनी बहन कानबाई के साथ निरक्त होकर गोवर्धन पर रहने लगे थे। वही ये भक्ति के पद बना कर गाते थे। इस कवि की किसी प्रमुख रचना का अभी तक अनुसन्धान नही किया जा सका है। केवल कतिपय कीर्तन तथा पद प्राप्त होते है जिन मे अष्टछाप के सामान्य विषयो का समावेश किया गया है।

छीत स्वामी माथुर चौबे थे और गोवर्धन मे कीर्तन करते थे। वार्ता के अनुसार ये बीरबल के पुरोहित थे। वार्ता मे लिखा है कि वल्लभ सप्रदाय मे आने से पहले ये मसखरा, लपट और गुण्डा थे। नागरीदास ने इन्हे झगडालू प्रकृति का व्यक्ति लिखा है। वल्लभ सप्रदाय मे आने पर ये उच्चकोटि के कवि और भक्त बन गये। इनके इन गुणो की प्रशसा नाभादास और ध्रुवदास ने भी की है। कहते हैं कि ये एक बार विट्ठल नाथ से मसखरी करने गये थे, किन्तु विट्ठलनाथ जी का इन पर ऐसा प्रभाव पडा कि ये उनके भक्त बन गये। अष्टछाप के अन्य कवियो की भाति छीतस्वामी के ग्रथो का भी पता नही चलता। केवल वल्लभ सप्रदाय के कीर्तन-सग्रहो मे इनके रचित पद पाये जाते है। मिश्र बन्धुओ ने अपने पास इनके ३४ पदो का एक सग्रह बतलाया है। इन पदो के सामान्य विषय जन्माष्टमी, गोसाई जी की बधाई, आचार्य जी की बधाई, खण्डिता के पद, रास पालना, रास मल्हार, धमार, कलेऊ इत्यादि सम्मिलित है।

कृष्ण-भक्त कवियो मे अष्टछाप के अतिरिक्त **मीरा** और **रसखान** का नाम बहुत प्रसिद्ध है। मीरा जोधपुर के मेडता के राठौर रत्नसिंह की इकलौती बेटी थी। इनका जन्म चौकडी नामक ग्राम मे हुआ था। इनका विवाह स० १५७३ मे मेवाड के प्रसिद्ध महाराणा सीसोदिया कुल-भूषण भोजराज से हुआ था। कहा जाता है कि विवाह के १० वर्ष बाद मीरा के पति का देहान्त हो गया। किन्तु उन्हे पति-मृत्यु से रच भी दु ख नही हुआ क्योकि इनके हृदय मे गिरधर गोपाल की प्रबल भक्ति जागृत हो गई थी। ये रात-दिन गिरधर गोपाल के ही प्रेम मे लीन रहा करती थी। धीरे-धीरे साधु सगति मे आने लगी। इनके घरवालो ने इन्हे साधु सगति से रोकने की बडी चेष्टा की किन्तु इनके हृदय मे साधु सगति का ऐसा गहरा रग चढ़ गया था कि इनका मन घर-गृहस्थी की ओर नही फिरा। इस विषय मे इन्होने तुलसी को पत्र लिखा और उनका उत्तर पाकर चित्तौड से मेडता चली गयी। जब यहा भी मन न लगा तब वृन्दावन गयी। वृन्दावन मे कुछ दिन रहने के बाद द्वारका चली गयी और वही रणछोड जी के मन्दिर मे जाकर मीरा भगवान् की मूर्ति मे समा गयी।

मीरा का प्रेम माधुर्य भाव का है। इन्होने भगवान् के प्रौढ युवा रूप का

वर्णन किया है, बाल रूप का नही। इनका भाव एक सती-साध्वी धर्मपत्नी का भाव है, रूप-मोहिता प्रेयसी का नही। कहा जाता है कि मीरा एक गोपी का ही अवतार थी। इन्होने कई पदो मे अपने पूर्व जन्म के साथी का स्मरण किया है। माधुर्य भाव का प्रेम होने के कारण ही इनका ध्यान कृष्ण की बाल लीलाओं की ओर नही गया है। सूर की उत्कृष्ट बाल लीलाओ का मुख्य कारण उनका सख्य भाव ही है, जो वात्सल्य से सटा हुआ है। पत्नी अपने पति के बाल रूप मे नही लीन हुआ करती। उसे उसका प्रौढ युवा रूप ही अच्छा लगता है। कृष्ण के नटवर प्रौढ श्यामल स्वरूप की सुन्दरता पर मीरा ने अपने हृदय को चढाया था। मीरा की कविता मे भगवान् की रूप व्यजना अपने चरम उत्कर्ष को पहुच गई है। प्रेम का प्रारम्भ रूप के प्रति आकर्षण से ही है जो कि मीरा की रूप व्यजना मे पर्याप्त मात्रा मे पाया जाता है। रूप व्यजना के बाद दूसरा नम्बर लीला विहार का आता है। मीरा मे लीला विहार के हेतु वशी तथा धेनु चराना ही मुख्य है। जयदेव, विद्यापति और सूरदास जैसे महा कवियो मे जिस गोपी-कृष्ण या राधा-कृष्ण प्रेम तथा सम्भोग शृ गार का विशद वर्णन पाया जाता है वह मीरा मे खोजने से भी न मिलेगा। कारण यह है मीरा का प्रेम सती-साध्वी धर्मपत्नी का भाव है और कोई पत्नी अपने प्रियतम के परस्त्री-रमण की अप्रिय भावना को अपने हृदय मे स्थान नही दे सकती। हा, विरह व्यथा से झुलसे हुए हृदय से एक-दो उपालम्भ अवश्य निकले हैं। ये कुल की कान और लोक लाज तो श्री गिरधर लाल के चरणो मे वार ही चुकी थी। स्त्री-सुलभ भाव-गोपन की भावना तो बनी ही रहेगी। जहा कही मिलन की हल्की सी व्यजना है वहा भी प्रेम की प्रफुल्लता द्वारा ही प्रकट किया गया है आलिंगन इत्यादि उपकरणो द्वारा नही। सात्विक लक्षणो का भी कम उल्लेख मिलता है। रोमाच, वैवर्ण्य, प्रकम्प, प्रस्वेद इत्यादि के बहुत ही हल्के चित्र मिलते है। वैष्णव कवियो मे गोपियो के विरहानल का वर्णन विशेष रूप से मिलता है और वे गोपियो की विरह वेदना द्वारा अपनी वेदना व्यक्त करते हैं। गोपियो की स्थिति मे अपने को रख कर विरह की तीक्ष्णता को अनुभव और व्यक्त करने मे उन्हे कुछ सुगमता हो जाती है। किन्तु मीरा की भक्ति-साधना मे गोपिया मध्यस्थ नही बनी है। उन्होने प्रत्यक्ष रूप मे अपनी सारी आकाक्षा और अभिलाषा श्रीकृष्णार्पण कर दी है। मीरा ने कृष्ण को गोपी-वल्लभ या राधा-वल्लभ के रूप मे नही अपितु गिरधर लाल और श्याम सुन्दर के रूप मे स्मरण किया है।

मीरा का विरह गहरा अधिक है व्यापक कम। उसमे न प्रकृति के साथ तन्मयता स्थापित करने की चिन्ता है और न अवकाश ही। मीरा का विरह उस स्त्री के विरह के समान है, जिसका पति एक क्षण स्वप्न मे मिलकर अधरो पर चुम्बन का दाग छोडकर सदा के लिये परदेश चला गया हो। जब-जब मेघ घिर आते है, बू दें रिम-झिम बरसने लगती हैं तब-तब साजन की सुध हरी हो जाती है

और हृदय डावाडोल हो जाता है। फागुन मे जब सखिया धमाचौकडी मचाने लगती हैं, रग रलिया करने लगती है और प्रियतम के मिलने की तैयारी मे लग जाती हैं, उस समय मीरा के हृदय मे अपने परदेशी के लिये एक गहरी व्यथा उमड आती है। मीरा का दुःख तो एक अकथ कहानी है, उत्सर्ग का, प्रेम की वेदी पर सर्वस्व समर्पण का एक सर्वोत्कृष्ट ज्वलन्त उदाहरण है। मीरा के अधिक पद विरह-वेदना के ही हैं। विरह-वेदना मे उनका हृदय लिपटा हुआ दृष्टिगत होता है। मेघो के गर्जन और मधुमास की छटा विशेष रूप से उद्दीपन के रूप मे गिनाई गई है। सखियो की आनन्द केलि भी कष्टदायक हो जाती है। किन्तु यह भावना आनन्द विधायक है। अश्रु धारा की तह मे आनन्द की रेखायें स्पष्ट दृष्टिगत होती हैं। मीरा का प्रेम रहस्योन्मुख है। ये न तो कबीर की भाति ज्ञानी ही थी और न जायसी की भाति कवि। ये एक मात्र प्रेम की पुजारिन थी। उनकी प्रेमानुभूति मे जायसी की भाति व्यापकता भले ही न हो निगूढता कम नही थी। गोपियो के प्रेम मे व्यापकता है, मीरा के प्रेम मे गम्भीरता, गोपिया प्रेयसी हैं मीरा पत्नी, मीरा का प्रेम प्रेम है गोपियो का प्रेम रूपासक्ति।

रसखान का कृष्णभक्त कवियो मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ लोगो का विचार है कि इनका जन्म पिल्हानी मे हुआ था और इनका पुराना नाम सैयद मुहम्मद इब्राहीम था। प्रेम वाटिका के एक दोहे से ज्ञात होता है कि इनका सम्बन्ध बादशाही घराने से था। कहा जाता है कि ये अपने प्रारम्भिक जीवन मे बडे विषयी तथा कामुक थे और भगवान् का चित्र देखकर इन्हे भगवान् की ओर आकर्षण हुआ था। प्रेम वाटिका के एक दोहे से ज्ञात होता है कि इनकी प्रेमिका मानिनी थीं। अतएव उससे विरक्त हो, ये भगवान् की भक्ति मे लीन हुए थे। "२५२ वैष्णवन की वार्ता" के अनुसार इनका प्रेम एक साहूकार के लडके से था। बाद मे विरक्त होकर ये भगवान् की ओर आकृष्ट हुए थे। इनकी दो पुस्तकें उपलब्ध होती हैं—प्रेम-वाटिका तथा सुजान-रसखान। प्रथम पुस्तक मे दोहे हैं और दूसरी मे कवित्त-सवैये। इनकी कविता मे प्रेम टपकता है। यद्यपि ये वल्लभ सम्प्रदाय मे दीक्षित हुए थे तथापि उस सम्प्रदाय की इनकी रचनायें नही हैं। इन्होने भगवान् के बाल रूप का कहीं वर्णन नही किया है। रसखान ने मुरली-मनोहर की मधुर मुरली का शब्द अपने अन्तःकरण से नही किन्तु बाह्य श्रवणो से सुना था। उन्होने वृन्दावन-विहारी की बाकी झाकी भौतिक चक्षुओ से देखी थी, केवल दिव्य चक्षुओ से नही। इनकी कविता मे राधा कृष्ण प्रेम, मुरली के प्रति सपत्नी-भाव, सखी तथा दूती सम्वाद, रास और विलास तथा व्यंग्य और तानो का पर्याप्त वर्णन है। सखियो की कुब्जा के प्रति ईर्ष्या-भाव का भी पर्याप्त वर्णन है, इनकी भाषा बडी मनोहर तथा परिमार्जित है। भाव सच्चे तथा हृदयस्पर्शी है। मुसलमान होते हुए भी रसखान ने भगवान् कृष्ण के प्रति प्रेम की जो व्यजना की है वह हिन्दी साहित्य की अमर सम्पत्ति है इसमे सदेह नही।

राधा वल्लभ सम्प्रदाय के द्वारा भी कृष्ण भक्ति का पर्याप्त विस्तार हुआ। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे हितहरिवश। कहते है कि राधा ने स्वप्न मे इनको नया सम्प्रदाय चलाने का आदेश दिया था। ये तथा इन की शिष्य परम्परा के अनेक कवि कृष्ण काव्य रचना मे प्रवृत्त हुए और इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया। इनके शिष्यो मे ध्रुवदास का विशेष महत्त्व है।

मुक्तक काव्य परम्परा की अमरनिधि इसी कृष्ण काव्य मे सुरक्षित है। हिन्दू-मुसलमान, स्त्री-पुरुष, उच्च वर्ण के हिन्दू तथा शूद्र और अछूत सभी प्रकार के व्यक्तियो ने इस काव्य धारा को कृतार्थ किया था। इस काव्य धारा की महत्ता से आकृष्ट होकर गोस्वामी तुलसीदास को भी कृष्ण गीतावली लिखनी पडी। रहीम, केशव, गग इत्यादि हिन्दी के उच्चकोटि के कवियो ने सामान्य शृ गार धारा के साथ कृष्ण काव्य का भी स्थान-स्थान पर समावेश किया था। किन्तु इन्हें हम भक्त कवियो तथा महात्माओ मे स्थान नही दे सकते। कारण यह है इन कवियो की कवितायें भक्ति भावना से प्रवृत्त नही हुई थी अपितु परम्परा निर्वाह मात्र के उद्देश्य से लिखी गयी थी। इस काव्य धारा के अन्य प्रमुख कवियो मे सूरजदास, मदन-मोहन, 'युगल शतक' के लेखक श्री भट्ट, स्वामी हरिदास जी, गदाधर भट्ट, गोविन्द दास इत्यादि का नाम लिया जा सकता है।

(इ) आलम्बनेतर विषयक काव्यकार

सगुण भक्ति धारा की दो प्रमुख धारायें राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी रही है। इनमे राम-काव्य का माध्यम प्रवन्ध रहा और कृष्ण काव्य का मुक्तक। इसी प्रकार कवियो ने राम के लोक रक्षक रूप के दर्शन किये और कृष्ण के लोक रजक रूप को अपनाया। जहा हमे कृष्ण के प्रसग मे कोमल और मधुर भावनाओं के दर्शन होते हैं तथा कृष्ण का प्रेममय रूप हमारे सामने आता है वहा राम का मर्यादा-पालक रूप ही काव्य का विषय वना है। किन्तु राम काव्य परम्परा मे भी थोडी वहुत मुक्तक रचना हुई है। जहा गोस्वामी तुलसीदास जी का प्रबन्ध-काव्य मे प्रमुख स्थान है वहा उन्होने सफल मुक्तक भी पर्याप्त मात्रा मे लिखे हैं। उनकी कृष्ण गीतावली का उल्लेख किया जा चुका है। राम के विषय में उन के रसात्मक मुक्तक सग्रह है राम गीतावली, राम लला नहछू और बरवै रामायण। यद्यपि इन ग्रन्थो का सकलन कथा सूत्र के आधार पर किया गया है तथापि ये हैं सब मुक्तक-रचनाओ के सकलन ही। गोस्वामी जी ने समय-समय पर जिन पद्यो या गीतो की रचना की उन्ही को कथा सूत्र के आधार पर सकलित कर दिया। इसी कारण इन ग्रन्थो मे कथा का सक्षिप्त सकेत मात्र पाया जाता है। रचना अव्यवस्थित है। परिमाण भी नियमित नही। कथा भाग भी उच्छिन्न सा ही है। अतएव ये ग्रन्थ मुक्तक सग्रह ही माने जाते हैं प्रवन्ध काव्य नही।

गीतावली मे गीतो का सकलन है और कवितावली मे कवित्त तथा सवैय्यो

का। इस विषय मे गोस्वामी जी ने अपने समय की प्रचलित परम्परा का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व किया है। उस समय कृष्ण काव्यके प्रसग मे गीत लिखे जाते थे तथा उन मे कोमल भावनाओ का चित्रण होता था और राज दरबारो मे कवित्त-सवैया मे प्रशस्तिया लिखी जाती थी जिन मे वीरता का वर्णन होता था। इसी आधार पर गीतावली मे राम चरित्र के कोमल भावो का प्राधान्य है और कवितावली मे कठोर भावो को प्रमुखता प्रदान की गई है।

गीतावली मे कृष्ण-काव्य का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। कुछ गीत केवल नाम परिवर्तन के साथ सूर सागर से ज्यो के त्यो उठा कर रख दिये है। इस मे राम की बाल लीला का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। यद्यपि होली, चाचर इत्यादि घटनाये राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप के अनुकूल नही पडती फिर भी जान बूझ कर उनकी योजना चित्रकूट के वर्णन मे तथा उत्तर काड मे की गयी है। बाल काण्ड मे राम के सौन्दर्य वर्णन की प्रधानता है। प्रारम्भ मे राम के बाल सौन्दर्य का वर्णन है और अन्त मे जनकपुर की स्त्रियो का आकर्षण दिखलाया गया है। अयोध्या काण्ड मे भी मार्ग मे स्त्रियो का आकर्षण ही दिखलाया गया है अन्य वर्णन प्राय उपेक्षित से है। कृष्ण काव्य से साम्य स्थापित करने के उद्देश्य से ही चित्रकूट मे चाचर और होला के वर्णनो की योजना की गई है। अरण्य काण्ड मे कथा विस्तार की सर्वथा उपेक्षा है। केवल गीध और शबरी का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस काण्ड मे करुण रस का अच्छा परिपाक है। किष्किन्धा काण्ड मे शृगार, वीर, रौद्र तथा शान्त रसो को लेकर गीतो की रचना की गई है। सीता के वियोग शृगार का अच्छा चित्रण है। वाटिका विध्वस तथा लका दहन की प्रधान घटनायें छोड दी गई हैं। लका काण्ड मे युद्ध का वर्णन बहुत कम है। लक्ष्मण के शक्ति लगने पर करुण रस का परिपाक हुआ है। उत्तर काण्ड मे राम कथा के साथ राम का विलास, हिंडोला, नखशिख इत्यादि का वर्णन कृष्ण काव्य से प्रभावित है। गीतावली मे कोमल रसो की ही प्रधानता है। इस मे हमे तुलसी की मधुर अनुभूति तथा गीति काव्य के अनेक गुणो के दर्शन होते है।

जिस प्रकार गीतावली मे कोमल स्थल छाटे गये है उसी प्रकार कवितावली मे कठोर स्थलो का पर्याप्त विस्तार है। इस मे राम के ऐश्वर्य और शक्ति का ही प्रधानतया वर्णन किया गया है। किन्तु राम के सौन्दर्य का भी यथास्थान वर्णन कर दिया गया है। राम के बाल रूप तथा वन गमन मे मार्ग के वर्णन मे शृगार तथा कोमल रसो का भी वर्णन है। वीर, रौद्र भयानक, वीभत्स जैसे कठोर रसो के अनुकूल प्रकरणो का अधिक विस्तार है। लका दहन और युद्ध वर्णन इस सग्रह मे पर्याप्त मात्रा मे आये है। भयानक रस का भी इसमे अच्छा परिपाक है।

रामलला नहछू मे स्त्रियो के गाने के गीत हैं। इसका राम कथा से कम सामान्य वर-वर्णन से अधिक सम्बन्ध है। इस मे नाइन, बारिन, मालिन इत्यादि का

शृंगार वर्णन किया गया है और राजा दशरथ का उनके प्रति आकर्षण दिखलाया गया है। ये सब मर्यादा के विपरीत हैं। तथापि विवाह इत्यादि में इतना वर्णन क्षम्य ही माना जाता है। बरवै रामायण मे बरवै छन्दो मे राम कथा कही गयी है। यह ग्रथ स्फुट रचना के रूप मे लिखा गया है। प्रबन्धात्मकता का ध्यान भी नही रखा गया है। राम जन्मादि का वर्णन ही नही है। बाल काण्ड में सीता सौन्दर्य तथा स्वयवर का ही वर्णन किया गया है। उत्तर काण्ड मे शान्त रस की रचनायें है। यदि उत्तर काड को छोड दिया जाये तो सम्पूर्ण ग्रथ अलकार निरूपण की दृष्टि से लिखा हुआ ज्ञात होता है।

राम को आलम्बन मान कर मुक्तक रचना करने वाला कोई और प्रसिद्ध कवि दृष्टिगत नही होता। केवल नाभादास जी के कुछ पद प्राप्त हुए है, जिनका निर्देश आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास मे किया है। राम के अतिरिक्त निर्गुण ब्रह्म को भी प्रेम का आलम्बन बनाने वाले कबीर, दादू, नानक इत्यादि बहुत से सन्त कवि हुए हैं। किन्तु एक तो ये कवि प्राय अशिक्षित थे तथा सत्सग के बल पर ही थोडा बहुत ज्ञानोपार्जन कर उपदेश देने लग गये थे। दूसरे बिहारी के समय तक पहुचते-पहुचते उनकी परम्परा समाप्तप्राय हो चुकी थी। इन कवियो की वाणी प्राय अटपटी है और काव्यशास्त्र की दृष्टि से भी अधिक महत्वपूर्ण नही है। निर्गुण को प्रेम का आलबन बनाना अशक्य भी है। यही कारण है कि बिहारी पर इनका प्रभाव बिलकुल नही पडा। अतएव यहा पर उनका विवेचन प्रसग-बाह्य समझ कर छोड दिया गया है।

(ई) पुरानी परम्परा के कवि

ऊपर जिन कवियो का उल्लेख किया गया है वे भक्त और महात्मा कवि थे तथा आराध्य देव की मधुर तथा कोमल लीलाओ मे आनन्द लेते थे। किन्तु इस काल मे कुछ ऐसे भी कवि हुए है जिन्हे महात्मा तथा भक्त कवि की सज्ञा नहीं प्राप्त हो सकती, जो भक्ति के क्षेत्र मे बाहर रह कर ही कविता करते थे। ये कवि हाल के समय से चली आती हुई उस परपरा को जीवित रखे हुए थे जिस में कल्पित नायक-नायिका की प्रेमलीला का रसास्वादन किया जाता था, जिसमे वर्णित घटना भी कल्पित ही होती थी और जो किसी भी नायक और नायिका के विषय मे लागू हो सकती थी। विशिष्ट आलबन और विशेष रूप मे राधा-कृष्ण को लेकर रचना करने की उस समय की सामान्य प्रवृत्ति थी। अतएव ये कवि भी जहा-तहा राधा-कृष्ण का नाम निर्देश कर देते थे और कभी-कभी कृष्ण की विशिष्ट लीलाओं का भी वर्णन किया करते थे। तथापि इन्हे कृष्ण-भक्त कवियो का स्थान नहीं दिया जा सकता। कारण यह है कि एकतो कृष्ण सबन्धी इन की रचना परिमाण मे इतनी न्यून है कि इनको कृष्ण-भक्त कवियो मे स्थान दिला ही नही सकती तथा परपरा पालन का उपचारमात्र रह जाती है। दूसरे कृष्ण-भक्तो के क्षेत्र मे आने के लिये

जिस साधनामय जीवन की आवश्यकता थी और जो त्याग-तपस्यामय जीवन कृष्ण-भक्त कवियो का था उसका इन मे अत्यन्ताभाव है। यही कारण है कि इन कवियो को भक्त कवियो की कोटि मे न रख कर आचार्य शुक्ल ने सामान्य भक्तिकाल के फुटकर कवियो की कोटि मे रखा है। ऐसे कवियो मे प्रमुख हैं गग, रहीम, सेनापति और केशव।

(१) गग अकवरी दरवार के कवि थे। उनका साहचर्य रहीम, वीरवल, मानसिह इत्यादि से था। ये इकनौर जिला इटावा के रहने वाले ब्रह्म भट्ट थे। इनकी अकबर के दरवार मे पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। कहा जाता है कि रहीम की प्रशसा में इन्होने एक छप्पय लिखा था जिस पर प्रसन्न होकर रहीम ने इन्हे ३६ लाख रुपये का पारितोपिक दिया था। इसी प्रकार मानसिह और वीरवल से भी ये पुरस्कृत हुए थे। इन्होने अकवर के पुत्र और रहीम के दामाद दानियाल शाह की भी प्रशसा की है। ये जहागीर के समय तक जीवित रहे और अपने जीवनकाल मे इन्होने अनेक उत्थान-पतन देखे। एक राजा की आज्ञा से इन्हे हाथी के पैर से कुचलवाकर मार डाला गया था।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की त्रैवार्पिक खोज रिपोर्ट (स० १९३२-३४) मे गग रचित तीन पुस्तको का उल्लेख किया गया है—गग पदावली, गग पचीसी और गग रत्नावली। गग पदावली मे सात सौ इक्कीस पद्य वतलाये जाते है और गग रत्नावली मे १४मो। इसके अतिरिक्त याज्ञिक सग्रहालय मे भी गग के कुछ पद्य सुरक्षित हैं। किन्तु अभी तक इनका कोई प्रामाणिक सस्करण प्रकाशित नही हुआ है।

गग ने विभिन्न विषयो मे कविता की है—भक्ति भावना, राम कृष्ण महिमा, गगा यमुना वर्णन, भक्ति भाव की अनन्यता तथा व्यग्रता इनके छन्दो के विपय हैं। किन्तु कवि का विशेप रूप मे प्रिय विपय शृगार के सयोग और वियोग पक्ष हैं। कवि ने शृगार के अन्तर्गत नख-शिख वर्णन स्वतन्त्र रूप मे किया है जो सर्वथा स्वतन्त्र है और उस पर सूर के समान न तो भगवद्-भक्ति की छाप है न जायसी के समान रहस्य भावना ही व्यक्त की गई है। इनके प्रकृति वर्णन अधिकतर उद्दीपन रूप मे हैं। इस प्रकार गग की कविता स्वाभाविक, सुन्दर और चित्ताकर्षक है। कवि ने लाक्षणिक और व्यग्यात्मक शैली को भी अपने काव्य मे स्थान दिया है। कही-कही इन्होने समस्या पूर्ति भी की है। इनमे अलकारो का स्वाभाविक समावेश हुआ है। उक्ति-वैचित्र्य और कल्पना-वैचित्र्य भी इनमे पर्याप्त मात्रा मे पाया जाता है। सयोग-वियोग वर्णन मे कही-कही राधा-कृष्ण तथा गोपी-कृष्ण का भी उल्लेख कर दिया गया है।

(२) **रहीम** वैराम खा खानखाना के पुत्र थे। रहीम की ४ वर्ष की आयु मे ही वैराम खा को एक पठान ने कत्ल कर दिया था। वाद मे अकवर ने ही इनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की। कहा जाता है कि इन्होने ११ वर्प की आयु से ही

ग्रन्थ रचना प्रारम्भ कर दी थी। अकवर ने अपनी धाय की पुत्री से इनका विवाह करा दिया था तथा अनेक प्रतिष्ठित पद प्रदान किये थे। ये बडे वीर थे। इन्होने अनेक किले जीते थे। रहीम की कार्यकुशलता, योग्यता और बुद्धिमत्ता से प्रभावित होकर अकवर ने इन्हे अजमेर की सूवेदारी और रणथम्भौर का किला प्रदान किया था। अकवर के वाद जहागीर ने भी इनका वैसा ही सम्मान रखा। किन्तु अन्तिम समय मे उत्तराधिकार के सघर्ष मे इनका नूरजहा से मतभेद हो गया। नूरजहा अपने दामाद शाहजादा शहर्यार को वादशाह वनाना चाहती थी और इन्होने खुर्रम (शाहजहा) का समर्थन किया था। इस पर रुष्ट होकर जहागीर ने इन्हे अपदस्थ कर दिया। तव इन्हे वडी आर्थिक विषमता का सामना करना पडा। वाद मे रहीम के क्षमा-प्रार्थना कर लेने पर इन्हे दुवारा खानखाना का पद दिया गया और कन्नौज की सूवेदारी भी प्रदान की गई। रहीम मे वहुत वडे गुण थे। वे वडे बुद्धिमान् और प्रतिभासम्पन्न कवि थे। इन्हे अनेक भाषाओ तथा शास्त्रो का ज्ञान था। इन्होने हिन्दू शास्त्रो का भी पर्याप्त मनन किया था। हिन्दी मे अनेक कवियो ने इनकी दानशीलता, लोकप्रियता और काव्य-प्रेम का परिचय दिया है। इनके दान के पात्र सर्वदा हिन्दी के कवि ही थे। अत हिन्दी के कवियो ने जैसी इनकी प्रशसा की है वैसी फारसी कवियो ने नही की।

रहीम के कई सग्रह प्रकाशित हुए है जिनमे रहिमन, विलास, रहिमन, विनोद, रहीम-कवितावली, रहीम-चन्द्रिका, रहीम-रत्नावली इत्यादि प्रमुख हैं। रहीम रत्नावली मायाशकर याज्ञिक द्वारा सकलित की गई है और इसमे रहीम कृत सभी पुस्तको का समावेश है। रहीम का वरवै नायिका भेद सर्वाधिक प्रसिद्ध है। जो पुस्तकें उपलव्ध होती है उनमे मतिराम के दोहे भी सम्मिलित है जिससे इस पुस्तक मे पूर्णता आ गई है। इसके अतिरिक्त रहीम के १०१ वरवै और पाये जाते हैं। यह रचना वरवै नायिका भेद से अधिक प्रौढ है। इनकी एक और पुस्तक मदनाष्टक है, जिसमे सस्कृत मिश्रित खडी वोली मे रचना की गई है। एक रचना नगर वर्णनपरक भी है जिसमे शृगारिक भावना का परिचय मिलता है। इसमे अनेक जाति की कैथिन, जौहरिन, वारिन, रगरेजिन इत्यादि का वर्णन है। सम्भव है इसके लिखने मे कवि को मीना वाजार से प्रेरणा प्राप्त हुई हो। वरवै नायिका भेद मे नायिका के स्वकीया, प्रोषितपतिका, उत्तमा, मध्यमा इत्यादि भेदो के साथ नायको के भेद भी दिये गये है। इसके अतिरिक्त इसमे स्वप्न इत्यादि दर्शन-भेद, सखी-कर्म, शिक्षा-उपालम्भ, परिहास इत्यादि का भी वर्णन सम्मिलित है। फुटकर छन्दो मे शृगार रस और विशेष कर विरह का वर्णन मिलता है। इस वियोग वर्णन पर वारहमासा की छाप प्रतीत होती है। इनमे विरहिणी की दीन दशा का सजीव चित्रण हुआ है। वरवै छन्दो मे व्यक्त विरह की भावना उत्कृष्ट कला की द्योतक है। मदनाष्टक पुस्तक मे कृष्ण की मुरली का व्यापक प्रभाव, गोपियो की विह्वलता, कृष्ण के रूप सौन्दर्य द्वारा उद्दीप्त गोपियो की

तीव्र आकाक्षा का वर्णन किया गया है। यह सम्पूर्ण वर्णन विप्रलम्भ शृ गार के अन्तर्गत स्मृति सचारी के रूप मे हुआ है। गोपियो का प्रेम कृष्ण के वशीनाद, मधुर चाल, रुप माधुरी इत्यादि से उद्दीप्त हुआ है। इनके पदो मे कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का वर्णन मधुर भाषा मे हुआ है। भाव और भाषा दोनो दृष्टिकोणो से ये पद सूर से मिलते हैं। कवित्त-सवैय्यो मे भी कृष्ण के वाल रूप, गुण-कथन इत्यादि का वर्णन है और सोरठो मे भी शृ गारिक वर्णन आया है।

(३) सेनापति के लिखे दो ग्रन्थ कहे जाते हैं—काव्य कल्पद्रुम और कवित्त-रत्नाकर। काव्य कल्पद्रुम अभी प्रकाश मे नही आया है। कवित्त रत्नाकर मे पूर्ण छन्दो की सख्या ३९४ है पर कुछ मे पुनरुक्ति है।

कवित्त-रत्नाकरकार ने रस ध्वनि को अपना लक्ष्य माना है, किन्तु पुस्तक पढने से प्रतीत होता है कि कवि अपने लक्ष्य मे सफल नही हो सका। अलकारों की ओर कवि की विशेष प्रवृत्ति लक्षित होती है और चमत्कार-विधान ही कवि का मुख्य साध्य वन गया है, यहा तक कि कवि ने अपने पहले प्रकरण को श्लेष वर्णन की सज्ञा प्रदान की है। श्लेष का बहुतायत मे प्रयोग किया गया है। इस पुस्तक मे शृ गार, वीर, रौद्र, भयानक तथा शान्त रस सम्बन्धी कविता दी गई है। स्वभावत अन्य रसों की अपेक्षा शृ गार का वाहुल्य है। शृ गार के आलम्बन नायक-नायिका का वर्णन थोडा होते हुए भी सजीव है। कवि ने अपनी रुचि के अनुसार कतिपय नायिकायें चुन ली हैं और उन पर कवित्त लिखे है, जो थोडे-वहुत अच्छे वन पडे है। कवि ने क्रिया विदग्धा और वचन विदग्धा के उदाहरणो मे व्यजनाओं का अच्छा परिचय दिया है। पर सेनापति ने ऐसे अवसर पर श्लेप से काम चलाया है। श्लेप मे कही-कही अश्लीलता भी आ गई है। सेनापति ने परकीया का वर्णन अधिक किया है, पर स्वकीया का महत्त्व अक्षुण्ण रखा है। उद्दीपन विभाव के रूप मे नख-शिख का वर्णन किया गया है किन्तु उनमे प्रचलित उपमानो का ही वर्णन पाया जाता है। सेनापति का ध्यान सयोग शृ गार की अपेक्षा वियोग शृगार की ओर अधिक है। उनका विरह-वर्णन प्रधाननया प्रवासहेतुक और विरहहेतुक है। ईर्ष्याहेतुक भी वियोग पाया जाता है। विरह वर्णन मे अस्वाभाविक उक्तिया कम कवित्तो मे पाई जाती हैं अधिकतर स्वाभाविक उक्तिया ही हैं। विरह के उद्दीपन के लिये ऋतु वर्णन से विशेष सहायता ली गई है। ऋतु वर्णन स्वतन्त्र रूप मे भी किया गया है। विरह वर्णन मे सचारियो का वर्णन अधिक नहीं है। राम कथा पर जो कवित्त लिखे गये है, उनमे वीर रस की प्रधानता हैं। सेनापति युद्ध वर्णन मे इतने प्रवृत्त नही हुए हैं जितने तैयारी के वर्णन मे। भयानक रस भी दो-तीन छन्दो मे पाया जाता है।

(४) केशव पर सस्कृत साहित्य का वहुत वडा प्रभाव परिलक्षित होता है। केशव सस्कृत साहित्य के पडित अवश्य थे। परन्तु जिस सस्कृत साहित्य का उन पर अत्यन्त गम्भीर प्रभाव पडा वह पिछले काल का था जवकि सस्कृत साहित्य के पतन

के दिन थे। भावो की वह गम्भीरता, हृदय की विशालता जो सस्कृत के पुराने कवियो मे थी, इन पिछले कवियो मे न रह गई थी। भाव-गम्भीरता के स्थान मे शाब्दिक चमत्कार तथा अलकार योजना के वैचित्र्य को महत्त्व दिया जाने लगा था। सस्कृत के साहित्य से तथा अपने आसपास की परिस्थितियो से प्रभावित होकर उन्होने लिखना प्रारम्भ किया था। केशव की अपनी रुचि भी गम्भीरता की ओर उतनी न थी। वे स्वय भी चमत्कार विधान को अधिक महत्त्व देते थे। केशव की भाव व्यजना मे एक बहुत बडा दोप यह है कि उन्होने भाव को स्वशब्द-वाच्य बना दिया है। हास्य रस तथा बीभत्स रस इत्यादि मे स्वशब्द-वाच्यता एक दोप माना जाता है। पर केशव ने इस बात का ध्यान नही रक्खा है। दूसरी बात यह है कि इन्होने शृगार को रसराज सिद्ध करने मे सभी रसो का समावेश शृगार रस मे दिखला दिया है। कुछ रस तो शृगार के विरोधी है और उनका साहचर्य भी उचित नही कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त इन्होने शृगार के बडे ही निम्न चित्र खीचे है। परकीया नायिका को शृगार का आलम्बन बनाना एक दोप माना गया था। किन्तु इस दोप से बचने के लिये कृष्ण चरित्र मे पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। लौकिक तथा स्थूल दृष्टि से नायिका यद्यपि परकीया थी, किन्तु जीव ब्रह्म के पारमार्थिक प्रेम का प्रतीक होने के कारण-गोपी कृष्ण प्रेम दोप नही माना गया था। किन्तु केशव का राधा-कृष्ण प्रेम दोप की सीमा तक पहुच जाता है। बलराम की वर्षगाठ के अवसर पर सभी स्त्रिया आमोदप्रमोद मे लगी हुई है। उस समय राधा-कृष्ण के एकान्त विहार तो कोई बडी बात नही किन्तु जब गाव मे आग लगी हो, चारो ओर आहि-आहि मच रही हो उस समय कृष्ण का राधा को चम्पा की माला के समान हृदय मे लगाना और स्वच्छन्द विहार करना केशव की ही समझ मे समीचीन हो सकता है।

कही-कही पर भावाभिव्यक्ति उच्च कोटि की बन पडी है और कल्पनायें भी अच्छी है। इस से ज्ञात होता है कि इन्हे कवि-हृदय प्राप्त था। परन्तु ये व्यजना अथवा ध्वनि को अच्छे काव्य का अ ग नही मानते थे। इसी लिये हृदय के गम्भीर भावो के उद्घाटन तथा अभिव्यजन की आवश्यकता उन्हे प्रतीत नही हुई। साहित्य मे अलकारो का महत्त्व अवश्य है पर जब वे इतने प्रभावशाली हो जाते है कि भावो को पैर टेकने का स्थान भी नही मिलता, तब वे काव्य को उच्च आसन से पतित कर देते है।

केशव ने बारहमासा, षड्ऋतु, समुद्र, पृथ्वी इत्यादि का भी वर्णन किया है। १२ महीनो का वर्णन आक्षेप अलकार के उदाहरणो मे किया गया है। प्रत्येक मास मे कोई न कोई नायक परदेश जाने को उद्यत है। उसकी प्रेयसी उसे कोई न कोई बहाना बना कर रोकती है। केशव के अलकारो मे चाहे उतनी सहृदयता न मिलती हो परन्तु यह मानना पडेगा कि उनकी सूझ व प्रतिभा विस्तृत तथा गम्भीर थी। एक-एक दृश्य को लेकर उत्प्रेक्षा, सदेह और रूपक की लडी सी बाध देते थे। केशव का स्थान हिन्दी साहित्य मे बहुत महत्त्वपूर्ण है इसमे सदेह नही।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त इस परम्परा मे और भी अनेक कवि हुए है। अकबर का राज्य काल इन प्रकार के कवियो से भरा पूरा था। करणेश के करणा-भरण, श्रुति भूषण और भूप भूषण इसी काल की रचना है। नरहरि कवि ने भी अन्य विषयों के साथ रूप सौन्दर्य, गोपी विरह, राधा कृष्ण प्रेम इत्यादि विषयों पर कुछ पद्य लिखे थे। ब्रह्म कवि या राजा वीरवल का अकबर से सम्वन्ध प्रसिद्ध है। ये अच्छे कवि थे। इन्होने वल्लभ सम्प्रदाय के छीतस्वामी का शिष्यत्व अगीकार किया था। इनके रसात्मक पदो मे वाल लीला, मान, सयोग-वियोग शृगार, मुरली माधुर्य, राधा कृष्ण केलि, रास, कृष्ण प्रवास, गोपी विरह इत्यादि का वर्णन पाया जाता है। कहीं-कहीं प्रकृति चित्रण भी किया गया है। इन्होंने इत्र, फुलेल, आभूषण इत्यादि का पर्याप्त वर्णन किया है और इनकी रचनाओ मे विपरीत रति का वर्णन पाया जाता है। इनकी व्रज भाषा परिष्कृत है और भाव उच्च कोटि के हैं।

दूसरी ओर विदेशी परम्परा मे भी साहित्य रचना हो रही थी। खडी वोली को उर्दू का नाम दे दिया गया था। उसमे भेदक तत्व अरवी फारसी के शब्दो का वहुत प्रयोग ही था। इसके अतिरिक्त काव्य मे सारा वातावरण, सारे अप्रस्तुत विधान, और समस्त आदर्श विदेशी ही अपनाये गये थे। कविता मे सभी पुराने विषय रखे जाते थे केवल रचना कौशल ही उसमे नवीनता का सचार करने वाला होता था। इस काव्य की विशेषतायें थी—प्रत्युक्ति, रचना कौशल, विरोधालकार, अनुप्रास इत्यादि का वहुल प्रयोग। इस कविता मे शृगार का पोषण, वीभत्स के द्वारा भी किया जाता था। प्राय दिल के कतरे, खून, मास इत्यादि का वर्णन होता था।

ऊपर रसात्मक मुक्तक परम्परा का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। उससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते है —

(१) रसात्मक मुक्तक परम्परा को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है —प्रकृति काल, प्राकृत काल और भक्ति काल।

(२) इस परम्परा के प्रारम्भिक काल मे प्रकृति पर मानव-भावनाओ का आरोप कर उसे रसास्वादन का विषय वनाया जाता था। ये भावनायें कोमल भी होती थी और कठोर भी।

(३) वैदिक युग के अन्तिम चरण मे मानव-भावनायें प्रत्यक्ष रूप मे रस-निष्पत्ति का विषय वनने लगी थी। किन्तु प्रधानता प्रकृति-काव्य की ही रही।

(४) धीरे-धीरे आलवन के रूप मे प्रकृति-वर्णन तिरोहित हो गया और उसका उपादान उद्दीपन अथवा अलकार के रूप मे रह गया।

(५) हाल के समय से काव्य की दिशा वदल गई। प्राकृत-जनविषयक रति काव्य का प्रधान विषय वन गई। कल्पित नायक-नायिकाओ के कल्पित क्रिया-कलापो का वर्णन किया जाने लगा जो कि किसी भी व्यक्ति के विषय मे घट सकता था।

(६) नायक, नायिका, दूती, सहायक, विभिन्न चेष्टायें, सहकारी भाव इत्यादि का एक निश्चित पद्धति पर वर्णन होने लगा जिसका विस्तृत विवेचन काव्य-शास्त्र मे किया गया।

(७) इस काल मे कामसूत्रो के आधार पर भावनाओ के घात-प्रतिघात दिखलाये जाते थे।

(८) ईसा की प्रथम सहस्राब्दी के अन्त मे धार्मिक सघर्ष तथा विदेशियो के प्रवेश के फलस्वरूप नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी। महापुरुषो के उपदेशो को पालन करने के स्थान पर उनके प्रति श्रद्धा रखने मे ही जगत् अपनी इतिकर्तव्यता का अनुभव कर रहा था।

(९) बौद्ध धर्म शाखाओ-प्रशाखाओ मे बट गया था और सर्वसाधारण को स्वधर्म दीक्षा देने की झोक मे अनेक प्रकार के अनाचार समाज मे प्रविष्ट हो गये थे।

(१०) मुसलमान धर्म की प्रेम -साधना का भारतीय धर्म-साधना पर पर्याप्त प्रभाव पडा था।

(११) दक्षिण के अनेक विद्वान् महात्माओ ने दार्शनिक पद्धति पर परमात्म-तत्व का विवेचन किया था और शकर के मायावाद के प्रतिरोध के लिये अनेक सम्प्रदाय उठ खडे हुए थे।

(१२) रामानुज, माध्व और निम्बार्क ने किसी न किसी रूप मे भेदवाद की स्थापना कर भक्ति मार्ग को प्रशस्त बना दिया था।

(१३) परिस्थितियो के प्रसाद के रूप मे कृष्ण-भक्ति का आविर्भाव हुआ था।

(१४) कृष्ण-भक्ति शाखा के दो रूप पाये जाते है—कुछ कवि नाम मात्र को ही कृष्ण और राधा का नाम जोड देते थे। उनका शृगार वर्णन सर्वसाधारण का ही शृगार होता है। इसके प्रतिकूल कुछ कवि कृष्ण चरित्र की विशिष्ट परिस्थितियो का भी समावेश कर देते है।

(१५) कृष्ण-काव्य के रूप मे नायक-नायिका निरूपण चल पडा था। कृष्ण सौन्दर्य वर्णन मे नख-शिख की परपरा चल पडी। कृष्ण की रासलीला, होली, चाचर इत्यादि को लेकर ऋतु वर्णन तथा बारहमासा चल पडा। इस प्रकार कृष्ण काव्य के रूप मे रीतिशास्त्र का परिशीलन प्रारम्भ हो गया था।

(१६) कृष्ण के चरित्रो मे बाललीला और किशोरलीला ही मुख्य है। भ्रमर गीत तथा राम की प्रधानता है।

(१७) कुछ कवियो ने कृष्ण की लीलाओ से आनन्द न लेकर उन्हे अपने प्रेम का आलबन बनाया और भगवान् को अपने प्रियतम के रूप मे देखा। मधुरा भक्ति के साथ वात्सल्य, सख्य, दास्य इत्यादि प्रकार की भक्ति भी की गई।

(१८) कृष्ण-भक्ति पर पुष्टि मार्ग का विशेप प्रभाव पडा।

(१६) राम भक्ति शाखा प्रबन्धात्मकता के अनुकूल ही रहा। इस मे मुक्तक रचना अधिक नही हुई।

(२०) निर्गुण ब्रह्म के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति भी सप्रदाय विशेष की विशेषता रही। पर बिहारी के समय तक आते-आते उस का लोप हो गया था।

(२१) कृष्ण भक्ति परपरा के साथ ही पुरानी परपरा मे भी कविता होती रही। उसका अत्यन्ताभाव कभी नही हुआ।

(२२) इस काल के शृगारिक काव्य मे अधिकतर आध्यात्मिकता का पुट पाया जाता है। दार्शनिकता प्राय सर्वत्र दृष्टिगत होती है।

(२३) दूसरी ओर मुगल दरबारो मे उर्दू कविता को महत्त्व दिया जाता था जिसमे सारा वातावरण विदेशी था और अत्युक्ति तथा वियोग शृगार के पोषण मे बीभत्स का प्रयोग जिसके विशेष गुण थे।

यही रसात्मक मुक्तक परपरा का सक्षिप्त परिचय है।

अध्याय—३

रसेतर मुक्तक

(१) धार्मिक मुक्तक

धार्मिक मुक्तक परम्परा का मूल स्रोत हमे ऋग्वेद मे ही समुपलब्ध होता है। ऋग्वेद मे हमे दोनो प्रकार के धार्मिक मुक्तक प्राप्त होते है—स्तोत्र रूप मे भी और सिद्धान्त प्रतिपादन सम्बन्धी भी। यास्क ने धार्मिक दृष्टि से वैदिक साहित्य को जो तीन भागो मे विभक्त किया था भारतीय धार्मिक जगत् मे यह परम्परा सदा अपना अधिकार बनाये रही और उनके प्रवृति-निमित्त भी सर्वदा वही रहे जो यास्क ने स्थापित किये थे। परवर्ती स्तोत्रो मे भी कही देवताओ की लोकोत्तर महत्ता, कही उनमे लौकिक तथा पारलौकिक सुख-भोग की याचना और कही आध्यात्मिकता दृष्टिगत होती है। वैदिक स्तोत्रो मे जिस प्रकार प्रस्तुत देवता की महत्ता के प्रतिपादन मे अन्य देवो के प्रति हीन भावना अभिव्यक्त की गई है और अन्य देवो को प्रस्तुत देव का वशवर्ती सिद्ध करने की चेष्टा की गई है तथा किसी अन्य देव के प्रस्तुत होने पर इस देव को भी साधारण कोटि मे सन्निविष्ट कर दिया गया है[1] ये ही सब बातें हमे पौराणिक देवो के प्रति प्रयुक्त स्तोत्रो मे भी दृष्टिगत होती है। महत्ता की स्थापना मे एक बहुत बडा अन्तर यह पड गया कि इन पौराणिक स्तोत्रो मे यथास्थान उन समस्त दार्शनिक विचारो की छाप पाई जाती है जिनका विकास कुछ तो वैदिक काल के परवर्ती युग मे उपनिषत्साहित्य के प्रभाव से हुआ था और कुछ बाद मे सूत्र ग्रन्थो की परम्परा के कारण इस विचारधारा ने प्रसार प्राप्त किया था। यह भी एक कारण था जिससे प्राकृतिक तत्वो मे उद्भूत देवताओ का परित्याग कर तथा उन्हे गौण स्थान प्रदान कर उनमे उच्च कोटि के दूसरे देवो ने काव्य-जगत् मे पदार्पण किया। उन देवो मे ब्रह्मा, विष्णु, महेश मुख्य है। इन समस्त देवो का तादात्म्य परमात्म-सत्ता अथवा परब्रह्म-सत्ता से स्थापित किया गया है। साथ ही साख्य दर्शन द्वारा स्वीकृत प्रकृति अथवा माया भी आराध्य देवो की श्रेणी मे सन्निविष्ट हो गई। पहले तो शिव-शक्ति (शिव की अर्धांगिनी) के रूप मे पूजी जाती थी किन्तु बाद मे दुर्गा देवी के रूप मे उसका स्वतन्त्र विकास हो गया। सासारिक सुखभोग की

---

१ Vedic Age, भारतीय विद्या भवन द्वारा प्रकाशित।

कामना से आराधक गण इसी शक्ति की उपासना करने लगे और इसका चित्रण परा मातृ-शक्ति,समस्त देवो की सगठित शक्ति तथा समस्त देवो को आश्रय देने वाली के रूप मे होने लगा। तन्त्रविद्या का भी शक्ति-पूजा पर पर्याप्त प्रभाव पडा। दूसरे पौराणिक देवो मे गणेश, गगा इत्यादि मुख्य है। जहा महत्ता प्रतिपादन की दिशा मे आध्यात्मिकता का आरोप मुखर हो उठा था वहा याच्य वस्तुओ में मोक्ष प्राप्ति और परलोक हित मुख्य रूप से प्रतिष्ठित हो गए थे। अव साधक-गण अपने आराध्यो से केवल लौकिक सुख समृद्धि मात्र की आशसा से ही सन्तुष्ट नही होते थे किन्तु आगे वढकर परलोक और मोक्ष की कामना करते थे। इन स्तोत्रो मे प्राय पाठ का फल स्तोत्रो के साथ मे ही दे दिया जाता था। कही-कही लौकिक और पारलौकिक सुखभोग के स्थान पर देवता की ओर प्रवृत्त करने मात्र की भी कामना प्रगट की गई है।

इन पौराणिक स्तोत्रो की सख्या गणनातीत है। वहुत से स्तोत्र प्रवन्ध के अग के रूप मे लिखे गये है और पौराणिक साहित्य मे विखरे पडे है। दूसरे स्तोत्र मुक्तक काव्य के रूप मे भी लिखे गये है। आनन्दवर्धन के अनुसार इन स्तोत्रो का महत्त्व रसमय कविता की अपेक्षा कुछ घट कर है और अनेक स्तोत्रो के विषय मे यह वात सत्य भी है। किसी-किसी स्तोत्र मे देवताओ की केवल नामावली दे दी जाती है। किन्तु कुछ स्तोत्र वस्तुत अच्छे हैं और उनमे काव्य-कौशल पर्याप्त रूप मे अधिगत होता है।

ऊपर जिन पौराणिक स्तोत्रो की वात कही गई है उनके अतिरिक्त कुछ जैन-वौद्ध स्तोत्र भी प्राप्त होने हैं। वस्तुत जैन धर्म मे न तो भक्ति को कोई स्थान प्राप्त हो सकता है और न इनमे स्तोत्र साहित्य का कोई अवसर है। प्रत्येक जीव विकास-क्रम मे अपनी साधना के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यह जिस प्रकार कर्म करने मे स्वतन्त्र है उसी प्रकार फल भोगने मे भी स्वतन्त्र ही है। "ईश्वर के नियन्त्रण से स्वतन्त्रता देकर जीव को कर्म करने और फल भोगने दोनो मे स्वतन्त्र वनाना जैन धर्म की अपनी विशेषता है।" न तो हमे सासारिक सुखभोग ही किसी अन्य व्यक्ति से प्राप्त हो सकता है और न कोई दूसरा व्यक्ति हमे मोक्ष ही प्रदान कर सकता है। अतएव किसी की स्तुति करना सर्वथा व्यर्थ है। किन्तु जैन साहित्य का परिशीलन करने वाला कोई भी व्यक्ति सरलतापूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुच सकता है कि जैन साहित्यकारो की दृष्टि साहित्य के सभी अगो की पूर्ति की ओर रही है। जैनियो की यह एक प्रधान चेष्टा रही है कि किसी भी व्यक्ति को साहित्य के किसी भी अग का अध्ययन करने के लिये परमुखापेक्षी न होना पडे। यही कारण है कि हमे कहानी, उपन्यास, पुराण, महाकाव्य, चम्पू, नाटक इत्यादि के सभी अग जैन साहित्य मे उपलब्ध हो जाते है। सम्भवत इसी मन्तव्य को लेकर जैन साहित्य मे स्तोत्रो की रचना की गई है। एक वात और है। जैन-धर्म-प्रचार ही जैन साहित्य का मुख्य प्रवृत्ति-निमित्त रहा है। ब्राह्मण-धर्मानुयायी जन-वर्ग मे पौराणिक स्तोत्रो का वडा महत्त्व

था और अनेक फुटकर स्तोत्रो का प्रचार बढ रहा था। वहा भक्ति और स्तोत्र दोनो का पूरा अवसर था। साधारण जन इन स्तोत्रो को गा कर शान्ति लाभ करता था और उसे एक सहारा सा प्राप्त हो जाता था। जैन साहित्यकारो ने स्वमतानुयायियो को इस लाभ से वचित रखना उचित नही समझा। इसीलिये जैन तीर्थङ्करो की प्रार्थना मे अनेक स्तोत्रो की रचना की गई। दृढता के साथ कहा जा सकता है कि जैन धर्म मे न तो समर्पण बुद्धि का कोई अवसर है न भक्ति का ही। जैन मत के अनुसार सभी प्रकार के लगाव समाप्त हो जाने चाहियें। सन्यासाग्नि मे वैयक्तिक प्रेम जला दिया जाना चाहिये। किन्तु तर्क कितना ही प्रतिरोध क्यो न करे दुर्बल हृदय व्यक्ति तीर्थङ्करो के प्रति एक प्रकार की समर्पण-बुद्धि को विकसित करने के लिये वाध्य होता है एक साधारण जैन धर्मानुयायी को इस वात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि उसकी नैतिक और धार्मिक अवस्था के अनुकूल एक व्यवस्था और एक परम्परा का विकास किया जाय। जब जैन धर्म अपनी जन्मभूमि (मगध) से बाहर फैलने लगा तब साधारण व्यक्ति के धार्मिक जोश को पूरा करने का प्रश्न अधिक आवश्यक हो गया। अन्यथा दूसरे धर्मों के उपासक जैन धर्म मे परिवर्तित किये ही नही जा सकते थे। जिस प्रवृत्ति ने राम और कृष्ण परम्पराओ को जैन धर्म मे सन्निविष्ट करने की ओर अग्रसर किया था उसी प्रवृति के अनुसार स्तोत्र ग्रन्थो की रचना भी हुई। इन स्तोत्रो को हम प्रगीत मुक्तक कह सकते है।

सर्वप्रथम जैन साहित्यकारो की प्रवृत्ति प्राकृत मे ही रचना करने की थी और ये लोग सस्कृत को सर्वदा ठुकराते रहे। किन्तु प्राकृत भाषा बोलचाल की भाषा थी। एक समय मे उस भाषा के माध्यम के द्वारा जन-सम्पर्क अवश्य स्थापित किया जा सकता था। सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा परिवतनो और परिवर्धनो के फेर मे पड़कर जनता का सम्पर्क खो देती है तथा विनाश की ओर अग्रसर होने के लिये वाध्य अवश्य होती है। इसीलिये ब्राह्मण धर्म के साहित्य की रचना सस्कृत मे हुई थी जो स्थायी साहित्य के निर्माण के लिये एक अत्यन्त उपयुक्त भाषा थी। दूसरी वात यह भी थी कि सस्कृत सर्वसाधारण मे पूज्य दृष्टि से देखी जाती थी और "सस्कृत प्रमाणम्" की भावना बद्धमूल हो चली थी। इसके अतिरिक्त अनेक राजदरबारो मे आश्रय प्राप्त कर लेने के कारण सस्कृत का साहित्य भी नितान्त सम्पन्न हो गया था और प्रत्येक विषय मे उसमे रचना भी पर्याप्त मात्रा मे हो चुकी थी। सस्कृत सारे देश मे वोली जाती थी। अतएव जहा प्राकृत का साहित्य एक प्रदेश विशेष की सम्पत्ति हो सकता था वहा सस्कृत का उपयोग सारे देश मे किया जा सकता था। सम्भवत इन्ही कारणो से जैनियो ने प्राकृत के साथ-साथ सस्कृत का भी पल्ला पकड़ा। जहा अन्य विषयो के लिये सस्कृत अपनायी गई वहा इन स्तोत्रो की रचना भी अधिकतर सस्कृत मे ही हुई है। किन्तु प्रादेशिक भाषाओ का भी पूर्ण वहिष्कार नहीं हुआ और सस्कृत के साथ-साथ प्राकृत तथा अपभ्रश मे भी स्तोत्रो

की रचना होती रही। जैन धर्म की सबसे बडी विशेपता यह है कि इसकी साहित्य-रचना प्रत्येक प्रादेशिक भापा मे हुई है।

जैन धर्म के स्तोत्र अधिकतर महावीर स्वामी की प्रशसा मे ही लिखे गये है। इसके अतिरिक्त दूसरे तीर्थङ्करो और जैनाचार्यों की प्रशसा मे भी कुछ स्तोत्र अवश्य विद्यमान है। "कतिपय स्तोत्र केवल परम्परा निर्वाह के लिये ही लिखे गये है और कुछ इसके प्रतिकूल प्रगती मुक्तक-काव्य के रूप मे प्रतिष्ठित और प्रशसित होने के अधिकारी है।" कुछ स्तोत्र बहुत छोटे है और कुछ पर्याप्त विस्तृत है। स्तोत्रो के अनेक सग्रह प्रकाशित हो चुके है जिनमे जैन स्तोत्र-सग्रह, स्तोत्र-रत्नाकर, पञ्च-प्रतिक्रमणादि स्तोत्राणि अधिक प्रसिद्ध है।

जो बात जैन स्तोत्रो के विषय मे कही गई है वही बात बौद्ध स्तोत्रो के विषय मे भी कही जा सकती है। सर्व साधारण मे धर्म-प्रसार के मन्तव्य से जैनियो और ब्राह्मणधर्मानुयायियो से होड लेकर बौद्ध साधकों ने भी अनेक स्तोत्रो की रचना की। कुछ स्तोत्र ललित विस्तर इत्यादि महान् प्रबन्धो मे सन्निविष्ट हो गये और फुटकर स्तोत्रो के रूप मे ही विद्यमान रहे। इसके लिये बौद्धोने भगवती तारा नामक एक देवी की कल्पना की और तारा की प्रार्थना मे अनेक स्तोत्र लिखे जिनमे ब्राह्मण धर्म और जैन धर्म की पद्धति का अनुसरण कर तारा की महत्ता और शरणागत-वत्सलता का प्रतिपादन किया गया है। यहा पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ब्राह्मणधर्मानुयायी स्तोत्रो मे जैन तीर्थङ्करो और बौद्धो के देवताओ का उल्लेख नही मिलता जबकि जैन-बौद्ध स्तोत्रो मे स्वच्छन्दतापूर्वक अपने आराध्यो से ब्राह्मण-धर्मावलम्बी देवी-देवताओ का कही-कही तादात्म्य और कही-कही अधिकता प्रतिपादित की गई है।

इस प्रकार इस समस्त स्तोत्र-साहित्य को हम तीन भागो मे विभाजित कर सकते है —(१) पौराणिक स्तोत्र — इनमे शिव, विष्णु, शक्ति, गणेश इत्यादि के स्तोत्र आते है और कही-कही पुरानी वैदिक परम्पराके भी कुछ अवशेप दृष्टिगत होते है। (२) जैन स्तोत्र—इनमे जैनियो के तीर्थङ्करो के प्रति लिखे हुए स्तोत्रो का समावेश होता है और (३) बौद्ध स्तोत्र — इनमे बौद्ध धर्म सम्बन्धी स्तोत्र आते है। ये स्तोत्र सख्यातीत है। किन्तु साहित्यिक दृष्टि से कतिपय प्रौढ स्तोत्रो का यहा पर परिचय दिया जाता है।

(क) पौराणिक स्तोत्र

इस क्षेत्र मे सर्वप्रथम हमारे सामने बाण भट्ट का चण्डी शतक आता है। बाण भट्ट कान्यकुब्जाधिपति महाराज हर्ष के सभा-रत्न थे। उनका जन्म वात्स्यायन वश मे विक्रम की सप्तम शताब्दी मे हुआ था जैसा कि इनके हर्पचरित और ह्वेनसाग के यात्रा विवरणो से अवगत होता है। बाण भट्ट गद्य-काव्य के सम्राट् के रूप मे प्रसिद्ध है और अतिद्वयी कथा (कादम्बरी) के रचयिता की यह प्रतिष्ठा सर्वथा उचित ही है किन्तु चण्डी-शतक मे हमे कादम्बरीकार की कला के दर्शन नही होते।

न तो इसमे काव्य का अभिनिवेश है और न यह रचना वाण भट्ट की धार्मिक मनोवृत्ति की परिचायिका है। चण्डी शतक का भक्तो के हृदय पर प्रभाव भी नाम मात्र को ही पडता है । मानतु ग के भक्तामर स्तोत्र की गुणरत्नचन्द्र लिखित टीका से ज्ञात होता है कि यह स्तोत्र मयूर के सूर्य शतक के अनुकरण पर वनाया गया था। कहा जाता है कि मयूर ने सूर्य शनक वनाकर कुष्ठरोग से निर्मुक्ति प्राप्त की थी। इस वात को देखकर वाण भट्ट ने अपने हाथ-पैर काट डाले और चण्डी स्तोत्र वनाकर अपने हाथ पैरो को वैसा ही वना लिया। इस कथानक का आशय यही है कि वाण भट्ट ने मयूर का अनुकरण कर चण्डी की महत्ता स्थापित करने के लिये इस स्तोत्र की रचना की थी। इस स्तोत्र मे प्रधानतया चण्डी के महिपासुरवध को लेकर प्रश मा की गई है तथा स्थान-स्थान पर इसमे रक्षा इत्यादि की प्रार्थना भी की गई है। यद्यपि हम इस स्तोत्र मे वाण की भक्ति तथा धर्मानुराग से प्रभावित नही होते तथापि कही-कही पर कवि की कला के दर्शन अवश्य हो जाते है। किन्तु अधिकतर पद्य काव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नही कहे जा सकते। इसके उद्धरण शार्गंधर पद्धति, सरस्वती कण्ठाभरण, वाग्भट-लिखित काव्यानुशासन और अर्जुन वर्मदेव लिखित अमरु शतक की टीका मे समुपलब्ध होते है। इसमे अधिकतर देवो के निरस्त हो जाने पर पार्वती द्वारा महिपवध का वर्णन किया गया है। अनेक स्थानो पर देवो की गर्हणा भी की गई है और पार्वती द्वारा अनायास ही महिपवध का वर्णन किया गया है। इम प्रसग मे पृथक्-पृथक् अगो का वर्णन किया गया है। पार्वती के वर्ण का यह कितना सुन्दर वर्णन है—"सर्व प्रथम सारे ससार को कल्पान्त काल मे व्याकुल देखकर पार्वती का वर्ण काला पड गया, वाद मे जव महिपासुर के विपाण का स्पर्श हुआ और उन्हे इम दैत्य का ज्ञान हुआ तव इनके शरीर का वर्ण क्रोध से लाल हो गया। जवकि महिपामुर को पैर से पीस दिया और वह जीवहीन होकर भूमि पर गिर पडा तव अपने स्वाभाविक गौर वर्ण मे आ गई। इस प्रकार काले, रक्त और श्वेत वर्ण को धारण करने वाली पार्वती जी अपने पति शकर जी के नेत्रो की प्रतिमूर्ति सी प्रतीत हो रही थी, वे पार्वती आप सव लोगो की रक्षा करें।"

स्तोत्र साहित्य मे दूसरी पुस्तक मयूर का सूर्य शतक है। यह रचना वाण के चण्डी शतक की अपेक्षा अधिक सफल और काव्यात्मक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। कहा जाता है कि मयूर वाण के साले या श्वशुर थे। एक वार वाण की पत्नी ने असमय मे इनके उपस्थित होने के कारण रस-भग हो जाने मे इन्हे शाप दे दिया था और ये कुष्ठी हो गये थे। इस कुष्ठ रोग से छुटकारा प्राप्त करने के लिये इन्होने सूर्य शतक की रचना की और इन्हें कुष्ठ से निर्मुक्ति प्राप्त हुई थी। कुछ लोगो का कहना है कि सूर्य शतक महाराज हर्ष के पिता-पितामह की सूर्य-भक्ति के उपलक्ष्य मे वनाया गया था। वाण के हर्ष चरित से ज्ञात होता है कि हर्ष के पिता ने सूर्योपासना के फलस्वरूप ही राज्यवर्धन, हर्षवर्धन और राज्यश्री को प्राप्त

किया था। हर्ष स्वय बौद्ध होते हुए भी सूर्य का उपासक था। इस स्तोत्र मे कविता अच्छी है और कवि की भक्ति-भावना पर प्रकाश भी पडता है।

मयूर की प्रवृत्ति धार्मिक कविता लिखने की ओर ही थी। इसका सबसे बडा प्रमाण यही है कि मयूर के नाम पर जो पद्य प्राप्त हुए है उनमे सर्वत्र धार्मिकता ही पाई जाती है। यदि कही शृगारिक भावना का भी समावेश हुआ है तो वह भी विष्णु और लक्ष्मी अथवा शिव और पार्वती के नाम पर ही हुआ है। इस शतक मे के अश्व, रथ, मडल इत्यादि का वर्णन किया गया है। सूर्य को मुक्तिदाता माना गया है और सूर्य की किरणो को मोक्ष मार्ग का यान कहा गया है। ये सूर्य भगवान् ब्रह्मा, विष्णु, महेश की एकता के प्रतीक तथा विश्व के पोषक माने गये है और अरुण की तुलना नाटक के सूत्रधार से की गई है। मयूर कवि यमक तथा अनुप्रास के परम भक्त है। उपमा, रूपक तथा उच्च कोटि की अतिशयोक्ति इनके प्रिय अलकार हैं। शब्द विषयानुसार कोमल तथा कठोर होते रहते है तथा कभी-कभी एक ही पद्य मे ध्वनि का परिवर्तन भी हो जाता है। इन्होने व्याकरण के कुछ अप्रचलित शब्दो का प्रयोग भी किया है और अलकारो के परम भक्त प्रतीत होते है।

आचार्य शकर अपनी दार्शनिकता के लिये ही प्रसिद्ध है। किन्तु दार्शनिको ने स्तोत्र साहित्य की रचना मे सोत्साह भाग लिया है। वे पारमार्थिक सत्ता के रूप मे सर्वदा इस प्रकार की प्रवृत्ति के विरोधी थे तथापि लौकिक तथा व्यावहारिक क्षेत्र मे वे इसे आवश्यक समझते थे। शकराचार्य जी के नाम पर अनेक स्तोत्र प्रसिद्ध है जिनमे अधिकतर साहित्यिक दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु सभी स्तोत्र एक ही व्यक्ति की रचना नही जान पडते। शकराचार्य जी भी तो अनेक हुए है। शकर की गद्दी प्रसिद्ध ही है। किन्तु इनमे कुछ अवश्य आदि शकर के रचे हुए होंगे। विष्णुपादादि केशान्त वर्णन स्तोत्र इन्ही आदिम शकराचार्य का बनाया हुआ कहा जाता है। शकर विजय के चौदहवें सर्ग मे लिखा है कि मृत्यु शय्या पर स्थित माता जी के आदेश से शकराचार्य जी ने विष्णु स्वरूप का वर्णन किया था। कहा जाता है कि वह विष्णु स्तुति यही है। आर्य विद्या सुधाकर के अनुसार शकराचार्य का आविर्भाव काल ईसा की ८वी शताब्दी है। किन्तु अनेक पाश्चात्य विद्वान् इनका समय इससे पूर्व ६ठी या ७वी शताब्दी मानते है। इस स्तोत्र मे विष्णु के नख-शिख का वर्णन किया गया है और साथ ही अस्त्रो का भी वर्णन है। "मेघ के समान श्याम वर्ण की भगवान् की बाहु मे आनन्द करने वाली जिस तलवार की मूर्ति युद्ध मे उठाये जाने पर मेघ मे विस्फुरित होने वाली बिजली की शोभा धारण करती है,जो तलवार त्रास से व्याकुल नेत्रो वाले राक्षसो के रक्त का आस्वाद लेने मे दक्ष है और जो मधुमथन भगवान् विष्णु के मन को आनन्द देने वाली है वह हम लोगो को नित्य आनन्द देने वाली हो।" इसी प्रकार भगवान् के नेत्रो का वर्णन करने मे सूर्य और चन्द्र से उनके नेत्रो का अद्वैत स्थापित किया गया है और भगवान् के मस्तक को रगमञ्च मानकर प्रार्थना की गई है कि

मेरी मति निरन्तर भावना नामक नाटिका का अभिनय करती रहे। भगवान् के केश-पाश के विषय मे सन्देह भी बडा सुन्दर है। भगवान् के कुवलय कलित केश-पाश ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो भ्रमरवेष्टित माला की पक्ति हो अथवा मानो शकर जी के मस्तक पर गिरने वाली गगा जी धारा की स्पर्धा से कालिन्दी भगवान् के सिर पर चढकर गिर रही हो अथवा ऐसा प्रतीत होता है मानो समस्त चन्द्र कला की भ्राति से अन्त करण मे चचल होकर राहु मुख की ओर आ रहा हो। इस प्रकार भगवान् के केश पाश जो समस्त लोको द्वारा इस प्रकार देखे जाते हैं आप सब लोगो को मगल प्रदान करें।"

शकराचार्य जी के दूसरे स्तोत्रो मे भवान्यष्टक और आनन्द लहरी अधिक प्रसिद्ध है। इन स्तोत्रो मे काव्य की छटा है, नाद सौन्दर्य है, अलकारो का ललित प्रयोग है और भावना की उच्चता है। भवान्यष्टक अथवा अम्बाष्टक मे कोई अर्थ-चमत्कार प्रधान नही है। इसमे अप्रचलित शब्दो का अधिक प्रयोग किया गया है जिससे प्रसाद गुण सर्वथा लुप्त हो गया है। इसे हम उच्च कोटि के काव्यो मे स्थान नही दे सकते। सूर के दृष्टिकूट पदो के समान ही इससे कवित्व के स्थान पर पाण्डित्य अधिक प्रकट होता है।

पचस्तवी अथवा दुर्गा स्तोत्र किसी अज्ञात नामा कवि की कृति है। इस स्तव के पाच भाग हैं लघुस्तव, चर्चास्तव, घटस्तव, अम्बास्तव, और सकल-जननीस्तव। इन पाच स्तवो का सकलन पच स्तवी के नाम से पुकारा जाता है। इस स्तोत्र के सग्रहकर्ता का भी नाम ज्ञात नही है। लघुस्तव के दो तीन टीकाकार हुए हैं जिन्होने इसके तन्त्रपरक ही अर्थ किये है। इसके एक टीकाकार नित्यानन्द ने इस स्तोत्र के कर्ता का नाम धर्माचार्य दिया है। किन्तु यह ज्ञात नही होता कि यह उपाधि ही है अथवा नाम है। यह ग्रथ प्राचीन प्रतीत होता है क्योकि इसके एक पद्य का उद्धरण सरस्वती-कण्ठाभरण मे दिया गया है और एक दूसरा पद्य कुवलयानन्द मे आया है। इसी पद्य का तृतीय चरण काव्य प्रकाश के दशम उल्लास मे दिया गया है। इन स्तोत्रो से कवि की मनोवृत्ति का भी पता चलता है। प्रारम्भिक स्तवो मे कवि ने भौतिक कामनाये की और प्रधान रूप से देवी जी से सुन्दरी स्त्रियो के प्रदान करने की प्रार्थना की गई है तथा इस बात पर सतोष भी प्रकट किया गया है कि कवि को भगवती की कृपा से सभी कुछ प्राप्त है। किन्तु क्रमश यह स्वर क्षीण होता जाता है और कवि का झुकाव दार्शनिकता की ओर हो जाता है। मुक्ति प्रधान काम्य हो जाती है तथा पर्यवसान भक्ति मे हो जाता है। तान्त्रिक विधि का सर्वत्र प्राधान्य है और देवी जी के बीज मन्त्र का आश्चर्यजनक चमत्कार बतलाया गया है। उसका ध्यान करने से असख्य कामनाओ की सिद्धि प्राप्त होने की बात कही गई है। कवि बनने के लिये भी देवी जी के बीज मन्त्र का अनुशीलन अनिवार्य बतलाया गया है। जो व्यक्ति देवी जी के सारे विश्व मे व्याप्त अपूर्व तेज का क्षण-

भर ध्यान करते है उनके वश में त्रस्त-कुरग-शाव-नयनी कामपीडित ललनाये प्रकट रूप मे वश्य हो जाती हैं। उनके घर मे सम्पत्तिया स्थायी हो जाती हैं। इसके प्रतिकूल जिनके हाथ भगवती दुर्गा की आराधना मे व्यस्त नही हुए उनकी हाथो की रेखाओ के राजचिन्ह भी उन्हे राजा नही बना सकते। द्वितीय तथा तृतीय स्तवो मे अधिक प्रौढ रचना है तथा शब्द-चमत्कार भी यत्र-तत्र प्रचुरता के साथ दृष्टिगत होता है।

कालिदास के नाम पर भी अनेक स्तोत्र प्राप्त हुए है। किन्तु ये स्तोत्र प्रसिद्ध कालिदास के लिखे नही जान पडते। या तो ये कोई अन्य कालिदास होगे अथवा जैसा कि राजशेखर ने लिखा है काव्यकार परीक्षा मे परीक्षित अनेक व्यक्तियो को कालिदास की उपाधि प्रदान की गई थी। उन्ही मे किसी कालिदास ने इन स्तोत्रो की रचना की होगी। इन अनेक स्तोत्रो मे श्यामला दण्डक (गद्य-पद्यमय), सरस्वती स्तोत्र और यमलाष्टक तजौर के तिब्बती रूप से ग्रहण किये गये है। कालिदास के ही नाम पर नवरत्न माला नामक एक नौ पद्यो का एक देवी स्तोत्र भी प्राप्त होता है जिसमे शब्द चमत्कार पर अधिक ध्यान दिया गया है। अर्थ चमत्कार विशेप नही है। एक उदाहरण लीजिये —

सारिगमपधनिरतां तां वीणासंक्रान्तकान्तहस्तान्ताम्।
शान्तां मृदुलस्वान्ता कुचभरतान्ता नमामि शिवकान्ताम्॥

श्यामला दण्डक किस कालिदास की रचना है इसका ठीक पता नही चलता। इसमे तन्त्र विद्या की प्रधानता है। आरोहक भदन्त जह्लण सगृहीत मुक्तावली और हरि कवि सगृहीत हारावली मे राजशेखर के नाम पर एक श्लोक दिया हुआ है जिस से ज्ञात होता है कि राजशेखर के समय तीन कालिदास हो चुके थे। चौथे एक कालिदास अकबर के समय मे हुए थे। ज्ञात नही हो सका कि यह श्यामला दण्डक किन कालिदास का लिखा हुआ है। यह दण्डक मातगी देवी की स्तुति मे बनाया गया है। इसमे पाद के प्रारम्भ मे सर्वत्र दो रगण और बाद मे अनियत सख्या वाले रगण है। अत इसका नाम मत्तमातग लीलाकर है। इसमे पाच पाद है (सम्भवत एक पाद लेखक के प्रमाद से बढ गया है। अन्यथा चार पाद ही होने चाहियें)। मातगी देवी भगवान् शकर की प्रियतमा है, सुधा-समुद्र से उठने वाले मणि द्वीप मे उत्पन्न बिल्वाटवी मे कल्पवृक्ष के समान कदम्ब वृक्षो के वन मे निवास करती है। देवी जी की नख शिख शोभा का वर्णन किया गया है। देवी जी के बीज को सर्वतन्त्रात्मक, सर्वमन्त्रात्मक, सर्वयन्त्रात्मक, सर्वविद्यात्मक, सर्वशक्त्यात्मक, सर्वयोगात्मक, सर्वनादात्मक, सर्वशकात्मक, सर्वविश्वात्मक तथा सर्वव्यापक बतलाया गया है।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन के नाम पर भी एक देवी स्तोत्र उपलब्ध होता है, जिसकी प्रामाणिकता अधिक है। यद्यपि इसमे रस की अपेक्षा अलकारो को प्रधानता दी गई है, किन्तु इसका समाधान इस प्रकार हो जाता है कि उन्होने स्वय स्तोत्रो में

रस को गौण ही माना है। यह स्तोत्र इस बात को प्रमाणित कर देता है कि समालोचक अच्छे कवि नही होते। उत्पल देव की स्तोत्रावली लगभग ९२५ मे लिखी गई जिसमे शिवविषयक २० छोटे-छोटे स्तोत्रों का सग्रह है। कुछ प्रार्थना के पद्य भी है। कुछ अच्छे है, किन्तु उच्च कोटि का काव्यत्व इनमे नही पाया जाता। लगभग इसी समय कुलशेखरनृपति ने मुकुन्द-माला लिखी। इसमे भगवान् कृष्ण की स्तुति की गई है। इसके कई एक पद्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसकी कई एक प्रतिया प्राप्त हुई है जिनकी पद्य सख्या समान नही है। पुस्तक मे प्रधान रूप से भगवान् कृष्ण की भक्ति को प्राप्त करने की प्रार्थना की गई है। 'न तो मेरी आस्था धर्म मे है न सम्पत्तियो के समूह मे है और न कामोपभोग मे ही है। इन विषयो मे जो होने वाला हो वह पूर्व-कर्मानुसार होता रहे। मुझे सबसे अधिक यही प्रार्थना करना अभीष्ट है कि जन्म-जन्मान्तर मे भी तुम्हारे दोनो चरण-कमलो मे मेरी निश्चल भक्ति बनी रहे।' शरीर के प्रति कवि को कोई मोह नही। यह शरीर तो अवश्य नष्ट होगा। औषधि सेवन की कोई आवश्यकता नही। एकमात्र कृष्णरसायन का ही पान करना चाहिये। किन्तु कवि लौकिक भावना से सर्वथा विरत नही है। उसे विश्वास है कि भगवद्भक्ति उसके समस्त मनोरथो को पूरा करने वाली होगी। ससार की यातनाओ पर विचार कर भय नही करना चाहिये। जब श्रीधर भगवान् हमारे स्वामी है तब हमारे ऊपर ये यातनाए अधिकार कर ही किस प्रकार सकती हैं? आलस्य छोडकर भगवान् की ही प्रार्थना करनी चाहिये। जो भगवान् लोक की आपत्तियो को दूर करने मे समर्थ है वह क्या अपने भक्तो की ही उपेक्षा करेगा? भगवान् ने सर्वदा भक्तो की रक्षा की है। प्रह्लाद, विभीषण, द्रौपदी, अहिल्या, ध्रुव इत्यादि अनेक निदर्शन विद्यमान हैं। भगवान् की त्राण करने वाली शक्ति पर ही विश्वास करके मोक्ष के विषय मे भी चिन्ता नही करनी चाहिये। आश्चर्य है कि भगवद्भक्ति के विद्यमान रहते हुए लोग शृ गाररसमयी कविताओ मे लगे रहते हैं और भगवान् मे अपना चित्त नही लगाते। "आश्चर्य है कि मनुष्य लोक मे लोग अमृत को छोड कर विषपान करने मे लग जाते है।" मूर्ख कवि लाट देश की स्त्रियो के नेत्रो के सौन्दर्य, पयोधर तट, रेवातट, कुञ्ज, चन्दन वृक्ष इत्यादि के वर्णन मे अपना समय विताया करते हैं किन्तु जिन्होंने अपना मन भगवान् मे ही लगा दिया है उन पुरुषो का समय गोविन्द, जनार्दन, जगदीश्वर, कृष्ण इत्यादि शब्दो का उच्चारण करने मे लगता है। अन्त मे कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है, "जिन राजा के शास्त्रज्ञ, कवि-जगत् मे प्रसिद्ध, द्विजवश के कल्याण कारक दो मित्र हुए उन कमलनयन भगवान् के चरण-कमलो मे षट्पद के समान रमण करने वाले कुलशेखर नामक राजा ने यह स्तोत्र बनाया है।"

बिल्वमगल के विषय मे अनेक किंवदन्तिया प्रसिद्ध हैं। इनका कृष्णामृत या कृष्ण-कर्णामृत नामक स्तोत्र भारत मे बहुत प्रसिद्ध है तथा सग्रह ग्रथो मे इसके उद्धरण दिये गये है। इसकी रचना मे प्रसाद गुण पूर्ण शैली अपनाई गई है। इसमे भगवान् के वृन्दावन विहार के विषय मे अनेक पद्य है।

१२वी शताब्दी मे लक्ष्मण सेन के दरबारी कवियो मे जयदेव के साथ अन्य कवियो के कुछ स्तोत्र प्रसिद्ध है। इनका सग्रह रूप गोस्वामी ने पद्यावली मे किया है। ये स्वय भगवद्भक्त थे तथा चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी थे। इसमें एक पद्य लक्ष्मण सेन के नाम पर भी लिखा हुआ है। धोई, धोमी कविराज, श्रुतवर, श्रुतिधर इत्यादि नामो से कुछ पद्य प्राप्त हुए है जो एक ही कवि की रचना ज्ञात होते है। ज्ञात होता है कि श्रुतधर का ही बिगडा हुआ रूप धोई है।

दूसरे बहुत से स्तोत्रो मे शिव महिम्न स्तोत्र आता है। भक्तजनो मे इसकी बहुत अधिक प्रतिष्ठा है और शिव मदिर मे जब दो-चार विद्वान् मिलकर आनन्द विभोर होकर इस स्तोत्र का गान किया करते हैं तब एक समा-सा बन्ध जाता है। कुछ लोगो ने इसे पुष्पदत्त का बनाया हुआ विष्णु महिम्न स्तोत्र कहा है। किन्तु इसका ज्ञान न्याय मजरीकार जयन्त भट्ट को भी था। अतएव इसे हम नवी शताब्दी के बाद की रचना नही कह सकते। लक्ष्मणाचार्य की चण्डी कुच पचाशिका बाद की रचना है, जिसमे धार्मिक अभिनिवेश के विशेष रूप से दर्शन होते है। इसी प्रकार शिवदास या उत्प्रेक्षा-वल्लभ का लिखा हुआ भिक्षाटन काव्य भी धार्मिकता से विशेष रूप से भरा हुआ है। इसमे स्वर्ग मे शिव के भिक्षाटन का वर्णन है। उनके प्रति अप्सराओ का आकर्षण तथा प्रेम दर्शाया गया है। यह जानकर आश्चर्य होता है कि कवि ने इसमे अपने कामशास्त्रीय ज्ञान का परिचय दिया है।

कतिपय स्तोत्र पुराने ऋषियो के नाम पर भी प्रसिद्ध हैं जिनमे दुर्वासा के लिखे ललिता स्तव-रत्न तथा त्रिपुरमहिम्न स्तोत्र अधिक प्रसिद्ध हैं। ललिता स्तव-रत्न की एक प्रति जयपुर के राज पुस्तकालय से प्राप्त हुई है। इसमे तन्त्र विधि से श्री ललितादेवी के ध्यान करने के स्थानो का वर्णन किया गया है। सोने का पर्वत है, जिसका निर्माण जगत् चक्र के द्वारा किया गया है और इसकी सोने की कुजो में देवियो के गीत सुनाई देते है। इसके प्रान्तो मे दिक्पाल रहते हैं और तीन शिखरो पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश निवास करते है। उन तीनो शृगो के मध्य मे एक बडा ही सुन्दर शिखर है जिसके प्रान्त भागो का निर्माण रत्नो की सी कान्ति धारण करने वाली मञ्जरियो से किया गया है। यह शृग ४०० योजनो के विस्तार मे है और वहा पर आदि विद्या का ४०० योजन का विस्तृत नगर है, जिसका निर्माण विश्वकर्मा ने किया है और इस पर अनेक साल वृक्ष विराजमान हैं जिससे शिखर अत्यन्त रमणीय प्रतीत होता है। इन्ही साल वृक्षो का तथा उनके मध्य भाग का बडे विस्तार से वर्णन किया गया है तथा विभिन्न भागो मे विराजमान देवियो का ध्यान बतलाया गया है। अन्त मे देवी जी का कवच दिया हुआ है। इसमे २१३ पद्य है। त्रिपुर महिम्न स्तोत्र दुर्वासा की दूसरी रचना है। टीकाकार ने लिखा है कि ये दुर्वासा अत्रि और अनसूया से उत्पन्न हुए थे। किन्तु स्तोत्र के अन्त मे दुर्वासा की प्रशसा की गई है, इससे ज्ञात होता है कि ये दुर्वासा कोई दूसरे होगे अथवा किसी

दूसरे कवि ने अपनी रचना दुर्वासा के नाम पर प्रसिद्ध कर दी होगी । इस स्तोत्र में भी तान्त्रिक विधियो का प्राधान्य है और त्रिपुर सुन्दरी देवी का महत्त्व वतलाया गया है। कोई कितना ही व्याकरण पढे, कितना ही काव्यो को घोटता रहे, कितना ही शब्द-शास्त्र का अध्ययन करे किन्तु तव तक वह कवि नही वन सकता जव तक पार्वती देवी जी की चरण-कमल-सरणि का अनुसरण नही करता है। आकाश मे नक्षत्र कितने ही चमकते रहे किन्तु तव तक अन्धकार का विनाश नही होता है जव तक सूर्य भगवान् का उदय न हो, उसी प्रकार अविद्यान्धकार भी कितने ही सिद्धातो और प्रमाणो के अध्ययन से नष्ट नही हो सकता जव तक सूर्य के समान जन्म-विनाशक तेज हृदय मे उदित नही होता । इसी प्रकार देवी जी के अग-प्रत्यग का वर्णन किया गया है और उसका महत्त्व वतलाया गया है। देवी जी के अनेक आभूपणो का भी वर्णन है। स्तनो के विषय मे कहा गया है कि देवी जी के स्तन ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनो के द्वारा पिये गये हैं। जो देवी जी के चन्द्रोज्ज्वल मुख का स्मरण करता है वह स्वय स्मर (काम) रूप हो जाता है तथा विश्व की समस्त रमणियो का आकर्पण केन्द्र हो जाता है। इसी प्रकार आभूपणो और वस्त्रो का भी विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है और महत्त्व तथा अभीष्ट प्राप्ति के लिये देवी जी का ध्यान करना आवश्यक वतलाया गया है। लकेश्वर (रावण) के नाम पर भी एक शिव स्तुति प्रसिद्ध है। लेखक के विषय मे कुछ विशेप ज्ञात नही है। स्तोत्र मे १० पद्य हैं। इसमे शकरजी के सर्वांग सौंदर्य का वर्णन किया गया है तथा पार्वती के साथ शृगार लीला की ओर भी ध्यान दिलाया गया है। लक्ष्मी को छोड कर भगवान् शिव मे ध्यान लगाने की कामना प्रकट की गई है। पिशाच वन कर शिव के पास जाना अमर सम्पत्ति की प्राप्ति की अपेक्षा भी अधिक उत्तम है क्योंकि इन्द्र इत्यादि तो शकर जी के भवन की देहरी पर आते है और विकट तुण्ड गणो के दण्डो से पिटकर उनकी मुकुट की कोटि टूट जाती है। इसी प्रकार मेरु की अपेक्षा कैलाश को महत्ता प्रदान की गई है। एकमात्र कामना शकर जी की निकटवर्तिता की ही की गई है। भापा सरल, सुवोध तथा प्रसाद गुण से पूर्ण है।

राघव चैतन्य का वनाया हुआ महा गणपति स्तोत्र भी प्राप्त होता है। यह राघव चैतन्य शारगधर से पहले हुए थे। शारगधर पद्धति मे राघव चैतन्य के नाम पर कुछ श्लोक लिखे मिलते है। शारगधर के पितामह राघव देव हम्मीर चौहान की सभा मे थे। हम्मीर का देहावसान १२६५ मे हुआ था। ज्ञात होता है कि इन्ही राघवदेव के सन्यास ले लेने के वाद इनका नाम राघव चैतन्य पड गया होगा। इन्होंने महागणपति स्तोत्र १६छदो मे लिखा और अत मे एक पद्य के द्वारा उसका माहात्म्य वतलाया गया है। स्तोत्र मे गणपति का परब्रह्म के रूप मे वर्णन किया गया है तथा गणेश जी की पूजनीयता, वदान्यता, सौन्दर्य, शक्ति इत्यादि का वर्णन किया गया है। गणेश जी के ध्यान की विभिन्न अवस्थाओ का भी वर्णन है और यत्र-तत्र तत्र का

भी प्रभाव लक्षित होता है। गणेश को शिव तथा विष्णु की मूर्ति बतलाया गया है और कहा गया है कि गणेश देव जी हुकार मात्र से समस्त दैत्यो का सहार कर देते है उनकी आनन्द लहरी के द्वारा समस्त लहरें फीकी पड जाती है।

सग्रह ग्रथो मे भी कुछ ऐसे पद्य दिये हुए है जो कि स्तोत्रो से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं किन्तु तत्सम्बद्ध स्तोत्र पूर्ण रूप मे अधिगत नही हो सके है। साथ ही अनेक कवियो का भी परिचय प्राप्त होता है। इनमें से कुछ पद्य बहुत अधिक प्रचलित हो गये है। विश्वामित्र के नाम पर भी कुछ पद्य प्राप्त हुए है पर ये कौन से विश्वामित्र है यह जानना कठिन प्रतीत होता है। विश्वामित्र के नाम पर जो पद्य प्राप्त हुए हैं वे एक कवि की कृति नही हो सकते।

जैन स्तोत्र—पौराणिक स्तोत्रो के अनुकरण पर लिखे हुए जैन स्तोत्रो की सख्या भी बहुत अधिक है। मुख्य स्तोत्रो का परिचय नीचे दिया जा रहा है—

(१) **उवसग्गहर स्तोत्र**—यह पाच पद्यो की पार्श्वनाथ की स्तुति है और कहा जाता है कि यह भद्रबाहु की बनाई हुई हैं। इसका उल्लेख प्रो० जैकोबी ने भद्रबाहु की कल्पसूत्र की भूमिका मे किया है। कहा जाता है कि स्तोत्रो मे यह सबसे प्राचीन है।

(२) **भक्तामर स्तोत्र**—यह सर्वाधिक प्रतिष्ठित स्तोत्रो मे एक है। इसके रचयिता मेरु तु ग जैन साहित्य के एक प्राचीन कवि है। कुछ लोग इन्हे तीसरी शताब्दी का मानते हैं, कुछ लोग पाचवी, सातवी, आठवी, और नवी शताब्दी तक ले जाते हैं। स्तोत्र की एक टीका से ज्ञात होता है कि आचार्य मानतु ग वृद्ध भोज के समय मे बाण और मयूर के सम-सामयिक थे। मेरुतु ग लिखित प्रबन्ध चिन्तामणि से ज्ञात होता है कि मानतु ग धारा नरेश के समय मे हुए थे। इस स्तोत्र को श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो का एक सा आदर प्राप्त है। इससे ज्ञात होता है कि ये प्राचीन कवि होंगे। दिगम्बर ४२ पद्य मानते हैं जबकि श्वेताम्बर केवल ४४ ही पद्य मानते हैं। कहा जाता है कि इस स्तोत्र की रचना मेरुतु ग ने यह सिद्ध करने के लिये की थी कि जैन धर्म मे भी अन्य धर्मों की भाति महती शक्ति है। जिस प्रकार मयूर ने कुष्ठ से छुटकारा प्राप्त करने के लिये सूर्य शतक की रचना की थी और जिस प्रकार बाण ने चण्डी शतक के द्वारा अपने कटे हुए हाथ-पैर जोड लिये थे इसी प्रकार उन्ही की स्पर्धा कर मानतु ग ने भी ४२ जजीरो मे बन्ध कर और एक कमरे मे बन्द होकर भक्तामर स्तोत्र के ४४ पद्यो की रचना की थी, जिससे उन्हे छुटकारा प्राप्त हो गया।

(३) **भयहर स्तोत्र**—यह भी प्राकृत भाषा मे मेरुतु ग का लिखा हुआ स्तोत्र है। इसमें पार्श्वनाथ की स्तुति की गई है।

(४) **कल्याण मदिर स्तोत्र**—यह प्रसिद्ध सिद्धसेन दिवाकर का लिखा हुआ ४४ पद्यो का स्तोत्र है। यह भी पार्श्वनाथ-स्तुति है और भक्तामर स्तोत्र को

ही आदर्श मानकर लिखी गई है। स्तोत्र के अन्त मे कवि का नाम कुमुदचन्द्र दिया हुआ है। टीकाकारो का मत है कि सिद्धसेन दिवाकर को दीक्षा के अवसर पर गुरु ने यह उपाधि प्रदान की थी। प्रबन्ध चिन्तामणि मे विक्रमादित्य के प्रबन्ध मे लिखा है कि सिद्धसेन दिवाकर विक्रमादित्य के राज्य काल मे उज्जयिनी में आये थे। उसी प्रबन्ध चिन्तामणि से इनका श्वेताम्बर होना भी प्रकट है। दिगम्बर लोग इन्हे दिगम्बर मानते हैं। वाराहमिहिर ने बृहज्जातक के सप्तम अध्याय मे सिद्धसेन नामक एक ज्योतिषी का उल्लेख किया है। सम्भवत ये वही सिद्धसेन है। दो-एक और सिद्धसेन जैनियो मे हुए हैं। कल्याण मदिर स्तोत्र को श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो एक सा मानते है। भक्तामर स्तोत्र की भाति इसकी अनेक टीकाये है और प्रत्येक पद्य मे मन्त्र तथा उसका प्रभाव दिखलाया गया है। इसमे श्लेष का प्रयोग अधिक किया गया है। कहा जाता है कि इस स्तोत्र को पढने से उज्जैन मे शिव लिंग फट गया था और उससे पार्श्वनाथ की मूर्ति निकल आई थी।

(५) **द्वात्रिंशिका स्तोत्र**—यह भी सिद्धसेन दिवाकर का लिखा हुआ महावीर स्वामी का सस्कृत स्तोत्र है। इसे वर्धमान द्वात्रिंशिका भी कहते है।

सिद्धसेन दिवाकर द्वारा उपर्युक्त दोनो स्तोत्रो मे जैन-धर्म से सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी विषयो का उल्लेख कर दिया गया है तथा हिन्दू-धर्म के अनेक देवी-देवताओ का उनसे तादात्म्य स्थापित किया गया है जैसे "आप मोक्षदायक हैं अतः आप शिव है। आप बुद्ध है क्योकि आप ज्ञानवान् है।"

इसी प्रकार हृषीकेश, विष्णु, जगन्नाथ, जिष्णु इत्यदि शब्दो का प्रयोग किया गया है। कही-कही अलकारो का सुन्दर प्रयोग है। प्रारम्भ मे कवि कहता है—"हे नाथ यद्यपि मै जड आशय वाला हू तथापि अशेषगुणाकर आपकी स्तुति करने के लिये मैं उद्यत ही हो रहा हू। क्या कोई बालक अपनी दोनो बाहुओ को फैलाकर अपनी बुद्धि से अम्बुराशि की विस्तीर्णता का प्रतिपादन नही करता।" इसी प्रकार "हे विभो! आप अज्ञानान्धकार से सर्वदा रहित है। आप के निन्दक भी हरि-हर इत्यादि रूपो मे निस्सदेह आपको ही प्राप्त करने की चेष्टा करते है। क्या काच-कामला के रोगी श्वेत शख को भी अनेक वर्णों के विपर्यय मे नही देखते।"

(६) **बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र**—यह समन्तभद्र का लिखा हुआ २४ तीर्थकरो का स्तोत्र है। इसे चतुर्विशति जिन स्तवन कहते है। इसमे सर्वप्रथम स्वयम्भू (स्वयम् आविर्भूत होने वाले) जिन देव की स्तुति की गई है। इसीलिये इसे स्वयम्भू स्तोत्र कहते है।

(७) **पत्रकेसरि स्तोत्र**—विद्यानन्द अथवा विद्यानन्दि का लिखा हुआ यह एक ५० पद्यो का महावीर स्तोत्र है।

(८) **चतुर्विशति जिन स्तोत्र**—यह बप्पाभट्टि का लिखा हुआ ९६ सस्कृत पद्यो का एक जिन स्तोत्र है। इसके रचयिता बप्पाभट्टि का समय ८वी शताब्दी का

उत्तरार्ध तथा नवी शताब्दी का पूर्वार्ध है। कहा जाता है कि इसके लेखक ने कन्नौज के यशोवर्मा के पुत्र और उत्तराधिकारी अमरराज को जैन धर्म मे परिवर्तित किया था।

(९) शोभन स्तुति—यह दशम शताब्दी के शोभन नामक कवि की लिखी हुई २४ तीर्थंकरो की स्तुति है। इसकी रचना अत्यन्त अलकृत तथा चित्र काव्य के रूप मे है। द्वितीय और चतुर्थ चरण एक से ही हैं किन्तु उनके अर्थों मे भेद है। इसको शोभन स्तुति इसीलिये भी कहते है कि यह शोभन नामक कवि की लिखी हुई है और इसलिये भी कि यह शोभन (सुन्दर) स्तुति है। इसमे केवल शब्द-चमत्कार के दर्शन होते है।

(१०) ऋषभ पञ्चाशिका—यह शोभन के भाई धनपाल की वनाई हुई ५० प्राकृत छन्दो की स्तुति है। इसमे प्रारम्भ मे ऋषभदेव की जीवन घटनाओ पर प्रकाश डाला गया है और अन्तिम भाग मे उनकी प्रशसा की गई हैं। "आप चिन्ता द्वारा भी प्राप्त न किये जा सकने वाले मोक्ष फल को देने वाले अपूर्व कल्पवृक्ष है। जव आपका अवतार हो गया तव मानो लज्जित होकर कल्पवृक्ष मृत्यु लोक को छोडकर कही जा छिपा।" इसी प्रकार जहा ऋषभदेव जी अभिषिक्त हुए तथा जहा उन्होने शिव-सम्पत्ति प्राप्त की वे दोनो पर्वत पर्वतकुलो मे मूर्धन्य हैं। जो लोग ऋषभदेव के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध नही हो जाते वे या तो केवली है या हृदय-हीन है।"

(११) अजिय सतियय—नन्दिषेण का लिखा हुआ यह एक अजितनाथ (द्वितीय तीर्थंकर) और शान्तिनाथ (१६वें तीर्थंकर) का सम्मिलित स्तोत्र है। सम्मिलित स्तोत्र लिखने का कारण यह वतलाया जाता है कि दोनो तीर्थङ्करो ने अपने वर्षाकाल शत्रुञ्जय पर्वत पर ही विताये थे। इस स्तोत्र की रचना कवि की उस पर्वत की तीर्थ यात्रा के समय की गई। नन्दिषेण का समय ९वी शताब्दी से भी पहले कहा जाता है। इस स्तोत्र का अनुकरण अनेक परवर्ती कवियो ने किया है। जिनमे १२वी शताब्दी के जिन वल्लभ का अजित शान्ति। लघुस्तवन, वीरगणिन की "अजिय सतियय", जयशेखर का "अजित-शान्ति-स्तव" विशेप प्रसिद्ध हैं।

(१२) जय तिहुअनस्तोत्र—इसकी रचना ११वी शताब्दी के प्रसिद्ध कवि अभयदेव की की हुई वतलाई जाती है। कहा जाता है कि इस स्तोत्र के द्वारा कवि ने रोग मे मुक्ति प्राप्त की थी तथा पार्श्वनाथ की छिपी हुई मूर्ति को प्रकाश में लाये थे।

(१३) वादिराज के दार्शनिक स्तोत्र—तीन स्तोत्र वादिराज के लिखे वतलाये जाते हैं—(१) ज्ञानालोचन, (२) एकीभाव स्तोत्र और (३) अध्यात्माष्टक। सम्भवत इनका रचना-काल ११वी शताब्दी है।

(१४) वीतराग स्तोत्र—प्रसिद्ध कवि हेमचन्द्र ने कुमारपाल के निर्देश पर इस स्तोत्र की रचना की थी। इसमे छोटे-छोटे २० भाग हैं और प्रत्येक भाग में

८ या ९ श्लोक हैं। इसे जैन-धर्म की कवित्वमय परिचय-पुस्तिका कह सकते है। इसकी भाषा बडी ही सरल, सुबोध और प्रसाद गुण पूर्ण,है।

हेमचन्द्र ने दो और स्तोत्र ग्रन्थ लिखे हैं अयोगव्यवच्छेद तथा अन्य योग व्यवच्छेद। इन स्तोत्रो मे महावीर स्वामी की स्तुति की गई है। इन स्तोत्रो मे हिन्दू धर्म की निन्दा का अभिनिवेश विशेष रूप मे दृष्टिगत होता है। जो लोग धर्म-हेतु की गई हिंसा को हिंसा नही मानते उनको अपने पुत्र को मारकर राज्य प्राप्ति की इच्छा रखने वाला बतलाया गया है। जो लोग प्रादेशिक शासनो के द्वारा जिन देव के शासन का उल्लघन करना चाहते हैं, उनकी ऐसी ही चेष्टा है जैसे खद्योत का एक छोटा सा बच्चा सूर्य मडल की विडम्बना करना चाहे। "मद-मान, मनोभव, क्रोध, लोभ और सम्मद से बलात् पराजित देवो के साम्राज्य का रोग व्यर्थ ही जैन धर्म के विरोधियो को लगा है। दूसरे लोग अपने कण्ठपीठ मे कठिन कुठार रखकर कुछ भी कहते रहे किन्तु जो मनीषी है, वीतराग जैन तीर्थंकरो मे ही अपना मन लगाते हैं।"

चौदहवी शताब्दी के आसपास भी अनेक स्तोत्र ग्रन्थ लिखे गये है। प्रारम्भ मे जिन प्रेमसूरि ने चतुर्विशति जिन स्तुति लिखी। इसमे एक-एक पद्य मे एक-एक तीर्थंकर का वर्णन है। इनके लिखे हुए दूसरे स्तोत्रो मे पार्श्व स्तव तथा श्री वीर निर्वाण कल्याणक स्तव मुख्य हैं। वीर निर्वाण मे महावीर स्वामी का वर्णन किया गया है। मुनि सुन्दर का जिन स्तोत्र भी १४वी शताब्दी मे लिखा गया। यह स्तोत्रो का बहुत बडा सग्रह है। मानतु ग के भक्तामर स्तोत्र के भी अनुकरण पर अनेक स्तोत्र लिखे गये, जिनमे भावप्रभ का भक्तामरम् प्रसिद्ध है। देवेन्द्र के शिष्य धर्मघोष ने "यमक स्तोत्र" और चतुर्विशति जिन स्तुति नामक दो स्तोत्रो की रचना की। धर्मघोष के ही नाम से 'इसि मडल स्तोत्र' (ऋषि मडल स्तोत्र) भी प्रसिद्ध है। हो सकता है ये कोई दूसरे धर्मघोष हो। रत्नाकर के नाम पर "वीतराग स्तोत्र" अथवा "रत्नाकर पचविंशतिका" नामक एक स्तोत्र भी प्रसिद्ध है। किन्तु इसके रचनाकाल का पता नही। मदनकीर्ति की बनाई हुई एक दूसरी स्तुति शासन चतुस्त्रिशिका के नाम से प्रसिद्ध है। इसके प्रत्येक पद्य के अन्त मे "दिग्वाससा शासनम्" आया है। इसीलिये इसे शासन चतुस्त्रिशिका कहते है। इसमे एक अनुष्टु के अतिरिक्त ३४ शार्दूलविक्रीडित छन्द हैं। इस स्तोत्र मे तीर्थङ्कर स्तवन किया गया है। एक दूसरा ग्रन्थ मुनि रत्नसिंह का प्राणप्रिय काव्य है। इसका प्रारम्भ प्राणप्रिय शब्द से होता है, इसलिये इसका नाम प्राणप्रिय काव्य रक्खा गया है। इसमे भक्तामर स्तोत्र के चतुर्थ चरण की पूर्ति की गई है। यह प्रसाद गुण पूर्ण उत्तम काव्य है। इनके अतिरिक्त मल्लिषेण प्रशस्ति मे वर्द्धनन्दि के नव स्तोत्र का उल्लेख मिलता है, जिसमे समस्त अर्हत वचन को अन्तर्भुक्त कर लिया गया है।

शब्द-चमत्कार तथा काव्य-कौशल प्रदर्शन की दृष्टि से भी जैन स्तोत्र साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। देवानन्दि के सिद्धिप्रिय स्तोत्र में श्लेष का चमत्कार दिखलाई

पडता है। प्राकृत के महावीर स्तव मे एक ही शब्द तीन-तीन वार आया है और प्रत्येक वार उसका भिन्न अर्थ मे प्रयोग हुआ है। नेमि जिन स्तव मे द्वि-अक्षर पद्यो का प्रयोग किया गया है, जिनमे "ल" और "म" केवल इन दो व्यञ्जनो का प्रयोग हुआ है। जय तिलक सूरि के चतुरहारावली चित्र स्तव मे पद्मवन्ध, मुरज वन्ध, स्वस्तिक, सर्वतोभद्र इत्यादि चित्र काव्यो का प्रयोग किया गया है। १२ वी शताब्दी के 'पड्भापा निर्मित पार्श्वजिन स्तव' मे और १४ वी शताब्दी मे जिन पद्म के पड्भापा-विनिर्मित-शान्तिनाथ-स्तव मे एक ही स्तोत्र मे सस्कृत, महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्र श इन ६ भापाओ का प्रयोग किया गया है। जैनस्तोत्र साहित्य का यही सक्षिप्त परिचय है।

बौद्ध स्तोत्र साहित्य

हमे कनिष्क के राज्यकाल मे दो महान् बौद्ध स्तोत्रकारो का परिचय प्राप्त होता है—एक हैं अश्वघोप और दूसरे हैं मातृचेता। तिब्वत के ऐतिहासिक विद्वान् अश्वघोप का ही दूसरा नाम मातृचेता भी मानते है तथा इन दोनो महाकवियो की एकता का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु यह धारणा सर्वथा भ्रान्त है। मातृचेता अश्वघोप की अपेक्षा पूर्ववर्ती थे और उन्ही के समय से कुछ पहले हुए थे। अश्वघोप के आश्रयदाता कनिष्क ने मातृचेता को दरवार मे वुलाया था जिस पर मातृचेता ने वृद्धावस्था का कारण वतला कर उपस्थित होने मे असमर्थता प्रकट की थी। यह पत्र आजकल के विद्वानो को प्राप्त हुआ है जिसमे ८५ पद्य है। इस पत्र मे एकान्त जीवन व्यतीत करने का निश्चय प्रकट किया गया है। सातवी शताब्दी मे इत्सिग को मातृचेता की वडी प्रतिष्ठा दिखलाई पडी थी। इत्सिग ने एक प्रसिद्धि का उल्लेख किया है कि एक वार वुद्ध शिष्यो के साथ कही घूम रहे थे। उस समय एक कोकिल कही वोल रहा था, जो ऐसा मालूम पड रहा था मानो वुद्ध का यशोगान कर रहा हो। वुद्ध ने कहा कि यह कोकिल एक दिन मातृचेता के रूप मे जन्म लेगा। इस प्रसिद्धि से ही मातृचेता की ख्याति का अनुमान लगाया जा सकता है। इनकी लिखी हुई पुस्तकें वहुत अधिक पढी जाती रही है और आज भी वौद्धो मे इनका वहुत अधिक सम्मान है। असग और वसुवन्धु जैसे वौद्धो ने भी इनकी अत्यधिक प्रशसा की है। इनकी लिखी हुई दो पुस्तकें वहुत प्रसिद्ध है—चतु शतक स्तोत्र और शतपञ्चाशिका। यह स्तोत्र साधारण अनलकृत भापा मे लिखे हुए स्तोत्रो का सग्रह है। किन्तु भापा सुन्दर है और विचार वडे ही उच्चकोटि के है। इत्सिग ने इन स्तोत्रो को सन्यासियो की सभा मे गाते हुए सुना था और लिखा है कि "ये पद्य सुन्दरता मे स्वर्गीय पुष्पो के समान है और उच्च सिद्धान्त उनमे सुरक्षित हैं। वे अपनी महत्ता मे हिमालय की उच्च चोटियो की तुलना मे रखे जा सकते हैं। अतएव भारत मे जो भी स्तोत्रो की रचना करता है वह इनको साहित्य का पिता मानकर इनके आदर्श पर रचना करने की चेष्टा करता है। वसुवन्धु और असग

जैसे बौद्ध महात्माओं ने भी इनकी अत्यधिक प्रशसा की है। सारे भारत मे जो भी सन्यास लेता है जैसे ही वह ५ और १० आर्य सत्यों को सुना देता है उसे इनके दो स्तोत्र अवश्य सुनाने पडते हैं। यह पाठ्य विषय के रूप मे हीनयानियो और महायानियों दोनो मे प्रचलित है।" इत्सिग को इनकी प्रशसा के शब्द नही मिलते। उन्होने लिखा है कि प्रसिद्ध दिङ्नागाचार्य नामक बौद्ध तार्किक ने इसके प्रत्येक पद्य के पहले एक पद्य बनाकर रखने का प्रयत्न किया और इस प्रकार ३०० पद्यों का एक मिलित स्तोत्र तैयार हो गया।

कनिष्क के राज्य के दूसरे कवि है अश्वघोष। इनके विषय मे कहा जाता है कि ऐसा कोई प्रश्न नही था जिसको अश्वघोष हल न कर देते, ऐसा कोई तर्क नहीं था, जिसका खण्डन न कर सकते। वे अपने प्रतिवादी पर उसी प्रकार प्राय विजय प्राप्त कर लेते थे जैसे एक शक्तिशाली वायु जीर्ण-शीर्ण वृक्षो को तोड डालता है। अश्वघोष के नाम पर गण्डी-स्तोत्र-गाथा नामक एक ही स्तोत्र ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है जोकि चीनी अनुवाद के आधार पर सस्कृत मे परिवर्तित किया गया है। यह स्तोत्र अश्वघोष की प्रतिभा के अनुकूल ही है। बौद्ध स्तोत्र पूर्ण रूप से शैव और वैष्णव स्तोत्रों के आधार पर लिखे गये है।

कुछ उच्चकोटि की कलात्मक तथा काव्यात्मक कृतिया हैं, कुछ चित्र काव्य है और कुछ नामावली है। नागार्जुन का चतुस्तव तिब्बती अनुवाद मे प्राप्त हुआ है। हर्षवर्धन भी अपने अन्तिम जीवन मे बौद्ध हो गये थे। इन्होने बौद्ध धर्म के विषय मे ह्वेनत्साग से बहुत कुछ सीखा था। इन्होने सुप्रभात नामक एक स्तोत्र की रचना की। इस स्तोत्र मे २४ पद्य है। साथ ही उन्होने ५ पद्यो का एक महा श्रीचैत्य-स्तोत्र भी बनाया।

वज्रदन्त कवि देवपाल की देख-रेख मे रहते थे। इन्होंने ९वी शताब्दी मे अवलोकितेश्वर शतक की रचना की। कहा जाता है कि यह शापवश कोढी हो गये थे। तब उन्होंने एक स्रग्धरा पद्य श्री अवलोकितेश्वर की सेवा मे प्रतिदिन लिखना प्रारम्भ किया। जब १०० पद्य पूरे हो गये तब बुद्ध भगवान् ने इन्हे दर्शन दिये और इनका रोग दूर हो गया। इस उच्चकोटि के स्तोत्र मे नख-शिख, उनके पचास नाम, अनेक गुण, उनका प्रेम और दया का वर्णन है।

परमार्थ नाम सगीति एक स्तोत्र है। प्राचीन भारतीय साहित्य मे नामावली गिनाने की परम्परा रही है। इसी प्रकार की नामावलिया हमे यजुर्वेद, महाभारत तथा दूसरे पुराणो मे भी मिलती हैं। परमार्थ नाम सगीति मे भी इसी परम्परा का पालन किया गया है। ९ पद्यो का एक सप्त बुद्ध स्तोत्र मिलता है, जिसमे कई बुद्धों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार नैपालीय देवता के प्रति कल्याण पञ्चविंशतिका एक अज्ञात कवि अमृतानन्द के द्वारा लिखा गया। इसमे २५ पद्यो मे नैपाली देवता की नामावली दी गई है।

बहुत से स्तोत्र बौद्ध देवी तारा के विषय में भी प्राप्त होते हैं। तारा का अर्थ है रक्षिका अथवा तारने वाली। तारा विषयक एक स्तोत्र कश्मीरी कवि सर्वज्ञमित्र ने लिखा है। इसको स्रग्धरा स्तोत्र या आर्य तारा स्रग्धरा स्तोत्र कहते हैं। इस मे उच्चकोटि की काव्य शैली अपनाई गई है। स्रग्धरा देवी का भी विशेषण हे और समे स्रग्धरा छन्द भी अपनाया गया है। कहा जाता है कि कवि सर्वज्ञमित्र कश्मीर के राजा के दामाद थे। ये इतने उदार थे कि इन्होने अपना सर्वस्व दान कर सन्यास ले लिया था। एक दिन जब वे घूम रहे थे, एक ब्राह्मण ने अपनी पुत्री के विवाह के लिये इनसे कुछ रुपये मागे। इन्होंने अपने को एक राजा के हाथ बेच दिया। राजा सौ व्यक्तियो का पुरुषमेध करना चाहता था। जब इन्होंने सौ व्यक्तियो के रोने चिल्लाने का शब्द सुना तब इन्होंने इस स्तोत्र की रचना की और तारा ने सौ बन्दियो की रक्षा की। आर्य तारा नामाष्टोत्तर शतक स्तोत्र मे तारादेवी की नामावली है। एक विंशति स्तोत्र मे २१ पद्य हैं तथा इसकी रचना शिथिल है।

रामचन्द्र कवि भारती ने भक्ति शतक नामक एक स्तोत्र लिखा। ये बंगाली ब्राह्मण थे और सीलौन के पराक्रमबाहु (१२५०) के सस्करण मे गये तथा बौद्ध बना लिये गये। इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मण धर्म का भक्ति सिद्धान्त किस प्रकार बौद्ध धर्म मे प्रवेश पा रहा था। इसकी शैली हिन्दु स्तोत्रो जैसी है और हीनयान तथा महायान दोनो के द्वारा अपनाई जा सकती है।

स्तोत्र साहित्य का सिंहावलोकन

जैसे कि पहले बतलाया जा चुका है आनन्दवर्धन के मत में स्तोत्र साहित्य में रसानुभूति गौण होती है। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने स्तोत्र साहित्य के इतना विस्तृत होते हुए भी भगवद्भक्ति को रसो मे स्थान नही दिया। यद्यपि भक्ति के मूलभूत सिद्धान्तो तथा उसकी प्रवृत्तियो का भक्ति सूत्रो के चिरपूर्व निरूपण हो चुका था और महायान शाखा के विकास के साथ-साथ भक्ति को प्रधानता प्राप्त होती जा रही थी तथापि इन स्तोत्रो मे हमे भक्ति की वह प्रगाढता तथा गम्भीरता दृष्टिगत नही होती जो उत्तरवर्ती भक्ति काव्य मे प्रधानतया प्रतिष्ठित हो गई थी। न तो इनमे वह हृदय की वेदना ही दृष्टिगत होती है और न उतनी भावविभोरता ही। किन्तु इसका यह आशय नही है कि इन स्तोत्रो मे हृदय-तत्व है ही नही। अनेक स्तोत्रो मे भक्तो के सच्चे हृदयोद्‌गार है और चाहे वे देवता हो, चाहे तीर्थंकर अथवा अवलोकितेश्वर हो उन्होने हमारे साथ जो उपकार किये है उनके प्रति आभार प्रदर्शित करने तथा उनकी महत्ता के विषय मे उनमे श्रद्धा रखने के लिये हम बाध्य हो जाते हैं। कृतज्ञता तथा श्रद्धा दोनो प्रकार की भावनाओ मे एक अभूतपूर्व आनन्द होता है, एक अनिर्वचनीय उल्लास होता है और यह आनन्द व्यक्तिगत न होकर सामाजिकता से परिपूर्ण होता है। कृतज्ञ या श्रद्धालु व्यक्ति सर्वदा अपनी भावनाओं मे समस्त समाज को सम्मिलित कर लेने के लिये उत्सुक रहता है और दूसरो के साथ

मिलकर ही अपनी भावना का आस्वादन करना चाहता है। हमे इस स्तोत्र-साहित्य मे सर्वत्र इस कृतज्ञता, इस श्रद्धालुता तथा इस सामाजिक मनोवृत्ति के दर्शन होते है। यही कारण है कि अनेक स्तोत्रो का मूल समस्त अनुशीलनकर्ताओ के प्रति आशीर्वाद-परक है और कही-कही उपदेशात्मक भी है। जहा कही व्यक्तिगत सुख-भोग अथवा मोक्ष की कामना की गई है वहा भी कवि लोक के प्रतिनिधि के रूप मे ही दृष्टिगत होता है। इस प्रकार रसानुभूति तत्त्व गौण होते हुए भी पर्याप्त प्रभावशाली है और भक्तो को अपनी ओर आकर्षित करने मे पर्याप्त रूप से सक्षम है। इन स्तोत्रो मे भी एक आनन्दमयी भावना ओतप्रोत है जो पाठको को सर्वदा आप्यायित करती रही है।

ये स्तोत्र ठीक रूप मे वैदिक सूक्तो की परम्परा मे आते है और उसी प्रकार उपास्य की महत्ता, व्यक्तिगत कामना अथवा आध्यात्मिकता इत्यादि को लेकर चलते हैं। इन स्तोत्रो मे वैदिक सूक्तो की ही भाति उपास्यो की अनेकता दृष्टिगत होती है। साथ ही उसी प्रकार प्रस्तुत उपास्य का अन्य देवो पर आधिपत्य दिखलाया गया है और इस प्रस्तुत उपास्य की शरण्यता तथा भक्तवत्सलता का विषय दूसरे देवो को भी बनाने की चेष्टा की गई है। इसी प्रकार जब दूसरे देवता का अवसर आया है तब इस उपास्य को भी उसके सामने नतमस्तक होना पडा है। वस्तुत ये समस्त देव उस एक महती शक्ति के ही विभिन्न अग है तथा उस शक्ति के मूर्तरूप है और जिस समय शक्ति के किसी विशेष स्वरूप की आराधना की जाती है, उस अपेक्षणीय स्वरूप के सामने सभी स्वरूप गौण हो जाते है। इसके साथ ही एक बात और है। इस युग मे समस्त धार्मिक समुदाय विभिन्न वर्गों मे बटा हुआ था। इन वर्गों मे परस्पर सघर्ष की भावना भी पर्याप्त मात्रा मे तीव्रता धारण कर चुकी थी। बौद्धो और ब्राह्मण धर्मानुयायियो का सघर्ष प्रसिद्ध ही है। जैन धर्म भी पीछे नही है। ब्राह्मण धर्म के भी अनेक अग हो गये थे, जिनमे प्रधान रूप से शिव, शक्ति और विष्णु की उपासना प्रचलित थी। यद्यपि गणेश, गगा तथा सूर्य इत्यादि के प्रति भी अनेक स्तोत्र लिखे गये थे किन्तु मात्रा मे ये स्तोत्र इतने अधिक नही हो पाये थे कि इनके आधार पर सम्प्रदायो की कल्पना की जा सकती। वैदिक देवता अपना गौण स्थान प्राप्त कर ही चुके थे। अपने-अपने सम्प्रदाय मे अधिक-से-अधिक जन समुदाय को दीक्षित करने की धुन सभी मे विद्यमान थी। सर्व साधारण उसी सम्प्रदाय के प्रति आकर्षित हो सकता था, जिसके देवता मे अधिक-से-अधिक लोकोत्तर शक्ति हो, अधिक-से-अधिक कृतार्थ करने की क्षमता हो और जिससे अधिक से अधिक लौकिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त किया जा सके। अतएव इन स्तोत्र-कारो का दृष्टिकोण एक ओर ऐसे स्तोत्रो की रचना करना था, जिनको गा-गाकर सर्वसाधारण उनके सम्प्रदाय मे आनन्द का अनुभव कर सके दूसरी ओर उनके उपास्यो की लोकोत्तर महत्ता अन्य देवो की अपेक्षा विशेष रूप से प्रतिष्ठित हो सके। इसीलिये इन स्तोत्रो मे सर्वत्र दूसरे देवो से या तो तादात्म्य की भावना प्रदर्शित की जाती थी या अधिकता प्रतिष्ठित की जाती थी। कही-कही दूसरे

सम्प्रदायो की निन्दा भी की जाती थी। स्तोत्र साहित्य की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि सर्वसाधारण मे इनके लोकोत्तर चमत्कार का चारो ओर प्रसार किया जाता था। एक ओर ब्राह्मणधर्मानुयायी मयूर के स्तोत्र द्वारा मयूर के कुष्ठ निवारण की वात कहते थे और वाणभट्ट के चण्डीशतक द्वारा उनके कटे हुए हाथ-पैरो के जुड जाने का प्रचार किया जाता था दूसरी ओर जैन धर्मावलम्वी आचार्य मानतु ग के भक्तामर स्तोत्र के द्वारा मानतुंग की ४२ जजीरो के टूट जाने और वन्दीगृह की कोठरी स्वत खुल जाने की वातें करते थे। कई स्तोत्रो के विषय मे कहा जाता था उनके प्रभाव से शिवलिंग फट गया और उससे पार्श्वनाथ की मूर्ति प्रकट हो गई। तीसरी ओर वौद्ध देवी तारा का समर्थन किया जाता था और स्तोत्र के प्रभाव से सौ व्यक्तियो के वन्दीगृह से मुक्त होने तथा वन्दीगृह मे डालने वाले राजा के पराजित हो जाने की वात कही जाती थी। किन्तु इसका यह आशय नही है कि इन स्तोत्रो मे कवियो की आन्तर-वृत्ति स्वय नही रमती थी। हमे इन स्तोत्रो मे धार्मिक उत्साह और विश्वास के दर्शन होते है। स्तोत्रकार कवियो को अपने आराध्यो की लोकोत्तर शक्ति पर विश्वास था। वे समझते थे कि इन आराध्यो की अनुकम्पा के विना न तो उन्हें लौकिक सुखभोग ही प्राप्त हो सकता है, न परलोक ही वन सकता है, न मोक्ष की ही प्राप्ति हो सकती है और न कवित्व ही स्फुटित हो सकता है। अतएव ये कवि उत्साह के साथ कविता मे प्रवृत्त होते थे और जहा जनसाधारण को स्वधर्म दीक्षा की प्रेरणा प्रदान करते थे वहा स्वय भी सतोष लाभ करते थे। इस प्रकार इन स्तोत्रो मे कवियो का आन्तरिक विश्वास कविता के रूप मे मुखरित हो उठा है।

यद्यपि यह स्तोत्र साहित्य एक रूप मे वैदिक सूक्त परम्परा मे आता है तथापि वैदिक सूक्तो की अपेक्षा इस स्तोत्र काव्य मे कुछ मौलिक अन्तर है। वैदिक काव्य की अपेक्षा इसमे देवताओ का परस्पर तादात्म्य विशेष रूप से प्रतिष्ठित किया गया है और एकता की विशेष रूप से अभिव्यक्ति हुई है। आध्यात्मिकता के भी इन स्तोत्रो मे अधिक दर्शन होते है और वैदिक स्तोत्रो की लौकिक सुखभोग-कामना के स्थान पर पारलौकिकता तथा मोक्ष विशेष रूप से याचना का विषय वन गया है। वैदिक स्तोत्रो मे याच्य वस्तुओ का पृथक्-पृथक् गिनाया जाता था किन्तु इन स्तोत्रो मे लौकिक कामनाओ को पृथक्-पृथक न गिनाकर केवल देवता मे सभी प्रकार के सुख देने की शक्ति का प्रतिपादन कर सतोष किया गया है। इस प्रकार हम देखते है कि इन स्तोत्रो मे एक ओर आध्यात्मिकता वढ रही थी दूसरी ओर कवि-कर्म स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर अग्रसर हो रहा था। इन स्तोत्रो मे तन्त्र विद्या के भी पर्याप्त दर्शन होते है। देवो की विभिन्न मुद्राओ तथा चक्रो का वर्णन किया गया है और उन स्थानों तथा परिस्थितियो का वर्णन किया गया है, जिनमे उन देवो का हमे ध्यान करना चाहिये। कहा-कही तामसिक उपासना के भा दर्शन होते हैं। भगवती दुर्गा

तथा दूसरी देवियों के स्तोत्रों मे तन्त्रो की विशेष रूप से छाप दिखाई देती है। विष्णु भक्ति अधिकतर सात्विकता लिये हुए है।

जैसा कि पहले कहा गया है, स्तोत्र काव्य लिखने का अवसर केवल ब्राह्मण धर्म मे ही है। ब्राह्मण धर्म के अनुसार समस्त मानवीय क्रियाकलापो का नियन्त्रण एक विशिष्ट अदृष्ट शक्ति के द्वारा किया जाता है,वह अदृष्ट शक्ति सर्वथा वर्णनातीत है। मानव को लौकिक तथा पारलौकि सुख-समृद्धि और अन्तिम निर्वाण पद की प्राप्ति के लिये उस शक्ति को स्वानुकूल बनाने की चेष्टा करनी चाहिये क्योंकि इस प्रकार की अनुकूलता के अभाव मे कोई भी उद्देश्य सिद्ध नही हो सकता। व्यक्तिगत सुख साधना का भी यही माध्यम है और लोक कल्याण का भी यही साधक है इसी सिद्धात से प्रेरित होकर स्तोत्र साहित्य को अवतारणा हुई है और देवताओ की उपासना मे सौन्दर्य तत्व का सन्निवेश कर मनोरम काव्य की रचना की गई है किन्तु जैन बौद्ध धर्मों मे इस प्रकार की आराधना का न तो कोई महत्त्व है और न उनके सिद्धातो के अनुसार इस प्रकार की उपासना समीचीन ही कही जा सकती है। इन धर्मों मे प्रत्येक व्यक्ति स्वाधीन है। न कोई अदृष्ट शक्ति उसे नियन्त्रित करती है, और न उसकी समृद्धि कही से प्राप्त की जा सकती है। प्रत्येक जीव धर्माचार्यो का शासन स्वीकार करते हुए तथा अपने जीवन को उसी दिशा मे प्रेरित करते हुए केवली का पद प्राप्त कर सकता है अथवा निर्वाण का अधिकारी हो सकता है। ऐसी दशा मे इन धर्मो मे उपासना का अवसर ही नही रह जाता और न किसी व्यक्ति से कोई वस्तु मागी जा सकती है और न प्रदान की जा सकती है। किन्तु यह स्तोत्र-साहित्य ब्राह्मण धर्म के अनुकरण पर लिखा गया था और उन समस्त बातो को लेकर चलता था जो ब्राह्मण धर्म के स्तोत्र-साहित्य मे विद्यमान थी। इसी लिये इन स्तोत्रों मे भी आराध्यों मे बहुत कुछ प्रदान करने की शक्ति बतलाई गई है। "जिन व्यक्तियों के शरीर पैरों से सर तक परिपूर्ण रूप से शृंखलाओ से जकडे हुए होते है, जिनकी टागे विशाल शृंखलाओं से बुरी तरह पिसी जा रही होती हैं, यदि वे तुम्हारे नाम का स्मरण करते है तो वे तत्काल ही वन्दी गृह के कष्ट से मुक्त हो जाते हैं और उनकी शृंखलायें नष्ट हो जाती है।" इसी प्रकार "जो व्यक्ति सापो के कीलने के लिये अपने हृदय मे आपका नाम उच्चारण करता है वह क्रोध मे भरे हुए विषधर सर्पो पर नग्न पैरो से खडा हो जाता है। आपके कमल-सुन्दर चरणो मे जो तीर्थ यात्रा करता है वह शत्रु समूह को अनायास ही जीत लेता है। जो नाविक आपका ध्यान करते हुए यात्रा करता है वह निर्भय होकर महासागर पार कर जाता है।" (भक्तामर स्तोत्र–३८–४०) यह बतालाया ही जा चुका है कि इन स्तोत्रों के चमत्कार से सम्बधित किम्वदन्तिया लोक प्रसारित की जा रही थी। जयतिहुअन स्तोत्र के द्वारा अभयदेव को रोग निर्मुक्ति प्राप्त हुई थी और उसी स्तोत्र के द्वारा पार्श्वनाथ की प्रच्छन्न मूर्ति भी प्रकाश मे आई थी। सिद्धसेन दिवाकर के कल्याण

मदिर स्तोत्र को पढने से शिवलिंग फट गया था और उससे पार्श्वनाथ की मूर्ति निकल आई थी। भक्तामर स्तोत्र से मेरुतु ग की ४२ लोह शृ खलायें खुल गई थी। इस प्रकार पौराणिक शैली पर ही इन स्तोत्रो के साथ अनेक अन्धविश्वास जुडे हुए हैं।

इस काल में सर्वसाधारण मे ब्राह्मण धर्म का विशेष प्रचार था। जैन तथा बौद्ध धर्मों की ओर जन समुदाय का आकर्षण कम था। अतएव पौराणिक स्तोत्रो मे जैन बौद्ध धर्म के आराध्यो का उल्लेख नहीं किया गया है मानो ब्राह्मण धर्मानुयायी तीर्थङ्करो के समक्ष देवो को रखने मे देवो का अपमान समझते थे। इसके प्रतिकूल जैन बौद्ध स्तोत्रो मे अपने आराध्यो का तादात्म्य देवो से सिद्ध किया गया है और तीर्थङ्करो मे अनेक देवी देवताओं की सत्ता अ गीकार की गई है। "आप बुद्ध हैं क्योंकि देवता आपके प्रबुद्ध मानस की प्रशसा करते हैं। आप शकर हैं क्योंकि आप तीनो लोको के मोक्ष का मार्ग प्र शस्त करते है। आपने अपने ज्ञान से मोक्ष मार्ग की रचना की है अतएव आप पुरुषोत्तम हैं।" यही नही पौराणिक देवो को काम, क्रोध, लोभ, मोह के वशीभूत वतलाया गया है अतएव उनकी उपासना त्यागने को कहा गया है और तीर्थङ्करो को वीतराग होने के कारण उपास्य वतलाया गया है।

अनेक स्थानो पर तीर्थङ्करो के प्रकाश का भी वर्णन किया गया है और उसके लिये सूर्य तथा चन्द्रमा की उपमा प्राय दी गई है। इस स्तोत्र-साहित्य मे भक्तो को कमल तथा तीर्थङ्करो को सूर्य कहने की भी वहुत अधिक परम्परा है।

किन्तु इस स्तोत्र-साहित्य मे भावात्मक अभिनिवेश के साथ कलात्मकता विशेष रूप मे समुपलब्ध होती है। अलकारो का स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयोग किया गया है और कहीं-कहीं श्लेप का वहुत ही सुन्दर प्रयोग वन पडा है। अलकारो मे कुछ तो प्रचलित तथा विषयानुकूल है और कुछ केवल अलकारो के मन्तव्य से ही लिखे गये हैं। जैन स्तोत्र-साहित्य मे चित्रमयता की ओर प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखलाई पडती है। जन स्तोत्रो मे हृदय-तत्त्व का कम किन्तु मस्तिष्क का अधिक उपयोग किया गया है। अनेक स्थानो पर पाण्डित्य-प्रदर्शन के लोभ से ही श्लेप का प्रयोग किया गया है। जिस प्र कार मध्य काल के महाकाव्यो मे और विशेप रूप से किरात तथा माघ काव्यो मे चित्र काव्य रचना दिखलाने के लिये एक पृथक् सर्ग रखा गया है उसी प्रकार इन स्तोत्रो मे भी द्वि-अक्षर पद्य, सर्वतोभद्र, कमलवन्ध इत्यादि चित्र काव्य के मन्तव्य से रचना की गई है। जैन स्तोत्रो के विषय मे विण्टरनित्ज ने लिखा है —

"स्वाभाविक रूप मे जिन-देवो की प्रशसा और प्रार्थना मे विषय-वैचित्र्य नही आ पाया है। कविगण नये विषयो की उद्भावना के लिए नही किन्तु रचना-शैली और स्वरूप के परिवर्तन करने के लिये चेष्टा किया करते थे। यही कारण है कि स्तोत्र-साहित्य मे आलकारिक दरवारी कविता की शैली का सवमे अधिक विकास

हुआ है। इनमे कुछ कवितायें बहुत अधिक अलकृत हैं। ....छन्दो की विविधता का समावेश करने की चेष्टा भी की गई थी। एक ही स्तोत्र मे प्रत्येक पद्य के लिये एक नया छन्द चुनने का कवियो का प्रयास दृष्टिगत होता है। सबसे बडी विचित्र बात यह है कि कई स्तोत्र एक साथ अनेक भाषाओ मे लिखे गये और प्राय प्रत्येक पद्य के लिये एक नयी ही भाषा चुनी गई। कही-कही तो एक ही पद्य मे दो-दो भाषाओं का प्रयोग किया गया।"

स्तोत्र साहित्य के अन्तर्गत दार्शनिक सिद्धान्तो की छाप पौराणिक साहित्य मे अपना नया स्थान रखती है। जैन स्तोत्रो मे दार्शनिकता की छाप पडी अवश्य है किंतु ऐसे स्तोत्रो की सख्या अत्यन्त न्यून है। सक्षेप मे इस स्तोत्र-साहित्य के द्वारा एक ओर तो धार्मिकता के विकास मे सहायता मिली दूसरी ओर मुक्तक काव्य के विकास मे तथा अलकारिक रचना की दिशा मे भी पर्याप्त सहायता मिली और यह विशाल काव्य-राशि अग्रिम युग मे मुक्तक काव्य के क्षेत्र मे धार्मिकता को प्रधानता देने मे पर्याप्त साधक सिद्ध हुई, इसमे सन्देह नही।

हिन्दी धार्मिक काव्य परम्परा

हिन्दी काव्य-काल मे स्तोत्र परम्परा समाप्तप्राय हो गई। दो-चार साहित्यिक स्तोत्र लिखे अवश्य गए किन्तु उनका समावेश या तो प्रबन्ध काव्यो मे यथास्थान कर दिया गया या साम्प्रदायिक कीर्तन सग्रहो मे उन्हे स्थान प्राप्त हो गया। इस काल मे स्तोत्रो के स्थान पर विनय पदों, गीतो और फुटकर पद्यो के लिखने की प्रवृत्ति रही। इन्ही के माध्यम से कवि आत्म-निवेदन किया करता था।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है यह काल दार्शनिक विचारधारा के विकास का रहा है। आचार्य शकर ने जिस ब्रह्मवाद, मायावाद और विवर्तवाद का प्रतिपादन किया था उसका प्रतिरोध अनेक आचार्यों ने किया और इस आधार पर अनेक वाद चलित हुए। भक्ति के विकास के लिए शकर का सर्व-ब्रह्मवाद उपयुक्त नही था, इसीलिए कुछ न कुछ भेद की कल्पना आवश्यक थी, जिसकी पूर्ति वाद के दार्शनिक सम्प्रदायो मे हुई किन्तु शकर के ब्रह्मवाद और मायावाद से सर्वथा पीछा नही छुटा और कवियो की वाणी मे समय-समय पर इसका प्रस्फुटन होता ही रहा। रामानुज, माध्व और निम्बार्क के सिद्धान्तो का परिचय दिया ही जा चुका है। तत्कालीन धार्मिक साधना मे इन आचार्यों का बहुत बडा प्रभाव पडा। इनके कार्य को और आगे बढ़ाने का स्तुत्य कार्य तीन अन्य आचार्यों द्वारा सम्पन्न हुआ—वे थे चैतन्य, रामानन्द और वल्लभाचार्य। चैतन्य महाप्रभु ने निम्बार्क के सिद्धान्त का आधार लेकर पूर्व मे राधा कृष्ण की भक्ति का पर्याप्त प्रसार किया और माध्यम के रूप मे जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति के पदो का प्रयोग किया। ये पद्य सकीर्तन गोष्ठियो मे गाते थे, जिससे जनता मुग्ध होकर इनके सिद्धान्तो की ओर आकृष्ट होती थी। रामानन्द ने विष्णु तथा नारायण के स्थान पर रामावतार तथा राम की भक्ति-

पर बल दिया । इन्होंने अपने सिद्धान्तों का हिन्दी मे प्रचार किया था। अतएव भक्ति के सिद्धान्त की जड जम गई और राम का मर्यादारूप सर्व-साधारण का आकर्षण केन्द्र हो गया । वल्लभाचार्य का आविर्भाव तेलगू प्रदेश मे हुआ था। इन्होंने कृष्ण को ब्रह्म माना और राधा को उनकी पत्नी । गोलोक मे स्थित वृन्दावन-धाम मे उनकी लीलायें नित्य हुआ करती है । परम पद प्राप्त करने के लिए भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करना परम आवश्यक है। यह अनुग्रह भगवान् की लीलाओ मे आनन्द लेने और उनका कीर्तन करने से ही प्राप्त किया जा सकता है। वल्लभाचार्य ने भगवदनुग्रह प्राप्ति को पुष्टि-मार्ग की सज्ञा प्रदान की । इस प्रकार इन महात्माओ के प्रभाव से सूर्य, अग्नि इत्यादि वैदिक देवता और ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि पौराणिक देवताओ का स्थान राम और कृष्ण ने ले लिया और अब भक्ति भावना की अभिव्यक्ति राम और कृष्ण के प्रति की जाने लगी। यद्यपि कही-कही पुराने देवताओ के प्रति भक्ति की अभिव्यञ्जना भी दृष्टिगत होती है, किन्तु यह परिमाण मे इतनी न्यून है कि इसे हम समय की सामान्य प्रवृत्ति नही कह सकते ।

पहले बतलाया जा चुका है कि उपास्य की महत्ता, आत्म-निवेदन और आध्यात्मिकता स्तोत्र-साहित्य के प्रधान तत्त्व थे। हिन्दी काव्य काल की धार्मिक साधना मे भी यही तत्व प्रधान बने रहे। किन्तु इनके रूप मे अन्तर आ गया। अभी तक भगवान् के वाह्य रूप और वाह्य शक्ति का वर्णन किया जाता था अब भगवान् की व्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता, माया पर ईश्वरता, भक्तत्राणकारिता इत्यादि तत्त्वो का वर्णन होने लगा। इसके साथ ही कवि अपनी हीनता का भी वर्णन करते नही थकता था। भगवान् के समस्त गुणो मे जिस गुण का उल्लेख हुआ है वह है भक्तो की आर्ति को उन्मूलन करने की शक्ति तथा उनमे अपराधो के क्षमा करने की शक्ति। इसके लिये पुराणो की कथा के आधार पर सैकडो पापियो की नामावली गिनायी जाने लगी और भगवान् से उसी निदर्शन पर उद्धार करने की प्रार्थना की जाने लगी। भगवान् उसी का उद्धार करते है जो बडे से बडा पापी होता है। इसके लिये अपने पाप की पराकाष्ठा दिखलाई जाने लगी और जिन पापियो का उद्धार भगवान् ने किया था, उनको अपनी तुलना मे कम पापी बतलाया जाने लगा। दूसरा तत्त्व था भगवान् से कुछ याचना करना। अभी तक भगवान् से लौकिक सुख-भोग की याचना की जाती थी अब मोक्ष तथा परम-पद की याचना की जाने लगी। कही-कही मोक्ष को भी नीचा बतलाकर केवल भक्ति की ही प्रार्थना की जाती थी। भक्ति जिसका अन्त न हो, जिसका कोई उद्देश्य न हो और जिसमे कभी विश्राम न हो। इस विषय मे सख्य प्रेम का विशेष महत्त्व रहा। कभी-कभी भगवान् के पतितोद्धारक विरुद को चैलेन्ज दिया जाता था, कभी-कभी उद्धार करने मे विलम्ब के कारण भगवान् के प्रति खीझ प्रकट की गई और भक्ति करने की दृढता प्रकट की गई।

ससार की असारता और भगवत्तत्त्व की महत्ता बतलाकर कभी-कभी सर्वसाधारण को उपदेश दिया गया और उन्हें विषय-वासनाओ को छोडकर भगवत्तत्त्व मे लीन होने की प्रेरणा भी प्रदान की गई।

वैदिक काल से ही कविता के द्वारा किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करने की प्रवृत्ति चली आ रही थी। ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ तथा नासदीय सूक्त इस प्रवृत्ति के निदर्शन हैं। उपनिषदो मे यह प्रवृत्ति और अधिक बढी और अध्यात्मवाद का प्रतिपादन करने के लिये कविता का आश्रय लिया गया। जैन-बौद्ध साहित्य मे भी सिद्धान्त-प्रतिपादनपरक मार्गणा, स्थान इत्यादि का वर्णन मिलता है। यह प्रवृत्ति इस काल मे भी बनी रही। गम्भीर तत्त्व विवेचनपरक पद तथा गीत इस काल मे भा लिखे गये। इनमे ईश्वर, जीव, माया, प्रकृति इत्यादि का वास्तविक स्वरूप, इनका परस्पर सम्बन्ध इत्यादि का कवित्वमय शैली मे प्रतिपादन होता है और उनका पर्यवसान भक्ति मे कर दिया जाता है। इस काल की दूसरी सर्वसामान्य विशेषतायें है गुरु की महिमा का वर्णन और भेदभाव का निराकरण। विना गुरु की कृपा के किसी का निस्तार नही हो सकता। इस साधन मार्ग पर आने का सभी को अधिकार है चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष, चाहे ब्राह्मण हो चाहे अन्त्यज। भगवान् का ध्यान सभी को पवित्र करने वाला है। इस प्रकार इस धर्म साधना के द्वारा एक ओर असहाय हिन्दू-जाति को एक सहारा मिला, दूसरी ओर सगठन का भी महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो गया।

जयदेव ने गीत गोविन्द के प्रारम्भ मे "जय जगदीश हरे" और "जय-जय देव हरे" इन शीर्षको से दो स्तोत्र लिखे हैं। प्रथम स्तोत्र मे भगवान् के १० अवतारो का वर्णन किया गया है और दूसरे स्तोत्र मे भगवान् के सौन्दर्य, सामान्य विभूति और शक्ति का वर्णन अधिगत होता है। कविवर विद्यापति ने अपने रसात्मक मुक्तको का विषय राधा-कृष्ण को बनाया था और भक्ति का आलम्बन भगवान् शकर को। इनका अधिक समय शृ गारिक कविता बनाने मे वीता था। किन्तु सम्भवत' जीवन के अन्तिम भाग मे विरक्त होकर ये शिवाराधनपरक कवितायें करने लगे थे। मिथिला मे इनकी बनाई हुई बानियो और नचारियो के गाने की बहुत प्रथा है। नचारियों का एक-एक शब्द आनन्द से भरा हुआ है। इसी को भक्त लोग गा-गाकर आनन्द से पागल हो जाते हैं। वहा स्त्री,पुरुष, कन्या, बालक सभी प्रकार के लोग इन्हें गाते हैं। निस्सन्देह जो पवित्र और मर्यादापूर्ण चित्रण हमे शिव-पार्वती के प्रसग मे प्राप्त होते है वे राधा-कृष्ण के प्रसग मे नही मिलते। इन प्रार्थनाओ और नचारियो मे भगवान् शिव का अधम-उद्धारण विरुद और अपने दोप तथा पापो का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है तथा यम के दरवाजे पर जब यम के किंकर क्रोध के साथ उठावें और जीवन के कर्मों का उत्तर मागें उस समय यम के बन्धन से छुडा लेने की प्रार्थना की गई है क्योकि भगवान् शिव ही अशरण-शरण है। इसी प्रकार भगवती

दुर्गा की अभूतपूर्व शत्रु-सहारिणी शक्ति का वर्णन किया गया है तथा युद्ध में उनकी सुन्दरता का भी वर्णन किया गया है। इसी प्रकार देवी जी की सामान्य सुन्दरता का वर्णन करते हुए उनसे वर देने की प्रार्थना की गई है।

सूरदास ने सूरसागर के प्रथम और द्वितीय स्कन्धो मे विनय के पद लिखे है तथा अन्यत्र भी इस प्रकार के पद बिखरे हुए हैं। इन पदो में सूर ने स्मरण, भगवद्‌भजन और कीर्तन पर अधिक बल दिया है। नाम-स्मरण के प्रभाव से जितने भक्त तर गये उनका वर्णन करते हुए सूरदास जी नही थकते "जो लोग राम नाम की आड लेते हैं उनका भगवान् अवश्य उद्धार करते हैं।" सूर ने सैकडो पदो में शरणागति से तरने वालो का वर्णन किया हैं तथा भगवान् से अपने को तारने की प्रार्थना की है और इस बात पर दु ख प्रकट किया है कि सबको तारने वाले भगवान् इस प्रकार सूर के अवसर पर अपने विरुद को भूल गये। कही-कही भगवान् के विरुद को ललकारा भी है और यह भी कहा है कि भगवान् तब तक पतित-पावन नहीं कहे जा सकते है जब तक सूर का उद्धार नही करते। सूर के लिये कृष्ण-कीर्तन ही जप-तप, ज्ञान, ध्यान,तीर्थाटन इत्यादि सभी कुछ है यद्यपि सूर कृष्ण के अनन्य भक्त हैं तथापि ये राम और कृष्ण को एक ही मानते है। प्राय' प्रत्येक प्रार्थना मे कृष्ण के साथ राम को भी सम्मिलित किया गया है और रामावतार की विशेषताओकी ओर भी सकेत पाया जाता है। इसी प्रकार भगवान् के दूसरे अवतारो की ओर भी सकेत पाया जाता है। इसके अतिरिक्त सूर ने कृष्ण का शिव रूप मे भी ध्यान किया है। सूर की भक्ति-साधना मे भय है, व्याकुलता, पश्चात्ताप, दैन्य, भर्त्सना इत्यादि का बहुत बडा महत्त्व है। "हृदय की कबहुन जरनि घटी", "अबकी राखि लेहु भगवान्", "कीजै प्रभु अपने विरद की लाज" इत्यादि पदो मे सूर ने बडी ही दीनता और व्याकुलता प्रदर्शित की है तथा "कहा कमी जाके राम धनी", "जब जब दीनन कठिन परी" इत्यादि पदो के द्वारा मन को आश्वस्त भी किया है। स्वसाधना के अतिरिक्त सूर ने दूसरो को भक्ति का उपदेश भी पर्याप्त मात्रा मे दिया है—"भगति बिनु बैल बिराने ह्वै हौ", "रे मन मूरख जनम गवायो" इत्यादि पदो मे मानव जीवन की सफलता इसी बात मे बतलाई गई है कि जन्म लेकर भगवद्‌भक्ति करे। जो भगवान् की भक्ति करता है, उससे बडा ससार मे कोई नही। जो भगवान् की भक्ति नही करता है उसके सारे गुण व्यर्थ हैं। "रावण गर्व ही गर्व मे गल गया और सुदामा भगवान् के समान हो गये, सीता जीवन भर वियोग मे ही जलती रही और कुब्जा ने कृष्ण जैसा वर पाया। शकर से बढ़कर कौन योगी होगा, जिनको कामदेव ने छल लिया और नारद से बढकर कौन विरक्त होगा जो घूमते ही फिरते रहे। दूसरी ओर अजामिल से बढकर कौन पापी होगा किन्तु भगवद्‌भक्ति के प्रभाव से वहा यमराज जाते हुए भी डरता था।" भक्ति के उपदेश के अतिरिक्त सूरने दार्शनिक सिद्धातो पर भी प्रकाश डाला है। वे भगवान् को सगुण और निर्गुण दोनो रूपो मे मानते हैं। भगवान् घट-घट व्यापक है वे अपूर्व

ज्योति स्वरूप है। उनके विराट् रूप का वर्णन चार, पाच और छ. मुख से किया जाता है तथा शेषनाग तो सहस्र मुख से उनका गुण-गान करते है परन्तु पार नही पाते। जब तक सत्य स्वरूप दिखलाई नही पडता तब तक कस्तूरी मृग के समान भटकना पडता है। इसके अतिरिक्त दर्शनो की पद्धति पर माया, जाव तथा भ्रम से उनके सम्बन्ध के विपय मे अनेक पद्य आये है। सूर ने माया को भुजगिनी, नटिनी इत्यादि अनेक गर्हित नामो से पुकारा है। सूर पुष्टि मार्ग के अनुयायी है और उसी आदर्श पर उनकी प्रवृत्ति सगुण लीला गान की ओर है। वे शुद्ध द्वैतवादी होने के कारण जगत्, जीव और ब्रह्म की तात्विक एकता के समर्थक हैं, परन्तु जीव और ब्रह्म का भेद भी स्वीकार करते है। वे ज्ञानी की भांति निराकार ब्रह्म से सायुज्य प्राप्त कर बूद और समुद्र की भाति एकाकार परिणति नही चाहते अपितु मुक्त जाव के साथ नित्य लीला मे प्रवेश कर ब्रह्मानन्द से भी श्रेष्ठ परम आनन्द प्राप्त करना चाहते है। सूर तुलसी की भाति ज्ञान को भी परमपद का साधक नही मानते। सूर के मत मे प्रेम-लक्षणा भक्ति ही सब कुछ है। यह प्रेम-लक्षणा भक्ति जगत् से विरक्ति तथा भगवदासक्ति पर आधारित है। वल्लभ से पूर्ववर्ती आचार्य विष्णुस्वामी ने कृष्ण के गोपाल रूप की उपासना पर जोर दिया था, जिसका अनुसरण कर प्रारम्भ मे वल्लभ सम्प्रदाय मे बालरूपोपासना ही प्रमुख रहा। बाद मे सहजिया तथा शाक्त सम्प्रदायो के प्रभाव से गोपाल के साथ राधा-कृष्ण की काम-कला का समावेश हो गया और पुष्टिमार्गीय भक्तो मे भगवान् के मधुर रूप की ही उपासना प्रधान हो गई। सूर मे हमे दोनो रूपो के दर्शन होते हैं। सूर साधना के आध्यात्मिक पक्ष मे हमे कही-कहीं वल्लभेतर सम्प्रदाय की भी झलक दिखाई पडती है।

तुलसी की धर्म-साधना मे विनय-पत्रिका का प्रमुख स्थान है। इसके अतिरिक्त कवितावली के उत्तरकाण्ड तथा दूसरे स्थानो पर भी यत्र-तत्र तुलसी की भक्ति साधना दृष्टिगत होती है। विनय-पत्रिका मे तुलसी ने विभिन्न देवी-देवताओ से प्रार्थना की है और उनसे राम-भक्ति का वरदान मागा है। इस ग्रथ मे तुलसी अपनी हीनता और राम की महत्ता कहते नही थकते। निस्सदेह तुलसी की धर्म-साधना मे इस ग्रथ का अभूतपूर्व स्थान है। तुलसी की पुस्तको को देखने से ज्ञात होता है कि इनका दर्शन-शास्त्र का अध्ययन बहुत गम्भीर था। विनय-पत्रिका मे स्तुति, आत्मबोध और आत्म-निवेदन के बीच गोस्वामी जी ने अद्वैतवाद के गम्भीर सिद्धान्तो को काव्यमय सबल भाषा मे प्रतिपादित किया है। उनका "केशव कहि न जाइ का कहिये" वाला पद इस दिशा मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह एक विवादग्रस्त विपय है कि तुलसी विशिष्टाद्वैतवादी थे अथवा अद्वैतवादी। निस्सदेह अन्य क्षेत्रो के समान तुलसी इस दिशा मे समन्वयवादी ही थे। आचार्य शुक्ल ने इनको रामानुज का अनुयायी माना है क्योकि उनका निरूपित सिद्धान्त ही भक्तो की भावना के अनुकूल दिखलाई पडता है। सक्षेप मे तुलसी की धर्म-साधना समन्वयवादी है।

उन्होने राम का अनन्य भक्त होते हुए भी अन्य देवो की उपेक्षा नही की है। किन्तु अन्य देवो से राम-भक्ति का ही वरदान मागा है। इनकी भक्ति-साधना मे वे सब तत्त्व सन्निहित हैं जो सूरदास मे दिखलाये गए है। ससार की असारता, अपने दोष, भगवान् की महत्ता, अपराधक्षमापन, उद्धार की प्रार्थना, भक्तो के निदर्शन इत्यादि सभी तत्त्व तुलसी में भी पाये जाते हैं। केवल इनमे समन्वय की भावना विशेष है।

जहा सूर ने लीलागान तक ही अपने को सीमित रखा है, विभिन्न दार्शनिक मतवादो का विवेचन कर स्वतन्त्र मत स्थापित करने की चेष्टा सूर के प्रयत्न क्षेत्र से सर्वथा बाह्य है, वहा तुलसी ने चिन्तन के द्वारा अनेको दार्शनिक मतो की परीक्षा कर अपना स्वतन्त्र मत स्थापित करने की चेष्टा की है। तुलसी विरति और विवेक से सयुक्त भक्ति के ही समर्थक हैं जो कि श्रुति-सम्मत हो। वे ज्ञान को भी मुक्ति का साधन मानते हैं, किन्तु भक्ति से घट कर। तुलसी के वाक्यो मे स्थान-स्थान पर शकर के मायावाद, भ्रमवाद, सर्व ब्रह्मवाद और अभेदवाद इत्यादि सिद्धान्तो के दर्शन होते हैं। दूसरी ओर रामानुज के अनुसार द्वैत को स्वीकार कर ब्रह्म के सीता-राम रूप में मग्न रहना चाहते हैं। रामानुज, निम्बार्क, माध्व, वल्लभ इत्यादि ने मायावाद का खण्डन कर ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी। इसके प्रतिकूल तुलसी दोनो वादो मे सामजस्य स्थापित करते हुए माया द्वारा जगत् की उत्पत्ति मानते हैं तथा ज्ञान द्वारा ही उसकी भ्रमरूपता की पहिचान सम्भव मानते हैं। जब जीव जगत् को भ्रम रूप मान लेता है तभी वह जगत् से विरत होकर मायापति के चरणो मे अपने को आबद्ध करने के लिये आतुर हो जाता है। यही भक्ति है। अत' तुलसी के मन मे ज्ञान और भक्ति एक दूसरे के विरुद्ध नहीं। दोनो एक लक्ष्य तक पहुचाने के साधन हैं। किन्तु ज्ञान का मार्ग दुस्तर तथा अनेक विघ्न-बाधाओ से परिपूर्ण है, जबकि भक्ति का मार्ग विघ्न-बाधा रहित अधिक श्रेयस्कर मार्ग है। शकर के मत मे मायोपाधि-परिवेष्टित ब्रह्म ही साकार ईश्वर है। इसके प्रतिकूल तुलसी सच्चिदानन्द भगवान् का मायावेष्टन ही असम्भव मानते हैं। वे माया को भगवान् की शक्ति मानते हैं, जिसके आश्रय से भगवान् स्वत' साकार रूप मे प्रकट हैं। राम साक्षात् ब्रह्म हैं और सीता माया है। तुलसी ने विनयपत्रिका मे राम को अद्वैत, अव्यक्त, अनघ, निस्सीम, निरुपाधि इत्यादि अनेक विशेषण दिये है और जगत् को मिथ्या तथा भ्रममय बतलाया है। यह भ्रम सत्य रूप मे भासित होता रहता है जब तक भगवान् की कृपा नहीं होती 'जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहि कृपा तुम्हारी।' दु.ख का कारण द्वैत बुद्धि है .—

जौं निज मन परिहरै विकारा।

तौ कत मोह जनित ससृति दुख संसय सोक अपारा।

इसी प्रकार :—

कहि न जात मृग वारि सत्य भ्रम ते दुख होइ विसेखे ।
सुभग सेज सोवत सपने वारिधि बूडत भय लागै ।
कोटिहु नाव न पार पाव सो जब लगि आपु न जागै ।
+ + + +
तुलसीदास सब विधि प्रपञ्च जग जदपि झूठ श्रुति गावै ।
रघुपति भगति संत संगति बिनु को भव त्रास नसावै ॥

तुलसी की भक्ति की आध्यात्मिकता का यही सक्षिप्त परिचय है ।

अष्ट छाप के प्राय समस्त कवियो ने भगवद्भक्ति की महत्ता तथा वैराग्य की भावना अभिव्यक्त की है । नन्ददास का भ्रमर गीत इस दिशा मे अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है । इसके अतिरिक्त वल्लभ सम्प्रदाय के कीर्तन-सग्रहो मे इस प्रकार के पद्य सम्मिलित किये गये है ।

कृष्ण-भक्ति शाखा के दूसरे कवियो ने भी भगवान् की लीला के वर्णन के साथ-साथ भगवद्भक्ति, आत्म-निवेदन और आध्यात्मिक तत्त्व पर कुछ पद्य लिखे हैं। इनमे प्रमुख है—हित हरिवश, स्वामी हरिदास, सूरजदास, मदनमोहन, श्री हरिराम जी व्यास, रसखान, ध्रुवदास इत्यादि । इसी प्रकार राम-भक्ति शाखा वालों ने भी इसी क्षेत्र मे पर्याप्त कार्य किया है । स्वामी अग्रदास जी ने ध्यान मंजरी, राम ध्यान मजरी, कुण्डलिया—इन पुस्तको में भगवान् के ध्यान पर पद्य लिखे हैं । नाभा दास जी ने केवल भगवद्भक्ति के विषय मे ही नही, भगवद्भक्तो के विषय मे भी भक्तमाल लिखा है । इससे हम भक्तो के विषय मे बहुत कुछ ज्ञात कर सकते हैं।

तात्त्विक विवेचन की दिशा मे निर्गुण सम्प्रदाय वालो का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । विनय और प्रार्थना, योगाभ्यास, नाम महिमा, माया विषयक सिद्धात, अद्वैतवाद, गुरु महिमा, सत्सगति का उपदेश इत्यादि विषय निर्गुण धारा वालो में प्रमुख हैं । इस सम्प्रदाय वालो ने बाह्याडम्बर इत्यादि का निर्ममतापूर्वक खण्डन किया है । ये भक्त गण अन्त साधना को ही प्रमुख मानते थे । कबीर ने अद्वैतवाद और सूफी मत को मिलाकर अपना जो सम्प्रदाय चलाया था उसी का प्रतिफलन उनकी रहस्यात्मक भावना मे हुआ है । किन्तु इनका प्रभाव बिहारी पर नही के बराबर पडा अतएव यहा पर इनका परिचय नही दिया जायगा । इसी प्रकार निर्गुण सम्प्रदाय के दूसरे कवि नानक, दादू, धर्मदास (कबीर के शिष्य), मलूक दास (दादूदयाल के शिष्य) इत्यादि निर्गुण सम्प्रदाय के कवियो का मुक्तक के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण स्थान है । किन्तु इनका भी प्रभाव बिहारी पर नही पडा है, अतएव इनका भी विस्तृत परिचय नही दिया जायगा ।

धार्मिक साधना के क्षेत्र मे कुछ कार्य उन कवियो का भी है, जिन्होने धार्मिक क्षेत्र से बाहर रहकर रचना की । केशव की विज्ञान गीता प्रसिद्ध ही है । इसके अतिरिक्त अन्य कवि भी साहित्य साधना के बीच मे भक्ति काव्य की दिशा मे

योगदान देते रहे । उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं —

(१) धार्मिक काव्य रचना का सूत्रपात वैदिक काल से ही हुआ था ।

(२) यास्क के अनुसार धार्मिक काव्य के तीन रूप थे—आराध्य की महत्ता का वर्णन, किसी वस्तु की याचना और किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन ।

(३) बौद्ध और जैन धर्म के सघर्ष मे स्तोत्र साहित्य का पर्याप्त विस्तार हुआ ।

(४) पौराणिक काल मे वैदिक देवता छूट गए और उनके स्थान पर ह्मा, विष्णु, महेश की स्थापना हो गई ।

(५) पौराणिक युग के वाद भारतीय राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिवर्तनो के साथ धर्म-साधना के क्षेत्र मे भी परिवर्तन हुआ । ब्रह्मा, विष्णु, महेश का स्थान राम और कृष्ण ने लिया । इस काल मे राम और कृष्ण की भक्ति प्रधान हो गई ।

(६) इस काल के धार्मिक काव्य मे निम्नलिखित विशेषतायें दृष्टिगत होती हैं —

(अ) भगवान् की वाह्य शक्ति तथा सौन्दर्य के वर्णन के साथ शरणागत-वत्सलता पर विशेष बल दिया गया है । इस प्रसंग मे अनेक पौराणिक कथाओ की ओर सकेत किया गया है,जिनमे भगवान् ने शरणागतो का उद्धार किया है । व्याध, गीध, अजामिल इत्यादि उनमे प्रधान हैं ।

(आ) जिन भक्तो का भगवान् ने उद्धार किया, उनसे अपने पापो की तुलना की गई है और स्वयं को अधिक पापी बतलाया गया है ।

(इ) भगवान् को पापियो का उद्धार करने वाला और अपने को पाप करने वाला कहा गया है और अपने-अपने क्षेत्र मे भगवान् से होड लगाई गई है ।

(ई) भगवान् से उद्धार की प्रार्थना की गई है और अपने कर्मों को निकृष्ट कोटि का स्वीकार करते हुए उनकी उपेक्षा करने की प्रार्थना की गई है ।

(उ) अपने उद्धार करने पर ही भगवान् के विरुद की सार्थकता वतलाई गई है ।

(ऊ) नाम-स्मरण, कीर्तन और पूजन पर विशेष वल दिया गया है ।

(ए) वाह्याडम्वरो की निन्दा की गई है और सच्ची भगवद्भक्ति से ही परमात्मा की प्रसन्नता का प्रतिपादन कया गया है ।

(ऐ) तीर्याटन इत्यादि को भक्ति के सामने तुच्छ वतलाया गया है ।

(ओ) समस्त धर्मों की एकता का प्रतिपादन किया गया है और भक्ति के क्षेत्र में सभी को एक सा अधिकारी बतलाया गया है।

(औ) भक्ति के स्तोत्रो मे भय, व्याकुलता, पश्चात्ताप, दैन्य, भर्त्सना इत्यादि का बहुत बडा महत्त्व है तथा भगवान् की कृपा के बल पर आश्वस्त होने का वर्णन किया गया है।

(अ) सर्वसाधारण की भौतिकतामयी प्रवृत्ति पर खेद प्रकट किया गया है और विरक्ति का उपदेश दिया गया है।

(अ) धर्म-साधना मे दार्शनिकता का भी पर्याप्त पुट दिया गया है। भगवत्स्वरूप, जीव, माया, प्रकृति इत्यादि का स्वरूप और इनके परस्पर सम्बन्ध पर प्रकाश डाला गया है। यही धर्म-साधना का सक्षिप्त परिचय है।

सूक्ति काव्य

सूक्ति काव्य का मूल उदय हमे ऋग्वेद में ही अधिगत होता है। ऋग्वेद तथा दूसरे वैदिक सूक्तो मे हमे अनेक स्थानो पर सदाचार का प्रतिपादन प्राप्त होता है। लोक का उल्लेख किया गया है और स्त्री-पुरुष सम्बन्ध पर अनेक सूक्तिया कही गई हैं। यद्यपि सूक्ति साहित्य मे भी शक्ति ही अपेक्षित होती है जो ज्ञान के साहित्य से उसे पृथक् करती है तथापि इसमे रस-चर्वणा अपेक्षित नही होती। न तो इसमे विभाव, अनुभाव व्यभिचारी भाव के सयोग से स्थायी भाव का परिपोष होता है, न व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा साधारणीकरण किया जाता है और न वेद्यान्तर स्पर्श शून्य ब्रह्मानन्द सहोदर आस्वादन के द्वारा मधुमती भूमिका मे पहुंचाने की चेष्टा की जाती है। किन्तु सूक्ति काव्य मे शक्ति का एक मात्र साधन होता है उक्ति-वैचित्र्य। इसीलिये आनन्दवर्धन ने सूक्ति काव्य में अलंकारो की प्रधानता मानी है। अलकारों का प्रयोग विशेष रूप मे प्रभाव जमाने के मन्तव्य से होता है। सूक्ति-काव्य मे अलकार वस्तु के ही होते है और उसे ही अलकार कहते हैं।

सूक्ति-मुक्तक-परम्परा हमे वेदो के बाद ब्राह्मण ग्रन्थों मे भी समुपलब्ध होती है। इस प्रकार के ग्रन्थो के लिखने का मुख्य प्रयोजन यज्ञ विधि का प्रतिपादन और वैदिक मन्त्रो का यज्ञो मे विनियोग ही था। किन्तु यत्र-तत्र बिखरे हुए उपाख्यानो के बीच कही-कही इस प्रकार की सूक्तिया सकलित की गई हैं। यद्यपि इनकी सख्या बहुत कम है तथापि इन से इस बात पर प्रकाश अवश्य पडता है कि इस प्रकार की सूक्तियो का अत्यन्ताभाव कभी नही हुआ। उन सूक्तियों की भाषा कुछ अधिक प्राचीनता लिये हुए है। किन्तु कुछ अपवादो के साथ यह पाणिनीय सस्कृत ही कही जायगी। यत्र-तत्र अलकारो का प्रयोग बडा ही स्वाभाविक हुआ है जो वर्ण्य विषय को अधिक प्रभावशाली बना देता है। जहा कही कथावस्तु के अन्दर इस प्रकार की सूक्तिया जोडी गई हैं वहा वे बहुत ही उचित प्रतीत होती

हैं और कथावस्तु के कारण प्रभाव अधिक बढ जाता है। उदाहरण के लिए ऐतरेय ब्राह्मण में हरिश्चन्द्र अपने पुत्र रोहित को वरुण को प्रदान करने के लिए वचन-बद्ध हैं। किन्तु पुत्र-स्नेह के कारण उसे वन को भेज देते हैं और इस प्रकार वरुण के कोपभाजन बनते है। जब वन मे पुत्र पिता की दुर्दशा का वर्णन सुनता है तब वह घर लौटकर पिता को वरुण के कोप से छुडाने के निमित्त आत्म-समर्पण कर देने के लिये उद्यत हो जाता है। उस समय इन्द्र उसे उद्यम की प्रशसा कर रोकने की चेष्टा करते हैं। एक-एक सूक्ति के द्वारा रोहित एक-एक वर्ष के लिए रुक जाता है। उद्यम की प्रशसा बड़ी ही सबल और सालकार भाषा मे की गई है.—

"हे रोहित, हमने सुना है कि जो व्यक्ति पूर्ण रूप से श्रान्त नही होता उसे सम्पति प्राप्त नही होती। जो आराम से लेटे रहने वाला व्यक्ति है वह पापी होता है। इन्द्र सर्वदा विचरण करने वाले (उद्यमशील) के ही मित्र होते है।" (ऐतरेय ब्राह्मण)

"जो व्यक्ति बैठा रहता है उसको प्रतिष्ठा भी बैठी रहती है। जो उठ खडा होता है, उसकी प्रतिष्ठा भी उठ खडी होती है, जो सो जाता है उसकी प्रतिष्ठा भी सो जाती है और जो चलता फिरता रहता है उसकी प्रतिष्ठा भी चलती फिरती रहती है।"

"सोने वाले के लिए कलियुग होता है। उठकर बैठने वाले के लिए द्वापर होता है, खडे होने वाले के लिए त्रेता होता है और विचरण करने वाले के लिए सत्ययुग होता है।"

"विचरण करते हुए व्यक्ति मधु प्राप्त कर लेता है, विचरण करते हुए स्वादिष्ट उदुम्बर प्राप्त करता है, सूर्य के परिश्रम को देखो जो कि विचरण करते हुए कभी तन्द्रा को प्राप्त ही नहीं होता।" (ऐतरेय ब्राह्मण)।

इसी प्रकार माला-दीपक के द्वारा पुत्र की प्रशसा की गई है:—

"अन्न ही प्राण है, शरण ही निवास स्थल है, रूप ही स्वर्ण है, पशु ही परिग्रह है, स्त्री ही मित्र है, पुत्री ही दयास्पद है और विशाल आकाश मे पुत्र ही प्रकाश है।"

ब्राह्मण ग्रन्थ प्रधानतया यज्ञ-विधिपरक है और यज्ञो का मन्तव्य लोकैषणा ही होता है। अतएव इन सूक्तियों मे सर्वत्र लोकैषणा ही प्रधान है। लौकिक सुख-शान्ति और सफलता के लिए आवश्यक तथा उपयोगी गुणो पर विशेष बल दिया गया है और उनको लौकिक दृष्टिकोण से ही समझाने की चेष्टा की गई है।

वैराग्यपरक सूक्तियो का प्रारम्भ हमे उपनिषदो मे प्राप्त होता है। स्पष्ट ही है कि इन ग्रन्थो का प्रणयन एक ओर तो ब्राह्मण ग्रन्थो की मर्यादातीत लौकिकता और प्रवृत्तिपरता के प्रतिरोध मे हुआ था और दूसरी ओर आरण्यको के ठीक उत्तराधिकारी होने के कारण इनका उपयोग भी वृद्धावस्था के लिए विशेष माना

जाता था। अतएव इनमे वैराग्य का स्वर मुखर हो उठना स्वाभाविक ही है। इन ग्रन्थो मे जहा एक ओर अनेक अलकारो के माध्यम से ब्रह्म-तत्त्व का निरूपण किया गया है, उसके सगुण, निर्गुण रूपो की व्याख्या की गई है, आत्म-स्वरूप का विवेचन किया गया है और साथ ही सबल भाषा मे ससार से विरक्ति का उपदेश दिया गया है तथा प्रेय मार्ग को गर्हित बतलाकर श्रेय मार्ग की प्रशसा की गई है वहा दूसरी ओर इन अध्यात्मविषयक निबन्धो के बीच लोक-व्यवहारोपयोगी सदाचारपरक सूक्तिया जोड दी गई हैं जिससे उपनिषदो की ज्ञानपरता के साथ-साथ व्यवहार पक्ष का भी प्रत्याख्यान नही हुआ है और उपनिषद् अव्यावहारिकता के दोष से बच जाते है। इन व्यवहारोपयोगी पद्यो को हम मुक्तक काव्य के अन्तर्गत सूक्ति साहित्य मे सन्निविष्ट कर सकते है। कही-कही सदाचार के उपदेश के लिए गद्य की शैली भी अपनाई गई है और इसके लिए छोटे-छोटे कथानक भी दिए गये हैं। इन उपदेशो में दान, दया, आर्जव, सत्य, अहिंसा, त्याग, तपस्या, अनवलिप्तता इत्यादि का बडी ही मनोरम शैली मे प्रतिपादन किया गया है और आत्मसयम की पूर्ण शिक्षा दी गई है। कठोपनिषद् मे रूपक और उपमा के सकर के द्वारा विवेक की प्रशसा की गई है। "विद्वान् लोग इन्द्रियो को घोडा बतलाते हैं, विषय उनके मार्ग हैं, इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा ही भोक्ता है। जिस प्रकार अविवेकी सारथि के दुष्ट घोडे उसके वश मे नही रहते उसी प्रकार जिस व्यक्ति मे विशेष ज्ञान नहीं होता और जिसका चित्त भी असयत होता है, उसकी इन्द्रिया भी उसके वश मे नही रहती। इसके प्रतिकूल जो विशेष ज्ञान से युक्त होता है और जिसका चित्त समाहित होता है उसकी इन्द्रिया इसी प्रकार उसके वश मे हो जाती हैं, जिस प्रकार विज्ञ सारथि के अच्छे घोडे उसके वश मे बने रहते हैं।" इसी प्रकार देवयान मार्ग की कल्पना की गई है और उससे जाने के लिये सत्य मार्ग की अनिवार्यता घोषित की गई है तथा विजय का साधन भी एकमात्र सत्य को ही बतलाया गया है। वृहदारण्यक उपनिष' मे सत्य के साथ शम, दम, तितिक्षा इत्यादि का भी महत्त्व बतलाया गया है। तात्त-रीयोपनिषद् मे गद्य मे समस्त आचार-शास्त्र का सारभूत अश सकलित कर दिया गया है। इन ग्रन्थो मे अलकार अत्यन्त स्वाभाविक रूप मे प्रयुक्त किये गये हैं। कही भी अलकारो के लिये अलकारो का प्रयोग नही हुआ है। अलकारो का उद्देश्य विषय का स्पष्टीकरण ही रहा है और कही-कही शक्ति के सचार के लिये अलकारो का उपादान किया गया है। प्रधान रूप से काव्यलिंग, परिकर, दीपक और रूपक का प्रयोग किया गया है। कही-कही माला रूप मे भी इन अलकारो का उपादान हुआ है। निम्नलिखित पद्य विरोधाभास का अच्छा उदाहरण है —

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतो ऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ (ईशावास्य०)

आत्मा एक है, यह चलता नहीं और इसकी गति मन से भी अधिक तेज है। यह पहले ही विद्यमान था और इसको देवता प्राप्त नही कर सके। यह स्थित रहता है और दौडने वाले सभी पदार्थों से आगे निकल जाता है। इसी प्रकार :—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्णं ।

तथा **अणोरणीयान् महतो महीयान्** मे भी विरोधाभास ही है।

सक्षेप मे इन सूक्तियो मे सदाचार की प्रशसा की गई है, सत्य, त्याग, उदारता, अहिंसा इत्यादि को अपनाने का उपदेश दिया गया है, कर्मशीलता के गीत गाये गये हैं और परमात्म-तत्व तथा पारलौकिकता का महत्त्व स्थापित करते हुए भी लौकिक सफलता की उपेक्षा नही की गई है। अलकारो का चलता हुआ स्वाभाविक प्रयोग किया गया है। निस्सन्देह उपनिषदो की ये सूक्तिया परवर्ती सूक्ति-साहित्य का कडी को जोडने वाली है और सूक्तियों की निरन्तरता की परिचायिका है।

पुराणो मे सभी प्रकार की सूक्तियो का समाहार हुआ है। पुराण भारतीय काव्य-जगत् की समस्त प्रवृत्तियोको आत्मसात् किये हुए है और यूरोप के अनेक विद्वानों ने इनको भारतीय काव्य-जगत् की इन्साईक्लोपीडिया कहा है। वस्तुत काव्य के क्षेत्र मे जो कुछ भी सन्निविष्ट हो सकता है, वह सब पुराणो मे और विशेप रूप से महाभारत मे विद्यमान है। नीति सूक्तियो का भी पुराणो मे पर्याप्त बाहुल्य है। ये नीति-सूक्तिया पुराणो मे दो रूपो मे आती है, एक तो कथोपकथन के अन्तर्गत किसी वक्ता के वचन के रूप मे सन्निविष्ट कर दी गई है, दूसरे कही-कही पर नीति-सूक्तियो के लम्बे-लम्बे प्रकरण ही स्वतन्त्र रूप मे इन ग्रन्थो मे आ गये हैं। उदाहरण के लिये महाभारत मे विदुर-नीति, श्रीमद्भागवत मे धर्म का उपदेश और गरुड पुराण मे अन्तिम दो-तीन अध्याय। इसी प्रकार प्राय. सभी पुराणो मे सूक्ति-काव्य से सम्बद्ध कोई न कोई प्रकरण आ ही गया है। इन प्रकरणो के अतिरिक्त जहा-कही सामान्य रूप से कथापकथन के अन्तर्गत नाति-सूक्तिया आई हैं वे भी नीति-सूक्ति के रूप मे स्वतन्त्र रचनाए ही ज्ञात होता हैं। एक सूक्ति का अनेक स्थानो पर आ जाना इस बात का द्योतक है कि इस प्रकार की सूक्तिया सर्व-साधारण मे प्रचलित रही होगी और अनेक कथाकारो ने उनको यथास्थान सन्निविष्ट कर दिया होगा, जा बात ब्राह्मणधर्मानुयायी पुराणो के विषय मे कही जा सकती है वही जैनानुमत पुराणो तथा बौद्धो के ललित-विस्तर इत्यादि ग्रन्थो के विषय मे भी चरितार्थ होती है।

इन पौराणिक सूक्तियो का विषय बहुत व्यापक है। साधारण दिनचर्या की छोटी-छोटी बातो से लेकर राज-धर्म तथा मोक्ष-धर्म पर्यन्त सभी प्रकार के विषय इनमे अन्तर्भुक्त हो गये है और सभी वर्गों के व्यक्तियो के लिये इनका उपयोग सम्भव है। कथन अधिकतर साधारण भाषा मे हैं। अलकार भी अत्यन्त साधारण किन्तु प्रभावशाली हैं। किन्तु चमत्कार का प्राधान्य सर्वत्र पाया जाता है। कही-

कहीं सौन्दर्यपूर्ण साम्य-विधान ही चमत्कार का कारण बना है। अन्यत्र प्रस्तुत और अप्रस्तुत का साहचर्य चमत्कार मे निमित्त हुआ है और दूसरे स्थानो पर स्वाभाविक कथन चमत्कारकारक हुए है। साम्य-विधान के उपमा, रूपक, व्यतिरेक इत्यादि प्राय. सभी रूप इन सूक्तियो मे पाये जाते हैं।

इन ग्रन्थो के विषय का यदि सामान्य रूप मे विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि इस समस्त वर्णन मे धर्म और अर्थ दोनो को समान महत्त्व प्रदान किया गया है। अधिकतर धार्मिक-सूक्तियो मे भी स्वार्थ-लाभ का प्रत्याख्यान नही किया गया है और आर्थिक सूक्तियो मे भी धार्मिकता का महत्त्व प्रतिष्ठित रखा गया है। धर्म के मार्ग पर चलने से तो कभी अकल्याण होता ही नही और धर्म की ओर प्रवृत्ति भी तभी सम्भव है जबकि पारलौकिक श्रेयोविधान के साथ-साथ लौकिक सुख, समृद्धि का भी पूर्ण आश्वासन प्राप्त होता है। किन्तु आर्थिक सुख-साधन के क्षेत्रो मे यदि कही धर्म व्याघात उपस्थित करता हो तो धर्म को नमस्कार करने का ही उपदेश दिया गया है। वैसे तो अनृत सर्वदा हेय है किन्तु शत्रु से व्यवहार करने मे "अपनी वाणी को नवनीत के समान कर ले, चित्त को निर्दय बना ले और शत्रु को ऐसा उपदेश दे, जिससे उसका वश के सहित नाश हो जाय।" इन सूक्तियो मे पण्डित और मूर्ख के लक्षण विस्तार से बतलाये गये हैं। इन लक्षणो का साराश यह है, जो व्यक्ति अपने सासारिक स्वार्थ को नष्ट कर लेता है अथवा जो व्यक्ति धर्म के विपरीत चलता है दोनो ही व्यक्ति मूर्ख हैं। इसके विपरीत पण्डित वह है, जो सासारिकता मे और धर्म के क्षेत्र मे दोनो स्थानो पर सफलता प्राप्त कर लेता है। वस्तुत इन सूक्तियो मे धार्मिक सूक्ति तथा आर्थिक सूक्ति इन दोनो का पृथक्-पृथक् विभाजन अत्यन्त कठिन है। सर्वत्र "धर्मार्थसहित वच" को ही महत्त्व दिया गया है। यहा तक कि आर्यशील के वर्णन मे सासारिकता का महत्त्व है और राजधर्म मे भी धर्म को ही प्रधानता दी गई है। राजा के लिये काम-क्रोध का त्याग, पात्र मे दान, शास्त्रज्ञता ये गुण अनिवार्य माने गये है। व्यसनो का त्याग उसके लिये परम आवश्यक है। "जो कर्म मिथ्या-उपेत हो और अनुचित उपायो से सिद्ध होने वाले हो उन कर्मों मे मन नही लगाना चाहिये। इसी प्रकार अच्छे उपाय के द्वारा लोक विहित कर्म यदि सिद्ध न हो तो भी उस विषय मे मन मे मलीनता नही लानी चाहिये।" राजधर्म मे सर्वदा शक्ति की उपेक्षा न करते हुए ही कर्म करना चाहिये। "जो ग्रास खाया जा सके, खाने पर जो सफलतापूर्वक पच भी जाए और परिणाम मे भी हितकर हो वही ग्रास खाना चाहिए।" समय के अनुसार समझकर कर्म करने की प्रशसा की गई है—"जो व्यक्ति वनस्पति के न पके हुए फलो को बीन लेता है उसे उनसे रस नही मिलता और उनका बीज भी नष्ट हो जाता है। इसके प्रतिकूल जो व्यक्ति पके हुए फलो को समय पर प्राप्त करता है वह फलो से रस प्राप्त करता है और बीज भी सुरक्षित रहता है।" प्रजा से धन लेने मे अधिक

विवेक से काम लेना चाहिये। "जिस प्रकार भौंरा पुष्पो की रक्षा करते हुए मधु ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार मनुष्यो से धन लेना चाहिये किन्तु उनकी हिंसा नही करनी चाहिये। जिस प्रकार माली फूल-फूल चुन लेता है किन्तु जड नही काटता, इसी प्रकार धन ग्रहण करना चाहिये किन्तु प्रजा की रक्षा का ध्यान रखना चाहिये। इसके प्रतिकूल लकडी का कोयला बनाने वाले की भाति जड नही काटनी चाहिए। जिस राजा से प्रजावर्ग ऐसा भयभीत रहता है जैसे व्याघ्र से मृग डरा करते हैं उसको यदि सागर पर्यन्त भी भूमि प्राप्त हो जाय तो भी शीघ्र ही हाथ से जाती रहती है।" केवल राजधर्म नही साधारण जनता के लिए भी सफलता की कुञ्जी बतलाई गई है। इसके लिए गुप्त-मन्त्रणा, विचारशीलता, इन्द्रियदमन, मद का अभाव इन बातो पर विशेष बल दिया गया है और विस्तारपूर्वक इनका विवेचन किया गया है।

धार्मिक क्षेत्र मे अन्धविश्वास का निराकरण और बाह्य धर्म के प्रति अनास्था, जो कि हमे कबीर इत्यादि मे पूर्ण रूप से दृष्टिगत होती है इन ग्रन्थो मे भी विद्यमान है। महाभारत मे भी अनेक पद्य इस आशय के पाये जाते है,जिनमे तीर्थाटन, देवपूजन, गगा-स्नान पर आस्था रखने का निराकरण किया गया है और सामान्य धर्म की शिक्षा दी गई है, तथा गरुड पुराण के अन्तिम अध्यायो मे इन बातो का विशेष निराकरण प्राप्त होता है। "जो व्यक्ति प्रमाद तथा आलस्य मे पडा रहता है और धन के मोह से आक्रान्त रहता है, उसको वेदाध्ययन पाप से नही बचा सकता। जिस प्रकार पख उग आने के बाद पक्षी घोसले को छोडकर उड जाते है उसी प्रकार अन्त समय मे वेद भी ऐसे व्यक्ति को छोडकर भाग जाते है।"

सक्षेप मे पुराणो की इन सूक्तियो मे धर्म का सामान्य रूप, मोक्षोपयोगी ब्रह्मवाद, अन्धविश्वास का निराकरण इत्यादि अनेक बातें पाई जाती है, जिनकी सत्ता परवर्ती साहित्य मे अधिगत होती है। साथ ही अर्थशास्त्र से सम्बद्ध सूक्तिया पाई जाती हैं। किन्तु धर्म और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध सुरक्षित रक्खा गया है और दोनो एक दूसरे के साधक होकर आये हैं बाधक नही। इनका इतना अधिक सामञ्जस्य स्थापित कर दिया गया है कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किसी विशेष उक्ति को धार्मिक माना जाये या आर्थिक। सूक्तियो मे अलकारो का प्राधान्य है। सादृश्यमूलक अलकारो मे साधर्म्य और वैधर्म्य दोनो प्रकार अपनाये गये है। कही-कही रूपकातिशयोक्ति का भी उपादान हुआ है। किन्तु इस प्रकार की सूक्तिया मात्रा मे बहुत कम है। अधिकतर दीपक का आश्रय लिया गया है और प्रस्तुत और अप्रस्तुत को एक वाक्य मे कहने की अधिक चेष्टा की गई है। मुक्तक के क्षेत्र मे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का विभाजन कठिन होता है इसलिये कहा जा सकता है प्राय प्रस्तुतो का ही उपादान हुआ है। कही-कही स्वभावोक्ति भी चमत्करोत्पादक ढग से प्रयुक्त हुई है। इस प्रकार सूक्ति-मुक्तक के क्षेत्र मे पौराणिक रचनायें पर्याप्त विस्तृत हैं और अपना अलग महत्त्व रखती हैं।

जैन-बौद्ध मुक्तको मे सूक्ति काव्य का अत्यधिक विस्तार है। वस्तुतः जैन-बौद्ध धर्मों के प्रचार मे यह सूक्ति-काव्य अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। जैन आगमो मे तथा बौद्धो के त्रिपिटको मे काव्य-शैली पर धर्म का प्रचार किया गया था।

जैनियो के धर्म-ग्रन्थ आगम या सिद्धान्त के नाम से प्रख्यात हैं। इन की भाषा प्राकृत है। यह आर्ष प्राकृत कहलाती है। इसे हम उस समय की अर्द्धमागधी कह सकते है। महावीर स्वामी ने अपना उपदेश इसी भाषा मे दिया था। सम्भवत' इसका कारण यह था कि अर्द्धमागधी एक ओर तो मागधी से मेल खा जाती थी और दूसरी ओर शौरसेनी से भी मिल जाती थी। इस प्रकार यह भाषा मगध से मथुरा तक समझी जा सकती थी। इसी प्रदेश मे महावीर स्वामी को अपना धर्म प्रचार करना था। अतएव अर्द्धमागधी से बढ़कर दूसरी उपयुक्त भाषा हो ही कौन सकती थी ? इन ग्रन्थो मे गद्य और कथा साहित्य का बाहुल्य है। किन्तु स्थान-स्थान पर गाथायें (पद्य) भी सम्मिलित हैं, जो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। इन पद्यो की भाषा गद्य भाषा से भिन्न तथा अधिक कला-पूर्ण है। ज्ञात होता है कि इन गाथाओ की स्वतन्त्र रचना हुई होगी और सकलन काल मे इन्हें मूल ग्रन्थ के साथ जोड दिया गया होगा। हम कह सकते है कि ये गाथायें मुक्तक-काव्य-परम्परा के अन्दर आती हैं। इनके स्वतन्त्र सकलन की प्रवृत्ति भी दिखलाई देती है। "गाथा-सग्रह", "महावीर वाणी", "तत्व समुच्चय" इत्यादि अनेक सकलन भी प्रकाशित हो चुके है।

जैन साहित्य का परिचय देते हुए विण्टरनित्ज ने लिखा है कि ये गाथायें धूलिवत् नीरस हैं। इस कथन मे आशिक सत्य अवश्य विद्यमान है। भारतीय साहित्य मे 'सत्य शिव सुन्दरम्' मे चरम गुण सौन्दर्य को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है और उसके लिये प्रतीयमान अर्थ की मुख्यता, वक्रोक्ति और चमत्कारपूर्ण पद का प्रयोग इत्यादि मान्यतायें स्वीकार की गई हैं। किन्तु इन गाथाओ मे सौन्दर्य के मूलभूत तत्त्वो का सर्वथा अभाव है। न इनमे चमत्कार लाने की चेष्टा की गई है और न वस्तु को सरस तथा सहृदय-जन-मनोऽभिराम बनाने का कोई प्रयत्न ही लक्षित होता है। हम इन कवियो से ऐसी आशा भी नही कर सकते। "जिनकी दृष्टि मे सभी गीत विलापरूप हो, सब नाट्य विडम्बना रूप हो, आभूषण भार हो और ससार के सभी काम-भोग दु खावह हो" उनसे यह आशा किस प्रकार की जा सकती है कि वे हमे गुड-जिह्विकया शृ गार मे प्रवृत्त करते हुए वैराग्य की ओर ले जायेंगे। "काव्य का मुख्य प्रयोजन विनेय व्यक्तियो को उपदेश देना ही है। जब तक विनेय व्यक्ति उन्मुख न हो जायें तब तक काव्य-शोभा का आधान ठीक रूप मे माना ही नहीं जा सकता। अधिकतर व्यक्तियो का अन्त करण शृ गार की भावना से भावित होता है। अतः शृ गार रस के द्वारा वे व्यक्ति आनन्द का अनुभव करते हुए सरलतापूर्वक विनय के उपदेशो की ओर उन्मुख हो जाते हैं। ऐसी दशा मे विनय के उपदेशो को

समझने और स्वीकार करने में उन्हें कठिनता नही होती।" इस प्रकार के जाया-सम्मित उपदेश मे न तो उन मुनियो का विश्वास था और न ये उस ओर जाना ही चाहते थे। यदि कहीं सयोगवश किसी अलकार का प्रयोग हो भी गया है तो भी विषय को स्पष्ट करने के लिये ही हुआ है सुन्दरता सम्पादन के लिये नही।

प्रस्तुत गाथाओ का दूसरा बडा दोष यह है कि इनमे विषय की विभिन्नता है ही नही। यदि हम एक वाक्य मे इनका परिचय देना चाहे तो कह सकते है कि इन गाथाओ मे सर्वत्र वैराग्य का ही प्रतिपादन है। शृगार रस अपने पूर्ण विभावो, अनुभावो और सचारियो के साथ कही परिपोष नही प्राप्त कर सका है। आचारा-वलियो के वर्णन मे गृहस्थो के लिये सासारिक वासनाओ को धीरे-धीरे कम करने का उपदेश दिया गया है। दूसरो से क्या व्यवहार होना चाहिये ? विशेष अवसरो पर सदाचार की क्या व्यवस्था हो सकती है ? सामूहिक जीवन किस प्रकार का होता है ? इत्यादि प्रश्नो पर इन गाथाओ मे विचार नही किया गया है। समाज के प्रति सर्वसाधारण के कर्तव्यो का भी इन गाथाओ मे उल्लेख नही है। ये गाथायें व्यक्तिगत साधना क्षेत्र को लेकर ही चलती है और उसी से इनका सम्बन्ध है।

इन गाथाओ के विषय को हम दो वर्गों मे बाट सकते हैं—(१) कर्त्तव्योपदेश-परक गाथायें और (२) तत्त्व-मीमासापरक गाथायें। गृहस्थो और मुनियो के कर्तव्य पृथक्-पृथक् बतलाये गये है। किन्तु दोनो मे त्याग वृत्ति की प्रधानता और वृतो की दृढता पर अधिक बल दिया गया है। मुनियो के कर्म गृहस्थो की अपेक्षा अधिक दुरूह और अधिक सयम-साध्य हैं। कर्त्तव्यो के उपदेश मे मानस-परिशुद्धि और कर्मशुद्धि दोनो को समान रूप से महत्त्व प्रदान किया गया है और प्रारम्भिक साधना से लेकर मोक्ष पर्यन्त एक सुव्यवस्थित कर्म-परम्परा का प्रतिपादन प्राप्त होता है। जहा तक कर्त्तव्य कर्मों का सम्बन्ध है यह व्यवस्था उपनिषत्काल की व्यवस्था से बहुत दूर नही पडती। इतना अन्तर अवश्य है कि इसमे क्रम स्वतन्त्र रक्खा गया है और इसी कारण वह पृथक् सी जान पडती है। अस्नान और अदन्त-धावन इत्यादि दो चार विधियाँ अवश्य नयी सी हैं। जैन तत्त्वमीमासा मे एक ओर अणुव्रत, गुणव्रत, नयवाद, स्याद्वाद इत्यादि अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन है और जीव तथा प्रकृति इत्यादि का पूर्ण विवरण प्राप्त होता है वहा दूसरी ओर इनमे विरोधी धर्मों का उल्लेख और यथास्थान खण्डन कर दिया गया है। इस प्रकार ये गाथायें जैन-धर्म के जिज्ञासुओ के लिये अत्यन्त उपयोगी है और यद्यपि इनमें कलात्मकता और भावात्मकता की कमी है तथापि ये मुक्तक-काव्य परम्परा मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

ऊपर जिस कलात्मकता और भावात्मकता की कमी की बात कही गई है उसका आशय यह नही है कि इन गाथाओ मे कवित्व है ही नही। यद्यपि विनय, सदाचार इत्यादि का प्रतिपादन सरल, सुबोध और इतिवृत्तात्मक शैली मे किया गया

है किन्तु फिर भी कहो-कही दृष्टान्त, उपमा इत्यादि का वडा ही सरल और स्वाभाविक प्रयोग अनायास ही हो गया है। न तो उनमे वनावट ही ज्ञात होती है और न यही ज्ञात होता है कि अलकारो के लिये अलकारो का प्रयोग किया गया है। दो-चार उदाहरण देखिये —

मलाओ खधप्पभवो दुमस्य, खंधाधपच्छा समुवेत्ति साहा।
साहा पसाहा विरुहन्ति पत्ता, तओ पसे पुप्फ फल रसो य।
एवं घम्मस्स विणओ परमो मे मोक्खो। जेण किन्ति सुय सिग्घ निस्सेसं चाधिगच्छइ॥

"वृक्ष के मूल से सवसे पहले स्कन्ध उत्पन्न होता है। स्कन्ध के पश्चात् शाखायें समुद्भूत होती हैं। शाखाओ से प्रशाखायें और पत्ते उत्पन्न होते है। उसके वाद क्रमश फूल, फल और रस उत्पन्न होता है। इसी प्रकार विनय धर्म का मूल है, मोक्ष अन्तिम रस है। विनय के द्वारा ही कीर्ति और सुख सभी कुछ प्राप्त हो जाता है।

"पद्मपत्रमिवाम्भसा" वाला दृष्टान्त भारतीय साहित्य मे अनेक वार आया है। किन्तु महावीर की वाणी मे एक नवीनता आ गई है। देखिये —

वोच्छिन्द सिणेहमपणो कुसुम सारइय व पाणिय।
से सव्वसिणेह वज्जिये समय गोयम मा पमाइये॥

"जैसे कमल शरत्काल के निर्मल जल को भी नही छूता। अलग अलिप्त रहता है, उसी प्रकार तू भी ससार से अपनी आसक्तिया दूर कर। हे गौतम! तू प्रमाद मत कर।"

रूपककातिशयोक्ति का उदाहरण लीजिये —

तिण्णो सि अण्णव मह किं पुण चिट्ठसि तीर भागओ।
अभितुर पार गमिन्तये समय गोयम मा पमाय ए।

"गौतम! तू महासागर को पार कर चुका है। अव किनारे पर क्यो रुक गया है। पार जाने की शीघ्रता कर। क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

माला रूपक का एक उदाहरण लीजिये —

जरा मरण वेगेण वुज्झमाणाण पाणिय।
घम्मो दीवो य इट्ठाय गई सरणमुत्तम॥

"जरा और मरण के वेग वाले प्रवाह मे वहते हुए जीवो के लिये धर्म ही एकमात्र द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है और उत्तम शरण है।"

विश्व-पथ के पथिक के लिये धर्म को पाथेय मानना भारतीय साहित्य मे वहुत प्रचलित हैं। निम्नलिखित पद्यो मे उसी का सहारा लिया गया है —

अद्धाण जो महत्त तु अप्पोहयो प वज्जई।
गच्छन्तो सो दुही होई छुहा तण्हाए पीडियो॥
एव घम्म अकाऊण जो गच्छइ पर भव।
गच्छन्तो सो दुहीं होई वाही रोगे हि पीड़ियो॥

"जो पथिक विना पाथेय लिये वडे लम्वे मार्ग की यात्रा पर जाता है वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से पीडित होकर अत्यन्त दु खी होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य विना धर्माचरण किये परलोक जाता है, वह वहा विविध प्रकार की आधि-व्याधियो से पीडित होकर अत्यन्त दु.खी होता है।"

अद्धाणं जो महन्तं तु सप्पाहेयो पवज्जई।
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहा तण्हा विवज्जियो॥
एव धम्मं पिकाउणं जो गच्छइ पर भव।
गच्छन्तो सो सुखो होइ अप्पकम्मे अवेयणे॥

"जो पथिक लम्वे मार्ग की यात्रा पर अपने साथ पाथेय लेकर जाता है वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से पीडित न होकर अत्यन्त सुखी होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य यहा भली-भाति धर्म का आराधन करके परलोक जाता है, वह वहा अल्पकर्मी और पीडा रहित होकर अत्यन्त सुखी होता है।"

जहा एक ओर सदाचार का निरूपण किया गया है वहा उसके प्रतिद्वन्द्वी प्रमाद स्थानो का भी उल्लेख मिलता है। अनिगृहीत क्रोध और मान तथा प्रवर्धमान माया और लोभ ये चार कषाय पुनर्जन्म रूपी ससार-वृक्ष की जडो को सीचने वाले वतलाये गये हैं। मालोपमा और धर्म-लुप्तोपमा की ससृष्टि भी कितनी सुन्दर और स्वाभाविक है —

सल्ल कामा विस कामा आसी विसोपमा।
कामेय प त्थेमाणा अकामा जन्ति दुग्गतिम्॥

"काम भोग शल्य है, विष है और विषधर सर्प के समान है। काम-भोग की लालसा रखने वाले प्राणी उन्हे प्राप्त किये विना ही अतृप्त दशा मे एक दिन दुर्गति को प्राप्त हो जाते हैं।"

जैन साधुओ के लिये गीत और वाद्य सभी मोक्ष मार्ग से विपरीत दिशा में ले जाने वाले है —

"गीत सव विलास रूप हैं, नाट्य सव विडम्वना रूप है, आभूषण सव भार रूप है। ससार के जितने भी काम भोग हैं सभी दु खावह है।"

अन्य महात्माओ की भाति जैन साधु भी मृग-चर्म, नग्नत्व, जटा, सघाटिका इत्यादि वाह्याडम्वरो मे विश्वास नही करते। इस प्रकार हम देखते है कि आत्म-विकास और आत्मोद्धार के प्राय समस्त साधनो और उपकरणो का उपादान समीचीन रूप मे जैन-धर्म मे पाया जाता है।

पडितो और मूर्खों के लिए अलग-अलग सूक्त लिखे गये है जिसमे दोनो का विभेद स्पष्ट हो जावे। अनेक सूक्त मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर होने वाले साधक की महत्ता प्रकट करते है। अपनी ओर से व्राह्मण की परिभाषायें दी गई है और उन गुणो तथा कर्मों का उल्लेख किया गया है, जिनके आधार पर कोई भी व्यक्ति व्राह्मण कहलाने का अधिकारी होता है।

आर्थिक नीति सूक्तियो मे एक ही नाम वाली अनेक पुस्तकें उपलब्ध होती हैं। एक पुस्तक राजनीति समुच्चय, चाणक्य नीति, चाणक्य राजनीति, वृद्ध चाणक्य, लघु चाणक्य, इत्यादि कई नामो से प्रचलित है। इसकी अनेक प्रतिया प्राप्त हो चुकी है और दूसरी प्राप्त होती जा रही हैं। सग्राहको ने उसमे अनेक परिवर्तन कर दिये है और यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि उनका मूल रूप क्या था। ये सभी पद्य चाणक्य कृत नही हो सकते। पद्यो की सख्या सब पुस्तको मे एक सी नही है। किसी-किसी प्रति मे १७ अध्यायो मे ३४० पद्य हैं, जबकि दूसरी मे २अध्यायो मे ५७६ पद्य है। इन पद्यो को देखने से यह नही कहा जा सकता कि ये केवल राज धर्म के उद्देश्य से लिखे गये हैं यद्यपि ग्रथारम्भ मे ऐसी ही प्रतिज्ञा की गई है। ज्ञात होता है लेखक ने ग्रथ को चाणक्य कृत सिद्ध करने के मन्तव्य से ऐसी प्रतिज्ञा करा दी है। पद्यो मे विषय भेद भी पर्याप्त है, जीवन के व्यावहारिक नियम, चरित्र, सम्पत्ति, विपत्ति, भाग्य, उद्योग तथा अन्य अनेक नैतिक विषयो पर पद्य लिखे हैं। जिस प्रकार अगुत्तरनिकाय, ठानाग, महाभारत इत्यादि ग्रथो मे सख्या के आधार पर सदुपदेश दिये गये है उसकी झलक इसमे भी मिलती है। कही-कहीं पर एक ही सख्या को कई वार दोहराया गया है। कही-कहीं एक ही शब्द का अनेक वार प्रयोग कर उक्ति को प्रभावशालिनी वनाने की चेष्टा की गई है। कही-कही पर उपमा और रूपको का उपादान प्रकृति से किया गया है। इस ग्रथ मे भी राज-धर्मोपदेश के साथ-साथ चरित्र की महत्ता पर भी पर्याप्त वल दिया गया है। प्राणो को त्याग करके स्वभिमान की रक्षा करने का उपदेश है तथा तपस्या पर अधिक वल दिया गया है। भाग्यवाद का भी इसमे महत्त्व स्वीकार किया गया है। स्त्रियो को सदोष वतलाया गया है। इस पुस्तक का प्रधान छन्द श्लोक ही है, दूसरे छन्दो का भी यथास्थान प्रयोग किया गया है।

ऊपर जिन सूक्ति मुक्तको का उल्लेख किया गया है वे वस्तुत पुरानी शैली मे आते हैं। इस शैली मे अधिकतर इतिवृत्तात्मकता और वस्तु की ही प्रधानता है कला की कम। कवि कथन के उद्देश्य से कोई कथन नही करता अपनी सूक्ति मे सुन्दरता का सचार और अलकार का उपादान केवल सूक्ति को प्रभावशालिनी वनाने के लिये ही किया गया है। कवि की चेष्टा रहती है कि किसी एक विषय मे सभी वास्तविकतायें पाठक के सामने आ जावें जिससे वह अपने जीवन को त्याग-तपस्यामय, सत्य-जीवन के रूप मे परिवर्तित कर सके और यदि कभी आवश्यकता आ पड़े तो किसी विषम परिस्थिति मे अपना स्वार्थ साधन कर सके, साथ-ही-साथ स्त्री-पुरुष सम्वन्ध की रहस्यमयी वास्तविकताओं से भी परिचित हो सके। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए कवियो ने सूक्तियों का सृजन करने की चेष्टा की है। किन्तु वाद मे धीरे-धीरे कवि-कर्म सूक्ष्मता की ओर वढता जाता है, उसमे इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर कला की प्रधानता होती जाती है। कवि जीवन-सुधार के मन्तव्य से

नही अपितु कला प्रदर्शन के मन्तव्य से कविता करना अधिक पसद करता है। यह भारतीय साहित्य की विशेषता रही है कि कवि-कर्म स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्त होता गया है। कवि गण प्राचीनो के फैले हुए विषय का समाहार करने की विशेष चेष्टा करते हैं और एक पद्य मे ही वहुत कुछ कह डालने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होने लगती है। इन कवियो की सूक्तया स्फुट विचारो के ही रूप मे विद्यमान हैं। किसी विशेष विपय मे पाठको को सभी कुछ वतला देने की प्रवृत्ति इनमे नही है।

सूक्ति-काव्यों मे सवसे अधिक प्रसिद्ध कविवर भर्तृहरि की शतत्रयी है। इसमें इन्होंने धार्मिक सक्ति, आर्थिक सूक्ति, और काम सम्वन्धी सूक्तियो के लिये पृथक्-पृथक् वैराग्य-शतक, नीति-शतक और शृंगार-शतक की रचना की है। भर्तृहरि के विषय में अन्तः साक्ष्य सर्वथा शून्य है। केवल इतना अवगत होता है कि कवि शैव है और वैराग्य की भावना से पूर्ण रूप से प्रभावित है। शृंगार-शतक का भी पर्यवसान वैराग्य मे ही होता है। कवि को लोक का भी पर्याप्त ज्ञान प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त कवि के विषय मे इन शतको से हम कुछ नही जान सकते। इत्सिग ने अपनी यात्रा के विवरण मे वौद्ध भर्तृहरि का उल्लेख किया है जो सात वार गृहस्थ से सन्यासी और सन्यासी से गृहस्थ हुए थे और जिनका देहान्त इत्सिग के भारत आने के केवल १४ वर्ष पहले हो गया था। यह भर्तृहरि, वैय्याकरण थे। इत्सिग ने इनकी त्रिशती का उल्लेख नही किया है किन्तु इतना अवश्य लिखा है कि इन भर्तृहरि ने जीवन की व्याख्या की थी। साथ ही इत्सिग ने इनका एक पद्य भी उद्धृत किया है, जिसमे इन्होने गृहस्थ और सन्यास के वीच मे निर्णय न कर सकने के कारण आत्म-गर्हणा की है। सम्भवतः ये शतक इत्सिग के देखने मे नही आये थे अथवा इनका सग्रह वाद मे किया गया होगा। सभव है भर्तृहरि पहले शैव रहे हो और वाद मे वौद्ध हो गये हो। शैव रहने की अवस्था मे जिन शतको की रचना की गई, उन्हे जानते हुए भी इत्सिग ने वौद्ध-धर्म के प्रति पक्षपात के कारण इस वास्तविकता को प्रकाशित करना उचित न समझा हो। जीवन की व्याख्या के सम्वन्ध मे जो वात इत्सिग ने लिखी है वह इन शतको से वहुत कुछ गतार्थ हो जाती है।

पौराणिक शैली की जीवन-हीनता और अशक्ति इनमे नही पाई जाती नीति, वैराग्य या शृंगार किसी विषय का क्यो न हो, प्रत्येक पद्य स्वत पूर्ण है, और प्रसाद गुण पूर्ण शैली मे लिखा गया है। यह रचना विश्लेपणात्मक न होकर कलात्मक विशेप है और भावना से ओत-प्रोत होने के कारण हृदय पर प्रभाव अधिक छोडता है। जहा भी सादृश्यमूलक अलकारो का उपादान किया गया है वहा सादृश्य पूर्णरूप से चौकस वैठ जाता है और विम्व ग्रहण के रूप मे विषय को अधिक प्रभावशाली वना देता है। जहा दीपक या उल्लेख के रूप मे अनेक प्रस्तुतो का एक मे उपादान किया गया है वहा प्राय वडे छन्द ही प्रयुक्त हुए है। किन्तु कही पर छन्द पूर्ति के लिये थोप-थाप की हुई नहीं जान पड़ती। कीथ ने लिखा है कि "यदि हम

इनके एक-एक पद्य को लें तो वे अपने छोटे से कलेवर मे उन समस्त तथ्यो को अन्तर्निहित कर लेते है जो कि सम्पूर्ण ग्रीक पद्य सग्रह मे पाये जाते हैं। वे हमारे सामने ग्रीक पद्य सग्रह की ही भाति अनेक उच्च कोटि की कवितायें प्रस्तुत करते हैं जिनमे कुछ भी परिवर्धन असम्भव सा प्रतीत होता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि सस्कृत के वडे पद्य का प्रयोग सस्कृत के कवि को इतना अवसर प्रदान करता है कि वह एक ही पद्य मे अ ग्रेजी की पूरी सानेट को अन्तर्भुक्त कर ले।"

(History of Sanskrit Literature by Kieth)

इन्होने वड़ी ही सफल भाषा मे वैराग्य शतक मे तृष्णा के दोषो का तथा सासारिक दुर्दशा का वर्णन किया है कि किस प्रकार विषयो की आराधना मे ही उनका सारा समय व्यतीत होता जा रहा है। वे लोग धन्य हैं जो पर्वत-कन्दराओ मे निवास करते हुए परम-ज्योति का ध्यान करते हुए अपनी आयु व्यतीत करते हैं। सासारिक लोगो की याञ्चा दीनता इत्यदि की वडे ही मार्मिक शव्दो मे गर्हणा की गई है और अत्यन्त प्रभावशाली शव्दो मे सासारिक व्यक्तियो को वन मे जाकर रहने के लिये आह्वान किया गया है। "कितना आश्चर्य है कि वृद्धावस्था व्याघ्री के समान आतकित कर रही है, शत्रुओ के समान रोग शरीर पर प्रहार कर रहे हैं, फूटे हुए घडे से जल के समान आयु टपकती चली जा रही है फिर भी लोक अपना अकल्याण करने मे आनन्द लेता है। इससे वडी आश्चर्य की वात और क्या हो सकती है।" साथ ही काल किस प्रकार परिवर्तन उपस्थित करता है और सुख किस वस्तु मे है इसका भी पर्याप्त विस्तार है। यति और नृपति के सवाद मे वैराग्य और राजसेवा-प्रत्याख्यान का समर्थन किया गया है। इसके अतिरिक्त नित्यानित्य वस्तु का विचार किया गया है और अन्त मे अवधूतचर्या दिखलाते हुए शिवार्चन का ही प्रतिपादन किया गया है तथा लक्ष्मी का प्रत्याख्यान कडे से कडे शव्दो मे प्राप्त होता है। कही-कही नाटकीय शैली भी वडी ही मनोरम वन पडी है और लक्ष्मी को सम्वोधित करके भी अनेक सूक्तिया उसकी अनित्यता के प्रतिपादन मे कही गई हैं। कवि की कामना क्या ही महत्त्वपूर्ण है। "न जाने मेरे वे शुभ दिन कव आवेंगे जव गगा के तीर पर हिमालय की कन्दराओ मे मैं पद्मासन लगाये वैठा होऊगा और ब्रह्म का ध्यान करते हुए योग निद्रा को प्राप्त होऊगा। उस समय पर वृद्ध हिरण अपना अ ग मेरे अ गो मे खुजलावेंगे और उसका मुझे पता भी न चल सकेगा।"

जिस प्रकार वैराग्यसवन्धी सभी तत्वो पर प्रकाश डाला गया है उसी प्रकार नीति की सूक्तिया भी अपने मे पूर्ण है। मूर्खो और विद्वानो, सज्जनो तथा दुर्जनों मे प्रत्येक का १०-१० पद्यो मे वर्णन किया गया है तथा इस प्रसग मे जीवन के लिये अपेक्षित तथा अनपेक्षित दोनो प्रकार के तत्वो का समावेश कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त धन की पद्धति, धैर्य, मान, शौर्य, परोपकार इत्यदि का भी वर्णन वडे ही सुन्दर ढग से किया गया है और दैव तथा कर्म दोनो के लिये पृथक्-पृथक् दस-दस

य रखे गये हैं । इस प्रकार नीति शास्त्र सम्बन्धी अनेक विषयो का नीति-शतक में समावेश हो गया है और प्रसाद गुण पूर्ण शैली के कारण यह शतक विद्वानो तथा अल्प-शिक्षितो मे सर्वत्र प्रतिष्ठा और आदर की दृष्टि से देखा जाता है । कवि की पूर्ण जीवन की परिभाषा देखिये —

"विपत्ति मे धैर्य धारण, अभ्युत्थान मे वाक्पटुता, युद्ध मे पराक्रम, यश में अभिरुचि और शास्त्र मे व्यसन,ये महात्माओ के स्वभावसिद्ध गुण हैं ।" सफल जीवन के लिये जिन गुणो की अपेक्षा होती है, उन्हे एक ही श्लोक मे बडी ही सफलता के साथ गिना दिया गया है । "स्वजनो के प्रति दाक्षिण्य, परिजनो के प्रति दया, दुष्टो के प्रति शठता, साधुओ के प्रति प्रेम, राजपुरुषो के प्रति नीति, विद्वज्जनो के प्रति सरलता, शत्रु-जनो के प्रति शूरता, गुरु-जनो के प्रति सहनशीलता और कामिनियो के प्रति प्रगल्भता, इस प्रकार जो व्यक्ति कलाओ मे निपुण हैं उन्ही के बल पर ससार टिका है ।" इसी प्रकार—"तुम्हारे अन्दर सहनशीलता है तो तुम्हे कवच की क्या आवश्यकता ? यदि तुम्हारे अन्दर क्रोध है तो तुम्हें शत्रुओ की क्या आवश्यकता ? यदि तुम्हारे पास दायाद विद्यमान है तो तुम आग का लेकर क्या करोगे (वही तुम्हे जला देने को पर्याप्त है) ? यदि तुम्हारे मित्र विद्यमान है तो तुम्हें दिव्य औषधियो की क्या आवश्यकता पडेगी ? यदि दुष्ट लोग तुम्हारे साथ रहते हैं तो तुम्हे सर्पा की क्या आवश्यकता ? धनो की क्या आवश्यकता यदि अनिन्दनीय विद्या हो ? लज्जा के होते हुए भूषणो की क्या आवश्यकता ? और यदि अच्छी कविता हो तो राज्य का लेकर क्या करना ?" कवि किन लोगो का साथ करना चाहता है जरा इसे और देख लीजिये—"उस चादी के पहाड की क्या आवश्यकता या उस सोने के पहाड की भी क्या आवश्यकता जिस पर उगे हुए वृक्ष अपने स्वरूप मे ही विद्यमान रहते हैं । हम तो उस मलय पर्वत को ही आदर देते है, जिस पर उगे हुए जम्बार, नीव और कुटज के वृक्ष भी चन्दन हो जाते है ।"

विद्वानो द्वारा वैराग्य और नीति इन दोनो शतको की अपेक्षा भर्तृहरि के शृगार शतक की कविता अधिक प्रौढ़ बतलाई जाती है । इसका क्रम भी उक्त दोनो शतको की अपेक्षा अधिक अच्छा है और इसमे सुसम्बद्धता भी विशेष है । सर्वप्रथम स्त्रियो की प्रशसा की गई है—"मुस्कहाट के द्वारा, भाव के द्वारा, लज्जा के द्वारा, भय के द्वारा पराङ्मुख होकर, अर्ध-कटाक्ष से चितवन के द्वारा, वचनो द्वारा, ईर्ष्या-कलह के द्वारा और लीला-विलासो द्वारा समस्त भावो से स्त्री बन्धन ही होती है ।" स्त्री के नव-यौवन का उपभोग करने के लिये पुण्य करने की आवश्यकता होती है—"यदि उसके स्तन घने है, यदि जघायें आकर्षक है, यदि मुख मनोहर है तो हे मन ! तुम व्याकुल क्यो हो रहे हो ? यदि तुम उसे प्राप्त करना चाहते हो तो पुण्य करो, क्योकि विना पुण्य समीहित अर्थ कभी सिद्ध नही होता ।" इसी प्रकार—"जो अपनी छाती पर पडी हुई हो, रति के आवेश मे जिनके केश-पाश शिथिल हो गये हो,

रति सुख से अथवा लज्जा के कारण जिनके नेत्र बन्द हो रहे हो तथा उत्कण्ठा से थोडे खुले हुए भी हो और सुरत के उपरान्त उत्पन्न हुए खेद तथा शान्ति से, जिनके कपोल पसीज रहे हो इस प्रकार के रमणियो के अधर-पान का सौभाग्य विरले ही भाग्य वाले को प्राप्त होता है।" इस प्रसग मे यौवन की अनर्थमूलकता और स्त्रियो की अपरिहार्यता का विस्तारपूर्वक चित्रण किया गया है और शृ गार तथा वैराग्य को साथ-साथ रखकर तुलना की गई है तथा अन्त मे—"हे मानव गण ! मैं यह सत्य कह रहा हू, पक्षपातपूर्वक नही। यह बात सातो भुवनो मे सत्य है कि स्त्रियो से भिन्न अन्य कोई भी वस्तु इतनी मनोरम नही है और दु ख का हेतु भी कुछ और नही है।" यह निष्कर्ष निकाला गया है। इसके बाद स्त्री जाति की मोहकता और परित्याज्यता का वर्णन किया गया है—"जा स्मरण करने से सताप देती है, देखने से उन्माद उत्पन्न करती है, स्पर्श से मोह को जगाती है वह प्रिया किस प्रकार हो सकती है ?" स्त्रियो की वञ्चकता और दु शीलता का भी वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है और उनके त्याग का उपदेश दिया गया है। जो लोग उनका परित्याग कर सकते हैं उनकी प्रशसा की गई है। ऋतुओ के अनुसार प्रेम का परिवर्तन भी दिखलाया है। इस प्रकार स्त्री-प्रशसा से प्रारम्भ कर शृ गार का पर्यवसान वैराग्य मे कर दिया गया है, वस्तुत भर्तृहरि विरागी ही थे। अत शृ गार शतक मे भी वैराग्य की प्रधानता होना स्वाभाविक ही है। नीतिशतक मे भी कोई उपदेश ऐसा नही है, जिसमे धर्म का अतिक्रम किया गया हो। सक्षेप मे सभी प्रकार की सूक्ति-सम्बन्धी प्रवृत्तियो का समावेश इन शतको मे पाया जाता है और हम कह सकते हैं सूक्ति-साहित्य मे इन शतको का वही स्थान है जो कि ललित मुक्तको मे हाल की गाथा-सप्तशती का है। ये शतक सूक्ति-काव्य मे आदर्श कहे जा सकते हैं।

श्री शकराचार्य जी की चर्पटमञ्जरी और प्रश्नोत्तरी भी धार्मिक सूक्ति-साहित्य मे अत्यन्त प्रचलित है। चर्पटमञ्चरी मे छन्द की विलक्षणता के द्वारा वैराग्य का उपदेश दिया गया है और प्रश्नोत्तरी मे एक ही पक्ति मे प्रश्न और उत्तर दोनो लिखे गये है। ये प्रश्नोत्तर अधिकतर वैराग्य-परक ही है किन्तु यत्र-तत्र कुछ प्रश्न ऐसे भी आ जाते हैं जो लोक-धर्म का उपदेश देते है। इन्ही की प्रश्नोत्तरी के समान श्री विमल कवि की प्रश्नोत्तरी भी प्रसिद्ध है। एक उदाहरण 'नरक क्या है ? 'परवशता। सौख्य क्या है ? सर्वसग विराग। सत्य क्या है ? प्राणियो का हित। प्रिय क्या है? प्राण।' इसी प्रकार 'हे गुरुदेव? कृपा कर बतलाइये कि अपार ससार सागर में डूबते हुए मेरे लिये शरण क्या है ? (उत्तर) विश्वेश्वर के चरण कमलो की नाव' 'सोता कौन है ? जो कि समाधि को धारण करता है। जागता कौन है ? जो सत् असत् का ज्ञान रखता है।' 'शत्रु कौन है ? अपनी इन्द्रिया। मित्र कौन है ? वही इन्द्रिया जिन पर विजय प्राप्त कर ली गई हो।' सूक्ति मुक्तको के क्षेत्र मे जैन कवियो ने भी पर्याप्त योग-दान दिया है। ये सूक्तिया अधिकतर

सामान्य-धर्म से सम्बद्ध हैं। धर्म, त्याग, उदारता, सत्य, अहिंसा इत्यादि का प्रतिपादन किया गया है और वैराग्य इत्यादि विषयो पर ही ये सूक्तिया लिखी गई है, जो कि सामान्यतया किसी भी धर्म से सम्बद्ध हो सकती है। कही-कही जैन धर्म की छाप लक्षित होती है जहा जैन-धर्म की विशेषरूप से प्रशसा की गई है या तीर्थंकरो के विषय मे कुछ कहा गया है। जैन धर्म के मुख्य सूक्ति-मुक्तक निम्नलिखित हैं —

(१) **प्रश्नोत्तर रत्न-माला**—यह एक अत्यन्त प्राचीन पुस्तक है। इसमे सर्व-साधारण के लिये प्रश्नोत्तर रूप मे उपदेशो का सग्रह किया गया है। इसकी शैली शकराचार्य की प्रश्नोत्तरी की शैली ही है। इसके प्रश्नोत्तर भी केवल जैन-धर्म तक ही सीमित नही हैं। यही कारण है कि ब्राह्मणधर्मावलम्वी और बौद्धधर्मानुयायी दोनो ही इसे अपनी पुस्तक कहते हैं। श्वेताम्बरो के अनुसार इस पुस्तक के रचयिता "विमल" या विमलचन्द्र है। कुछ लोग ९वी शताब्दी के एक शासक अमोघवर्ष को इसका रचयिता मानते है और दूसरे लोग कहते हैं कि यह ग्रन्थ दिगम्बर जिनसेन का लिखा हुआ है।

(२) **उवयेस माला**—इसमे लगभग ५५० प्राकृत पद्यो का सग्रह है। यह धर्मदास की लिखी हुई पुस्तक है और इसमें साधारण गृहस्थो तथा सन्यासियो के लिये पृथक्-पृथक् आचारावलिया दी गई है। परम्परा के अनुसार धर्मदास महावीर के सम-सामयिक थे। किन्तु स्वय इसकी भाषा ही इस कथन की असत्यता प्रमाणित करती है। इसके ऊपर अनेक टीकाओ का होना इस वात का प्रमाण है कि अतीत मे इसकी पर्याप्त प्रतिष्ठा रही है।

(३) **सीलोवयेस माला**—यह धर्म-कीर्ति का लिखा हुआ ११६ प्राकृत गाथाओ का उपदेश सग्रह है।

(४) **इष्टोपदेश और**

(५) **समाधिशतक** ये दो मुक्तक-सग्रह प्रसिद्ध पूज्यपाद के लिखे हुए हैं।

(६) गुणभद्र ने २७० पद्यो का **आत्मानुशासन** नामक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ की रचना इतनी ललित-शैली मे हुई है कि जैन-साहित्य मे अपना उपमान नही रखती। कल्पनाओ की उडान के साथ-साथ भावुकता भी इसमे पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। उपदेश अधिकतर सर्वसाधारण के लिये है और जो जैन धर्मानुयायी नही भी हैं उनके लिये भी इसमे पर्याप्त सामग्री विद्यमान है।

दिगम्बर अमितगति के मुक्तक ग्रन्थ

(१) सुभाषित रत्न सन्दोह—यह सम्भवत अमितगति की प्रथम रचना है। इस ग्रन्थ मे ३२ सर्गों मे जैन-धर्म से सम्बन्धित अनेक विषयो की चर्चा की गई है और ब्राह्मण-धर्म का खण्डन किया गया है। प्रत्येक सर्ग मे एक ही पद्य है और एक ही विषय की चर्चा है। अनेक पापो का भी उल्लेख किया गया है। भाषा अल-कारपूर्ण है और इस ग्रन्थ मे कला के दर्शन हाते है। जैनधर्म के सिद्धान्तो का अध्ययन भी इस ग्रन्थ के द्वारा किया जा सकता है।

(२) **धर्म परीक्षा**—यह ग्रन्थ सुभाषित रत्न सन्दोह के २० वर्ष बाद लिखा गया। इसमे उदाहरण के रूप मे अनेक कहानियो का सग्रह है। इसे हम कथा-साहित्य मे भी सन्निविष्ट कर सकते है। किन्तु कथायें उदाहरण के रूप मे ही लिखी गई है। धानता मुक्तक पद्यो की ही है। अतएव यह मुक्तक काव्य ग्रन्थ ही कहा जायगा। इसे हम जैन-धर्म का रूढिवादी साहित्य कह सकते हैं। इसमे ब्राह्मण धर्म का विशेष रूप से खण्डन किया गया है और पौराणिक कथाओ को तोड-मरोड कर बुरे-से-बुरे रूप मे रखने की चेष्टा की गई है।

(३) **योग सार**—अमितगति की यह तीसरी पुस्तक है। इसमे ६ अध्याय हैं जिनमे साधारण श्लोको मे धर्म के विविध अगो पर प्रकाश डाला गया है। किन्तु प्रधानता नैतिक शिक्षा की ही है।

(४) **द्वात्रिंशिका**—यह भी अमित गति की एक पुस्तक है। इसमे नैतिकता के सम्बन्ध मे ३२ पद्य है। और कुछ जिन-देवो की प्रशसा तथा स्तुतिपरक पद्य भी हैं।

हेमचन्द्र तथा उनके समय के कवि

(१) कहा जाता है कि सिद्धराज जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल को जैन धर्म मे दीक्षित करने के मन्तव्य से यह पुस्तक लिखी गई थी। साधारण पद्यो पर कवि की लिखी हुई वृत्ति विद्यमान है। पुस्तक आलकारिक भाषा मे लिखी गई है। योग से साधारण कर्तव्य का अर्थ लिया गया है और पुस्तक के अधिक भाग मे गृहस्थ धर्म तथा राजकीय कर्त्तव्यो का उपदेश ही मिलता है। मोक्षोपयोगी वास्तविक योग का सक्षिप्त वर्णन अन्त मे कर दिया गया है। पुस्तक सुभाषित रत्न सन्दोह के आदर्श पर लिखी गई है। किन्तु इसमे मौलिकता की कमी नही है। ब्राह्मण धर्म का स्थान-स्थान पर खण्डन किया गया है और मनुस्मृति के दोष दिखलाये गये हैं। अनेक उपमा और रूपक भारतीय साहित्य की प्रचलित परम्परा से मेल खाते है और कहीं-कहीं पर ये सूक्तिया हमे भर्तृहरि की याद दिलाती है।

(२) **उपदेश रसायन रास**—यह पुस्तक हेमचन्द्र के समकालीन जिनभद्र सूरि की लिखी हुई है। इसमे ८० पद्य है। इसमे राधा और कृष्ण की रास-लीला का अनुकरण किया गया है। इसके अतिरिक्त इनकी लिखी हुई दूसरी पुस्तकें,

(३) "काल स्वरूप कुलकम्" और

(४) "चच्चरी" (चर्चरी) हैं। प्रथम मे अपभ्रंश की गीतिकायें हैं और दूसरी मे गुरु जिनवल्लभ सूरि की प्रशसा है।

सोमप्रभ सूरि

यह हेमचन्द्र तथा कुमारपाल के सम-सामयिक हैं। इनका लिखा हुआ

(१) कुमारपाल प्रतिबोध अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमे मुक्तक-पद्य हैं, कथा साहित्य, पद्य, गद्य, सब कुछ है। पुस्तक का अधिक भाग प्राकृत मे लिखा गया है, किन्तु कुछ अश सस्कृत और अपभ्रंश का भी है। इसमे हेमचन्द्र वक्ता के रूप मे

चित्रित किए गए हैं और कुमारपाल के प्रतिबोध का वर्णन किया गया है। इसमें ५ उल्लास है, जिनमे धार्मिक गुण-दोषो का वर्णन किया गया है और उदाहरण के रूप मे जैन धर्म की प्रसिद्ध कथायें लिखी गयी है। इन्होने अपभ्र श भाषा का एक पार्श्वनाथ स्तोत्र भी लिखा है और

(२) शतार्थ-काव्य नामक एक पुस्तक भी लिखी है, जिसमे एक पद्य के सौ अर्थ किए गए हैं। इनकी लिखी हुई एक पुस्तक

(३) सिन्दूर प्रकर अथवा सूक्ति मुक्तावली भी है जो जैनियो मे बहुत प्रसिद्ध है। इनकी रचनाशैली से ज्ञात होता है कि ये अलकार शास्त्र के प्रकाण्ड पडित थे।

(४) सिन्दूर प्रकर अथवा सूक्ति मुक्तावली—यह १३वी शताब्दी के एक दूसरे सोमप्रभ की लिखी हुई पुस्तक है, इसमे कामशास्त्र की समस्त कलाओ के प्रतिरोध का उपदेश दिया गया है।

संग्रह ग्रन्थ

१२वी शताब्दी के प्रथम चरण में मुनि चन्द्रसूरि का लिखा हुआ गाथा-कोष प्राकृत गाथाओ का एक अच्छा सग्रह है। इसी प्रकार १७ वी शताब्दी के प्रथम चरण मे समयसुन्दर ने भी गाथा-साहस्री की रचना की थी। इसमे सस्कृत और प्राकृत की एक हजार गाथाओ का सग्रह है, जिसमे विश्व की दीनता, नश्वरता इत्यादि विषयो के पद्यो का सग्रह है।

फुटकर मुक्तकों पर एक दृष्टि

जैन-धर्म सम्बन्धी फुटकर मुक्तको का प्रवृत्ति-निमित्त जैनधर्म के प्रति सर्व-साधारण मे श्रद्धा और विश्वास की भावना जागृत करना ही था और साधको ने इन गाथाओ और पद्यो मे ऐसे ही सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है जो जैन धर्म के मूल सिद्धान्तो से ही सम्बद्ध न होकर सर्वसाधारण धर्म की पीठिका का रूप धारण कर सकते हैं। इन ग्रन्थो मे कही-कही जैन धर्म के प्रति आस्था जागरूक करने के लिये महावीर तथा दूसरे तीर्थङ्करो की त्यागवृत्ति की प्रशसा की गई है। इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र जैनियो के विशेष धर्म से अभिसम्बद्ध पद्य भी पाये जाते हैं। यदि हम इन कतिपय स्थलो का परित्याग कर दें तो हमे इन पुस्तको मे जैन-धर्म की एकदेशीयता का कोई लक्षण ही दृष्टिगत नही होता। यद्यपि जैनधर्म का प्रचार ही इन ग्रन्थो का प्रधान प्रवृत्ति-निमित्त था तथापि कवित्व-कौशल का प्रदर्शन भी इन धार्मिक कवियों का उद्देश्य था। अनेक स्थलो पर उच्चकोटि की कला के दर्शन होते है। कही-कही अलकारो का मनोरम और स्वाभाविक सन्निवेश प्राप्त होता है जो भावना को उच्चतर बनाने मे कारण हुआ है। धर्म से किस प्रकार अतर्कित लाभ होता है इसको एक कवि के शब्दो मे देखिये —

सकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्य चिन्तामणेरपि।
असकल्प्यमसञ्चिन्त्य फल धर्मादवाप्यते॥ (आत्मानुशासन)

किसी वस्तु को प्राप्त करने के किये कल्पवृक्ष के सामने भी सकल्प करना पडता है, चिन्तामणि के सामने भी चिन्ता करनी पडती है तभी उनसे अभीप्ट फल की प्राप्ति होती है। यह धर्म की ही विशेषता है कि उससे विना ही सकल्प किये हुए तथा विना ही चिन्ता किये हुए स्वभावत फल प्राप्त हो जाता है।

स्त्रियो की भीपणता पर भी दृष्टिपात कीजिये—

"सर्प क्रोध मे भरकर ही प्राण हरने वाले होते है और कभी-कभी दृष्टिपात से ही प्राण ले लेते है। उनकी वहुत सी औपधिया भी होती हैं जो एक दम विप को नष्ट कर देती हैं। किन्तु स्त्री रूपी सर्पों की दशा ही कुछ विचित्र है। ये सामने होने पर भी और पीछे भी प्राणो को ले लेती है। क्रोध मे मार डालने वाली होती है और प्रसन्नता मे भी मार डालती है। योगीन्द्रो (सपेरो) पर सर्पों का वश नही चलता। किन्तु स्त्री-सर्प योगीन्द्रों (योगिराजो) को भी मार डालते हैं। यह देखकर भी प्राण ले लेती हैं और काट करके भा। इनकी कोई औषधि नही होती।"

इसी प्रकार —

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद् भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मन ॥

"जिन सासारिक विपय भोगो मे मूढ मनुष्य आश्वस्त रहता है, उससे वढकर भय का स्थान दूसरा नही और जिस आत्म-ज्ञान से भयभीत रहता है, उससे वढ़कर और कोई अभय का स्थान नही।"

धार्मिक सूक्तियो की दिशा मे वौद्धो का भी कार्य स्तुत्य रहा है। किन्तु भारत मे वौद्ध-धर्म के उन्मूलन के साथ-साथ उनके साहित्य को भी वहुत वडा आघात पहुचा। वौद्ध धर्म को साम्प्रदायिक आधार प्राप्त न हो सका, जिसने अन्य धर्मों की सूक्तियो को सुरक्षित रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। कुछ विद्वानो ने तिव्वत, चीन, लका, व्रह्मा इत्यादि देशो मे विखरे हुए साहित्य को सक-लित करने की चेप्टा की है। किन्तु इस समय हमे इस साहित्य का वहुत ही थोडा अश प्राप्त हो सका है। कुछ तो प्राचीन त्रिपिटक के साराश के रूप मे ही लिखे गये है और कुछ स्वतन्त्र ग्रथ है। त्रिपिटक के साराश के रूप मे लिखी गई पुस्तको मे धम्म-सिरी की लिखी हुई खुद्द-सिक्खा और महासामि की लिखी हुई मूल सिक्खा अधिक प्रसिद्ध है। इनकी रचना ४४० ई० की वतलाई जाती है, किन्तु भाषा के देखने से ज्ञात होता है कि ये पुस्तकें अधिक वाद की है। इनके अतिरिक्त द्वैमातिका (भिक्खू और भिक्खुनी प्रति भांक्ख) तथा कखा-वितरणी ये पुस्तकें उन लोगो के लिये पर्याप्त मानी जाती है जो लोग पूरे विनय को नही पढ सकते। इसी प्रकार वुद्ध के शिप्य सिद्धत्थ का लिखा हुआ सार-सग्रह और धम्मकित्ति का लिखा हुआ धम्म-सग्रह भी प्रसिद्ध है। ये सम्भवत १२वी तथा १४वी शताब्दी की रचनायें हैं। इनमे सिद्धान्तो का निरूपण है। अभिधम्म का प्रधान रूप से वर्मा मे अध्ययन

किया गया। संभवत १२वी शताब्दी मे वहा पर अनरुद्ध नामक सन्यासी ने अभिधम्म-सग्रह लिखी जो कि बौद्ध मनोविज्ञान तथा सदाचार की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। यह पुस्तक बर्मा के समान सीलोन मे भी अत्यन्त आदर के साथ देखी जाती है।

बौद्ध धर्म मे कई एक विद्वत्तापूर्ण कवितायें लिखी गई जिनमे कुछ ये है :—

(१) **पारमी-महाशतक**—धम्मकित्ति ने चौदहवी शताब्दी मे दस पारमिताओ के विषय मे यह पुस्तक लिखी थी।

(२) **सद्धम्मोपायन**—मे ६२९ पद्य हैं, जिनमे सामान्यत. बौद्ध-धर्म और विशेषत सदाचार की शिक्षा दी गई है।

(३) **पज्जा मधु** १०४ उच्चकोटि के पद्यो की एक छोटी-सी पुस्तक है जो तेरहवी शताब्दी मे बुद्धप्पिय के द्वारा लिखी गई थी। इसमे बुद्ध की प्रशसा की गई है और भाषा अधिकतर सस्कृत-गर्भित है।

(४) **तेलकटाह गाथा**—बौद्ध-धर्म की अच्छाइओ के विषय मे है। कहा जाता है कि इसका लेखक एक सन्यासी था। कल्याणी के राजा टिस्सा ने अपनी धर्म-पत्नी के साथ अनुचित सम्बन्धो के कारण कवि को तेल-कटाह मे झोक देने का आदेश दिया। कवि कटाह मे झोक दिया गया और उठकर सौ पद्य सुनाये। अपने मरने के पहले उसने कहा कि मैं पूर्व जन्म का एक ग्वाला था और मैंने उबलते दूध में एक पतग डाल दिया था। अब इस शतक मे केवल ६८ पद्य मिलते है जिनसे उक्त घटना पर कोई प्रकाश नही पडता। कल्याणी के टिस्सा का समय ई० पू० तीसरी शताब्दी है किन्तु पुस्तक देखने से यह १२वी शताब्दी से पहले की नही जान पडती।

काश्मीरी कवि सिल्हण की कविता कम मौलिक है। ज्ञात होता है कि इन्होंने कुछ समय बगाल मे भी कार्य किया होगा। यह प्रकट है कि ये भर्तृहरि के प्रशसक थे। इन्होने भर्तृहरि से बहुत से भाव लिये हैं और जहाँ पर ये अपने वैष्णव मत से शैवमत की सगति नही भिडा सके है वहा पर इन्होने परिवर्तन कर लिया है। एक पद्य हर्ष के नागानन्द से भी लिया गया है। सिल्हण अपने सग्रह के द्वारा प्राचीन रचनाओ को आदर देना चाहते थे और उसमे अपनी रचना भी सम्मिलित कर दी। इसमे सन्यास की प्रशसा की गई है और बहुत कुछ ऐसा तत्त्व सम्मिलित हो गया है, जो हिन्दू बौद्ध और जैन तीनो धर्मों मे एक समान है। इनके सग्रह मे एक पद्य बिल्हण का भी मिल जाता है। इससे पिशेल को इनके बिल्हण होने का भ्रम हुआ है। किन्तु यह बात प्रमाण-प्रतिपन्न नही है। बिल्हण शृगारी कवि थे और इस बात पर कम विश्वास होता है कि उन्होने वैराग्यपरक सूक्तियाँ भी लिखी हो। सभव हो सकता है बिल्हण अपनी वृद्धावस्था मे सन्यासी हो गये हो। नीति के श्लोको मे वररुचि के नाम से भी कुछ पद्य प्रख्यात है। कुछ घटकर्पर तथा वेताल के नाम से भी पद्य प्रसिद्ध हैं, जिनमे नीति-रत्न, नीति-सार और नीति-प्रदीप की

शैली अपनाई गई है। इसके कतिपय पद्य बहुत उच्चकोटि के है किन्तु उनके समय का पता नही। काश्मीर के भल्लट भी एक प्रसिद्ध कवि हो गये। ये शकर वर्मा (८८३-९०२) के अवधान मे कविता करते थे। इनका शतक प्रयत्नपूर्वक सुन्दर बनाया गया है और अनेक छन्दो मे लिखा गया है किन्तु इतना निश्चित है कि इनके शतक मे मौलिकता कम है। इनके शतक मे दो पद्य आनन्दवर्धन के भी मिल जाते है जिनका पूर्ववर्ती होना असदिग्ध है। इनकी शैली सरल और सीधी है। इनकी कुछ और रचनाओ का भी सग्रह-ग्रथो से पता चलता है।

क्षेमेन्द्र सस्कृत साहित्य मे एक अत्यन्त प्रतिष्ठित कवि हुए हैं। इनका दूसरा नाम व्यासदास भी था। इनकी प्रसादगुण-परिपूर्णता और रचना-शक्ति सस्कृत-काव्य-जगत् मे अपना उपमान रही रखती। साथ ही इनका कविता का क्षेत्र भी अत्यन्त व्यापक है। इन्होने छोटी-बडी २८ पुस्तकें लिखी हैं जिनमे विषय-वैचित्र्य बहुत अधिक पाया जाता है। ये काश्मीर के अनन्तराज के राज्य काल के ज्ञात होते हैं क्योकि इन्होने अपने ग्रथो मे प्राय अनन्तराज का उल्लेख किया है। अनन्तराज का राज्य-काल ईसा की ११वी शताब्दी है। इससे ये भोजराज के सम-सामयिक सिद्ध होते है। अनन्तराज और भोजराज की दानशीलता की प्रशसा राजतरगिणी मे भी की गई है तथा दोनो को समान बतलाया गया है। क्षेमेन्द्र की पुस्तको मे कतिपय रचनायें सूक्ति-मुक्तको के रूप मे भी है, जिनमे प्रधान रूप से चारुचर्या, कला-विलास, समय-मातृका, सेव्यसेवकोपदेश और चतुर्वर्ग सग्रह प्रसिद्ध है। चारुचर्या मे अच्छे गुणो का उपदेश ऐतिहासिक उदाहरणो द्वारा दिया गया है। प्रथम पंक्ति मे कर्तव्य का निर्देश किया गया है और दूसरी पक्ति मे उसके प्रमाण के रूप में ऐतिहासिक कथा की ओर सकेत कर दिया गया है। इसी का अनुकरण बाद मे श्री गुमाना कवि ने अपने उपदेश-शतक मे किया। अन्तर केवल यह है कि जहाँ क्षेमेन्द्र ने दृष्टान्त का आश्रय लिया है वहा गुमानी कवि ने अर्थान्तरन्यास के आश्रय से उपदेश देने की चेष्टा की है।

१७वी शताब्दी मे श्री अप्पय दीक्षित का वैराग्य-शतक भी एक प्रसिद्ध रचना है। इनका समय नीलकण्ठ चम्पू के आधार पर ईसा की १७वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है अप्पय-दीक्षित दीक्षित-वश के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित विद्वान् थे तथा दर्शन के क्षेत्र मे इनका बहुत अधिक महत्त्व है। इनकी लिखी हुई बहुत-सी पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। वैराग्य शतक मे प्रसाद गुण पूर्ण शैली मे विषयो से अपरितृप्ति, सासारिकभय, ससार की दशा, इत्यादि का वर्णन किया गया है। एक दूसरा शतक भी पद्मानन्दि का लिखा हुआ है। इस कवि का देश-काल ज्ञात नही है। इस पुस्तक में १०३ पद्य है। इस ससार की नश्वरता, स्त्रियो से वैराग्य, मृत्यु की अनिवार्यता इत्यादि का वर्णन किया गया है और विषयो का परित्याग कर वैराग्य धारण करने का उपदेश दिया गया है तथा ज्ञान की प्रशसा की गई है।

अप्पय दीक्षित अथवा उनके सगे भाई के पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित का समय ईसा की १७वी शताब्दी का पूर्वार्ध है। इनके दो शतक प्रसिद्ध है—(१) अन्यापदेश शतक और (२) सभारजन शतक। कहा जाता है कि अप्पय दीक्षित के नाम से प्रसिद्ध वैराग्य-शतक भी इन्ही का लिखा हुआ है नीलकण्ठ के नाम पर कई एक और पुस्तकें भी प्रसिद्ध है। किन्तु नीलकण्ठ अनेक हुए है। इनकी शैली प्रसाद गुण पूर्ण है और दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास का अधिक प्रयोग किया गया है।

सस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध लक्षण-ग्रथकार पण्डितराज जगन्नाथ के भामिनी-विलास मे भी कुछ पद्य सूक्तिपरक पाये जाते है तथा इनकी कुछ अन्योक्तिया भी प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार कविवर शम्भु की लिखी हुई अन्योक्तिमुक्तालता भी मुक्तक काव्य-जगत् मे एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इनके समय का कुछ पता नही चलता और न इनके जीवन के विषय मे ही कुछ ज्ञात है। इनकी अन्योक्तिया बहुत प्रसिद्ध है। इनमे गुणवान् व्यक्ति का किसी अनुपयुक्त प्रदेश मे रहना, किसी रसिक का स्वच्छन्द विहार, दोषो मे भी एक गुण के द्वारा ही प्रतिष्ठा प्राप्त करना इत्यादि विषयो पर अन्योक्तिया की गई हैं।

ऊपर जिन ग्रथो का परिचय दिया गया है वे शुद्ध रूप मे स्फुट मुक्तक-सूक्तियो के ग्रथ हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी ग्रथ हैं जिनमे कथा-सूक्तियो का सकलन किया गया है। इस प्रकार की पुस्तको मे सर्वप्राचीन पुस्तक शान्ति देव की बोधिचर्यावतार है। इसमे दर्शन और नैतिक उपदेशो का सम्मिश्रण पाया जाता है। शकर के नाम पर प्रसिद्ध कुछ पुस्तकें भी इसकी सीमा मे सन्निविष्ट की जा सकती हैं। रम्भा-शुक सवाद भी इसी प्रकार का है जिसमे रम्भा ने शृगार का प्रतिपादन किया है और शुक ने उसका निराकरण कर वैराग्य की स्थापना की है।

काश्मीर के जयापीड (७७२-२१३) के मन्त्री दामोदर गुप्त का कुट्टनी मत एक अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। कल्हण ने दामोदर गुप्त को कवि माना है और मम्मट तथा रुय्यक ने इसके उद्धरण दिये हैं। सग्रह-ग्रन्थो मे इनका नाम आता है। इससे ज्ञात होता है कि इन्हे अच्छी ख्याति प्राप्त हो गई थी। इस पुस्तक मे आलकारिक भाषा मे एक वृद्ध वेश्या के द्वारा मालती को धन कमाने का ढग सिखाया गया है। बीच-बीच मे हास्य का पुट भी पाया जाता है। दामोदर गुप्त के नाम पर जो सामग्री हमे समुपलब्ध होती है उससे ज्ञात होता है कि इन्हे काम-शास्त्र तथा साहित्य-शास्त्र का अच्छा ज्ञान था।

क्षेमेन्द्र ने भी दामोदर गुप्त के अनुकरण पर समयमातृका लिखी जिसमे एक नाई ने एक वेश्या को एक वृद्ध वेश्या के पास शिक्षा के लिये भेजा है। वह बुड्ढी तथा कुरूप थी। किन्तु कला के प्रभाव से उसने प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। वह शिक्षा देने मे निपुण है और किसी युवक तथा उसके पिता को धोखा देकर किस प्रकार धन कमाया जा सकता है इस बात की शिक्षा देती है। क्षेमेन्द्र की दूसरी

पुस्तक कला-विकास है। इसमे दस अध्यायो मे मानव के विभिन्न पेशे तथा दुर्बलतायें बतलाई गई हैं। इसका नायक मूलदेव है जो कि समस्त छलो का मानवीकृत रूप है। चन्द्रगुप्त को उसका पिता मूलदेव के पास शिक्षा के लिये लाता है और मूलदेव उसे शिक्षा देता है। इसमे बतलाया गया है कि दम्भ ने मृत्युलोक मे आकर अनेक स्थानो पर अपना अधिकार जमा लिया है। यहा तक कि पशुओ और वृक्षो तक इस दम्भ का अधिकार पहुच गया है। क्षेमेन्द्र की शैली मे आधुनिकता की छाप है। इसमे वैद्य और ज्योतिपियो की काफी हसी उडाई गई है। एक ज्योतिषी सब कुछ बतलाने का दावा करता है किन्तु यह नही जानता कि उसकी पत्नी पर्दे के पीछे क्या कर रही है। इसी प्रकार एक वैद्य जिसका सर पीतल की बटलोई के समान गञ्जा है किन्तु गञ्जेपन की पेटेण्ट दवा बेचता है और उसे खरीदार भी मिल जाते हैं। क्षेमेन्द्र के चतुवर्ग सग्रह मे जीवन के चार उद्देश्यो पर सौ पद्य लिखे गये हैं, जिनमे पहले धार्मिक सूक्तिया है और फिर पौराणिक कथाओ से उनकी पुष्टि की गई है। इस पुस्तक का बहुत बडा प्रभाव दयाद्विवेद (१४६४) की नीति-मञ्जरी पर भी पडा, जिसमे सायण के ऋग्वेद भाष्य का सहारा लेकर २०० पद्य लिखे गये। सम्भवत क्षेमेन्द्र का ही प्रभाव जल्हण के मुग्धोपदेश पर भी पडा, जिसमे ६६ पद्यो मे वेश्यागमन के दोपो को समझाया गया है। क्षेमेन्द्र की शैली सुन्दर, प्रसाद गुण पूर्ण और सरस है। इसमे चरित्र से सम्बद्ध रचनायें उच्चकोटि की हैं और चरित्र मे सम्बन्ध रखने वाले तत्त्व शृ गार-रस के वर्णनो मे भी अन्तर्निहित हैं। इन्होने सर्वत्र एक चारित्रिक सन्देश दिया है। क्षेमेन्द्र के लगभग अर्द्ध शताब्दी के उपरान्त अमितगति का सुभापित-रत्न-सन्दोह लिखा गया। इसमे जैन-नीति का उपदेश है और ब्राह्मण-धर्म वालो पर आक्षेप किया गया है। स्त्रियो की पूरी निन्दा है और वेश्या के विपय मे तो पूरा एक अध्याय है। हेमचन्द्र का योग-शास्त्र अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमे साधारण श्लोक और उन पर साधारण गद्य मे व्याख्या लिखी गई है। प्रथम चार अध्यायो मे जैन-दर्शन का और बाद मे आठ अध्यायो मे जैनाचार का विशद वर्णन किया गया है। यद्यपि हेमचन्द्र एक उच्चकोटि के कवि हैं किन्तु इस पुस्तक को किसी प्रकार भी उच्चकोटि का नही कहा जा सकता। इस दृष्टि से सोमप्रभ की लिखी हुई शृ गार-वैराग्य-तरगिणी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अपभ्रंश के सूक्ति मुक्तक

सस्कृत और प्राकृत भापाओ की मुक्तक सूक्तियो के साथ-साथ देशी भापाओं मे निरन्तर ही धार्मिक और नैतिक सूक्तियो की रचना होती रही। इन्ही देशी भापाओं को बाद मे अपभ्र श के नाम से अभिहित किया गया है। अपभ्र श भापाओं मे सातवी शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ही कई एक सन्त कवि हुए, जिन्होने कुछ तो धर्म प्रचार के उद्देश्य से और कुछ सदाचार की भावना भरने के लिये देशी भापाओं मे रचनायें की। इन रचनाओ का एक सग्रह महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने

बगला अक्षरो मे प्रकाशित कराया, जिसमे अनेक कवियो की रचनाओ का परिचय दिया गया है। इन सन्तो की सख्या ८४ है। यद्यपि इनकी रचनायें पूर्ण रूप से काव्य की सीमा मे सन्निविष्ट नही होती क्योकि इनमे कलात्मक सौन्दर्य की ओर ध्यान न देकर वस्तु तत्त्व को सीधी-साधी भाषा मे कहने की प्रवृत्ति लक्षित होती है, तथापि ये परवर्ती महत्त्वपूर्ण मुक्तक काव्य की पूर्व पीठिका तैयार करने मे कारण हुई है और पूर्व तथा परकाव्य की शृखला को जोडने मे अन्तर्वर्तिनी कडी का काम देती है अतएव इनका महत्त्व कम नही है। इन सन्तो ने वाह्य साधना से विरत कर अन्त.साधना की ओर विशेष ध्यान दिया है और दक्षिण मार्ग को छोडकर वाम-मार्ग को अपनाने की शिक्षा दी है। ये सन्त और बौद्ध-धर्म के ध्वसावशेप वज्रयान शाखा के अनुयायी थे। वज्रयानियो की योग तन्त्र साधनाओ मे मद्य तथा स्त्रियो के सेवन का विशेष महत्त्व था तथा रजकी इत्यादि निम्न वर्ण की स्त्रियो के सेवन को प्रमुखता प्रदान की गई थी। ये ही समस्त तत्त्व वज्रयान-सम्प्रदाय के सन्तो की वाणी मे परिलक्षित होते हैं।

उपर्युक्त सन्तो के अतिरिक्त कतिपय जैन तथा बौद्ध कवियो ने भी अपभ्रश भाषा मे मुक्तक सूक्तिया लिखी हैं। इन कविताओ मे जोइन्दु (१०वी शताब्दी) का परमात्म प्रकाश और योग सार तथा रामसिह का (११०० ई० के आसपास) का पाहुणदोहा विशेष महत्त्व रखते हैं। जोइन्दु तथा रामसिह दोनो ही जैनकवि थे। इसी प्रकार सरहपा अथवा सरोजवज्र (८वी शती) और कान्हा या कृष्ण-पाद (१०वी शती) इन दो बौद्ध महात्माओ के "दोहा-कोष" विशेष प्रसिद्ध है।

धार्मिक सघर्ष के कारण जनता ऊब चुकी थी और अब उसे और अधिक इस बात पर विचार करने की रुचि नही रह गई थी कि कौन धर्म अच्छा है कौन नही। धार्मिक विचार-धारा के मन्द पड़ जाने के कारण सामाजिक सदाचार का स्तर भी नीचा पडता जा रहा था। समाज मे धर्म के नाम पर वडा ही दुराचार फैला हुआ था। कही श्री सम्प्रदाय, कही भैरवी-चक्र, कही महामुद्रा इत्यादि के नाम पर समाज मे वडा ही वीभत्स दृश्य उपस्थित हो रहा था। ऐसी दशा मे इन जैन तथा बौद्ध मुनियो ने अपनी वाणी के प्रभाव से इन दोषो के निराकरण की असफल चेष्टा की। परमात्म-प्रकाश मे जैन-धर्म के दृष्टिकोण की रक्षा करते हुए सामान्य तथा विशेष अनेक विषयो की व्याख्या की गई है। किन्तु यह रचना अधिक क्लिष्ट है। इन्ही विषयो को लेकर योगाचार मे सरल और सुवोध शैली मे लिखे हुए मुक्तक पद्यो का सकलन किया गया है। महामहोपाध्याय श्री हीरालाल शास्त्री के अनुसार पाहुण शब्द का प्रयोग किसी विशेष विषय के प्रतिपादन के अर्थ मे किया गया है। कही-कही पाहुण का अर्थ अधिकार भी है। किसी-किसी मे पाहुण शब्द प्राभृत शब्द का अपभ्रश भी माना गया है, जिसका अर्थ है उपहार। इस प्रकार "पाहुण-दोहा" का अर्थ होता है "दोहा का उपहार"। इस पुस्तक मे साकेतिक भाषा मे योग सम्बन्धी तथा तान्त्रिक विषयो पर अनेक पद्य लिखे गये हैं।

जैनधर्म सम्बन्धी उपर्युक्त ग्रन्थो का अवलोकन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनमे ये कविजन समाज को मानवता की ऐसी सामान्य भूमिका पर लाने की चेष्टा कर रहे हैं, जहा पर विभिन्न धर्म अपना विरोध छोडकर एक हो जाते हैं। इन्होने सभी मतो को आदर दिया है और सभी मतो को मोक्ष मार्ग तक ले जाने वाला कहा है। मानव-मिलन की सामान्य भूमिका तैयार करने के लिये यह आवश्यक था कि भेदभाव तथा उसके कारण का भली-भाति निराकरण किया जाता। इसी लिये इन ग्रन्थो मे श्रुत-ज्ञान और अक्षर-ज्ञान की निन्दा की गई है। क्योकि इनसे भेदभाव बढता है और साम्प्रदायिकता के विकास तथा प्रसार मे सहायता मिलती है। रूढिवाद का इन ग्रन्थो मे पूर्ण बहिष्कार किया गया है। इन महात्माओ ने स्वसवेद्य आत्म-ज्ञान को ही प्रधान माना है। आत्मज्ञान के लिये देहेन्द्रिय समवाय परम अभीष्ट है। अतएव इन मुनियो ने देह को देव मन्दिर की उपमा दी है, जहा परमात्मा निवास करता है। अतएव तीर्थाटन इत्यादि व्यर्थ हैं। आत्म-सुधार तथा देह और मन की निर्मलता पर विशेष ध्यान देना चाहिये। जो व्यक्ति शारीरिक और मानसिक क्रियाओ मे प्रवृत्त होता हुआ भी उनमे आसक्त नही होता वही समभाव रखने वाला प्राणी है, वही परम पद का अधिकारी है। इन्द्रियवश्यता की इन ग्रन्थो में निन्दा की गई है और मन को वश मे करने का उपदेश दिया गया है। ये महात्मा कवि वाह्याडम्बरो से सर्वथा घृणा करते हैं। यदि सर मु डाने से कोई सन्यासी हो जाय तो गन्जे लोग तो सन्यासी ही उत्पन्न होते है और उन्हे तो परमात्मा मिल ही जाता होगा। वास्तविकता यह है कि विषयो को छोडने वाला ही सन्यासी होता है (जोइन्दु)। अध्ययन ऐसा करना चाहिए जिससे शिवपुरी पहुचने मे सहायता मिले, ऐसा अध्ययन करने से क्या लाभ, जिसका प्रयोजन तालु सूखना ही हो। वस्तुतः सभी धर्म एक ही हैं और अनेक नामो से एक तत्त्व की ही उपासना की जाती है। "वही शिव है, वही शकर है, वही रुद्र है, वही बुद्ध है, वही जिन है, वही ईश्वर है, वही ब्रह्म है, वही अनन्त है और वही सिद्ध है।"

सरहपा और कण्हपा के दोहा कोपो मे भी इसी सामान्य धर्म भूमि का उपदेश दिया गया है। इनमे तीर्थाटन, देव पूजा, मन्त्र, मन्दिर इत्यादि के खण्डन का स्वर अधिक मुखर हो उठा है। इन सिद्धो ने भी शास्त्र ज्ञान का वहिष्कार कर स्वसम्वेद्य आत्म-ज्ञान को ही महत्त्व दिया है। समरसता और सहज भाव से चित्त की स्थिरता को इन्होने भी निर्वाण के लिए अनिवार्य कहा है। जैनमुनियो ने सर्वथा सन्यास का प्रतिपादन किया था और गृहस्थ से विरत होने का उपदेश दिया था। इन महात्माओ ने घर और वन के बीच का मार्ग अपनाना अधिक श्रेयस्कर समझा।"

"घरहिय यक्कुम जाहि वणेजहि तहिमण परिश्राण।"

इतना ही नही, ये राग को वैराग्य का एक आवश्यक उपकरण मानते हैं और इनका दृष्टिकोण जीवन के प्रति स्वीकारात्मक ही है नकारात्मक नही। इनकी भाषा

स्पष्ट है और रहस्यवाद की उसमे छाया नही है। केवल एक-आध स्थानो पर ऐसे वाक्य पाए जाते है—"जहा मन और पवन भी सचार नही करते, रवि और शशी का भी प्रवेश नही है। हे मूढ चित्त वही विश्राम करा यही सरह का उपदेश है।" "आगम, वेद और पुराण को ही सर्वस्व मान कर पण्डित जन उन्हें वहन करते है, जिस प्रकार पके श्रीफल के बाहर ही भौंरे घूमते हुए रह जाते हैं।"

धार्मिक सूक्ति-मुक्तको के समकक्ष ही नीति-सूक्ति भी प्राप्त होती है। ये नीति-सूक्तिया हेमचन्द्र के द्वारा सकलित उदाहरणो मे तथा सेन (११वीं शताब्दी) के सावय धम्म दोहा और सोमप्रभ (१२वी शती) के कुमारपाल प्रतिवोध मे विशेष रूप से पाई जाती हैं। ये नीति-सूक्तिया दोनो रूपो मे मिलती हैं—अनुभवपूर्ण दोहो के रूप मे भी और अन्योक्तियो के रूप मे भी। अनुभवपूर्ण दोहो मे स्वाभिमान, सत्य, त्याग, उदारता इत्यादि की प्रशसा की गई है, जीवन की सुख शान्ति के लिये आवश्यक उपदेश दिये गये हैं और व्यवहारपटुता सम्पादित करने योग्य बातें बतलाई गई हैं। इसके लिये सूक्ति परम्परा की सामान्य विशेषता अप्रस्तुत विधान का इस प्रकार की रचनाओ मे भी प्राधान्य रहा है। प्रधानतया दृष्टान्त और अर्थान्तिरन्यास अपनाये गए है। शास्त्रज्ञानमात्र ही मन को ठीक करने मे कारण नही होता इसके लिए अनुकूल मन अपेक्षित होता है, इस आशय की सूक्ति देखिये—"सैकडो शास्त्रो के जान लेने पर भी विपरीत ज्ञान वाले के मन पर धर्म नही चढ़ता। यदि सौ दिनकर भी उग आयें तो भी उलूक को अन्धेरा ही रहे।" स्वाभिमान के विषय मे कुमारपाल प्रतिवोध मे लिखा है—"मान नष्ट होने पर यदि शरीर नही, तो देश तो अवश्य छोड दीजिये। दुर्जन के कर-पल्लवो से दिखलाये जाते हुए मत घूमिए।" जीवन मे सम्पत्ति ही सम्मान का कारण है इस विषय मे लिखा है—"ऋद्धि-विहीन मनुष्यों का कोई सम्मान नही करता, पक्षियो द्वारा छोडा हुआ तरुवर इसका प्रमाण है।" इसी प्रकार वीरो के लिए उपदेश, गुणो से सम्मान प्राप्ति इत्यादि अनेक विषयो पर अनुभवो का उल्लेख पाया जाता है। इसके अतिरिक्त वृक्षो और पशु-पक्षियो पर अन्योक्तियो के द्वारा भी अनेक अच्छे उपदेश दिए गए है। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण मे इस प्रकार की अनेक अन्योक्तिया पाई जाती है। स्वार्थी व्यक्ति स्वार्थ को ही प्रधान मानकर ग्रहण या परित्याग करते हैं, किन्तु महान् लोग सभी को आश्रय देते हैं—यह बात निम्नलिखित वृक्ष की अन्योक्ति मे कितने सुन्दर ढग से कही गई है—

वच्छहे गृण्हइ फलइ जणु कडु पल्लव वज्जेइ।
तो वि महद्दुम सुअणु जिवँ ते उच्छ गि धरेइ॥

"लोग वृक्ष से फलो को ग्रहण करते है और कटु पल्लवो को छोड देते है तो भी महान् द्रुम सज्जन की भाति उन्हें हृदय मे धारण किये रहता है।" इसी प्रकार "तृणो की तीसरी दशा नही है वे तट मे बसते है। या तो लोग उनसे लगकर पार

उतरते है या वे उनके साथ स्वय डव जाते है ।" इसका आशय यही है कि सज्जन सर्वदा परोपकार मे निरत रहते है । या तो वे परोपकार करने मे दूसरो का कार्य बना ही देते है या उनके साथ स्वय नष्ट हो जाते है । इसी प्रकार कुछ शृंगारी अन्योक्तिया भी पाई जाती हैं । उदाहरण के लिए भ्रमर की अन्योक्ति करते हुए कोई कवि कहता है—"हे भ्रमर ! अरण्य मे रुनझुन मत कर और उस ओर देखकर मत रो । वह मालती देशान्तरित हो गई, जिसके वियोग मे तू मर रहा है ।" यह ऐसे स्थान पर कहा जा सकता है, जहा पर कोई व्यक्ति किसी नायिका पर अनुरक्त हो और वह नायिका देशान्तरित हो जावे और उसके मिलने की कोई सम्भावना न रहे । तव दूसरा व्यक्ति किसी प्रेमी को उसके प्रति उदासीन हो जाने का उपदेश देवे । इसी प्रकार.—"तिलो का तिलत्व तभी तक है जव तक स्नेह नही निकल जाता । स्नेह के नष्ट हो जाने पर वे ही तिल-तिल से फटकर खल हो जाते है ।" इसका आशय यही है कि मनुष्य को स्नेह का परित्याग नही करना चाहिए । इस प्रकार ये अन्योक्तिया बहुमुखी है, इसमे सन्देह नही ।

हिन्दी-सूक्ति काव्य

सूक्ति-काव्य की यह परम्परा निरन्तर चलती रही । गुरु गोरखनाथ ने अपनी जनवाणी मे जहा कुण्डलिनी जागरण, षट् चक्रभेद, अजपा जाप, अनाहत नाद, शून्य, शिव शक्ति इत्यादि अपने सम्प्रदाय के विभिन्न तत्त्वो का परिचय दिया है वहा गुरु-महिमा, वैराग्य, इन्द्रिय-निग्रह इत्यादि पर सूक्तिया लिखी गई हैं । "गम्भीर गुरु करना चाहिये, विना गुरु के नही रहना चाहिये । हे भाई विना गुरु के ज्ञान प्राप्त नही होता । दूध के धोने से कोयला उजला नही होता और कौये के कण्ठ मे पुष्प-माला डाल देने से वह हस नही हो जाता ।" इनके सम्प्रदाय मे ९ आचार्य हुए हैं । इनमे से अधिकतर आचार्यों ने सूक्तिया लिखी है । सभी मे गुरु-माहात्म्य, वाह्या-डम्वर का परित्याग, ससार से विरक्ति इत्यादि विपय ही हुआ करते ये निर्गुण धारा के कवियो ने भी पर्याप्त मात्रा मे सूक्तिया लिखी है । कवीर की साखिया इस विषय मे प्रसिद्ध ही है । इन साखियो मे गुरु का महत्त्व, स्मरण का महत्त्व, मन की शक्ति, प्रेम, चेतावनी इत्यादि विपयो पर सूक्तिया कही गई है । वाह्याडम्वर का परित्याग कर परमात्मा से प्रेम करने का उपदेश दिया गया है । हिन्दू-मुसलमान दोनो के वाह्या-डम्वरो का निर्भयतापूर्वक खडन कर दोनो के लिए एक मार्ग का प्रतिपादन किया गया है । सूक्तियो मे वैचित्र्य तथा चमत्कार का सर्वत्र प्राधान्य है । अलकारो का सर्वत्र प्रयोग किया गया है । वहुत से पद्य तथा साखी नीति-सूक्ति से सवन्ध रखती हैं और कही-कही पर स्त्री-निन्दा भी की गई है । इस प्रकार सूक्ति काव्य की दृष्टि से कवि की रचना सर्वांग पूर्ण है । निर्गुण पन्थ के दूसरे आचार्य है नानक । इन्होंने नाम, जप और गुरु-महिमा इत्यादि धार्मिक साधना के वीच मे कुछ सूक्तिया भी लिखी हैं जिनमे तन-मन-धन से दूसरो की सेवा करने का उपदेश दिया गया है और सज्जनों

एव असज्जनो के लक्षरण भी लिखे हैं। धर्माधर्म का विचार रखना और चित्तवृत्ति को बुरी वासनाओ से बचाना ही इनके उपदेश का सार है। मलूकदास की सूक्तिया सर्वसाधारण मे बहुत अधिक प्रचलित हो गई हैं। भगवद्-विश्वास के विषय में निम्नलिखित सूक्ति प्राय लोगो की जिह्वा पर रहती है —

अजगर करै न चाकरी पछी करे न काम।
दास मलूका कहि गये सबके दाता राम॥

दादू ने लगभग ५००० पद्य लिखे है। इन्होने धर्म के प्रायः सभी अगो पर प्रकाश डाला है तथा आचार सम्बन्धी सूक्तिया भी लिखी हैं। इन्होने गुरु-माहात्म्य तथा अन्त' साधना पर विशेष बल दिया है। इसी प्रकार दूसरे भी निर्गुण धारा के कवियो ने उन्ही सामान्य विषयो पर सूक्तिया लिखी है।

अन्य क्षेत्रो की भाति सूक्ति के क्षेत्र मे भी तुलसी का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस दिशा मे उनका प्रमुख ग्रथ है दोहावली। इसमे नीति, भक्ति, नाम-माहात्म्य, तत्काल की परिस्थितिया इत्यादि के विषय मे सूक्तियो का सकलन है। चातक के आदर्श प्रेम पर इसमे कई एक महत्त्वपूर्ण दोहे हैं। यह सग्रह-ग्रथ है। इसमे तुलसी के कई ग्रथो से दोहे उद्धृत किये गये हैं। दोहावली के अतिरिक्त राम सतसई और वैराग्य सन्दीपिनी भी सूक्तियों का सग्रह ही हैं। तुलसी ने अन्योक्ति और प्रत्यक्षोक्ति दोनो प्रकार की सूक्तिया लिखी है।

रहीम सूक्तियो के सम्राट् है। इन्होंने जीवन के उत्थान-पतन देखे थे। इन्हे जीवन की सच्ची परिस्थितियो का मार्मिक अनुभव था और उसी को इन्होंने सीधी-सादी भाषा मे व्यक्त किया है। इन सूक्तियो के पीछे इनका हृदयझाक रहा है। यही कारण है कि इनकी सूक्तिया सर्वजन-सम्बद्ध हैं और सर्वसाधारण मे इनका अत्यधिक प्रचार है। भाषा पर इनका तुलसा जैसा अधिकार है। इनकी सूक्तिया इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि परवर्ती बडे-बडे कवियो ने भी भावो के लिये इनकी ओर हाथ पसारा है। इनकी दोहावली या सतसई सूक्ति-साहित्य का सिरमौर है।

अकबर के दूसरे दरबारी कवियो ने भी सूक्ति काव्य के क्षेत्र में अपना योग दान दिया है। [राजा टोडरमल ने अपने अनुभव के कुछ छन्द लिखे थे]। दो-एक उदाहरण :—

जार को विचार कहा गणिका को लाज कहा,
गदहा को पान कहा अधरे को आरसी।
निर्गुणी को गुण कहा बात कहा दरिद्र को,
सेवा कहा सूम को अरड की सी डार सी॥
मद्यपी को सुचि कहा सांचु कहा लपटी को,
नीच को वचन कहा स्यार की पुकार सी।
टोडर] सुकवि ऐसे हठीले न टार्‌यो टरै,
भावै कहो सूधो बात भावै कहो फारसी॥१॥

राजा वही जाको राज सराहिये काज उही जो उछाह सों कीजै।
धारा वही जो सदा रहे चचल जोरा उही जो सुगन्धि सो भीजै ॥
वात वही जो सदा निवहै कवि टोडर मानि यहो सिख लीजै।
फौज उही जो रहे तैयार श्रौ मौज उही सो मगाय के दीजै ॥ २॥

नरहरि ब्रह्म भट्ट ने भी वहुत से नीति के पद्य लिखे हैं, जिनमे अकवर वादशाह को सम्बोधित किया गया है। इनके दो मुक्तक सग्रह कहे जाते है—छप्पय नीति और कवित्तसग्रह। इनके नीति के पद्य अनुभवजन्य हैं और उनसे अच्छे समाज के निर्माण की इनकी कामना अभिव्यक्त होती है। इनके कई पद्यो मे ज्ञानी, धनी, पण्डित, वृद्ध इत्यादि को ठीक मार्ग पर लाने की चेष्टा की गई है।

ब्रह्म कवि या राजा वीरवल की भी नीति सूक्तिया वहुत प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपने अनुभवो को सरल और सुवोध भाषा मे व्यक्त किया है। कर्म की रेखा, ससार की गति, वैराग्य इत्यादि विषयो मे इनकी सूक्तिया वहुत प्रसिद्ध है। वैराग्य भाव के दो एक पद्य देखिये —

पेट मे पौढ़ि के पौढ़ि मही पर पालन पौढ़ि के बाल कहाये।
आई जवै तरुनाई तिया सग सेज पै पौढ़ि के रग मचाये ॥
क्षीर समुद्र के पौढ़नहार को ब्रह्म कवौं मन में नहीं ध्याये।
पौढ़त पौढ़त पौढ़त ही सु चिता पर पौढ़त के दिन आये ॥

चढ़ने का भी महत्त्व देखिये —

गर्भ चढ़े पुनि सूप चढ़े पलना पै चढ़े चढ़े गोदघना के।
हाथी चढ़े पुनि अश्व चढे चढ़े जोग घना के ॥
वैरी औ मित्त के चित्त चढ़े कवि ब्रह्म भने दिन वोते पना के।
ईस कृपालु को जान्यो नहीं अव काधें चले चढ़ि चारि जना के ॥

शृगार रस के प्रसिद्ध कवि गग की नीति-सूक्तिया भी महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने अपनी सूक्तियो मे सज्जन प्रशसा, दुर्जन निन्दा, स्त्री प्रेम इत्यादि विषय रखे है। सारा काम स्वार्थवश ही किया जाता है इस वात को कवि ने कितने सुन्दर ढग से कहा है —

गर्जहि अर्जुन हीज भये अरु गर्जहिं गोविन्द धेनु चरावैं।
गर्जहि द्रौपदी दासि भई अरु गर्जहिं भीम रसोई पकावैं ॥
गर्ज वड़ी सव लोगनु में अरु गर्ज विना कोई आवै न जावै।
गग कहे सुनु साह अकव्वर गर्ज से बीबी गुलाम रिझावैं ॥

इसी प्रकार "गग कहै सुनु साह अकव्वर नारी की प्रीति अगार ते भारी" तथा "चचल नारि के नैन छिपे नहिं प्रीति छिपे नहिं पीठि दिखाये।" इत्यादि पद्य भी वहुत अधिक प्रचलित है।

अकबरी दरबार के कवियो मे मनोहर कवि का नाम भी बहुत प्रसिद्ध है। इनके नीति के दोहे प्रसिद्ध हैं। इनका कविता काल १७वी शती का मध्य भाग है और जहागीर ने इनकी प्रशसा की है।

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते है—

(१) सुभाषित मुक्तक लिखने की परम्परा वैदिककाल से ही प्रारम्भ हो गई थी और साहित्य जगत् मे निरन्तर प्रतिष्ठित रही।

(२) इस क्षेत्र मे कविता स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलती रही। प्रारम्भ मे कविता के द्वारा स्थूल रूप मे इतिवृत्तात्मक उपदेश दिये जाते थे। बाद मे इस क्षेत्र मे आलकारिकता और कलात्मकता बढती गई। इस क्षेत्र मे लाक्षणिकता और व्यन्जनात्मकता का महत्त्व कम रहा है। अधिकतर अभिधावृत्ति ही अपनाई गई है।

(३) सामान्यत सादृश्यमूलक अलकारो मे दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास अपनाये गये। वर्णन शैली को अधिक कलात्मकता प्रदान करने के उद्देश्य से कही-कही उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपक का भी समावेश दृष्टिगत होता है। दूसरे प्रकार के अलकारो मे दीपक, उल्लेख इत्यादि का भी समावेश पाया जाता है।

(४) लोकवृत्त का उपदेश देने के लिए एक नवीन शैली अपनाई गई थी। यह अन्योक्ति की शैली कहलाती है, जिस मे वृक्ष, पशु-पक्षी इत्यादि प्राकृतिक तत्त्वो को लेकर उन्ही के विषय मे कुछ ऐसी सूक्तिया कही जाती थी कि उनसे किसी लौकिक वृत्त का स्वत बोध हो जाता है और उनसे एक उपदेश भी प्राप्त हो जाता है।

(५) सूक्ति-काव्य के समस्त विषय को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) धार्मिक सूक्ति, (२) आर्थिक सूक्ति और (३) कामसम्बन्धी सूक्ति।

(६) धार्मिक सूक्तियो मे दो प्रकार की सूक्तिया सम्मिलित की जा सकती हैं एक तो वे सूक्तिया है, जो साम्प्रदायिक विचार-धारा के प्रचार के लिए लिखी गई थी और दूसरी वे सूक्तिया है जो सामान्य सदाचार का उपदेश देती है।

(७) धार्मिक सूक्तियो मे वैराग्य भावना सर्वत्र प्रधान रही है और इनमे अधिकतर लोक के परित्याग का ही उपदेश दिया गया है। सामान्य रूप से हम इन सूक्तियो को वैराग्यपरक सूक्तिया भी कह सकते हैं। इसीलिए कई एक सूक्तिकारो ने अपनी सूक्तियो को वैराग्य की सूक्ति कहा है। सामान्यत उपनिषत्काल से ही हिन्दू समाज मे वैराग्य की भावना घर कर गई थी। यह भावना प्राय समस्त धार्मिक सूक्ति-काव्यो मे पाई जाती है चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय मे क्यो न हो।

(८) वैराग्य भावना के अतिरिक्त दूसरी प्रकार की विचार धाराओ मे सत्य, त्याग, अहिंसा, उदारता, इत्यादि धर्म के विभिन्न अगो का वर्णन पाया जाता है। किन्तु इनका महत्त्व लौकिक सफलता के प्रलोभन के द्वारा स्थापित किया गया है।

(६) इस युग के अन्तिम चरण मे विशेष कर अपभ्रंश मुक्तको में तीर्थाटन, तीर्थव्रत इत्यादि वाह्याचारो का खण्डन प्रारम्भ हो गया था और एक ऐसी भूमिका प्रस्तुत की जाने की चेष्टा प्रारम्भ हो गई थी जो अबाध रूप मे सभी धर्म वालो को स्वीकार्य हो। सामान्य भूमिका के साथ-साथ यौगिकता तथा तान्त्रिकता का समावेश भी हो चला था और धर्म मे रहस्य भावना घर करती जा रही थी। अक्षर-ज्ञान तथा शास्त्र-ज्ञान का खण्डन किया जा रहा था और समरसता तथा आत्मभाव-चिन्तन पर ज़ोर दिया जाने लगा था।

(१०) आर्थिक सूक्तियो मे लोक-वृत्त को अधिक महत्त्व दिया जाता था और ऐसे गुणो का विवेचन किया जाता था, जिससे लौकिक सफलता प्राप्त हो सके।

(११) कवियो ने आर्थिक सूक्तियो के लिखने मे यथासम्भव धार्मिकता की उपेक्षा नही की है और सदाचार के द्वारा ही लौकिक सुख-शान्ति प्राप्त करने का उपदेश दिया है। किन्तु जहा पर धार्मिकत। से निस्तार होता हुआ नही देखा गया वहा पर धर्म की उपेक्षा का भी उपदेश दिया गया है। आर्थिक क्षेत्र मे व्यवहार की दशा मे स्वार्थ साधन को ही महत्त्व दिया गया और "जैसे को तैसा" का सिद्धान्त अपनाया गया।

(१२) अनुभव का अभिधान और अन्योक्ति पद्धति ये दोनो ही पद्धतिया इस दिशा मे समान रूप से अपनाई जाती रही है। किन्तु कलात्मक सौन्दर्य अन्योक्ति-पद्धति मे विशेप रूप से लक्षित होता है।

(१३) काम-शास्त्रीय सूक्तियों मे स्त्री-पुरुष के स्वभाव और प्रभाव का निरूपण किया गया है। इस विपय मे स्त्रियो की प्रशसा और निन्दा दोनो बातें पाई जाती हैं। वैराग्यपरक सूक्तियो मे ससार की नश्वरता इत्यादि को लेकर विरक्ति उत्पन्न करने की चेष्टा की गई और कामसम्वन्धी सूक्तियो मे स्त्रियो के स्वभाव और उनके प्रेम की अस्थिरता इत्यादि को लेकर एक ओर उनके परित्याग का उपदेश दिया गया और दूसरी ओर उनकी प्रशसा तथा सौन्दर्य वर्णन के द्वारा उनके उपभोग की ओर प्रवृत्त करने की चेष्टा की गई।

सामान्यतया सूक्ति-मुक्तको मे यही विशेपतायें पाई जाती हैं।

प्रशस्ति-मुक्तक

भारतीय काव्य-कला और विशेप रूप से मुक्तक काव्य-कला का विकास राजाश्रय मे हुआ है। कवि राजघरानो मे रहते थे और अपनी रचनाओ द्वारा राजाओ तथा राजसभासदो का मनोरजन किया करते थे। ये राजा लोग अधिकतर कला-प्रेमी होते थे और कवियो और कलाकारो को मुक्तहस्त से दान करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। कभी-कभी वडे-वडे आयोजन किये जाते थे, जिनमे दूर-दूर से कविगण उपस्थित होकर अपनी-अपनी रचनायें प्रस्तुत किया करते थे और उनके लिये पुष्कल पुरस्कार प्राप्त करते थे। राजशेखर ने काव्यमीमासा मे राजा लोगो को कर्त्तव्य

का उपदेश देते हुए लिखा कि "राजा लोगो को कवि-सभाओ का आयोजन करना चाहिये क्योकि यदि राजा कवि या कवित्व प्रेमी होता है तो सारा लोक कवि हो जाता है राजा को चाहिये कि दान और मान मे वासुदेव, शातवाहन, शूद्रक, साहसाक इत्यादि नृपतियो का अनुकरण करें। · ··· · ··क्योकि पुरुष-रत्नो का राजा एक मात्र महासागर के समान भाजन होता है।" सम्भवत राजा लोगो के आश्रय मे रहने वाले और राजा लोगो से वृत्ति पाने वाले राजाओं की अत्युक्तिपूर्ण प्रशसा को ही अपनी रचना का विषय बनाया करते थे। इन रचनाओ के द्वारा उच्चकोटि की कल्पना-शक्ति और आलकारिकता का प्रस्फुटन होता है। सर्वत्र अत्युक्ति का साम्राज्य और चमत्कार ही इनमे प्रधान रूप से उपास्य है। कुछ रचनायें भाव-ध्वनि का अनूठा उदाहरण हैं किन्तु अधिकतर कविताए कौशल-प्रदर्शन के लोभ से ही लिखी गई हैं। इन कविताओ मे न तो हृदय तत्व सन्निहित है और न कवि की अन्तरात्मा के ही इनमे दर्शन होते है। झूठी खुशामद से भरी हुई होने के कारण इन रचनाओ मे न तो स्थायित्व है और न लोकोपकार की क्षमता है। यही कारण है कि पूर्ण परम्परा के प्रतिष्ठित होते हुए भी ये रचनायें अधिकतर काल-कवलित हो गई और प्राय नाम-शेष भी नही रही। यदि कुछ रचनायें शेष रह सकी हैं तो या तो अपनी कल्पना-सम्पत्ति के बल पर या चामत्कारिकता के कारण। इस प्रकार का साहित्य हमें स्वल्पतम मात्रा मे अधिगत होता है किन्तु फिर भी कही-कही उच्चकोटि के पद्य प्राप्त हो जाते है और जन-समाज मे उनकी पर्याप्त प्रतिठा है।

इस प्रकार की रचनाओ को वर्णनीय विषय की दृष्टि से सुविधापूर्वक तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है, (१) दानशीलता का वर्णन, (२) सौन्दर्य-वर्णन और (३) युद्धवीरता का वर्णन। दानशीलता के वर्णन मे कवियो की तथा दूसरे पात्रो की दरिद्रता का वर्णन भी सन्निविष्ट है। इसी प्रकार सौन्दर्य-वर्णन के प्रसग मे अगनाओ के आकर्षण का भी वर्णन किया गया है। युद्धवीरता के वर्णन मे क्षिप्रकारिता, शत्रुओ से वैपम्य, शत्रुओ की शरणागति, शत्रुओ का भय, शत्रुओ की स्त्रियो की दुर्दशा इत्यादि का वर्णन भी सम्मिलित है। कही-कही दयावीरता और धर्मवीरता के वर्णन की छाप भी पाई जाती है। किन्तु इन विषयो का वर्णन अधिक महत्वपूर्ण नही है और उन वर्णनो मे भी या तो दानवीरता की प्रधानता हो गई है या युद्धवीरता की, अत इन दोनो को पृथक् स्थान प्रदान नही किया जा सकता। प्रशस्ति काव्य की सत्ता हमे प्राचीनतम भारतीय साहित्य मे अधिगत होती है। स्वय ऋग्वेद मे अनेक दानशील राजाओ का वर्णन है।

इस प्रकार के अनेक सूक्त ऋग्वेद मे पाये जाते है। इन सूक्तो मे परवर्ती राजघराने के कवियो के समान ही यजमानो का अतिरजित वर्णन किया गया है। कक्षीवान् ऋषि का सिन्धु प्रदेश के शासक भाव्य के दान की प्रशसा का सूक्त इसी बात को प्रकट करता है। राजा के सहस्र सोम यागो मे पुरोहित बनाने की सौ मुद्रा,

सौ अश्व, सौ गायें इत्यादि देने की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की गई है। इसी प्रकार इसी सूक्त मे स्वनय के द्वारा श्याम अश्व और वधुओ (सम्भवत दासियो) सहित १० रथ और ६० हजार गायो के देने की बात कही गई है। अष्टम मडल मे कुरगक राजा की दानशीलता की प्रशसा की गई है। इसी प्रकार के और भी अनेक दानो का वर्णन किया गया है। ये मन्त्र साहित्य की दृष्टि से उच्चकोटि के नही कहे जा सकते। किन्तु दान स्तुतियो मे भिक्षु नामक अगिरस ऋषि का बनाया हुआ सामान्य दान की प्रशसा परक सूक्त निस्सन्देह उच्चकोटि का है। देवताओ ने भूख को मनुष्य के मारने के लिये नही बनाया क्योकि परिपूर्ण भोजन किये हुए व्यक्ति को प्राय मृत्यु प्राप्त हो जाती है। दाता का धन सर्वदा समाप्त ही नही हो जाता किन्तु कृपण को कभी कोई सुखदायक नही मिलता। सूक्त के अग्रिम भाग मे भी इसी बात पर बल दिया गया है कि सच्चा मित्र प्राप्त करने के लिये मनुष्य को उदार बनना चाहिये। इसी प्रसग मे धन की अस्थिरता भी बतलाई गई है और जो एकाकी भोग करता है उसको पापी तथा मूर्ख कहा गया है। इस प्रकार दान सूक्तो मे एक ओर दानियो की प्रशसा और दूसरी ओर दान की महिमा इन दोनो बातो का समावेश प्राप्त होता है।

ऋग्वेद के इस प्रशस्ति-काव्य मे हमे राजा लोगो की दानशीलता के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के वर्णन प्राप्त नही होते। न तो इनमे राजा लोगो की युद्ध-वीरता का ही वर्णन किया गया है और व सौन्दर्य का ही। यद्यपि ऋग्वेद मे युद्धवीर की प्रधानता है तथापि शौर्य और वीरता का अतिरञ्जित वर्णन देवताओ के सम्बन्ध मे किया गया है मानव के सम्बन्ध मे नही। जहा कही मानव विजय का वर्णन भी है वहा भी उसका श्रेय मानव को नही अपितु देवता को ही प्रदान किया गया है। उदाहरण के लिये सप्तम मडल मे सुदास की १० सगठित राजाओ पर विजय का श्रेय वरुण को प्रदान किया गया है। इसका एक बहुत बडा परिणाम यह होता है कि राजा लोग अवलेप मे पडने से बच जाते हैं और वे अपनी विजय को देवता का प्रसादमात्र मानकर उसका उपभोग करते हैं तथा पशुबल और भौतिक साधन-सम्पत्ति पर ज्ञान और पाडित्य को प्रमुखता प्राप्त हो जाती है, क्षत्रिय जाति का प्राधान्य न होकर याजक ब्राह्मणो को ही महत्ता प्राप्त होती है।

इसी प्रकार ऋषियो ने सौन्दर्य का आश्रय प्रकृति को चुना है और प्रकृति के प्रसग मे ही सौन्दर्य का उच्चकोटि का वर्णन किया गया है। इससे भी अवलेप तथा सौन्दर्याभिमान से उत्पन्न होने वाले दूसरे दोषो का निराकरण हो जाता है।

राजा लोगो की दानशीलता का वर्णन प्राय ब्राह्मण, उपनिषद्, बौद्ध और जैन साहित्य मे सर्वत्र प्राप्त होता है। किन्तु यह सब वर्णन कल्पना और अलकार से रहित इतिवृत्तात्मक ही है जो कि काव्य पदवी पर आरूढ नही हो सकता। कालिदास इत्यादि महाकवियो के काव्य मे राजा लोगो की दानशीलता, वीरता और सौंदर्य

का वर्णन मिलता है और सुकोमल तथा सुमधुर काव्य तत्व से परिपूर्ण भी है रघुवश मे स्वयवर के प्रसग मे तत्कालीन अनेक राजाओ का वर्णन किया गया है । तथापि प्रवन्धान्त पाती होने के कारण हम उसे मुक्तक काव्य की सीमा मे सन्निविष्ट नही कर सकते । इसी प्रकार कही-कही किसी पुस्तक के उपक्रम या उपसहार मे किसी राजा के वर्णन मे एकाध पद्य व्यय कर दिया गया है वह भी प्रशस्ति-मुक्तक की सीमा मे नही आता।

प्रशस्ति-मुक्तक का अत्यन्त उच्चकोटि का सग्रह हमे भोज प्रवन्ध मे अधिगत होता है। इसमे भोज की दानशीलता का वर्णन है ही, प्रताप-शौर्य इत्यादि दूसरे गुणो का भी वर्णन किया गया है। प्रत्येक पद्य के साथ एक कथा जोड दी गई है जिसमे भोज का काव्यानुराग व्यक्त किया गया है। सर्वत्र अत्युक्ति का ही साम्राज्य है। यदि कहीं उत्प्रेक्षा इत्यादि दूसरे अलकारो का उपादान भी किया गया है तो वह भी अत्युक्तिमूलक ही है। "अपने हाथियो को भी दान करते हुए राजा-भोज को देखकर श्री पार्वती जी हाथी के समान मुख वाले अपने पुत्र की बार-बार रक्षा करती है कि कही हाथी समझ कर मेरा पुत्र भी दान न कर दिया जावे।" इसी प्रकार— "भोज के प्रताप का निर्माण कर ब्रह्मा के द्वारा फेंके हुए शेप परमाणुओ से इन्द्र के हाथ मे वज्र, आकाश मे सूर्य और महा सागर के मध्य मे वडवाग्नि बन गई।" इसी प्रकार की दूसरी कल्पनाओ की इन पद्यो मे भरमार है। ये पद्य अपने काव्य-सौंदर्य के कारण विद्वन्मडली का कण्ठहार हो गये है।

प्रशस्ति-मुक्तक की दूसरी पुस्तक "राजेन्द्र कर्णपूर" है। इस पुस्तक के १२वें श्लोक मे हर्षदेव का और २२वें मे काश्मीर का नाम आता है। इससे ज्ञात होता है कि यह पुस्तक काश्मीर के कवि श्री शम्भु के द्वारा काश्मीराधिपति महाराज हर्षदेव के समय मे लिखी गई है। श्री हर्षदेव का समय १०८२ मे ११०० ई० तक का है। श्रीकठ चरित मे शम्भु महाकवि का नाम आया है और सुभाषितावली मे राजेन्द्र कर्णपूर के अनेक पद्य पाये जाते हैं। इस पुस्तक मे काश्मीराधिपति हर्षदेव के यश का अत्युक्तिमय कलापूर्ण वर्णन किया गया है। 'जिस के श्वेत प्रकाश से समस्त पर्वत कैलाश हो जाते है, सभी सर्प शेप नाग हो जाते है, सभी समुद्र क्षीर सागर हो जाते हैं, सभी हाथी ऐरावत वन जाते है और सभी कोकिलायें हस वन जाती हैं। कान्ति मे, काव्य रति मे, मति मे, शत्रुनाश मे, कीर्ति मे न कोई इन महाराज के समान हुआ है और न होगा।' ब्रह्मा जी ने इन महाराज का निर्माण ही कुछ विशेपरूप मे किया है—"अभिमानियो के अभिमान को शान्त करने के लिये, ससार को जीतने के लिये, याचको को सम्पत्ति प्रदान करने के लिये, सज्जनो के समान के लिये, महान् लोगो के उपकार के लिये और राजाओ को सताप देने के लिये उल्लास के साथ, कौतूहल के साथ, ध्यान को शान्त करके, स्वाध्याय को दूर कर और सब तपस्याओ को समाप्त कर ब्रह्मा जी ने तुम्हारी रचना का।"

राजा के सान्दर्य का वर्णन भी बडे विस्तार के साथ किया गया है, जिसके स्फुरण मात्र से ही ललनाओ की मति, स्मृति, धृति, शान्ति सभी कुछ जाता रहता है। केवल सौंदर्य ही नही पराक्रम के सामने भी सभी शत्रु भागने लगते है। जिस प्रकार स्त्रियो का मानभग और आकर्षण दिखलाया गया है उसी प्रकार प्रतिपक्षियो का पलायन भी दिखलाया गया है। श्लोको मे चमत्कार और कल्पना की प्रधानता है, कोई पद्य चमत्कारशून्य नही है। इस विषय की दूसरी पुस्तक न्याय वाचस्पति श्री रुद्र कवि-कृत भाव विलास है। इसमे १३६ पद्य है। ग्रथ से स्पष्ट है कि यह जयपुर के महाराज भावसिह के दरबारी कवि थे। भावसिह का समय ईसा की १७वी शती का प्रारम्भ है क्योकि भावसिह के पिता महाराज मानसिह जलालुद्दीन अकबर बादशाह के समय मे हुए थे। ग्रथ के प्रारम्भ मे मानसिह के पिता भगवानदास का एक श्लोक मे वर्णन है। इसके बाद दो पद्यो मे मानसिह के प्रताप का वर्णन आता है। फिर पद्य ४ से १७ तक भावसिह की वीरता, उदारता, सुन्दरता, दानशीलता इत्यादि गुणो का वर्णन किया गया है। फिर कुछ नीति-सूक्तिया और अन्योक्तिया आती है। ग्रथकार ने लिखा है कि यह ग्रथ भावसिह की आज्ञा से बनाया गया था। महाराज भावसिह के यश के विषय मे कवि कहता है—

"महाराज भावसिह के गन्ध-गजों की मद-धारा से सग्राम-भूमि पकपूर्ण होकर उर्वरा हो गई। उसमे शत्रुओ के हाथियो के मस्तको से गजमुक्ता निकाल कर महाराज भावसिह ने बो दिये। उसी से जो यश रूपी वृक्ष उत्पन्न हुआ उसी की नक्षत्रो के रूप मे ये कलिया दृष्टिगत होती है। वे कलिया पूर्ण चन्द्र के रूप मे एक-एक कर खिला करती है।"

इसी प्रकार दान की प्रशसा देखिए—

"बहुत बडे दानी महाराजा भावसिह के दान करने की इच्छा करने पर दान कर दिए जाने के भय से रत्न तो समुद्र मे जा छुपे, सुमेरु पर्वत देवताओ की शरण मे चला गया, भगवती कमला देवी को अपनी गोद मे लेकर भगवान् विष्णु समुद्र मे जाकर सो गए और ब्रह्मा जी ने भी अपने हाथ से लिखी हुई मनुष्यो के भाग्य की दुर्लिपि का परिमार्जन करने के लिए लज्जित होकर अपने हाथ मे कमण्डलु धारण कर लिया।"

पडितराज जगन्नाथ के भी प्रशस्ति-मुक्तकपरक कतिपय ग्रन्थ उपलब्ध होते है जिनमे प्राणाभरण और आसफ-विलास ये दो ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त दारा शिकोह के विषय मे भी कतिपय पद्य पाए जाते है। प्राणाभरण मे कामरूपेश्वर प्राण नारायण का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ पडितराज की प्रतिभा के अनुकूल ही है। इन ग्रन्थो मे प्रशस्ति काव्य की सभी विशेषतायें पाई जाती है। यही सस्कृत के प्रशस्ति-मुक्तको का सक्षिप्त परिचय है।

हिन्दी – प्रशस्ति मुक्तक

सस्कृत के समान हिन्दी मे भी प्रशस्तियो के लिखने की परम्परा विद्यमान रही। किन्तु हिन्दी काव्य का विकास महात्माओ और धर्म-साधको के द्वारा हुआ। ये महात्मा आत्माराम, स्वच्छन्दचारी व्यक्ति थे। भगवद्भक्ति ही इनकी प्रधान साधना थी। न ये राजाओ को जानते थे और न बादशाहो को। अतएव इन महात्माओ के काव्यो मे प्रशस्ति की आशा करना दुराशामात्र है। दूसरी बात यह है कि प्रशस्तियो मे हृदयतत्त्व विद्यमान नही रहता। केवल उक्ति-वैचित्र्य तथा चमत्कार का महत्त्व होता है। हिन्दी-साहित्य का इतिहास पतन-युग का इतिहास है। जो राजा लोग परमुखापेक्षी थे, जिनके देखते-देखते हिन्दू जाति का गौरव और मान-मर्यादा धूलिसात् हो गई थी उनकी अतिरञ्जित प्रशसा केवल निन्दा की ही अभिव्यञ्जक होती। अतएव इस प्रकार का काव्य या तो लिखा ही बहुत कम गया या असत्यता का प्रतिभास होने के कारण काल-कवलित हो गया। इस प्रकार का जो साहित्य हमे समुपलब्ध हुआ, वह परिमाण में बहुत कम है।

सस्कृत के समान अपभ्र श भाषा में भी कुछ प्रशस्तिया लिखी जाती रही और उनकी परम्परा डिंगल साहित्य मे भी बनी रही। किन्तु ये प्रशस्तिया प्रबन्धात्मक है, इन्हे हम मुक्तक की कोटि मे सन्निविष्ट नही कर सकते। जैनाचार्य मेरुतु ग की लिखी हुई प्रबन्ध चिन्तामणि भोज प्रबन्ध के ढग का ग्रथ है। इसमें कई पुराने राजाओ का वर्णन किया गया है। आख्यानो के बीच मे अपभ्र श या पुरानी हिन्दी के पद्य भी रखे गये है। इसमे वीर रस के साथ शृ गार रस के भी सुन्दर चित्र विद्यमान हैं। विद्याधर नाम के किसी कवि की कविता के कुछ नमूने प्राकृत पिंगल-सूत्र मे मिलते हैं। इनमे कन्नौज के किसी राठौर सामन्त की वीरता का वर्णन किया गया है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध आचार्य शार्ङ्गधर लिखित शार्ङ्गधर-पद्धति मे सुभाषित सग्रहो के साथ कुछ प्रशसात्मक मुक्तक भी दिये हुए हैं। इनका लिखा हुआ हम्मीर रासो भी प्रसिद्ध है। उसके कुछ पद्य प्राकृत पिंगल-सूत्र मे मिलते है।

वीर गाथा काल मे अधिकतर प्रशस्तिया ही लिखी गई। किन्तु ये प्रशस्तिया प्रबन्धात्मक हैं। बीसलदेव रासो यद्यपि गीति-काव्य है तथापि इसमे प्रबन्धात्मकता आ गई है। अतएव ये ग्रथ प्रस्तुत निबन्ध के विषय से बाह्य हैं।

करणेश बन्दीजन के तीन ग्रथ प्रसिद्ध हैं—करणाभरण, श्रुतिभूषण और भूप-भूषण। ये ग्रथ मिलते नही है। नाम से प्रतीत होता है कि इन ग्रथो मे अलकार का विवेचन किया गया होगा और उदाहरण के लिये किसी राजा की प्रशसा मे पद्य लिखे गये होगे। दुरसाजी ने एक बार गुदौच तक की यात्रा मे अकबर का मार्ग प्रबन्ध किया था जिससे ये अकबर के सम्पर्क मे आ गये। इन्होने विरुद-छहत्तरी में अकबर के लिये मीठी चुटकिया ली हैं कि —

अकबर समद अथाह तिहं डूबा हिन्दू तुरक।
मेवाडो तिह मांह पोयण फूल प्रताप सी॥

(अकबर अथाह समुद्र है जिसमें हिन्दू तुर्क सब डूब गये । मेवाड उसमें कमल समान और प्रतापसिंह कमल के फूल के समान हैं जो कि अकबर-रूपी समुद्र के ऊपर ही बने रहे)

होलराय ब्रह्मभट्ट हरिवंश राय के आश्रय में थे। किन्तु अकबर के यहा आते-जाते थे । इनका कोई ग्रंथ नही मिलता केवल कुछ फुटकर पद्य ही इतिहास ग्रंथ में उद्धृत किये गये है। निम्नलिखित प्रसिद्ध पद्य इन्ही का कहा जाता है —

दिल्ली ते न तख्त ह्वैहै बख्त न मुगल कैसो ह्वैहै न नगर बढि आगरा नगर तें।
गंग ते न गुनी तानसेन ते न तानबाज मान ते राजा औ न दाता बीरबर तें ॥
खानखाना ते न नर नरहरि ते न ह्वैहै न दीवान कोऊ नेडर डुडर तें।
नवौ खंड सात द्वीप सात हू समुद्र पार ह्वैहैं न जलालुद्दीन साह अकब्बर तें ॥

कहा जाता है कि व्यास कवि नित्य अकबर को आशीर्वाद देते थे और प्रशस्ति के पद्य सुनाया करते थे। पर इनका कोई पद्य प्रसिद्ध नही है। राजा पृथ्वीराज अकबर के दरबारी थे। इनमे स्वदेशाभिमान अत्यधिक मात्रा मे था। इन्होंने कई पुस्तके लिखी है। इनके कई पद्य महाराणा प्रताप की प्रशस्ति के विषय मे प्रसिद्ध है। गंग कवि अकबरी दरबार के प्रसिद्ध कवियो में है। अनेक विषयो के साथ इनकी प्रशस्तियां भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने खानखाना की वीरता का वर्णन किया है जिसकी शब्दावली और भाव दोनो से वीर रस टपकता सा है। एक-दो उदाहरण लीजिए :—

प्रबल प्रताप बली बैरम के खानखाना तेरी धाक दीपति दिसान दहदहकी।
कहै कवि गंग तहां भारी सुरवीरन के उमडी अखण्ड दल प्रलयपौन लहकी ॥
मच्यो घमासान तहां तोप तीर बान चले मडि बलवान किरवान कोपि गहकी।
तुण्ड काटि मुण्ड काटि जोसन जिरह काटि नीमा जामा जीन काटि जमीं आनि ठहकी ॥

इसी प्रकार —

धमक निसान सुनि धमक तुरान चित्त चमक तुरान मुलतान थहराना जू।
मारू मरदान कामरूप के करवान आदि मेवार के दान हिन्दवान आन माना जू ।
पूरब भगान पछमाद परलान उतराध गुजरात अरु दच्छिन दबाना जू।
औरवान हबसान हेदलान सम साम खैल भैल खुरासान चढ़े खानखाना जू ॥

खानखाना की सुन्दरता का वर्णन —

गंग गोंछ मोंछे जमुन अधरन सरसुति रागु।
प्रगट खानखानान के कामद बदन प्रयागु ॥

प्रसिद्ध आचार्य केशव ने भी जहांगीर के विषय मे कुछ प्रशंसात्मक पद्य लिखे है। उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं:—

१—राज दरबारों में कविता को आश्रय मिलने के कारण प्रशस्ति-काव्य की परम्परा निरन्तर बनी रही।

२—प्रशस्तियो में हृदयतत्त्व का अभाव होता है। इसमें झूठी खुशामद की ही प्रधानता होती है। अतएव परिमाण में अधिक होते हुए भी ये सुरक्षित न रह सकी।

३—प्रशस्तियो में तीन तत्त्व प्रधान होते हैं—वीरता का वर्णन, दान-शीलता का वर्णन और सुन्दरता का वर्णन।

४—प्रशस्तियो में अत्युक्ति की ही प्रधानता होती है।

५—प्रशस्ति काव्य का महत्त्व उक्ति-वैचित्र्य तथा चमत्कार में है। इसमें अलकारो का प्रयोग-सौन्दर्य ही काव्य का प्रवृत्ति-निमित्त होता है।

६—प्रशस्ति काव्य मध्यम काव्य की ही कोटि मे आते है। इनमें वर्णित भाव सर्वदा कविगत राजविषयक रति का अग होकर गौण रूप धारण कर लेते है।

मुक्तक काव्य परम्परा का यही सक्षिप्त परिचय है।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि प्रवन्ध की अपेक्षा मुक्तक मे काव्याभिनिवेश विशेष मात्रा मे होता है और महान् कवि भी सर्वप्रथम रचना का प्रारम्भ मुक्तक से ही करते है। अत मक्तक काव्य-जगत् का अपरिसीमित विस्तार है और कविगण निरन्तर ही मुक्तक की अनेक दिशाओ मे योगदान देते रहे हैं। इन मुक्तको में सकलन की ओर भी विद्वानो की अभिरुचि रही है और समय-समय पर इस प्रकार के सकलन प्रकाशित होते रहे है। अनेक कवि इन सकलनो में ही जीवित रह सके हैं और अनेक कवियो को ये सकलन भी जीवित न रख सके, केवल उनकी कवितायें ही काव्य परिशीलको को अधिगत हो सकती है।

सर्वप्राचीन मुक्तक सकलन ऋग्वेद है इसमें अनेक कवियो (ऋषियों) की रचनायें सुरक्षित है। ऋग्वेद के काव्यात्मक अशो के समस्त विषय को सुविधापूर्वक ५ भागो में विभाजित किया जा सकता है—रसात्मक-मुक्तक, धार्मिक-मुक्तक, सूक्ति-मुक्तक, प्रशस्ति-मुक्तक और चित्र-मुक्तक चित्र-मुक्तक परवर्ती आचार्यों द्वारा कला के क्षेत्र से वाह्य कर दिये गये। शेष चार प्रकार के मुक्तक काव्य-जगत् में सर्वदा अपना अक्षुण्ण अधिकार वनाये रहे। रसात्मक-मुक्तक-परम्परा को सामान्य प्रवृत्तियो के आधार पर तीन कालो मेंविभाजित किया गया है—प्रकृति-काल, प्राकृत-काल और भक्ति-काल। यदि समस्त रसात्मक मुक्तक-काव्य-राशि पर विचार किया जाय तो हमे ज्ञात होगा कि विहारी को रसात्मक मुक्तक की दिशा मे चार प्रकार की रचनायें अधिगत हुई थी—(१) जयदेव इत्यादि कवियो द्वारा प्रचालित कृष्ण का सामान्य-नायक-परक चित्रण। (२) सूर इत्यादि कवियो की जयदेव इत्यादि का अनुसरण करते हुए भी कृष्ण की विशिष्ट लीला-गान की पद्धति। (३) हाल इत्यादि कवियो की सामान्य नायक-नायिका चित्रणपरक कवितायें, जिनमे काल्पनिक नायक-नायिकाओ के किसी खण्ड-चित्र का उपादान होता था और जिनकी योजना हम कही भी लोक-वृत्त मे कर सकते है। (४) वैदिक-काल की प्रकृति-चित्रण-पद्धति, जिसके

बिहारी के समय तक आते-आते अनेक रूप हो गये थे। इसी प्रकार धार्मिक काव्य की यास्क-प्रतिपादित त्रिरूपता निरन्तर अपना अधिकार स्थापित किये रही। इसके अनुसार धार्मिक काव्यो मे आराध्यो की महत्ता, उनसे कुछ अभीष्ट लिप्सा और सिद्धान्त-स्थापन ये तीन तत्त्व धार्मिक कविता मे प्रतिष्ठित रहे और समस्त धार्मिक-मुक्तक-काव्य को इन्ही तीन उपभेदो मे विभाजित किया जा सकता है। तीसरे प्रकार की मुक्तक प्रवृत्ति सूक्ति काव्यात्मक कही जा सकती है। इसमे तीन प्रकार की प्रवृत्तिया पाई जाती है, जिनके आधार पर इन सूक्तियो को तीन प्रकारो मे विभाजित किया गया है—धार्मिक-सूक्ति, आर्थिक-सूक्ति और काम-सबन्धी सूक्ति। चौथे प्रकार की मुक्तक-प्रवृत्ति प्रशस्ति-सबन्धिनी होती है। इसमे हृदय-तत्त्व सन्निहित न होने के कारण भावना की प्रगाढता नही होती केवल कलात्मक सौन्दर्य ही यत्र-तत्र परिलक्षित होता है। इस प्रकार की रचनायें परिमाण मे अत्यल्प मात्रा में सुरक्षित रह सकी है। इनको भी हम तीन विधाओ मे विभाजित कर सकते हैं—शौर्य-वर्णन, सौन्दर्य-वर्णन और दानशीलता का प्रख्यापन। वस्तु की दृष्टि से मुक्तक-काव्य परम्परा को हम इन्ही विधाओ मे विभक्त कर सकते हैं। आगे चलकर (द्वितीय-भाग के ५वें अध्याय मे) हम बिहारी में इसी वर्गीकरण के आधार पर मुक्तक-प्रवृत्ति का प्रतिफलन देखने की चेष्टा करेंगे।

———

द्वितीय खंड

विहारी का विशेष अध्ययन

पश्येयमेकस्य कवे कृति चेत्,
सारस्वत कोषमवैमि रिक्तम् ।
अन्त प्रविश्यायमवेक्षितश्चेत्,
कोणे प्रविष्टा कविकोटिरेषा ॥

+ + + +

जो कोऊ रस-रीति कौ, जान्यौ चाहै सार ।
पढ़ै बिहारी सतसई, कविता कौ शृंगार ॥

प्रथम अध्याय

बिहारी का समय

कवि का मानस एक ओर सामयिक परिस्थितियो का प्रसाद होता है और दूसरी ओर जातीय परम्परायें उसके विकास मे योगदान देती हैं। सामयिक परिस्थितिया व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि अनेक रूपो मे विभक्त की जा सकती हैं। इन सव प्रकार की परिस्थितियो का कवि की अन्तरात्मा पर अत्यन्त व्यापक प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार साहित्यिक परम्परायें भी कवि की अन्तरात्मा के निर्माण मे कारण होती हैं। प्रत्येक साहित्य का अपना स्वतन्त्र विकास-क्रम होता है। उसका अपना स्वतन्त्र इतिहास होता है। नवीन परम्पराओं का विकास प्राचीन परिस्थितियो और परम्पराओ के उपादान सूत्रों के समवाय से हुआ करता है। साहित्य, समाज या धर्म की नवीन आधार-शिला मे अनिवार्य रूप से पुरानी परम्पराओ का सम्मिश्रण रहता है। कभी-कभी ये परम्परायें ज्ञात रहती हैं और कभी-कभी इनका रूप इतना व्यवहित हो जाता है कि सूक्ष्म-विवेचन से ही इनका पता चलाया जा सकता है। कुछ समय वाद प्रकट रहने वाली परम्परायें भी सामान्य दृष्टि से तिरोहित हो जाती हैं। आशय यह है कि किसी भी समय की सामयिक परिस्थितियो का ठीक स्वरूप उपस्थित करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उन परम्पराओ पर भी ध्यान दिया जावे जो उस समय की विशेपताओं के उद्भव मे कारण वनी है। कवि-मानस की अभिव्यक्ति ही काव्य है। जिन तत्वों के समवाय से कवि-मानस का निर्माण हुआ करता है यह आवश्यक नही है कि कवि उन उपादानो के प्रति पूर्णतया जागरूक हो। जाने या अनजाने उसके मानस के निर्माण मे सामयिक परिस्थितिया और उन परिस्थितियो को उत्पन्न करने वाली पुरानी परम्परायें स्वत कारण हो जाती हैं। इस अध्याय मे यह देखने की चेष्टा की जावेगी कि किन सामयिक परिस्थितियो के उपादानो से बिहारी के मानस का निर्माण हुआ था और उन उपादानो ने बिहारी की कविता को कहाँ तक प्रभावित किया था।

क—राजनीतिक परिस्थिति

बिहारी का समय सामान्यतया स० १६६० से १७२० तक माना जाता है।[1] इस प्रकार बिहारी का जन्म अकबर के राज्य काल के अंतिम वर्षों मे हुआ था और मृत्यु औरगजेब के राज्यारोहण के कुछ वर्षो बाद। बिहारी का बाल्य तथा यौवन काल जहागीर का शासन काल था और बिहारी की तारुण्यावस्था तथा वृद्धावस्था शाहजहा के राज्यकाल मे व्यतीत हुई थी। एक हस्तलिखित दोहा-बद्ध जीवन-चरित्र के अनुसार बिहारी शाहजहा बादशाह के दरबार मे भी रहे थे।[2] उक्त जीवन चरित्र मे लिखा है कि एकबार बादशाह शाहजहा मथुरा मे बिहारी के गुरु नागरीदास के यहा गए थे, बिहारी ने गुरु के आदेश से बादशाह को अपनी कविता सुनाई। कविता पर मुग्ध होकर बादशाह शाहजहा बिहारी को अपने साथ ले गये। वहा बिहारी बहुत समय तक दरबारी कवि के रूप मे रहते रहे। पुत्र-जन्मोत्सव मे आयोजित एक सभा मे कविता सुनाने पर राजस्थान के अनेक राजा लोगो ने बिहारी को प्रमाण पत्र दिए जिससे बिहारी का प्रवेश राजस्थान मे राजघरानो मे हो गया। यद्यपि इस दोहा-बद्ध जीवन चरित्र की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है तथापि इससे इतना तो सिद्ध होता ही है कि बिहारी के जीवन का महत्त्वपूर्ण भाग बादशाह शाहजहा के राज्य-काल मे और सम्भवत शाहजहा के निकट सम्पर्क मे व्यतीत हुआ था।

जहागीर और शाहजहा का राज्य-काल भारतीय इतिहास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शान्ति और सुव्यवस्था का काल था। अकबर महान् ने अपने दृढ अध्यवसाय, अदम्य उत्साह और सूक्ष्म दृष्टि से भारत के विस्तृत भू-भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। मेवाड को छोड कर प्राय सारा राजपूताना मुगल शासको के सामने नतमस्तक हो चुका था।[3] मेवाड मे महाराणा प्रताप की मृत्यु के बाद उनके जेठे पुत्र अमरसिंह सिहासनासीन हुए। अकबर ने अमरसिंह के प्रतिकूल भी सलीम और मानसिंह के नेतृत्व मे सेनाये भेजी किन्तु उन्हे अधिक सफलता प्राप्त नही हुई। अकबर की मृत्यु के बाद जहागीर ने भी मेवाड के प्रतिकूल अपने अभियानो को जारी रखा और मुगलो की अनेक पराजयो के बाद स० १६१४ मे त्रस्त होकर अमरसिह ने आत्म-समर्पण कर दिया। जहागीर ने अपने पिता की नीति का अनुसरण करते हुए अमरसिह से सम्मानपूर्ण सन्धि कर ली। इस प्रकार अंतिम राजपूत-शासक भी मुगलो के सामने नत हो गया। राजस्थान पर इस प्रकार आधिपत्य स्थापित कर लेना मुगलो की सबसे बडी सफलता थी। इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् डा० वेणीप्रसाद जी ने लिखा है कि कोई भी ऐसी जाति सत्ता मे नही आई जो मध्यकालीन राजपूतो की अपेक्षा अधिक आश्चर्यजनक इतिहास

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य शुक्ल।

२ कविवर बिहारी—रत्नाकर लिखित।

3 History of Jahangir by Dr Veni Prasad

अधिक वीरता-पूर्ण कार्य, स्वाभिमान और स्वसम्मान की अधिक दर्प-पूर्ण भावना का दावा कर सके।[1] कर्नल टाड ने भी अपने प्रसिद्ध 'एनल्स एण्ड ऍंटीक्वेरीज़ आफ राजस्थान' में राजपूत राजाओ का वडे गौरव के साथ चित्रण किया है। यदि कोई व्यक्ति राजपूतो के साहसिक कार्यों का अध्ययन करता है, तो उसका मानस वीरता तथा साहस की उस उच्च भूमिका मे पहुच जाता है, जहा तक मनुष्यता उठने का दावा कर सकती है। नि.सन्देह अकवर की वीरता और अध्यवसाय महाराणा प्रताप के अदम्य उत्साह और साहस का दमन करने मे सर्वथा अक्षम रहे थे। यदि राजपूत जाति सगठित होकर अकवर अथवा किसी दूसरे मुगल वादशाह का सामना करती तो राजस्थान पर प्रभुत्व स्थापित कर सकना एक असम्भव वात हो जाती। किन्तु अकवर का साथ वीरता की अपेक्षा विवेक ने अधिक दिया था। अकवर ने राजपूत राजाओ से वैवाहिक सवन्ध स्थापित कर लिया था। धीरे-धीरे राजपूत मुगलो से आत्मीयता का अनुभव करने लगे थे। जहागीर मे आधा राजपूत रक्त था और शाहजहा मे मुगलो का रक्त केवल चतुर्थांश शेष रह गया था। इस प्रकार समस्त राजस्थान मुगलो के आधिपत्य मे आ गया था।

मुगल वादशाहो का राज्य अत्यन्त विस्तृत था। अकवर ने जो साम्राज्य अपने पुत्र को प्रदान किया था वह विस्तार, जन-सख्या और प्रशासनीय मडलो की दृष्टि से विश्व के प्रमुख राज्यो मे था। स० १५५६ मे अकवर ने राज्यारोहण के अवसर पर उत्तरी भारत को सामन्तीय तथा प्रशासकीय क्षेत्रो की वहुत वडी सख्या मे विभक्त पाया था। उसके शासन की समाप्ति के कुछ पहले प्राय वे समस्त क्षेत्र उसके साम्राज्य मे विलीन हो गये थे। पश्चिम मे फारस की पूर्वी सीमाओ से लेकर वर्तमान आसाम तथा ब्रह्मदेश की पश्चिमी सीमाओ तक तथा उत्तर मे हिमालय से लेकर महानन्दा और गोदावरी से मध्य की एक कल्पित रेखा पर्यन्त प्राय समस्त प्रदेश वादशाह के शासन मे आ गया था।[2] इन सीमाओ को और अधिक विस्तृत करने के शाही-उद्योग चलते ही रहे। जहागीर का राज्यकाल कुछ स्थिरता का काल रहा और दक्षिण मे अनेक प्रदेश उसके हाथ से निकल गये। किन्तु शाहजहा की दक्षिण मे नियुक्ति के कारण मुगल वादशाहत की सीमा की सुरक्षा वनी रही। शाहजहा ने राज्य प्राप्ति के अनन्तर तत्काल ही दक्षिण मे अपनी दृढनीति आरम्भ कर दी। लगभग ४० वर्ष के सतत संघर्ष के परिणामस्वरूप दक्षिणी भारत मे मुगलो की स्थिति अत्यन्त दृढ हो गई। इस समय समस्त उत्तरी भारत के अतिरिक्त दक्षिण मे मुगलो के चार प्रदेश स्थापित हो चुके थे। इस प्रकार दक्षिण के एक छोटे से भूभाग को छोडकर समस्त भारत पर शाहजहा का एकमात्र राज्य स्थापित हो गया था।

1 History of Jahangir.

2 History of Jahangir by Dr. Veni Prasad.

[1]इतने बडे भूभाग का एक केन्द्र से शासन एक टेढ़ी खीर थी। आज वैज्ञानिक युग मे सचार साधनो की सुविधाओ के होते हुए भी एक केन्द्र से इतने विशाल भूभाग का प्रवन्ध असम्भव प्रतीत होता है। इसलिए शासन की सुविधा के निमित्त सुदूर प्रदेशो मे सत्रप स्थापित कर दिये गये थे। इन प्रान्तपालो या राज्यपालो को सिपहसालार कहा जाता था और इन्हे नागरिक शासन तथा सामरिक प्रभुत्व दोनो प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। ये राज्यपाल केन्द्र की दूरवर्त्तिता के कारण सर्वथा स्वतन्त्र हो जाते थे और केन्द्र के आदेशो से निरपेक्ष होकर राज्य-कार्य सचालित करते थे। मुगल वादशाह इन तथ्यो से सर्वथा परिचित थे। अतएव वे एक स्थान पर वहुत समय तक किसी एक सिपहसालार का रखना उचित नही समझते थे। समय-समय पर थोडे ही अन्तर से इनका स्थानान्तरण होता रहता था। यह अधिकार अधिकतर शाहजादो को ही प्राप्त होता था। यदि वादशाह को किसी शाहजादे से विद्रोह की आशका होती थी तो उस शाहजादे की नियुक्ति किसी सुदूर प्रदेश मे कर दी जाती थी। हिन्दू नरेशो को यह सौभाग्य वहुत कम प्राप्त होता था।

प्रान्तपतियो (राज्यपालो) के नीचे के अधिकारी दीवान कहलाते थे, इनकी नियुक्ति, वियुक्ति, पदोन्नति इत्यादि केन्द्र से ही होती थी। यह भी केन्द्र की ओर से सिपहसालारो के अधिक व्यापक प्रभुत्व स्थापित करने मे एक प्रतिवन्ध था। प्रान्तो मे सूचनाधिकारी (वाकियानवीस) भी केन्द्र द्वारा ही नियुक्त किए जाते थे। इन लोगो का कार्य प्रान्तीय विषयो से केन्द्र को परिचित रखना होता था। समस्त प्रान्त वहुत सी सरकारो मे विभक्त कर दिया जाता था। इन सरकारो पर सैनिक तथा नागरिक आधिपत्य रखने वाले अधिकारी फौजदार कहलाते थे। इनका स्थान आजकल के कलेक्टरो जैसा होता था। सरकारो को महालो और परगनो मे विभाजित किया गया था। इन महालो और परगनो पर दूसरे अधिकारी शासन करते थे। नगर-शासक को कोतवाल कहते थे। कोतवाल का अधिकार-क्षेत्र वर्तमान नगरपालिकाओ और कोतवालियो का सम्मिलित अधिकार था। शासन की सुव्यवस्था और शान्ति के लिए यही व्यक्ति उत्तरदायी माने जाते थे। ये लोग अपने शासन-क्षेत्र को अनेक भागो मे विभाजित कर शासन किया करते थे।[2]

मुगल वादशाहो का यह दुर्भाग्य था कि उनके शासनासीन होते ही उत्तराधिकार-विषयक सघर्ष प्रारम्भ हो जाता था। वादशाहो को सवसे वडी चिन्ता अपने पुत्रो से ही रहती थी। अतएव जहाँ शासन-सूत्र को ठीक रूप मे सचालित करने के

१ राजनीतिक स्थिति के चित्रण के लिए देखिये—History of Jahangir यहा पर उन अशों के सम्मिलित करने की चेष्टा की गई है जिनका सम्बन्ध बिहारी से है।

२ राज्य में अधिकारियों के उतार-चढ़ाव का वर्णन बिहारी के कई दोहों में पाया जाता है जिनका उल्लेख आगे चलकर किया जायेगा।

लिए योग्यतम व्यक्तियो का निर्वाचन किया जाता था वहा इस वात का विशेष ध्यान रक्खा जाता था कि ऐसे ही व्यक्तियो को अधिकार सौंपा जावे जो सुदूर प्रान्तो मे वादशाहो के हित की रक्षा कर सकें। उचित सेवा तथा स्वामिभक्ति के लिए वक्शीश के रूप मे भी नियुक्ति तथा पदोन्नति की जाती थी। राजस्थान के जिन राजा लोगो पर आधिपत्य स्थापित कर लिया जाता था, उनकी राजा के रूप में नियुक्ति, वियुक्ति और उन्नति का एकाधिकार वादशाह को ही प्राप्त होता था। अधिकतर राजा लोग वादशाहो से मसव पाते थे और उनकी सेना की सख्या भी वादशाहो से ही नियुक्त की जाती थी। उत्तराधिकार विषयक सघर्ष मे यह निर्णय असम्भव हो जाता था कि किस राजकुमार को वादशाहत प्राप्त होगी। ऐसी दशा मे एक को साथ देना, दूसरे का प्रत्याख्यान या तटस्थता कभी-कभी घातक हो जाती थी। पहले तो ऐसे लोगो को वादशाह का ही कोप-भाजन होना पडता था, यदि ऐसा न भी हुआ तो भी उत्तराधिकार के सघर्ष मे एक के विजयी हो जाने के वाद विरुद्ध पक्ष को अपने विरोध का दण्ड भोगना पडता था। विजित राजा लोगो मे वादशाह की आज्ञा अधिकाशत शिरोधार्य ही होती थी और सर्व साधारण मे यह धारणा वद्धमूल हो चली थी कि राजा लोगो की अपेक्षा वादशाहो का स्थान सर्वथा ऊचा है। भूषण ने 'साहिन मे इती छवि छाजै' लिखकर इसी तथ्य की ओर सकेत किया है। किसी अधिकारी की स्थिति अपने स्थान पर तभी तक दृढ रहती थी, जव तक शासक सतुष्ट रहते थे। असतोष का सवसे वडा कारण विद्रोह मे भाग लेना और षड्यत्र मे सम्मिलित होना भी हो जाता था। कभी-कभी अकारण ही वादशाह को किसी के पड्यत्र का सदेह हो जाता था और तव अधिकारी के सामने अपदस्थ होने के अतिरिक्त और कोई चारा नही रहता था। इन्ही सदेहो के अथवा एक पक्ष के समर्थन के कारण हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ कवि रहीम को अनेक वार अपदस्थ होना पडा और उन्हें अनेक वार क्षमा प्रदान की गई। किसी भी स्थान का स्थायित्व निश्चित नहीं था। जव ऊपर का एक अधिकारी परिवर्तित हो जाता था तव वह अपनी इच्छा से ही नीचे के अधिकारियो मे हेर-फेर करता रहता था। किसी असम्वद्ध व्यक्ति का अपदस्थ कर देता था और उसका स्थान अपने सवन्धियो को दे देता था। कभी-कभी कोई विशेष कारण न रहते हुए भी केवल अपने प्रभुत्व को दर्शाने के लिए ही अधिकारियो मे तथा व्यवस्था मे हेर फेर कर दिया जाया करता था। फिर वह अधिकारी अपने से नीचे अधिकारियो मे अपनी इच्छा का प्रयोग किया करता था। अधिकतर इस वात का ध्यान रक्खा जाता था कि ऊचे घराने के व्यक्तियों को ही कोई विशेष अधिकार दिया जावे। किन्तु कभी-कभी कोई निम्नकोटि का व्यक्ति भी इस प्रकार का अधिकार प्राप्त कर लेता था और तव वह रहन-सहन से अपने को वहुत वडा सिद्ध करने की चेष्टा करता था। जनता त्रस्त थी, ऊच-नीच का भेद भाव वहुत अधिक था। अधिकारी अत्याचार करते थे और

उनके मार्ग मे उनके अधिकार काल मे रुकावट बहुत कम रहती थी। यद्यपि मुगल बादशाहो की न्यायप्रियता प्रसिद्ध है तथापि बादशाहो तक पहुचना ही कठिन हो जाता था। शासको मे अपने-पराये का भेद-भाव बहुत अधिक था। बादशाह लोग विलासिता मे फसे रहते थे। उनकी निद्रा तभी टूटती थी जब उन्हे कही से विद्रोह का समाचार मिलता था। उनके दरबार का अनुकरण उनके अधीनस्थ राजा लोग भी किया करते थे। कर प्राय जनता के पास रुक जाते थे और कभी-कभी अधीनस्थ प्रतिनिधि भी हिसाब ठीक नही देते थे। जनता मे त्रास और उत्पीडन था किन्तु धनिक-वर्ग आमोद-प्रमोदमय जीवन व्यतीत कर रहा था।

बिहारी को आमेर के ऐसे राजघराने मे आश्रय प्राप्त हुआ था जो मुगल प्रभुत्व के सामने नत-मस्तक होने वाला प्रथम राजपूत वश था। आमेर का भारामल ही एक ऐसा राजा था, जिसने सर्वप्रथम मुगल बादशाह बाबर के दरबार मे उपस्थिति देना प्रारम्भ किया था और पठानो के अनधिकृत अधिकार के पहले हुमायूं से आमेर के राजा के रूप मे ५००० की मनसब लेता था। जिस समय अकबर ने राजपूतो से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर आत्मीयता स्थापित करने की चेष्टा की उस समय भी आमेर का राजघराना ही सर्वप्रथम क्षेत्र मे आया। डा० बेणीप्रसाद ने लिखा है कि भारत के मध्यकालीन इतिहास मे कोई भी विवाह राजनीतिक दृष्टि से इतना आनन्ददायक और इतना लाभप्रद नही हुआ था, जैसा कि १५६२ मे आमेर के राजा भारामल की पुत्री के साथ अकबर ने निश्चय किया था। भारतीय राजनीति मे इससे नवयुग के अरुणोदय के लक्षण दृष्टिगत होने लगे थे। इसने भारत को महत्त्वपूर्ण शासको की परम्परा प्रदान की। इससे चार पीढ़ियो तक मुगल बादशाहो को कतिपय ऐसे सेनानायको की सेवा अधिगत हो सकी थी जो कि मध्ययुग मे उत्पन्न होने वाले सबसे महान् व्यक्तियो मे गिने जा सकते थे।

भारामल का पुत्र भगवानदास मुगल बादशाहो का और भी अधिक निकटवर्ती हो गया। भगवानदास अकबर का मित्र था। अकबर ऐसे व्यक्तियो के उपयोग करने की कला मे पर्याप्त निपुण था। भगवानदास ने भी अपनी पुत्री का विवाह शाहजादा सलीम के साथ कर दिया था। मानसिंह भगवानदास का भतीजा था। यह अकबर के दरबार का सबसे बडा प्रतिभाशाली और शक्तिमान् व्यक्ति था। मानसिंह के साहचर्य का ही यह फल था कि अकबर ने धीरे-धीरे समस्त राजपूत राजाओ को अपने अधिकार मे ले लिया था, यही नही अपितु मानसिंह अकबर का सेनाध्यक्ष था और उसे सबसे अधिक आपत्तिपूर्ण तथा भीषण कार्य सौंपे जाते थे। मानसिंह ने खोटान से लेकर महासागर पर्यन्त विजय करके मुगल-साम्राज्य को बढ़ाया, उडीसा पर आधिपत्य स्थापित किया, आसाम को करद बनाया और काबुल को आज्ञा-पालन करने पर विवश किया। क्रमश इन्होने बगाल, बिहार, दक्षिण और काबुल मे राज्यपाल के रूप मे कार्य किया और वहा पर इन्होने मुगल आतक को

दक्षिण भारत औरंगजेव के सरदर्द का कारण नही वन सका। कर्नल टाड ने लिखा है कि जयसिंह सदा कहा करते थे कि—मेरी एक मुट्ठी मे देहली रहती है और दूसरी मे सूरत। सूरत को मैने यह पटक दिया और देहली को जव चाहू पटक सकता हू। साराश यह है कि आमेर के राजघराने का मुगलवश से अटूट सम्वन्ध था और मुगलो की प्रभुत्व-रक्षा मे आमेर का राजघराना विशेष रूप से कारण वना था। वैवाहिक सवन्ध भी अधिकतर आमेर घराने से ही हुआ था। मानसिंह की वुआ (भारामल की पुत्री), उसकी वहन (भगवानदास की पुत्री) और मानसिंह को पौत्री (जगत सिंह की पुत्री), मुगलो को व्याही थी। आमेर घराने के ही हाथो मे वहुत समय तक मुगल सेना का नेतृत्व रहा और इसी वश वालो ने मुगलो का प्रभुत्व स्थापित रखा।

विहारी का स्वय अपना राजनीतिक दृष्टिकोण था। विहारी सतसई का अध्ययन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि विहारी मे भी राष्ट्रीय भावना (अथवा इसे जातीय-भावना कहना अधिक उपयुक्त होगा। क्योकि उस समस तक राष्ट्रीय भावना का विकास नही हुआ था) पर्याप्त मात्रा मे थी। किन्तु उसकी अभिव्यक्ति हमे उस मात्रा मे अविगत नही होती जैसी भूषण मे प्राप्त होती है। इसके दो कारण थे। एक तो विहारी के आश्रयदाता मुगलो के प्रतिद्वन्द्वी नही थे और दूसरे विहारी ने औरगजेव के भयानक अत्याचारो को देखा नही था। विहारी का अधिक समय जहागीर और शाहजहा के शासन-काल मे व्यतीत हुआ था, जिनकी न्यायप्रियता और उदारता प्रतिष्ठित थी और जिनमे मुसलमानो की अपेक्षा हिन्दू रक्त अधिक था। औरगजेव के अत्याचार जयसिंह की मृत्यु के वाद प्रारम्भ हुए थे। किन्तु फिर भी विहारी को जयसिंह का मुगलो के प्रति अनुचित पक्षपात अच्छा नही लगता था। उनकी आत्मा विद्रोह करती थी और वे अपनी भावना अन्योक्ति-पद्धति पर व्यजना वृत्ति के द्वारा प्रगट किया करते थे। साथ ही वे यह भी देखते थे कि शासको मे स्वार्थपरता इतनी अधिक वढ गई है कि शासन सूत्र सचालन की अपेक्षा स्वार्थ वृत्ति को विशेष प्रश्रय दिया जाता है और योग्य व्यक्तियो की अवहेलना कर अयोग्यो को स्थान दिया जाता है। जनता मे त्रास और उत्पीडन वढता जाता है। अधिकारीगण मन-मानी करने पर तुले हुए हैं। अधिकारियो का वार-वार परिवर्तन होता है और नये अधिकारी अपने अधीनस्थो मे मन माना परिवर्तन किया करते है। विहारी के लिए यह सव असह्य था। अतएव व्यथित होकर वे अपनी अन्योक्तियो द्वारा या तो अपनी वेदना अभिव्यक्त किया करते थे या किसी ऐसे अधिकारी को जली-कटी सुनाते थे और उसे पद की अस्थिरता और स्वल्पकालिकता के लिए सचेत करने की चेष्टा किया करते थे। यदि विहारी की अन्योक्तियो, नीति-सूक्तियो और कतिपय अप्रस्तुत विधानो पर गवेषणात्मक विचार किया जावे तो उस समय की राजनीतिक स्थिति का सुसम्वद्ध और स्पष्ट चित्र प्राप्त हो जावेगा।

निस्सन्देह व्यजना वृत्ति अधिक प्रभावशालिनी है और काव्य के अधिक अनुकूल भी पडती है। विहारी की अन्योक्ति ने ही जयसिंह की विलासमयी निद्रा भ ग की थी। कहना न होगा कि यद्यपि जयसिंह की परपरागत बद्धमूल मुगलो के प्रति पक्ष-पात की भावना को दूर करने मे विहारी की वाणी समर्थ नही हो मकी थी, तथापि भूपण की अभिधावृत्ति मे प्रकट की हुई जातीय-भावना की अपेक्षा विहारी की व्यजना वृत्ति के माध्यम से प्रकट की हुई यह भावना कम महत्वपूर्ण नही है।

विहारी की प्रकृति अत्युक्ति-प्रिय थी और अत्युक्ति का सवसे वडा अवसर प्रशस्ति-साहित्य मे ही रहता है। किन्तु विहारी ने जयसिंह के विपय मे लिखी हुई प्रशस्तियो मे कही अत्युक्ति का सहारा नहीं लिया है। इससे सिद्ध होता है कि जयसिंह का मुगलो के प्रति अनुचित पक्षपात विहारी को पसन्द नही था। जयसिंह के विपय मे इन्होने विल्कुल सच्ची वातें कही है। निम्नलिखित दोहे मे मुगलो की विजय का एक मात्र श्रेय जयसिंह के नेतृत्व को ही प्रदान किया गया है —

सामाँ सेन, सयान की, सवै साहि कै साथ।
बाहु वली जयसाहि जू, फते तिहारै हाथ ॥

जव हम औरगजेव के इतिहास की अनेक घटनाओ का अध्ययन करते है और यह देखते हैं कि किस प्रकार उत्ताराधिकार के युद्ध से लेकर वाद के युद्धो तक जयसिंह ही औरगजेव की विजय मे निमित्त हुए थे, तव हमे इस दोहे की यथार्थता का पता चल जाता है। विहारी ने इस दोहे के द्वारा जयसिंह को यह भी सकेत देने की चेष्टा की है कि यदि जयसिंह मुगलो का साथ छोड दें तो उन्हे न तो इतना विजय लाभ हो और न हिन्दुओ का उत्पीडन भी वढे। फारसी तथा मराठी के इतिहासकारो का कहना है कि दक्षिण मे दौलतावाद सरकार के मन्दखेर का देश-मुख और निजाम शाही राज्य का मनसवदार लक्खी जादो था। यही लक्खीजादो छत्रपति शिवाजी का नाना था। सभवत॰ इससे और महाराज जयसिंह से युद्ध हुआ था। जव इसे जीत कर महाराजा जयसिंह आमेर आये तव उन्होने इस विजय के उपलक्ष्य मे वहुत अधिक दान दिया। इसी का वर्णन विहारी ने निम्नलिखित दोहे मे किया है —

रहति न रन, जयसाहि-मुख लखि, लाखनु की फौज।
जाचि निराखरऊ चलै लै लाखनु की मौज ॥

एक दोहे मे उन्होने स्पष्ट रूप मे जयसिंह को मुगलो का साथ छोड देने का परामर्श दिया है —

स्वारथु सुकृतु न श्रमु वृथा देखि विहग, विचारि।
वाज पराए पानि परि तू पच्छीनु न मारि ॥

वाज का पक्षियों को मारना तभी उचित कहा जा सकता है जवकि शिकार का मास उसे खाने को मिल जावे। यदि इसके प्रतिकूल वह मास वाज के स्वामी के

हाथ मे चला जावे तो बाज का स्वार्थ तो सिद्ध होता नही प्रत्युत उसे व्यर्थ का श्रम करना पडता है और वह पाप से अलग लिप्त हो जाता है। यहा पर बाज को विहग सबोधन का प्रयोग किया गया है जिससे स्व-वर्ग नाश की व्यजना होती है। जिस प्रकार बाज का शिकारी के हाथ मे पड कर दूसरे पक्षियो का वध उचित नही कहा जा सकता है उसी प्रकार जयसिह का मुगलो के हाथो मे पडकर हिन्दुओ को मारना भी उचित नही कहा जा सकता। शिवाजी से सधि हो जाने पर बिहारी को प्रसन्नता हुई थी और उन्होने इस कार्य मे सफलता प्राप्त कर लेने के लिए जयसिह का अभिनन्दन किया था।

घर-घर तुरकिनि, हिंदुनी देति असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर-चुरी, तैं राखी जयसाहि॥

इसी प्रकार बलख पर विजय प्राप्त करने के लिये मुराद के नेतृत्व मे बादशाह शाहजहा ने मुगल सेना भेजी थी। जब मुराद को वहा सफलता नही मिली तब औरगजेब भेजा गया। औरगजेब की सेना वहा जाकर ऐसी फस गई कि सकुशल लौटने का कोई चारा ही नही रहा। उसकी सहायता के लिये जयसिह और जसवत-सिह दोनो सेनानायक भेजे गये। जसवतसिह ने सेना के राशन का भार अपने ऊपर लिया और जयसिह ने सेना का भार लिया। इस प्रकार दोनो नरेशो की सहायता से बलख मे बुरी तरह फसी हुई सेना किसी न किसी प्रकार सकुशल निकल सकी।[1] बिहारी ने निम्नलिखित शब्दो मे इस घटना पर प्रसन्नता प्रगट की है —

यौं दल काढ़े बलख तें तैं जयसिह भुवाल।
उदर अघासुर कैं परें ज्यौं हरि गाई गुवाल॥

बिहारी के अप्रस्तुत विधानो मे यत्र-तत्र सामयिक राजनैतिक स्थिति का प्रतिफलन प्राप्त होता है। यौवन को अत्याचारी अधिकारी की उपमा कितनी सुन्दर है —

नव नागरितन-मुलुकु लहि जोबन-आमिर जौर।
घटि बढ़ि तें बढ़ि घटि रकम करीं और की और॥

इस दोहे से अभिव्यक्त होता है कि उस समय राजनैतिक अधिकारियो मे सामयिक परिवर्तन होता रहता था और वे अधिकारी अपने अधीनस्थो पर मनमानी करने के लिए स्वतन्त्र थे। बिहारी ने दूसरे दोहे मे ऐसे व्यक्तियो के मर्यादातीत हो जाने की ओर सकेत किया है.—

अरे, परेखौ को करै, तू ही बिलोकि बिचारि।
किहि नर किहि सर राखियै खरैं बढ़ें परि पारि॥

इस प्रकार के अधिकारी कभी-कभी अयोग्य तथा निम्नकोटि के व्यक्ति भी हो जाते थे और वे अपनी वास्तविकता को छिपाने के लिए बाह्याडम्बरो का सहारा

१. देखो History of Aurangzov, vol I by Yadu Nath Sarkar

लेते थे। विहारी ने इस वास्तविकता का सकेत निम्नलिखित दोहे मे किया है —

पाइ तरुनि-कुच उच्च पदु चिरमु ठग्यौ सवु गाउँ।
छुटैं ठौरु रहिहै वहै, जु हो मोलु, छवि, नाउ॥

इसी प्रकार के अयोग्य तथा मिथ्याभिमानी व्यक्तियो के अधिकार प्राप्त कर लेने और योग्य व्यक्तियो के वचित रहने पर विहारी ने कई अन्योक्तिया लिख कर अपनी वेदना व्यक्त की है —

मरतु प्यास पिंजार-पर्‌यौ सुआ समैं कैं फेर॥
आदरु दै दै बोलियतु बाइसु बलि की वेर॥

इसी प्रकार —

अरे हस, या नगर में जैयौ आपु विचारि।
कागनि सौं जिन प्रीति करि कोयल दई विडारि॥

योग्य व्यक्तियो के निरादर पर भी विहारा ने पर्याप्त क्षोभ प्रकट किया है—

वे न इहाँ नागर वढी जिन आदर तो आव।
फूल्यौ अन फूल्लौ भयौ गवई-गाँव गुलाव॥

इसी प्रकार —

चल्यौ जाइ, ह्याँ को करै हाथिनु को व्यापार।
नहिं जानतु, इहिं पुर वसैं धोवी, ओड कुभार॥
करि फुलेल कौ आचमन, मीठौ कहत सराहि।
रे गधी, मति अन्ध तू, अतर दिखावत काहि॥

ज्ञात होता है विहारी अपने आश्रयदाता के विद्वानो के प्रति व्यवहार से सन्तुष्ट नहीं थे। उन्हे यह वात अच्छी नही लगती थी कि राज्य के कार्यों मे योग्यता की परवाह नहीं की जाती। साथ ही वे धीरे-धीरे इस निष्कर्ष पर पहुच गये थे कि राजा लोगो से सम्मान प्राप्त करने के किए गुणो की नही, निकटवर्तिता की आवश्यकता है। उन्हें ज्ञात हो गया था कि —

राज-प्रसाद-वित्तानि चिन्वन्ति पुरुषास्त्रय.।
शूरश्च, कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

मे शूर और कृतविद्य की अपेक्षा सेवा की योग्यता ही प्रधान हो गई है। इसीलिए उन्होंने विद्वानो को सेवा-भाव तथा निकटवर्तिता सीखने का परामर्श देना प्रारम्भ कर दिया था —

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन-विस्तारन-काल।
प्रगटत निरगुन निकट रहि चगरग भूपाल॥

यही नही, वे राजानुकम्पा प्राप्त करने के लिये अपत हो जाना भी आवश्यक तथा अनिवार्य मानते थे—

नहिं पावसु ऋतुराज यह, तजि तरवर चितभूल।
अपतु भएँ बिनु पाइहै क्यों नवदल फल फूल॥

किन्तु विद्वत्ता अपना स्वय पुरस्कार है। स्वाभिमान सम्पत्ति की अपेक्षा भी बडी चीज है। यदि राजनैतिक परिस्थिति के कारण योग्य व्यक्तियो को अधिकार नही प्राप्त होता है तो क्या हुआ, उन्हे स्वाभिमान को हाथ से नही जाने देना चाहिए —

चितु दै देखि चकोर त्यौं तीजै भजै न भूख।
चिनगी चुगै अगार की चुगै कि चद-मयूख॥

योग्य व्यक्ति योग्य ही है चाहे उसे अच्छा स्थान प्राप्त हो या न हो। उसकी अयोग्यो से क्या तुलना —

पाइल पाइ लगी रहै, लगौ अमोलिक लाल।
भोंडर हूँ की भासिहै बेंदी भामिनि-भाल॥
सीतलता रु सुवास कौ घटै न महिमा मूरु।
पीनस वारैं जौ तज्यौ सोरा जानि कपूरु॥

किन्तु इससे भी वडी बात थी अयोग्यो का ऊचे पदो पर पहुचना। इसमे विहारी को क्षोभ के साथ रोष भी होता था और वे अप्रस्तुत कथनो द्वारा अपना रोष अभिव्यक्त किया करते थे —

काल्हि दसहरा बीतिहै धरि मूरखि जिय, लाज।
दुर्यौ फिरत कत द्रुमनि मे नीलकण्ठ विनु काज॥
दिन दस आदरु पाइकै करि लै आपु बखानु।
जौं लगि काग सराध पखु तौ लगि तौ सनमानु॥

निम्नलिखित दोहे मे विहारी का रोष और अधिक तीव्र हो उठा है —

गोधन, तूं हरष्यौ हियैं घरियक लेहि पुजाइ।
समुझि परैगी सीस पर परत पसुनु के पाइ॥

सम्भव है कि ये उक्तिया औरगजेव के विषय मे की गई हो। यह तो निश्चित ही है कि हिन्दू-धर्मानुयायी होने तथा शाहजहा के यहा रहने के कारण विहारी का पक्षपात दारा के प्रति होगा और विहारी उस समय भी शिवाजी इत्यादि की सफलता की आशसा करते होगे। इसलिये उन्होने औरगजेव के प्रति अपना रोष अन्योक्तियो द्वारा प्रगट किया होगा। विहारी सतसई की पूर्ति सम्वत् १७१९ मे हुई थी और सम्भवत इसी वर्ष वे जयपुर छोड कर मथुरा चले गये थे। औरगजेव ने जयसिंह के पुत्र के द्वारा उन्हें विष दिलवाकर सम्वत् १७२४ मे मरवाया था। विहारी के पाच वर्ष पहिले ही चले जाने का अर्थ यही होता है कि विहारी शिवाजी के विषय मे जयसिंह की नीति से सतुष्ट नही थे और जब उनकी कविता जयसिंह

की मनोवृत्ति वदलने मे कुण्ठित हो गई तव उन्होने वहा से चले जाना ही श्रेयस्कर समझा। निम्नलिखित दोहे मे दुराज की कठिनाइयो का उल्लेख किया गया है —

विसम दुराज प्रजान में क्यों न वढ़े दुखदन्द।
अधिक अन्धेरो जग करें मिलि मावस रवि चन्द ॥

इससे कुछ लोगो ने जयसिंह की मृत्यु के वाद उत्तराधिकारविषयक सघर्ष मे जयपुर मे दुराज सत्ता स्थापित हो जाने पर इस दोहे को घटित किया है। मुगलों के उत्तराधिकार विषयक सघर्ष के विषय मे भी इस दोहे को घटित कर सकते है। मुगलो के उत्ताराधिकारविषयक सघर्ष मे प्राय· द्विराज सत्ता स्थापित हो जाती थी जवकि एक का समर्थन और दूसरे का प्रत्याख्यान निरापद नही कहा जा सकता था। विहारी ने गोवर्धन के सर पर पशुओ के पैर पडने की जो भविष्यवाणी की थी वस्तुत वह सही निकली। औरगजेव की दुर्नीति से मुगल-साम्राज्य अचिरात् क्षत-विक्षत हो गया। चारों ओर के आक्रमणो और घात-प्रतिघातो ने मुगल साम्राज्य को समूल नष्ट कर दिया। यद्यपि अपनी भविष्य-वाणी की सत्यता देखने के लिए विहारी की आखें विद्यमान नही थीं तथापि उन्हें स्वर्ग मे सतोप अवश्य हुआ होगा, इसमे सदेह नहीं।

विहारी सतसई को देखने से ज्ञात होता है कि इस समय शासन व्यवस्था अत्यन्त शिथिल थी। चारो ओर चोर-डाकुओ का वोलवाला था। स्थान-स्थान पर लुटेरे अपना अड्डा जमाये हुए थे, जिससे सामान्य यात्री को यात्रा करने मे शकाकुल रहना पडता था। पर्वतीय-मार्ग तथा वन्य-प्रदेश विशेप रूप से आपद्-ग्रस्त थे। जो यात्री प्रात काल से पहले अपनी यात्रा प्रारभ कर देते थे उनकी ठगो से प्राय मुठभेड हो जाती थी। ये ठग ऐसे यात्रियो की घात मे बैठे रहते थे और अवसर पाकर किसी एकाकी यात्री पर आक्रमण कर देते थे। उसे मार कर कही किसी गड्ढे मे डाल देते थे और उसका सामान लूट ले जाते थे। विहारी ने ऐसे भी लुटेरो और ठगो का उल्लेख किया है जो किसी तान्त्रिक क्रिया अथवा किसी जादू-टोना के प्रयोग से यात्रियो को अपने वश मे कर लेते थे। ये लोग या तो कोई चूर्ण छिडक देते थे या अभिमन्त्रित गुड की डली का स्पर्श करा देते थे, जिससे प्रयोज्य व्यक्ति वशवर्ती होकर पीछे-पीछे चल देता था। इस प्रकार सामान्य वस्तुओ के साथ पुरुपों तथा स्त्रियो का अपहरण भी प्राय हुआ करता था। केवल इतना ही नही, अपितु इन ठगों तथा लुटेरों के सगठन भी वने हुए थे। यदि कोई ठग किसी यात्री से कुछ लूटना चाहता था, किन्तु सफल नही हो पाता था तो वह अपने उस शिकार को कुछ कम दाम लेकर दूसरे अपने साथी लुटेरे के हाथ वेच देता था।

ख—सामाजिक स्थिति

विहारी के समय की सामाजिक स्थिति के विषय मे सवसे पहले जो वात ध्यान मे आती है वह है समाज का वर्गों मे विभाजित होना। एक ओर राजा-महा-

राजा, नवाब, रईस, सेठ इत्यादि आमोद-प्रमोदमय जीवन व्यतीत करते थे, दूसरी ओर किसानो और मजदूरो का वर्ग श्रम से जीविकोपार्जन करता था और अपनी गाढ़ी कमाई के द्वारा धनिक वर्ग के उपभोग का साधन बना हुआ था। धनिक लोग अपने सुख-साधन के लिए जिस दलित-जाति पर आश्रित रहते थे, उसे उठाने और सुधारने की ओर उनका ध्यान नही था। अपितु इस धनिक वर्ग मे गिरी हुई जाति के प्रति एक घृणा सी उत्पन्न हो गई थी। ऊच-नीच का भेद-भाव इतना अधिक था कि छोटे आदमी इस योग्य ही नही माने जाते थे कि उनसे बडे आदमियो का कुछ भी काम चल सके —

कैसे छोटे नरनु तें सरत बड़नु के काम।
मढ्यौ दमामौ जातु क्यौं कहि चूहे कै चाम ॥

दूसरी ओर बडे आदमियो के दोषो की भी प्रशसा होती थी —

बुरौ न कोऊ कहि सकै बडे वश की कानि।
भलौ भलौ सब कहि उठैं धुवाँ अगर कौ जानि ॥

गावो की दशा अच्छी नही थी। ग्राम जीवन घृणास्पद तथा हेय माना जाता था। दलित-वर्ग अधिकतर गावो मे ही रहता था और ग्रामीणो मे हीनता की भावना तथा नागरिको मे उच्चता की भावना बडे ही भयानक रूप मे अपना घर कर गई थी। बिहारी के निम्नलिखित दोहे से ग्रामीणो के प्रति घृणा की भावना अभिव्यक्त होती है —

चल्यौ जाइ, ह्यां को करै हाथिनु कौ व्यापार।
नहिं जानतु इहिं पुर बसै धोबी, ओड, कुभार ॥
करि फुलेल कौ आचमन, मीठौ कहत सराहि।
रे गंधी मति अध तू अतर दिखावत काहि ॥

देहात की स्त्रिया भोली-भाली होती थी, वे नागरिक जीवन से सर्वथा अपरिचित रहती थी, विलास चेष्टाओ से सर्वथा अनभिज्ञ होती थी। उनकी विलास चेष्टाओ की पराकाष्ठा केवल हाथ की मुट्ठी बाधकर कमर पर रख लेना ही था। इसको बिहारी ने हूठा देना कहा है। देहाती स्त्रियो की विलास-चेष्टाओ का वर्णन निम्नलिखित दोहे मे किया गया है —

गदराने तन गोरटी ऐपन-आड़ लिलार।
हूठ्यौ दै इठलाइ दृग करै गवारि सुवार ॥

दलित जाति के आभूषणो का भी एक नमूना देखिये —

पहुला हारु हियें लसै, सन की बेंदी भाल।
राखति खेत खरे-खरे, खरे उराजनु बाल ॥

ग्रामीण लोग अपनी स्थिति से सन्तुष्ट थे। आजकल की जैसी साम्यवाद की भावना ने ग्रामीण जनता मे घर नही कर पाया था और न उनमे प्रतिक्रिया की

भावना उत्पन्न हुई थी । इतना अवश्य था कि जिस प्रकार नागरिक उच्च घरानो के व्यक्तियो के हृदयो मे ग्रामीणो के प्रति घृणा की भावना घर कर गई थी उसी प्रकार ग्रामीण लोग भी आपस मे नागरिको की हसी उडाया करते थे । यदि कभी कोई नागरिक दैव योग मे देहात मे फस जाता था तो ये लोग जी भर कर उसकी खबर लेते थे । बिहारी ने एक ऐसे नागरिक का निम्नलिखित दोहे मे दिग्दर्शन कराया है —

सबै हँसत करतार दै नागरता के नाँव ।
गयो गरबु गुन को सबु गए गँवारै गाँव ॥

इसी प्रकार यदि कोई नगर की लडकी किसी गाव मे विवाहित होकर जाती थी तो उसे देहाती जीवन अपनाने मे बडी कठिनाई का सामना करना पडता था । उसके नागरिक वृत्त की जी भर कर हसी उडाई जाती थी । एक ऐसी लडकी का बिहारी ने निम्नलिखित रूप मे वर्णन किया है —

नागरि, बिबिध बिलास तजि बसी गवे लिनु माहि ।
मूढनि मे गनिबी कि तू, हूठ्यो दै इठलाँहि ॥

किन्तु नागरिक जीवन अत्यन्त समृद्ध और सुसम्पन्न था । इस जीवन मे आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था । बादशाह, राजा, महाराजा, सामन्त, सेठ-साहूकारो के घराने कामिनियो से परिपूर्ण थे । बहु-विवाह पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही था । प्राय थोडी आयु मे लडकी का विवाह हो जाया करता था । अविवाहित तथा विवाहित दोनो प्रकार की स्त्रिया श्रीमानो की विलास-वासना पूर्ण किया करती थी । प्रकट और प्रच्छन्न दोनो प्रकार का सुरत श्रीमानो के लिए सामान्य बात थी । परकीया को स्वायत्त करने के लिये दूतियो का अत्यधिक प्रयोग किया जाता था । समाज मे ऐसी भी स्त्रिया विद्यमान थी जिनका व्यवसाय ही स्त्रियो को फसाकर विलासियो की विलास-वासना पूर्ण करना था । ऐसी स्त्रिया अधिकतर निम्नजाति की होती थी । बिहारी ने तथा दूसरे रीति-काल के कवियो ने दूतियो का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन किया है । सम्पन्न परिवार मे आभूषणो का बहुत अधिक महत्त्व था और आभूषण अधिकतर सोने के पहने जाते थे । बिहारी ने सोने के आभूषणो का कई दोहो मे वर्णन किया है । ये आभूषण जडाऊ भी होते थे और उनमे नगो का उपयोग भी बहुलता से किया जाता था । अधिक सम्पन्न घरानो मे स्वर्ण के स्थान पर माणिक्य और कर्पूर मणि इत्यादि रत्नो का भी प्रयोग किया जाता था । बिहारी ने अग-प्रत्यग के आभूषणो का भी वर्णन किया है, जिससे हमे प्राय प्रत्येक अग मे पहने जाने वाले आभूषणो का पता चल जाता है । बिहारी ने निम्नलिखित आभूषणो का वर्णन किया है —

क्र० सं०	अग	आभूषण	विशेष
१.	ललाट	टीका	यह कई एक रगो के नगो से जडा जाता था ।

२	कान	खुभी	यह भाले के आकार की होती थी।
		तर्योना या तरिवन	यह लाल रग की चुन्नियो से जडा जाता था और कपोलो पर शोभित होता था।
		मुरासा	इसमे मोती जडे जाते थे।
३.	नाक	वेसरि	इसमे मोती जडे जाते थे और इसकी छाया ओठो पर पडती हुई वडी सुन्दर प्रतीत होती थी।
		सीक	यह सोने की वनी होती थी तथा मणि से जडी जाती थी।
४.	कठ	गुलीवद	यह कठ मे पहिना जाता था और कठ तक ही सीमित रहता था।
		उरवसी	यह कठ मे पहनी जाती थी और छाती पर रहती थी। यह सोने की भी वनती थी और माणिक्य आदि रत्नो की भी।
५	कमर	किंकिणी	इसमे वजने वाली घटिया लगी रहती थी।
६	हाथ	छला	यह छिगुनी तथा दूसरी उगलियो में पहना जाता था।
७.	पैर	मजीर	इसमे वजने वाले घु घरू डाले जाते थे।
८	पैर का अगूठा	अनवट	यह भी जडाऊ होता था।

उक्त स्वर्णाभरणो के अतिरिक्त आभूषणो मे पुष्पो का भी अधिक महत्त्व था। विहारी ने मालती की माला का उल्लेख किया है। इसी प्रकार घु घची, मौलश्री, कुमुदिनी, पोथ इत्यादि के माला धारण करने की भी वहुत अधिक प्रथा थी। मोती, सीप इत्यादि की भी माला धारण की जाती थी। इनमे से अनेक माला पुरुषो द्वारा भी धारण की जाती थी।

विहारी ने आभूषणो मे सवसे अधिक वेंदी का वर्णन किया है। वेंदी कई प्रकार की धारण की जाती थी। एक ओर पाच रग के रत्नो की वेंदी धारण की जाती थी और दूसरी ओर साधारण स्त्रिया सनके फूलो को ही वेंदी के स्थान पर प्रयुक्त कर सतोप लाभ करती थी। भोडर की वेंदी भी वहुत अधिक पहिरी जाती थी।

दाम्पत्य जीवन के आमोद-प्रमोदो मे मदिरा का भी वहुत वडा स्थान था। श्रीमानो के घरोमे मदिरा-पान वहुलता से किया जाता था। विहारी ने अपनी सूक्तियो

मे भी कही भी मदिरा के दुर्गुणो का उल्लेख नही किया है। सर्वत्र मदिरा के आनन्द का ही वर्णन पाया जाता है।

उस समय पर्दा प्रथा प्रचलित थी। वधुयें घू घट काढती थी। विहारी ने एक दोहे मे बुरके का भी उल्लेख किया है। विहारी ने कई दोहो मे घू घट का वर्णन किया है .—

छिप्यौ छबीलौ मुंहु लसै नीलै अंचर चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै कालिंदी के नीर।।

इसी प्रकार —

डारी सारी नील की ओट अचूक चुकै न।
मो मन-मृगु करबर गहैं अहे ! अहेरी नैन।।

विहारी सतसई से उस समय के कतिपय रीति-रिवाजो पर भी प्रकाश पडता है। निम्नलिखित दोहे मे पाणिग्रहण सस्कार का वर्णन किया गया है :—

स्वेद-सलिलु रोमांच कुसु गहि दुलही अरु नाथ।
दियौ हियौ सँग हाथ कैं हथलेयैं हीं हाथ।।

नवागत वधू की विदा के समय पर तथा दूसरे त्योहारो मे नाइनें पैर धोने के लिए आया करती थी। जब वधू पहली बार घर आती थी तब उसको घर भर की बडी-बूढी स्त्रिया मु ह देखने के उपलक्ष मे कुछ-न-कुछ भेंट दिया करती थी नवागत वधू प्रथम बार शुभ मुहूर्त मे भोजन बनाती थी और घर के बडे-बूढे प्रथम बार भोजन करने के उपलक्ष्य मे उसे कुछ-न-कुछ भेंट देते थे। इस प्रथा को आज कल वर्तन छूना कहते है। सौभाग्य-चिह्न के रूप मे हिन्दू-स्त्रिया चूडी और मुसलमान स्त्रिया चादर धारण करती थी।

समाज मे अन्ध-विश्वास का पर्याप्त प्रसार था। भूत, प्रेत, चुडैल इत्यादि पर विश्वास किया जाता था। जादू टोना का प्रयोग स्त्रिया किया करती थीं। विहारी ने मोहन और वशीकरण का उल्लेख किया है। एक दोहे मे 'टोने लोने नैन' शब्द का प्रयोग किया गया है, इससे ज्ञात होता है कि मोहन मे नमक का प्रयोग किया जाता था और यह प्रयोग जब विपरीत हो जाता था तब प्रयोक्ता पर ही प्रभाव जमाता था। एक दोहे मे मूठ मारने का भी उल्लेख है। तन्त्र शास्त्र के अनुसार आवश्यकतानुरूप किसी पदार्थ को हाथ मे लेकर तथा अभिमन्त्रित कर प्रयोज्य पर छोड दिया जाता है, जिससे मारण, मोहन, उच्चाटन इत्यादि कार्य सम्पन हो जाते हैं। विहारी ने दृष्टि लगने की ओर भी सकेत किया है और उसका निराकरण डिठौने के द्वारा होना वतलाया है। किसी की सुन्दरता इत्यादि को जब कोई व्यक्ति ईर्ष्या तथा आश्चर्य की मिश्रित भावना से देख लेता है तब वह व्यक्ति रुग्ण हो जाता है। यदि मस्तक मे काला टीका लगा दिया जावे तो दृष्टि नहीं लगती। आजकल यह टीका बच्चो को लगाया जाता है। किन्तु विहारी ने युवतियों के

डिठौना लगाने का वर्णन किया है। इसी प्रकार अग स्फुरण तथा दूसरे शकुनो पर भी विश्वास किया जाता था। आजकल जब किसी की कोई वस्तु चोरी जाती है तब वह उसको ज्ञात करने के लिये लोगो के अन्धविश्वास का सहारा लेता है और चावल खिलाकर चोरी ज्ञात करता है। बिहारी ने मन्त्र की कटोरी का वर्णन किया है। इस कटोरी मे अभिमन्त्रित जल रहता था और मण्डलाकार बैठे हुए सन्दिग्ध व्यक्तियो की ओर यह कटोरी मत्र द्वारा सञ्चालित की जाती थी तथा चोर के सामने यह कटोरी स्वत रुक जाती थी। इस प्रकार समाज मे अन्धविश्वास पूर्ण अधिकार किये था।

इस समय समाज मे आमोद-प्रमोद के भी अनेक साधन विद्यमान थे। पतग उडाने की प्रथा सर्वसाधारण मे प्रचलित थी। बिहारी सतसई मे कई एक खेलो का उल्लेख पाया जाता है। छोटे बच्चे चोरमिहिचनी खेल खेलते थे। इसी प्रकार फिरकी, चकई तथा लट्टू नचाने का भी वर्णन मिलता है। शिकार खेलना श्रीमानो तथा बडे लोगो का एक आमोद-प्रमोद था। बिहारी ने चौगान नाम के एक खेल का भी वर्णन किया है, जो आजकल के पोलो खेल के समान घोडे पर चढ कर खेला जाता था और इस कार्य के लिये घोडे को विशेष प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाता था। घोडो का नचाना और उनको विशेष प्रकार से लेकर चलना भी बडे लोगो के आमोद-प्रमोद का साधन था। सामूहिक आयोजन भी होते थे और मेले भी लगते थे। इन अवसरो पर नृत्य-गान का प्रबन्ध किया जाता था। नर्त्तकियो का नृत्य आमोद-प्रमोद का एक सामान्य साधन था। शिकार खेलना, नाचना इत्यादि की व्यवस्थित शिक्षा दी जाती थी। अनेक प्रकार के गीतो का प्रभाव भी माना जाता था। हिडोला झूलना, पट्टेबाजी के खेल देखना और मदारियो की कलाबाजी का आनन्द लेना भी सामान्य आमोद-प्रमोद के साधन थे। बिहारी ने निम्नलिखित त्योहारो की ओर निर्देश किया है—

१ होली—इस प्रसग मे पिचकारी से रग खेलना, एक दूसरे पर गुलाल डालना इत्यादि रीतियो का वर्णन है। होली के दिनो मे चाचर खेलने की भी प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। हर्ष की रत्नावली मे भी कामदेवार्चन के प्रसग मे इसका उल्लेख पाया जाता है। बिहारी के एक दोहे मे भी इसकी ओर सकेत किया गया है। आजकल होली के दिनो मे एक प्रथा और है। प्राय वेश्यायें तथा दूरवर्ती गावो की निम्न जाति की स्त्रिया किसी नागरिक या अच्छे घराने के व्यक्ति को पकड लेती हैं और जब तक होली की कुछ भेंट ले नही लेती तब तक छोडती नही। इसको फगुआ की प्रथा कहा जाता है। बिहारी ने एक दोहे मे इस विधि का वर्णन किया है।

२ तीज पर्व—श्रावण मास का यह एक प्रसिद्ध पर्व है। इस दिन स्त्रिया शृ गार कर एक दूसरे से मिलती है, आमोद-प्रमोद मनाती हैं और झूला झूलती है। बिहारी ने इस पर्व का भी उल्लेख किया है।

३ श्राद्ध पक्ष—आश्विन कृष्ण-पक्ष श्राद्ध-पक्ष होता है। इसमे मृत पितरो का श्राद्ध-तर्पण किया जाता है। विहारी ने श्राद्ध मे कौओ को वलि खिलाने का वर्णन किया है।

४ दशहरा—आश्विन शुक्ल दशमी का प्रसिद्ध पर्व है। इस दिन नीलकण्ठ का देखना शुभ माना जाता है कहा जाता है कि इस दिन नीलकण्ठ कहीं छिपा रहता है और उसके दर्शन सरलता मे नही होते। विहारी ने इसी भाव को लेकर एक अन्योक्ति लिखी है।

५ गणेश पूजन—कार्तिक कृष्ण चतुर्थी को स्त्रिया गणेश पूजन किया करती हैं। दिन भर निर्जल व्रत किया जाता है और शाम को चन्द्र पूजन कर भोजन किया जाता है। विवाहित स्त्रियो के लिये यह व्रत अनिवार्य होता है। प्राचीन समय में विवाह प्राय थोडी आयु मे हुआ करते थे। अतएव नवोढाओ को यह व्रत करना कुछ कठिन हो जाता था। घर के लोग उन्हे प्रेम वश चन्द्र दर्शन के आग्रह से रोकते थे। विहारी ने दो दोहो मे इस भाव का वर्णन किया है।

६ सक्रान्ति—वैसे तो वर्ष मे १२ सक्रान्तिया होती है किन्तु सूर्य का मकर में सक्रमण अत्यन्त पुनीत माना जाता है और इसमे दान-दक्षिणा का वहुत वडा महत्त्व है। विहारी ने एक दोहे मे सक्रान्ति-काल के दान का महत्त्व वतलाया है।

इन त्यौहारो के अतिरिक्त विहारी ने रतजगे का भी उल्लेख किया है। जव कभी किसी घर मे विवाह इत्यादि होता है तो घर की स्त्रिया पास-पडोस की स्त्रियो के साथ मिलकर रात्रि-जागरण किया करती है और आमोद-प्रमोद मे लगी रहती हैं। यह प्रथा उस समय भी थी। उस समय धार्मिक क्षेत्र मे कुछ लोग योग-साधन भी किया करते थे। सकाम यज्ञ और होम भी होते थे और कुछ लोग माला के द्वारा मन्त्रो का जप भी करते थे। इस प्रकार बिहारी सतसई से हम उस समय का ठीक रूप मे सामाजिक चित्र प्राप्त कर सकते है।

व्यक्तिगत परिस्थितयां —

मध्ययुगीन अन्य कवियो की भाति विहारी का जीवन-वृत्त भी अनिश्चित है। इसको ज्ञात करने के लिये कल्पनाओ और अनुमानो का आश्रय लेना पडता है। निश्चायक उपकरणो को हम ६ भागो मे विभाजित कर सकते हैं। १ सतसई मे प्रत्यक्ष उल्लेख। २ टीकाकारो द्वारा सतसई के विभिन्न दोहो का जीवन-वृत परक नियोजन। ३ कतिपय प्रसिद्ध दोहे। ४ नवीन अनुसधान में उपलब्ध दोहा वद्ध जीवन-वृत्त। ५ विभिन्न साहित्यज्ञो द्वारा जीवन-वृत्त विपयक निर्देश और ६ अर्वाचीन आलोचको द्वारा निर्धारित जीवन चरित्र। निम्न पक्तियो में इन्ही आधारों पर विहारी के जीवन-वृत्त पर सक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।।

बिहारी सतसई मे केवल एक तत्त्व का प्रत्यक्ष उल्लेख है कि विहारी के आश्रयदाता महाराजा जयसिह थे और विहारी ने इन्ही की आज्ञा से सतसई की

रचना की थी। राजस्थान के इतिहास मे आमेर की गद्दी पर दो जयसिंह आसीन हुए थे। एक थे मिर्जा राजा जयसिंह, और दूसरे थे, सवाई जयसिंह। मिर्जा राजा जयसिंह जगतसिंह के पौत्र तथा मानसिंह के भाई थे तथा बीकानेर की राजकुमारी और जहागीर की पत्नी जोधाबाई के निर्देश पर मुगल-शासन के कृपापात्र बनकर आमेर की गद्दी पर बैठे थे। सवाई जयसिंह औरगजेब के शासन के ४४वें वर्ष (स० १७५५ वि०, सन् १६९९ ई०) मे आमेर की गद्दी पर बैठे थे। इसने ही जयपुर को बसाया था, बिहारी ने जयसिंह द्वारा बलख से सेनाओं के सकुशल निकाले जाने का भी उल्लेख किया है। यह घटना प्रथम जयसिंह मिर्जा राजा के समय की ही है जबकि मुरादबख्श और औरगजेब ये दोनो शाहजादे बलख मे फस गए थे, और शाहजहा बादशाह के निर्देश पर जयसिंह तथा जसवन्तसिंह ने फसी हुई मुगलो की सेना को सकुशल बाहर निकालने मे कुशलता का परिचय दिया था। इससे ज्ञात होता है कि बिहारी मिर्जा राजा जयसिंह (प्रथम जयसिंह) के ही दरबारी कवि थे, द्वितीय जयसिंह (सवाई जयसिंह) के नही।

बिहारी को आरम्भ से ही टीकाकारो के प्राप्त करने का सौभाग्य मिला था। कतिपय टीकाकार तो बिहारी के समय से कुछ ही बाद मे हुए थे। इन टीकाकारो ने बिहारी के कई दोहो का जीवन-वृत्तपरक अर्थ किया है। निस्सन्देह ये टीकाकार जनश्रुति तथा परपरागत जीवन-वृत्त से अधिक परिचित थे। अतएव उनकी योजनायें बहुत कुछ विश्वसनीय कही जा सकती हैं। निम्नलिखित दोहा बिहारी के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालने मे अत्यत महत्त्वपूर्ण माना जाता है —

प्रगट भए द्विजराज-कुल सुबसु बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेश सब, केसव केसवराइ॥

बिहारी के सर्वप्रथम टीकाकार कृष्णलाल कवि ने इस दोहे की व्याख्या मे लिखा है कि केशवराय बिहारी के पिता का नाम है। इसी प्रकार अनवर चन्द्रिका, रस-चन्द्रिका, लाल-चन्द्रिका, हरिप्रकाश की टीका इत्यादि मे भी केसवराइ यह बिहारी के पिता का निर्देश माना गया है। इस निर्देश से साहित्य-जगत् मे एक बहुत बडा विवाद उठ खडा हुआ कि, क्या प्रसिद्ध आचार्य केशव ही बिहारी के पिता थे। एक तो बिहारी के दोहो मे बुन्देलखडी भाषा के लखिबी, प्योसार इत्यादि कुछ शब्द पाये जाते हैं, दूसरे इनकी सतसई देखने से प्रकट होता है, कि बिहारी ने आचार्य केशव के काव्यशास्त्रीय ग्रथो को भली-भाति पढ़ा था, और उनसे प्रभावित भी हुए थे। इसके अतिरिक्त बिहारी ने उक्त दोहे मे बडे गौरव और पूज्य-बुद्धि से अपने पिता का स्मरण किया है, इससे भी यही सिद्ध होता है, कि इनके पिता प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। कुलपति मिश्र बिहारी के भानजे कहे जाते हैं। इन्होने केशवराय का इन शब्दो मे स्मरण किया है —

कविवर मातामह सुमिरि केसव केसवराइ।
करौं कथा भारत्थ की भाषा छद बनाइ॥

इससे भी यही सिद्ध होता है कि, विहारी के पिता केशवराय एक प्रतिष्ठित कवि थे। कहा जाता है कि, केशवदास के आश्रयदाता इन्दजीतसिंह का दरवार कवियो, गवैयो और नर्तकियो से भरा हुआ था। राय प्रवीण वेश्या का उल्लेख इनके दरवार मे पाया ही जाता है। सम्भवत विहारी का निम्नलिखित दोहा इसी तथ्य से प्रभावित है —

सब अँग करि राखी सुघर नाइक नेह सिखाइ।
छवि जुत लेति अनन्त गति पुतिरी पातुर-राइ॥

यहा पर 'राइ' शब्द सम्भवत राय प्रवीण की ओर सकेत करता है।

विहारी के एक दोहे मे इन्दजीतसिंह के पूर्वज मधुकर शाह की ओर सकेत भी किया गया वतलाया जाता है। असनी के ठाकुर की सतसैया वर्णार्थ टीका मे दिये हुए विहारी के जीवन-वृत्त से प्रकट है कि विहारी की पत्नी कवयित्री थी। प्राचीन सग्रहो मे केशव की पुत्र-वधू नाम की किसी कवयित्री का उल्लेख है। कहा जाता है कि केशव की रसिक-प्रिया से इनके पुत्र पूर्ण रूप से विषय-वासना मे फस गये। तव उससे उन्हें छुडाने के लिए केशव ने विज्ञान-गीता लिखी। इस पुस्तक का प्रभाव केशव के पुत्र पर इतना अधिक पडा कि वे निरन्तर पुस्तक को वगल मे दवाये घूमने लगे और एकमेवाद्वितीयम् का पाठ पढने लगे। इस पर केशव की पुत्र-वधू ने वकरे पर ढालकर एक कवित्त वनाया तव केशव ने अपनी पुत्र-वधू का मन्तव्य समझकर अपने पुत्र को फिर राग प्रवृत्त किया। इन सव घटनाओ के आधार पर विहारी को प्रसिद्ध आचार्य केशव का पुत्र सिद्ध किया जाता है। किन्तु विहारी को प्रसिद्ध आचार्य केशव का पुत्र मानने मे दो आपत्तिया है। एक तो आचार्य केशव का जन्म स० १६१२ माना जाता है, और विहारी का १६६० इसका अर्थ यह है कि केशव की ४८ साल की आयु मे विहारी का जन्म हुआ होगा। यद्यपि ४८ वर्ष की आयु मे केशव के पुत्र जन्म होना असम्भव तो नही है पर कठिन अवश्य है। क्योकि यह तो सिद्ध ही है कि केशव अपनी वृद्धावस्था मे विरक्त हो गये थे। दूसरी वात यह है, कि केशव और विहारी दोनो ही हिन्दी-साहित्य के महान कवियो मे हैं। इनका पिता-पुत्र सम्वन्ध हो और आज तक यह तथ्य सर्वथा अज्ञात रहा हो, यह वात कुछ जचती नहीं। फिर भी इस विपय मे विशेप अनुसधान की आवश्यकता है और जव तक इस विपय मे पुष्ट-प्रमाण प्राप्त न हो जावें विहारी को प्रसिद्ध केशव का पुत्र नही माना जा सकता। हा, इतना तो सिद्ध ही है कि यदि विहारी के पिता कोई अन्य केशवराय रहे होगे तो भी के ओडछा जाकर कुछ समय रहे अवश्य होगे और वहा प्रसिद्ध आचार्य केशव से इनका साक्षात्कार अवश्य हुआ होगा। केशव की रचना का विहारी पर जो प्रभाव पडा है उसको देखने से भी यही प्रतीत होता है कि विहारी का केशव से किसी-न-किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्वन्ध अवश्य रहा होगा, फिर वह चाहे ग्रन्थो के माध्यम से ही क्यो न रहा हो।

विहारी का दूसरा दोहा, जिसका नियोजन जीवन-वृत्त परक किया जाता है यह है :—

जम-करि-मुँह-तरहरि पर्यौ इहिं धरहरि चित लाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ॥

इस दोहे मे स्वामी नरहरिदास का उल्लेख वतलाया जाता है, और कहा जाता है, कि स्वामी नरहरिदास विहारी के गुरु थे। यह स्वामी नरहरिदास हरिदास जी के सम्प्रदाय के महात्मा थे और महन्त हो गये थे। हरिदास जी के सम्प्रदाय का एक प्रसिद्ध ग्रथ है निजमत सिद्धान्त। इस पुस्तक से नरहरिदास जी के विषय मे वहुत कुछ प्रकाश पडता है। उक्त पुस्तक के अनुसार नरहरिदास जी का जन्म १६४० मे हुआ था। ये वुन्देलखड मे दास नदी के किनारे गुढौ गाव मे रहते थे। ये वचपन से ही साधु-सन्तो की सेवा-शुश्रूषा करते थे, और वहुत थोडी आयु मे महात्मा के रूप मे प्रसिद्ध हो गये थे। सवत् १६६५-६६ मे वृन्दावन के निधुवन के महन्त स्वामी सरसदेव जी देशाटन करते हुए वुन्देलखड आये, और नरहरिदास को अपना शिष्य वना लिया। सवत १६७५ मे स्वामी नरहरिदास जी अपने गुरु के पास वृन्दावन चले गये और सम्वत् १६८३ मे अपने गुरु की गद्दी पर वैठे तथा स० १७४१ तक विद्यमान रहे।

निजमत सिद्धान्त पुस्तक मे स्वामी नरहरिदास के शिष्यो मे एक केशवराय का भी उल्लेख है। ज्ञात होता है कि विहारी के पिता स्वामी नरहरिदास के शिष्य हो गये थे और उन्होने उन्ही महात्मा से विहारी को मत्रोपदेश कराया था। उक्त पुस्तक से ही स्वामी नरहरिदास के यहा ओरछा के राजा का भी आना-जाना सिद्ध होता है। यदि महाराज इन्दजीतसिंह उक्त स्वामी जी के यहा आते-जाते रहे होंगे तो उनके साथ आचार्य केशव का सपर्क अवश्य हुआ होगा। ऐसी दशा मे आचार्य केशव का विहारी के पिता होने मे एक और प्रमाण प्राप्त हो जाता है। केशव लिखित वीरसिंह देव चरित्र से ज्ञात होता है कि सवत् १६६३ के आस-पास मुगल शासक की सहायता से वीरसिंह देव ने ओरछा के तत्कालीन राजा रामसिंह को पराजित कर दिया था। इसके वाद केशव की प्रतिष्ठा यदि समाप्त नही हो गई हो तो न्यूनातिन्यून अवश्य हो गई। उधर प्रसिद्ध प्रेतयज्ञ मे केशव के निकतवर्ती सभी इष्टमित्र समाप्त हो चुके थे। अतएव सम्भव है कि आचार्य केशव अपने जीवन के अतिम भाग मे विरक्त होकर ओरछा छोडकर वृन्दावन चले गये हो और पूर्व परिचय के कारण स्वामी नरहरिदास के आश्रय मे रहने लगे हो। यह भी सभव है कि इन्ही दिनो विहारी के पिता भी वृन्दावन चले गये हो और वही विहारी की शिक्षा-दीक्षा सपन्न हुई हो। सम्भवत 'स्ववश वसे व्रज आइ' का विहारी का सकेत भी इसी दिशा मे हो।

विहारी का निम्नलिखित दोहा भी उनके जीवन की एक विशेष घटना की ओर सकेत करने वाला वतलाया जाता है —

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल ।
अली, कली ही सौं बँध्यो आगैं कौन हवाल ।।

कहा जाता है कि बिहारी ने यह दोहा चौहानी रानी तथा सभासदों के आग्रह पर महाराजा जयसिंह के प्रतिबोध के लिए बनाया था। महाराजा जयसिंह अपनी छोटी रानी के प्रेम मे ऐमे लिप्त हो गये थे कि सारा राज्य-कार्य छोड बैठे थे। इस दोहे का उन पर अभीष्ट प्रभाव पडा, और वे पुन राज्य-कार्य करने लगे। इसके बाद बिहारी उन्ही क दरबार मे रहने लगे और उन्ही के निर्देश पर सतसई की रचना की। कहा जाता है कि निम्नलिखित दोहा चौहानी रानी के गर्भ से कुँवर रामसिंह के जन्म पर बनाया गया था —

चलत पाइ निगुनी गुनी धनु मनि-मुत्तिय माल ।
भेंट होत जय साहि सौं भागु चाहियतु भाल ।।

कहा जाता है कि इस अवसर पर महाराजा जयसिंह ने बहुत अधिक दान दिया था और उनकी प्रशसा मे अन्य कवियो ने भी कवितायें बनाई थीं। निम्नलिखित दोहा जयसिंह के शीशमहल बनवाने के अवसर का है —

प्रतिबिंबित जयसाहि-दुति दीपति दरपन-धाम ।
सबु जगु जीतन कौं कर्‌यौ काय व्यूह मनु काम ।।

कहा जाता है कि बिहारी ने निम्नलिखित दोहा एक चित्र को देखकर बनाया था —

कहलाने एकत बसत अहि मयूर, मृग बाघ ।
जगतु तपोवन सौ कियौ दीरघ-दाघ निदाघ ।।

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे मारवाड मे लिखे हुए ही बतलाये जाते है —

विषम वृषादित की तृषा जिये मतीरनु सोधि ।
अमित, अपार, अगाध जलु मारौ मूड पयोधि ।।
प्यासे दुपहर जेठ के फिरे सब जलु सोधि ।
मरुधर पाइ मतीर हीं मारू कहत पयोधि ।।

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहा उनके ससुराल मे रहने के समय का बताया जाता है —

आवत जात न जानियतु, तेजहिं तजि सियरानु ।
घरहँ जँवाई लौं घट्‌यौ खरौ पूस-दिन-मानु ।।

बिहारी ने राजनीतिक घटना-चक्र के प्रभाव से जो दोहे लिखे हैं, उनका वर्णन राजनीतिक परिस्थिति मे किया जा चुका है। इसी प्रकार नागरिक जीवन की जटिलता तथा स्वार्थपरायणता से ऊबकर बिहारी ने अनेक नीति-सूक्तिया लिखी थीं, जिससे ज्ञात होता है कि इन्हें अपनी परिस्थिति से सन्तोष नही था।

कतिपय दोहे ऐसे भी हैं जो बिहारी कृत तो कहे जाते हैं पर विहारी सतसई मे सन्निविष्ट नही हो सके है। न दोहो से भी विहारी के जीवन पर कुछ प्रकाश पडता है।[1] निम्नलिखित दोहा विहारी के जन्म, बचपन तथा तारुण्य के स्थानो पर प्रकाश डालता हैं :—

जन्म ग्वालियर जानिये खड बुदेले बाल ।
तरुणाई आई सुखद मथुरा बसि ससुराल ॥

कहा जाता है कि एक वार आगरा मे विहारी प्रसिद्ध दानी तथा कवि अब्दुल रहीम खानखाना से मिले थे और अपना परिचय देते हुए उक्त दोहा पढा था। इसी के साथ दो दोहे और ये —

श्री नरहरि नरनाह कौं दोहीं बाहँ गहाइ ।
सगुन आगरें आगरे रहत आइ सुख पाइ ॥

इससे ज्ञात होता है कि इनके गुरु नरहरिदास ने मुगल वादशाह सम्भवत शाहजहा को इनकी बाह पकडा दी थी और उनके बाद यह शाही दरबार आगरा मे रहने लगे। निम्नलिखित दोहा खानखाना की प्रशसा मे बनाया गया था —

गग गौंछ मौंछे जमुन अधरन सरसुतिरागु ।
प्रकट खानखानान के कामद वदन प्रयागु ॥

कहते है कि उक्त दोहे पर प्रसन्न होकर रहीम ने कई हजार स्वर्ण मुद्रायें दी थीं। नि सदेह इन दोहो का वन्धन तथा रचना शैली विहारी की जैसी ही ज्ञात होती है। निम्नलिखित दोहे भी विहारा कृत ही कहे जाते है जो कि उन्होंने कुवर रामसिह के जन्म के अवसर पर वनाये थे और जिनमे चौहानी रानी की प्रशसा है तथा कुवर रामसिह को आशीर्वाद दिया गया है —

श्री रानी चौहानि को करतव देखि रसाल ।
फूलति है मन मे सिया पहिरि फूल की माल ॥
दान ज्ञान हरिध्यान सौं सावधान सव ठौर ।
श्री रानी चौहानि है रानिनु की सिरमोर ॥
नित असीस हौं देत हौं उर मनाइ जगदीश ।
राम कुँवर जयसिह को जीयो कोटि वरीस ॥

सतसई समाप्ति की तिथि के विपय मे निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है —

सवत ग्रह ससि जलधि छिति छठि तिथि वासर चद ।
चैत मास पख कृष्ण में पूरन आनन्द कन्द ॥

इस दोहे से ज्ञात होता है कि विहारी ने सतसई सवत् १७१९ चैत्र कृष्ण पष्ठी चन्द्रवार को सताप्त की। किन्तु प्राचीन टीकाओ के क्रमो मे इसका परिगणन

१—इन दोहों का उल्लेख, रत्नाकर ने 'कविवर विहारी' में किया है तथा कहीं-कहीं परिचयात्मक भूमिकाओं में भी इनका उल्लेख मिलता है।

नही किया गया है और न आजमशाही क्रम मे ही इसका उल्लेख है। यह दोहा केवल दो-एक टीकाओ मे पाया जाता है। कृष्णलाल की टीका तथा एक अर्वाचीन गद्य टीका मे इसका समावेश है। अतएव रत्नाकर ने इसे कृष्णलाल की टीका की समाप्ति का माना है। शेष टीकाकारो ने भ्रमवश इसे बिहारी कृत दोहो मे सन्निविष्ट कर दिया।

श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने 'कविवर विहारी' मे विहारी के दो दोहे-बद्ध जीवन-चरित्रो का उल्लेख किया है। एक विहारी विहार के प्रारम्भ मे जुडा हुआ था और दूसरा श्री देवकीनन्दन की वर्णार्थ प्रकाशिका टीका मे प्रारम्भ मे। प्रथम जीवन चरित्र स्वय विहारी कृत के रूप मे ही लिखा है। उससे निम्नलिखित तथ्यो का पता चलता है —

विहारी के पितामह का नाम वासुदेव और पिता का नाम केशव देव था। ये मथुरा निवासी छ घरा माथुर चौवे थे। इनकी ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा थी और तीन प्रवर थे, इनका जन्म स० १६५२ कार्तिक शु० अष्टमी बुधवार श्रवण नक्षत्र मे हुआ था। ११ वर्ष की आयु मे ये वृदावन गये और वहा टट्टी आश्रम मे हरिदास महत नरहरिदास से मिले तथा उनकी प्रेरणा पर वही रह कर विद्याध्ययन करने लगे। वहा इन्होने अपनी भाषा तथा सस्कृत का अध्ययन किया। वहा पर एक वार शाहजहा वादशाह आये। इनको इन्होने अपनी कविता सुनाई जिस पर प्रसन्न होकर वादशाह इन्हे आगरा ले गया। वहा इन्होने फारसी गजल, गीत, शेर इत्यादि का अध्ययन किया। वहा यह वहुत समय तक रहे। एक वार शाहजहा के पुत्र-जन्मोत्सव पर वहा भारत के ५२ राजा एकत्र हुए। शाहजहा की प्रेरणा पर विहारी ने उन राजाओ को कविता सुनाई। इस सभा मे विहारी का वहुत अधिक सम्मान हुआ और ५२ राजा लोगो ने विहारी को प्रमाण पत्र दिये और वर्षाशन वाध दिये। एक वार वर्षाशन लेने विहारी आमेर के राजा जयसिह के यहाँ गये। उस समय राजा नवोढा रानी के चक्कर मे थे। विहारी के दोहे के प्रभाव से पुन राजा राज्य करने मे लग गये और विहारी को और दोहे वनाने का आदेश दिया। विहारी ने वहा पर रहते हुए सतसई की रचना की। विहारी को प्रत्येक दोहे पर एक मोहर मिलती थी। यद्यपि सतसई मे अनेक रस रखे गये तथापि राजा जयसिह की भावना के अनुसार उसमे शृगार का ही प्राधान्य रहा। सतसई की रचना केवल दो महीने मे हुई। इसके वाद विहारी जयसिह की आज्ञा पाकर मथुरा चले गये। यद्यपि विहारी ने अनेक राजाओ के यहा कविता वनाई, पर जैसा सम्मान इन्हे जयसिह के यहा प्राप्त हुआ वैसा अन्यत्र नही। इसके वाद विहारी वृन्दावन मे रहकर कृष्णोपासना मे लग गये और कविता करना छोड दिया। सवत् १६२१ चैत्र मास शुक्ल-पक्ष सप्तमी सोमवार को विहारी का देहान्त हो गया।

इस दोहावद्ध जीवन-चरित्र की सभी घटनाए सभव तथा प्रसिद्ध हैं। किन्तु इन दोहो मे विहारी की प्रतिभा के दर्शन नही होते। साथ ही इसमे विहारी की

मत्यु का भी वर्णन है। ज्ञात होता है कि किसी जानकार व्यक्ति ने दोहावद्ध जीवन चरित्र बिहारी के नाम पर लिख दिया होगा। श्री देवकीनन्दन जी के वर्णार्थ प्रकाशिका टीका मे दिये हुए बिहारी के दोहावद्ध जीवन चरित्र का साराश यह है —

बिहारी नाम का एक कुलीन ब्राह्मण ब्रज मे रहता था। उसकी पत्नी कविता करने मे निपुण थी। बिहारी नित्य राजा जयसिंह से दक्षिणा लाकर गृहस्थी का काम चलाते थे। राजा जयसिंह ने नई रानी से विवाह किया था। जिसके वश मे पडकर वह और सब कुछ भूल गये। इसलिये एक दिन बिहारी को विमुख लौटना पडा तव बिहारी की स्त्री ने दोहा लिखकर दिया और बिहारी ने दासी के द्वारा राजा के पास पहु चा दिया। इससे राजा को प्रवोध हो गया और पुन राज्य का कार्य देखने लगे। उक्त दोहे पर राजा ने बिहारी को अजलि भर मोहरें दी और उसी प्रकार के दूसरे दोहे वनाने पर प्रति दोहा एक मोहर का वचन दिया। बिहारी की पत्नी ने १४०० दोहे वनाये जिस पर १४०० मोहरें पुरस्कार रूप मे प्राप्त हुई। उनमे से ७०० दोहे छाट कर सतसई की रचना की गई। महाराजा जयसिंह ने सतसई की कई प्रतिया करवाई जिन मे एक बिहारी को भी दी तथा एक गाव भी पुरस्कार मे दिया। बिहारी अपनी पत्नी के परामर्श से सतसई लेकर छत्रसाल के यहा गये। छत्रसाल ने परीक्षा के लिए प्राणनाथ को सतसई दे दी। प्राणनाथ निर्गुणोपासक थे। अत उन्होंने सतसई को अश्लील वतलाया। इस पर बिहारी की पत्नी ने छत्रसाल से कहला कर भेजा कि प्राणनाथ की पुस्तक के साथ सतसई पन्ना के युगल किशोर के मन्दिर मे रख दी जावे और रात मे मन्दिर मे कोई न रहे जिस पुस्तक मे रात मे श्री युगल किशोर के हस्ताक्षर हो जावें, 'वही पुस्तक शुद्ध तथा दूसरी अशुद्ध मानी जावे। हस्ताक्षर बिहारी की सतसई पर हुए। बिहारी इस पर अत्यन्त सन्तुष्ट होकर राजा से विना विदा लिये घर चले आये और अपनी पत्नी से सारा समाचार कह सुनाया। जव छत्रसाल ने यह सुना कि बिहारी विना पुरस्कार लिये घर चले गये हैं तो अत्यन्त सन्तोपी समझकर वडे प्रसन्न हुए और वहुत वडी सम्पत्ति, ५ गाव हाथी, घोडे, पालकी, भूपण और वस्त्रो को दान पत्र पर लिखकर बिहारी के पास भेज दिया तथा उन्हे अपने यहा बुलाया। बिहारी की स्त्री ने सभी दान लौटते हुए यह दोहा लिख भेजा -

तौ अनेक औगुन भरिहिं चाहै याहि वलाइ।
जौ पति सम्पतिहू विना जदुपति राखे जाइ॥

प्राणनाथ ने भी बिहारी को वुलवाया था। उसके उत्तर मे बिहारी की पत्नी ने यह दोहा लिख भेजा —

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन-विस्तारन-काल।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि चग रग भूपाल॥

इन उत्तरो को पाकर छत्रसाल तथा प्राणनाथ अत्यन्त लज्जित हुए । जब यह समाचार जयसिंह को मिला तो जयसिंह ने कई ग्रामो की राजलक्ष्मी देकर विहारी का सम्मान किया । विहारी की पत्नी पतिव्रता थीं । अत उसने अपने नाम से नहीं विहारी के नाम से सतसई को प्रसिद्ध कराया ।

यह जीवन चरित्र सस्कृत कवियो की कई एक गाथाओ के आधार पर कल्पित कर लिया गया है । इसमे सत्य का अश केवल इतना ही है कि विहारी की पत्नी भी कवयित्री थी । सम्भव है सतसई की रचना मे उसका भी कुछ योग-दान रहा हो ।

विभिन्न साहित्यज्ञो द्वारा जीवन-वृत्तविपयक निर्देश तथा अर्वाचीन आलोचको द्वारा वर्णित विहारी के जीवन वृत्त से निम्नलिखित तथ्यो पर प्रकाश पडता है —

१ विहारी का जन्म स० १६५२ मे धौम्य गोत्री सोती घरवारी माथुरो के वश मे ग्वालियर मे हुआ था । इनके पिता का नाम केशवराय था जो स्वय अच्छे कवि थे । इनके एक भाई और एक वहन थी ।

२ इनके पिता इनके जन्म से कुछ समय वाद ओरछा चले गये और वहा निधुवन की गद्दी के महन्त श्री सरसदेव जी के शिष्य श्री नरहरिदास जी के शिप्य हो गये । नरहरिदास उस समय गुढो ग्राम मे रहते थे ।

३ सवत् १६६४ मे ओरछा का राग-रग नप्ट हो जाने से इनके पिता वृन्दावन जाकर रहने लगे ।

४ विहारी का विवाह माथुर चौवे लोगो के घराने मे हुआ था । विवाह के वाद यह अपनी ससुराल मे ही रहते रहे ।

५ सवत् १६७५ मे शाहजहा वादशाह स्वामी हरिदास जी के स्थान के दर्शन करने आया । वहा महन्त के निर्देश से विहारी ने शाहजहाँ को कविता सुनाई और शाहजहा प्रसन्न होकर विहारी को आगरा ले गया । वहुत समय तक यह वहीं रहते रहे ।

६ विहारी ने नरहरिदास जी के आश्रय मे भापा और सस्कृत तथा अनेक शास्त्रो का व्यवस्थित अध्ययन किया और आगरा मे अरवी, फारसी तथा गजल शेर इत्यादि का अध्ययन किया ।

७ शाहजहा के यहा पुत्र जन्मोत्सव मे भारत के अनेक राजा लोग आये और उन्होंने विहारी की कविता से प्रसन्न होकर वर्पाशन वाध दिया तथा प्रमाण-पत्र दिये ।

८ विहारी वर्पाशन लेने आमेर गए हुए थे, जवकि राजा जयसिंह के प्रवोध के लिए इन्हे एक दोहा लिखना पडा ।

९ इसके वाद ये आमेर के राजघराने मे भी रहे और राजा जयसिंह के निर्देश पर ही सतसई की रचना की ।

१० इन्हे शहरी जीवन की कृत्रिमता तथा दिखावटी व्यवहार के अनेक कटु अनुभव हुए थे और लोगो की हृदयहीनता से अनेक वार इन्हे व्यथा हुई थी।

११ इन्हे ग्राम जीवन की सादगी और सच्चाई पसन्द तो थी, किन्तु वहा गुण-ग्राहक की कमी इन्हें अखरती थी।

१२ सम्भवत ये सवत् १७२१ तक वर्तमान रहे।

व्यक्तिगत जीवन का विहारी के काव्य पर प्रभावः—

विहारा ने अपने जीवन के विभिन्न अवसरो पर जो विभिन्न दोहे लिखे ये उनका निर्देश पहले किया जा चुका है।

उपर्युक्त सक्षिप्त परिचय से प्रगट होता है कि विहारी का जीवन प्रवानतया ४ स्थानो पर व्यतीत हुआ था। वु देल खण्ड, मथुरा, आगरा और जयपुर। वु देल खण्ड मे इनका वचपन व्यतीत हुआ था। उस समय इन्होने वहा जो भापा सीखी थी परिस्थितियो के बदल जाने के वाद भी इनकी भापा पर उसका स्थायी प्रभाव रहा और इनकी भापा मे स्थान-स्थान पर हमे वु देल-भापा की छाप दिखलाई पडती है। 'लखिवी', 'व्योरति' इत्यादि क्रियायें 'स्यौं ज्यौं' 'कौं' 'प्यौसार' इत्यादि शव्द वु देल-भापा के ही हैं। इसके अतिरिक्त इनका आचार्य केशवदास तथा इन्द्र-जीत के राज घराने से निकटवर्ती सम्पर्क रहा था। यही कारण है कि हमे इनके एक दोहे मे मधुकर शाह की ओर सकेत मिलता है तथा एक दूसरे दोहे मे प्रवीण राय पातुर का मकेत मिलता है। विहारी सतसई पर केशव का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। इनके कई दोहो का भाव केशव की 'राम-चन्द्रिका', 'कवि-प्रिया' और 'रसिक-प्रिया' के पद्यो से मेल खा जाता है।

विहारी का तारुण्य मथुरा मे व्यतीत हुआ था। यही निधुवन आश्रम मे नरहरि दास के यहा उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी और यही उनकी समुराल भी थी, जहा वे स्थायी रूप से रहने लगे थे। हरिदास के सम्प्रदाय मे सगीत, वादन, चित्र इत्यादि कलाओ का और काव्य का प्राधान्य रहता है। यही कारण है कि विहारी के काव्य मे सस्कृत भापा के प्रौढ पाण्डित्य के साथ अनेक शास्त्रो का ज्ञान तथा कलाभिज्ञता का परिचय प्राप्त होता है। सम्भवत मुगल दरवार मे भी विहारी का कुछ समय व्यतीत हुआ था। यहा विहारी ने अरवी, फारसी का कुछ ज्ञान प्राप्त किया था। इसका प्रभाव विहारी के काव्य पर भी पडा है। अनेक राजाओ के मम्पर्क मे आने के कारण तत्कालीन राजघरानो की नीति-रीति, आचार-व्यवहार, मृगया, राज्य के अग और तत्कालीन राजनैतिक घटना-चक्र का भी परिचय प्राप्त होता है। विहारी वहुत दिनो तक ससुराल मे रहे थे। यही कारण है कि ससुराल मे रहने के दोपो का विहारी को भली-भाति ज्ञान हो गया था। इसके अतिरिक्त ये जोधपुर भी गये थे और वहा की पानी की विकट समस्या का भी सामना करना पडा था। अपने समय के राजकीय पदो पर कार्य करने वाले व्यक्तियो के

बदलते हुए भाग्य को इन्होने देखा था। अयोग्य व्यक्तियो के उत्थान और योग्य व्यक्तियों के पतन का भी इन्होने सखेद अवलोकन किया था। धार्मिक सघर्ष भी अपने विकराल रूप मे इनके सामने आया था और धार्मिक एकता की दिशा मे चलने वाले आन्दोलन का भी इन्होने गम्भीरतापूर्वक मनन किया था। इन सब बातो का इनकी कविता पर स्थायी प्रभाव पडा और अनेक दोहो मे ये भावनायें अन्तर्निहित पाई जाती है।

द्वितीय अध्याय

काव्य शास्त्रीय परम्परा और बिहारी

प्रस्तुत रचना के प्रथम खण्ड मे मुक्तक काव्य का विश्लेषण तथा विभाजन किया जा चुका है। इस विभाजन मे वस्तुतत्त्व को ही आधार माना गया है और उसी दृष्टि से मुक्तक काव्य-परम्परा का विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। अतएव इस परम्परा को हम वस्तुमूलक परम्परा कह सकते हैं।

उक्त परम्परा के अतिरिक्त एक दूसरी परम्परा और है। भारतीय अलकार-शास्त्र मे जहा एक ओर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्य की पृष्ठ-भूमि का विवेचन और विश्लेषण किया गया वहा उसके सीमा विस्तार पर भी विशेष ध्यान रखा गया। उस समय के मुक्तको का मूल प्रवृत्ति-निमित्त क्या था? काव्य मे वर्ण्य विषय की सीमायें क्या थीं ? काव्य मे भावाभिव्यक्ति का माध्यम क्या था ? काव्य का आदर्श क्या था ? काव्य के प्रमुख तत्त्व कौन-कौन थे ? उनके महत्त्व का तारतम्य क्या था ? इत्यादि प्रश्नो का उत्तर प्राप्त करने के लिये भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन अपरिहार्य है। हमारे आचार्यो ने काव्य की अनेक मौलिक रचनाओ का अनुसन्धान कर जिस रूप मे काव्य-शास्त्र का प्रवर्तन किया था उससे एक ओर काव्य शास्त्र की पृष्ठ-भूमि का ठीक परिचय प्राप्त होता है और दूसरी ओर परवर्ती कवियो के लिये मार्ग-दर्शन का कार्य भी सम्पन्न हो जाता है। परवर्ती कवि अधिकतर काव्य-शास्त्र के नियन्त्रण मे रह कर कविता किया करते थे। इस प्रकार जहा एक ओर काव्य-शास्त्र का प्रवर्तन लक्ष्य परीक्षा के आधार पर हुआ है वहा दूसरी ओर परवर्ती रचनाओ पर इस शास्त्र का पर्याप्त नियन्त्रण भी रहा है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि काव्य-शास्त्र और कुछ नही भारतीय काव्य-परम्परा का विश्लेषण मात्र है। आनन्दवर्धन ने लक्ष्य परीक्षा के आधार पर ही काव्य-शास्त्रीय अनेक सिद्धान्तो के प्रवर्तन की बात कही है। काव्य-शास्त्र में दो प्रकार के आचार्य हुए हैं —एक तो वे है जो अपने सिद्धान्तो की पुष्टि में उदाहरण के रूप मे दूसरो के पद्यो को उद्धृत किया करते हैं और दूसरे वे आचार्य हैं जो उदाहरणानुरूप काव्य की स्वय रचना कर लिया करते हैं। दोनो प्रकार के आचार्यो ने अधिकतर मुक्तक-काव्य को ही

अपनाया है। अतएव काव्य-शास्त्र को हम सामान्यतया काव्य-परम्परा और विशेष रूप मे मुक्तक काव्य परम्परा कह सकते है। यह परम्परा शास्त्रीय परम्परा के नाम से अभिहित की जा सकती है। परम्परा का यह प्रकार प्राचीन तथा प्रतिष्ठित प्रकार है। अतएव सर्वप्रथम इस परम्परा के आधार पर बिहारी का विवेचन किया जायेगा और यह देखने की चेष्टा की जायेगी कि बिहारी मे इस परम्परा का प्रतिफलन कहा तक हुआ है।

प्रस्तुत निवन्ध के छोटे मे कलेवर मे न तो साहित्यशास्त्र का पूर्ण परिचय दे सकना सभव ही है और न इसका यहा विशेष उपयोग ही है। इस विषय मे साहित्य-जगत् मे अनेक महत्त्वपूर्ण कृतिया प्रकाशित हो चुकी हैं। अतएव काव्य-शास्त्र का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिये उन्ही कृतियो का अध्ययन करना चाहिये। निम्नलिखित पक्तियो मे बिहारी के काव्य की महत्ता को समझने के लिये काव्य-शास्त्र की सक्षिप्त रूपरेखामात्र दी जावेगी।

भारतीय साहित्यशास्त्र के प्राय समस्त आचार्य इस विषय मे एकमत हैं कि काव्य का प्रधान उद्देश्य आनन्द-साधना ही है। काव्यप्रकाशकार आदि जिन आचार्यो ने काव्य के आनन्देतर उद्देश्यो का उल्लेख किया है उनके भी मत मे प्रधानता आनन्द-साधना को ही प्राप्त होती है। इस विषय मे मत-भेद नही है। काव्यप्रकाश-कार ने जहा यश इत्यादि को काव्य के प्रयोजनो मे परिगणित किया है वहा आनन्द को सर्व-प्रयोजन-मौलिभूत वतलाया है। भरत मुनि ने नाट्य को विनोद-जनन और दुःखित व्यक्तियो को आनन्द देने वाला कहा है तथा इसका प्रवृत्ति-निमित्त क्रीडनीयक की इच्छा को ही वतलाया है। वामन और हेमचन्द्र ने भी आनन्द को ही प्रधानता दी है। धनजय तो उन लोगो को दूर से नमस्कार करने को तैयार हैं, जो आनन्द साधना के अतिरिक्त दूसरे भी प्रयोजन माना करते हैं। इस प्रकार काव्य-साधना का प्रमुख प्रयोजन अथवा उद्देश्य आनन्द-साधना ही ठहरता है।

जिस प्रकार काव्य के प्रधान उद्देश्य को मानने मे मतभेद नही है उसी प्रकार आनन्द-साधना के मूल-भूत तत्त्वो मे भी मत-भेद नही है। (सक्षेप मे कहा जा सकता है कि रीति, वृत्ति, गुण, अलकार और रस ये ही आनन्द-साधना के प्रधान उपकरण हैं। किन्तु मत-भेद इन की प्रधानता के विषय मे है। जो आचार्य किसी एक तत्त्व की प्रधानता स्वीकृत करते हैं वे दूसरे तत्त्वो को गौण स्थान अवश्य देते हैं। जो आचार्य इन तत्त्वो से भिन्न किसी अन्य तत्त्व को काव्य का जीवन मानते हैं वे भी इन तत्त्वो को उचित स्थान देने की चेष्टा अवश्य करते है। उदाहरण के लिये अलकार-सप्रदायवादी रस को अलकार के अन्दर ले आते है और रस सप्रदाय वाले अलकार को रस का पोषक तत्त्व मात्र मानते है। काव्य-जीवन के विषय मे मत-भेद ही विभिन्न सप्रदायो के प्रवर्तन मे कारण हुआ है, जिनका सुव्यवस्थित इतिहास है। विद्वानो ने इस विषय मे पर्याप्त गवेषणात्मक पुस्तकें लिखी हैं प्रस्तुत

निवन्ध मे अनावश्यक विस्तारमय से तथा अनपेक्षित होने के कारण अलकार-शास्त्र की विस्तृत परपरा नही दी जावेगी केवल प्रमुख सप्रदायो का ही यहा सक्षिप्त परिचय कराया जावेगा

विद्वानो ने काव्य-शास्त्र के इतिहास को चार भागो मे विभाजित किया है[1]—

(अ) प्रारम्भिक काल—भामह तक।
(आ) रचनात्मक काल—भामह से आनन्दवर्धन तक।
(इ) निर्णयात्मक काल—आनन्दवर्धन से मम्पट तक।
(ई) व्याख्या काल—मम्मट से जगन्नाथ तक।

आरम्भिक काल की कोई विशिष्ट रचना अभी तक उपलब्ध नही हो सकी है किन्तु अनेक स्थानो पर काव्य-शास्त्र और साहित्य-विद्या का उल्लेख पाया जाता है। पाणिनि ने उपमा के सभी अवयवो का उल्लेख किया है। यास्क ने ५ प्रकार की उपमा वतलाई है। राजशेखर ने काव्य-शास्त्र के जिन आचार्यों का उल्लेख किया है, उनमे कतिपय आचार्यो का उल्लेख काम-सूत्रो मे भी पाया जाता है। यत्र-तत्र कतिपय प्राचीन आचार्यों का उल्लेख भी मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि अति प्राचीन-काल मे अलकार शास्त्र किसी न किसी रूप मे अवश्य विद्यमान था। यह समस्त साहित्य अकाल मे ही काल-कवलित हो गया और आज हमे उस विशाल साहित्य-सागर का एक विन्दु भी अधिगत नही होता।

काव्यशास्त्र का व्यवस्थित इतिहास भामह और दण्डी से प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम हमे तीन महान् आचार्यों के दर्शन होते है—भरत मुनि, भामह और दण्डी। तीनो ही आचार्य पृथक्-पृथक् तीन सप्रदायो मे रखे जाते है। भरत मुनि रस शास्त्र के आचार्य है, भामह अलकार सम्प्रदाय के, और दण्डी रीति-सम्प्रदाय के। प्रारम्भ मे रस की प्रधानता नाट्य के प्रसग मे मानी जाती थी और अलकार की प्रधानता काव्य के सम्बन्ध मे। नाट्य और काव्य दो पृथक्-पृथक् तत्त्व माने जाते थे, और इनके मूल-भूत तत्त्व रस और अलकार का उपकार्योपकारक भाव भले ही माना जाता रहा हो, इनको एक-कोटि मे सन्निविष्ट नही किया जाता था। इन रचनाओ मे प्राय नाट्य-रस शब्द का ही प्रयोग मिलता है और रस-निष्पत्ति का वर्णन भी अधिकतर अभिनय के प्रसग मे किया गया है। यद्यपि भरत मुनि ने अलकारो का भी विवेचन किया है किन्तु वह केवल इसी सिद्धात को मानकर किया गया है कि कोई भी तत्त्व ऐसा नही जो नाट्य मे उपकारक न हो। इसी प्रकार भामह और दण्डी ने भी काव्य मे रस की सत्ता स्वीकार की है, किन्तु उसको काव्य का पृथक् प्रधान तत्त्व न मानकर अलकारो मे सन्निविष्ट कर दिया है। कविता मे रस का क्या सम्बन्ध है, इसका ठीक विवेचन ध्वन्यालोक की रचना से पहले नही हुआ था।

१, देखो बलदेवप्रसाद उपाध्याय लिखित—काव्य-शास्त्र का इतिहास।

साराश यह है कि काव्यशास्त्र के अरुणोदय-काल मे तीन सम्प्रदायो की पृथक्-पृथक् सत्ता स्पष्ट प्रतीत होती है—(१) अलकार सम्प्रदाय, (२) रीति-सम्प्रदाय और (३) रस सम्प्रदाय ।

(क) अलंकार सम्प्रदाय

काव्य के प्रसग मे अलकारो का महत्त्व सबसे पहले स्वीकार किया गया था । अतएव काव्य के क्षेत्र मे यह सप्रदाय सबसे पुराना है । यास्क और पाणिनि जैसे आचार्यों ने उपमा के अगो का उल्लेख किया है । किन्तु इस सप्रदाय का सबसे प्राचीन व्यवस्थित ग्रथ भामह का काव्यालकार उपलब्ध होता है । यद्यपि उन्होने वाच्य-वृत्ति मे अलकारो को काव्य का प्राण नही माना है, तथापि इनकी रचना को देखने से ज्ञात होता है, कि अलकारो को ही ये काव्य की आत्मा मानते थे । दण्डी ने अलकारो का विस्तृत विवेचन किया है । किन्तु इन्होने काव्य के दूसरे अगों पर भी प्रकाश डाला है, और रीति को प्रमुखता प्रदान की है ।

काव्यशास्त्र के द्वितीय उत्थान मे, जिसे श्री बलदेवप्रसाद जी उपाध्याय रचना-काल कहते हैं, हमे भामह के अतिरिक्त दो और आचार्यों के दर्शन होते है-उद्भट और रुद्रट । उदभट ने भामह का ही अनुसरण किया है । कहा जाता है, कि इन्होने एक ग्रथ भामह-विवरण भी लिखा था । किन्तु यह अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है । इनका इस समय अलकार सार-सग्रह नामक केवक एक ही ग्रथ उपलब्ध होता है, जो कुछ मौलिकताओ को छोडकर भामह का ही अनुसरण करता है । इस सम्प्रदाय का दूसरा आचार्य है रुद्रट । रुद्रट की दृष्टि व्यापक थी । इन्होंने काव्य के प्राय सभी अगो का विवेचन किया किन्तु प्रधानता अलकार को ही दी । अलकारो का वर्गीकरण, रस और भाव का अलकारो से पृथक्करण इत्यादि कुछ ऐसी मौलिकतायें हैं, जिनके लिये साहित्य-जगत् इनका सदा आभारी रहेगा ।

रुद्रट के बाद ध्वनि-सप्रदाय सामने आया । काव्यशास्त्र के विभिन्न सप्रदायो के एकीकरण और विभिन्न तत्त्वो के उचित स्थान-विन्यास की सफल चेष्टा इसी सप्रदाय मे की गई । हम ध्वनि-सप्रदाय को काव्यशास्त्र का सीमा-स्तम्भ कह सकते हैं । ध्वन्यालोक की रचना के बाद ध्वनि-सिद्धान्त को लेकर ही वाद-विवाद चल पडा, जो कि श्री मम्मटाचार्य पर जाकर समाप्त हुआ । फिर भी अलकार सप्रदाय के कतिपय आचार्य सामने आते रहे और काव्य मे अलकार का महत्त्व तो प्रायः सभी ने स्वीकार किया । परवर्ती आचार्यों मे अलकार को एकान्त महत्त्व प्रदान करने वालो मे जयदेव और अप्पयदीक्षित का नाम विशेष उल्लेखनीय है । जयदेव ने अग्नि मे उष्णता के समान, काव्य मे अलकारो को अनिवार्य तथा प्रधान साध्य माना । इनका चन्द्रालोक अलकार का प्रसिद्ध ग्रथ है । इसी प्रकार अप्पयदीक्षित के कुवलयानन्द और चित्र-मीमासा भी अलकार सप्रदाय के प्रसिद्ध ग्रथ हैं । जिन आचार्यों ने अलकार को काव्य का प्राण नही माना है अथवा काव्य मे अलकारों

की अपरिहार्यता अगीकृत नही की है उन्होने भी अपनी रचनाओ मे अलकार को पर्याप्त महत्त्व दिया है, और वडे विस्तार के साथ अलकार के भेदोपभेदो का निरूपण किया है। इस प्रकार कुछ आचार्यों के मत मे अलकार काव्य का प्राण भले ही न हो और न उनकी अपरिहार्यता ही स्वीकृत की जा सकती हो, तथापि इसमे किसी को वैमत्य नही हो सकता कि अलकार काव्य के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और उनका सर्वथा परित्याग असभव है।

(ख) रीति-संप्रदाय

रीति गुणो पर आधारित है। अत दूसरे शब्दो मे हम रीति-सप्रदाय को गुण-सप्रदाय के नाम से अभिहित कर सकते है। हमे वामन से पहले रीति-शब्द का उल्लेख प्राप्त नही होता, किन्तु गुणों का विस्तृत विवेचन हमे काव्य-शास्त्र की प्रारभिक रचनाओ मे ही प्राप्त होता है। प्राचीनतम आचार्य भरत-मुनि और भामह दोनो ने काव्य-गुणो का वर्णन किया है। भामह ने काव्य के तीन गुण माने और भरत-मुनि ने १० गुणो का वर्णन किया। भरत-मुनि ने रीतियो का कोई भी उल्लेख नही किया है। भामह ने देश-भेद पर आधारित (विदर्भ और गौड, इन देश भेदो पर आधारित) काव्य-भेदो का खडन किया। इससे ज्ञात होता है कि उनके समय मे किसी-न-किसी रूप मे रीतियो की सत्ता विद्यमान अवश्य थी और उन पर विचार भी किया जाता था।

रीतियो का सर्वप्रथम विस्तृत विवेचन आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श मे किया। दण्डी ने भरत के अनुसार १० काव्य-गुणो का वर्णन किया है और काव्य के दो मार्ग वतलाये हैं—वैदर्भ मार्ग और गौड मार्ग। वैदर्भ मार्ग पूर्ण गुणों से युक्त वतलाया गया है, और गौड मार्ग मे गुणो के व्यतिक्रम की वात कही गई है।

रीति-सप्रदाय के सवसे वडे आचार्य तथा समर्थक वामन है। इन्होने रीति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया और रीति को काव्य की आत्मा वतलाया। इनकी एक वहुत वडी मौलिकता इस वात मे है कि इन्होने १० गुणो के स्थान पर १० शब्द-गुण और १० अर्थ-गुण माने हैं और गौड तथा वैदर्भ मार्गो के स्थान पर तीन प्रकार की रीतियो का प्रतिपादन किया है। गौडी और वैदर्भी रीति के साथ पाचाली रीति का और समावेश कर दिया। यद्यपि वामन सस्कृत-काव्यशास्त्र के वहुत वडे आचार्यों मे एक माने जाते है, तथापि रीति के विपय मे इनका सिद्धात परवर्ती आचार्यों ने विल्कुल नही अपनाया और रीति को काव्य-जीवन मानने वाला कोई भी दूसरा आचार्य नही हुआ। यद्यपि परवर्ती अनेक आचार्यों ने रीतियो का वर्णन अपने ग्रन्थो मे किया है तथापि उनमे मौलिकता वहुत कम है। केवल रुद्रट ने लाटी रीति और भोजराज ने मागधी और अवतिका इन दो रीतियो की उद्भावना की। रुद्रट की लाटी रीति किसी सीमा तक परवर्ती आचार्यो को मान्य भी हुई, किन्तु भोजराज की मागधी और अवतिका को किसी प्रकार की भी मान्यता प्राप्त नही हो सकी।

वामन के बाद ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रवर्तन हुआ, जिसमे काव्य के आन्तरिक और वाह्य तत्त्वो का स्पष्ट विवेचन किया गया। ऐसी दशा मे हम इन आचार्यों से रीतिवाद को प्रमुख स्थान देने की आशा ही नही कर सकते। आनन्दवर्धन ने इसे वाह्य-शोभासम्पादक धर्म मात्र माना है। इन्होने वामन की रीतियो और उद्भट की वृत्तियो मे स्पष्ट अन्तर माना था। इनके अनुसार वृत्तिया वर्णाश्रित होती हैं और रीतिया सघटनाश्रित। किन्तु आचार्य मम्मट ने दोनो को एक कर दिया। इन्होने उपनागरिका, परुषा और कोमला को क्रमश वैदर्भी, गौडी और पाचाली रीति माना। विश्वनाथ ने रीति-विवेचन के निमित्त एक पृथक् परिच्छेद दिया है। इन्होने साहित्य-दर्पण के नवम परिच्छेद मे चार रीतियो का वर्णन किया है और उनका रसो से सम्बन्ध दिखलाया है। ध्वनि-सम्प्रदाय के इन समस्त आचार्यो ने भामह के बतलाये हुए तीन काव्य-गुणो का ही वर्णन किया है और १० गुणो का या तो इन्ही मे अन्तर्भाव कर दिया या दोषाभाव के रूप मे उन्हे स्वीकृत किया अथवा उन को गुण न मान कर दोष ही मान लिया। यह रीति-सम्प्रदाय सस्कृत मे अधिक प्रतिष्ठित नही हो सका था बाद में तो इसका सर्वथा अन्तर्धान ही हो गया।

रस-सम्प्रदाय

रस-सम्प्रदाय का सबसे पुराना ग्रन्थ भरत मुनि का नाट्य शास्त्र है। इसमे नाट्याग के रूप मे रस की विवेचना की गई है। भामह, दण्डी, वामन और उद्भट ने भी रस को काव्य के तत्त्व के रूप मे स्वीकृत किया, किन्तु इन आचार्यो ने रस को स्वतन्त्र तत्त्व न मान कर इसका अन्तर्भाव अलकारो मे कर दिया। रुद्रट ने सर्वप्रथम रस की स्वतन्त्र सत्ता और काव्य मे रस की अनिवार्यता अगीकृत की। किन्तु भरत के अतिरिक्त ये समस्त आचार्य अलकार-सम्प्रदायवादी ही थे। ये लोग उन सब स्थानो पर रसवत् अलकार मानते थे जहा कही भी रस विद्यमान हो।

भरत मुनि का रस सिद्धान्त ही परवर्ती रस-सम्प्रदायवादियो का उपजीवक हुआ। ज्ञात होता है भरत मुनि की रस की "विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद् रस-निष्पत्ति" इस परिभाषा की व्याख्या अनेक प्रकार से गई। आचार्य मम्मट ने भट्टलोल्लट, श्री शकुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त के मतो का विस्तार के साथ परिचय दिया है। इस के अतिरिक्त अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक लोचन मे बहुत से मतो का बिना नाम-निर्देश के उल्लेख किया है। अभिनव गुप्त ने लिखा है– "कुछ लोग विभाव और अनुभाव के समर्पण को रस मानते है, दूसरे लोग केवल विभाव को रस मानते है, कुछ और लोग केवल अनुभाव को रस मानते हैं, कुछ लोग कहते हैं कि केवल व्यभिचारी भाव ही रस होते है, कुछ लोग सब के सयोग को रस मानते हैं, कुछ लोग रस को अनुकार्य-गत मानते है, कुछ लोग अनुकर्तृ गत, कुछ लोग समस्त समुदाय को रस मानते है। अधिक विस्तार की क्या आवश्यकता ? साराश

यह है कि विचारको मे रस के विषय मे ऐकमत्य है ही नही।" इसी प्रकार रसगगाधरकार ने ११ मतो का परिचय दिया है। इससे ज्ञात होता है कि भरत मुनि के रस-सिद्धान्त की व्याख्या करने वाले निरन्तर बने रहे और समय-समय पर रस के विषय मे अनेक पुस्तकें प्रकाशित होती रही। किन्तु इनका परिचय हमे केवल उद्धरणो मे ही प्राप्त होता है। अन्यथा आज के युग मे इस समस्त सामग्री को प्रस्तुत कर सकना असम्भव है। अभिनव भारती मे भरत के कई एक टीकाकारो का स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है। सम्भव है इन आचार्यों ने किसी-न-किसी रूप मे भरत मुनि के रस-सिद्धान्त का विवेचन किया हो।

विक्रम की नवम शताब्दी के उत्तरार्ध मे ध्वनि-सिद्धान्त के रूप मे काव्य के विभिन्न तत्त्वो की जब आन्तरिक और बाह्य परीक्षा प्रारम्भ हुई तब रस-सिद्धान्त को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ के तीन भेद किये—रस, वस्तु और अलकार। इनका कहना था कि रस कभी शब्दवाच्य नही हो सकते। शब्दोपादान मे परिशीलको को रसानुभूति नही होती। इसके प्रतिकूल विभावादि के उपादान के द्वारा जब रसाभिव्यक्ति की जाती है तब रसानुभूति हुआ करती है। इसी प्रधान धर्म को लेकर आनन्दवर्धन ने ध्वनि के तीन भेदो की कल्पना करके काव्य-लक्षण के अतिव्याप्ति, अव्याप्ति इत्यादि दोषो का निराकरण कर दिया। ध्वन्यालोक के सब से बड़े व्याख्याता श्री अभिनव गुप्त ने रस-ध्वनि को ही काव्य का जीवन माना और वस्तु तथा अलकार ध्वनियो को रस-पर्यवसायी होने पर ही काव्यत्व का सम्पादन करने वाला बतलाया। इस प्रकार ध्वनि-सम्प्रदाय मे भी रस-सिद्धान्त को महत्त्व प्राप्त हो गया। विश्वनाथ महापात्र एक कदम और आगे बढ़ गये और उन्होने रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार कर लिया। श्री विश्वनाथ ने रस के अन्तर्गत ही ध्वनि को माना और रस को ही काव्य की आत्मा कहा है। इस पर रसगगाधरकार ने रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य की आत्मा बतला कर रस, वस्तु और अलकार तीनो प्रकार की ध्वनियो को महत्ता प्रदान की।

ध्वनि-सम्प्रदायवादियो के द्वारा ही रस-सिद्धान्त का अधिक विवेचन किया गया, किन्तु रस-परिचय पर अनेक पुस्तकें समय-समय पर लिखी जाती रही। कतिपय पुस्तकें केवल शृगार रस विवेचन पर भी लिखी गयी। धनञ्जय के दशरूपक मे भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र के अनुकरण पर रस-विवेचन के लिये ही एक पृथक् प्रकरण रखा गया। ईसा की ११वी शताब्दी मे भोजराज ने दो अलकार ग्रन्थ लिखे—सरस्वतीकण्ठाभरण और शृगारप्रकाश। भोजराज रस-शास्त्र के प्रतिष्ठित आचार्य है और इन्होने शृगार-रस का रसराजत्व सबल रूप मे प्रतिष्ठित किया है। इन्होने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण मे दोष, गुण, अलकार, रस, भाव इत्यादि को मिलाने की पर्याप्त चेष्टा की है। भावमिश्र के अलकार शेखर मे भी रस, भवा

तथा रस के अग, नायिका-भेद इत्यादि का वर्णन किया गया है। शारदातनय के भाव प्रकाशन मे भाव, रस, नायिका-भेद इत्यादि का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ रस का अध्ययन करने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। भानुदत्त की रसमजरी इस दिशा मे अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। ग्रन्थ के दो-तिहाई भाग मे नायिका-भेद लिखा गया है और शेष भागो मे रस के इतर अगो का वर्णन है। चैतन्य सम्प्रदाय के वैष्णव महात्मा रूप गोस्वामी के उज्ज्वल नील मणि मे भी शृंगार-रस का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस प्रकार रस-सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थ समय-समय पर लिखे जाते रहे। रस-सम्प्रदाय ने भी अलकार-सम्प्रदाय के समान विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की और ध्वनि-सम्प्रदाय की स्थापना के साथ दूसरे सम्प्रदायो को पछाड कर किसी-न-किसी रूप मे यह काव्यात्मा के रूप मे स्थिर हो गया।

ध्वनि-सम्प्रदाय

विक्रम की नवम शताब्दी के उत्तरार्ध मे भारतीय काव्यशास्त्र का सबसे बडा सिद्धान्त "ध्वनिवाद" सामने आया। इस सिद्धान्त का प्रथम ग्रन्थ ध्वन्यालोक इसी समय लिखा गया। ध्वन्यालोक के दो भाग हैं—कारिका और वृत्ति। लोचनकार ने ध्वनि-प्रवर्तक कवि-सहृदय का उल्लेख किया है और वृत्तिकार आनन्दवर्धन को माना। इससे ज्ञात होता है कि ध्वनिकार कोई दूसरे हैं और आनन्दवर्धन ने वृत्ति मात्र लिखी है। बाद के आचार्य राजशेखर इत्यादि आनन्दवर्धन को ही ध्वनि-प्रवर्तक मानते हैं। सम्भवत कवि-सहृदय उपाधि हो। आनन्दवर्धन ने लिखा है कि 'विद्वान् लोग निरन्तर ही ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते रहे है।' इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने समय के ध्वनि-विरोध का भी उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धन के समय मे ध्वनि-सिद्धान्त को लेकर पर्याप्त खींच-तान चल रही होगी और पक्ष-विपक्ष मे अनेक युक्ति-प्रतियुक्तियो का आदान-प्रदान किया जाता रहा होगा। इस ध्वनि-सिद्धान्त मे दो विशेषतायें थी—एक तो सभी प्रकार का काव्य इसके अन्तर्गत आ जाता था। दूसरे सभी प्रकार के सिद्धान्तो का काव्य से उचित सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया था। अतएव यह सम्प्रदाय अतिशीघ्र प्रसार प्राप्त कर गया।

साहित्याचार्यों ने इस ध्वनि-सिद्धान्त को सहसा निर्विरोध रूप मे नहीं स्वीकृत कर लिया। जैसा कि बतलाया जा चुका है आनन्दवर्धन के समय मे ही ध्वनि-विरोधी पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान थे। आनन्दवर्धन ने अपने समय के ध्वनि-विरोधियो को पाच भागो मे विभाजित किया है :—(१) शब्द-गुण, अर्थ-गुण, शब्दालकार, अर्थालकार को छोडकर अन्य कोई धर्म काव्य-शोभाधायक हो ही नही सकता, जिसको ध्वनि कहा जाय। (२) काव्य के ध्वनि नामक जिस तत्त्व का अभी तक विचार ही नही किया गया वह धर्म सम्भव भी हो तो भी शोभाधायक नही माना जा सकता। (३) यदि ध्वनि नाम का कोई पदार्थ सम्भव भी हो और उसे

काव्य से सम्वन्धित मान लिया जाये तो भी उसका अन्तर्भाव प्रसिद्ध प्रस्थान अलकारादिको मे ही कर देना चाहिये। (४) चौथे वे लोग है जो ध्वनि की सत्ता तो मानते है, किन्तु अभिधा से भिन्न सभी प्रकार के अर्थों को लक्षणा के अन्दर अन्तर्भूत कर देते है। (५) पाचवें वे लोग है जो ध्वनि को लक्षणा से भिन्न मानते है, किन्तु उनका मत है कि ध्वनि का तत्त्व वाणी की शक्ति से सर्वथा परे है, उसका वर्णन नही हो सकता। वह केवल सहृदय-हृदय-सवेद्य होता है। आनन्दवर्धन ने इन सभी पक्षो की पूर्ण मीमासा कर ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना कर दी। किन्तु आनन्दवर्धन की स्थापना के वाद भी यह सिद्धान्त सर्वथा निर्विरोध नही रह सका। नैय्यायिक महिम भट्ट ने अपने व्यक्ति-विवेक ग्रन्थ मे ध्वनि-सिद्धान्त का सवल प्रतिवाद किया। भट्ट नायक की हृदय-दर्पण पुस्तक मे भी इसका खण्डन किया गया है। यद्यपि यह पुस्तक समुपलब्ध नही होती तथापि इसका उल्लेख प्राय- आचार्य लोग करते रहे हैं। इससे ज्ञात होता है कि ध्वनि-विरोध मे किसी समय इस पुस्तक का बहुत अधिक सम्मान रहा था। प्रतिहारेन्दुराज तथा उनके गुरु मुकुल भट्ट ने ध्वनि को लक्षणा के अन्दर घसीटने की चेष्टा की —

लक्षणामार्गावगाहित्व तु ध्वने सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यते इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्। —अभिधावृत्ति मात्रिका पृ० २१।

मुकुल भट्ट के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज ने अलकार सार-सग्रह मे ध्वनि-भेदो का अलकारो मे अन्तर्भाव किया है, जैसे—"रामोऽस्मि सर्वं सहे" इस अविवक्षित वाच्य के उदाहरण को अप्रस्तुत प्रशसा के अन्तर्गत माना है। कुन्तक ने वक्रोक्ति के अन्दर ध्वनि का अन्तर्भाव किया। जयदेव ने कुन्तक का निष्कर्ष निम्नलिखित शब्दो मे निकाला है —

उपचारवक्रतादीनामेव मध्ये ध्वनिरन्तर्भूत इति।
सर्वोऽपि ध्वनिप्रपञ्चो वक्रोक्तिभिरेव स्वीकृत इति॥
—अलकार सर्वस्व विमर्शिनी पृ० २।

किन्तु ध्वनि-समर्थको के सवल प्रतिरोध के सामने ध्वनि-विरोध प्रसार नही पा सका। सवसे वडी वात यह हुई कि ध्वनि सिद्धान्त को अभिनव गुप्त जैसा प्रवल समर्थक मिल गया। अभिनवगुप्त के लोचन से ध्वनि-सिद्धान्त का वहुत वड़ा प्रचार हुआ। अभिनव गुप्त ने अपने समय तक के सभी ध्वनि-विरोधियो का पूर्ण प्रतिवाद कर दिया। आचार्य श्री मम्मट ने काव्य-प्रकाश मे ध्वनि-सिद्धान्त को व्यवस्थित किया और ध्वनि-सिद्धान्त पर आने वाले समस्त आरोपो का खण्डन किया। अन्त मे पडितराज जगन्नाथ ने अपने रसगगाधर मे सवल युक्तियो के द्वारा ध्वनि-सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन कर दिया। इस प्रकार आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्ताचार्य, मम्मट और पडितराज जगन्नाथ जैसे प्रवल समर्थको के कारण ध्वनि-सिद्धान्त भारतीय आलोचनाशास्त्र का सर्वोत्तम सिद्धान्त स्वीकृत कर लिया गया।

दो अन्य सम्प्रदाय—वक्रोक्ति और औचित्य

उपर्युक्त अलकार, रस, रीति और ध्वनि सम्प्रदायो के अतिरिक्त काव्य-शास्त्र मे दो सम्प्रदाय और प्रसिद्ध है—वक्रोक्ति और औचित्य। ये दोनो सम्प्रदाय अपने जन्मकाल मे ही उपहृत हो गये। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे आचार्य कुन्तक और औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे आचार्य क्षेमेन्द्र। यदि ध्यान से देखा जावे तो कुन्तक ने किसी नये सिद्धान्त का प्रवर्तन नही किया। वे प्रच्छन्न रूप में ध्वनिवादी ही हैं। उन्हे आपत्ति केवल इसी बात मे है कि ध्वनि इस नये नाम की कल्पना की गई है। सिद्धान्त वही है। किन्तु उसके लिये ध्वनि शब्द का प्रयोग न कर उन्होंने उसे गतार्थ करने के लिये पुराने साहित्य से वक्रोक्ति शब्द ढूढ निकाला। भामह ने वक्रोक्ति को सभी अलकारो का मूल माना था और वक्रोक्ति की परिभाषा की थी "वाणी का वैलक्षण्य ही वक्रोक्ति कहलाता है।" इसी आधार पर कुन्तक ने वाणी के समस्त वैलक्षण्यो को वक्रोक्ति मे गतार्थ कर दिया और वक्रोक्ति ने समस्त ध्वनि विस्तार को आत्मसात् कर लिया। अभिनव भारती मे वक्रोक्ति का अर्थ किया गया है—शब्द और अर्थ का लोकोत्तर रूप मे अवस्थित होना। कुन्तक ने इसी वक्रोक्ति को लेकर और वैदग्ध्य-भगी-भणिति को वक्रोक्ति कह कर उसे काव्य की आत्मा मान लिया किन्तु वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानने मे सबसे बडी आपत्ति यह है कि वक्रोक्ति शब्द एक विशेष अलकार के अर्थ मे प्रयुक्त हो चुका था। प्रसिद्ध अर्थ का अतिक्रमण असम्भव था। अतएव यह सम्प्रदाय अधिक प्रसार न पा सका। बाद के आचार्यो ने वक्रोक्ति की कुन्तक द्वारा प्रतिपादित परिभाषा न मानकर उसे एक विशेष अलकार के अर्थ मे ही प्रयुक्त किया।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य-सम्प्रदाय चलाया था। उन्होने शब्द का औचित्य, अर्थ का औचित्य इत्यादि अनेक प्रकार का औचित्य मानकर काव्यशास्त्र से सम्बन्धित सभी प्रकार के तत्वो को उसके अन्दर सन्निविष्ट कर दिया। किन्तु यह सिद्धान्त भी अधिक प्रसार न पा सका और यह भी वक्रोक्ति के समान ही अपने जन्मकाल मे ही उपहृत हो गया। सम्भवत इसका कारण यह था कि औचित्य इतना व्यापक शब्द है कि उसे हम किसी सिद्धान्त का प्रतिपादक नही कह सकते और न काव्य के किसी तत्त्व पर ही उससे प्रकाश पडता है। अत यह सिद्धान्त भी मान्यता को प्राप्त न कर सका।

समुद्रबन्ध मे काव्य-शास्त्र के सम्प्रदायो का इस प्रकार सक्षिप्तीकरण किया गया है—"विशिष्ट शब्दार्थ को काव्य कहते है। उनका वैशिष्ट्य तीन प्रकार से हो सकता है—धर्म के द्वारा, व्यापार के द्वारा, व्यग्य के द्वारा। वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है—अलकार से और गुण से। व्यापार मुख से भी वैशिष्ट्य दो प्रकार का हो सकता है—भणिति-वैचित्र्य से और भोग वृत्ति से। इस प्रकार ये पाच पक्ष हो गये। इन पाँचों पक्षो मे उद्भट इत्यादि ने अलकार से वैशिष्ट्य माना, वामन ने

गुण से वैशिष्ट्य माना, भणिति-वैचित्र्य से वैशिष्ट्य वक्रोक्ति-जीवितकार कुन्तक ने माना। भोग वृत्ति से वैशिष्ट्य भट्ट नायक के द्वारा माना गया और व्यग्य मुख से वैशिष्ट्य आनन्दवर्धन ने माना।" भोग-वृत्ति से वैशिष्ट्य रस सप्रदाय का परिचायक है। इस मे औचित्य-सम्प्रदाय को और जोड देने से ६ सम्प्रदाय हो जाते है। यही सस्कृत काव्य-शास्त्र का सक्षिप्त परिचय है।

हिंदी काव्य-शास्त्र

अन्य शास्त्रो की भाति हिन्दी काव्य-शास्त्र भी सस्कृत काव्य-शास्त्र का उत्तराधिकारी है। किन्तु अपने विकास क्रम से मस्कृत काव्य-शास्त्र जिस सीमा तक पहुच चुका था उस का पथानुसरण हिन्दी काव्य-शास्त्र नही कर पाया। रीति, वक्रोक्ति और औचित्य सप्रदायो का तो प्रत्याख्यान सस्कृत-काव्यशास्त्र मे ही हो गया था। तीन सम्प्रदाय शेष रह गये थे—अलकार-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय और ध्वनि-सम्प्रदाय। ध्वनि-सम्प्रदाय प्रधान था और इस ने एक ओर काव्य के समस्त तत्त्वो को आत्मसात् कर लिया था दूसरी ओर नाट्य, प्रबन्ध, मुक्तक इत्यादि सभी प्रकार की रचनाओ की आलोचना इस सिद्धात के द्वारा की जा सकती है। रस और अलकार सप्रदाय इस दिशा मे अपूर्ण थे। रस सिद्धान्त मे नाट्य और प्रबन्ध की आलोचना सगत थी, सरस मुक्तको की आलोचना भी की जा सकती थी। किन्तु मुक्तक-काव्य निधानभूत सूक्ति-काव्य का समावेश इसमे बिल्कुल नही हो सकता था। इसी प्रकार निरलकार पद्य अलकार सम्प्रदाय मे गतार्थ नही हो सकते थे ध्वनि-सम्प्रदाय ने काव्य के इन सभी अगो को समेट लिया था। दूसरी बात यह भी थी कि ध्वनि-सम्प्रदाय मे सस्कृत के वडे-वडे आचार्य हो चुके थे। आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट पडितराज ये इतने महान् आचार्य थे कि इनका अतिक्रमण सामान्य प्रतिभा के द्वारा सम्भव नही था। इसलिये भी ध्वनि-सम्प्रदाय विद्वानो के हृदय मे घर कर गया। किन्तु हिन्दी भाषा उस समय तक न तो इतनी समृद्ध ही थी और न उस समय इतने महान् आचार्य ही उत्पन्न हुए थे कि वे ध्वनि-सप्रदाय का ठीक रूप मे प्रतिपादन कर सकते। हिन्दी मे गद्य लिखा ही नही जाता था और पद्य ध्वनि जैसे महान् सिद्धान्त के विवेचन के लिये उपयुक्त माध्यम नही कहा जा सकता। अतएव हिन्दी मे केवल दो ही सम्प्रदायो की अवतारणा हुई—अलकार-सम्प्रदाय और रस-सप्रदाय।

हिन्दी का रीति-काल वहुत वडा है और इसके अन्दर काव्य-शास्त्र पर ग्रथ लिखने वालो की वहुत वड़ी सख्या है किन्तु विहारी के समय मे रीति काल का केवल जन्म ही हुआ था। जो विचार-धारा साहित्य क्षेत्र मे अवतीर्ण होती है उसकी कुछ-न-कुछ पृष्ठभूमि पहले से तैयार ही रहती है। इसी नियम के अनुसार काव्य-शास्त्र सवन्धी दो चार पुस्तकें बिहारी से पहले लिखी जा चुकी थी। रस-सम्प्रदाय की जिस प्राचीनतम पुस्तक का अव तक पता चलाया जा सका है वह है कृपाराम की

ृततरगिणी। कृपाराम ने इसे नाट्य शास्त्र के आधार पर लिखा है। इस में ायिका-भेद का पूर्ण विवरण दिया गया है। नायिका-भेद मे यह ग्रथ भानुदत्त पर शेष आधारित है, नाट्य शास्त्र पर उतना नही। रस के विषय मे मोहनलाल मश्र का लिखा हुआ शृगार सागर भी कहा जाता है। यह रस और नायिका-भेद ा ग्रथ है। अष्ट-छाप के भक्त कवि नन्ददास ने रसमजरी नामक ग्रथ लिखा, जो क भानुदत्त की रसमजरी पर आधारित है। इस मे नायिका-भेद, हाव-भाव त्यादि का विस्तार से वर्णन किया गया है।

हिन्दी साहित्य मे केशव प्रथम आचार्य माने जाते है। इन्होने रस-सिद्धान्त र रसिकप्रिया की रचना की थी। इस पुस्तक मे शृगार रस का वडे विस्तार से ववेचन किया गया है और शृगार को रसराज सिद्ध किया गया है। शृगार रस ः नायक-नायिकाभेद, दर्शन, चेष्टा, मान इत्यादि, विभाव, अनुभाव, सचारीभाव, ात्विक-भाव, शृगार के प्रकार, काम की दशायें, सखी और उसके कार्यो का वर्णन त्यादि सभी अगो का परिचय दिया गया है, किन्तु विस्तृत वर्णन नही दिया गया। ुन्दर का 'सुन्दर शृगार' रस-शास्त्र पर दूसरी रचना है। इसमे केवल शृगार रस ाथा उसके अगो का वर्णन किया गया है।

आचार्य शुक्ल ने चिन्तामणि त्रिपाठी को रीति-काल का प्रवर्तक माना है। ाद्यपि आचार्य केशव प्रथम आचार्य है तथापि एक तो उसके वाद बहुत समय तक ीति साहित्य का प्रचलन नही हुआ और रीति-काल के नियमित प्रचलन मे एक म्वा व्यवधान पड गया। दूसरी वात यह है कि परवर्ती आचार्यों ने केशव का ातृत्व भी अगीकार नही किया। अतएव चिन्तामणि त्रिपाठी ही रीति-काल के प्रथम आचार्य माने गये हैं। ये विहारी के समसामयिक है। इनके कविकुल-कल्पतरु में वेभिन्न काव्यागो पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही रस, नायिका भेद, भाव इत्यादि का भी वर्णन है। साथ ही विभावादि अगो और दूसरे ८ रसो का भी पक्षिप्त परिचय दिया गया है। इसमे काव्य-प्रकाश, साहित्यदर्पण और दश-रूपकम् का सहारा लिया गया। इन रस ग्रथो की एक सामान्य प्रवृत्ति यह रही है कि इनमे रसराज शृगार का सागोपाग वर्णन रहता है किन्तु अन्य रसो का चलता हुआ परिचय दे दिया जाता है।

रस-शास्त्र की भाति इस काल मे भी अलकार पर भी कई पुस्तकें लिखी गईं। मिश्रवन्धु विनोद मे गोपा के राम-भूषण का उल्लेख है। इसमे राम की यशो-गाथा के साथ अलकारो का भी वर्णन किया गया है। अलकार पर अलकार-चन्द्रिका नाम की इनकी एक स्वतत्रपुस्तक भी है। करणेश कवि के करणाभरण, श्रुति-भूषणऔर भूप-भूषण भी अलकार के ग्रथ हैं। केशव की कविप्रिया अलकार-शास्त्र की अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है, इसमे कविता के विभिन्न तत्त्वो के साथ अलकार का वहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। चिन्तामणि के कविकुल-कल्पतरु मे काव्य

सम्बन्धी दूसरी सामग्री के साथ शब्दालकारो और अर्थालकारो का भी वर्णन किया गया है। अलकारो के विषय मे लिखी हुई इस काल तक की समस्त पुस्तको मे जसवन्त सिंह का लिखा हुआ भाषा-भूषण सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह ग्रथ चन्द्रालोक पर आधारित है और इसमे चन्द्रालोक की ही शैली पर १०८ अलकारो का वर्णन छात्रो की दृष्टि से दिया गया है। यही बिहारी के समय की काव्य-शास्त्र की परिस्थिति का सक्षिप्त परिचय है।

बिहारी का साहित्य-शास्त्रविषयक दृष्टिकोण

बिहारी ने कोई रीति ग्रन्थ नही लिखा जिसके आधार पर उनके साहित्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण का पता चलाया जा सके। उन्होने केवल लक्ष्य ग्रन्थ ही लिखा है। किन्तु यह लक्ष्य ग्रन्थ ऐसा है जिसको देखने से पता चलता है कि ग्रन्थ रचना बहुत कुछ लक्षणो को दृष्टिगत रखकर की गई है। सम्भवत बिहारी का मन्तव्य लक्षणो के लक्ष्य जुटाने की ओर था। यह वही समय था जब पडितराज जगन्नाथ अपने रस-गगाधर की रचना कर रहे थे। बिहारी का पडितराज से व्यक्तिगत परिचय भी था और वे पडितराज से प्रभावित भी बहुत हुए थे। अतएव रीति बद्ध कविता की दिशा मे इन्हे पडितराज से प्रेरणा अवश्य मिली थी। यही कारण है कि हमे बिहारी के प्रत्येक दोहे मे किसी न किसी लक्षण की छाप अवश्य दिखलाई देती है। इसी आधार पर आचार्य शुक्ल ने बिहारी को रीति काल के फुटकर कवियो मे न रखकर रीति-ग्रन्थकार कवियो मे स्थान दिया है।

किसी लक्षण ग्रन्थ के अभाव मे हमे बिहारी का काव्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण जानने के लिये दो बातो पर निर्भर रहना पडता है—(१) दोहो मे काव्य-शास्त्रीय कतिपय सकेत और (२) लक्ष्य-परीक्षा।

उपर्युक्त दोनो दृष्टिकोणो से विचार करने पर हम बिहारी को अलकार सम्प्रदायवादी नही कह सकते। काव्य मे अलकारो का वही स्थान है जो शरीर को आभूषित करने के लिये कटक-कुण्डल इत्यादि का हुआ करता है। हम हार, कटक, कुण्डल इत्यादि को आत्मा नही कह सकते, इसी प्रकार हम अलकारो को भी काव्य की आत्मा नही मान सकते। केवल इतना ही नही, किन्तु अलकारो के प्रयोग मे कवि को बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। ध्वनिकार ने अलकारो के प्रयोग मे कौन-कौन सी सावधानी बरतनी चाहिये इसका विस्तार से उल्लेख किया है। काव्य-प्रकाशकार अलकारो को काव्य का अनिवार्य तत्त्व नही मानते। यद्यपि बिहारी का प्रत्येक दोहा अलकृत है तथापि बिहारी-सतसई से हम काव्यशास्त्र मे आने वाले सभी प्रमुख अलकारो का अध्ययन नही कर सकते। यदि बिहारी ने अपनी सतसई काव्यशास्त्रीय लक्षणो के लक्ष्यो का सकलन करने के लिये ही बनाई होगी तो भी उनका मन्तव्य अलकारो के उदाहरणो का सचित करना नही रहा होगा। अन्यथा हमें इस सतसई से सभी प्रमुख अलकारो का अध्ययन करने का

सौभाग्य प्राप्त हो जाता। विहारी ने प्राय प्रत्येक अग-प्रत्यग के प्रसग मे आभूषणो की सुन्दरता का वर्णन किया है तथापि वे आभूषणो को सुन्दरता के लिये अनिवार्य नही मानते। कभी-कभी तो अलकारो का प्रयोग वास्तविक सुन्दरता को नष्ट करने मे कारण हो जाता है —

करतु मलिन आछी छबिहिं हरतु जु सहजु विकासु।
अगराग अगनु लगै ज्यो आरसी उसासु॥

इतना ही क्यो कभी-कभी तो अलकार वडे ही भद्दे मालूम पडते हैं —

पहिरि न भूसन कनक के, कहि आवत इहिं हेत।
दरपन के से मोरचे देह दिखाई देत॥

ध्वनिकार प्रयत्नपूर्वक लाये हुए अलकारो के विरोधी है और अलकारों का अपृथग्यत्न-निर्वर्त्यत्व स्वीकार करते है। उनका आशय यह है कि कवि अभिव्यक्ति के लिये प्रयत्नशील होता है, वह अलकार के लिये पृथक् प्रयत्न नही करता। किन्तु उसी प्रयत्न के द्वारा अलकार भी स्वभावत आ ही जाते है। जिन अलकारो को लाने के लिये पृथक् प्रयत्न करना पडता है, वे अलकार काव्य के तत्त्व के व्याघातक वन जाते है और विशेप रूप से यह वात शृगार ध्वनि मे होती है। विप्रलम्भ शृगार ध्वनि मे तो इस वात मे और भी सावधान रहने की आवश्यकता है। यदि सामान्य आभूपणो का काव्यालकारो से उपमानोपमेय भाव मान लिया जावे तो विहारी भी ध्वनिवादियो के इस सिद्धान्त से सहमत प्रतीत होते है कि अलकार अपृथग्यत्न-निर्वर्त्य होने चाहिये अन्यथा वे काव्य की आत्मा मे विघात का कारण वन जाते है। ध्वनि-सस्थापक आचार्यों ने प्रतीयमान को अगना के लावण्य की उपमा दी है। अलकार-विन्यास सर्वथा लावण्यस्थानीय प्रतीयमान अर्थ में विशेपता का आधान करने वाला होना चाहिये। अन्यथा अलकार अपना वास्तविक सौन्दर्य प्रकट नही कर सकते —

मानहु बिधि तन अच्छ छवि स्वच्छ राखिवे काज।
दृग-पग-पोछन कौं करे भूषन पायन्दाज॥

कभी-कभी अलकार अपनी कठोरता के कारण प्रत्यभिज्ञेय होते है —

डीठि न परतु समान-दुति कनकु कनक से गात।
भूषन कर करकस लगत परसि पिछाने जात॥३२३॥

किन्तु फिर भी काव्य मे अलकारों का अपना महत्त्व है। उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि अलकारो मे सन्निवेश-चारुता विद्यमान हो और उनका उपादान कुशलतापूर्वक किया गया हो तो उनसे काव्य-सौन्दर्य वहुत अधिक वढ़ जाता है। विहारी के कई दोहे इस तथ्य के परिचायक है, जब शरीर-सौन्दर्य के साथ अलकार-विन्यास सुघटित हो जाता है तब शोभा वहुत अधिक वढ जाती है :—

झीनें पट में झुलनुली झलकति ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिन्धु में लसति सपल्लव डार॥१६॥
कहत सबै वेंदी दियें आकु दस गुनो होतु।
तिय लिलार वेंदी दिये अगनितु बढतु उदोतु॥३२७॥
सहज सेत पंचतोरिया पहिरत अति छवि होति।
जल चादर के दीप लौं जगमगाति तन जोति॥३४०॥
भई जु छवि तन वसन मिलि वरनि सकं सु न बैन।
आंग-ओप आगी दुरी आंगी आग दुरं न॥१८९॥
अग अंग प्रतिबिंब परि दरपन सें सब गात।
दुहरे, तिहरे, चौहरे भूषन जाने जात॥६८०॥

यदि इन दोहो मे छवि को प्रतीयमान-अर्थपरक माना जावे और आभूषणो को अलकारस्थानीय तो इससे यही ध्वनित होता है कि विहारी काव्य मे अलकारो को उसी सीमा तक सह्य मानते है, जहा तक वे प्रतीयमान अर्थ (रसादि ध्वनियो) मे विशेपता सम्पादन करते हैं। अन्यथा अलकारो से काव्य विगड जाता है। इस प्रकार विहारी अलकार सम्प्रदाय से बाह्य हो जाते हैं।

विहारी का झुकाव कुछ रस की ओर विशेप ज्ञात होता है। ध्वनि काव्य के उपभेदो मे रस-ध्वनि ही मुख्य है। ध्वनि-सम्प्रदाय स्वय ही वहुत कुछ रस-सम्प्रदाय की ओर झुका हुआ है। विहारी ने सतसई के उपसहार मे लिखा है —

हुकुमु पाइ जयसाहि कौ, हरि राधिका प्रसाद।
करी विहारी सतसई भरी अनेक सवाद॥७१३॥

यहा पर "सवाद" शब्द रसास्वादन परक ही है। इस प्रकार विहारी का मन्तव्य पाठको को रसास्वादन कराना ही था। वे रसास्वादन मे परिपूर्ण रूप से निमज्जित हो जाने को जीवन की सफलता मानते थे। जो व्यक्ति रसास्वादन मे आनन्द नही लेता उसका जीवन व्यर्थ ही है —

तन्त्रीनाद, कवित्तरस, सरस राग, रति रग।
अनबूडे बूडे, तरे जे बूडे सब अग॥६४॥

इस दोहे से यही ध्वनित होता है कि विहारी के मत मे रसास्वादन करना ही काव्य का उद्देश्य है। यह रसास्वादन भी रसिको को ही मिलता है, हृदयहीन व्यक्ति के लिए रस एक तुच्छ वस्तु है —

गिरि तें ऊँचे रसिक-मन बूडे जहा हजारु।
वहे सदा पसु नरनु कौं प्रेम पयोधि पगारु॥२५१॥

किन्तु लक्ष्य परीक्षा से प्रतीत होता है कि विहारी शुद्ध रसवादी नही थे। यदि इन्हे रसवादी कहे तो अभिनव गुप्त के इसी सिद्धान्त के आधार पर कह सकते है कि रस-ध्वनि ही काव्य की आतमा है और वस्तु तथा अलकार

ध्वनिया कुछ-न-कुछ रसप्रवण होती ही है। विहारी ने जहा एक ओर शृगार रस के सागोपाग उदाहरण सकलित करने की चेप्टा की है तथा दूसरे रसो के चलते हुए उदाहरण दिये है, वहां कुछ ऐसे दोहे भी लिखे है, जिनको हम रस-ध्वनि के अन्तर्गत नही ले सकते। समस्त सूक्ति-काव्य, अन्योक्ति-काव्य इत्यादि रस-ध्वनि मे सन्निविप्ट नही किये जा सकते। अतएव यह मानना ही पडेगा कि विहारी का दृष्टिकोण न तो रस-ध्वनि तक सीमित था] और न अलकार ही उनके निरूप्य विपय थे। ये सस्कृत साहित्य के उस काव्यशास्त्र का अनुकरण करना चाहते थे, जो विकास-क्रम से ध्वनि-सम्प्रदाय मे पर्यवसित हुआ था। हमे विहारी मे जहा वस्तु, अलकार और रस तीनो प्रकार की ध्वनियो के दर्शन होते है, वहा असल्लक्ष्य-क्रम-व्यग्य, सल्लक्ष्य-क्रम-व्यंग्य, विवक्षित-वाच्य, अविवक्षित-वाच्य इत्यादि सभी प्रकार के ध्वनि-भेदो के उदाहरण उपलब्ध हो जाते है। केवल इतना ही नही, व्यजको की दृप्टि से ही विहारी सतसई एक सम्पन्न रचना है। विहारी के समस्त काव्य का उपादान ध्वनि-सिद्धान्त के द्वारा ही सम्भव है। अतएव विहारी ध्वनि-सम्प्रदायवादी सिद्ध होते है।

विहारी की ध्वनि-सम्प्रदायवादिता के कुछ सकेत भी हमे यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। ध्वनि-सम्प्रदायवादी ध्वनि-काव्य को कुछ खुले और कुछ ढके स्तनो की प्राय: उपमा दिया करते हैं। ध्वन्यालोक मे कहा गया है कि ध्वनि-काव्य उस प्रतीयमान अर्थ को कहते हैं जो कामिनी-कुच-कलश के समान निपुणतापूर्वक प्रत्यभिज्ञेय हो। किसी कवि का यह पद्य अत्यन्त प्रसिद्ध है —

नान्ध्रीपयोधर इवातितरा प्रकाश,
नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढ.।
अर्थो गिरामपिहित पिहितश्च वाग्भि,
प्राकाश्यमेति महरट्टवधूकुचाभ ॥

(अर्थात् आन्ध्र देश की स्त्रियो के स्तनो के समान जो अर्थ अत्यन्त खुला हुआ होता है वह अच्छा नही होता और न वह अर्थ अच्छा होता है जो गुजरात की स्त्रियो के स्तनो के समान विलकुल छिपा हुआ हो। महरट्ट देश की स्त्रियो के स्तनो के समान वाणी का जो अर्थ कुछ खुला और कुछ छिपा हुआ होता है वही शोभादायक हुआ करता है।) इसी वात को एक दूसरे कवि ने इस प्रकार कहा है —

अनुद्घुष्ट शव्दैरथ 'च रचनात स्फुटरस,
पदानामर्थात्मा जनयति कवीना वहुमुदम्।
यथा किंचित्किंचित्पवनचलचेलाचलतया,
कुचद्वन्द्व कान्ति किरति न तयोरुद्घाटितमुर ॥

(अर्थात् जो अर्थ शव्दो के द्वारा प्रकट न किया गया हो, किन्तु रचना से जिसका रस स्फुट हो रहा हो, इस प्रकार का शव्दो का अर्थ कवियो को वहुत आनन्द

देने वाला होता है। जैसे वायु से अचल के कुछ-कुछ चचल होने पर दोनो स्तन जितना आनन्द देते हैं उतना खुली छाती आनन्द नही देती।) आशय यह है कि सहृदय-सवेद्य प्रतीयमान अर्थ ही प्रधानीभूत होकर काव्य की आत्मा वन जाता है। कुछ ऐसी ही वात विहारी ने भी कही है —

> दुरत न कुच बिच कचुकी चुपरी, सारी सेत।
> कवि आकनु के अरथ लौं प्रगटि दिखाई देत॥

विहारी मुह से कहे वचनो की अपेक्षा सकेतो से प्रतीयमान अर्थ को विशेष महत्व देते हैं —

> झूठे जानि न सग्रहे मन मुंहु निकसे बैन।
> याही ते मानहु किये वातनु को विधि नैन॥

इस प्रकार लक्ष्य-परीक्षा और लक्षण-सकेत दोनो दृष्टियो से विहारी ध्वनिवादी ही ठहरते हैं।

विहारी के सिद्धान्तो का सार यह है—विहारी ध्वनिवादी कवि है। अभिनव गुप्त के अनुसार ये काव्य मे रस-ध्वनि को प्रधान मानते है। अलकार का प्रयोग तभी समीचीन कहा जा सकता है जव उसके द्वारा रसानुभूति मे तीव्रता उत्पन्न हो अथवा अलकार वाच्य और व्यग्य वस्तु तथा अलकार के उपस्कारक हो। प्रयत्नपूर्वक लाये हुए अलकार काव्य को विगाड देते है क्योकि ऐसे अलकारो से काव्य का स्वाभाविक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। अतएव अलकारो का स्वाभाविक प्रयोग ही समीचीन होता है। अगले पृष्ठो मे ध्वनि सम्प्रदाय की दृष्टि से विहारी की विस्तृत आलोचनात्मक व्याख्या की जावेगी।

ध्वनि-सिद्धान्त का सक्षिप्त परिचय

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादन से एक ओर काव्य के मूलभूत तत्वो को एक करने की सफल चेष्टा की गई और समस्त काव्य-जगत् को एक सिद्धान्त मे आत्म-सात् कर लिया गया, दूसरी ओर वैदिक काल से चली आती हुई दार्शनिक विचार-धारा से भी सामजस्य स्थापित किया गया। परवर्ती वैदिक काल (उपनिषत्काल) मे सर्व-ब्रह्मवाद की स्थापना की जा चुकी थी और उसी के आधार पर वैय्याकरणो ने अपने स्फोट वाद की स्थापना की थी। वैय्याकरण ही सर्वोत्तम विद्वान् माने जाते थे। वैय्याकरणो के स्फोट वाद का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है — "वाणी चार प्रकार की होती है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, और वैखरी। प्रथम तीन अग तो प्रत्यक्ष का विषय हो ही नही सकते, चतुर्थ अग श्रवणगोचर हुआ करते हैं। जो शब्द हमे सुनाई पडता है उस के दो अग होते है—एक तो ध्वनि और दूसरा स्फोट। वर्णोच्चारण काल मे स्थान, प्रयत्न इत्यादि के रूप मे वायु-सयोग की जो क्रिया होती है जिससे घण्टा नाद के समान एक प्रकार का नाद हुआ करता है उसे वैय्याकरण लोग ध्वनि कहा करते है। उन ध्वनियो के द्वारा स्फुटित होने वाला अर्थ भाग

स्फोट कहलाता है। "क" "ख" "ग" इत्यादि सब वर्णों के उच्चारण मे नाभि से वायु का उठना इत्यादि क्रियायें एक सी होती हैं। मुख की स्थान, प्रयत्न इत्यादि क्रियाओ के द्वारा उन वर्णों मे परस्पर भेद हो जाता है। यह इस प्रकार समझना चाहिये कि जिस प्रकार ब्रह्म के रूप मे ससार के सभी पदार्थ एक है। किन्तु कार्य जगत् मे आ कर वे ही पदार्थ घट, पट इत्यादि के रूप मे प्रकट अथवा ज्ञात हुआ करते हैं। इसी प्रकार स्फोट के रूप मे सभी वर्ण एक है किन्तु वायु-सयोग (ध्वनि) से "क" "ख" "ग" इत्यादि रूप मे विभक्त होकर व्यवहृत हुआ करते हैं। वैय्याकरणो के मत मे शब्द ही ब्रह्म है। शब्द का अधिष्ठान अन्त करण है। जब हम किसी पदार्थ को देखते है तो उस की एक आकृति हमारे अन्त करण मे खिच जाती है। इसी आकृति को जाति कहते है। यही जाति वाच्य होती है। इस प्रकार अन्त. करण मे वाच्य और वाचक दोनो ही तादात्म्य रूप मे स्थित रहते है और दोनो को स्फोट शब्द से अभिहित किया जाता हैं। वही स्फोट या शब्द ब्रह्म जब ध्वनि से सयुक्त हो कर कार्य-जगत् मे व्यवहृत होता है तब घट, पट इत्यादि विभिन्न रूपो मे व्यक्त हो कर हमारे सामने उन सब वस्तुओ की सृष्टि किया करता है, जिस प्रकार अनिर्वचनीय ख्याति से ब्रह्म का विवर्त जगत् है उसी प्रकार शब्द-ब्रह्म से विवर्तित होने वाला और उसी मे पर्यवसित होने वाला समस्त वाङ्मय और उसका वाच्य अर्थ सभी कुछ उसी स्फोट रूप शब्द-ब्रह्म का ही विपरिणाम है, उस को प्रकट करने वाले वायु-संयोग को ध्वनि कहते हैं। जिस प्रकार स्थूलता, कृशता इत्यादि शरीर के ही धर्म है, उन से आत्मा मे परिवर्तन नही होता। उसी प्रकार विभिन्न रूप मे उच्चारित ध्वनिया ही भेदक होती हैं उन से स्फोट रूप आत्मा मे अन्तर नहीं पडता।

शब्दोच्चारण परम्परा मे जब पूर्व-पूर्व सस्कारो से वासित होकर अतिम अक्षर की ध्वनि सुनाई पडती है तब वह ध्वनि पूर्व-पूर्व वर्णों के सस्कार से वासित होने के कारण एक सघातात्मक बुद्धि उत्पन्न कर दिया करती है। जिस प्रकार घण्टा की ध्वनि मे अनुकरणरूपता होती है अर्थात् वाद होने के वाद एक प्रकार की झकार सुनाई पडती रहती है उसी प्रकार इन ध्वनियो के उच्चारण के वाद भी एक प्रकार का बुद्धि उत्पादन रूप अनुरणन होता रहता है।

वैय्याकरणो के इस स्फोटवाद को लेकर ही ध्वनि-सिद्धान्त की आधार-शिला तैयार की गई है। वैय्याकरणो के सिद्धान्त का सार यही है कि जो कुछ हमें सुनाई पडता है उस से भिन्न ही एक पृथक् प्रकार की बुद्धि वन जाती है। घट और पट इन शब्दो के उच्चारण से जो ध्वनि (नाद) हमे सुनाई पडती है उससे पृथक् ही नये पदार्थों का वोध हमे हो जाता है। जिस प्रकार घट-पट इत्यादि रूपो मे विश्व के समस्त कार के पदार्थ पृथक् हैं किन्तु ब्रह्म के रूप मे सब एक हो जाते है उसी प्रकार ध्वनि से सयुक्त होकर सभी शब्द पृथक् प्रतीत होते हैं किन्तु परा वाणी

(स्फोट) के रूप मे सब एक हैं। वैय्याकरणो ने बौद्ध अर्थ का निरूपण कर यद्यपि शब्द और अर्थ का तादात्म्य भी स्थापित करने की चेष्टा की किन्तु शब्द के दो तत्त्वो ध्वनि और स्फोट की पृथक्-पृथक् सत्ता ही मानी जाती रही।

साहित्यशास्त्रियो के ध्वनि सम्प्रदाय मे वैय्याकरणो के सिद्धान्त से दो बातो मे मौलिक भेद है। यद्यपि श्रवणगोचर होने वाले शब्द की अपेक्षा प्रतीति-गोचर होने वाला अर्थ सर्वथा पृथक् ही होता है, वैय्याकरणो के इस सिद्धान्त को साहित्यशास्त्रियो ने भी अगीकृत किया, किन्तु इस की सीमा कुछ और बढा दी। इन लोगो के मत में केवल शब्द ही अर्थ की प्रतीति नही कराता किन्तु अर्थ भी दूसरे अर्थ की प्रतीति कराता है। इस प्रकार वैय्याकरणो ने केवल ध्वनि या वायु-सयोग को ही व्यजक माना था। साहित्य शास्त्र मे अर्थ को भी व्यजक कोटि मे सन्निविष्ट कर दिया। जिस प्रकार अगनाओ मे लावण्य कोई विशेष अग न होते हुए भी समस्त अगो से अभिव्यक्त होने वाला एक पृथक् तत्व होता है इसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ किसी विशेष शब्द का अर्थ न होते हुए भी समस्त शब्दो की शक्ति से अभिव्यक्त होने वाला एक पृथक् ही अर्थ होता है। दूसरा भेद यह है कि वैय्याकरण केवल व्यजक को ही ध्वनि मानते थे और अभिव्यक्त होने वाले अर्थ को वे स्फोट नाम से पुकारते थे। इसके प्रतिकूल साहित्यशास्त्रियो ने ध्वनि शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियो का सहारा लेकर ध्वनि शब्द से ध्वनि सम्बन्धित समस्त उपकरणो को आत्मसात् कर लिया। पहले बतलाया जा चुका है कि ध्वनि शब्द तीन अर्थों मे प्रयुक्त किया गया—(१) व्यजना व्यापार, (२) व्यग्य (प्रतीयमान) अर्थ और (३) व्यजक समुदाय। इस प्रकार साहित्यशास्त्रियो को पृथक अर्थो के लिये पृथक् शब्दो की कल्पना नही करनी पडी और सभी तत्व केवल एक शब्द (ध्वनि) मे ही सन्निविष्ट हो गये।

ध्वनि शब्द की जब भाव-साधन व्युत्पत्ति होती है तब उसका अर्थ होता है "ध्वनन ध्वनि" अर्थात् व्यजना व्यापार। व्यजना व्यापार से भिन्न दो व्यापार और होते हैं—(अ) अभिधा और (ब)लक्षणा। इन्ही दो व्यापारो के आधार पर अभिधा-मूल और लक्षणा मूल ये दो ध्वनिया होती हैं। अभिधा मे वाच्यार्थ विवक्षित रहता है, इसलिये इसे विवक्षित वाच्य कहते है और लक्षणा मे वाच्यार्थ की विवक्षा दूसरी कोटि मे ही समाप्त हो जाती है, अतएव इसे अविवक्षित वाच्य ध्वनि कहते है। इस विषय मे आचार्य लोग व्यापार की चार कोटि मानते है। पहली कोटि मे श्रवण-गोचर होने के बाद शब्द के अभिधेय अर्थ की प्रतीति होती है। दूसरी कोटि मे तात्पर्यानुपपत्ति के कारण बाध-प्रतिसधान से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है, तीसरी कोटि मे तात्पर्य ग्रहण होता है और चौथी कोटि मे व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है। अभिधामूल ध्वनि मे दूसरी कोटि नहीं होती। ध्वनि शब्द के कर्म साधन (ध्वन्यते इति ध्वनि) मानने पर व्यग्यार्थों का उपादान हो जाता है। व्यग्यार्थ की दृष्टि से

ध्वनि ३ प्रकार की होती हैं रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलकार-ध्वनि। इनमे रस-ध्वनि प्रधान होती है। ध्वनि शब्द को करण साधन (ध्वन्यते अनेनेति ध्वनि) मानने पर समस्त व्यजक वर्ग आत्मसात् कर लिया जाता है। व्यजक वर्ग मे पद, पदाश, वाक्य, वर्ण-सघटना इत्यादि सभी कुछ सन्निविष्ट हो जाता है। इस प्रकार समस्त आवश्यक उपकरण इस ध्वनि-शब्द से सगृहीत हो जाते हैं।

ध्वनि सम्प्रदाय वालो की सफलता जहा एक ओर काव्य का निर्दुष्ट लक्षण करने मे और काव्य सम्बन्धी समस्त उपकरणो को एक मे सन्निविष्ट करने मे थी वहा दूसरी ओर उनका महत्त्व इस बात मे भी था कि उन्होने पूर्ण सफलता के साथ काव्य के समस्त उपकरणो को यथास्थान विन्यस्त कर दिया। काव्य के क्षेत्र मे सबसे प्रमुख सम्प्रदाय था—अलकार\सम्प्रदाय। इस सम्प्रदाय के आचार्य रस को भी अलकार मानते थे। इन लोगो का मत था कि शब्द-सौन्दर्य और अर्थ-सौन्दर्य ही काव्य की आत्मा है। काव्य की आत्मा के रूप मे जिन धर्मों का परिज्ञान हो चुका है, उनको भी अलकार कहा जाना चाहिये और जिन धर्मों का परिज्ञान आगे चलकर होगा उनका भी समावेश अलकारो मे ही होना चाहिये। किन्तु लोक मे अलकार कभी अगी नही हो सकता, वह केवल अगी की शोभा बढाने वाला बाह्य उपकरण मात्र होता है। इसी प्रकार काव्य मे भी अलकार कभी अ गी नही हो सकता वह केवल ध्वनि रूप काव्य-आत्मा का शोभाधायक धर्म ही होता है। जहां अलकारो को काव्य का लक्ष्य मान कर उनके लाने का पृथक् प्रयत्न किया जाता है वहा काव्य बिगड जाता है। जब कोई प्रतिभाशाली कवि रसमय रचना करने में अपना मन लगा देता है उस समय ऐसे-ऐसे अलकार, जिनकी सघटना प्रयत्न करने पर भी कठिन है, स्वय आने लगते हैं, जिनको देखकर स्वय कवि को आश्चर्य होने लगता है कि ये अलकार किस प्रकार आ गये। उस समय वह अलकार इस रूप में आते हैं मानो पहले आने के लिये होड सी लगा रहे हो। "कतिपय रसमय वस्तुयें ऐसी होती हैं, जिनमे अलकारो का भी समावेश हो जाता है। वहा पर महाकवि के एक ही प्रयत्न के द्वारा रस और अल कार दोनो की निष्पत्ति हो जाती है।" अलकार के निबन्धन मे विशेष रूप से सावधान रहना आवश्यक है। यदि अलकार ही प्रधान उपास्य हो जाते है तब वे काव्य को आवृत कर लेते है और काव्य की आत्मा तिरोहित हो जाती है। ध्वन्यालोककार ने अलकार निबन्धन मे निम्नलिखित बातो पर ध्यान रखने की आवश्यकता पर बल दिया है—अलकार सर्वदा रस के अग के रूप मे आना चाहिये। उसको कभी रस की अपेक्षा प्रधानता प्राप्त नही होनी चाहिये। इस बात का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है कि अवसर के अनुसार रस का ग्रहण और परित्याग ठीक रूप मे हो। अलकार मे निर्वहण का प्रयत्न लक्षित नही होना चाहिये और यदि निर्वहण कर ही दिया गया हो तो उसको ठीक रूप में रसका अ ग बना दिया जाना चाहिये। इस प्रकार अलकार काव्य की आत्मा नहीं हो

सकते। किन्तु जिस प्रकार अलकार शरीर की शोभा को बढाते हुए आत्मा के उत्कर्ष के साधन होते हैं उसी प्रकार काव्य के अलकार भी शब्दार्थ रूप शरीर की शोभा का आधान करते हुए रसोत्कर्ष मे कारण हो जाते हैं।

जो बात अलकार के विषय मे कही जाती है वही गुण, रीति और वृत्ति के विषय मे भी लागू होती है। वस्तुत काव्य के इन तत्त्वो मे अल कार से अधिक भेद नही है। रमणीयता काव्य का मुख्य प्रवृत्ति-निमित्त है। यह रमणीयता दो प्रकार की होती है—स्वरूपगत रमणीयता और सघटनागत रमणीयता। शब्द और अर्थ की स्वरूपगत रमणीयता शब्दाल कार और अर्थाल कार के नाम से अभिहित की जाती है। तथा सघटनागत रमणीयता शब्द-गुण और अर्थ-गुण के नाम से पुकारी जाती है। वृत्तिया तीन प्रकार की होती हैं—परुषा अथवा नागरिका, कोमला अथवा उपनागरिका और ग्राम्या। इन तीनो वृत्तियो का समावेश अनुप्रास मे हो जाता है। परुष वर्णों के अनुप्रास को नागरिका वृत्ति कहते है, कोमल वर्णों के अनुप्रास को उपनागरिका वृत्ति कहते हैं और सामान्य कोटि के न अधिक परुष और न अधिक कठोर वर्णों के अनुप्रास को ग्राम्या वृत्ति कहते हैं। यही दशा वैदर्भी इत्यादि रीतियो की है। जिस प्रकार वृत्तियो का समावेश अनुप्रास मे हो जाता है उसी प्रकार रीतियो का समावेश गुणो मे हो जाता है। जिस प्रकार गुड, मिर्च इत्यादि मिलाकर पानक रस तैयार किया जाता है और मिलने की योग्यता होने के कारण सभी वस्तुओ का रस सघात रूप मे एक हो जाता है उसी प्रकार जब माधुर्यादि गुणो का समुचित वृत्ति मे सम्मिलन होता है और उनका एक सघात रूप बन जाता है तब उन्हें रीति कहने लगते हैं। इस प्रकार गौड, विदर्भ, पाचाल और लाट देश के कवियो को अधिक रुचिकर होने के कारण ये रीतिया गौडी, वैदर्भी, पाचाली और लाटी इत्यादि कही जाती हैं। ये सभी तत्त्व काव्य के बाह्य अ ग ही हैं, आभ्यन्तर नही। अतएव हम उन्हें काव्य की आत्मा नही कह सकते।

ध्वनि-काव्य की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन

१ अविवक्षित वाच्य :—

प्रसिद्ध पद-मैत्री जब कवि के विवक्षित भाव अथवा अर्थ के प्रत्यायन मे कुण्ठित हो जाती है तब कवि ऐसे शब्दो का प्रयोग करता है जो अपने प्रतिष्ठित अर्थ मे बाधित होकर अपने सामर्थ्य से ही उस विवक्षित अर्थ को अभिव्यक्त कर देते है। इस प्रक्रिया से जो अर्थ अभिव्यक्त किया जाता है वह अविवक्षित वाच्य अथवा लक्षणामूलक ध्वनि के नाम से अभिहित किया जाता है। इस प्रक्रिया के लिए आचार्यों ने एक और नाम दिया है "भक्ति" और इस प्रकार के अभिव्यजक शब्द को भाक्त कहा जाता है। भक्ति अथवा भाक्त ये दोनो शब्द ऐसे हैं जो लक्षणा की समस्त प्रक्रिया को आत्मसात् कर लेते हैं। श्री अभिनव गुप्त पादाचार्य ने लिखा है कि भक्ति शब्द के तीन अर्थ हैं–(१) भग(भज धातु से),(२) भजन या सेवन और

(३) श्रद्धातिशय। यही लक्षणा के तीन नियम हैं—(१) जहा पर मुख्य अर्थ का भग हो, (२) जहा पर मुख्यार्थ व्यतिरिक्त किसी अन्य सगत अर्थ का भजन या सेवन किया जावे और जहा पर (३) मुख्य वृत्ति का परित्याग कर अमुख्य वृत्ति के सेवन करने मे कोई विशेष कारण हो। लक्षणा मे अर्थ बोध का यही क्रम है—पहले तो वाच्यार्थ की प्रतीति होती है, तदनन्तर तात्पर्यानुपपत्ति के कारण वाच्यार्थ का बोध हो जाता है और उससे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होने लगती है। साथ ही उस अन्य अर्थ की भी प्रतीति होती है, जिसके कारण वक्ता मुख्यार्थवाचक व्यतिरिक्त अन्य शब्द का प्रयोग करता है। इसे ही लक्षणा का प्रयोजन कहते है।

शब्द का वाच्यार्थ अभिधेयार्थ कहलाता है, तात्पर्यानुपपत्ति होने पर शब्द से सम्बद्ध जिस दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है वह लक्ष्यार्थ कहलाता है। इन दोनो से भिन्न प्रयोजन की प्रतीति व्यजना वृत्ति के आधार पर होती है। यदि इस व्यंजना वृत्ति से प्रतीत होने वाले अर्थ मे सौन्दर्य का पर्यवसान हो तो उसे अविवक्षित वाच्य ध्वनि के नाम से अभिहित किया जाता है। यद्यपि गौणी सारोपा और गौणी साध्यवसाना लक्षणाए सादृश्यमूलक (रूपक और रूपकातिशयोक्ति इत्यादि) अलकारो मे निमित्त होती हैं तथापि हम उन्हें अविवक्षित वाच्य में सन्निविष्ट नही कर सकते, क्योकि वहा सौन्दर्य का पर्यवसान द्वितीय कोटि (लक्ष्यार्थ) मे ही हो जाता है।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि में लक्षणा का भी अन्वय व्यतिरेक होता है। अर्थात् जहा पर ध्वनि होती है वहा लक्षणा अवश्य होती है और जहा लक्षणा नही होती वहां यह ध्वनि हो ही नही सकती यही कारण है कि इसमें निरूढा लक्षणा पद-घटित ध्वनि तथा अस्फुट गुणीभूतव्यग्यो का समावेश नहीं होता, क्योकि उनमे लक्षणा को मानकर ही ध्वनि नहीं होती। काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यग्य में बाध इत्यादि हेतुओ का प्रतिसन्धान न होने के कारण लक्षणा ही नही अत इस ध्वनि का वहा पर प्रश्न ही नही उठता। अगूढ-गुणीभूतव्यग्य मे भी अविवक्षित वाच्य ध्वनि नही होती, क्योकि आचार्यो ने गूढ व्यग्या लक्षणा को ही इस ध्वनि का मूल माना है। अपराग और वाच्य सिद्ध्यग गुणीभूतव्यग्य इस ध्वनि की सीमा में नही आते, क्योकि उनमे व्यग्यार्थ प्रधान नहीं होता।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि के भेदोपभेदो का प्राचीन तथा मध्यकालीन काव्य मे बहुत कम विकास हुआ था। "पृथ्वी गतयौवना", "निरहकार मृगाक", "छलकता यौवन" इत्यादि दो-चार उदाहरण ही हमे इस सम्पूर्ण काव्यजगत् मे दृष्टिगत होते हैं। मध्यकाल तक इस ध्वनि के केवल दो ही भेद किये जा सके थे—(१) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य और (२) अर्थान्तर सक्रमित वाच्य। अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य उसे कहते हैं, जहा लक्ष्यार्थ तथा प्रयोजन के प्रत्यायन मे वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है और अर्थान्तर सक्रमित वाच्य वहा पर होता है, जहा प्रयोग सामर्थ्य से

वाच्यार्थ दूसरे अर्थ से सम्वलित होकर अपना अर्थ देता है। अर्थात् अर्थान्तर सक्रमित वाच्य मे वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग नही होता। ये दोनो प्रकार की ध्वनिया कही-कही सम्पूर्ण वाक्य मे व्याप्त होती हैं और कही-कही केवल शब्द मे ही सीमित होती है। अतएव प्रत्येक के दो-दो भेद होकर यह अविवक्षित वाच्य ध्वनि चार प्रकार की मानी जाती है—(१) शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य, (२) वाक्य-गत अत्यन्त विरस्कृत वाच्य, (३) शब्द गत अर्थान्तरसक्रमित वाच्य और (४) वाक्यगत अर्थान्तिरसक्रमित वाच्य।

विहारी के समय तक यद्यपि अविवक्षित वाच्य ध्वनि का पूर्ण विकास नहीं हो सका था और न इस प्रकार की ध्वनि काव्य-जगत् मे प्रमुखता ही प्राप्त कर सकी थी तथाति उपर्युक्त चारो भेदो मे विहारी की वाणी प्रवृत्त हुई थी। हमें विहारी सतसई मे न्यूनाधिक रूप मे उपर्युक्त चारो भेदो का समावेश समुपलब्ध होता है। सर्वप्रथम शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य को लीजिए :—

कौहरु सी एडीनु की लाली देखि सुभाइ।
पाइ महावरु देइ को आपु भई बेपाइ ॥४४॥

यहा पर "वेपाइ" का शाब्दिक अर्थ है "पैर रहित" नाइन का पैर रहित हो जाना प्रत्यक्षत वाधित है। अत' तात्पर्यानुपपत्ति के द्वारा "वेपाइ" का अर्थ हो जाता है "गति हीन" अथवा सुधवुध रहित। इसका व्यग्यार्थ होगा कि "नाइन ने जव अत्यन्त वढी हुई पैरो की लाली देखी तव ऐसी किंकर्तव्यविमूढ हो गई कि उसे यह ज्ञान ही नही रहा कि वह कहा है? क्या है? और उसे क्या करना चाहिये? उसे आश्चर्य हुआ कि विना ही महावर के उस के पैर इतने अधिक लाल थे मानो उनमे वहुत ही गाढा महावर पहले से ही लगा दिया गया हो। उसकी बुद्धि इस प्रकार प्रतिहत हो गई जैसे पैरो से रहित किसी व्यक्ति का चलना-फिरना रुक जाता है। इस प्रकार पैरो की लाली की उत्कटता और नाइन के आश्चर्य की अधिकता को व्यक्त करने के लिये "वेपाइ" इस वाधित शब्द का प्रयोग किया गया है जो अपने प्रयोग-सामर्थ्य से दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त कर स्वय अपने अर्थ का सर्वथा परित्याग कर देता है। अतएव यहा पर शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है। इसी प्रकार —

हाहा वदनु उघारि दृग सफल करैं सबु कोइ।
रोज सरोजनु कैं परै हसी ससी की होइ ॥५३॥

यहा पर "रोज पडना" शब्द के विद्वानो ने दो अर्थ किये है—"रोजा पडना" और "दिन पडना"। यह शब्द यहा पर दोनो अर्थो मे वाधित है। कमलो को रोजा रखने की आवश्यकता होती ही नही और दिन पडने का कोई अर्थ ही नही। कोप के अनुसार दिन पडने का अर्थ होगा दिन का आना यद्यपि हिन्दी मे दिन पडना एक मुहावरा हो गया है किन्तु भारतीय शास्त्रीय पद्धति पर इसे लाक्षणिक

प्रयोग ही कहा जावेगा। यदि मुहावरा मान कर इसको आपत्ति के अर्थ मे अभिधेय भी मान लें तो भी मुहावरे के अनुसार किसी मनुष्य पर ही दिन पडता है। कमलो पर दिन पडना सर्वथा बाधित है। क्योकि दिन का आना कमलो के लिये अच्छी बात है, विकास का द्योतक है जो कि प्रस्तुत प्रकरण मे सगत नही होता। अत यह शब्द बाधित होकर कमलो के सकोच को लक्ष्य कर कमलो की अपेक्षा भी नायिका के नेत्रो के सौंदर्याधिक्य को व्यक्त करता है। यद्यपि कुछ विद्वानो ने "सरोज" और "ससी" मे गौणी—साध्यवसाना लक्षणा मान कर "सरोज" का अर्थ "सरोज के समान नेत्र" और ससि का अर्थ "ससी के समान मुख" किया है। किन्तु सौन्दर्य का पर्यवसान उन अर्थों मे नही होता। सौन्दर्य का पर्यवसान तो "रोज पडने" मे ही है। दूसरी बात यह है कि नायक के नेत्र कमलो पर दिन पडना किसी नायिका या उसकी सखी को अभिप्रेत नही हो सकता। अत सरोज और ससी का स्वाभाविक सामान्य अर्थ ही करना चाहिये। इस प्रकार यहा पर शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ही है। इसी प्रकार —

होमति सुखु, करि कामना तुमहिं मिलन की, लाल।
ज्वालमुखी सी जरति लखि लगनि-अगनि की ज्वाल ॥५४॥

"सुख का होमना" अपने अभिधेयार्थ मे बाधित है। क्योकि आज्य पदार्थ घी इत्यादि ही हो सकता है सुख नही। इसका लक्ष्यार्थ है कि "वह नायिका तुम्हारे वियोग मे दुखी रहती है"। व्यग्यार्थ है कि—"नायिका के सारे सुख उसी प्रकार समाप्त हो गये हैं जिस प्रकार अग्नि मे आहुति डालने पर वह एकदम भस्म हो जाती है। यह नायिका की साधना वैदिक विधि के समान ही व्यर्थ नही होनी चाहिये। अत तुम चल कर शीघ्र ही उसे कृतार्थ करो और उस की साधना पूरी करने की चेष्टा करो"। यहा पर "सुख" शब्द का "होमति" के साथ प्रयोग एक विशेष चमत्कार उत्पन्न करने के लिये किया गया है। यद्यपि "सुख रूपी आज्य" यह अर्थ वाच्य सिद्धि मे सहायक होता है और इस प्रकार इसके वाच्यसिद्ध्यगगुणी भूत व्यग्य की शका हो सकती है तथापि साधना-सिद्धि की अनिवार्यता, नायक को नायिका से तत्काल मिलने की प्रेरणा तथा नायिका का प्रेमाधिक्य वाच्य सिद्धि का अग नही कहे जा सकते। अत यहा पर शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का मानना ही ठीक होगा। शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य के कतिपय अन्य उदाहरण ये हैं —

(१) छुटी न सिसु की झलक, झलक्यो जोवनु अग ॥७०॥

झलक किसी मूर्त पदार्थ की ही हो सकती है शिशुता या यौवन की नही इस से यहा पर सौन्दर्याधिक्य व्यक्त होता है।

(२) गदराने तन गोरटी, ऐपन-आड़ लिलार ॥९३॥

कोई फल ही गद्दर हो सकता है शरीर नही इससे आयु की कोमलता और आकर्षकता व्यक्त होती है।

(३) सतर भौंह, रूखे बचन, करति कठिनु मनु नीठि ।
(४) चाहि लखें लोइनु लगै कौन जुवति की जोति ।
(५) यह विनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु ।
(६) करति कोलाहल किंकिनी ।
कोलाहल करना (कर्तृ सम्बन्ध) चेतन धर्म है ।
(६–अ) खरी पातरी कान की ।
(७) सकत न तुव ताते वचन मो रस कौ रसु खोइ ।
(८) मन काचैं नाचैं वृथा साचैं राचैं राम ।
(९) आई जावन लेन कौं नेहै चली जवाइ ।
(१०) कहा लडैते दृग करे ।
(११) रगराती रातैं हियैं प्रियतम लिखी बनाय ।
"रगराती" यह पत्र का विशेषण बाधित है ।
(१२) पट की ढिग कत ढापियति, सोभित सुभग सुबेष ।
"सुवेष" विशेषण "रद-छद" के लिये सगत नही है । वेष वनाना मनुष्य का काम है रद-छद का नही ।
(१३) अनत बसे निसि की रिसनु उर वरि रही विसेषि ।
(१४) भृकुटी-मटकनि पीत-पट चटक लटकती चाल ।
(१५) लगति लटकि आली गरैं चित खटकति नित आनि ।।
(१६) इहिं द्वैहीं मोती सुगथ तू, नथ, गरबि निसाक ।
(१७) सीधे पाव न धरि परै सोभा ही कै भार ।
(१८) ज्यौं-ज्यौं रूखी रूख करत त्यौं त्यौं चितु चिकनाइ ।
(१९) त्यौं-त्यौं अति मीठी लगै ज्यौं-ज्यौं ढीठ्यौ देइ ।।
(२०) जिन हीं उरझ्यौ मो हियो तिन ही सुरझे बारं ।।
(२१) छतौ नेहु कागर हियैं, भई लखाइ न टाकु ।
टक किसी वस्तु का परिमाण हो सकता है, नेह का नही ।
(२२) मो दृग लागे रूप दृगनु लगैं अति चटपटी ।
चटपटापन मुह में लगता है नेत्रो मे नही ।
(२३) पूछें क्यो रूखी परति ।
(२४) बहके, सब जिय की कहत, ठौर कुठौर लखें न ।
बहकना चेतन का धर्म है, मनुष्य बहक सकता है नेत्र नही ।
(२५) चुपके करि चारी करत सारी परी सलोट ।।

उपर्युक्त उद्धरणों मे रेखांकित शब्द अपने अभिधेयार्थ मे बाधित हैं और किसी विशेष चमत्कार को उत्पन्न करने के लिये ही प्रयुक्त हुए हैं अतएव ये शब्द-गत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य के उदाहरण हैं।

जब समस्त वाक्य के अभिधेयार्थ का बाध हो जाता है और उस के स्थान पर कोई अन्य चमत्कारकारक अर्थ अभिव्यक्त होने लगता है तब वहा पर वाक्य-गत अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य अविवक्षित वाच्य-ध्वनि कही जाती है। विहारी सतसई मे ऐसे उदाहरण अधिकतर नेत्रों के वर्णन मे मिलते हैं।

नेहु न, नैननु कौं कछू उपजी बडी बलाइ।
नीर-भरे नितप्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाइ॥

स्नेहन कर्म किसी मनुष्य का ही होता है और उसके विगड जाने पर उसी को बाधा उत्पन्न होती है। नेत्र का स्नेहन कर्म बाधित है। उससे प्रेम की अधिकता, विरह-वेदना की तीव्रता और उपचार की अनिवार्यता व्यक्त होती है। इसी प्रकार —

(१) लाज-गरब-आलस-उमग भरे नैन मुसकात।
(२) बेधक अनियारे नयन, बेधत करि न निषेधु।
बरवट बेधतु मो हियौ तो नासा कौ बेधु॥
(३) मै तोसौं कैवा कह्यो, तू जिन इन्हें पत्याइ।
लगालगी करि लोइननु उर में लाई लाइ॥
(४) मोहू सौं तजि मोहु, दृग चले लागि उहि गैल।
छिनकु छ्वाइ छवि गुर-डरी छले छवीले छैल॥
(५) जसु अपजसु देखत नहीं देखत सावल गात।
कहा करौं, लालच-भरे चपल नैन चलि जात॥
(६) नख-सिख-रूप-भरे खरे, तौं मागत मुसकानि।
तजत न लोचन लालची ये ललचौहीं बानि॥
(७) नैना नेकु न मानहीं, कितौ कह्यो समुझाइ।
तनु मनु हारे हू हंसे, तिन सौं कहा बसाइ॥
(८) डौंडी दै गुन रावरे कहत कनौडी वीठि।
(९) ढरे ढार, तेहीं ढरत; दूजै ढार ढरैं न।
क्यों हूं आनन आन सौं नैना लागत नैन॥
(१०) जदपि बचाइनु चीकनी चलति चहु दिसि सैन।
तऊ न छाडत दुहुन के हसी रसीले नैन॥
(११) चित के हित के चुगल ये नित के होहिं नैन।
(१२) रहे निगोडे नैन डिगि गहैं न चेत अचेत।
हौं कसु कै रिस को करौं ये निसुके हसि देत॥

ऊपर जो दोहे उद्धृत किये गये हैं उनमे जिन गुणो, धर्मो, क्रियाओ का वर्णन किया गया है वे किसी मानव मे ही सम्भव हो सकती हैं। उनका नेत्रो से सम्बन्ध बाधित है और इस प्रकार एक नवीन चमत्कार को उत्पन्न करने मे कारण हो गया है। नेत्रो के अतिरिक्त अन्य प्रसगो मे भी कवि ने अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-परक वाक्य लिखे है। नीचे कतिपय उदाहरण दिये जाते हैं —

तो हीं, निरमोही, लग्यौ मो ही इहे सुभाउ।
अनआए आवै नही, आए आवतु आउ॥

किसी से प्रगाढ प्रेम के कारण सदा उस के साथ ही रहना और उस के विना कही न आना-जाना किसी मनुष्य मे ही सगत हो सकता है। हृदय मे यह बात ठीक नही हो सकती। अत वाच्यार्थ का बाध हो जाता है और उससे चमत्कार-पूर्ण इस सुन्दर अर्थ की अभिव्यक्ति होने लगती है "हे प्रियतम, मेरा मन सर्वदा तुम्हारा ही चिन्तन करता रहता है। जब तक तुम मेरे निकट नही आते तब तक मेरा मन कही नही लगता। एक व्याकुलता सी बनी रहती है। मेरी दशा पर तरस खाकर तुम्हे शीघ्र ही मेरे पास आना चाहिये।" हृदय के लगने और प्रियतम के साथ ही आने-जाने से भावना की तीव्रता अभिव्यक्त होती है। चमत्कार का भावाभिव्यक्ति मे पर्यवसान होने के कारण सौन्दर्य व्यग्यार्थ मे ही है। अत यहा पर वाक्यगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है। दूसरा उदाहरण —

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन माह।
देखि दुपहरी जेठ की छाहौं चाहति छाँह॥

इच्छा करना चेतन धर्म है, वह छाया मे सम्भव नही। अत बाधित होकर आतप की भीषणता को अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार —

तन्त्री-नाद, कवित्त रस, सरस राग, रति-रग।
अनबूडे बूडे, तरे जे बूडे सब अग॥

डूबना और तरना सरोवर इत्यादि के जल मे ही सम्भव है। तन्त्रीनाद इत्यादि मे नही। अत डूबने और तरने का अर्थ बाधित होकर पूर्ण रसास्वादन का परिचायक हो जाता है। एक और उदाहरण —

करी विरह ऐसी, तऊ गैल न छाडतु नीचु।
दीनें हू चसमा चखनु चाहै लहै न मीचु॥

गली न छोडना और निरन्तर आना किसी चेतन मे ही सम्भव है विरह मे नही। इसी प्रकार चश्मा लगाकर ढूढना भी चेतन धर्म ही है। मृत्यु का धर्म नहीं इस प्रकार इन शब्दो के अभिधेयार्थों का बाध होकर कृशता की अधिकता के लक्ष्यार्थ से विरह-वेदना की निरन्तरता, भीषणता और नायक के सम्मिलन की अनिवार्यता अभिव्यक्त होती है। निम्नलिखित वाक्यो में भी इसी प्रकार वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत हो गया है :—

(११) रहि न सक्यौ, कसु करि रह्यौ, बसकरि लीनौ मार।
भेदि दुसार कियौ हियौ तन-दुति भेदं सार॥
(१२) बेसरि-मोती, धनि तुही को बूझै कुल, जाति।
पीबौ करि तिय-ओठ कौ रसु निधरक दिन राति॥
(१३) दीठि परस उठि पीठि के पुलके कहै पुकारि।
(१४) चुप करि ये चारी करत सारी परी सलौट।
(१५) कहे देत यह प्रगट ही प्रगट्यो पूस पसेउ।

यदि उपर्युक्त उदाहरणो का विश्लेषण किया जावे तो ज्ञात होगा कि ५ प्रकार से अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य हुआ है—(१) मानवगत गुण, कर्म, स्वभाव का अचेतन वस्तु के सम्बन्ध मे वर्णन। (२) मूर्तगत गुण-कर्म स्वभाव का अमूर्त वस्तु के प्रसग मे वर्णन। (३) मूर्त-धर्म का अमूर्त के विषय मे वर्णन। (४) प्रत्यक्ष सिद्ध अतएव कथन के लिये अनुपादेय वस्तु का सौन्दर्याभिव्यजन के लिये उपादान और (५) वक्ता की भावना के प्रतिकूल कथन। प्राचीन कविगण इन्ही ५ प्रकारो से अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि का उपादान करते थे। और लक्षण ग्रथो के उदाहरणो का विश्लेषण करने से इन्ही ५ प्रकारो का पता चलता है। बिहारी ने इन सभी प्रकारो का स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयोग किया है और सभी के उदाहरण पर्याप्त मात्रा मे अधिगत हो जाते है।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि का दूसरा भेद है अर्थान्तर सक्रमित वाच्य ध्वनि। इसमे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य के समान वाच्यार्थ का सर्वदा परित्याग नही होता। वाच्यार्थ अपने प्रयोग-सामर्थ्य से वाच्येतर अर्थ को अभिव्यक्त करता है। साथ ही अपने अर्थ का भी सर्वथा परित्याग नही करता। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि अर्थान्तरसक्रमितवाच्य उपादान लक्षणा मे होता है और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य लक्षणलक्षणा मे। अर्थान्तरसक्रमित वाच्य का कही तो इस रूप मे प्रयोजन होता है कि किसी एक समूह से प्रकरणानुकूल दो-एक का उपादान कर दिया जाता है और उससे सम्पूर्ण समूह का अवगम हो जाता है और कही-कही सामान्य प्रत्यक्ष बात का इस रूप मे उपादान किया जाता है कि उससे अर्थान्तर की अभिव्यक्ति चमत्कार-कारक रूप मे हो जाती है। उदाहरण के लिये —

कौन भांति रहिहै बिरद अब देखिवी, मुरारि।
बीधे मोसौं आइ कै गीधे गीधहि तारि॥

भगवान् ने केवल गीध को ही नही तारा किन्तु अनेक पापियो की कथायें पुराणो मे पाई जाती हैं जिनका उद्धार भगवान् ने किया है। फिर केवल "गीध को तारकर भगवान् गिध गये हैं" यह कथन सगत नही हो सकता। अत बाधित होकर इसका लक्ष्यार्थ हो जाता है "निम्नकोटि के पापी।" इसका व्यग्यार्थ होता है—"हे भगवान् आपने जिन पापियो का उद्धार किया था वे वास्तविक पापी नही थे, उनका

तारना सरल था। वास्तविक पापी तो मै हू । जब आप मुझे तार देंगे तभी आप वास्तविक रूप मे पतितोद्धारक कहे जावेगें।" इस प्रकार बिहारी की दीनता और विनय गीध शब्द से ध्वनित होते है, साथ ही "गीध" शब्द के अर्थ का सर्वथा परित्याग भी नही होता। क्योकि भगवान् ने गीध को भी तारा ही था। अतएव यहा पर पदगत-अर्थान्तिरसक्रमितवाच्य ध्वनि है। इसी प्रकार —

रही पकरि पाटी सु रिस भरे भौंह चितु नैन।

यहा पर "भरे भौंह चितु नैन" का प्रयोग क्रोध की चेष्टाओ को अभिव्यक्त करने के लिये किया गया है। इस प्रकार यहा पर अर्थान्तिर सक्रमित वाच्य-ध्वनि है। दूसरा उदाहरण —

बड़ बोलो बलि होत कत बड़ दृगन के जोर।

यहा पर "बडे दृगनु के जोर' शब्द का प्रयोग सौन्दर्याभिमान के अर्थ मे किया गया है। इसी प्रकार —

अब तजि नांउ उपाव कौ, आए पावस-मास।
खेलु न रहिवो खेम सौं केम-कुसुम की बास॥

यहा पर "केम" (कदम्ब) के पुष्पो का उपादान वर्षाकाल के समस्त उद्दीपक पुष्पो के उपलक्षण के रूप मे हुआ है।

जहा पर इस प्रकार का उपादान शब्द तक सीमित न हो अपितु वाक्य में व्यापक हो वहा पर वाक्य गत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य होता है। जैसे —

घर-घर तुरकिनि, हिंदुनी देति असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर, चुरी तैं राखी, जयसाहि॥

यहा पर "चादर और चूडी की रक्षा की" यह वाक्य सोहाग की सभी वस्तुओ की रक्षा के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार —

जपमाला, छापे, तिलक सरै न एकौ काम।
मन-काचै नाचै वृथा, साचै राचै रामु॥

यहा पर "जप माला, छापा, तिलक से एक भी काम नही चलता" यह कथन समस्त वाह्याडम्बरो के प्रतिषेध मे प्रयुक्त हुआ है।

कही-कही सामान्य प्रत्यक्षोक्ति कथन की शक्ति को बढाने के लिये प्रयुक्त की जाती है। जैसे —

तुहू कहति, हौं आपु हू समुझति सबै सयानु।
लखि मोहनु जौ मनु रहै, तौ मन राखौं मानु॥

यहा पर "तू कहती है" इस कथन की कोई आवश्यकता ही नही। वह तो सामने कह रही है। इसी प्रकार —"मैं जानती हू" इस कथन की आवश्यकता नही। क्योंकि [व्यवहार से यह व्यक्त हो सकता है कि वह जानती है। अतएव दोनो उक्तियों का बाध हो जाता है और उससें लक्ष्यार्थ निकलता है—"तुम बार-बार हठ-

'पूर्वक समझाती हो और मैं तुम्हारी वात समझती भी भली-भाँति हू ।" इससे प्रेम की उत्कटता और कृष्ण की आकर्षकता की अधिकता अभिव्यक्त होती है। इस उदाहरण तथा "मनु ह्वै जात अजौ वहै" इस उदाहरण मे अन्तर यह है कि सखी के कहने का सर्वथा परित्याग नही होता जवकि मन के वही हो जाने का सर्वथा परित्याग हो जाता है । यदि मन वैसा हो गया तो इसका आशय यही है कि इसके पहले मन वही नही रह गया था जो कि प्रत्यक्षत. वाधित है ।

इस प्रकार यहा पर प्रयोजनवती लक्षणा के उदाहरण दिये गये हैं। लक्षणा का प्रयोग तथा अभिधावृत्ति का परित्याग जिस प्रयोजन से होता है उसकी प्रतीति व्यजनावृत्ति के आधार पर होती है। यदि काव्य-सौन्दर्य का पर्यवसान व्यग्य प्रयोजन मे ही हो तो उसे अविवक्षित वाच्य ध्वनि कहते है, जिसके दोनो भेदो (अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य और अर्थान्तर सक्रमित वाच्य) के उदाहरण दिये जा चुके हैं। प्रयोजनवती लक्षणा से भिन्न एक और लक्षणा होती है, जिसको निरूढा लक्षणा कहते हैं। कभी-कभी किसी शब्द का अपने लाक्षणिक अर्थ मे इतना अधिक प्रयोग हो चुका होता है कि लोग उसकी लाक्षणिकता को ही भूल जाते हैं। प्रयोग-वाहुल्य के कारण लाक्षणिक अर्थ शब्द से सम्वद्ध होकर वाच्यार्थ के समान प्रयुक्त होने लगता है और शक्ति भ्रम से ही उसका प्रयोग-प्राचुर्य भी हो जाता है। इस प्रकार की लक्षणा को निरूढा लक्षणा कहते है। इसका प्रयोग कभी किसी प्रयोजन से नही होता। अतएव इसमे व्यजनीयता भी नही होती, किन्तु अभिनव के मत के अनुसार कही-कही कवि निरूढा लक्षणा का प्रयोग करते हुए भी उसके मूल-अर्थ की ओर ध्यान आकर्षित करता है और इस प्रकार शब्द की लाक्षणिकता की ओर सकेत किया करता है। ऐसी दशा मे निरूढा लक्षणा भी व्यजक हो जाती है। उदाहरण के लिये सलोने शब्द को लीजिए। इस शब्द का अर्थ है "नमकीन", नमकीन भोजन खाने मे अच्छा लगता है और आनन्ददायक भी होता है। इन्ही धर्मों को लेकर सलोने शब्द का प्रयोग रूप के लिये प्रचुरता के साथ होने लगा। विहारी ने इस शब्द का प्रयोग सामान्य निरूढा लक्षणा के रूप मे भी किया है और इसकी लाक्षणिकता की ओर ध्यान आकृष्ट कर व्यजक रूप मे भी किया है। साधारण निरूढा लक्षणा के रूप मे —

लखि, लोने लोइननु कै कोइनु, होइ न आजु।
कौन गरीब निवाजिवौ कित तूठ्यौ रतिराजु ॥

इसके प्रतिकूल निम्नलिखित पद्य मे लोने शब्द का लाक्षणिकता तथा व्यजकता के रूप मे प्रयोग हुआ है —

कितौ मिठास दयौ दई इतै सलोने रूप।

इसी प्रकार —

(१) त्यौं-त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं-ज्यौं पियत अघाइ।
सगुन सलोने रूप की जु न चख तृषा बुझाइ ॥

(२) साजे मोहन-मोह कौं, मोहीं करत कुचैन।
कहा करौं, उलटे परे टोने लोने नैन ॥

वशीकरण के लिए जिस टोने का प्रयोग किया जावे यदि वह उल्टा पड जाता है तो प्रयोक्ता पर ही उसका प्रभाव पडता है, प्रयोज्य पर नही। नेत्र "नमकीन" हैं, मानो कृष्ण को वस मे करने के लिए नमक से युक्त टोने सजाये गये हैं। किन्तु, उनका प्रभाव उल्टा हो जाने से नायिका स्वय ही, व्याकुल होने लगी है। लक्षणामूलक होने के कारण इसे भी अविवक्षित वाच्य ध्वनि ही कहेगे। यही विहारी की लक्षणामूलक ध्वनि का सक्षिप्त परिचय है।

२. विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि :—

उपर्युक्त अविवक्षित वाच्य अथवा लक्षणा मूलक ध्वनि से भिन्न एक दूसरे प्रकार की ध्वनि और होती है, जिसे विवक्षितान्यपरवाच्य अथवा अभिधामूलक ध्वनि कहते है। सामान्यतया लक्षणा और अभिधामूलक ध्वनियो मे बाध का प्रतिसधान अवश्य होता है और तात्पर्यानुपपत्ति के कारण वाच्य-अर्थ के असगत हो जाने पर उस असगति को मिटाने के लिए उसी वाच्यार्थ से सम्वद्ध एक दूसरा अर्थ ले लिया जाता है। साथ ही इस प्रकार की अर्थाभिव्यक्ति मे कुछ सौन्दर्य अवश्य होता है। यदि सामान्य रूप मे वाच्यार्थ के द्वारा उसी बात का कथन किया जाता, तो उस सौन्दर्य का प्रतिभास नही हो सकता था। इसे ही लक्षणा का प्रयोजन कहते हैं। प्रयोजन की प्रतिपत्ति व्यजना-वृत्ति के द्वारा ही होती है, और उसी मे रमणीयता का पर्यवसान होने पर लक्षणामूलक अथवा अविवक्षित वाच्य ध्वनि कही जाती है। इसके प्रतिकूल विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि मे न तो तात्पर्यानुपपत्ति होती है, न बाध का प्रतिसधान, और न मध्यवर्ती वाच्यार्थ सम्वद्ध लक्ष्यार्थ की प्रतीति। इसमे वाच्यार्थ स्वत पूर्ण तथा सगत होता है, किन्तु सहृदयता के कारण परिस्थिति के प्रकाश मे एक अन्य अर्थ की प्रतीति होने लगती है जिसके लिए आवश्यक नही है कि वह दूसरा अर्थ-वाच्यार्थ से सर्वथा सम्वद्ध ही हो। इसी को अभिधामूलक ध्वनि कहते हैं। इसमे वाचार्थ विवक्षित होता है, इसीलिए ध्वनिकार ने इसे विवक्षित वाच्य ध्वनि के नाम से अभिहित किया है। किन्तु विवक्षित-वाच्य शब्द कुछ भ्रामक है। इस शब्द की अतिव्याप्ति ऐसे स्थान पर भी पहुच जाती है, जहा वाच्य तो विवक्षित हो, किन्तु व्यग्यार्थ विल्कुल न हो। इसी भ्रामकता का परिहार करने के लिये आनन्दवर्धन ने इस शब्द मे 'अन्यपर' और जोड दिया, और इसका नाम विवक्षितान्यपरवाच्य कर दिया।

विवक्षितान्यापर वाच्य के स्थूल रूप मे तीन भेद हो सकते है—(१) रस ध्वनि, (२) वस्तु-ध्वनि और (३) अलकार-ध्वनि। किन्तु रस-ध्वनि के प्रतिभास में शेष दो ध्वनियो के प्रतिभास की अपेक्षा कुछ मौलिक अतर है। रस-ध्वनि की प्रतीति मे वाच्यार्थ के व्यवधान का अनुभव नही होता, किन्तु शेष दो ध्वनियो की प्रतीति में

वाच्यार्थ के व्यवधान का अनुभव हो जाता है। उदाहरण के लिए तुलसी के रामचरित-मानस मे जव हम पुष्पवाटिका के अदर राम और सीता की प्रणय-गर्भित चेष्टाओ का परिशीलन करते हैं उस समय प्रणय का प्रतिभास हमे शब्द-श्रवण समकाल मे ही होता चलता है। यद्यपि वहा पर एक सूक्ष्म व्यवधान होता अवश्य है। पहले हमे शब्दार्थ की अवगति होती है, और वाद मे प्रेम, क्रोध, दया, भय इत्यादि भावो का परिज्ञान होता है। किन्तु यह व्यवधान इतना सूक्ष्म होता है कि इसका लक्षित कर सकना साधारण अवस्था मे सर्वथा असभव होता है। केवल विचार दशा मे ही उस क्रम का अनुसधान किया जा सकता है। इसके प्रतिकूल वस्तु और अलकार ध्वनियो मे क्रम की स्पष्ट प्रतीति होती है। सामान्य रूप मे ही हमे पहले वाच्यार्थ की प्रतीति होती है और फिर प्रकरणादि के सहकार से द्वितीय अर्थ (व्यग्यार्थ) का प्रतिसधान होता है। अतएव आचार्यो ने विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलक) ध्वनि के दो भेद किये है—(१) असल्लक्ष्य क्रम-व्यग्य अथवा रस-ध्वनि और (२) सल्लक्ष्य-क्रम-व्यग्य अथवा वस्तु और अलकार ध्वनि।

असल्लक्ष्य क्रम-व्यग्य या रस-ध्वनि अनेक प्रकार की होती है। इसमे रस-ध्वनि, भाव-ध्वनि, रसाभास-ध्वनि, भावाभास-ध्वनि, भावोदय, भावशान्ति, भाव-शवलता इत्यादि अनेक प्रकार सन्निविष्ट हो जाते हैं। इन भेदो के उपभेदो और अग-प्रत्यगो को मिला कर पूरा रस-शास्त्र एक अत्यन्त विस्तृत तथा व्यापक क्षेत्र मे फैला हुआ है और किसी एक उपभेद अथवा अग का पूर्ण प्रतिसधान कर सकना तथा एक ही अग के समस्त भेदो का सकलन कर सकना सर्वथा असभव है। अतएव सुविधा के लिये इस समस्त रस-परम्परा को असल्लक्षयक्रमव्यग्य के नाम से अभिहित कर दिया गया है। अनेक आचार्यों ने जिनमे अभिनव गुप्त पादाचार्य तथा विश्वनाथ महापात्र जैसे आप्त व्यक्ति भी सम्मिलित है। इस असल्लक्ष्य क्रम-व्यग्य अथवा रस-ध्वनि को ही काव्य-आत्मा माना है। शेष दो वस्तु तथा अलकार ध्वनियो को रस-ध्वनि का पर्यवसायी होने पर काव्य की सीमा मे सन्निविष्ट किया गया है। अतएव रस-ध्वनि का विवेचन अलग से ही एक-दूसरे अध्याय मे किया जावेगा। प्रस्तुत अध्याय मे हम सल्लक्ष्य-क्रम व्यग्य का स्वरूप और विहारी मे उसके प्रतिफलन पर विचार करेंगे।

कभी-कभी कवि जान-बूझकर द्वि अर्थक शब्दो का प्रयोग किया करता है। उनमे से एक ही अर्थ प्रकरणानुकूल होता है और सर्वसाधारण का ध्यान भी उसी अर्थ की ओर जाया करता है। द्वि-अर्थक शब्दो के आधार पर पूरे वाक्य से एक दूसरा और अर्थ प्रतिभासित हो जाता है, जो न तो प्राकरणिक ही होता है और न प्राकरणिक अर्थ से अनिवार्य रूप से अभिसम्वद्ध ही होता है। किन्तु इस अर्थ का प्राकरणिक अर्थ मे सहकार अवश्य होता है और यह अर्थ प्रथम अर्थ में कुछ विशेषता का आधान कर दिया करता है। यह एक ऐसी विशेषता होती है, जिसको

सहृदय रहस्यवेत्ता ही समझ सकते है। सर्वसाधारण के लिये उसका ज्ञान सर्वथा अशक्य होता है। ऐसे स्थान पर द्वितीय अर्थ की अभिव्यक्ति मे द्वि-अर्थक शब्दो का प्रयोग ही कारण होता है। यदि उन शब्दो के स्थान पर उनके पर्यायवाचक शब्दो का प्रयोग कर दिया जावे तो दूसरे अर्थ की प्रतीति हो ही न सकेगी। अत इस प्रकार के सल्लक्ष्य-क्रम-व्यग्य को शब्दशक्तिमूलक ध्वनि कहते हैं।

शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि से भिन्न एक और ध्वनि होती है जिसे अर्थ-शक्ति-मूलक-ध्वनि कहते हैं। अर्थ-शक्तिमूलक ध्वनि मे द्वि-अर्थक शब्दो का प्रयोग नही किया जाता और न ऐसे ही शब्द रखे जाते है, जिनको पर्यायो के द्वारा न बदला जा सके। यह ध्वनि ऐसे स्थान पर भी होती है जहा वक्ता जो कुछ कहता है, उससे भिन्न एक अन्य अर्थ उसी उक्ति के आधार पर भी अभिव्यक्त हो जाता है। वैसे तो शब्द और अर्थ दोनो का समवाय सम्बन्ध है। अत जहा शब्द अभिव्यजक होता है, वहा अर्थ का सहकार भी अनिवार्य होता है और जहा पर अर्थ अभिव्यजक होता है, वहा शब्द का सहकार भी अवश्य ही हुआ करता है। ऐसी दशा मे व्यपदेश मे कारण प्रधानता होती है। जहा अभिव्यजक क्रिया मे शब्द की प्रधानता होती है, वहा शब्द शक्तिमूलक ध्वनि कही जाती है और जहा अर्थ की प्रधानता होती है वहा अर्थ-शक्तिमूलक ध्वनि मानी जाती है। शब्द और अर्थमूलक ध्वनियो का सबसे बडा परिचायक अन्तर यह है कि शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि मे अभिव्यजक शब्दो के पर्याय रख देने से ध्वनि समाप्त हो जाती है किन्तु अर्थ-शक्तिमूलक ध्वनि मे पर्याय रख देने से भी ध्वनि के प्रतिभास मे किसी प्रकार का अन्तर नही आता।

पहले कहा जा चुका है कि अभिधामूलक ध्वनि मे लक्षणामूलक ध्वनि की भाति बाध प्रतिसधान इत्यादि की आवश्यकता नही रहती। इसका अर्थ यह नही है कि अभिधामूलक ध्वनि मे किसी प्रकार का आधार अपेक्षित ही नही होता। जिस प्रकार लक्षणामूलक ध्वनि मे बाध-प्रतिसधान इत्यादि की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार अभिधामूलक ध्वनि मे प्रकरण इत्यादि का सहकार अपेक्षित होता है। काव्यप्रकाशकार ने कतिपय आधारो का उल्लेख इस प्रकार किया है —

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधे ।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ॥

जब प्रतिभाशाली व्यक्तियो को एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है तब उस अर्थ की प्रतीति मे जो प्रक्रिया कारण होती है उसी प्रक्रिया को व्यजना कहते है। जिन विशेषताओ के द्वारा अर्थान्तर की प्रतीति होती है वे ये है—(१) वक्ता की विशेषता, (२) बोद्धव्य (सबोध्य) व्यक्ति की विशेषता, (३) काकु या ध्वनि विकार, (४) वाक्य की विशेषता, (५) वाच्यार्थ की विशेषता, (६) वक्ता और बोद्धव्य से भिन्न किसी अन्य व्यक्ति की निकटता, (७) प्रस्ताव या प्रकरण

की विशेषता, (८) देश की विशेषता, (९) काल की विशेषता, (१०) उसी प्रकार किसी अन्य तत्त्व की विशेपता।

जिस अर्थ से दूसरे अर्थ की अवगति होती है वह वाच्य, लक्ष्य या व्यग्य इन तीनो अर्थों मे कोई भी हो मकता है। उपर्युक्त आधार सभी ध्वनियो मे हो सकते है, किन्तु इनसे विशेष रूप से अर्थ-शक्तिमूलक ध्वनियो की व्यजना होती है। विहारी ने उक्त सभी आधारो का प्रयोग किया है। विवक्षितान्यपरवाच्य सल्लक्ष्य-क्रम व्यग्य ध्वनि के भेदोपभेदो की विस्तृत व्याख्या करने से पूर्व विहारी मे उक्त आधारो का अनुसन्धान कर लेना अप्रासगिक न होगा।

(१) वक्ता की विशेपता से ध्वनि का उदाहरण जैसे —

वैठि रही अति सघन वन, पैठि सदन तन माह।
देखि दुपहरी जेठ की छाहौं चाहति छाह॥

यहा पर व्यजना यह निकली है कि "इस समय दोपहरी का आतप अत्यन्त असह्य है, कोई भी व्यक्ति इस समय वाहर नही निकलना चाहता।" इस व्यग्यार्थ से एक दूसरी व्यजना यह निकलती है कि "हे प्रियतम, यह समय वाहर जाने का नही है, आओ हम लोग घर के अन्दर ही वैठ कर सुरत-क्रीडा का आनन्द लें"। यह व्यजना तभी निकल सकती है, जवकि हमे यह ज्ञात हो जावे कि कहने वाली कोई कामिनी है यदि कहने वाला कोई अन्य व्यक्ति होता तो केवल पहली ही व्यजना निकलती और सामान्य रूप में ग्रीष्म का ही वर्णन रह जाता। इस प्रकार यहा पर भी वक्ता की विशेषता से व्यजना होती है। यद्यपि यहा पर वोद्धव्य की भी विशेपता हो सकती है, क्योकि यदि नायिका नायक से न कह कर ये शब्द किसी अन्य से कहती तो ऐसी व्यजना नही हो सकती थी। तथापि यहा पर चमत्कार वक्ता की विशेपता मे ही है क्योकि इससे नायिका का औत्सुक्य अभिव्यक्त होता है। इसी का दूसरा उदाहरण —

कारे-वरन डरावने कत आवत इहि गेह।
कै वा लखौं, सखी, लखै लगै थरथरी देह॥

इससे यह व्यजना निकलती है कि नायिका भगवान् कृष्ण के प्रेम से प्रभावित है और कृष्ण को देखकर नायिका के अन्दर कम्प सात्विक का आविर्भाव हो जाता है। नायिका उसे भय के कारण उद्भूत हुआ वतला कर अपने प्रेम को सखी से छिपाना चाहती है। यह भी वक्ता की विशेपता से ही ध्वनि निकलती है। इसी विपय का तीसरा उदाहरण है —

जदपि लौंग ललितौ, तऊ तूं न पहिरि इक आक।
सदा साक वढ़ियै रहै, रहै चढ़ी सी नाक॥

इससे यह व्यजना निकलती है कि नायक अपराधी है। उसके अपराध के प्रकट हो जाने के कारण नायिका ने क्रोध किया है और उसकी नाक चढ गई है।

नायक भी उसके क्रोध को समझता है, किन्तु यदि वह यह कह दे कि उसे नायिका के क्रोध का पता है तो उसकी चोरी खुल जावे। अतः वह नाक चढ़ी होने का कारण लौंग को बतलाकर अपना अपराध छिपाना चाहता है। यह ध्वनि भी वक्ता की विशेषता से ही निकलती है। यद्यपि बोद्धव्य की विशेषता भी कही ही जा सकती है तथापि नायिका के क्रोध की अपेक्षा नायक के बहाना बनाने मे अधिक चमत्कार है, अत वक्ता की ही विशेषता माननी चाहिये।

(२) बोद्धव्य (सम्बोध्य) की विशेषता, जैसे —

द्वैज-सुधादीधिति-कला वह लखि, दीठि लगाइ।
मनौ अकास-अगस्तिया एकै कली लखाइ॥

नायिका ने नायक से आश्विन शुक्लपक्ष की द्वितीया के दिन अगस्त के पेड के नीचे सन्ध्याकाल मे मिलने का वादा किया था। वही समय आ गया है, पर नायिका सखियो के बीच मे बैठी है। मध्यस्थ सखी उसे अपने सकेत का स्मरण कराना चाहती है। अतएव वह इन शब्दो का प्रयोग करती है इसका व्यग्यार्थ यह है—"तुमने इसी समय अगस्त के पेड के नीचे नायक से मिलने का वादा किया था। द्वितीया का चन्द्रमा निकल आया है। नायक तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा होगा। तुम इन सखियो को किसी-न-किसी बहाने से यहा से हटा दो और चलने की शीघ्रता करो। अन्यथा नायक निराश होकर वहा से चला जावेगा और तब तुम्हें पश्चात्ताप करना पडेगा।" यहा पर यह व्यजना इसीलिये निकलती है कि जिससे कहा जा रहा है वह अपने प्रियतम को गुप्त रूप से अगस्त के पेड के नीचे मिलने का सकेत दे चुकी है। अतएव यह व्यजना बोद्धव्य की विशेषता के कारण हुई है। दूसरा उदाहरण —

मैं बरजी कै बार तू, इत कित लेति करौट।
पखुरी लगै गुलाब की परि है गात खरौट॥

नायिका मुग्धा है। वह प्रियतम की ओर मु ह घुमा कर नही लेटती, किन्तु उसकी ओर पीठ कर लेती है। चारपाई पर ऊपर की ओर तकिये के पास गुलाब के फूल रखे हुए हैं। सखी नायिका को नायक की ओर मु ह करके लेटने की प्रेरणा देना चाहती है। किन्तु नायिका यो ही मान नही सकती। अतएव वह गुलाब के फूलो की पखडियो से कपोलो पर खरोंच आने का भय दिखला कर उसको नायक की ओर से प्रतिकूल दिशा मे मु ह फेरने से रोकती है। यहा पर वाच्यार्थ है गुलाब की पखुडी से कपोल पर खरोच लग जाने का भय दिखलाना तथा व्यग्यार्थ है नायिका का मुख नायक की ओर फेरने की चेष्टा करना। यह व्यग्यार्थ इसीलिये निकलता है कि नायिका मुग्धा है और वह नायक की ओर करवट लेकर लेटना नही चाहती। इस प्रकार यहा पर बोद्धव्य की विशेषता से व्यजना निकलती है।

(३) काकु अथवा ध्वनि के विकार से व्यजना का उदाहरण, जैसे —

याकै उर औरै कछू लगी विरह की लाइ।
पजरै नीर गुलाब कै, पिय की बात बुझाइ॥

यहा पर "औरै कछू" शब्द का उच्चारण विशेष प्रकार की भगिमा से किया गया है। इससे यह व्यग्यार्थ निकलता है—"सखियो ! तुम जो इसकी ज्वरादि की चिकित्सा करती हो वह व्यर्थ है। यदि तुम इसका सन्ताप शान्त करना चाहती हो तो इसे इसके प्रियतम से मिलाओ। यही इसका उपचार है अन्यथा यह ठीक नही हो सकती।" यह व्यजना 'औरै कछु' शब्द की कण्ठ ध्वनि से ही निकलती है। यहा पर इस काकु के गुणीभूत व्यग्य होने की शका उठाई जा सकती है। किन्तु गुणीभूतव्यग्यपरक व्यजना तो केवल यह होगी कि नायिका रोग से नही किन्तु वियोग से पीडित है। यह पीडा अन्य पीडाओ से विलक्षण है। किन्तु यहाँ पर नायक-प्रतिसन्धान के निर्देश की व्यजना उससे अतिरिक्त है। अतएव यहा पर ध्वनि-काव्य ही है, गुणीभूत व्यग्य नही।

(४) वाच्य से व्यजना का उदाहरण जैसे —

तीज-परव सौतिनु सजे भूषण वसन सरीर।
सबै मरगजे-मुँह करीं इही मरगजे चीर॥

यहा पर 'इहीं' शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिये। यहा पर व्यग्यार्थ यह है कि नायक ने नायिक के साथ रात मे सुरत-क्रीडा की है। जिससे उस का चीर अत्यन्त दलमल और मसल गया है। नायिका सौभाग्य के गर्व से उसे ही पहिरे घूम रही है। वह उस चीर को अलग नही करना चाहती, जिससे भूषण-वस्त्र धारण करके भी सपत्नियो के मुख ईर्ष्या के कारण मलिन पड गये है। यहा पर वाच्य सिद्ध्यग गुणी-भूत व्यग्य की शका हो सकती है। किन्तु वाच्य की सिद्धि तो नायिका के सौन्दर्यातिशय-ख्यापन से भी हो सकती है—"नायिका इतनी रूपवती है कि चाहे जैसा मलिन वस्त्र धारण कर ले किन्तु उसके सामने अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण धारण करने वाली सुन्दरियो की मुख-कान्ति मलिन पड जाती है। इस प्रकार नायक से रात्रि मे सम्भोग और उस से उत्पन्न सौभाग्य-गर्व ये दोनो अतिरिक्त ही रह जाते हैं। अतएव यहा पर वाच्यसिद्ध्यग गुणीभूत व्यग्य न होकर ध्वनि-काव्य ही कहा जावेगा। यद्यपि वाक्य मे ही ध्वनि प्राय सर्वत्र होती है तथापि यहा 'पर इहीं' शब्द कुछ ऐसे ढग से प्रयुक्त हुआ है कि उस के आधार पर उक्त व्यजना निकल आती है इस प्रकार यहा पर व्याजना वाक्य की शक्ति से ही निकलती है।

(५) वाच्यार्थ की शक्ति से व्याजना का उदाहरण —

घाम घरीक निवारियै, कलित ललित अलि पुंज।
जमुना तीर तमाल-तरु-मिलित मालती-कुंज॥

ये शब्द नायिका ने नायक से सुरत की प्रेरणा देने के लिये कहे है कि इस कुज मे हम लोगो की सुरत-क्रीडा वडी स्वच्छन्दता और आनन्द के साथ सम्पन्न हो सकती है। इसके विभिन्न वाच्यार्थो से ध्वनि इस प्रकार निकलती है—(१) "मालती कुज भौंरो के समूह से भरा हुआ है" कहने का आशय यह है कि इस समय मालती पूर्ण रूप से फूली हुई है, उसकी सुगन्ध चारो ओर उड रही है जिससे दूर-दूर से भौंरे उस पर आकर्षित होकर आते हैं। ऐसे सुन्दर सुखदायक समय मे रति का परित्याग करना ठीक नही। दूसरी वात यह है कि कुज के चारो ओर भौंरे लपटे हुए हैं, इससे ज्ञात होता है कि अभी तक वहा कोई गया नही है। यदि वहा कोई गया होता तो भौंरो का लपटे रहना सभव नही था, ये भौंरे अवश्य उड गये होते। तीसरी बात यह है कि कुज मे भौंरे लपटे हुए है। इन भौंरो के भय से किसी का शीघ्र ही यहा आ सकना सम्भव नही है। यह स्थान सर्वथा एकान्त है, अतएव यहा पर स्वच्छन्द आनद-केलि हो सकती है। (२) अलि पुजो के लिये ललित विशेषण से यह ध्वनित होता है कि वहा पर भौंरे उद्वेगकारक नही हैं। वे किसी को बाधा नहीं पहुचावेंगे, प्रत्युत उनका वहा पर होना उद्दीपक ही है। (३) "यमुना तीर" कहने का आशय यह है कि यह कुज ऊचे स्थान पर स्थित है, मार्ग नीचे से होकर जाता है। अतएव न तो यही आशका की जा सकती है कि निकलते व्यक्तियों मे कोई हम लोगो की सुरत-क्रीडा को सर उठा कर देख लेगा और न यही भय है कि कोई व्यक्ति हम लोगो की बातचीत सुन लेगा। दूसरी वात यह कि पानी लेने का वहाना करके मै वहा आ भी सकती हू। (४) "तमाल तरु मिलत मालती कुज" का व्यग्यार्थ यह है कि यह स्थान उपभोग के लिये उपयुक्त है। यहा तक कि जड-जगत् मे भी प्रेमलीला के दर्शन होते हैं। मालती भी आनन्द-विभोर होकर तमाल से चिपट रही है। इस से हमे भी ऐसा करने की प्रेरणा प्राप्त हो रही है। "मालती चिपट रही है" (से ध्वनि होती है) मैं तुम्हारे रमणीय मुख कमल को देख कर कामोन्मत्त हो गई हूँ। अतएव अब मैं तुम्हारे वियोग को सहन नही कर सकती हूँ। आज मैं तुम्हारे साथ स्वच्छन्दतापूर्वक मन भर कर आनन्द-केलि करना चाहती हूँ। (५) घाम का व्यग्यार्थ है कि यह समय न तो ऐसा ही है कि कही जाया जावे और न ऐसा ही कि इस दोपहरी मे लोग अधिकतर कही जावें-आवें, ऐसी दशा मे तुम्हे भी यहा से जाना नही चाहिये। दूसरी वात यह है कि यह समय सुरत-क्रीडा के लिये अत्यन्त उपयुक्त है। (आयुर्वेद के ग्रथो मे सुरत-क्रीडा के लिये सव से अधिक उपयुक्त समय दो माने गये हैं—माघकी रात और जेठ की दोपहरी।) (६) घरीक का व्यग्यार्थ यह है कि तुम्हे मेरी अधिक प्रतीक्षा नही करनी पडेगी। तुम चलो, मै अभी आ रही हूँ। इस प्रकार यहा पर वाच्य-सामर्थ्य से सम्भोग की प्रेरणा की ध्वनि निकलती है। इसी प्रकार —

सरस कुसुम मंडरातु अलि, न झुकि झपटि लपटातु।
दरसत अति सुकुमारु तनु, परसत मनु न पत्यातु॥

इससे यही ध्वनि निकलती है कि "नायिका अत्यन्त कोमल है। तुम्हे उसके साथ सम्भोग करने मे उतावलापन नही दिखलाना चाहिये। अन्यथा नायिका उद्वेग को प्राप्त हो सकती है अथवा कोई अनर्थ हो सकता है।" यह व्यजना भी वाच्यार्थ के बल पर ही निकलती है। एक और उदाहरण —

लखि-लखि अखियनु अधखुलिनु, आग मोरि, अगिराइ।
आधिक उठि, लेटति लटकि, आलस-भरी जम्हाइ॥

यहा वाच्यार्थ के बल पर यह व्यजना निकलती है कि—"नायिका ने नायक के साथ रात भर स्वच्छन्द विहार किया है।"

(६) अन्य सनिधि से व्यजना का उदाहरण —

ऊंचे चितै सराहियतु गिरह कबूतर लेतु।
झलकित दृग, मुलकित बदनु, तनु पुलकित किहि हेतु॥

यहा पर व्यजना यही निकलती है कि "तुम मुझ से अपना प्रेम छुपाने की व्यर्थ चेष्टा मत करो मैं तुम्हारे प्रेम को समझ गयी हू कि तुम इस कबूतर उडाने वाले नायक से प्रेम करती हो उसी को देख कर तुम्हारे अन्दर ये सात्विक भाव जागृत हुए है।" इस व्यजना मे कारण नायक का निकटवर्ती होना है। यहा पर भी वाच्य-सिद्ध्यग की शका नही की जा सकती क्योकि वाच्य तो प्रश्न मे ही विश्रान्त हो जाता है। हर समय प्रफुल्लित रहना स्वभावगत भी हो सकता है या कबूतरो के उडने इत्यादि का नायिका को शौक भी हो सकता है,जिसके हर्ष के कारण उसमे ये चेष्टायें उत्पन्न हो गई हो। अतएव यहा पर नायक की सन्निधि के कारण ही उक्त व्यजना मानी जावेगी। दूसरा उदाहरण —

नहि अन्हाइ नहि जाय घर चितु चिहुट्यो तकि तीर।
परसि फुरहरी लै फिरति बिहसति धसति न नीर॥

यहा पर निकटवर्ती नायक के प्रति नायिका के अनुराग की व्यजना होती है। यहाँ वाच्यार्थ का विश्राम तो इसी से हो जाता है कि नायिका शीत के भय से स्नान नही करती है और तट की सुन्दरता मे मन लग जाने के कारण घर नही जाती है। विहसना स्त्रियो का स्वभाव ही होता है। किन्तु नायक के निकटवर्ती होने से विहसना, फुरहरी मे कर लौटना, जल मे न घुसना इत्यादि अनुराग-चेष्टाओ के व्यजक हो जाते है। यह अपनी चेष्टाओ से नायक को अपनी ओर आकर्षित करना चाहती ह और स्वय भी उसके सान्निध्य का आनन्द लेना चाहती है।

(७) प्रस्ताव या प्रकरण से व्यजना का उदाहरण —

लाज गहौ, बेकाज कत घेरि रहे, घर जाहि।
गो-रसु चाहत फिरत हौ, गोरसु चाहत नाहि॥

यहा पर व्यग्यार्थ यही है कि—"यहा मार्ग मे यह तुम्हारी छेड-छाड व्यर्थ है। यदि तुम इन्द्रियों का आनन्द लेना चाहते हो तो मेरे घर पर अभी थोडी देर मे आ जाना, मैं यहा से अब दूध-दही वेचने नही जाऊगी, सीधी घर ही जा रही हूँ। वहा एकान्त स्थान प्राप्त हो जावेगा। अत हम लोगो का स्वच्छन्द विहार हो सकेगा।" इस प्रकार प्रकट रूप मे तो केवल यही कहती है कि "तुम्हे दूध-दही खरीदना कुछ नही है तुम केवल (गोरस) वाणी का आनन्द लेना चाहते हो। खरीदना हो तो खरीद लो व्यर्थ मे मेरा समय वरवाद क्यो कर रहे हो, मुझे शीघ्र ही घर जाना है।" किन्तु यहा पर घर जाने के प्रस्ताव से व्यजना निकलती है कि "यदि तुम (गोरस) इन्द्रियो का आनन्द लेना चाहते हो तो यहा छेड-छाड से क्या लाभ ? घर पर आना।"

(८) देश की विशेपता से व्यजना का उदाहरण .—

लटकि-लटकि लटकतु चलतु, डटतु मुकुट की छांह।
चटक-भर्यो नटु मिल गयो अटकभटक-वट माह ॥

यहा पर अटक-भटक वट के प्रदेश की विशेपता से नायिका का कृष्ण के साथ विहार करना अभिव्यक्त होता है। क्योकि अटक-भटक वट एक ऐसा प्रदेश है जहा जाकर भूलना भटकना पडता है अत वहा कोई जाता नहीं। अतएव वह स्थान क्रीडा के लिये उपयुक्त है। नायिका को कृष्ण के साथ सुरत-क्रीडा करने में विलम्ब लग गया है। अत सखियो से इस रहस्य को छुपाने के लिये अटक-भटक वट में भटक जाने का वहाना करती है। देश की विशेपता से उसकी सुरत-प्रवृत्ति ध्वनित होती है।

मोर चन्द्रिका श्याम सिर चढि कत करत गुमान।
लखिवी पायन पर लुटति सुनियत राधा मान ॥

यहा पर यह व्यजना निकलती है कि "राधा का मान सुना गया है। यदि वस्तुत सत्य है तो विलम्ब करने से उसका मान और अधिक वढ सकता है। अतएव शीघ्र ही राधा के पास चलने का प्रयत्न करो।" यह व्यजना इसी लिये निकलती है कि कृष्ण राधा से व्यवहित देश मे स्थित हैं। अतएव देश की विशेपता से यहा पर व्यजना निकलती है।

(९) काल की विशेपता से व्यजना का उदाहरण :—

भाल लाल वेंदी, ललन, आखत रहे विराजि।
इदुकला कुज मे बसी मनों राहु-भय भाजि ॥

यहा पर यह व्यजना निकलती है कि "नायिका से सुरत करने का सबसे उत्तम अवसर यही है और इसी समय सहवास से दार-पुत्रादि अनेक सुखों की प्राप्ति हो सकती है।" यह व्यजना इसीलिये निकलती है कि नायिका ऋतुस्नान करके

बैठी है। उसने गणेश, गौरी इत्यादि का पूजन कर मस्तक मे सिन्दूर और अक्षत लगा लिये है। इसी अवसर की सूचना सखी नायक को देती है। इस प्रकार यहा पर ऋतुकाल की विशेषता से यह व्यजना निकलती है। दूसरा उदाहरण —

कु ज-भवनु तजि भवन कौं चलियै नदकिसोर।
फूलति कली गुलाव की, चटकाहट चहुं ओर॥

यहा पर यह व्यजना निकलती है कि नायिका भगवान् कृष्ण के साथ रात भर कु ज भवन मे रही है। प्रात.काल हो गया है किन्तु भगवान् कृष्ण का सम्भोग का उत्साह समाप्त नही हुआ है। नायिका लोकापवाद से बचने के लिये शीघ्र ही घर जाना चाहती है। इसी निमित्त वह नायक को प्रेरित कर रही है। यह व्यजना इसीलिये निकलती है कि यह बात प्रात काल कही गई है।

(१०) किसी अन्य तत्त्व की प्रधानता मे चेष्टा इत्यादि का समावेश हो जाता है। जैसे .—

लखि गुरुजन-बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।
हरि-सनमुख करि आरसी हियैं लगाई वाम॥

यहा पर भगवान् कृष्ण द्वारा कमल को सिर मे छुआये जाने से व्यक्त होता है कि भगवान् ने चरण-कमलो पर सर रख कर सुरत के लिये प्रार्थना की तथा नायिका द्वारा सूर्य के सम्मुख कर आरसी को छाती मे लगाने से यह व्यजना निकलती है कि "मैं अभी नही, सूर्य के अस्ताचल पर चले जाने पर तुम्हे मिल सकू गी।" यह व्य जना चेष्टाओ से ही निकलती है। दूसरा उदाहरण —

हरषि न बोली, लखि ललनु, निरखि अमिलु सग साथु।
आखिनु हीं में हसि, धर्‌यौ सीस हियैं धरि हाथु॥

यहा पर नायिका ने आखो मे हस कर व्यक्त किया कि "मैं तुम्हारे दर्शन से प्रसन्न हुई"। हृदय पर हाथ रख कर यह व्यक्त किया कि मैं "तुम्हे अपने हृदय मे बिठाती हू।" सर पर हाथ रख कर यह व्यक्त किया "मुझे तुम्हारी कामना शिरोधार्य है किन्तु उसकी पूर्ति भाग्याधीन है।" यहा पर नायिका की चेष्टाओ से यह व्यजना निकलती है।

इस प्रकार यहा पर काव्यप्रकाश के अनुसार ध्वनि के १० आधारो का निरूपण किया गया। यहा पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कही-कही एक से अधिक भी आधारो का एक साथ आश्रय लिया जा सकता है किन्तु ऐसे स्थानो पर प्रधान रूप से चमत्कार का पर्यवसान जिसमे होता है वही आधार व्यजक माना जाता है।

३—विवक्षितान्यपर वाच्य के भेद

विवक्षितान्य पर वाच्य के तीन भेद होते है—(१) शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि—जहा पर शब्द-शक्ति ही व्यजक हो और व्यजना पर्याय-परिवृत्ति को न सहन कर सके। (२) अर्थशक्तिमूलक ध्वनि—जहा पर अर्थ-शक्ति व्यजक हो और व्यजना शब्द-परिवृत्ति को सहन कर सके तथा शब्द-परिवृत्ति से व्यग्यार्था-वगति मे व्याघात उपस्थित न हो। (३) उभयशक्ति-मूलक ध्वनि—जहा पर कुछ व्यजक शब्द परिवृत्ति-सह हो और कुछ शब्द परिवृत्ति-सह न हो।

(क) शब्द-शक्ति मूलक ध्वनि —

शब्द-शक्तिमूलक-ध्वनि दो प्रकार की होती है—(१) शब्द शक्ति से वस्तु ध्वनि और (२) शब्द-शक्ति से अलकार ध्वनि।

(१) शब्द-शक्ति से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण —

लग्यो सुमनु ह्वै है सफलु, आतप-रोषु निवारि।
बारी-बारी आपनी सींचि सुहृदता वारि॥

नायिका सखियो के साथ बाग मे टहल रही है। माली भी वहा उपस्थित है। एक अन्तरगिणी सखी जो नायक के हृदयगत भाव का परिज्ञान करने गई थी, लौट कर उसी बाग मे आई है। वह माली को भली-भाति वाटिका सीचने का उपदेश देती हुई कहती है कि "हे माली ! तुम अपनी वाटिका को भली-भाति अनुकूल जल से सीचो। तुम ने जो फूल लगाया है वह ग्रीष्म की भीषणता को दूर कर अवश्य फलवान् होगा।"

उक्त बात कहने मे नायिका की सखी ने कतिपय ऐसे शब्दो का प्रयोग किया है जिन के दो अर्थ हो सकते है—(क) सुमन (१) फूल, (२) अच्छा मन। (ख) आतप रोषु— (१) गरमी की भीषणता, (२) क्रोध की भीषणता। (ग) वारी (१) माली, (२) वालिका। (घ) वारी (१) वाटिका, (२) पारी। (च) सुहृदता वारि, (१) सात्म्य जल, (२) मित्रता की बातचीत। प्रथम अर्थ प्रासगिक है क्योकि माली से कहा जा रहा है। अत प्रथम अर्थ मे अभिधा के नियन्त्रित हो जाने के बाद एक दूसरा अर्थ व्यजना-वृत्ति से निकलता है—"हे बाले ! (मै नायक के हृदय की परीक्षा कर आई हू। इसीलिये तुम्हे सुख-सवाद सुनाती हू कि) तुम्हारा लगा हुआ मन सफल होगा (अर्थात् उसमे सुरत का फल अवश्य प्राप्त होगा) और तुम्हारे क्रोध की सारी तीक्ष्णता समाप्त हो जावेगी। (पारी पर नायक तुम्हारे पास अवश्य आवेगा) तुम अपनी पारी पर प्रेम को सहृदयतापूर्ण बातचीत के द्वारा सरस बनाना।" इस प्रकार यहा पर सखी ने दूसरो पर तो अपना आशय व्यक्त नही होने दिया किन्तु नायिका को सदेश दे दिया। यहा पर द्वियर्थक शब्दो का प्रयोग किया गया है और उन शब्दो का पर्याय-परिवर्तन सम्भव

नही है इसीलिये यहा पर शब्द-शक्ति-मूलक सल्लक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि है। दूसरा उदाहरण —

बाल-बेलि सूखी सुखद इहि रूखी रूख-घाम।
फेरि डहडही कीजियै सुरस सींचि, घनस्याम॥

यहा पर सुरस और घनश्याम शब्दो के आधार पर शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि निकलती है। तीसरा उदाहरण —

यह विनसतु नगु राखि कै जगत बडौ जसु लेहु।
जरी विषम जुर जाइयै आइ सुदरसनु देहु॥

नायिका का अनुराग एक वैद्य से है। वह वैद्य के वियोग मे रुग्ण हो गई है। अन्तरगिणी सखी वैद्य को बुलाने के लिये यह सदेश भेजती है। इसका सर्वजन-सम्वेद्य आशय यही है कि "नायिका विषम ज्वर से अत्यन्त जल रही है। तुम आ कर इसको सुदर्शन चूर्ण दो"। किन्तु सुदर्शन शब्द के दो अर्थ है (१) सुदर्शन चूर्ण और (२) सुन्दर दर्शन। प्राकरणिक अर्थ मे अभिधेय अर्थ के नियन्त्रित हो जाने पर दूसरे अर्थ की ओर सकेत होता है—"नायिका तुम्हारे प्रेम मे इतनी अनुरक्त है कि यदि तुम शीघ्र आ कर उसे नही मिलोगे तो वह अवश्य मर जावेगी। वह इस समय कामाग्नि से सतप्त है। उसकी उग्र कामाग्नि की शान्ति तुम्हारे दर्शनो से ही हो सकती है। अत तुम्हे शीघ्र आना चाहिये।" इस प्रकार विषम जुर के भी दो अर्थ है—(१) विषम ज्वर रोग और (२) ऐसा ज्वर जो साधारण नही है तथा जो काम-पीडा से ही उद्भूत होता है। इसी प्रकार 'नग' शब्द भी व्यजक है। सामान्य रूप से नग शब्द का अर्थ होता है रत्न किन्तु वैद्य से सुदर्शन चूर्ण के द्वारा रत्न की रक्षा करने की प्रार्थना बाधित है। अतएव गौणी साध्यवसाना लक्षणा से इस का अर्थ होता है "भुवन-सुन्दरी"। सर्वसाधारण की दृष्टि मे इसका व्यग्यार्थ होगा 'यह नायिका भुवन सुन्दरी है। इसके स्वास्थ्य की सभी को चिन्ता है और सभी का ध्यान उसी की ओर लगा है। अतएव यदि तुम इसको अच्छा कर दोगे तो तुम्हारी प्रतिष्ठा सर्वसाधारण मे बहुत अधिक बढ जावेगी।' वैद्य के लिये इसका व्यग्यार्थ होगा—"तुम वास्तव मे बडे भाग्यशाली हो जो इतनी अधिक भुवन-सुन्दरी तुम मे अनुरक्त है। उसकी तृप्ति तुम्हारे दर्शन से हो सकती है किन्तु आश्चर्य है कि फिर भी तुम्हारे वियोग मे उसे इतने कष्ट का अनुभव करना पड रहा है कि जीवित रहने का भी कोई निश्चय नही है। तुमको शीघ्र आना चाहिये और अपने शोभनीय दर्शनो के द्वारा उसका समस्त सताप दूर कर देना चाहिए।" इस प्रकार यहा पर नग शब्द अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य है और "जरी विषम जुर जाइ है" और "सुदर्शन देहु" की शब्द शक्ति-मूलक ध्वनि का अगागिभाव सकर है। चौथा उदाहरण—

चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यों न सनेह गम्भीर।
को घटि, ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥

यह शब्द राधा और कृष्ण के मान के अवसर पर सखी द्वारा कहे गये है। जब राधा और कृष्ण एक-दूसरे से रूठे हुए बैठे हैं, तब उनसे यह कहना कि "तुम्हारा परस्पर गम्भीर प्रेम क्यो न हो तुम दोनो बडे आदमी हो, बडे आदमियो का आपस मे प्रेम होता ही है" किसी प्रकार भी सगत नही हो सकता। अतएव विपरीत लक्षणा से इसका लक्ष्यार्थ निकलता है कि तुम दोनो का इस प्रकार कलह होना स्वाभाविक ही है, क्योकि दोनो मे कोई दवना नही चाहता। राधा को अपने पिता वृषभानु के बडप्पन का अभिमान है और कृष्ण के बड़े भाई बलराम भी किसी से कम नही हैं। इससे व्यग्यार्थ निकलता है—"एक दूसरे से इतना अधिक खिचे रहना अच्छा नहीं है। इसका दुष्परिणाम यह हो सकता है कि तुम्हारा आपस मे सर्वदा के लिये विरोध हो जाये। यदि तुम दोनो एक दूसरे से यह आशा करो कि दूसरा ही अपने स्वाभिमान का परित्याग कर मिलने की चेष्टा करेगा तो यह तुम्हारी भूल है। कोई किसी से कम नही है। अतएव मान छोडकर तुम्हे एक-दूसरे से बोलना चाहिये।" इस प्रकार यहा पर अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य अविवक्षित वाच्य ध्वनि है। परन्तु यहा पर 'वृषभानुजा' और 'हलधर के वीर' ये शब्द कई एक अर्थों के वाचक हैं। 'वृषभानुजा' के तीन अर्थ हैं—(१) वृषभान की पुत्री, (२) वृषभ+अनुजा=बैल की छोटी बहन गाय और (३) वृष के सूर्य की पुत्री। इसी प्रकार हलधर के भी तीन अर्थ हैं—(१) बलराम, (२) हल को धारण करने वाला बैल और (३) शेषनाग। दूसरे तथा तीसरे अर्थों के प्रभाव से दूसरे अर्थों की ओर भी सकेत होता है—(१) "इस प्रकार कलह करना और समझाने पर न मानना पशुओ की प्रवृत्ति है। तुम्हारे लिये यही अच्छा है कि तुम पशु-प्रवृत्ति को छोड दो"। इसी प्रकार (२) "राधा मे वृषादित्य की भाति पराकाष्ठा पर पहुची हुई असहिष्णुता, प्रचण्डता और उग्रता है और कृष्ण मे भी सर्पों जैसी ही तीव्रता है। यह प्रवृत्ति हम सबको दु ख देने वाली है। अत इसका परित्याग कर दिया जाना चाहिये।" इस प्रकार यहाँ पर शब्दशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनियो का सकर है।

(२) शब्द-शक्ति से दूसरे प्रकार की ध्वनि अलकार-ध्वनि होती है। यहा पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि ध्वनि अलकार किस प्रकार हो सकती है? यदि ध्वनि को भी अलकार माना जावेगा तो अलकार्य ही क्या होगा? जिस व्यग्यार्थ मे चमत्कार का पर्यवसान होता है उसे ध्वनि कहते है और अलकार उसका शोभावर्धक धर्ममात्र ही है। ऐसी दशा मे अलकार को ध्वनि कहना किस प्रकार समीचीन कहा जा सकता है? इसका उत्तर यही है कि यहा पर अलकार को

ध्वनि ब्राह्मण-श्रमण न्याय से कहा जाता है। जिस प्रकार सन्यास ले लेने के बाद ब्राह्मणत्व चला जाता है, किन्तु भूतपूर्व गति से वह उस समय भी ब्राह्मण कहलाता रहता है। उसी प्रकार अलकार के ध्वनि रूप धारण कर लेने पर उसका अलकारत्व धर्म यद्यपि तिरोहित हो जाता है तथापि भूतपूर्व गति से उसे अलकार कहा जाता है। अथवा जिस अर्थ मे अलकार कहला सकने की क्षमता हो और वह अपने सौन्दर्य के कारण ध्वनिरूपता को धारण कर ले तो उसे अलकार ध्वनि कहा जाता है।

आचार्य मम्मट ने लिखा है कि विरोधाभास अलकार मे जहा पर 'अपि" शब्द (अथवा इसी प्रकार के किसी दूसरे विरोध प्रदर्शक शब्द) का प्रयोग किया जावे वहा पर विरोधाभास वाच्य होता है। इसके प्रतिकूल जहा विरुद्ध शब्दो का प्रयोग तो हो, किन्तु उनके बीच मे किसी वाचक शब्द का प्रयोग न हो वहा पर विरोधाभास व्यग्य होता है। काव्यप्रकाशकार ने शब्द-शक्तिमूलक अलकार-ध्वनि के उदाहरणो मे अधिकतर विरोभाभास-ध्वनि के ही उदाहरण दिये हैं। विहारी मे भी विरोधाभास ध्वनि के कई उदाहरण पाये जाते हैं—

नीर-भरे नितप्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाइ।

मे 'तऊ' शब्द विरोधाभास का वाचक है। अत यहा पर विरोधाभास अलकार वाच्य है। इसके प्रतिकूल निम्नलिखित पद्यो मे विरोधाभास अलकार व्यग्य है —

(१) पजरैं नीर गुलाव कैं, पिय की बात बुझाइ।

यद्यपि यहा पर पूर्वार्ध मे "औरे कछू" शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसके अर्थ की पूर्ति विरोधाभास के द्वारा ही होती है। तथापि यहा पर विरोधाभास वाच्य सिद्ध्यग नही कहा जा सकता, क्योकि "औरे कछू" का अर्थ होता है— "हे सखियो! जो उपचार तुम कर रही हो उससे इसका ज्वर ठीक नही हो सकता। इसके सताप का कारण ज्वर नही किन्तु कुछ और है।" जहा पर व्यग्यार्थ के विना वाच्यार्थ की किसी प्रकार भी पूर्ति हो सकती है, वहा पर वाच्य सिद्ध्यग नही माना जाता।

(२) अनबूडे बूडे तरे, जे बूडे सब अग।

(३) गो रस चाहत फिरत हौ गोरस चाहत नाहिं।

(४) केलि तरुन दुख दैन ये केलि तरुन सुख दैन।

(५) कहै वेत यह रावरे सब गुन निरगुन माल।

(६) तव भागनु पूरव उयौ अहो अपूरव चन्द।

उपर्युक्त उदाहरणो मे सर्वत्र विरोधाभास ध्वनि है। विरोधाभास के अतिरिक्त अन्य अलकारो की भी ध्वनि हो सकती है। दो एक उदाहरण लीजिये —

लोभ लगे हरि रूप के, करी साटि जुरि, जाइ।
हौं इन बेची बीच हीं, लोइन बडी बलाइ॥

यहा पर प्राकरणिक अर्थ यही है कि मेरे ये नेत्र भगवान् कृष्ण के रूप के लोभ मे जाकर उनसे मिल गये और मुझे भगवान् के वश मे कर दिया। किन्तु यहा पर रूप, साटि, वेंची, इन शब्दो के दो-दो अर्थ है, (क) रूप के दो अर्थ है—(१) सौन्दर्य और (२) रूपा या रुपया। (ख) साटि का अर्थ है—(१) हेल-मेल और (२) क्रय-विक्रय। (ग) वेची का अर्थ है—(१) वश मे कर दिया और (२) वेच दिया। इन शब्दो की द्वियर्थकता के आधार पर एक दूसरे अर्थ की ओर सकेत होता है—"जिस प्रकार कोई दलाल रुपये के लोभ मे किसी सौदागर से मिल कर सौदा तै कर लेता है और स्वामी के विना पूछे ही किसी वस्तु को वेच देता है उसी प्रकार नेत्र रूपी दलाल ने भगवान् के रूप रूपी रुपये के लोभ मे लग कर भगवान् से मिलकर मेल-जोल रूपी सट्टा कर लिया और नायिका रूपी वस्तु को वेच दिया। इस प्रकार यहा पर शब्द-शक्तिमूलक रूपकालकार ध्वनि है। दूसरा उदाहरण —

अजौं तर्‌यौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक-रग।
नाक बास वेसरि लह्यौ वसि मुकुतन कं सग॥

इसमे सत्सग की महिमा वतलाई गई है। इसका सामान्य अर्थ यह है कि—"वेद का सेवन करने वाला व्यक्ति अव तक निम्नकोटि का वैसा ही वना रहा, किन्तु मुक्त व्यक्तियो के साथ रहते हुए निम्नकोटि के प्राणी ने स्वर्ग प्राप्त कर लिया।" यहा पर कतिपय शब्दो का दो-दो अर्थों मे प्रयोग किया गया है। (क) तर्‌योना—(१) नीचा, निम्नकोटि का, (२) ताटक। (ख) श्रुति—(१) वेद, (२) कान। (ग) नाक—(१) स्वर्ग, (२) नासिका (अथवा उच्च स्थान जैसे अमुक व्यक्ति अपने वश की नाक है।) (घ) वेसरि—(१) निम्नकोटि का प्राणी, (२) नाक का एक आभूषण, (च) मुकुतनु—(१) मुक्त लोग, (२) मुक्ता या मोती। दूसरे वाच्यो के प्रभाव से यहा पर एक और अर्थ निकलता है—कान मे निरन्तर पहरे जाने पर भी ताटक अभी तक वैसा ही वना रहा (उसे किसी श्रेष्ठ स्थान का निवास नही प्राप्त हुआ, जहा रहते हुए उसे अधर-पान इत्यादि का सुखद सौभाग्य प्राप्त हो सकता)। इसके प्रतिकूल वेसर नाम के आभूषण मे मुक्ता पिरोये गये थे, इसलिये मोतियो के साथ के कारण उसे नाक (श्रेष्ठ स्थान) पर निवास करने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। इस प्रकार यहा पर शब्द-शक्ति से दो वाच्यार्थ निकलते है जो सर्वथा एक-दूसरे से असम्वद्ध है। इसी असम्वद्धार्थकता को दूर करने के लिये यहा पर उपमालकार व्यग्य हो जाता है। अतएव इसका पूरा वाक्यार्थ इस प्रकार वन जावेगा—"जिस प्रकार ताटक श्रुति (कान) का सेवन

करते हुए वैसा ही वना रहता है, उसकी स्थिति मे कोई अन्तर नही आता। किन्तु वेसर मोतियो का साथ पाकर नाक (नासिका जैसे श्रेष्ठ स्थान) का निवास प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार श्रुति (वेद) का सेवन करते हुए कोई भी व्यक्ति आज भी नीचा ही वना रहा। किन्तु निम्नकोटि के प्राणी ने मुक्त (जीवन-मुक्त) व्यक्तियो का साथ करने से नाक-वास (स्वर्ग का निवास) प्राप्त कर लिया।" इस प्रकार यहा पर शव्द-शक्तिमूलक उपमालकार ध्वनि है।

(ख) अर्थ-शक्तिमूलक ध्वनि—

जहा पर अपरिवर्तनीय शव्दो का प्रयोग न किया गया हो और प्रकरण इत्यादि के सहकार के द्वारा अर्थ-शक्ति के वल पर प्रधानभूत अर्थान्तर की अभिव्यक्ति हो जावे उसे अर्थशक्तिमूलक ध्वनि कहते है। अर्थशक्ति के आधार पर उद्भूत होने वाली ध्वनियों के भेदोपभेदो का निरूपण दो दृष्टिकोणो से किया जाता है—व्यजक की दृष्टि से और व्यग्य की दृष्टि से। यह तो निश्चित ही है कि व्यजक और व्यग्य दोनो ही कोई वस्तु हो सकती हैं। वस्तु दो प्रकार की होती है—(१) वस्तु मात्र और (२) सालकार वस्तु। इस प्रकार व्यजक वस्तु के दो भेद और व्यग्य वस्तु के दो भेद मिलकर अर्थशक्ति मूलक-ध्वनि चार प्रकार की हो गई–(१) वस्तु से वस्तु ध्वनि, (२) वस्तु से अलकार-ध्वनि। आचार्यों ने एक दूसरे दृष्टिकोण से वस्तु तथा अलकार के दो-दो भेद और किये है —(१) स्वत सम्भव लोकसिद्ध वस्तु या अलकार और (२) कविकल्पित वस्तु या अलकार। इस प्रकार उक्त चारो भेद इन दो-दो भेदो मे पुन विभक्त होकर अर्थशक्तिमूलक विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि के आठ भेद हो जाते हैं।

काव्यप्रकाशकार ने कल्पित वस्तु के भी दो भेद कर दिये है - (१) कवि-कल्पित और (२) कवि-निवद्ध वक्तृकल्पित। किन्तु पण्डितराज को यह मत स्वीकार नही। उनका कहना है कि यदि इस प्रकार के भेद किये जाने लगेंगे तो भेदो की कोई सीमा ही न रहेगी अभी हम कवि निवद्ध वक्तृ-कल्पित वस्तु माने, फिर कवि-निवद्ध वक्तृ निवद्ध-वक्तृ कल्पित वस्तु माने इस प्रकार अनवस्था दोप हो जावेगा। अतएव कल्पित वस्तु एक ही प्रकार की मानी जानी चाहिये। किन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जावे तो काव्यप्रकाशकार ही का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। साहित्य शास्त्र मे भेदोपभेदो के निरूपण मे विच्छित्ति-विशेप का ध्यान अवश्य रखना पडता है। यदि किसी भेद को मानने से चमत्कार मे किसी प्रकार का अन्तर पडता है तो वह भेद अवश्य स्वीकार करना चाहिये। स्वाभाविक ही है कि कवि स्वय जो वात कहता है या कल्पना करता है उसकी अपेक्षा पात्र द्वारा कही या कल्पित की हुई वस्तु मे विच्छित्ति की विशेपता अवश्य होगी। कवि जो कुछ कहता है, उसकी अपेक्षा स्वय नायिका के द्वारा कही हुई वात मे चमत्कार की कुछ विशेपता अवश्य होगी।

अनवस्था दोष भी प्रसक्त नही होता क्योकि समस्त वक्ता लोगो का समाहार वक्ता के रूप में हो जाता है। अतएव काव्यप्रकाशकार के अनुसार कवि-निबद्ध वक्तृ-कल्पित वस्तु नामक एक अतिरिक्त भेद अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिये।

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के भेदोपभेदो का परिगणन इस प्रकार किया जा सकता है—व्यग्य के भेद से अर्थ-शक्ति-मूलक ध्वनि दो प्रकार की होती है—वस्तु ध्वनि तथा अलकार ध्वनि। वस्तु ध्वनि के ६ व्यजक होते है—(१) लोक-सम्भव वस्तु, (२) कवि-कल्पित वस्तु, (३। कवि-निबद्ध वक्तृ-कल्पित वस्तु, (४) लोक-सभव अलकार, (५) कवि-कल्पित अलकार, (६) कवि-निबद्ध वक्तृ कल्पित अलकार। ये ही ६ भेद अलकार ध्वनि के भी होते है। इस प्रकार कुल मिलाकर अर्थशक्ति-मूलक ध्वनि के १२ भेद होते है। प्रस्तुत प्रकरण मे यह देखने की चेष्टा की जावेगी कि अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के भेदो का बिहारी मे कहा तक प्रतिफलन हुआ है।

(ग) अर्थशक्ति मूलक वस्तु ध्वनि—

(क) लोक सम्भव वस्तु से वस्तु-ध्वनि के अनेक दोहे बिहारी सतसई मे पाये जाते हैं। उदाहरण के लिये —

चितई ललचौहे चखनु डटि घू घट-पट मांह।
छल सौं चली छुवाइ कै छिनकु छबीली छाह॥

यहा पर यह व्यजना निकलती है कि नायिका ने नायक के प्रति अनुराग व्यक्त किया। "लालच भरी हुई दृष्टि से डटकर देखा" कहने से व्यक्त होता है कि नायिका ने मिलने की आकाक्षा व्यक्त की तथा "क्षण भर छाया छुवाई" का आशय यह है कि उसने पावो का स्पर्श करके प्रणाम किया। इससे यह अभिव्यक्त होता है कि नायिका नायक पर इतनी रीझ गई थी कि यद्यपि अवसर न होने से वह प्रत्यक्ष रूप मे शरीर नही छुआ सकी तथापि उसने छाया छुआ कर ही स्पर्श सुख का अनुभव किया। इस प्रकार —

लखि गुरुजन-बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।
हरि-सनमुख करि आरसी हियैं लगाई बाम॥

यहा पर यह व्यक्त होता है कि भगवान् कृष्ण ने चरण-कमलो का स्पर्श कर सम्भोग की प्रार्थना की और नायिका ने एक ओर हरि (कृष्ण) की ओर आरसी करके अपनी छाती मे लगाकर यह व्यक्त किया कि मैं तुम्हारी प्रणय-प्रार्थना को अगीकार करती हू और तुम्हे छाती मे लगाती हू। दूसरी ओर हरि (सूर्य) की ओर शीशा करके उसने छाती से लगाकर यह व्यक्त किया कि "अभी नही जब सूर्य अस्ताचल पर चले जावेंगे तब मै तुम्हें मिलूगी।" तीसरा उदाहरण —

कहा लेहुगे खेल पै तजौ अटपटी बात।
नेक हसौंही हैं भई भौंहें सौंहे खात॥

ये शब्द सखी ने उस समय कहे है जिस समय नायिका मान किये बैठी है और नायक उसे मनाने की चेष्टा कर रहा है तथा धोखे मे नायक के मुख से नायिका की सौत का नाम निकल जाता है। यहा पर विभिन्न व्यक्तियो के विभिन्न व्यंग्यार्थ होगे। (१) नायिका के प्रति इसका व्यंग्यार्थ होगा—"नायक का सपत्नी से प्रेम नही है, यह जो नायक सपत्नी का नाम ले रहा वह इसका खिलवाड मात्र है। तुम्हें चिढ़ाने मे इसे कुछ आनन्द ही आता है, तुम बुरा मत मानना।" (२) नायक के प्रति इसका व्यंग्य होगा—"देखो सम्हल कर बात करो, तुम्हारे मुख से वारवार सपत्नी का नाम निकल जाता है। इससे नायिका का क्रोध बढेगा ही।" (३) अन्य सखियो के प्रति इसका व्यंग्यार्थ होगा—"देखो मै कितनी निपुण हू, मैंने नायक के अपराध को कैसा छिपाया।" (४) सपत्नी के प्रति इसका व्यंग्यार्थ होगा—"तुम यह मत समझना कि नायक तुम से प्रेम करता है। यह केवल नायिका से खिलवाड कर रहा है और इसमे इसे आनन्द आता है।" इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण :—

सकुचि न रहियै, स्याम, सुनि ए सतरौंहैं बैन।
देत रचौंहौं चित कहे तेह नचौंहैं नैन॥

यहा पर नायिका के प्रति व्यंग्य होगा—"देखो तुम्हारा मान अब पराकाष्ठा पर पहुच गया है। अब यदि अधिक मान करोगी तो कृष्ण भगवान् रुष्ट होकर यहा से चले जावेंगे और तब तुम्हे पश्चात्ताप ही होगा। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहो मे वस्तु-ध्वनि ही है —

(१) कुंज-भवनु तजि भवन कौं चलियै नन्दकिसोर।
फूलत कली गुलाब की, चटकाहट चहुं ओर॥

यहा पर नायिका का व्यंग्यार्थ यही है कि "प्रात काल हो गया है। हम लोगो का यहा रहना ठीक नही। यदि कोई देख लेगा तो अनर्थ हो जावेगा।"

(२) हम हारी कै-कै हहा पाइनु पार्‌यो प्यौरु।
लेहु कहा अजहू किए तेह तरेर्‌यौ त्यौरु॥

यहा पर व्यंग्य यह है कि "अब अधिक मान करना ठीक नही। नायक रुष्ट होकर जाना ही चाहता है।"

(३) जौ वाके तन की दसा देख्यौ चाहत आपु।
तौ वलि, नैक बिलोकियै चलि अचकां, चुपचापु॥

यहा पर व्यंग्य है कि सखी शीघ्र ही नायक को नायिका को पास लाना चाहती है।

(४) लटकि-लटकि लटकतु चलतु, डटतु मुकुट की छाह।
चटक-भर्‌यो नटु मिलि गयौ अटकभटक वट-माह॥

यहा पर व्यंग्यार्थ है कि, "नायिका अपना सुरत छिपाना चाहती है।"

(५) मान् करत वरजति न हौं, उलटि दिवावति सौंह।
करी रिसौंहीं जाहिंगी सहज हसौंही भौंह॥

नायक के प्रति व्यग्यार्थ होगा "नायिका के मान को देखकर तुम्हे निराश नही होना चाहिए। इसका स्वभाव वडा ही हसमुख है। यह अभी मानी जाती है।" नायिका के प्रति इसका व्यग्यार्थ है—"मान करना दुष्टा स्त्रियो का काम होता है। अपने पति को परेशान करना तुम जैसी सुशीला ललनाओ का नही।"

(६) सुघर-सौति-बस पिउ सुनत दुलहिनि दुगुन हुलास।
लखी सखी तन दीठि करि सगरव सलज, सहासु॥

यहा पर नायिका का व्यग्य यह है कि "यदि प्रियतम गुणग्राही है तो यह मेरे ही वस मे रहेगा।" "सगरव" से सौन्दर्याभिमान, 'सलज' से प्रियतम के प्रति अनुराग और साहस से सौत के गुणो का उपहास व्यजित होता है।

(७) दुनहाई सब टोल में रही जु सौति कहाइ।
सु तैं ऐंचि प्यौ आपु त्यौं करी अदोखिल आइ॥

यहा पर व्यग्यार्थ यह है कि—"तुम्हारे आने के पहले नायक तुम्हारी उस सौत पर अनुरक्त अवश्य था, किन्तु अब जव मे तुम आ गई हो नायक तुम्हे छोड कर उससे प्रेम करता ही नही। अब तुम्हारा नायक पर शका करना अनुचित है।"

(८) कारे-बरन डरावने कत आवत इहिं गेह।
कै वा लखी, सखी, लखै लगै थरथरी देह॥

यहा पर व्यग्यार्थ यह है कि नायिका अपना अनुराग छिपाना चाहती है। वह अपने सात्विक-कम्पन को भय के कारण उत्पन्न हुआ वतलाती है।

(ख) कवि-कल्पित वस्तु से वस्तु-ध्वनि—कही-कही पर कवि ऐसी वस्तु का उपादान करता है जो लोक मे न तो विद्यमान ही होती है और न उसका होना समव ही होता है। उन्हें हम कोरी कवि की कल्पना ही कह सकते हैं। जिस समय प्रचलित अर्थ-सरणि कवि के अभिप्रेत को व्यजित करने मे अशक्त हो जाती है उस समय कवि इस प्रकार की कल्पनाओ का आश्रय लेता है। यहा पर यह भी ध्यान रखना चाहिये, कि विहारी के टीकाकारो ने विहारी के अधिकतर पद्यो मे किसी अवतरण की योजना की है और उन पद्यो को किसी पात्र की उक्ति मानकर व्याख्या कर दी है। किसी-किसी टीकाकार ने नीति तथा भक्ति के दोहो मे भी इस प्रकार के अवतरण की योजना करने की चेष्टा की है। किन्तु जहा पर किसी विशेष वक्ता की उक्ति मानने का कोई विशेष कारण उपस्थित न हो वहा पर कवि की उक्ति ही मानी जानी चाहिये। "सखी-सखी से कहती है।" "नायक स्वगत कह रहा है।" इत्यादि क्लिष्ट कल्पनायें नही की जानी चाहियें। जहा किसी वक्ता-विशेष की उक्ति होती है वहा स्वत प्रकट हो जाता है। दूसरी वात यह है कि वस्तु की व्यजकता मे यह आवश्यक नही है कि वस्तु मे अलकार विद्यमान न हो। देखना यह

ये शब्द सखी ने उस समय कहे हैं जिस समय नायिका मान किये बैठी है और नायक उसे मनाने की चेष्टा कर रहा है तथा धोखे से नायक के मुख से नायिका की सौत का नाम निकल जाता है। यहा पर विभिन्न व्यक्तियो के विभिन्न व्यंग्यार्थ होगे। (१) नायिका के प्रति इसका व्यंग्यार्थ होगा—"नायक का सपत्नी से प्रेम नही है, यह जो नायक सपत्नी का नाम ले रहा वह इसका खिलवाड मात्र है। तुम्हे चिढाने मे इसे कुछ आनन्द ही आता है, तुम बुरा मत मानना।" (२) नायक के प्रति इसका व्यग्य होगा—"देखो सम्हल कर बात करो, तुम्हारे मुख से बारबार सपत्नी का नाम निकल जाता है। इससे नायिका का क्रोध बढेगा ही।" (३) अन्य सखियो के प्रति इसका व्यग्यार्थ होगा—"देखो मै कितनी निपुण हू, मैंने नायक के अपराध को कैसा छिपाया।" (४) सपत्नी के प्रति इसका व्यग्यार्थ होगा—"तुम यह मत समझना कि नायक तुम से प्रेम करता है। यह केवल नायिका से खिलवाड कर रहा है और इसमे इसे आनन्द आता है।" इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण :—

सकुचि न रहियै, स्याम, सुनि ए सतरौहैं बैन।
देत रचौंहौं चित कहे तेह नचौंहैं नैन॥

यहा पर नायिका के प्रति व्यग्य होगा—"देखो तुम्हारा मान अब पराकाष्ठा पर पहुच गया है। अब यदि अधिक मान करोगी तो कृष्ण भगवान् रुष्ट होकर यहा से चले जावेंगे और तब तुम्हे पश्चात्ताप ही होगा। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहो मे वस्तु-ध्वनि ही है —

(१) कुंज-भवनु तजि भवन कौं चलियै नन्दकिसोर।
फूलत कली गुलाब की, चटकाहट चहु ओर॥

यहा पर नायिका का व्यग्यार्थ यही है कि "प्रात काल हो गया है। हम लोगो का यहा रहना ठीक नही। यदि कोई देख लेगा तो अनर्थ हो जावेगा।"

(२) हम हारी कै-कै हहा पाइनु पार्‌यो प्यौरु।
लेहु कहा अजहूं किए तेह तरेर्‌यौ त्यौरु॥

यहा पर व्यग्य यह है कि "अब अधिक मान करना ठीक नही। नायक रुष्ट होकर जाना ही चाहता है।"

(३) जौ वाके तन की दसा देख्यौ चाहत आपु।
तौ बलि, नैंक बिलोकियै चलि अचका, चुपचापु॥

यहा पर व्यग्य है कि सखी शीघ्र ही नायक को नायिका को पास लाना चाहती है।

(४) लटकि-लटकि लटकतु चलतु, डटतु मुकुट की छांह।
चटक-भर्‌यो नटु मिलि गयौ अटकभटक बट-माह॥

यहा पर व्यग्यार्थ है कि, "नायिका अपना सुरत छिपाना चाहती है।"

(५) मानु करत वरजति न हौं, उलटि दिवावति सौंह।
करी रिसौंहीं जाहिगी सहज हसौंही भौंह ॥

नायक के प्रति व्यग्यार्थ होगा "नायिका के मान को देखकर तुम्हे निराश नही होना चाहिए। इसका स्वभाव बडा ही हसमुख है। यह अभी मानी जाती है।" नायिका के प्रति इसका व्यग्यार्थ है—"मान करना दुष्टा स्त्रियो का काम होता है। अपने पति को परेशान करना तुम जैसी सुशीला ललनाओ का नही।"

(६) सुघर-सौति-वस पिउ सुनत दुलहिनि दुगुन हुलास।
लखी सखी तन दीठि करि सगरव सलज, सहासु ॥

यहा पर नायिका का व्यग्य यह है कि "यदि प्रियतम गुणग्राही है तो यह मेरे ही वस मे रहेगा।" "सगरव" से सौन्दर्याभिमान, 'सलज' से प्रियतम के प्रति अनुराग और साहस से सौत के गुणो का उपहास व्यजित होता है।

(७) दुनहाई सब टोल में रही जु सौति कहाइ।
सु तैं ऐंचि प्यौ आपु त्यौं करी अदोखिल आइ ॥

यहा पर व्यग्यार्थ यह है कि—"तुम्हारे आने के पहले नायक तुम्हारी उस सौत पर अनुरक्त अवश्य था, किन्तु अव जव से तुम आ गई हो नायक तुम्हे छोड कर उससे प्रेम करता ही नही। अब तुम्हारा नायक पर शका करना अनुचित है।"

(८) कारे-बरन डरावने कत आवत इंहि गेह।
कै वा लखी, सखी, लखैं लगै थरथरी देह ॥

यहा पर व्यग्यार्थ यह है कि नायिका अपना अनुराग छिपाना चाहती है। वह अपने सात्विक-कम्पन को भय के कारण उत्पन्न हुआ वतलाती है।

(ख) कवि-कल्पित वस्तु से वस्तु-व्वनि—कही-कही पर कवि ऐसी वस्तु का उपादान करता है जो लोक मे न तो विद्यमान ही होती है और न उसका होना सभव ही होता है। उन्हे हम कोरी कवि की कल्पना ही कह सकते हैं। जिस समय प्रचलित अर्थ-सरणि कवि के अभिप्रेत को व्यजित करने मे अशक्त हो जाती है उस समय कवि इस प्रकार की कल्पनाओ का आश्रय लेता है। यहा पर यह भी ध्यान रखना चाहिये, कि बिहारी के टीकाकारो ने बिहारी के अधिकतर पद्यो मे किसी अवतरण की योजना की है और उन पद्यो को किसी पात्र की उक्ति मानकर व्याख्या कर दी है। किसी-किसी टीकाकार ने नीति तथा भक्ति के दोहो मे भी इस प्रकार के अवतरण की योजना करने की चेष्टा की है। किन्तु जहा पर किसी विशेष वक्ता की उक्ति मानने का कोई विशेष कारण उपस्थित न हो वहा पर कवि की उक्ति ही मानी जानी चाहिये। "सखी-सखी से कहती है।" "नायक स्वगत कह रहा है।" इत्यादि क्लिष्ट कल्पनायें नही की जानी चाहियें। जहा किसी वक्ता-विशेष की उक्ति होती है वहा स्वत प्रकट हो जाता है। दूसरी वात यह है कि वस्तु की व्यजकता मे यह आवश्यक नहीं है कि वस्तु मे अलकार विद्यमान न हो। देखना यह

पडता है कि वह अलकार व्यजना मे कारण है अथवा नही। यदि अलकार व्यजना मे कारण नही होता है तो वस्तु ही व्यजक मानी जाती है। विहारी ने जहा कही कल्पित वस्तु को व्यजक वनाया है वहाँ अधिकतर अलकार मे व्यजकता आ गई है। अतएव कल्पित वस्तुमात्र की व्यजकता के उदाहरण विहारी मे वहुत कम हैं। दो एक उदाहरण लीजिये —

कौन भाँति रहिहै विरदु अब देखिवी, मुरारि।
बीधे मोसौं आइ कै गीधे गीधहिं तारि॥

यहा पर भगवान् का गृद्ध को तार कर पापियो को तारने के लिये गिध जाना और बिहारी से आकर उलझना एक कवि-कल्पित वस्तु है। इससे ध्वनि निकलती है कि "हे भगवान् मै वहुत बडा पापी हू, मेरे उद्धार का कोई सहारा नही आपने अनेक दीनो को तारा है वैसे ही आप मुझे भी तार दीजिये।" यही ध्वनि निम्नलिखित दोहे से भी निकलती है —

बन्धु भये का दीन के को तार्यो, यदुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे विरद कहाइ॥

यहा पर भगवान का तूठे-तूठे फिरना केवल कवि कल्पित-वस्तु है इसी प्रकार :—

तौ, वलियै, भलियै बनी, नागर नन्दकिसोर।
जौ तुम नीकै कै लख्यौ मो करनी की ओर॥

यहा पर भी भगवान् का "करनी" की ओर लखना कवि-कल्पित वस्तु है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि मनुष्य का उद्धार अपने कर्मों से सम्भव नही है। केवल भगवान् की कृपा ही मनुष्य का उद्धार कर सकती है।

(ग) कवि-निवद्ध वक्तृ कल्पित वस्तु से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण —

को जानै, ह्वैहै कहा, व्रज उपजी अति आगि।
मन लागै नैननु लगै, चलै न मग लगि लागि॥

नेत्रो के लगने से मन मे आग का लग जाना लोक मे सभव नही है, किसी पत्थर इत्यादि कडी वस्तु के टकराने से ही आग उत्पन्न होती है, नेत्रो के लगने से उत्पन्न नही हो सकती। आग से जलता भी कोई मूर्त्त पदार्थ ही है। मन जैसा अमूर्त पदार्थ नही जल सकता। अतएव यह नायिका की कल्पित वस्तु है। नायिका कवि-निवद्ध-वक्ता है। इससे ध्वनि निकलती है कि—"मैने जवसे भगवान् कृष्ण को देखा है, मै वियोग-व्यथा से अत्यन्त पीडित हो रही हू। यदि भगवान् कृष्ण मुझे प्राप्त नहीं हो जायेंगे तो मैं जीवित नही रह सकूगी।" इसी प्रकार —

विरह-विपति-दिनु परत हीं तजे सुखनु सव अग।
रहि अव लौंऽव दुखौ भये चलाचलै जिय-सग॥

"दुख जीवन के साथ जा रहे हैं, सुख तो पहले ही साथ छोडकर चले गये थे" यह नायिका की कल्पित वस्तु है। इससे यह ध्वनि निकलती है—"हे प्रियतम यदि आप शीघ्र ही नही आवेंगे तो मैं जीवित नही रह सकू गी। मुझे इस समय तो सुख नही मिल रहा है, मै वहुत दुखी हू। मुझे यह भी विश्वास नहीं कि मरने पर भी मुझे सुख मिल सकेगा। मरने के वाद परलोक मे भी तुम्हारा वियोग मुझे पीडित करता रहेगा।"

(घ) स्वत सभव अलकार से वस्तु-ध्वनि —

(१) तेह-तरेरौ त्यौरु करि कत करियत दृग लोल।
लीक नहीं यह पीक की, श्रुति-मनि-झलक कपोल॥

यहा पर अपन्हुति अलकार है और कान की मणि की झलक का कपोलो पर पडना स्वत सभव है। इससे नायक के प्रति यह ध्वनि निकलती है कि—"तुम्हारे कपोलो पर पान की पीक का चिन्ह वना हुआ है जिसमे प्रति-नायिका का चुम्बन व्यक्त हो रहा है। इसी लिये नायिका का कोप वढ रहा है। इस समय मैने वहाना वना दिया है। तुम इस पीक को शीघ्र ही पोछ डालो नही तो नायिका का कोप शान्त नही होगा।"

(२) सकत न तुव ताते वचन मो रस कौ रसु खोइ।
खिन-खिन औटे खीर लौं खरौ सवादिलु होइ॥

यहा पर "औटे खीर लौं" इस उपमा से ध्वनि निकलती है कि—"तुम्हारे इन कटु वचनो से मेरे हृदय मे अत्यन्त तीव्र वेदना उत्पन्न होती है। मेरा प्रेम तुमसे अविचल है। मै तुम्हारे वियोग को सहने मे अशक्त हू। तुम व्यर्थ की शका छोडकर मेरा प्रेम अगीकार करो, क्योकि मैं वहुत अधिक व्यथित हू।"

(३) छुवै छिगुनी पहुचौ गिलत अति दीनता दिखाइ।
वलि वावन कौ व्यौंतु सुनि को, वलि, तुम्हैं पत्याइ॥

यहा पर "वलि वावन को व्यौंतु" इस उपमा से यह ध्वनि निकलती है कि तुम्हारा प्रेम एक धोका है। अभी तुम उससे मिलने की प्रार्थना कर रहे हो। किन्तु जव मिल लोगे तो नायिका तुमसे हृदय से प्रेम करने लगेगी और तुम वात भी नही पूछोगे। अत तुम जव तक प्रेम के निर्वाह का वचन नहीं दोगे तव तक मैं तुम्हारी आकाक्षा पूरी नहीं करूगी।

(४) चिलक, चिकनई, चटक सौं लफति सटक लौं आइ।
नारि सलोनी सावरी नागिनि लौं डसि जाइ॥

यहा पर "नागिन लौं" इस उपमा से ध्वनित होता है—"इस नायिका के सुन्दर सलोने श्यामल रूप ने मेरे हृदय मे मिलने की वेदनामयी उत्कण्ठा उत्पन्न

कर दी है। यदि यह मुझे न मिली तो इसमे कोई सदेह नही कि मेरी मृत्यु अवश्य हो जावेगी। अतएव तुम मुझे इससे मिलाने की शीघ्र चेष्टा करो।"

(५) तिय तिथि तरुन-किसोर-वय पुन्यकाल-सम दोनु।
काहू पुन्यनु पाइयतु वैस-सधि-सक्रोनु॥

यहा पर रूपक से ध्वनित होता है कि रति-दान का यही सर्वोत्तम अवसर है।

(६) सघन कु ज, घन घन-तिमिरु अधिक अघेरी राति।
तऊ न दुरिहै, स्याम, वह दीपसिखा सी जाति॥

यहा पर "दीप सिखा सी" इस उपमा से ध्वनित होता है कि सखी नायक के हृदय मे नायिका के रूप की प्रशसा के द्वारा अधिक उत्कण्ठा उत्पन्न करना चाहती है जिससे नायक विशेप रूप से प्रार्थना करे तव सखी अहसान जनाकर उसे ले आये।

(७) पीठि दिये हीं, नेक मुरि, कर घू घट-पटु टारि।
भरि, गुलाल की मूठि सौं, गई मूठि सी मारि॥

यहा पर उत्प्रेक्षा से ध्वनित होता है—"मै पूर्ण रूप से आधीन हो गया हू और उसे विना प्राप्त किये मेरा हृदय शान्त नहीं हो सकता।"

(८) सटपटाति सै ससिमुखी मुख घू घट-पटु ढाकि।
पावक-झर सी झमकि कै गई झरोखा झाकि॥

यहा पर "पावक झरसी" इस उपमा से व्यक्त होता है कि—"उसे देखकर मेरे हृदय मे तीव्र वेदना तथा दाह उत्पन्न हो गया है। अव मेरे प्राणो की रक्षा के लिये मेरा उसको प्राप्त करना अनिवार्य है।

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे मे भी अलकारो से वस्तु-व्यजना का निरूपण किया जा सकता है —

थोरै ही गुन रीझते, विसराई वह वानि॥
तुमहू, कान्ह, मनौ भये आजुकालि के दानि॥
मरकत-भाजन-सलिल गत इदुकला कै वेख।
झीन झगा मे झलमलै स्यामगात-नखरेख॥
खेलन सिखए, अलि भलै चतुर अहेरी मार।
कानन-चारी नैन-मृग नागर नरनु सिकार॥

ऊपर जो उदाहरण दिये गये है उनमे अलकारो से ही व्यजनायें निकलती हैं। अतएव इन उदाहरणो मे अलकार ही व्यजक माने गये हैं। यह समस्त अलकार लोक मे भी सभव हैं। अतएव इन उदाहरणो मे स्वत संभव अलकारो से वस्तु ध्वनि होती है।

(च) अब यहा पर कुछ ऐसे अलकारो से वस्तु व्यजना के उदाहरण दिये जा रहे हैं जोकि लोक मे सम्भव नही है केवल कवि कल्पना पर ही आधारित हैं —

(१) जटित नीलमनि जगमगति सींक सुहाई नांक।
मनौ अली चम्पक-कली बसि रसु लेतु निसाक ॥

यहा पर उत्प्रेक्षा से ध्वनित होता है कि नायिका का सौन्दर्य इतना अधिक उन्मादक है कि उसे देखते ही उपभोग की ही आकाक्षा उत्पन्न हो जाती है। उचित-अनुचित का ध्यान ही नही रहता। भौंरे का चम्पे पर बैठना लोक मे सभव नही है। अतएव यह कवि-कल्पित उत्प्रेक्षा है। इससे वस्तु-ध्वनि होती है।

(२) लसै मुरासा तिय-स्रवन यौं मुकतनु दुति पाइ।
मानहु परस कपोल कै रहे स्वेद-कन छाइ ॥

यहा पर कल्पित उत्प्रेक्षा है क्योकि मुरासा में स्वेद कण निकलना लोक मे सम्भव नही है। इससे यह ध्वनित होता है कि नायिका का कपोल इतना सुखद तथा हर्षवर्धक है कि जड-मे-जड व्यक्ति भी उससे प्रभावित हुए बिना नही रह सकता।

(छ) कवि-निबद्ध वक्तृ-कल्पित अलकार से वस्तु-ध्वनि के उदाहरण —

(१) खेलन सिखए, अलि भलै चतुर अहेरी मार।
कानन-चारी नैन-मृग नागर नरनु सिकार ॥

यहा पर श्लेषमूलक रूपक अलकार है। नेत्रो का "कानन चारी" होना, कामदेव से शिक्षा लेना तथा शिकार खेलना लोक-सम्भव नही है। इसकी कल्पना कवि-निबद्ध सखी ने कर ली है। इससे यह ध्वनि निकलती है—"नायक तुम्हारे रूप पर आसक्त हो गया है, तुम्हें उसको भली-भाति अपने वस मे रखना चाहिये। यह तुम्हारे सुन्दर नेत्रो की सफलता है।"

(२) साजे मोहन-मोहन कौं, मोहीं करत कुचैन।
कहा करौं, उलटे परे टोने लोने नैन ॥

कवि-निबद्ध वक्त्री नायिका का यह कथन है। नेत्रों का नमक डालकर जादू टोने के रूप मे प्रयोग करना लोक मे सम्भव नही है। नायिका ने इसकी कल्पना कर ली है। इससे यह ध्वनि निकलती है, "मैं कृष्ण के दर्शनों के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हू। मैं अब अधिक समय तक कृष्ण का वियोग सहन नही कर सकती। हे सखी! तुम शीघ्र ही मुझे कृष्ण से मिलाओ। नही तो मैं इस पीडा को अधिक सहन नहीं कर सकूगी।"

(३) होमति सुखु, करि कामना तुमहिं मिलन की, लाल।
ज्वालमुखी सी जरति लखि लगनि-अगनि की ज्वाल ॥

यहा पर सुख का हवन और लगन की अग्नि ये रूपक कवि-निबद्ध वक्त्री (सखी) कल्पित है, लोक मे सम्भव नही। इनसे ध्वनि निकलती है—"नायिका तुम्हारे वियोग से अत्यन्त पीड़ित है। तुम्हे उसकी इस प्रणय-साधना को विफल नही करना चाहिये।"

(४) बसि सकोच-दसबदन-बस, साचु दिखावति बाल।
सिय लौं सोधति तिय तनहि लगनि-अगनि की ज्वाल॥

यहा पर यह ध्वनि निकलती है—"नायिका उस समय तुम्हे केवल सकोच वस नही मिल सकती थी। उसके न मिलने का यह अर्थ नही था कि वह तुमसे प्रेम नही करती थी। अब तुम्हारे चले आने पर वह तुम्हारे वियोग मे अत्यन्त पीडित है। तुम्हे शीघ्र ही चलकर उसकी प्रणय-याचना पूरी करनी चाहिए।"

(५) वेई गडि गाड़ैं परीं उपट्यो हारु हियैं न।
आन्यौ मोरि मतगु मनु मारि गुरेरनु मैन॥

यहा पर यह ध्वनि निकलती है कि—"तुम मेरे पास केवल वासना-शान्ति के लिये आते हो, प्रेम से नही। तुम्हारी वासना जहा-कही शान्त हो जाती है, वही तुम चले जाते हो। तुम्हारा छल तुम्हारी छाती पर पडे हुए हार के निशानो से प्रकट हो रहा है। अत तुम्हारा मेरे पास आना व्यर्थ है। मैं प्रेम की भूखी हू, वासना-तृप्ति का साधन नही।"

(६) नैंक हसौंही बानि तजि, लख्यौ परतु मुहुँ नीठि।
चौका-चमकनि-चौंध मैं, परति चौंधि सी डीठि॥

दातो की चमक में दृष्टि का चौंधिया जाना केवल कल्पित उत्प्रेक्षा है। इससे नायक के प्रति यह व्यजित होता है—"तुम्हारा इस प्रकार सकुचित और लज्जित होकर सामने न देख सकना नायिका के हृदय मे शका का संचार करता है। यदि तुम इसे मनाना चाहते हो तो साहस करके सामने देखो।" साथ यह भी व्यजित होता है—"नायिका तुम पर अविश्वास नही करती, न वह तुम पर रुष्ट है। स्वभाव ही हसने का है। इसीलिये वह मान का बहाना कर तुम्हे बना रही है।" नायिका के प्रति इसका व्यग्यार्थ होगा—"नायक तुम्हारी इस हसी को सच मान रहा है, इसीलिये उसकी दृष्टि ऊपर नही उठती। वह अपराधी नही है। मैं भी समझती हू कि तुम उसे अपराधी नही समझ रही हो, केवल यह तुम्हारी हसी ही है। यदि तुम चाहती हो कि नायक निराश होकर यहा से चला न जावे तो तुम्हे यह मान छोड देना चाहिये।"

(७) मकराकृति गोपाल कैं सोहत कुडल कान।
धर्यो मनो हिय-घर समरु ड्योढ़ी लसत निशान॥

यहा पर कल्पित उत्प्रेक्षा से ध्वनि निकलती है कि—"नायक तुम्हारे गुणो को सुनकर तुम पर अत्यन्त आसक्त हो गया है। तुम उसे अवश्य कृतार्थ करो।

(८) तिय तिथि तरुन-किसोर वय पुन्यकाल-सम दोनु।
काहूँ पुन्यनु पाइयतु बैस-संधि-संक्रोनु॥

यहा यह ध्वनित होता है कि "रति-दान का सबसे अधिक उपयुक्त अवसर यही है।"

(९) सखि सोहति गोपाल कें उर गुंजनु की माल।
बाहिर लसति मनौं पिए दावानल की ज्वाल॥

यहा पर कल्पित उत्प्रेक्षा से ध्वनित होता है कि नायिका के संकेत स्थान पर न पहुँच सकने के कारण कृष्ण को तीव्र वियोग-वेदना का अनुभव करना पड़ा है।

(१०) विरह-विपति दिनु परत हीं तजे सुखनु सब अंग।
रहि अब लौं च दुखौ भये चलाचलै जिय-संग॥

यहा पर कल्पित सहोक्ति अलंकार से ध्वनित होता है—"मुझे मरने के बाद भी तुम्हारे वियोग दुःख से छुटकारा नही मिल सकेगा।"

(११) भाल लाल बेंदी, ललन, आखत रहे विराजि।
इंदुकला कुज में बसी मनौ राहु-भय भाजि॥

यहा पर कल्पित उत्प्रेक्षा से ध्वनित होता है—"उस नायिका का उपभोग करना सर्वथा सौभाग्य-वर्धक होगा" वाच्य का पर्यवसान तो सौन्दर्यातिशय वर्णन मे ही हो जाता है। अतएव सौभाग्यातिशय की प्रतीति वाच्य सिद्व्यंग न होकर ध्वनि-काव्य की हो कही जावेगी। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे मे भी सौभाग्यातिशय की आशा ध्वनित होती है —

(१२) तिय मुख लखि हीरा जरी बेंदी बढ़ै विनोद।
सुत-सनेह मानौ लियौ बिधु पूरन बुधु गोद।

यहा पर भी कल्पित उत्प्रेक्षा से ध्वनित होता है कि "नायिका का समागम अनेकविध आनन्द, सौख्य और पुत्र-प्राप्ति का देने वाला होगा।"

ऊपर वस्तु तथा अलकार के स्वत सम्भव और कल्पित भेदो की व्यंजकता के आधार पर वस्तु ध्वनि का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। उक्त उदाहरणो के वाच्य तथा व्यंग्य अर्थों के चमत्कार का तारतम्य स्वयं ही समझ लेना चाहिये। प्रत्येक उदाहरण का पृथक्-पृथक् विवेचन करने से ग्रन्थ के अनावश्यक रूप में अत्यधिक विस्तृत हो जाने की सम्भावना थी, अत: उनका विवेचन नहीं किया गया।

अर्थ-शक्तिमूलक अलंकार ध्वनि

ध्वनि और अलकार ये दोनो शब्द वस्तुत विपरीत से जान पडते हैं। ध्वनि और अलकार का परस्पर वही सम्बन्ध है जो आभूष्य और आभूषण का होता

है। जिस प्रकार आभूषण का आभूष्य बन सकना सर्वथा असम्भव है,उसी प्रकार अलकार भी ध्वनि नही हो सकता। किन्तु आचार्यो ने लिखा है कि अलकार जब ध्वनि का रूप धारण कर लेता है, तब उसमे अलकारिता का अपहार हो जाता है और यह अलकार न होकर ध्वनि ही कहा जाता है। फिर भी उसे अलकार ध्वनि उसी प्रकार कहा जाता है, जिस प्रकार कोई ब्राह्मण सन्यास ले लेने पर ब्राह्मणत्व से रहित हो जाता है, किन्तु फिर भी लोग उसे ब्राह्मण-सन्यासी ही कहा करते है। इस प्रकार यहा पर ब्राह्मण-श्रमण न्याय से भूतपूर्व गति अपना कर अलकार-ध्वनि शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रकार अलकार-ध्वनि शब्द का आशय है—ऐसी ध्वनि जिसमे वाच्य होने पर अलकार भी कहला सकने की योग्यता हो अथवा ऐसी ध्वनि जो कि किसी अवस्था मे अलकार रह चुकी हो।

अलकार का व्यग्य होना प्राय सभी आचार्यो ने स्वीकार किया है। उद्भट इत्यादि आचार्यो ने उपमा रूपक इत्यादि को एक स्थान पर वाच्य के रूप मे उद्धृत किया है और दूसरे स्थान पर व्यग्य के रूप मे। इस प्रकार अलकार की व्यग्यता मे अनुपपत्ति नही हो सकती। प्राय देखा जाता है कि एक अलकार जहा पर वाच्य होता है वहा पर दूसरा अलकार व्यग्य होता है। उदाहरण के लिये सन्देहालकार जहा पर वाच्य होता है, वहा पर उपमालकार व्यग्य होता है। इसी प्रकार दूसरे भी सादृश्यमूलक अलकारो मे उपमा व्यग्य होती है। अतिशयोक्ति अलकार तो प्राय सर्वत्र ही व्यग्य होता है, क्योकि अलकार प्रयोग मे सामान्य स्थिति को बहुत बढ़ाकर कहा ही जाता है। "मुख चन्द्रमा के समान है" इस उक्ति मे भी अतिशयोक्ति व्यग्य है। इस प्रकार अलकार-व्यग्यता का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो जाता है। किन्तु सभी व्यग्य अलकारो को अलकार ध्वनि नही कह सकते। जहा पर वाच्य अलकार मे चमत्कार का पर्यवसान हो वहा पर ध्वनि नही मानी जा सकती। ध्वनि वही पर मानी जा सकती है, जहा पर चमत्कार का पर्यवसान व्यग्य अलकारों मे हो। अलकार ध्वनि मे व्यग्य अलकार की प्रधानता होती है और वाच्य उसका उपस्कारक-मात्र (शोभाधायक-मात्र) होता है।

अलकार ध्वनि व्यग्य की दृष्टि से दो प्रकार की होती है (१) वस्तु व्यग्यालकार ध्वनि और (२) अलकार व्यग्यालकार-ध्वनि। व्यजक वस्तु और अलकार के भी दो-दो भेद होते है (१) सम्भव और (२) कल्पित। इस प्रकार अलकार ध्वनि चार प्रकार की हो सकती है। (१) सम्भव वस्तु से अलकार ध्वनि, (२) कल्पित वस्तु से अलकार-ध्वनि, (३) सम्भव अलकार से अलकार-ध्वनि और (४) कल्पित अलकार से अलकार-ध्वनि। यहा पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि वस्तु से जहा कही भी अलकार की व्यजना होती है वहा अलकार अनिवार्य रूप से ध्वनि-रूपता को धारण कर लेता है। इसके प्रतिकूल जहा अलकार से अलकार ध्वनि

होती है वहा यह विचार करना पडता है कि चमत्कार का पर्यवसान वाच्यालकार मे है या व्यग्यालकार मे। यदि चमत्कार का पर्यवसान व्यग्यालकार मे होता है तो वहा पर ध्वनि काव्य कहा जाता है और यदि वाच्यालकार मे होता है तो वहा पर ध्वनि काव्य नही कहा जाता।

विहारी अलकार प्रयोग के लिये प्रसिद्ध है। ७०० दोहो मे सम्भवत कोई भी दोहा ऐसा नही होगा, जिसमे किसी-न किसी अलकार का चमत्कार दृष्टिगत न हो रहा हो। जिस प्रकार विहारी ने वाच्यालकारो का उन्मुक्त प्रयोग किया है उसी प्रकार अनेक स्थानो पर वडी ही मार्मिक अलकार व्यजनाये भी विद्यमान हैं जिनका सौन्दर्य देखते ही वनता है। साथ ही चारो प्रकार की अलकार व्यजनाओ के उदाहरण भी अधिगत हो जाते है। यहा चारो प्रकार की अलकार ध्वनि का सक्षेप मे दिग्दर्शन कराया जा रहा है —

(क) स्वत सम्भव वस्तु से अलकार ध्वनि—

(१) **बिय सौंतिनु देखत दई अपने हिय तं, लाल।**
फिरति सबनु मं डहडही उहं मरगजी माल॥

माला मसली हुई तथा शोभाहीन है उससे नायिका की चमक वढ जाती हैं जो कि विरोध है। इस प्रकार यहा पर विरोधाभास अलकार ध्वनि है —

(२) **घाम घरीक निवारियै, कलित ललित अलि-पु ज।**
यमुना-तीर तमाल तरु-मिलित मालती कु ज॥

यहा पर जिस प्रकार मालती लता तमाल वृक्ष से पूर्णरूप से चिपटी हुई है उसी प्रकार मैं भी तुम से स्वच्छन्द और परिपूर्ण आलिगन करूगी, यह उपमा व्यक्त होती है। इसी प्रकार मैं मालती लता के समान लचकीली,कोमल और विलासमयी हू तथा तुम भी तमाल वृक्ष के समान श्याम वर्ण के तथा रूपवान् हो, यह उपमा भी ध्वनित होती है।

(३) **उन हरकी हँसि कं, इतै इन सौंपी मुसकाइ।**
नैन मिले मन मिलि गए दोऊ, मिलवत गाय॥

यहा सहोक्ति अथवा दीपक की व्यजना होती है।

(४) **रँगराती रातं हियं प्रियतम लिखी वनाइ।**
पाती काती विरह की छाती रही लगाइ॥

यहा पर—"वह प्रियतम का लिखा हुआ पत्र नही था अपितु साक्षात् प्रियतम ही था" इस अपन्हुति की व्यजना होती है अथवा "पत्र को प्राप्त कर नायिका को इतना अधिक आनन्द आया मानो प्रियतम से ही समागम हो गया हो" इस उत्प्रेक्षा की व्यजना होती है।

उपर्युक्त पद्यो मे अलकार व्यजना ऐसी व्यक्त होती है जो लोक मे भी सम्भव है। चमत्कार का पर्यवसान भी अलकार मे ही होता है अनएव स्वत सम्भव वस्तु से अलकार-ध्वनि के ये उदाहरण है —

(ख) कल्पित-वस्तु से अलकार-ध्वनि के उदाहरण —

(१) जुवति जोन्ह मै मिलि गई, नैकु न होति लखाइ।
सौंधे कै डोरै लगी अली चली सँग जाइ॥

चन्द्रिका मे सर्वथा मिल जाना और सखियो का सुगन्ध के द्वारा साथ मे चलना कवि-कल्पित वस्तु है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि—"नायिका चन्द्रिका की अपेक्षा अधिक उत्तम है। क्योकि नायिका मे सौन्दर्य और सुगन्ध दोनो है जबकि चन्द्रिका मे केवल सौन्दर्य ही है सुगन्ध नही।" इस प्रकार यहा पर व्यतिरेकालकार ध्वनि है। यद्यपि व्यजक वस्तु मे मीलित अलकार भी है तथापि मीलित मात्र से ही ध्वनि नहीं निकल सकती। इस प्रकार "सौंधे के डोरे" मे यद्यपि रूपक विद्यमान है किन्तु रूपक व्यजक कोटि मे नही आता क्योकि व्यतिरेक व्यजना मे रूपक कारण नही होता। अतएव यहा पर कल्पित वस्तु से व्यतिरेकालकार ध्वनि मानी जानी चाहिये।

कहि, लहि कौनु सकै दुरी सौनजाइ मैं जाइ।
तन की सहज सुवास बन देती जौ न बताइ॥

यहा पर भी पहले के समान ही व्यतिरेकालकार की ध्वनि होती है।

कौन भाति रहिहै विरदु अब देखिबी, मुरारि।
बीधे मोसौं आइ कै गीधे गीधहि तारि॥

यहा पर भगवान् का गृद्ध इत्यादि को तार-तार कर गिध जाना और विहारी से आकर उलझना एक कवि कल्पित वस्तु है। इससे ध्वनि निकलती है—"मै वास्तविक पापी हू, गृद्ध इत्यादि वास्तविक पापी नही थे।" इस प्रकार यहाँ पर भी व्यतिरेक ध्वनि ही है।

ह्वै कपूरमनिमय रही, मिलि तन-दुति मुकतालि।
छिन-छिन खरी विचच्छिनौ लखति छ्वाइ तिनु आलि॥

यहाँ पर भ्रमालकार व्यग्य है।

चलत-चलत लौं लै चले सब सुख सग लगाइ।
ग्रीसम-वासर सिसिर-निसि प्यौ मो पास बसाइ॥

यहा पर सम्बन्धातिशयोक्ति व्यग्य है।

जघ जुगुल लोइन निरे करे मनौ विधि मैन।
केलि-तरुन दुखदैन ए, केलि तरुन-सुखदैन॥

यहा पर—"केलि तरुन दुखदैन ये, केलि तरुन-सुखदैन" मे शब्दशक्ति-मूलक रोधाभास ध्वनि है। किन्तु "केलि तरुन दुखदैन ये" केवल इतने अश मे ही कल्पित स्तु से अर्थशक्तिमूलक व्यतिरेक ध्वनि निकलती है।

तनु भूषन, अजन दृगनु, पगनु महावर-रग।
नहि सोभा को साजियत कहिं वे कोरे अग ॥

यहा पर मीलित ध्वनि है।

अलकार ध्वनि का तीसरा प्रकार यह है कि कही-कही वाच्य अलकार से दूसरे अलकार की व्यजना होती है और उस अलकार मे ही चमत्कार का पर्यवसान होता है। व्यजक अलकार दो प्रकार का हो सकता है—(१) या तो वह अलकार जो लोक मे स्वत सम्भव होता है अथवा (२) केवल कल्पित ही होता है। यहा पर प्रथम प्रकार के (स्वत सम्भव) अलकार से अलकार ध्वनि के कतिपय उदाहरण दिये जा रहे है।

औरें-ओप कनीनिकनु गनी घनी-सिरताज।
मनीं धनी के नेह की वनीं छनीं पर लाल ॥

यहा पर "नायिका की कनीनिकायें नायक के प्रेम रूपी धन की मणि वन गई हैं" यह स्वत सम्भवी रूपक है। इससे यह ध्वनि निकलती है—"जिस प्रकार आकर्षण सम्मोहन इत्यादि अनेक कामनाओ से प्रेरित होकर लोग मणि धारण करते है और उस मणि को विधि के अनुसार पतले से वस्त्र मे ढक कर रखते है तथा उस मणि के प्रभाव से अपने मन चाहे प्रियतम के आकर्षण और वशीकरण मे समर्थ होते हैं उसी प्रकार नायिका ने भी झीने वस्त्र से ढकी हुई अपनी कनीनिकाओ के प्रभाव से नायक पर मानो आकर्षण और वशीकरण मन्त्र का प्रयोग कर दिया है जिससे वह सभी प्रियतमाओ को छोडकर केवल नायिका का ही वशवर्ती होकर रह गया है।" इस प्रकार यहा पर स्वत सम्भव रूपक से उपमा-सकीर्ण उत्प्रेक्षा ध्वनित होती है—"नायिका वशीकरण का प्रयोग करने वाले के समान है। नायिका की पुतलिया वशीकरण के निमित्त धारण की हुई वस्त्रावृत मणियो के समान है, उनसे नायिका ने नायक पर मानो वशीकरण का प्रयोग कर दिया है जिससे नायक उसी का वशवर्ती वन गया है।" यह अलकार का स्वरूप होगा।

खरी पातरी कान की, कौन वहाऊ बानि।
आक-कली न रली करै अली, अली जिय जानि ॥

यहा पर स्वत सम्भवी दृष्टान्त है। उससे ध्वनित होता है—तुम्हारी सौतें अकौडे की कली के समान है, तुम मालती तथा गुलाब का फूल हो, नायकरूपी भौंरा तुम जैसी मालती को छोडकर तुम्हारी सौतरूपी अकौडे की कली के पास क्यो जाने

लगा ?" इस प्रकार यहा पर स्वत सम्भवी दृष्टान्त से रूपक ध्वनित होता है। अथवा "सौत तुम्हारे समान नही हो सकती" यह व्यतिरेक भी यहा पर ध्वनित होता है।

सब ही त्यौं समुहाति छिन, चलति सबनु दै पीठि।
वाहि त्यौं ठहराति यह, कविलनवी लौं, दीठि॥

यहा पर उपमा से "नायिका के मनरूपी धन का चोर वही नायक है" यह रूपक ध्वनित होता है।

कौन सुनै, कासौं कहौं, सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी ज्यौं लेत हैं ए बदरा बदराह॥

यहा पर लुप्तोत्प्रेक्षा से ध्वनित होता है—"जितना अधिक वसन्तकाल उद्दीपक होता है उतनी अन्य कोई ऋतु उद्दीपक नही होती। अन्य ऋतुओ मे तो जीवित रहा जा सकता है किन्तु वसन्तकाल मे जीवित रहना असम्भव है।" इस प्रकार यहा पर व्यतिरेक ध्वनि है।

केसरि कै सरि क्यौं सकै चपकु कितकु अनूपु।
गात-रूपु लखि जातु दुरि जातरूप कौ रूपु॥

यहा पर व्यतिरेक अलकार से ध्वनित होता है कि नायिका, नायिका के ही समान सुन्दर है। इस प्रकार यहा व्यतिरेक से अनन्वय ध्वनित होता है।

मलिन देह, वेई बसन, मलिन विरह कै रूप।
पिय-आगम औरै चढी आनन ओप अनूप॥

यहा पर सम्बन्धातिशयोक्ति से चमक बढने का कारण (स्नानादि) न होते हुए भी चमक बढ जाना रूप विभावना अथवा मलिनता का कारण होते हुए भी मलिनता का न होना रूप विशेषोक्ति ध्वनित होती है।

धनि यह द्वैज, जहा लख्यौ, तज्यौ दृगनु दुख-दंदु।
तुम भागनु पूरब उयौ अहो ! अपूरबु चंदु॥

यहा पर रूपकातिशयोक्ति मे व्यतिरेकालकार ध्वनित होता है। व्यतिरेक का स्वरूप यह होगा —"चन्द्र को देखकर विरहिणी पीडित होती है किन्तु नायक के मुखरूपी चन्द्र को देखकर विरह व्यथा शान्त होती है। इसी प्रकार प्राकृत चन्द्र पूर्णमासी को ही पूरा निकलता है किन्तु नायक का मुखरूपी चन्द्र सर्वथा पूर्ण रहता है। प्राकृत चन्द्र के उदय की दिशा निश्चित होती है, द्वितीया का चन्द्र केवल पश्चिम मे ही उदित होता है किन्तु नायक का मुखरूपी चन्द्र इस प्रकार के किसी के बन्धन मे बन्धा हुआ नही है।" यद्यपि यहा पर अपूरब शब्द का प्रयोग किया गया है तथापि उसका पर्यवसान सौन्दर्याधिक्य मे ही हो जाता है अत व्यतिरेक व्यग्य ही रह जाता है।

(घ) कुछ अलकार ऐसे होते है, जिनकी समानता लोक मे नही हो सकती, वे केवल कल्पना से ही प्रसूत होते है। इस प्रकार अलकार जब किसी अन्य अलकार के उन्नयन मे कारण बनते है, तब उन्हे कवि कल्पित अलकार से ध्वनित होने वाला अलकार कहा जाता है। बिहारी मे इस प्रकार के भी कतिपय उदाहरण प्राप्त हो जाते है। कुछ उदाहरणो का साधारण परिचय यहा पर दिया जा रहा है —

(१) जरी-कोर गोरै बदन बढ़ी खरी छवि देखु।
लसति मनौ बिजुरी किए सारद-ससि-परिबेखु॥

यहा पर उत्प्रेक्षा से ध्वनित होता है कि—"नायिका मे बिजली जैसी चमचमाहट और चन्द्रिका जैसा शीतल आल्हादकत्व विद्यमान है। बिजली मे शीतलता नही है और चन्द्रिका मे चमचमाहट नही। अतएव नायिका चादनी और बिजली दोनो की अपेक्षा अधिक आनन्ददायिनी है।" इस प्रकार यहा पर उत्प्रेक्षा से व्यतिरेक ध्वनित होता है। अथवा यदि बिजली और चादनी दोनो की शोभा एक मे मिला दी जाये तो नायिका से उसकी उपमा दी जा सकती है इस सम्भावनालकार की ध्वनि होती है।

(२) भूषन-भार सँभारिहै क्यौं इहिं तन् सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परै सोभा हीं कै भार॥

यहा पर—"शोभा के भार से सीधे पैर न पडने मे कवि-कल्पित काव्यलिग अलकार है" इससे सीधे पैर न पडने का कारण न होते हुए कार्य की उत्पत्ति रूप विभावना ध्वनित होती है।

(३) मानहु मुह-दिखरावनी दुलहिहिं करि अनुराग।
सासु सदनु मनु ललन हूँ, सौतिनु दियौ सुहागु॥

यहा पर उत्प्रेक्षा से ध्वनित होता है कि "नायिका का नायक से साक्षात्कार बाद मे हुआ, नायक का मन नायिका के वश मे पहले ही हो गया और नायक का मन नायिका के परवश बाद मे हुआ है सौतो मे निराशा पहले से ही उत्पन्न हो गई।" इस प्रकार यहा पर कवि कल्पित उत्प्रेक्षा से अक्रमातिशयोक्ति ध्वनित होती है।

(४) झीनैं पट मैं झुलमुली झलकति ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिंधु मैं लसति सपल्लव डार॥

यहा पर कल्पित उत्प्रेक्षा से ध्वनित होता है—"नायिका की उपमा किसी लौकिक पदार्थ से नही दी जा सकती। नायिका सुरतरु की सपल्लव डाल के समान है और सुरतरु की सपल्लव डाल नायिका के समान है।" इस प्रकार यहा पर उपमेयोपमा व्यग्य है।

उभय शक्ति-मूलक ध्वनि—

ऊपर शब्द तथा अर्थमूलक ध्वनियो का विवेचन किया गया है। वस्तुत. यदि देखा जावे तो ज्ञात हो जावेगा कि शब्द और अर्थ की व्यजकता का सर्वथा विभाजन असम्भव है। जहा शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि होती है वहा पर अर्थ का सहकार अवश्य अपेक्षित होता है। इसी प्रकार जहा अर्थशक्तिमूलक ध्वनि होती है वहा भी शब्द का सहकार अनिवार्य है। दोनो मे से किसी एक के न होने पर ध्वनि सर्वथा असभव हो जाती है। तथापि इसका विभाजन इस आधार पर किया जाता है कि जहा पर शब्द अपरिवर्त्य होते हैं वहा शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि होती है और जहा शब्द परिवर्त्य होते है वहा अर्थ शक्ति-मूलक ध्वनि मानी जाती हैं। शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि के जितने भी उदाहरण दिये गये है उनके परिशीलन से यह बात स्पष्ट हो जावेगी कि किसी भी ध्वनि मे कारणभूत सभी शब्द कभी भी अपरिवर्त्य नही हो सकते। शब्दशक्ति-मूलक ध्वनियो मे कुछ शब्दो मे तो परिवर्तनीयता होती है और कुछ मे नही। किन्तु विचार यह किया जाता है कि वाक्यान्तर्गत कितने शब्द व्यजक है। यदि सभी व्यजक शब्द अपरिवर्त्य होते हैं तो ऐसी दशा मे उसे शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि कहा जाता है। इसके प्रतिकूल व्यजक शब्दो मे ही यदि कुछ शब्द परिवर्तनक्षम हो और कुछ शब्द परिवर्तनक्षम न हो तो ऐसी दशा मे उसे उभय-शक्ति-मूलक ध्वनि की सज्ञा प्राप्त होती है। बिहारी ने एक-आध स्थानो पर उभय-शक्ति से इस प्रकार की व्यजनायें की है। दो-एक उदाहरण लीजिये —

जदपि सुन्दर, सुघर, पुनि सगुनौ दीपक-देह।
तऊ प्रकासु करै तितौ, भरियै जितौ सनेह॥

यहा पर यह ध्वनि निकलती है कि—"तुम्हारा यह कहना असत्य है कि नायिका कुरूप है। वास्तव मे तुम्हारे प्रेम की कमी के कारण ही वह ऐसी ज्ञात होती है। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश मे स्नेह की पूर्णता कारण होती है उसी प्रकार यदि तुम उससे पूरा प्रेम करो तो वह भी सुन्दर ही प्रतीत होगी।" यहा पर मुख्य रूप से व्यजक शब्द ५ है —सुन्दर, सुघर प्रकाश और स्नेह। सुन्दर, सुघर और प्रकाश शब्द परिवर्तनक्षम हैं। अतएव यहा पर उभयशक्ति-मूलक ध्वनि है।

ध्वनि मार्ग के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि बिहारी मे व्यजना व्यापार का पूर्ण तथा व्यापक प्रभाव लक्षित होता है। बिहारी के पूर्व के आचार्यों ने व्यजना व्यापार का जो मार्ग निर्दिष्ट किया था और ध्वनि के क्षेत्र मे आने वाले काव्य-जगत् के जो भेदोपभेद बतलाये थे बिहारी ने उनका पूरा अनुसरण किया और सभी प्रकार के उदाहरण बिहारी मे प्रचुर मात्रा मे अधिगत होते हैं। यहा पर यह ध्यान रखने की आवश्यकता है, कि इस दिशा मे बिहारी को प्रभावित करने वाले दो महान् आचार्य थे—काव्य-प्रकाशकार श्री मम्मटाचार्य तथा

पण्डित राज जगन्नाथ। ध्वनि मार्ग का पूर्ण विवेचन तथा विश्लेषण इन्ही दो आचार्यों ने किया था। विहारी के उदाहरणो का विवेचन करने से ज्ञात होता है कि विहारी मम्मट की अपेक्षा पण्डितराज से अधिक प्रभावित हुए थे। यही उचित भी था। क्योकि पण्डितराज से विहारी का प्रत्यक्ष सवन्ध था और मम्मटाचार्य का परिचय केवल पुस्तक के द्वारा ही था। ऐसी दशा मे प्रत्यक्ष विचार-विनमय के द्वारा एक दूसरे के दृष्टिकोण से सहमत हो जाना स्वाभाविक ही था।

ध्वनि-काव्य के भेदोपभेदो के विश्लेषण करने मे पण्डितराज तथा काव्य-प्रकाशकार मे दो स्थूल भेद पाये जाते है। पण्डितराज और काव्यप्रकाशकार दोनो ने आनन्दवर्धन के अनुसार व्यग्यार्थ के चमत्कार-पर्यवसायी तथा प्रधान होने पर ध्वनि काव्य का होना माना है। काव्य-प्रकाशकार ने ऐसे काव्य को उत्तम काव्य की सज्ञा प्रदान की है। पण्डितराज ने ऐसे काव्य को उत्तमोत्तम काव्य कहा हे। पण्डितराज ने काव्य का एक भेद और माना है। "जहा पर व्यग्यार्थ चमत्कार-पर्यवसायी तो हो किन्तु प्रधान न हो या तो अपराग होकर गुणीभूत हो गया हो या वाच्य-सिद्ध्यग होकर गुणी भाव को प्राप्त हो गया हो वहा पर उत्तम काव्य होता है।" काव्य प्रकाशकार की दृष्टि मे इस प्रकार के काव्य को गुणीभूत व्यग्य मानकर मध्यम काव्य की सीमा मे सन्निविष्ट करना होगा। विहारी के कुछ दोहे ऐसे है जिन्हे हम काव्य-प्रकाशकार के अनुसार गुणीभूत व्यग्य मे रखने के लिए वाध्य हो जाते हैं, जबकि अपने चमत्कार के कारण वे सुविधापूर्वक उत्तम काव्यत्व के अधि-कारी हैं। इससे ज्ञात होता है कि विहारी पण्डितराज के समान उत्तमोत्तम तथा उत्तम इन दो भेदो को पृथक् मानते थे। इसी लिये प्रस्तुत निवन्ध मे विहारी के उत्तम काव्य का निरूपण ध्वनि काव्य से पृथक् किया जावेगा।

पण्डितराज और काव्यप्रकाशकार मे दूसरा अन्तर यह है, कि काव्यप्रकाशकार ने अर्थ शक्ति-मूलक ध्वनि के १२ भेद किये थे। पण्डितराज ने इन भेदो को घटाकर केवल ८ भेद माने। पण्डितराज कवि-कल्पना और कवि-निवद्ध-वक्तृ-कल्पना को पृथक् नही मानते, किन्तु दोनो भेदो का कल्पना के रूप मे एकीकरण कर लेते है। यद्यपि पण्डितराज की अपेक्षा काव्य प्रकाशकार की मान्यता अधिक समीचीन प्रतीत होती है, क्योकि कवि स्वय जिस वात को कहता है, यदि वही वात नायक या नायिका कहे तो उसमे कुछ न कुछ विच्छित्ति-वैचित्र्य अवश्य होता है। विच्छित्ति-वैचित्र्य ही भेद का साधक माना जाता है। किन्तु विहारी के उदाहरणो का अनुसधान करने पर ज्ञात होता है कि विहारी ने समस्त कल्पित व्यजको को एक ही माना है। किन्तु पहली वात तो यह है कि विहारी की सामान्य उक्तिया वहुत कम है, जो सामान्य उक्तिया हैं भी, वे भी सूक्तिमात्र है उत्तम काव्य की सीमा मे नही आती। दूसरी वात यह है कि उत्तम काव्य की सीमा मे आने वाली समस्त उक्तिया किसी न किसी पात्र के मुख से कहलाई गई है। ऐसी दशा मे केवल कवि-कल्पना को अवसर ही

नही रह जाता है। कवि की भक्ति, राज-विषयक रति और प्रकृतिविषयक-रति इत्यादि की उक्तिया इतनी न्यून है कि उनके आधार पर कविकल्पित वस्तु तथा अलकार के सभी भेदो को ढूढ निकालना सर्वथा असभव है। ऐसी दशा मे यही मानना उचित जान पडता है कि कवि ने पण्डितराज की मान्यता का अनुवर्तन करते हुए अर्थशक्तिमूलक-ध्वनि के केवल ८ भेद मान कर ही काव्य-रचना की थी। यही विहारी के ध्वनि-काव्य का सक्षिप्त परिचय है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष सरलता-पूर्वक निकाले जा सकते है —

(१) विहारी के सामने अलकार-शास्त्र की अनेक प्रकार की प्रवृत्तिया विद्यमान थी। सभी प्रवृत्तियो और उद्देश्यो का समाहार ध्वनि-काव्य के रूप मे हो चुका था। विहारी ने ध्वनि-काव्य को ही मान्यता प्रदान की और ध्वनि सिद्धान्त के आधार पर ही काव्य-रचना प्रस्तुत की।

(२) विहारी मे ध्वनि-काव्य के सभी भेदो के उदाहरण प्राय प्राप्त हो जाते हैं। अर्थशक्ति-मूलक ध्वनि की तो एक सामान्य सी वात है। शब्दशक्ति-मूलक तथा अविवक्षित-वाच्य के भी भेद विहारी मे पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान हैं।

(३) विहारी ने निरूढा लक्षणा के लक्षक शब्दो को भी व्यजना के रूप मे प्रस्तुत किया है। यह एक नया मार्ग है। जिसका निरूपण हमे काव्यप्रकाशकार या पण्डितराज मे प्राप्त नही होता।

(४) विहारी के सामने ध्वनि-काव्य के भेदोपभेदो के विषय मे दो आचार्यों के सिद्धान्त विद्यमान थे—काव्यप्रकाशकार के सिद्धान्त और पण्डितराज के सिद्धान्त। अधिक निकटवर्ती होने के कारण विहारी पर पण्डितराज का प्रभाव वहुत अधिक पडा है।

(५) विहारी के काव्य मे कुछ ऐसे उदाहरण प्राप्त होते है, जिनको काव्य-सौंदर्य और चमत्कार के कारण हम मध्यम काव्य की श्रेणी मे नहीं रख सकते। उनमे गुणीभूत व्यजना इतनी चमत्कारपूर्ण है कि हम उन्हे उत्तम-काव्य कहने के लिये वाध्य हो जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि विहारी ने इस दिशा मे पण्डितराज का आदर्श अपनाया है।

(६) यद्यपि कुछ दोहो के विषय मे हम यह कह सकते हैं कि वहा पर कवि-कल्पित वस्तु और कवि-निवद्ध वक्तृ-कल्पित वस्तु दोनो मे भेद है, तथापि सभी भेद ऐसे नही प्राप्त होते इससे भी यही ज्ञात होता है कि विहारी ने पण्डितराज के अनुसार कल्पना के रूप मे दोनो का एकीकरण किया है और सलक्ष्य-क्रम व्यग्य विवक्षितान्यपरवाच्य के केवल ८ भेद माने हैं।

पण्डितराज के अनुसार उत्तम काव्य

जैसाकि पहले बतलाया जा चुका है कि बिहारी ने ध्वनि-काव्य के भेदोपभेदो का निर्धारण करने की दिशा मे काव्यप्रकाशकार की अपेक्षा पण्डितराज का अनुसरण विशेषरूप से किया था। पण्डितराज ने व्यग्यार्थ के पूर्ण प्राधान्य मे उत्तमोत्तम काव्य माना और जहा व्यग्यार्थ की गौणता मे काव्यप्रकाशकार के अनुसार ही मध्यम काव्य का होना स्वीकार किया। किन्तु इन दोनो के बीच मे एक नई कोटि और स्वीकार की, जिसको उन्होने उत्तम काव्य की सज्ञा प्रदान की। कुछ स्थल ऐसे होते है जहा पर व्यग्यार्थ या तो दूसरे अर्थ का पूरकमात्र होने के कारण वाच्यसिद्ध्यग होकर गुणीभूत हो जाता है अथवा परमुखापेक्षी होकर गौण वन जाता है। किन्तु रमणीयता व्यग्यार्थ मे ही इतनी उत्कट कोटि की होती है कि गुणीभूत होकर भी वह अपना महत्त्व नही खोती। उस व्यंग्यार्थ को हम ध्वनि की सीमा मे इसलिए सन्निविष्ट नही कर सकते क्योकि वह व्यग्यार्थ गुणीभूत होकर अपनी प्रधानता खो चुका होता है, उसे हम ध्वनि से सहसा वाह्य भी नही कर सकते क्योकि रमणीयता तो तद्गत ही होती है। अत इसके लिए एक पृथक् कोटि वनाना अनिवार्य है। इसी प्रकार के काव्य को पण्डितराज ने उत्तम काव्य की सज्ञा प्रदान की है। विहारी के उदाहरणो का पर्यवेक्षण करने से हमे ज्ञात हो जाता है कि विहारी भी पण्डितराज के मतानुयायी थे। निम्नलिखित दोहा लीजिये —

बालमु वारे सौति कै सुनि पर नारि-विहार।
भो रसु अनरसु, रिस, रली, रीझि खीझ इक वार॥

यहा नायिका के हृदय मे अनेक भावनायें प्रकट हुई है। रस इसलिये हुआ कि सौत को दु ख मिला। अनरस इसलिये हुआ कि एक सौत तो थी ही दूसरी और तैयार हुई। रिस इसलिए हुई कि नायक मेरे ही यहा क्यो नही आया। रली इस वात की कि सौत इतनी गुणवती नही है कि प्रियतम को अपने वश मे करके अपने पास रख सके। रीझ इस वात की कि प्रियतम मेरे ऊपर अधिक अनुरक्त है क्योकि मेरी पारी मे कही नही जाता। खीझ इस वात की कि बुरी आदत पडी, सम्भव है कि कभी मेरी पारी के दिन भी नायक परस्त्री के पास जाय। यहा पर रस इत्यादि शब्दो की व्यञ्जनाए निकलती है। वे वास्तव मे रस इत्यादि मे हेतु है। अत उन्ही के अर्थों की पूरक हैं। किन्तु सौंदर्य का पर्यवसान *व्यग्य-गत* ही है। अत इसे हम उत्तम काव्य की कोटि मे ले सकते हैं। यद्यपि उपमर्द्योपमर्दक भाव को लेकर भावशवलता के रूप मे यह ध्वनि काव्य का भी उदाहरण है तथापि पृथक्-पृथक् आस्वादनीयता के क्षेत्र में यह उत्तम काव्य ही कहा जावेगा। इस प्रकार यहा पर इन दोनो का साकर्य है। एक दूसरा उदाहरण :—

कहत नटत, रीझत, खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत है, नैननु ही सब बात॥

यहा पर उसी प्रकार व्यग्यार्थ वाच्यसिद्ध्यग होकर गुणीभूत होते हुए भी चमत्कार-पर्यवसायी होने के कारण उत्तम काव्य की कोटि मे ही आवेंगे।

भगवान् कृष्णविषयक दोहो मे प्राय कवि की भगवद्विषयक रति प्रधान हो गई है। वहा पर भगवान् के शृ गार या वीर रूप का वर्णन चमत्कारपर्यवसायी होते हुए भी भगवद्रति-प्रवण होने के कारण गुणीभूत होकर उत्तम काव्य की कोटि मे आता है। एक उदाहरण —

गोपिनु सग निसि सरद की रमत रसिकु रस रास।
लहा छेह कति गतिनु की सबनु लखे सब-मास॥

यहा पर भगवान् की क्षिप्रता, नृत्य कौशल और शृ गारिक, विलास, आनन्द साधना मे हेतु है किन्तु वह कवि-गत भगवद्रति-प्रवण होने के कारण गुणीभूत होकर उत्तम काव्य कहलाने का अधिकारी है। इस प्रकार अन्य उदाहरणो के विषय मे भी समझना चाहिये।

———

तृतीय अध्याय

असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य अथवा रस-ध्वनि

श्री अभिनव गुप्तपादाचार्य ने विवक्षितान्य पर वाच्य के तीनो भेदो (वस्तु, अलकार और रस) मे रसध्वनि को ही काव्यत्व का प्रयोजक माना है। वस्तु तथा अलकार ध्वनियाँ तभी काव्यता की प्रयोजक हो सकती हैं जब ये रस पर्यवसायी हो कर आस्वाद-रूपता को धारण कर लेती है। रसध्वनि उपलक्षण मात्र है। इस मे रसध्वनि, भाव ध्वनि, रसाभास ध्वनि, भावाभास ध्वनि, भाव-सधि, भावोदय और भावशवलता इत्यादि उन समस्त तत्वो का उपादान हो जाता है जहाँ पर किसी प्रकार की चित्तवृत्ति आस्वाद रूपता को धारण करती है। जब स्थायिनी चित्तवृत्ति औचित्य प्रवृत्ति के साथ आस्वाद-रूपता को धारण करती है तब उसे रसध्वनि कहते हैं। जब व्यभिचारिणी अथवा सचारिणी चित्तवृत्ति आस्वाद रूपता को धारण करती है तब उसे भावध्वनि कहते है। ये दोनो प्रकार की चित्तवृत्तियाँ अनौचित्य प्रवृत्त हो तो क्रमश रसाभास और भावाभास हो जाते हैं। इसी प्रकार किसी भी भाँति की चित्तवृत्ति का उदय, शमन या शवलता भी आस्वादानुरूप होकर भावोदय, भाव शान्ति और भाव शवलता का रूप धारण कर लेते है। यहाँ पर सक्षेप मे विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि किसी प्रकार की चित्तवृत्ति आस्वाद-रूपता को किस प्रकार धारण कर लेती है।

(१) रसास्वादन की प्रक्रिया

चित्तवृत्तियाँ या भावनायें प्रपचात्मक विश्व का प्रतिभासमात्र होती है। जिस प्रकार प्रपचात्मक विश्व अनन्त है उसी प्रकार उसकी प्रतिफलन-रूपिणी भावनायें भी अनन्त ही होती हैं। यही अनन्तता काव्य की अनेकरूपता की विधायक होती है। भावना सर्वदा व्यक्ति सापेक्षिणी होती है। अत. भाव क्षेत्र में व्यक्ति वैचित्र्य का भी परित्याग नही किया जा सकता। इस प्रपचात्मक विश्व मे अनेक प्रकार के कार्यादिको का अवलोकन करते रहने से उन कार्यादिको के प्रति हमारे अत करणो मे एक स्थायी आनन्द पद्धति आविर्भूत हो जाती है। हम लोक मे प्रति दिन अनेक भावनाओ का अनुभव किया करते हैं। कभी हम नवयुवको और नवयुवतियो के हाव-भाव चेष्टा इत्यादि का अवलोकन करते है। कभी हम किसी के उत्साह से प्रभावित होते है और कभी इसी प्रकार की दूसरी भावनायें अपना मूर्त रूप हमारे सामने प्रकट किया करती है। इनसे हमारे अत करणो मे कौतूहल हर्ष विस्मय निर्वेद इत्यादि अनेक भावनायें आविर्भूत होती रहती हैं। यद्यपि ये भावनायें आश्रय तथा आलम्वन दोनो दृष्टियो से व्यक्तिगत ही होती हैं

तथापि इनमे एक साधारण धर्म अवश्य विद्यमान रहता है जो भेद मे अभेद स्थापित करने में कारण होता है। अनेक व्यक्ति जिन भावनाओ का अनुभव करते हैं उनमें एकसूत्रता और एकरूपता अवश्य विद्यमान रहती है। हम जिस परिस्थिति मे जिस भावना का आस्वादन करते हैं उसी या उससे मिलती-जुलती भावना का आस्वादन दूसरे लोग भी करते हैं या कर सकते हैं। उसे हम भावना के साधारण धर्म के नाम से अभिहित कर सकते है। जिस प्रकार गाय इत्यादि विभिन्न सासारिक पदार्थों का अवलोकन करने से उनसे सम्बन्धित एक साधारण धर्म गोत्व जाति अथवा आकृति हमारे अत करणो मे स्थायी रूप से अपना घर कर लेती है और जब उसी से अनुस्यूत कोई दूसरा पदार्थ हमारे सामने प्रस्तुत किया जाता है तब उसके प्रत्यभिज्ञान मे हमे कुछ भी विलम्ब नही लगता। इसी प्रकार भावना का जो साधारण धर्म हमारे अतःकरणो में वासना रूप मे विद्यमान होता है, जब हमारे सामने उसी से सम्बद्ध किसी परिस्थिति का उपादान किया जाता है तब हमारे अत करणो मे वही भावना आविर्भूत होकर आस्वादन का कारण बन जाती है। यह भावना किसी एक व्यक्ति से सम्बन्धित नही होती अपितु साधारण धर्म के रूप मे प्रत्येक व्यक्ति के हृदय मे विद्यमान रहती है और उपयुक्त परिस्थिति को प्राप्त कर आस्वादन को प्रकट करने मे निमित्त हो जाती है। लोक मे हमारी भावनायें हमारे व्यक्तित्व से पृथग्भूत होकर विद्यमान नही रह सकती। उन पर व्यक्तित्व की छाप पडना अनिवार्य हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि हम अपने शत्रु के किसी भी कार्य को देखेंगे तो उसके निर्णय या आस्वादन मे हमारी शत्रुता मध्यवर्तिनी होकर अवश्य आयेगी और उसके विषय मे हमारे विचार बिलकुल वैसे ही नही होगे जैसे एक मित्र से सम्बद्ध उसी प्रकार के विषय मे हमारे विचार होगे। यदि हम अपनी प्रियतमा के प्रति किसी दूसरे व्यक्ति की बुरी चेष्टायें देखेंगे तो हमारे हृदय मे तटस्थ व्यक्ति के समान कौतूहलमय आनन्द के स्थान पर ईर्ष्या भाव की ही जागृति होगी। किन्तु कला के क्षेत्र मे ऐसा नही होता। कवि हमारे सामने जिस परिस्थिति का चित्रण करता है वह हमारे अथवा हमारे शत्रु से किसी प्रकार भी सम्बद्ध नही होती। अतएव उसमे हमारे अत करणो मे विद्यमान भावना के साधारण धर्म के उद्बोधन की क्षमता विद्यमान होती है। आचार्यों ने इस रसास्वादन के उद्बोधन की प्रक्रिया मे सात्विकता की प्रधानता मानी है। इसका आशय यह है कि लौकिक व्यवहारो मे हमारे अत करण रजोगुण तथा तमोगुण से वासित रहते हैं और हम शुद्ध सात्विकता का अनुभव नही कर पाते। हम लोक मे किसी भी कार्य-व्यवहार का निर्णय अपनी प्रकृति के अनुसार किया करते हैं किन्तु काव्यजगत् मे हमारे अत - करणो मे रजोगुण और तमोगुण का आवरण भग हो जाता है और शुद्ध सात्विकता का आविर्भाव हो जाने से हम आप प्रितममनी परितृका परित्याग कर समस्त मत्ता-विश्व मे व्याप्त विश्वात्मा के साथ तादात्म्य का अनुभव करने लगते है। यही कारण है कि कोई भी व्यक्ति कितना ही दुष्ट क्यो न हो कला-परिशीलन के अवसर पर

विश्व में प्रतिष्ठित सर्वजनीन सत्ता ही के साथ उसकी अन्तरात्मा का तादात्म्य स्थापित होगा और वह भी उदारचेता व्यक्तियो की भाँति उन्ही धर्मों से एकरूपता प्राप्त कर सकेगा जो कि विश्व की व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए स्पृहणीय माने जाते हैं। आशय यह है कि काव्य और कला के परिशीलन के अवसर पर यद्यपि उसके सामने व्यक्तिगत भावनाओ का ही प्रदर्शन किया जावेगा तथापि उन व्यक्तिगत भावनाओ मे अनुस्यूत साधारण धर्मों के साथ उनकी अन्तरात्मा का तादात्म्य स्थापित हो जावेगा और वह विश्वात्मा से एकता का अनुभव करते हुए उस भावना के आस्वादन की योग्यता प्राप्त कर सकेगा। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि उसकी अन्तरात्मा का तादात्म्य समस्त प्रदर्शित भावो से न होकर विश्व व्यवस्था के सरक्षण मे निमित्त स्पृहणीय भावो से ही होगा और उसके प्रतिकूल भाव उस भाव को पुष्ट करने वाले हो जावेंगे। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यह आवश्यक नही है कि जिस भावना से हमारी अन्तरात्मा तादात्म्य को प्राप्त करती है वह भाव प्रदर्शित ही किया जावे। इस प्रकार का भाव वाच्य भी हो सकता है और व्यग्य भी। व्यक्तिगत अनुभव के पीछे छिपे साधारण धर्म से तादात्म्य का अनुभव करने की इस क्रिया को आचार्यों ने साधारणीकरण की सज्ञा प्रदान की है।

उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि साधारणीकरण व्यक्तियो का नही अपितु भावो का होता है। जिस प्रकार वीणा के किसी एक तार के स्पर्श से सभी तार झनझना उठते हैं उसी प्रकार किसी एक व्यक्ति मे किसी भावना के प्रदर्शन से समस्त व्यक्तियो के अन्त करणो मे व्याप्त वह भावना उद्बोध को प्राप्त हो जाती है। व्यक्ति का उपादान उसमे निमित्तमात्र होता है। भावना का ही साधारणीकरण होता है। इस बात की पुष्टि विभाव इत्यादि सज्ञाओ से भी हो जाती है। विभाव का अर्थ है विभावन करना अर्थात् प्रतीति के योग्य बनाना। प्रतीति के योग्य भाव ही बनाया जा सकता है। इसी प्रकार अनुभावन का अर्थ है अनुभव के योग्य बनाना, अनुभव भी भाव का ही हो सकता है व्यक्ति का नहीं। इसीलिये आचार्य अभिनव गुप्त के मत का उल्लेख करते हुए मम्मटाचार्य ने लिखा है—"जब इस रस का स्वाद लिया जाता है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो यह आँखो के सामने नाच रहा हो, मानो हृदय मे प्रवेश कर रहा हो, मानो सारे शरीर का आलिगन कर रहा हो।" इसीलिये इसको ब्रह्मानन्द-सहोदर माना गया है और इसीलिये प्रदीप के द्वारा घर के प्रकाशित होने की उपमा दी गई है।

भावना के इस साधारणीकरण को न समझ कर अनेक उलझन खडी की गई हैं। कुछ लोगो ने आलम्बन के साधारणीकरण की जात कही है। दूसरे लोगो ने आश्रय के हृदय से तादात्म्य स्थापित करने का निर्णय कर दिया है। वास्तविकता यह है कि व्यक्ति के साधारणीकरण का सिद्धान्त भावक और भोजक इन दो अतिरिक्त वृत्तियो को मान कर भट्ट नायक के द्वारा स्थापित किया गया था

जिसका निराकरण अनेक प्रबल युक्तियो के द्वारा अभिनव गुप्त ने कर दिया था और उसके स्थान पर भावना के साधारणीकरण का सिद्धान्त स्थापित किया था। किन्तु कुछ लोगो ने भ्रमवश यह समझ लिया कि आचार्य अभिनव गुप्त ने भट्ट-नायक की भावकत्व वृत्ति का गुण तथा अलकारो मे और भोजकत्व वृत्ति का व्यजना मे अन्तर्भाव मात्र कर दिया है, वैसे अभिनव गुप्त का सिद्धान्त भट्ट नायक के सिद्धान्त से अधिक भिन्न नही है। यही कारण है कि वे सब उलझनें पुन उठ खडी हुई जो भट्ट नायक के सिद्धान्त मानने पर उठी थी। हम आलम्बन का साधारणी-करण नही मान सकते। आलम्बन के साधारणीकरण का यही आशय है कि काव्य और कला द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली नायिका सर्वसाधारण की प्रेयसी का रूप धारण कर लेती है। किन्तु इससे एक साधारण नायिका के प्रेम की चर्वण की व्याख्या तो हो जाती है, जगत्पूज्य सीता और पार्वती जैसी नायिकाओ के विषय मे रसास्वादन की कोई भी उचित व्याख्या हो ही नही पाती। यह सर्वथा असम्भव है कि सीता जैसी जगत्पूज्य नायिका सर्वसाधारण के प्रेम का विषय बन सके। इसी प्रकार आश्रय के तादात्म्य का भी सिद्धान्त ठीक नही बैठता। अनेक कार्य ऐसे हो सकते हैं जो हमारी शक्ति और उत्साह का विषय बन ही नही सकते। उदाहरण के लिए हनुमान् जी का समुद्र लघन कभी भी हमारे उत्साह का विषय हो ही नही सकता। ऐसी दशा मे समुद्र लघन के उत्साह के आश्रय हनुमान् जी से हमारे तादात्म्य की कल्पना भी नही की जा सकती। अतएव न तो आलम्बन का ही साधारणीकरण होता है और न आश्रय से तादात्म्य की कल्पना के द्वारा ही निर्वाह हो सकता है।

इस विषय मे डा० नगेन्द्र ने कवि की अतरात्मा से तादात्म्य स्थापित करने का सिद्धान्त निश्चित किया है। यद्यपि यह सिद्धान्त कोई नवीन सिद्धान्त नही है। स्वय भरत मुनि ने भाव की परिभाषा मे इस सिद्धान्त का सकेत दिया है —

कवेरन्तर्गतं भाव भावयन् भाव उच्यते।

किन्तु इससे भी अभीष्ट—सिद्धि नही होती। एक तो मूल रूप मे वह भावना कवि की नही है दूसरे यदि कवि की अन्तरात्मा से सहृदय की अन्तरात्मा का तादात्म्य अगीकार किया जावे तो फिर कवि की अन्तरात्मा का तादात्म्य किस से होगा ? भट्ट तौत ने लिखा है कि ठीक रूप मे रस निष्पत्ति तभी हो सकती है जब कि जिस प्रकार की भावना का अनुभव नायक ने किया है, उसी प्रकार की भावना का अनुभव कवि करे और उसी प्रकार की भावना का आस्वादन सहृदय को भी करा सके।

नायकस्य कवे श्रोतु समानानुभवस्तु य।

इस प्रकार यह सिद्ध ही है कि कवि एक मध्यस्थ के रूप मे ही अवस्थित होता है, मौलिक रूप मे भावना से उसका सम्बन्ध नही होता। ऐसी दशा मे कवि की अन्तरात्मा से तादात्म्य की कल्पना भी अधिक कृतकार्य नही होती। दूसरी बात यह है कि पूज्य नायिकाओ के प्रति रति-भाव का प्रश्न भी अनिर्णीत ही रह

जाता है। इस की तो कल्पना भी नही की जा सकती कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भगवती सीता को सामान्य प्रेयसी (अपनी प्रेयसी) के रूप मे देखा था और उसी का आस्वादन पाठको को भी कराना उन्हें अभीष्ट था। इस प्रकार कवि की अन्तरात्मा से तादात्म्य की व्याख्या न तो अधिक समीचीन जान पडती है और न उससे निस्तार ही हो सकता है।

आचार्य शुक्ल ने 'चिन्तामणि' मे एक नया प्रश्न उठाया है। उनका कहना है कि रसास्वादन से घट कर एक नये प्रकार का और भाव कला का विषय होता है जिसकी व्याख्या प्राचीन साहित्य शास्त्र में नही की गई। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम काव्यगत पात्रो से तादात्म्य का अनुभव नही करते अपितु वे पात्र हमारे किसी स्वतन्त्र भाव का आलम्बन बन जाते हैं। उदाहरण के लिए हूण सम्राट् मिहिर कुल पर्वत से निर्ममता पूर्वक गिराये जाने वाले किसी व्यक्ति के उत्पीडन पर अट्टहास कर रहा है। ऐसी दशा मे यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है कि पाठक या दर्शक मिहिरकुल से तादात्म्य स्थापित कर सके। इसी प्रकार यदि रावण का सीता के प्रति प्रेम वर्णन किया जा रहा हो तो रावण से भी तादात्म्य स्थापित करना हमारे लिए असम्भव हो जावेगा। मान लीजिए कोई उपन्यासकार किसी हृदयहीन पूंजीपति की कठोरता और स्वार्थपरता का चित्रण कर रहा है उससे भी हमारे हृदयो का तादात्म्य नहीं स्थापित हो सकेगा। आचार्य शुक्ल का आशय यह है कि हमारे आचार्यों ने रसास्वादन के प्रसंग में ही साधारणीकरण की प्रक्रिया पर विचार किया है। रसाभास, भावाभास इत्यादि के क्षेत्र अछूते ही छूट गये। उन पर भी विचार होना चाहिए था।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि ये अनेक उलझनें इसी कारण उत्पन्न हुई हैं कि अभिनव गुप्त ने जिस साधारण धर्म के साधारणीकरण की बात कही थी उस को छोड कर व्यक्तियो के साधारणीकरण की चर्चा चल पडी। वस्तुत: लोक-व्यवहार मे हम जिन भावनाओ का अनुभव किया करते हैं उससे हमारे हृदयो मे एक ऐसा साधारण धर्म अविष्ठित हो जाता है जो किसी एक व्यक्ति का नही अपितु सारे विश्व का होता है। यह भाव समस्त सहृदयो के हृदयों में अनुस्यूत होता है और जब कवि आलम्बनादि साधनो द्वारा उसका स्पर्श करता है तब समस्त सहृदयों में अनुस्यूत वही भाव वीणा के तारो की भाँति झनझना उठता है तथा सहृदय व्यक्ति उसका सरलतापूर्वक आस्वादन करने मे सक्षम हो जाता है। साधारणीकरण उसी भाव का होता है जो सर्वसाधारण के लिए अभिप्रेत हो, जिस का उपादान लोक-मर्यादा के सरक्षण के लिए भी आवश्यक हो। इस व्याख्या को अगीकार कर लेने पर उपर्युक्त समस्त आपत्तियो का निराकरण स्वभावत हो जाता है। मान लीजिए मिहिरकुल अपनी बर्बरता की पराकाष्ठा पर पहुच गया है और निर्ममतापूर्वक पर्वत से गिराये जाने वाले किसी व्यक्ति की दुर्दशा पर अट्टहास कर रहा है। ऐसी दशा मे यहाँ पर दो भाव हमारे सामने हैं। एक तो अत्याचार परायण

मिहिरकुल का अपनी बर्बरतापूर्ण क्रिया मे आनन्द लेने का भाव और दूसरी ओर उस व्यक्ति का भाव जिस पर अन्याय किया जा रहा है। स्वाभाविक बात है कि उस अन्यायग्रस्त व्यक्ति के हृदय मे त्रास होगा, कारुण्य होगा और कुछ रोष भी होगा। इसके भी अतिरिक्त वहाँ पर एक तीसरा व्यक्तित्व और है जो यद्यपि हमारे सामने नही है तथापि हमारी कल्पना मे इतना ही स्पष्ट है जितना उपर्युक्त दोनो व्यक्ति। वह है एक तटस्थ द्रष्टा जो कि इस समस्त लीला को देखकर क्षुब्ध हो रहा है और किसी न किसी प्रकार इसका प्रतीकार करने के लिए उत्कण्ठित है। यहाँ पर मेरा अभिप्राय रगमच के समक्ष बैठे हुए द्रष्टा से नही है और न काव्य का अनुशीलन करने वाले पाठक से ही है। वे तो आस्वादन मे विषयी हैं। यहाँ पर मेरा अभिप्राय उस तटस्थ द्रष्टा से है जो मूल रूप मे ही लोक मे मिहिरकुल के इस कार्य से क्षुब्ध हो रहा होगा। बुराइयो की भर्त्सना और सद्गुणो का अभिनन्दन सभी कालो में सभी व्यक्तियो का दायित्व रहा है भले ही हम बुराइयो के प्रतिरोध मे एक शब्द का भी उच्चारण न कर सकें किन्तु हमारे हृदय इस प्रकार की बुराइयो को देखकर अन्दर ही अन्दर कुढ़ते रहते हैं और हम उन बुराइयो का प्रतिरोध करने के लिए सर्वदा उत्कण्ठित बने रहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे सामने तीन व्यक्तित्व विद्यमान हैं—(१) मिहिर कुल का व्यक्तित्व जो कि अत्याचार की सीमा पर पहुँच गया है, (२) उत्पीडित व्यक्ति का व्यक्तित्व जोकि दुख और दैन्य से पराहत होकर मरणातीत वेदना का अनुभव कर रहा है और (३) एक तटस्थ तत्कालीन सामाजिक का व्यक्तित्व जो कि इस उत्पीडन की मन ही मन भर्त्सना कर रहा है। (यह आवश्यक नही है कि ये तीनो व्यक्ति हमारे सामने निरन्तर उपस्थित ही रहें। इन में से कोई एक या दो हमारे करणगोचर हो सकते हैं, शेष हमारी कल्पना में विद्यमान रहते है।) स्पष्ट ही है कि हमारा तादात्म्य मिहिरकुल के भाव से नही हो सकता क्योंकि उसका रोष सर्वजनीन स्पृहणीय भाव नही है। उत्पीड़ित व्यक्ति उस रोष का आलम्बन है और साथ ही उस तटस्थ व्यक्ति की सहानुभूति का आलम्बन है। अत उससे तादात्म्य का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अब रह गया तटस्थ दर्शक व्यक्ति। वस्तुत हमारा तादात्म्य इसी व्यक्ति से होता है और इसी की भावना सर्वसाधारण के उपभोग की वस्तु बन जाती है। इसमे सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि हम जब काव्य मे किसी ऐसे अत्याचार का विवरण पढ़ते हैं अथवा उसका अभिनय देखते हैं तो हमारे हृदयो मे अत्याचारी के प्रति कुछ द्वेष और कुछ क्रोध की भावना जागृत हो जाती है। फिर जब कोई तीसरा व्यक्ति रगमच पर आ कर कटु शब्दो मे उस क्रिया की भर्त्सना करने लगता है और उससे प्रतिशोध लेने को उद्यत हो जाता है, तब हमे अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है और हमें ऐसा ज्ञात होता है मानो हमारे ही हृदय का प्रतिनिधित्व किया जा रहा हो। कभी-कभी इस कार्य का सम्पादन स्वय कवि भी करता है। किन्तु कवि की वाणी के द्वारा हमारे हृदयो का अनुरजन इतना अधिक नही होता।

पष्ट है कि तुलसी द्वारा की हुई रावण के अत्याचार की निन्दा हमारे लिए उतनी धिक अनुरंजनकारिणी नही होती जितनी अंगद के द्वारा की हुई उसकी भर्त्सना। सी दशा मे अत्याचारी का क्रोध हमारे साधारणीकृत भाव का उद्दीपक हो जाता है।

रस तथा रसाभास दोनो क्षेत्रो मे भावक के हृदय मे ऐसी भावना का साधारणीकरण होता है जो कि लोक के लिए सात्म्य हो और जिससे उसका हृदय-संवाद प्रतिष्ठित किया जा सके। रस के आस्वादन मे सामाजिक की चित्तवृत्ति का तादात्म्य नायक की भावना से हो जाता है। रसाभास के आस्वादन के अवसर पर नायक की चित्तवृत्ति के अनौचित्य के कारण वह भाव सामाजिक के लिए सात्म्य नहीं होता। अत उस भाव से सामाजिक की चित्तवृत्ति सवाद को प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव वहाँ पर नायक की चित्तवृत्ति उद्दीपन का कार्य करती है और सामाजिक की चित्तवृत्ति का तादात्म्य या तो आलम्बन की चित्तवृत्ति से हो जाता है या उस अन्याय को समझने वाले किसी तटस्थ की चित्तवृत्ति से। पूज्य नायिकाओ के प्रति रति भाव के आस्वादन के अवसर पर सामान्य रति भाव का ही आस्वादन होता है जो कि प्राणिमात्र के लिये सात्म्य है। आलम्बन और आश्रय उस रति भाव का आस्वादन कराने मे निमित्त मात्र होते है। अतएव वहाँ पर धर्मव्याघात का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इसलिए आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्तपादाचार्य ने भगवती पार्वती के विषय मे वर्णन किये हुए रतिभाव का समाधान कवि-प्रौढोक्ति से आवृत कह कर किया है। उक्त आचार्यों का आशय यही है कि पूज्य नायिकाओ के प्रति रति भाव का वर्णन वही पर दोष होता है जहाँ पर कवि अपनी कुशलता की कमी के कारण सामान्य रति भाव का आस्वादन कराने मे असमर्थ हो जाता है। इसके प्रतिकूल जहाँ पर कविप्रौढोक्ति के द्वारा इन नायिकाओं के प्रति वर्णन किये हुए रतिभाव को सामान्य रति भाव के रूप मे ढालने मे समर्थ हो जाता है। वहाँ पर वह दोष नही होता इसी प्रकार असम्भव कार्यों के प्रति उत्साह का भी आस्वादन सामान्य रूप से उत्साह के ही रूप मे होता है। अशक्यता विशिष्ट मे होती है जो सामाजिको के सामान्य आस्वादन मे निमित्त मात्र होता है। इस प्रकार सामान्य रूप मे स्थित भाव के आस्वादन का सिद्धान्त अंगीकार कर लेने पर किसी प्रकार की अनुपपत्ति नही होती और साधारणीकरण की प्रक्रिया का भी पूर्ण रूप मे निर्वाह हो जाता है। यही आचार्य शुक्ल के भावना के रूप मे परिणत हो जाने और लोक भावना मे लीन हो जाने का आशय है।

उपर्युक्त विश्लेषण तथा विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भावक की चित्तवृत्ति में साधारण धर्म अर्थात् जाति के रूप मे अवस्थित भाव का ही साधारणीकरण होता है इस साधारण धर्म को आस्वादन-क्षम बनाने के जो उपकरण होते हैं उन्हें आचार्यों ने विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव इन तीन भेदो मे विभाजित किया है। अतएव

इन तीनो अगो की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन कर लेने के बाद मे ही रस-ध्वनि इत्यादि का विवेचन उपयुक्त तथा युक्तिसगत होगा।

विभाव रसास्वादन मे कारण होते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—(१) आलम्बन तथा (२) उद्दीपन। शृ गार रस के रूप मे नायक और नायिकाओ का साहित्यशास्त्र में सब से अधिक विस्तार किया गया है। नायक भेद को तो इतना अधिक विस्तार नही दिया गया और न उस मे कोई विशेष जटिलता होती ही है। इस दिशा मे नायिका भेद को सर्वदा प्रमुखता प्रदान की गई है। नायिका भेद पर स्वतन्त्र ग्रथ के ग्रथ लिख डाले गये हैं। अतएव सर्वप्रथम नायिका भेद की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

(२) नायिका भेद की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन

शृ गार रस का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आलम्बन स्त्रियाँ होती हैं। स्त्रियो की प्रकृति, अवस्था, स्थिति इत्यादि के अनुसार विभिन्न प्रकार की मनोदशाओ और प्रवृत्तियो का अध्ययन नायिका भेद कहलाता है। नायिका भेद के अन्तर्गत इस बात पर विचार किया जाता है कि विभिन्न आयु, विभिन्न प्रकार की परिस्थिति तथा घटना उनपर क्या प्रभाव डालती है? विरह मे वे क्या सोचती है? मिलन उन पर किस प्रकार का प्रभाव जमाता है? इसी प्रकार नायक की प्रतीक्षा, सम्मिलन की उत्कण्ठा, सम्मिलन के अवसर की प्रवृत्ति, प्रेम की प्रतिकूलता, नायक का अपराध इत्यादि का विभिन्न प्रकार की अवस्था पर प्रभाव ही नायिका भेद का मुख्य वर्ण्य विषय है। इन विषयो का नायिका भेद के ग्रथो मे अतिसूक्ष्म वर्णन किया गया है।

बिहारी रीति काल के प्रवेश द्वार पर खडे हैं। उनके समय तक नायिका भेद का इतना अधिक विस्तार नही हुआ था। फिर भी सस्कृत के लक्षण ग्रंथो मे तथा हिन्दी (व्रज भाषा) के कतिपय स्वतन्त्र ग्रथो मे इस विषय का विवेचन हो चुका था। बिहारी के पहले की नायिका-भेदविषयक सामग्री का सक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है :—

(१) वात्स्यायन का कामसूत्र—भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र मे शृंगार रस के भावो का प्रधान उपजीवक कामसूत्र को माना है। कामसूत्रो मे अनेक दृष्टि-कोणो से स्त्रियो के भेदोपभेद किये गये है। प्रारम्भ में स्त्रियो के अगप्रत्यग की रचना इत्यादि के आधार पर पद्मिनी इत्यादि चार भेद किये गये हैं। इसके अति-रिक्त गुह्याग रचना, कामशक्ति इत्यादि के आधार पर कुछ भेद किये गये हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वे भेद हैं जो स्त्रियो की परिस्थिति तथा प्रवृत्ति के आधार पर विभिन्न प्रकरणो मे किये गये है। यही भेदोपभेद आगे चल कर स्वकीया इत्यादि तीन भेदो मे पर्यवसित हुए। कामसूत्रो मे सामान्य रति-क्रीडा का वैज्ञानिक विश्लेषण कर बाद मे स्त्रियो की परिस्थिति के अनुसार उनसे प्रेम करने की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम विवाह तथा वैवाहिक जीवन और उसके अन्तर्गत ज्येष्ठा-कनिष्ठा वृत, बालोपक्रम, अनेक कान्तानुवृत्ति इत्यादिस्व-स्त्रीसम्बन्धी

काम-प्रवृत्ति का वर्णन है इसके वाद कन्या प्रकरण, पार-दारिक प्रकरण और वैशिक .करण का वर्णन किया गया है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर इस समस्त वर्णन को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) जिसमे काम प्रवृत्ति तथा उत्कण्ठा, हर्ष और विषाद उभयत्र समान होते हैं, दोनो ओर एक-दूसरे पर स्वामित्व की भावना होती है और सामाजिक सकोच तथा भय से रहित वातावरण मे दोनो का आनन्द विहार स्वच्छन्द रूप मे होता है इसे ही स्वकीया नायिका कहा गया है। कामशास्त्र तथा शृ गारशास्त्र दोनो दृष्टियो से यह नायिका सर्वोत्तम मानी जाती है। (२) जिस मे काम-प्रवृत्ति और उत्कण्ठा उभयत्र समान हो किन्तु सामाजिक सकोच तथा भय से निर्मुक्त वातावरण मे जिसका उपभोग न किया जा सके, दूसरे शब्दो मे जहाँ सकोच और उत्कण्ठा का द्वद्व चलता हो। इस प्रकार की नायिका को परकीया नायिका कहते हैं। यह भी कन्या और परोढा इन दो भेदो से दो प्रकार की हो सकती है। दोनो की भावप्रवृत्ति एक सी ही होती है, उपभोग भी एक-सा होता है। किन्तु कन्या के प्रति रति भाव मे स्वकीयात्व के रूप मे परिणत हो जाने की सम्भावना होती है, परोढा के प्रति रति भाव का उद्देश्य प्रच्छन्न उपभोग मात्र होता है। दूसरा अन्तर यह है कि परोढा काम कला के ज्ञान से परिचित होती है किन्तु कन्या इस प्रकार के ज्ञान से परिचित नही होती। (३) जिसमे न तो सामाजिक सकोच हो और न सम्मिलन की उत्कण्ठा ही हो, इस प्रकार की नायिका को साधारणी नायिका या वेश्या कहते हैं। कामशास्त्रो मे इसका भी वडे विस्तार से वर्णन किया गया है। कामशास्त्रीय नायिका भेद का यही सक्षिप्त परिचय है।

(२) भरत मुनि का नाट्यशास्त्र—इसमे नाट्य के लिए उपयुक्त प्राय सभी प्रकार की स्त्रियो का वर्णन किया गया है। पशुओ के शील इत्यादि के आधार पर भी इनके शील इत्यादि का वर्णन किया गया है। शेष वर्णन कामसूत्रो के ही वर्णन पर आधारित है। (३) धनजय का दशरूपक, (४) भानुदत्त की रस मजरी और (५) विश्वनाथ महापात्र का साहित्यदर्पण। इन ग्रथो मे रस के आलम्बन के रूप मे नायिका भेद का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। ये ही ग्रथ रीतिकाल मे नायिका भेद के उपजीवक हैं। इनमे भानुदत्त की रसमजरी का विशेष आश्रय लिया गया है। तीनो पुस्तको मे मूल भेद तो तीन ही दिये गये हैं—स्वकीया, परकीया और साधारणी। स्वकीया के भी तीन भेद मुग्धा, मध्या, प्रौढा तीनो मे समान हैं किन्तु इनके उपभेदो मे अन्तर है। साहित्यदर्पण और दशरूपक मे मुग्धा केवल एक प्रकार की मानी गई है। केवल गुणो के पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये गये हैं। ये सभी गुण एकत्र भी सम्भव हैं, अतएव इन्हें हम मुग्धा के उपभेद नही कह सकते जैसा कि कुछ लोगो ने समझा है। इसके प्रतिकूल भानुदत्त ने मुग्धा के तीन भेद किये हैं—(१) अकुरित-यौवना, (२) नवोढा और (३) विश्रब्ध नवोढा। इसी प्रकार मध्या के भी भेद तीनो पुस्तको मे नही किये गये हैं। दशरूपक और साहित्य-

दर्पण में केवल मध्या के व्यवहारो तथा गुणो का उल्लेख कर उनके उदाहरण दिये गये हैं जिनसे कुछ लोगो को उनके उपभेद होने का भ्रम हो गया है। मध्या और प्रौढा के धीरा, धीराधीरा तथा अधीरा ये भेद सर्वत्र समान हैं और ज्येष्ठा, कनिष्ठा ये भेद भी सर्वत्र समान हैं। परकीया नायिका के ६ भेद रसमजरी मे किये गये हैं—गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा अनुशयाना और मुदिता। किन्तु साहित्यदर्पण और दशरूपक मे परकीया के ये उपभेद नही किये गये हैं। दशरूपककार ने लिखा है—"परकीया नायिका दो प्रकार की होती हैं—कन्या तथा परोढा। परोढा कभी भी प्रधान रस की नायिका नही हो सकती। कन्या को स्वेच्छा से प्रधान तथा गौण दोनो प्रकार के रसो की नायिका का रूप दिया जा सकता है।" इस पर टिप्पणी करते हुए धनिक ने लिखा है कि "परकीया का प्रेम प्रधान नही हो सकता अतएव उसका विस्तार नही किया जावेगा। कन्या को भी परकीया इसलिए कहा जाता है कि एक तो वह पिता इत्यादि से सरलतापूर्वक प्राप्त नहीं की जा सकती और यदि किसी प्रकार प्राप्त हो भी जावे तो भी अपनी पत्नी का भय और दूसरो की रुकावट स्वच्छन्दता मे बाधक होते है। अतएव इसके भी प्रेम की प्रवृत्ति परोढा के समान गुप्त रूप से ही होती है।" सामान्य नायिका दोनो मे समान है और स्वाधीनपतिका इत्यादि आठ भेद तथा उत्तमा इत्यादि तीन भेद भी दोनो पुस्तको में समान ही है। रसमजरी में तीन भेद और दिये गये है। अन्यसम्भोगदु खिता, वक्रोक्तिगर्विता और मानवती। वक्रोक्ति-गर्विता के दो भेद किये गये हैं—रूपगर्विता तथा प्रेमगर्विता। इसी प्रकार मानवती के भी तीन भेद किये गये हैं—लघुमानवती, मध्यमानवती और गुरुमानवती। इनके अतिरिक्त नायिकाओ के दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य ये भेद और किये गये है। सस्कृत साहित्यशास्त्र मे नायिकाभेद के ये ही प्रधान ग्रथ हैं। कुछ थोडा वहुत नायिका भेद रुद्रट, भोज, रुय्यक इत्यादि आचार्यों ने भी लिखा है। सस्कृत के नायिका भेद का यही संक्षिप्त परिचय है।

सस्कृतसाहित्य शास्त्र के अनुसार हिन्दी में भी नायिका-भेदसम्बन्धी कतिपय पुस्तकें लिखी जा चुकी थी। नायिका भेद रसशास्त्र का प्रधान उपजीवक है। अतएव इसका विस्तार होना स्वाभाविक ही था।

बिन जाने यह भेद सब प्रेम न परिचय होय।
चरण हीन ऊँचे अचल चढ़त न देख्यो कोय॥

नायिका भेद सूरदास नन्ददास जैसे भक्त कवियो ने भी लिखा है और कृपाराम इत्यादि सासारिक कवियो ने भी। विहारी के पहले नायिका भेद पर लिखे हुए निम्नलिखित ६ ग्रन्थ उपलब्ध होते है —

(१) सूरदास कृत साहित्यलहरी—इसमे साहित्यशास्त्र के विवेचन मे नायिका के भेदोपभेदों का निरूपण किया गया है।

(२) नन्ददास कृत रसमजरी—इसमे भी नायिका भेद के साधारणतया

प्रचलित भेदोपभेदो का ही वर्णन किया गया है। कुछ थोड़ा सा अन्तर अवश्य पाया जाता है।

(३) रहीम कृत बरवै नायिका भेद—इसकी अनेक प्रतियाँ मतिराम के उदाहरणो के साथ प्राप्त होती है।

(४) कृपाराम कृत हिततरगिणी—इसमे सामान्या का कुछ विस्तृत विवेचन किया गया है जो भक्त परम्परा के अनुकूल नही है। अतएव इन्हें हम भक्त कोटि मे नहीं रख सकते।

(५) केशव कृत रसिक प्रिया और

(६) चिन्तामणि त्रिपाठी कृत कविकुल कल्प-तरु।

उपर्युक्त सभी ग्रथो में नायिका भेद प्राय एक सा ही है। कही-कही कुछ अन्तर कर लिया गया है। नायिकायें सामान्यतया तीन प्रकार की होती हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्या। इन नायिकाओ मे स्वकीया का महत्व सब से अधिक है। यही नायिका धार्मिक दृष्टि से भी अधिक उपयुक्त कही जा सकती है। स्वकीया में ही यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल, भूषण और वैभव ये आठ गुण पाये जाते हैं और यही नायिका प्रधान रस की भी नायिका बनने की क्षमता रखती है। वय क्रम से इस नायिका को तीन भागो मे विभाजित किया गया है—मुग्धा, मध्या और प्रौढा। मुग्धा नायिका मे लज्जा की अधिकता और उत्कण्ठा की न्यूनता होती है। मध्या मे लज्जा और उत्कण्ठा दोनो समान होते हैं और प्रौढा मे लज्जा अधिक से अधिक निम्न कोटि की हो जाती है। नन्ददास ने मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा ये भेद सभी नायिकाओ मे माने हैं। किन्तु सामान्या मे मुग्धात्व तथा मध्यात्व सम्भव नही हो सकते। इसी प्रकार परकीया कन्या मे मध्यात्व तथा प्रौढात्व सम्भव नही हैं। इसी प्रकार परोढा का भी इस प्रकार का श्रेणी भेद सगत नही है। मुग्धात्व तो उस मे हो ही नही सकता और सामाजिक सकोच के कारण प्रौढात्व भी असम्भव ही है, परोढा मे प्रौढात्व होने पर वह वेश्या हो जावेगी, ऐसी दशा मे ये नायिकायें केवल एक ही प्रकार की होती है। मुग्धा इत्यादि भेद केवल स्वकीया मे ही सम्भव हैं। साहित्य शास्त्र के ग्रन्थो मे मुग्धा के भेदो के विषय मे आचार्यों का एक ही मत प्रतीत नहीं होता। साहित्य-दर्पण और दशरूपक मे मुग्धा के भेद किये ही नही गये हैं। भानुदत्त की रसमजरी मे मुग्धया के तीन भेद किये गये हैं - (१) अकुरितयौवना (२) नवोढा और (३) विश्रब्धनवोढा। भानुदत्त के अनुसार ही हिन्दी कवियो ने भी मुग्धा के भेद किये है। सूर की साहित्य लहरी मे दो भेद किये गये है—(१) अज्ञातयौवना तथा (२) ज्ञात यौवना। अज्ञात यौवना वस्तुत भानुदत्त की अकुरितयौवना ही है जब कि भानुदत्त के शेष दो भेदो को ज्ञात यौवना मे अन्तर्निहित कर दिया गया है। इसीलिये रहीम ने प्रथम अज्ञात यौवना और ज्ञातयौवना ये दो भेद करके ज्ञातयौवना के नवोढा और विश्रब्ध नवोढा ये दो भेद कर दिये है। वस्तुत रहीम की यह भेदोपभेद कल्पना ही समीचीन है।

कृपाराम ने अज्ञातयौवना, ज्ञातयौवना, नवोढा और विश्रब्ध नवोढा यह चार भेद माने है जो सगत नही कहे जा सकते क्योकि नवोढा और विश्रब्ध-नवोढा दोनो ही स्वभावत ज्ञातयौवना होगी ही, उसको पृथक् भेद कैसे माना जा सकता है ? नन्ददास ने मुग्धा के दो भेद ज्ञातयौवना और अज्ञातयौवना फिर दो और भेद नवोढा और विश्रब्ध नवोढा माने हैं। यह विभाजन भी उचित प्रतीत नहीं होता क्योकि विश्रब्ध नवोढा कभी अज्ञातयौवना हो ही नही सकती। इस प्रकार रहीम की भेदोपभेद कल्पना ही न्याय सगत है। मध्या और प्रौढा के भेदो में मत भेद नहीं है। प्राय सभी आचार्यों ने धीरा, अधीरा और धीराधीरा यही भेद किये हैं।

दूसरा मतभेद परकीया के विषय मे है। परकीया के कन्या और परोढा ये भेद तो प्राय सभी ने माने है। धर्म-व्यतिक्रम के भय से परोढा नायिका के भेदोपभेदो का अधिक विस्तार कई एक आचार्यों ने किया ही नही है। भानुदत्त ने परोढा के ६ भेद किये हैं—गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना और मुदिता। इनके अतिरिक्त इनके उपभेद भी किये गये हैं। कृपाराम ने इस सूची मे स्वयदूतिका को और जोड दिया है जो कि आचार्यों ने दूती भेद के अन्दर रखा है। सूर ने भी परकीया के ६ भेद किये है। उन्होने कुलटा भेद अलग से नहीं माना है। रहीम ने भी यही भेद किये हैं। किन्तु नन्ददास ने परोढा के केवल तीन ही भेद माने है—सुरत-गोपना, वाग्विदग्धा और लक्षिता। वस्तुत कुलटा होना परकीया का सामान्य लक्षण है तथा अनुशयाना और मुदिता ये दो भेद तो सभी प्रकार की नायिकाओ मे सम्भव हैं। अतएव परकीया के भेदो मे नन्ददास के किये हुए तीन ही भेद शेष रह जाते है जो अधिक समीचीन है। सुरत-गोपना भेद उपलक्षण भी कहा जा सकता है जिसमे भाव-गोपना का भी समावेश हो सकता है। रहीम ने सुरत-गोपना के तीन भेद किये है—भूत-सुरत-गोपना, भविष्यत्-सुरत-गोपना और वर्तमान-सुरत-गोपना। इसी प्रकार विदग्धा के भी वचन-विदग्धा और क्रिया-विदग्धा ये दो भेद किये है। विच्छित्ति विशेष के परिपोषक होने के कारण ये भेद समीचीन ही हैं। इन भेदो के अतिरिक्त नायक के प्रेम की दृष्टि से ज्येष्ठा और कनिष्ठा ये भेद भी किये गये हैं और साथ ही और इसी प्रकार के गुणो के अनुसार उत्तमा, मध्यमा और अधमा ये भेद भी शास्त्रो मे पाये जाते है। किन्तु न तो इन मे उक्ति वैचित्र्य ही अधिक सम्भव है और न कवियो ने इन का अधिक उल्लेख ही किया है। केवल कुछ चलते हुए उदाहरण देकर इन्हे छोड दिया गया है।

ऊपर सक्षेप मे जो नायिका भेद का परिचय दिया गया है वह वय क्रम, धर्म और गुण को लेकर प्रवृत्त हुआ है। इन्ही नायिकाओ की विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न प्रकार की प्रवृत्ति हो जाती है। अतएव परिस्थितियो के अनुसार नायिकाओ की अवस्थाओ पर ही विचार किया गया है। सस्कृत-साहित्याचार्यों ने अवस्थानुसार नायिकाओ के आठ भेद किये हैं—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा प्रोषित-पतिका और अभिसारिका। हिन्दी के

आचार्यों ने भी कुछ हेर फेर के साथ यही भेद माने हैं। कतिपय आचार्यों ने ये भेद ज्यों के त्यो उठा कर रख दिये है। साहित्य लहरी मे विप्रलब्धा भेद पृथक् नही माना गया है, तथा पतिगामिनी और आगतपतिका ये भेद और मान लिये गये हैं। वस्तुत पति का प्रस्थान काल, विदेश निवास और परावर्तन ये तीनो अवस्थायें पृथक्-पृथक् मनोवृत्तियो को उत्पन्न करने वाली होती हैं। अतएव प्रोषितपतिका के समान पतिगामिनी और आगत-पतिका ये दो भेद मानना सर्वथा उचित ही है। किन्तु प्रवास मात्र मे इनका समाहार हो जाता है। अतएव जिन आचार्यों ने दो भेद पृथक् नही माने हैं उन के भी मत मे प्रोषितपतिका को उपलक्षण मान कर शेष दो भेदो की व्याख्या की जा सकती है। केशव ने भोजराज के समान आठो प्रकार की नायिकाओ के प्रच्छन्न और प्रकाश ये दो भेद माने हैं। किन्तु ये आठो भेद स्वकीया और परकीया विषयक होने के कारण पिछले आचार्यों के नायिका भेद मे ही गतार्थ हो जाते हैं। अतएव इनका पृथक् पृथक् मानना आवश्यक नही। इसी प्रकार अभिसारिका के भी ६ भेद किये गये हैं। शुक्लाभिसारिका, कृष्णाभिसारिका, गर्वाभिसारिका, कामाभिसारिका, प्रच्छन्नाभिसारिका और प्रकाशाभिसारिका। इन भेदो मे परवर्ती साहित्य मे प्रचलन केवल शुक्लाभिसारिका और कृष्णाभिसारिका का ही हुआ। शेष भेद प्रतिष्ठित नही हो सके। वस्तुत. अन्य भेद कुछ अधिक न्यायसगत हैं भी नही। यह तो मानी हुई बात है कि विभिन्न प्रकार की नायिकाओ का अभिसरण विभिन्न प्रकार का होगा। अतएव गर्वाभिसारिका को पृथक् रखना सगत नही प्रतीत होता। सभी नायिकाओ का अभिसरण कामनावश ही होता है और सभी प्रच्छन्न रूप मे अभिसरण करती हैं, केवल वेश्या का अभिसरण प्रकट रूप मे होता है। अतएव शेष तीनो भेदो के मानने की भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

भानुदत्त ने दशा-भेद से तीन भेद और किये हैं—अन्यसम्भोगदु:खिता, वक्रोक्ति-गर्विता और मानवती। वक्रोक्ति-गर्विता के दो भेद किये गये हैं—प्रेम-गर्विता और सौन्दर्य-गर्विता। इसको केवल गर्विता कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। मानवती के गुरु, लघु और मध्यम मान अधिक आवश्यक नही है। ये भेद संस्कृत साहित्य शास्त्र की अन्य पुस्तको मे नही दिये गये है। नन्ददास को छोड कर हिन्दी के प्राय सभी आचार्यों ने इन भेदो को माना है। कृपाराम ने वक्रोक्ति-गर्विता के स्थान पर गर्विता भेद मान कर उसके दो भेद किये हैं— वक्रोक्ति-गर्विता तथा सरलोक्ति-गर्विता, इन दो-दो मे प्रत्येक के तीन-तीन भेद माने गये है—रूपगर्विता, गुणगर्विता और प्रेमगर्विता। रहीम ने मानवती भेद पृथक् नही लिखा है। यही नायिका भेद का सक्षिप्त परिचय है। इनका परस्पर साकर्य भी सम्भव है जिससे नायिका भेद हजारो की सख्या तक पहुँच जाता है।

सक्षेप मे नायिकायें तीन प्रकार की होती है—स्वकीया, परकीया और सामान्या। परकीया के दो भेद होते हैं— कन्या और परोढा। कन्या मे स्वकीया के

रूप मे परिणत होने की सम्भावना रहती है। परोढा में नहीं, धार्मिक दृष्टि से स्वकीया और कन्या के प्रति प्रेम उचित होता है, परोढ़ा तथा सामान्या के प्रति नही। अतएव स्वकीया और कन्या ही इसकी आलम्बन मानी जाती हैं। स्वकीया के तीन भेद होते है मुग्धा, मध्या और प्रौढा। कन्या केवल मुग्धा और मध्या ही हो सकती है। मध्यात्व धर्म के दिखलाये जाने मे औचित्य की सीमा का अतिक्रमण नही करना चाहिये नही तो व्यभिचार दोप से रस मलिनता को प्राप्त हो सकता है। परोढा का मध्या के रूप मे वर्णन अधिक अनुचित नही होता। किन्तु प्रौढा के रूप मे उसका वर्णन वेश्या की सीमा तक पहुँच कर रस को मलिन कर सकता है। मुग्धा के चार भेद होते हैं —अज्ञातयौवना, ज्ञातयौवना, नवोढा तथा विश्रब्ध नवोढा। मध्या और प्रौढा के तीन भेद होते है—धीरा, धीराधीरा और अधीरा। इनके ज्येष्ठा, कनिष्ठा तथा उत्तमा, मध्यमा और अधमा ये भेद और किये गये हैं जो अधिक महत्व नही रखते। परकीया रसाभास का आलम्बन होती है और सामान्या वासना-तृप्ति का साधन मात्र। अतएव इन नायिकाओ का विशेष विस्तार आचार्यो को अभिप्रेत नही है। परकीया के प्रति भावना अधिक तीव्र होती है और कतिपय धार्मिक सम्प्रदायो मे भगवत्प्रेम को परकीया प्रेम के समकक्ष माना गया है। अतएव इस भेद का भी कतिपय आचार्यों ने विशेप विस्तार किया है और इसके भी भेदोपभेदो की कल्पना की है जो पीछे दिखलाई जा चुकी है। अवस्था भेद से नायिकायें आठ प्रकार की होती है और दशा भेद से तीन प्रकार की। यही नायिका-भेद का सक्षिप्त परिचय है।

विहारी का काव्य नायिका भेद के उदाहरणो की दृष्टि से वडा ही महत्त्वपूर्ण काव्य है। इसमे प्राय सभी प्रकार की नायिकाओ के उदाहरण सुरक्षित है और टीकाकारो ने यत्र-तत्र उनकी ओर सकेत भी किया है। यहाँ पर उपर्युक्त विश्लेपण के आधार पर नायिका भेद की दृष्टि से विहारी का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) स्वकीया

धर्म प्रधान भारत मे स्वकीया प्रम को सर्वोत्तम मानना स्वाभाविक ही है। केवल धार्मिक दृष्टि से ही नही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह प्रेम सर्वोत्तम कहा जा सकता है। प्रेम की जो गम्भीरता यौवन और रूप का जो आकर्षण, गुण और शील का जो प्रकर्प, कुल तथा वैभव का जो महत्व स्वकीया मे उपलब्ध हो जाता है वह अत्यन्त दुर्लभ है। अमर कलाकार भवभूति के शब्दो मे कहा जा सकता है कि जो सुख और दुख का अद्वैत होता है, सब अवस्थाओ मे जो एक रूप मे ही अनुगत होता है जहा हृदय विश्राम को प्राप्त होता है, जिस के रस को वृद्धावस्था दूर नही कर सकती, (दूसरे प्रेमो के प्रतिकूल) समय व्यतीत होते जाने पर जो स्नेह सार मे स्थित होता है, इस प्रकार का सौभाग्य (स्वकीया प्रेम) मानव जीवन मे वडी कठि-नता से प्राप्त हो सकता है। इसीलिये विहारी ने स्वकीया प्रेम पर कोटि अप्सराओ को भी निछावर कर दिया है :—

कोटि अपछरा वारियै यौं सुकिया सुखु देइ ।
ढीली आँखिनि हीं चितै गढ़ैं गहि मनु लेइ ।।

इसीलिये साहित्य मे स्वकीया प्रेम को सब से अधिक महत्त्व प्रदान किया 'या है। स्वकीया प्रेम मे कुछ ऐसी लोकोत्तर मधुरिमा होती है कि उसका वर्णन करने मे जड लेखनी भी मधुर बन जाती है। बिहारी के शब्दो मे :—

बधू अधर की मधुरता बरणत मधु न तुलाइ।
लिखत लिखक के हाथ की किलिक ऊख ह्वै जाइ ।।

(अ) स्वकीया मुग्धा

स्वकीया का प्रथम भेद मुग्धा है। यद्यपि कन्या भी मुग्धा हो सकती है। तथापि कन्या मे भी स्वकीया के रूप मे परिणत होने की योग्यता होती है और स्वकीया के समान ही कन्या का प्रेम साहित्यशास्त्र की दृष्टि से अनुचित नही माना जाता। अतएव स्वकीया के भेदों मे ही मुग्धा का मानना उचित है। साहित्य-दर्पण कार ने मुग्धा मे ५ विशेषतायें बतलाई है—(१) जिस के यौवन का प्रथम ही अवतार हुआ हो। (२) जिसमे काम विकार का प्रथम बार ही सचार हुआ हो। (३) जो रतिकाल मे वामाचरण करे। (४) जो मान मे मृदु हो और (५) जिस मे लज्जा की अधिकता हो ऐसी नायिका को मुग्धा कहते हैं। मुग्धात्व के ये सभी रूप हमे बिहारी मे किसी न किसी रूप मे अधिगत हो जाते है। मुग्धा के इन स्वरूपो का बिहारी ने कई दोहो मे वर्णन किया है। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते है :—

(१) प्रथमावतीर्ण-यौवना का उदाहरण :—
अरतैं टरत न बर-परे दई मरक मनु मैन।
होड़ाहोड़ी बढ़ि चले चितु, चतुराई, नैन ।।

इसी प्रकार —

नव नागरि तन-मुलुकुलहि जौवन आमिर जौर।
घटि तैं बढ़ि बढ़ि घटि रकम करी और की और ।।

यौवनागम एक अत्याचारी अधिकारी ही नही वह एक कुशल शासक भी है, वह अपने अगो को पहचानता है और उनको अपने वश मे रखने का उपाय भी खूब जानता है। —

अपने अँग के जानि कै जोवन नृपति प्रवीन।
स्तन मन नैन नितम्ब को बड़ौ इजाफा कीन ।।

नव यौवन के विकास मे भी एक क्रम होता है जिसकी ओर कवियो ने विशेष ध्यान दिया है। सर्व प्रथम एक ऐसी अवस्था आती है जब कि अगो मे अत्यधिक कोमलता होती है और यौवनागम का कोई लक्षण दिखलाई ही नहीं देता, हाँ कुछ थोडा आकर्षण अवश्य उत्पन्न हो जाता है। दूसरी अवस्था मे कवियों ने वय सन्धि का वर्णन किया है और तीसरी अवस्था मे बाल भाव का सर्वथा अभाव और अगो

में यौवन का पूर्ण अधिकार दिखलाया जाता है। प्रथम अवस्था को हम यौवन का आरम्भ कह सकते है। इसके उदाहरण :—

नहिं परागु नहिं मधुर मधु नहिं विकासु इहिं काल।
अली कली ही सौं बँध्यो आगैं कौन हवाल ॥

इसी प्रकार —

सरस कुसुम मँडरातु अलि, न झुकि झपटि लपटातु।
दरसत अति सुकुमारु तनु, परसत मन न पत्यातु ॥

कही कही यौवनजन्य स्वल्प परिवर्तन की ओर सकेत किया जाता है और उस का प्रभाव दिखलाया जाता है, जैसे —

गाढ़ैं ठाढ़ैं कुचनु ठिलि पिय हिय को ठहराइ।
उकसौंहैं हीं तो हिये दई सबै उकसाइ ।
इक भीजैं चहलैं परैं बूड़ैं बहैं हजार ।
कितेन औगुन जग करै बै नै चढ़ती बार ॥
औरै ओप कनीनिकनु गनी घनी सिरताज।
मनी धनी के नेह की बनी छनीं पट लाज ॥
देह दुलहिया की बढ़ै ज्यौं-ज्यौ जोवन जोति।
त्यौं त्यौ लखि सौतैं सबै बदन मलिन दुति होति ॥

कही कही अगो द्वारा गुणो का आदान प्रदान भी दिखलाया जाता है —

अंगानीव परस्पर विदधते निलु ठन सुभ्र वः ॥

विहारी ने भी अगो के परस्पर आदान प्रदान का वर्णन किया है —

ज्यौं ज्यौं जोबन जेठ दिन कुचमिति अति अधिकाति।
त्यौं त्यौं छिन छिन कटि छपा छीन परति नित जाति ॥

कही कही यौवन के विस्तार मे अत्युक्ति का भी वहुत ही सुन्दर प्रयोग किया गया है, जैसे :—

लिखन वैठि जाकी सवी गहि गहि गरव गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥

वय सधि का वर्णन, जैसे :—

छुटी न सिसुता की झलक झलक्यौ जोवनु अग ।
दीपति देह दुहूनु मिलि दिपति ताफता रग ॥

इस वय सधि मे रति दान का भी कितना महत्त्व है ? देखिये :—

तिय-तिथि तरुन-किसोर-वय पुण्य काल सम दोनु।
काहू पुन्यनु पाइयतु वैस सधि सक्रोनु ॥

तीसरी अवस्था यौवन के पूर्ण विकास की आती है। इस अवस्था मे यौवन की परिपूर्णता का वर्णन किया गया है, जैसे —

अग अंग छवि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरी ऊ तऊ लगै भरी सी देह ॥

दुरत न कुच विच कंचुकी चुपरी, सारी सेत ।
कवि-आँकनु के अरथ लौं प्रगटि दिखाई देत ।।

इस प्रसंग मे मीलित और उन्मीलित अलंकारो का भी सुन्दर प्रयोग किया गया है और इस प्रकार यौवनजन्य चमक का प्रभावशाली चित्रण हुआ है। जैसे :—

बरन बास सुकुमारता सब विधि रही समाइ ।
पँखुरी लगी गुलाब की गात न जानी जाइ ।।

यहाँ पर मीलित अलंकार है। उन्मीलित का भी एक उदाहरण लीजिये —

रंच न लखियति पहिरि यों कंचन से तनु बाल ।
कुँभिलाने जानी परै उर चम्पक की माल ।।

मुग्धा की दूसरी विशेषता होती है कामना का नवीन संचार। कामना के नवीन संचार मे चेष्टाओ मे कुछ नवीनता आ जाती है। पैरो की चंचलता, जोर से हँसना इत्यादि बातें जाती रहती हैं, दृष्टि मे भी कुछ गम्भीरता, चंचलता तथा आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। काम-कला की बातो मे रुचि उत्पन्न हो जाती है और ऐसी बातें सुनने मे कुछ विशेष रुचि दृष्टिगत होने लगती है। बिहारी ने दो-एक दोहे मुग्धावस्था मे काम के नवीन संचार के विषय मे लिखे हैं। देखिये —

औरै ओप कनीनिकनु गनी घनी सरताज ।
मनीं धनीं के नेह की बनीं छनीं पट लाज ।।

कनीनिकाओ मे और ही ओप का आ जाना तथा लज्जा से आवृत होना नवीन काम-संचार को प्रकट करता है।

इसी प्रकार :—

सखियनि मैं बैठी रहै पूछै प्रीति प्रकार ।
हँसि हँसि आपुस मैं कहै प्रकट भयौ है मार ।।

इस अवस्था मे लज्जा की अधिकता और उत्कण्ठा की विशेषता के कारण छिप छिप कर अपने अंगो को देखना, एकान्त प्रेम तथा व्याज से शरीर दर्शन इत्यादि बातें होती हैं। इस अवस्था का वर्णन बिहारी ने निम्नलिखित दोहो मे भी किया है —

चित मैं तौ कछु चोपसी, निपट न लाग्यौ नेह ।
कहूँ दुरै देखै कहूँ, कहूँ दिखावै देह ।।

रति मे वामाचरण मुग्धा की तीसरी विशेषता है। नायिका जब नायक के साथ चारपाई पर लेटी हो तो प्रयत्न करने पर भी उसकी ओर मुँह नही करती। निम्नलिखित दोहे मे इसी दशा का वर्णन किया गया है —

मैं बरजी कै बार तूँ इत कित लेति करौट ।
पँखुरी लगैं गुलाब की परि है गात खरौट ।।

इसी प्रकार —

नाक मोरि नाहीं ककै नारि निहोरैं लेइ ।
छुवत ओठ बिय आँगुरिनु बिरी बदन प्यौ देइ ।।

मुग्धा मे कामना विद्यमान तो होती है किन्तु नि सकोच भाव से वह प्रियतम के सहवास का आनन्द नही ले सकती। किन्तु जब उसको मदिरा पान करा दिया जाता है तब उसकी दशा ही कुछ और हो जानी है। बिहारी ने अधिकतर लज्जाधिक्य मे मदिरापान का वर्णन किया है जिस से नायिका की चेष्टायें ही बदल गई है। देखिये :—

हँसि हँसि हेरति नवल तिय, मद के मद उमदाति।
बलकि बलकि बोलति वचन ललकि ललकि लपटाति।।

इसी प्रकार —

ढीठ्यो दै बोलति हँसति पोढ विलास अपोढ।
त्यौं त्यौं चलत न पिय नयन छकए छकी नवोढ।।

एक और उदाहरण :—

निपट लजीली नवल तिय बहकि वारुनी सेइ।
त्यौं त्यौं अति मीठी लगति ज्यौं ज्यौं ढीठ्यो देइ।।

मान मे मृदु होना मुग्धा का चौथा लक्षण है। बिहारी ने इस आशय के कई दोहे लिखे हैं।

दो एक उदाहरण यहाँ पर दिये जाते है –

सोवत लखि मन मनु धरि ढिग सोयौ प्यौ आइ।।
रही, सुपन की मिलनि मिलि तिय हिय सौं लपटाइ।।

सखियाँ मान की विधि सिखाती हैं किन्तु नायिका प्रयत्न करने पर भी मान नही कर पाती, मान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है —

/ मोहिं लजावत निलज ए हुलसि मिलत सब गात।
भानु-उदै की ओस लौं मानु न जानति जात।।

यहाँ पर "ए" यह सकेत वाचक सर्वनाम है और नेत्र का वाचक है, "सब गात" एक लाक्षणिक प्रयोग है जिस का लक्ष्यार्थ होता है "पूर्ण रूप से"। इस दोहे का पूरा अर्थ इस प्रकार होगा "मेरे नेत्र प्रियतम के आने पर प्रफुल्लित होकर सब अगो से (पूर्ण रूप से) उनसे मिल जाते है।" रत्नाकर ने यहा पर "ए" यह सकेत वाचक विशेषण माना है और सब अगो के मिलने का अर्थ किया है जो उतना समीचीन ज्ञात नही होता। क्योकि एक तो पहले अर्थ मे लाक्षणिक प्रयोग का सौन्दर्य आ जाता है, दूसरे मुग्धा नायिका का मान दशा का इसमे सुन्दर चित्रण हो जाता है। अतएव नेत्रपरक अर्थ ही करना चाहिये।

एक-दो और उदाहरण —

(अ) तुहूँ कहति हौं आपु हू समुझति सबै सयानु।
लखि मोहन जौ मनु रहै तौ मन राखौं मानु।।

(ब) सतर भौंह रूखे बचन करति कठिनु मनु नीठि ।
कहा करौं ह्वै जाति हरि हेरि हँसौंहीं दीठि ।।
(स) रहैं निगोड़े नैन डिगि गहैं न चेत अचेत ।
हौं कसि कै रिस को करौं ये निसुके हँसि देत ।।

ईर्ष्या मान की मृदुता का उदाहरण :—

अनत बसे निसि की रिसनु उर बरि रही बिसेखि ।
तऊ लाज आई कत झुखरैं लजौहैं देखि ।।

लज्जा का आधिक्य एक पाँचवाँ लक्षण है । वैसे तो लज्जा मुग्धा का प्रधान लक्षण है जो रतिवामता की अवस्था मे भी सन्निहित रहती है फिर भी उसी मे कही-कही कुछ विशेषता आ जाती है अतएव इसको पाँचवाँ लक्षण माना गया है —

अत्र ,समधिकलज्जावत्त्वेनापि लब्धाया रतिवामताया विच्छित्तिविशेषवत्तया पुन. कथनम् ।

एक उदाहरण —

हेरि हिंडौरैं गगन ते परी परी सी टूटि ।
धरी धाइ पिय बीच ही करी खरी रस लूटि ।।

मुग्धा के शास्त्रकारो ने चार भेद माने हैं, अज्ञात-यौवना, ज्ञात-यौवना, नवोढा और विश्रब्धनवोढा । बिहारी ने चारो प्रकार की नायिकाओ के उदाहरण लिखे है। अज्ञात-यौवना का यौवन प्रारम्भ हो जाता है, शरीर मे यौवन-जन्य चमक आ जाती है किन्तु कामना का सचार नही होता । इस अवस्था मे लडकपन का विशेष प्राधान्य होता है। देखिये :—

बरजैं दूनी हठ चढ़ै ना सकुचै, न सकाइ ।
टूटत कटि दुमची मचक लचकि लचकि बचि जाइ ।।

दूसरा उदाहरण :—

लाल, अलौकिक लरिकई लखि लखि सखी सिहाँति ।
आजु काल्हि मैं देखियतु उरु उकसौंहीं भाँति ।।

निम्नलिखित नायिका का अल्हड़पन भी कितना विचित्र है । उसके अधर पर मोती की झलक पड़ी है । यौवन के विकास के कारण उसकी आकृति कुछ और ही सी हो गई है । अज्ञात-यौवना होने के कारण वह समझ नही पाती है और उस को आटा समझ कर बार-बार अपने वस्त्र से पोछती है —

बेसरि-मोती दुति झलक परी ओठ पर आइ ।
चूनौ होइ न चतुर तिय क्यो पट पोछ्यौ जाइ ।।

ज्ञात-यौवना यौवनागम को जानती है, उसके अन्दर कामना का सचार हो चुका होता है तथापि वह प्रकट रूप मे यौवनागम-जन्य हर्ष को प्रकट नही कर पाती । वह एकान्त मे अपने व्यजनो को देखती है .—

भावकु उभरौहौं भयौ कछुकु पर्यौ भरुआइ ।
सीप हरा कैं मिस हियौ निसिदिन हेरत जाइ ।।

इसी प्रकार :—

छुपि छुपि देखति कुचनि-तनु करसौं अँगिया टारि ।
नैननि मैं निरखति रहै भई अनोखी नारि ।।

मध्ययुग मे छोटी आयु मे कन्याओ के विवाह करने की प्रथा थी। अतएव नवोढा को मुग्धा के अन्तर्गत ही माना जाता है। बिहारी ने नवोढा के वर्णन में कई दोहे लिखे हैं। पीछे मुग्धा की विभिन्न दशाओ के जो उदाहरण दिये गये है वे नवोढा विषय में भी लागू होते हैं। कही-कही वैवाहिक जीवन का भी इस प्रसग में वर्णन किया जाता है और सौतो की निराशा दिखलाई जाती है। निम्नलिखित दोहो में इसी अवस्था का वर्णन किया गया है :—

मानहु मुँह दिखरावनी दुलहिहिं करि अनुरागु ।
सासु सदनु मनु ललन हूँ सौतिनु दियौ सुहागु ।।

जब वधू पहले-पहल घर आती है तब मुंह देखने की प्रथा होती है जिसमे घर की सब ज्येष्ठ स्त्रियां नव-वधू को कुछ न कुछ भेंट देती हैं। उसी प्रथा का इस दोहे में वर्णन किया गया है। प्रथम सम्मिलन के पहले बर्तन छूने की भी एक प्रथा है। जिस मे नव-वधू पहले पहल भोजन बनाती है। उसी का वर्णन निम्नलिखित दोहे से किया गया है :—

टटकी धोई धोवती चटकीली मुख जोति ।
लसत रसोई कैं बगर जगर मगर दुति होति ।।

नवोढा नायिका के यौवन विकास को देखकर सौतो की चिन्ता और निराशा का भी वर्णन किया गया है। जैसे :—

निरखि नवोढ़ा नारि तन छुटत लरिकई-लेस ।
भौ प्यारौ प्रीतम तियनु मानहु चलत विदेश ।।

जब कुछ दिनो के सम्पर्क से नायिका कुछ-कुछ प्रियतम के आग्रह को स्वीकार करने लगती है तब उसे विश्रब्धनवोढा कहते हैं। जैसे.—

हँसि ओठनु बिच करु उचै कियैं निचौंहैं नैन ।
खरैं अरैं पिय के पिया लगी बिरी मुख दैन ।।

कभी-कभी यह विश्रम्भ प्रारम्भ से ही उत्पन्न हो जाता है और कभी कभी जब कुछ अधिक आयु मे विवाह होता है तब विवाह मे ही नायक और नायिका एक दूसरे को हृदय अर्पित कर देते हैं। जैसे :—

स्वेद सलिलु रोमांच कुसु गहि दुलही अरु नाथ ।
दियौ हियौ सँग हाथ कैं हथलैयैं ही हाथ ।।

सक्षेप मे मुग्धा नायिका की उत्कण्ठा सर्वदा लज्जा और सकोच से आवृत रहती है और जब कभी उसे प्रियतम के अवलोकन का अवसर मिलता है तो उसकी विचित्र ही अवस्था हो जाती है। बिहारी ने इस प्रकार की चेष्टा का बडा ही सुन्दर वर्णन किया है :—

सटपटाति सैं ससिमुखी मुखु घूघट पटु ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै गई झरोखा झाँकि ॥

यह नायिका कभी भी सामने देख नही पाती और यदि कभी प्रियतम सामने हो तो उत्कण्ठावश उस की दृष्टि एक क्षण के लिए ऊपर उठती है और तत्काल पुनः नीची हो जाती है इस प्रकार की चेष्टा का वर्णन विहारी ने बड़ा ही सुन्दर किया है —

नीची यै नीची निपट दीठ कुहीलौं दौरि।
उठि ऊँचै नीचौ दयौ मनु कुलिंगु झपि झौरि ॥

जिस प्रकार वाज नीचे नीचे उडता रहता है फिर एक दम ऊपर को उठकर किसी पक्षी को झपट लेता है और पुन नीचा हो जाता है। नायिका के सकोचमय अवलोकन से नायक के मन की भी कुछ ऐसी ही दशा हुई है।

मध्या नायिका

यहाँ तक मुग्धा नायिका का परिचय दिया गया है। मुग्धा के वाद नायिका मध्या वनती है। मुग्धा का यौवन चढाव पर होता है और मध्या का यौवन पूर्ण विकसित हो जाता है। इस समय शरीर में एक यौवनजन्य चमक उत्पन्न हो जाती है जो सम्पूर्ण शरीर को आप्यायित किये रहती है। यही वह लावण्य है जो कुरूप से कुरूप स्त्री को मधुरिमामय वना देता है। विहारी ने इस लावण्य का अनेक दोहो मे वर्णन किया है। देखिये :—

झीनैं पट मैं झुलमुली झलकति ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिन्धु मैं लसति सपल्लव डार ॥

कभी-कभी तो शरीर की चमक से वस्त्रों का रग भी वदल जाता है—

सोनजुही सी जगमगति अँग अँग जोवन जोति।
सुरँग कसूँभी कंचुकी दुरँगें देह दुति होति ॥

इसी प्रकार :—

देखी सोनजुही फिरति सोन जुही सैं अग।
दुति-लपटनु पट सेत हूँ करति वनौटी रंग ॥

कभी कभी तो यह चमक इतनी अधिक वढ जाती है कि वस्त्र शरीर पर होते हुए भी दिखलाई नही देते :—

भई जु छवि तन बसन मिलि, वरनि सकैं सु न वैन।
आँग ओप आँगी दुरी आँगी आँग दुरै न ॥

वैसे तो तन्वी होना सुन्दरियो का स्वभाव ही है। किन्तु जव यौवन की चमक आ जाती है तो उनका तन्वीपन लक्षित कर सकना कठिन हो जाता है :—

अग अग छवि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरी ऊ तऊ लगै भरी सी देह ॥

इस यौवन में एक अभूतपूर्व लचक, एक विचित्र प्रकार की चेष्टा स्वत.

उत्पन्न हो जाती है जो युवको को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है :—

चिलक चिकनई चटक सौं लफति सटक लौं आइ ।
नारि सलोनी साँवरी नागिनि लौं डसि जाइ ।।

इसी प्रकार —

लहलहाति तन तरुनई लचि लग लौं लफि जाइ ।
लगै लाँक लोयनु भरी लोयनु लेइ लगाइ ।।

मुग्धा की अपेक्षा मध्या मे लज्जा की कमी हो जाती है। दूसरे शब्दो में कहा जा सकता है कि मुग्धा मे लज्जा उसकी उत्कण्ठा को दबाये रहती है, इसके प्रतिकूल मध्या मे उत्कण्ठा और लज्जा समान भाव मे स्थित होती हैं। मध्या नायिका नायक को बार बार देखना चाहती है और देखने से सतुष्ट नही होती। इसी दशा का वर्णन विहारी ने इस प्रकार लिखा है —

करे चाह सौं चुकुटि कै खरैं उड़ौंहैं मैन ।
लाज नवाएँ तरफत करत खूँद सी नैन ।।

इस नायिका की दृष्टि अपने प्रियतम को ढूंढती भी खूब है। तत्काल अपने चित्तचोर के पास जा पहुँचती है —

सबही त्यौं समुहाति छिनु चलति सबनु दै पीठि ।
वाही त्यौं ठहराति यह कविलनवी लौं दीठि ।।

इसकी दृष्टि भीड के अन्दर भी अपने प्रियतम को ढूंढ निकालती है और भीड़ की परवाह न करके नायक की दृष्टि से एक दम जुड जाती है :—

इती भीर हूँ भेदि कै कित हूँ ह्वै इत आइ ।
फिरै दीठि जुरि दीठि सौं सबकी दीठि बचाइ ।।

यही वात विहारी ने दूसरे दोहे मे भी कही है :—

गड़ी कुटुम की भीर मैं रही वैठि दै पीठि ।
तऊ पलकु परि जाति इत सलज हसौंहीं दीठि ।।

लज्जा और लालच के वस मे नेत्रों की विचित्र सी दशा हो जाती है और यह विचित्रता उस समय और अधिक वढ़ जाती है जब प्रियतम नैहर मे पहुँच जावे—

छुटी न लाज न लालचौ प्यौ लखि नैहर-गेह ।
सटपटात लोचन खरे भरे सँकोच सनेह ।।

केवल देखने मे ही नही प्रियतम को अपने अग दिखलाने मे भी यह नायिका निपुण होती है और इस क्रिया मे आनन्द भी लेती है —

देख्यौ अनदेख्यौ कियैं अँगु अँगु सबै दिखाइ ।
पैठति सी तन मैं सकुचि वैठी चितै लजाइ ।।

इसे प्रियतम से मिलने मे हर्ष होता है किन्तु उस हर्ष को यह प्रकट नहीं कर सकती। उसे नैहर मे अच्छा नही लगता फिर भी इस भाव को यह प्रकट नहीं करती :—

चाले की बातैं चलीं सुनत सखिनु कैं टोल।
गोऐ हूँ लोइन हँसत विहँसत जात कपोल॥

इसकी आनन्द क्रीडा लज्जा से भरी होती है —

पीठि दिये हीं नैंक मुरि कर घूंघट पटु टारि।
भरि गुलाल की मूठि सौं गई मूठि सी मारि॥

मध्या नायिका की कामना मुग्धा की अपेक्षा अधिक उद्दीप्त होती है। इसे वियोग-जन्य पीडा भी अधिक सताती है। शीतल वस्तुयें भी जलाने वाली होती हैं—

चन्दन चम्पक चन्द-रस चन्द चुर्‌यो तनु जाइ।
बारक आली अग सौं आँग्यो देखि लगाइ॥

प्रियतम ने पीछे से आकर आखें वन्द कर ली है। वह समझ तो शीघ्र ही गई है किन्तु आनन्दातिरेक से उसे प्रकट करना नही चाहती .—

प्रीतम दृग मिहचत प्रिया-पानि-परस-सुखु पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं नैंकु न होति जनाइ॥

सुरत काल मे भी यह अधिक आनन्ददायक होती है और सुरत मे प्रवृत्ति भी विशेपता के साथ होती है।

रँगी सुरत रँग पियहियैं लगी जगी सब राति।
पैंड पैंड पर ठठुकि कै ऐंड भरी ऐंडाति॥

इसी प्रकार —

लाज-गरव आलस-उमग-भरे नैन मुसकात।
राति रमी रति देति कहि औरै प्रभा प्रभात॥

यहाँ पर लज्जा और गर्व तथा आलस्य और उमग इन विरुद्ध भावो का सघटन किया गया है इससे अनेक प्रकार की सुरत लक्षित होती है। गर्व तथा उमग इन दो भावो से यह लक्षित होता है कि नायिका ने सुरत काल मे विपरीत रति के अवसर पर विशेप कौशल दिखलाया है तथा यह दोनो भाव उक्त कौशल के ही परिचायक हैं। इसी प्रकार लज्जा और आलस्य से प्रमाणित होता है कि उक्त गर्व तथा उमग रति के कारण ही है।

मध्या नायिका के वचनो मे भी कुछ अधिक प्रगल्भता आ जाती है। एक तो यह बातचीत करती ही अधिक है, केवल सकोचवश सामने निरन्तर देख नही सकती .—

सकुच सहित बातनि लगी आननु फेरत नाहिं।
नैना हीं चित चोर लौं निरखि निरखि नै जाहिं॥

देखिये पत्र मे यह नायिका क्या सदेश देती है —

भौ यह ऐसोई समै जहाँ सुखद दुखु देत।
चैत मास की चाँदनी डारति किये अचेत॥

निस्सदेह इस विषय मे कालीदास की व्यजना अधिक स्फुट हो जाती है —

प्राणेश विज्ञप्तिरियं मदीया ,
तत्रैव नेया दिवसा कियन्त ।
सम्प्रत्ययोग्यस्थितिरेष देश·,
कला हिमांशोरपि तापयन्ति ।।

प्रगल्भता का एक उदाहरण और देखिये ·—

लाल तुम्हारे विरह की अगनि अनूप अपार ।
सरसैं वरसै नीर हूँ झर हूँ मिटै न झार ।।

सक्षेप मे मध्या नायिका का यौवन अधिक प्रस्फुटित तथा अधिक आकर्षक हो जाता है, यौवनजन्य चमक बढ़ जाती है, लज्जा और सकोच तथा उत्कण्ठा का स्तर एक हो जाता है, काम अधिक उद्दीप्त हो जाता है, सुरत मे विशेषता आ जाती है और वचनो मे प्रगल्भता का सचार हो जाता है। यह मध्या नायिका की सामान्य दशा का परिचय है।

प्रौढा नायिका

प्रौढ़ा नायिका की एक बड़ी विशेषता यह होती है कि यह नायिका काम-वासना से अन्धी हो जाती है। रात दिन इसे चैन नही पडती .—

तजी संक सकुचवति न चित बोलत वाकु कुवाकु ।
दिनछिनदा छाकी रहति छुटतु न छिनु छवि छाकु ।।

इसी प्रकार —

ह्याँ तैं ह्वाँ ह्वाँ तैं इहाँ नैकौ धरति न धीर ।
निसि दिन डाढ़ी सी फिरति बाढी गाढी पीर ।।
इत तैं उत उत तैं इतै छिनु न कहूँ ठहराति ।
जक न परति चकरी भई फिरि आवति फिरि जाति ।।

रात दिन खींचातानी मे पडे रहना, बार बार नायक को देखने के लिये ऊपर चढ़ना, नीचे उतरना इसका स्वभाव होता है। जैसे —

झटकि चढति उतरति अटा नैंकु न थाकति देह ।
भई रहति नटकौ बटा अटकी नागर नेह ।।

प्रियतम के चिन्हो का भी उसके हृदय मे अत्यन्त आदर होता है और रात दिन उन्ही चिन्हो के आनन्द मे मस्त रहती है। यदि प्रियतम का दन्त-व्रण या नख-व्रण प्राप्त हो जाता है तो यह उसी आनन्द मे निरन्तर मस्त रहती है —

छिनकु उघारति छिनु छुवति राखति छिनकु छिपाइ ।
सबु दिनु पिय खण्डित अधर दरपन देखत जाइ ।।

यहाँ तक यदि प्रियतम की उडाई पतग की छाया घर के आगन मे आ कर पडती है तो यह पागल हो उठती है —

उड़ति गुड़ी लखि लाल की अँगना अँगना माँह ।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह ।।

यह प्रियतम का इतना अधिक ध्यान करती है कि सारे जगत् को प्रियतम मय देखने लगती है यहाँ तक कि अपने को भी प्रियतममय देखती है —

पिय कैं ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि ।
आपु आपु ही आरसी लखि रीझति रिझवारि ।।

इसी प्रकार —

कब की ध्यान लगी लखौं यह घरु लगि है काहि ।
डरियतु भृंगी कीट लौं मति वहई ह्वै जाइ ।।

कभी कभी तो इसकी कामना मर्यादा का भी अतिक्रमण कर जाती है। यदि प्रियतम ने पुत्र का मुख चूम लिया हो तो यह पुत्र के मुख को चूम कर प्रियतम के अधर चुम्बन का आनन्द लेती है —

बिहँसि बुलाइ बिलोकि उत प्रौढ़ तिया रस घूमि ।
पुलकि पसीजति पूत कौ पिय चूम्यौ मुँहु चूमि ।।

जिस प्रकार इसमे कामान्धता होती है उसी प्रकार यौवन भी प्रगाढता को प्राप्त कर लेता है —

कटि छोटी छाती बड़ी आँखियौं लागतिं कान ।
छीवरवारी छोहरी लेति छुड़ाएँ प्रान ।।

बिहारी ने एक दूसरे दोहे मे नायिका के दृष्टि-विस्तार का बडा ही सुन्दर वर्णन किया है —

जोग जुगति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन ।
चाहत पिय अद्वैतता कानतु सेवत नैन ।।

यौवन के विस्तार का एक और उदाहरण —

कुच गिरि चढ़ि अति थकित ह्वै चली दीठि मुँह चाड ।
फिरि न टरी परियै रही गिरी चिबुक की गाड़ ।।

प्रौढा मे लज्जा हीनातिहीन सीमा तक पहुँच जाती है। इसे किसी भी अवस्था मे सकोच नही होता :—

चलतु घैरु घर घर तऊ घरी न घर ठहराति ।
समुझि उहीं घर कौं चलै भूलि उहीं घर जाइ ।।

इसके नेत्रो की चेष्टा तत्काल उसके भाव को प्रकट कर देती है —

वहके सब जिय की कहत ठौरु कुठौरु लखैं न ।
छिन औरै छिन और से ए छवि छाके नैन ।।

प्रौढा के नेत्रो की दशा भी विलक्षण होती है। इसके नेत्र रूपी घोडे लज्जा रूपी लगाम की परवाह ही नही करते —

लाज लगाम न मानहीं नैना मो बस नाहिं ।
ये मुँह जोर तुरग लौं ऐंचत हू चलि जाहिं ।।

इसको यश अपयश की भी परवाह नही होती :—

'जसु अपजसु देखत नहीं देखत साँवल गात ।
कहा करौं लालच भरे चपल नैन चलि जात ।।

इसको लाखो की भीड की भी परवाह नही होती। वीर सैनिक की भाँति इसके नेत्र भीड को चीरते हुए जा कर अपने प्रियतम ही से टकराते हैं —

पहुँचति डटि रण सुभट लौं रोकि सकैं सब नाँहि ।
लाखनुहू की भीर मैं आँखि उहीं चलि जाँहि ।।

इसके नेत्रो की चेष्टायें नर्तकी को भी मात देने वाली होती हैं —

सब अँग करि राखी सुघर नाइक नेह सिखाइ ।
रसजुत लेति अनन्त गति पुतरी पातुर राइ ।।

मध्या नायिका तो प्रियतम के नेत्र बन्द कर लेने पर आनन्द ही लेती रहती है यह स्वय घूम कर प्रियतम से चिपट जाती है —

दृग मिहचत मृगलोचनी भर्यो उलटि भुजबाथ ।
जानि गई तियनाथ के हाथ परसही हाथ ।।

मध्या नायिका के वचनो मे कुछ कुछ प्रगल्भता का सचार होता है किन्तु इसकी भावनायें बडी उद्दीप्त होती हैं और रति क्रीडा मे तो यह अपने प्रियतम को भी मात दे देती है —

पर्यौ जोरु विपरीत रति रुपी सुरत रण-धीर ।
करति कुलाहलु किंकिनी गह्यो मौनु मजीर ।।

रात भर सुरत क्रीडा करने के बाद भी इसकी इच्छा प्रातः काल चारपाई छोड़ने की नही होती —

नीठि नीठि उठि बैठिहूँ प्यौ प्यारी परभात ।
दोऊ नीद भरैं खरैं गरैं लागि गिरि जात ।।

इस नायिका की सब से बडी विशेषता होती है नायक को अपने अधीन कर लेने की। बिहारी ने इस का वर्णन निम्नलिखित ६ दोहो मे किया है —

बेद भेद जानैं नहीं नेतिनेति कहै बैन ।
ता मोहन सौं राधिका कहै महावरु दैन ।।
जग्य न पायौ ब्रह्म हू जोग न पायौ ईस ।
ता मोहन पैं राधिका सुमन गुहावति सीस ।।
जिन सिगरी बसुधा करी तत्व मिलै कै पाच ।
ता मोहन कौं राधिका किते नचावति नाच ।।

इसी प्रकार —

रही गुही बेनी लखे गुहिबे के त्यौनार ।
लागे नीर चुचान जे नीठि सुकाये बार ।।

सक्षेप मे प्रौढ़ा नायिका कामोन्मत्त होती है। हर समय उसे सम्भोग का ही ध्यान आता रहता है। उसका तारुण्य प्रगाढ अवस्था को पहुँच चुका होता है।

वह रति क्रीडा मे बडी ही निपुण होती है। लज्जा-शीलता उसमे निम्नातिनिम्न मात्रा मे होती है—और वह प्रियतम पर अधिकार बनाये रहती है। इस प्रकार अवस्था भेद से मुग्धा, मध्या और प्रौढा यह तीन प्रकार की नायिकायें होती हैं।

मध्या तथा प्रौढा के अवान्तर भेद

आचार्यों ने मध्या तथा प्रगल्भा (प्रौढा) के तीन अवान्तर भेद भी किये है, धीरा, धीराधीरा तथा अधीरा। इस प्रकार मध्या और प्रौढा के ६ भेद हो जाते हैं। सम्भोग की दृष्टि से मध्या और प्रौढा के रूप मे नायिका को विभाजित कर देना ही पर्याप्त है क्योंकि सहवास तथा सम्मिलन की चेष्टाओ मे विशेष अन्तर केवल लज्जा का तारतम्य हो जाता है। किन्तु जब इस बात पर विचार किया जाता है कि प्रियतम के सापराध होने पर नायिका किस प्रकार का व्यवहार करती है तब इनके अवान्तर भेद स्पष्ट लक्षित हो जाते हैं।

(१) यदि प्रियतम के अपराध को देखकर नायिका आपे से बाहर नही हो जाती, न तो वह कठोर शब्द ही कहती है, न रोती है, अपितु मुस्कराकर गम्भीरता के साथ प्रियतम को बनाने लगती है और प्रियतम से कहती है कि वह उसके अपराध पर प्रसन्न है—तब वह धैर्यशालिनी मध्या (मध्या धीरा) कही जाती है। बिहारी ने कई दोहों मे मध्या धीरा की सूक्तियो का वर्णन किया है। नायक सम्भोग चिन्हो के साथ प्रात काल घर को आया है। नायिका मध्या धीरा है, वह कहती है "क्या खूब आज तो तुम्हें देखकर मुझे ऐसा लगता है मानो मैंने साक्षात् शिव और विष्णु के सम्मिलित रूप के दर्शन किये हो —

प्रानप्रिया हिय में बसै नखरेखा ससि भाल।
भलौ दिखायौ आइ यह हरि हर रूप रसाल॥

इसी प्रकार :—

पलनु पीक अंजनु अधर धरे महावरु भाल।
आजु मिले सुभली करी भले बने हौ लाल॥

नायिका आश्चर्य प्रकट करती है कि यह प्रात काल ही सध्या कैसे हो गई। प्रात काल और सध्या का सम्मिलित आनन्द लेने का सौभाग्य तो विरले ही भाग्यशालियों को प्राप्त होता है :—

रह्यौ चकितु चहुँधा चितै चितु मेरौ मति भूलि।
सूर उयैं आए रही दृगनु साँझ सी फूलि॥

यह विधुवदनी सम्बोधन का समर्थन कितना सुन्दर है —

बिधु वदनी मोसौं कहत मैं समुझी निज बात।
नैन नलिन पिय रावरे न्याय निरखि नै जात॥

एक और उदाहरण :—

पटकी ढिग कत ढाँपियत सोभित सुभग सुवेष।
हद रद छद छबि देति यह सद रद छद की रेख॥

(२) यदि नायिका का गम्भीरता का बाँध टूट जाये और उसका धैर्य जाता रहे

तथा कटु शब्द उसके मुख से निकलने लगें तो वह नायिका मध्या अधीरा होती है। बिहारी ने इसके वर्णन मे बहुत से दोहे लिखे है। यहाँ पर कतिपय उदाहरण दिये जा रहे हैं। मध्याधीरा तो विधुवदनी का समर्थन उपहास के साथ कर देती है किन्तु मध्या अधीरा तत्काल वहाँ से चले जाने का आदेश देती है —

विधुवदनी मोसौं कहत कत उपजावत दाहु।
नयन नलिन फूले जहाँ रविबदनी पै जाहु॥

निम्नलिखित दोहो मे मध्या अधीरा का ही वर्णन किया गया है —

(अ) पावक सो नैननु लगै जावकु लाग्यो भाल।
मुकुरु होहुगे नैक मैं मुकुरु विलोकहु लाल॥

(आ) दुरै न निघरघट्यौ दिये ए रावरी कुचाल।
विषु सी लागति है बुरी हँसी खिसी की लाल॥

(इ) कत बेकाज चलाइयति चतुराई की चाल।
कहे देति यह रावरे सब गुन निरगुन माल॥

(ई) पटसौं पोंछि परी करौ खरी भयानक भेष।
नागिनि ह्वै लागति दृगनु नागवेलि रँगरेख।

(उ) सदन सदन के फिरन की सद न छुटै हरि राइ।
रुचै तितै विहरत फिरौ कत विहरत उरु आइ॥

(ऊ) मोहूँ सौं बातनु लगै लगी जीभ जेहि नाइ।
सोई लै उर लाइयै लाल लागियतु पाइ॥

(ए) नख रेखा सो. नई अलसौंहैं सब गात।
सौंहैं होत न नयन ये तुम सौंहैं कत खात॥

(ऐ) वैसी यै जानी परति झगा ऊजरे माँह।
मृगनैनी लपटत जु हिय बेनी उपटी बाँह॥

(ओ) कत कहियत दुखु देन कौं रचि-रचि वचन अलीक।
सबै कहाउ रह्यौ लखैं लाल महावर लीक॥

(औ) सुभर भर्‌यौ तव गुन कननु पकयौ कपट कुचाल।
क्यो धौं दार्‌यो लौं हियौ दरकतु नहिं नन्द लाल॥

(३) कुछ नायिकायें ऐसी होती है जो ऐसे अवसर पर न तो गम्भीरता ही धारण कर पाती हैं और न कटु शब्द कहने में प्रवृत्त होती हैं। न तो वे इतनी धीरा ही होती हैं कि उनका रोष उपहास के रूप मे परिणत हो सके और न इतनी अधीरा ही होती है कि तत्काल रोषपूर्ण शब्द मुह से निकलने ही लगें। ऐसी नायिकायें या तो रोने लगती हैं या रुष्ट होकर आख-भो चढ़ाकर एक ओर बैठी रहती हैं, कहती कुछ नही। ऐसी नायिकाओ को मध्या धीराधीरा कहा जाता है। बिहारी मे कोई भी दोहा रोकर रोष प्रकट करने का प्राप्त ही नही होता। वस्तुत. रोना भी अधैर्य का ही एक लक्षण है। वास्तविक धीराधीरा तो वे ही हो सकती हैं जो

बोलना-चालना बन्द कर दें और उनके आकार-प्रकार से ही क्रोध की व्यजना हो। इस प्रकार के उदाहरण विहारी में कई एक मिलते हैं। देखिये :—

सौंहैं हूँ हेर्यो न तैं केती याईं सौंह।
ऐहो क्यौं बैठी किये ऐंठी ग्वैंठी भौंह॥

इसी प्रकार :—

हौं हारी कै कै हहा पायनु पार्यो प्योरु।
लेहु कहा अजहूँ किये तेह तरेरौ त्यौरु॥

कभी-कभी सम्भोग चिन्हो से ऐसी नायिका व्याकुल हो जाती है और प्रणय को स्वीकार न करके ही अपने रोष की व्यजना करती है

बिलखी लखै खरी खरी भरी अनख वैराग।
मृग नैनी सैन न भजै लखि वेनी के दाग॥

कभी कभी इस अवस्था में सखियो की मध्यस्थता बड़ी ही चमत्कारपूर्ण होती है —

(अ) तेह तरेरौ त्यौरु करि कत करियत दृग लोल।
लीक नहीं यह पीक की श्रुति मनि झलक कपोल॥

(आ) कहा लेहुगे खेलपैं तजौ अटपटी बात।
नैकु हँसौंहीं हैं भईं भौंहैं सौहैं खात॥

कभी कभी जब नायक निराश होकर लौट जाता है तो सखि उसे जाकर पुन लौटने के लिए प्रेरित करती है —

चलौ चलैं छुटि जाइगौ हठु रावरैं संकोच।
खरे चढाये हे तिअब आये लोचन लोच॥

(४) यदि नायिका प्रौढा हो तो उसकी मान चेष्टायें मध्या की मान चेष्टाओ से कुछ भिन्न होती हैं। यह भी मध्या के समान धीरा, धीराधीरा और अधीरा इन तीन भेदो मे विभाजित की जा सकती है। ऊपर बतलाया जा चुका है मध्या धीरा का रोष न तो मौनावलम्बन के द्वारा ही व्यक्त हो पाता है और न वह सहसा कटु शब्दो का ही प्रयोग करने लग जाती है। किन्तु उसके अन्दर इतना अधिक धैर्य भी नही होता कि वह अपने भाव को सर्वथा छिपा ले। अतएव वह वक्रोक्ति का प्रयोग कर अपनी भावना व्यक्त किया करती है। इसके प्रतिकूल यदि नायिका प्रौढा-धीरा हो तो वह सर्वथा अपना रोष छिपा लेती है। प्रियतम का पहले की अपेक्षा भी अधिक आदर करती है। इस प्रकार उसका रोष व्यवहार की नवीनता के कारण व्यक्त होता है। विहारी ने इस प्रकार के मान मे सोठ के मिठास की सुन्दर कल्पना की है —देखिए —

खरैं अदब इठलाहटी, उर उपजावति त्रासु।
दुसह संक बिस कौ करै जैसैं सौंठि मिठासु॥

इस नायिका का मान अधिक आदर के द्वारा ही व्यक्त होता है —

मुँह मिठास दृग चीकने भौंहें सहज सुभाइ।
तऊ खरैं आदर खरौ खिन खिन हियौ सकाइ॥

कभी कभी मुस्कराहट ही मान की व्यजिका होती है —

ढीठि परोसिनि ईठि ह्वै कहे जु गहे सयानु।
सबै सँदेसे कहि कह्यौ मुसकाहट मे मानु॥

इसी प्रकार —

छला परोसिनि हाथ तैं छलु करि लियौ पिछानि।
पियहिं दिखायौ लखि बिलखि रिस सूचक मुसकानि॥

कभी कभी हसने और आदर करने की चेष्टा मे कुछ थोडा सा रूखापन लक्षित हो जाता है .—

ललकि लोल लोचन भये सुनत नाह के बोल।
ऊपर की रिस क्यौं दुरैं हाँसी भरे कपोल॥

कभी कभी हँसी के अन्दर ही आखो की लाली उसके इस भाव को व्यक्त करती है —

रस की सी रुख ससिमुखी हँसि हँसि बोलत बैन।
गूढ मानु मन क्यौं रहै भये बूढ रँग नैन॥

कभी कभी चेष्टा मे भोलापन इस भाव का व्यंजक होता है —

चितवनि रूखे दृगनु की हाँसी बिनु मुसकानि।
मानु जनायौ मानिनी जानि लियौ पिय जानि॥

(५) प्रौढा धीराधीरा अपने रोष को छिपा नही पाती। वह ऐसे वचन बोलती है जिनका वाच्यार्थ तो डाट फटकार परक नही होता किन्तु उससे रोष की व्यजना निकल अवश्य जाती है। मध्या धीरा भी वक्रोक्ति का प्रयोग करती है और यह भी इसी प्रकार की उक्तियो को काम मे लाती है किन्तु अन्तर यह होता है कि मध्या धीरा की उक्तियो मे कुछ प्रसन्नतासूचक तथा प्रशसापरक कथन होते हैं और साथ मे धैर्य के कारण मुस्कराहट भी रहती है किन्तु प्रौढा धीराधीरा के कथनो मे कुछ खीझ अवश्य लक्षित हो जाती है। मध्या धीरा की अपेक्षा यह प्रियतम को अधिक स्पष्ट रूप मे अपराधी बतलाती है। इसकी वचनावली के कुछ नमूने लीजिये :—

(अ) कत सकुचत निधरक फिरौ रतियौ खोरि तुम्हैं न।
कहा करौ जौ जाइ ए लगैं लगौंहैं नैन॥

(आ) तरुन कोकनद बरन बर, भये अरुन निसि जागि।
वाही के अनुराग दृग रहे मनौ अनुरागि॥

(इ) मेंई गहि गाड़ैं परीं उपट्यो हारु हियैं न।
आन्यो मोरि मतगु मनु मारि गुरेरनु मैन॥

(ई) बाल कहा लाली भई लोयनु कोयनु माँहि।
लाल तुम्हारे दृगनु की परी दृगन मैं छाँहि॥

(उ) तुरत सुरत कैसैं दुरत मुरत नैन जुरि नीठि।
डौंडी दै गुन रावरे कहति कनौडी दीठि ॥

(ऊ) लालन लहि पाएँ दुरै चोरी सौंह करैं न।
सीस चढ़े पनिहा प्रगट कहैं पुकारैं नैन ॥

(ए) पल सौंहैं पगि-पीक रग छल सौंहैं सब बैन।
बल-सौंहैं कत कीजियत ये अलसौंहैं नैन ॥

(ऐ) कत लपटइयतु मोगरैं सोनजुही निसि सैन।
जिहिं चपक वरनी किये गुल्लाला रँग नैन ॥

(ओ) वाही की चित चटपटी धरत अटपटे पाइ।
लपट बुझावत विरह की कपट भरेऊ आइ ॥

(३) यदि नायिका प्रौढा अधीरा हो तो उसका क्रोध सीमा मे नही रहता। नायक पर उसका पूरा अधिकार तो होता ही है। अतएव नायक के अपराध मे वह उसे मारने भी लगती है। किन्तु यह व्यवहार कुल वधुओ के लिए उचित नही है। विहारी ने इसका सकेत मात्र दिया है स्पष्ट वर्णन नही किया है —

मार्‌यौ मनुहारिनु भरी गार्‌यौ खरी मिठाहिं।
वाकौ अति अनखाहटौ मुसकाहट बिनु नाहिं ॥

मारना उपलक्षरण मात्र है। इसमे क्रोधपूर्ण वचनो का भी समावेश हो जाता है। मध्या अधीरा का भी रोप व्यक्त होता है और उसका भी। अन्तर यह है कि मध्या अधीरा के रोप मे निराशा वैराग्य इत्यादि की व्यजना होती है और इसके रोप मे क्रोध की।

उदाहरण —

लाज घोरि अँचई सबै अरु डरु दीनौ नाखि।
ताही सौं बातनि लगौ जासौं लागी आँखि ॥

"अरु डरु दीन्यो नाखि" से उसके क्रोध तथा धमकाने की व्यजना होती है।

इसी प्रकार :—

ह्यां न चलै बलि रावरी चतुराई की चाल।
सनख हियैं खिन खिन नटत अनख बढावत लाल ॥

"अनख बढावत लाल" से व्यग्यार्थ निकलता है "मेरा क्रोध बढ़ रहा है, यहाँ से चले जाओ नही तो मैं मार बैठूगी" अतएव यह प्रौढा अधीरा है।

इस प्रकार स्वकीया के सभी भेदो के उदाहरण विहारी मे विद्यमान हैं और उनकी मनोवृत्तियो का अच्छा चित्रण किया गया है।

परकीया नायिका

परकीया नायिका शास्त्रो मे दो प्रकार की मानी गई है कन्या और परोढा। कन्या को परकीया इसलिए कहते है कि इसका सम्मिलन तथा इसका सुरत

स्वच्छन्द नहीं होता। यह भी पिता इत्यादि किसी अभिभावक के आधीन ही होती है और लोक में इसका भी मिलना जुलना बुरा ही माना जाता है। किन्तु साहित्य शास्त्र मे कन्या का प्रेम रस का ही आलम्बन माना जाता है, रसाभास का नही। शास्त्रकारो का मत है कि कन्या का प्रेम काव्य में स्वेच्छापूर्वक अग तथा अगी दोनो रूपो मे रखा जा सकता है।[1] काम शास्त्र मे गान्धर्व विवाह सर्वोत्तम माना गया है,[2] धर्मशास्त्र की दृष्टि से भी यदि कन्यानुराग दाम्पत्य प्रेम के रूप मे परिणत हो जावे तो वह दूषित नही कहा जा सकता[3] और समाज भी उसका अनुमोदन करता ही चला आया है।[4] यही कारण है कि भारतीय काव्य जगत् मे कन्यानुराग सर्वदा स्वच्छन्द रूप से अगी रस के रूप मे ही स्वीकृत होता चला आया है। सबसे अच्छा वह प्रेम होता है जिसका क्रमिक विकास क्रीडा क्षेत्र से होता है। सूर ने राधा कृष्ण के प्रेम मे यही क्रमिक विकास दिखाया है कि इसी प्रकार राधा और कृष्ण साथ साथ खेलते खेलते प्रणय-बन्धन मे बन्ध जाते है और अन्त मे राधा भगवान् कृष्ण की पत्नी बन जाती है। विहारी ने भी खेल के मैदान मे प्रणय बन्धन के विकास की ओर इगित किया है —

दोऊ चोर मिहीचनी खेलु न खेलि अघात।
दुरत हियैं लपटाइ कै छुवत हियैं लपटात॥

सच है दोनो के एकान्त सम्मिलन का अवसर चोर मिचहुनी खेलने से अधिक और कहाँ मिल सकता है? विहारी का कन्या प्रेम विषयक स्पष्ट दोहा यही एक मिलता है। इसके अतिरिक्त दो एक दोहे और ऐसे है जिनमे कन्यानुराग की झलक मिलती है। जैसे :—

चलतु घैरु घर घर तऊ घरी न घर ठहराइ।
समुझि उहीं घर कौं चलै भूलि उहीं घर जाइ॥

यह नायिका स्वकीया नही हो सकती क्योकि ऐसी दशा मे घर पर "घैरु" चलने की बात ही नहीं उत्पन्न होती और परोढा भी नही है क्योकि वधुओ को किसी के घर जाने आने का वर्णन सगत ही नही कहा जा सकता।

इसी प्रकार .—

सहित, सनेह, सकोच, सुख, स्वेद, कप, मुसकानि।
प्रान पानि करि आपनै पान धरे मो पानि॥

जब कोई किसी के घर जाता है तब घर के लोग प्राय. लडकियो से पान दिलवाया करते हैं वधुओ से नही।

नोट —१—कन्यानुरागमिच्छात. कुर्यादगागिसश्रयम। दश रूपकम २। २०
२—काम सूत्र।
३—मनुस्मृति।
४—गान्धर्वेण विवाहेन वह्व्योथ मुनिकन्यका।
श्रूयन्ते परिणीतास्ता पितृभिश्चानुमोदिता॥ कालिदास

कन्या का कुट्टमित हाव भी देखिए :—

नासा मोरि नचाइ जे करी कका की सौंह ।
काँटे सी कसकै ति हय गड़ी कँटीली भौंह ॥

"कका की सौंह" इसे कन्या सिद्ध करती है । इसी प्रकार.—

कहि सूनैं घर करु गहत दिखा दिखी की ईठि ।
गड़ी सुचित नाहीं करति करि ललचौहीं दीठि ॥

प्रथम सम्मिलन का एक दूसरा अनूठा उदाहरण देखिए .—

भौंहनु त्रासति मुँहु नटति आँखिनु सो लपटाति ।
ऐंची छुड़ावति करु इंची आगें आवति जाति ॥

यह भी कन्यानुराग का ही वर्णन है ।

परकीया का दूसरा भेद परोढा है । परोढा-प्रेम शास्त्र-विहित तथा लोक-सम्मत नही है । साहित्य शास्त्र मे इसे प्रधान रस नही माना गया है और न यह रस का आलम्बन ही होता है । परोढा प्रेम सर्वदा रसाभास का ही आलम्बन होता है । किन्तु कामिनी का विघ्नित और निषिद्ध सुरत ही सबसे अधिक आनन्ददायक हुआ करता है । प्रेम की जो गहराई और उत्कण्ठा की जो अधिकता परकीया मे पाई जाती है वह अन्यत्र दुर्लभ है । इसीलिए अनेक शास्त्रकारो ने परमेश्वर के प्रेम का आदर्श परकीया-प्रेम बतलाया है । विहारी ने स्वकीया प्रेम को ही प्रेम का आदर्श माना है और उसी का विस्तार से वर्णन किया है । किन्तु परकीया प्रेम-वर्णन भी काव्य का एक अंग है जिस के अभाव में काव्य पूरा कहा ही नही जा सकता । अतएव विहारी ने भी परकीया प्रेम का वर्णन किया है । किन्तु यह वर्णन बड़ा ही सयत और मर्यादाबद्ध है । सीमा का अतिक्रमण इस मे कही नही किया गया है ।

जैसा कि पहले बतलाया गया है परकीया के एक भेद कन्या का अनुराग रसाभास नहीं होता । परोढा का प्रेम रस नही हो सकता सर्वदा रसाभास ही होता है । परोढा प्रेम मे देवर के साथ प्रेम का वर्णन करना कवि परम्परा रही है ।[1] इसी परम्परा का निर्वाह करने के लिए विहारी ने देवर के प्रति प्रेम का वर्णन कई एक दोहों मे किया है.—

देवर फूल हने जु सु उठे हरषि अग फूलि ।
हँसी करति औषधि सखिनु देह ददोरनु भूलि ॥
और सबै हरषी हँसति गावति भरी उछाह ।
तुँहीं बहू बिलखी फिरै कत देवर कें ब्याह ॥

देवर के अतिरिक्त पौरोहित्य वृत्ति करने वालो को भी परस्त्री-गमन का अधिक अवसर रहता है । एक पण्डित जी पुराण बाँच रहे है । उनकी प्रेयसी वहीं बैठी है । उसका भी हाल सुनिये—

१. देवगाथा सप्तशती.

परतिय दोषु पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि।
कसु करि राखी मिश्रहू मु हुँ आई मुसकानि ॥

इसी प्रकार मन्दिर के पण्डित जी का भी हाल देखिए:—

यह मैं तोही मैं लखी भगति अपूरव बाल।
लहि प्रसाद माला जु भौ वौलसिरी की माल ॥

पडोसियो से प्रेम होना तो स्वाभाविक ही है—

चलत देत आभारु सुनि उहीं परोसिहिं नाह।
लसी तमासे की दृगनु हाँसी आँसुनु माँह ॥

पड़ोस मे प्रेम करना भी कितना सरल है ? देखिए—

अँगुरिनु उचि भरु भीतिदै उलमि चितै चख लोल।
रुचिसौं दूहूँ दुहूँन के चूमे चारु कपोल ॥

इसी प्रकार :—

सुख सौं बीती सब निसा मनु सोए मिलि साथ।
मूका मेलि गहे सु छिनु हाथ न छोड़े हाथ ॥

परस्त्री प्रेम मे कुल मर्यादा के उल्लघन का प्रायः वर्णन किया जाता है। विहारी ने भी इसका वर्णन किया है .—

जौलों लखौं न कुल कथा तौलौं ठिक ठहराइ।
देखैं आवत देखिहीं क्यौं हूँ रह्यो न जाइ ॥

तथा :—

किती न गोकुल कुल वधू काहि न किहिं सिख दीन।
कौनैं तजी न कुल गली ह्वै मुरली सुर लीन ॥

परकीया के उपभेदो का भी विहारी ने थोड़ा वहुत वर्णन किया है। यदि हम परकीया के परम्परागत ६ भेद मानें तो भी विहारी मे सभी भेदो के एक दो, उदाहरण मिल जाते हैं। परकीया के परम्परागत ६ भेद है.—गुप्ता, विदग्धा लक्षिता। कुलटा, अनुशयाना और मुदिता। इनके कतिपय उदाहरण यहाँ पर दिए जा रहे है —

(१) गुप्ता—जब नायिका अपनी सुरत को छिपाने के लिए कोई वहाना वनाती है तव वह गुप्ता होती है। उदाहरण के लिए एक नायिका को नायक से सहवास करने मे देर लग गई है। वह विलम्व का कारण अपना रास्ता भूल जाना और भटकते फिरना वतलाती है तथा यह भी कहती है कि वहाँ से मुझे एक व्यक्ति ने निकाल दिया नही तो मैं भटकती ही रहती। वह व्यक्ति कोई और नही है भगवान् कृष्ण ही हैं। किन्तु नायिका कृष्ण का इस रूप मे वर्णन करता है मानो वह भगवान् कृष्ण को जानती ही नही —

लटकि लटकि लटकतु चलतु डटतु मुकुट की छाँह।
चटक भर्यो नटु मिलि गयौ अटक भटक वट मोह ॥

केवल सुरत को ही नहीं प्रेम के दूसरे लक्षणो को भी छिपाया जाता है।

निम्नलिखित दोहे की नायिका अपने सात्विक कम्प को भय का कारण बतला कर छिपाती है —

कारे वरन डरावने कत आवत इहिं गेह।
कै वा लखी सखी ट.खैं लगै थरथरी देह।

(२) विदग्धा—नायिका दो प्रकार की मानी जाती है—(क) वाग्विदग्धा और (ख) क्रिया विदग्धा।

(क) वाग्विदग्धा नायिका वचन द्वारा संकेत स्थान इत्यादि प्रकट करने मे निपुण होती है, जैसे —

लाज गहौ बेकाज कत घेरि रहे घर जाँहिं।
गोरसु चाहत फिरत हौ गोरसु चाहत नाँहि॥

यहाँ पर नायिका ने वैदग्ध्य के द्वारा यह व्यक्त किया है कि मैं सीधी घर ही जा रही हूँ, यदि तुम्हें सहवास-जन्य इन्द्रिय-सुख प्राप्त करना हो तो वही आ जाना।

इसी प्रकार.—

घाम घरीक निवारिये कलित ललित अलि पुंज।
जमुना तीर तमाल तरु मिलित मालती कुंज॥

(ख) क्रिया विदग्धा नायिका क्रिया द्वारा अपने अनुराग को व्यक्त किया करती है और नायक से मिलने के लिए संकेत द्वारा समय स्थान इत्यादि का निश्चय करती है।

उदाहरण के लिए दो एक दोहे लीजिये —

हरषि न बोली लखि ललनु निरखि अमिलु संग साथु।
आँखिन हीं मैं हँसि धस्यो सीस हियैं धरि हाथु॥

इस में नायिका ने अपनी चेष्टा द्वारा प्रणय की स्वीकृति, प्रसन्नता, संकेत-स्थान इत्यादि का निर्देश कर दिया है।

दूसरा उदाहरण —

लखि गुरुजन बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।
हरि सनमुख करि आरसी हियैं लगाई बाम॥

इसी प्रकार --

छलसौं चली छुआइ कै छिनकु छबीली छाँह॥

केवल इतना ही नही प्रियतम को शीघ्र मिलने के लिए ये नायिकायें उपाय खूब ढूँढ निकालती हैं —

मन मोहन के मिलन कौं करति मनोरथ नारि।
धरै पौन के सामुहें दिया मौन को वारि॥

(३) लक्षिता—जब प्रयत्न करने पर भी नायिका की अनुराग चेष्टायें और सुरत इत्यादि नही छिपती हैं तब वह नायिका लक्षिता कहलाती है। बिहारी ने इसके

वहुत से उदाहरण लिखे हैं। कुछ उदाहरण यहाँ पर दिये जा रहे है :—

(अ) चकी जकी सी ह्वै रही बूझैं बोलति नीठि।
कहूँ डीठि लागी लगी कै काकी की दीठि॥

(आ) फिरि फिरि दौरत देखियत निचले नैंक रहैं न।
ए कजरारे कौन पर करत कजाकी नैन॥

(इ) पूछैं क्यौं रुखी परति सगिवगि गई सनेह।
मन मोहन छवि पर कटी कहै कँस्यानी देह॥

(ई) मोसौं मिलवति चातुरी तूँ नहिं मानति भेउ।
कहे देत यह प्रकट हीं प्रगट्यो पूस पसेउ॥

(उ) आज कछू औरै भये छये नये ठिक ठैन।
चित के हित के चुगुल ए नितके होहिं न नैन॥

(ऊ) रही अचल सी ह्वै मनौ लिखी चित्र की आहि।
तजै लाज डरु लोक कौं कहौ विलोकति काहि॥

(ए) पलन चलैं जकि सी रही थकि सी रही उसास।
अबहीं तनु रितयौ, कहौ मनु पठयो किहिं पास॥

(ऐ) इहिं वसन्त न खरी अरी गरम न सीतल बात।
कहि क्यौं झलक के देखियत पुलक पसीजे गात॥

(ओ) रहि मुँहु फेरि कै हेरि इत हित-समुहौ चितु नारि।
डीठि परस उठि पीठि के पुलके कहैं पुकारि॥

(औ) रूख रुखी मिस रोस मुख कहति रुखौंहै वैन।
रूखे कैसैं होत ये नेह चीकिने नैन॥

(अ) ऊँचैं चितै सराहियतु गिरह कबतरु लेतु।
झलकित दृग मुलकित बदनु तनु पुलकित किहिं हेतु॥

(अः) मानति मो सौं क्यौं नहीं छुई छबीली छाँह।
प्रेम प्रकट भयौ हे सखी आभा आँखिनि माँह॥

(क) प्रेम दुरायो ना दुरै नैना देहिं बताइ।
छेरी कैं मुँह री सखी क्यौं हु कुम्हड़ौ माइ॥

(४) कुलटा नायिका—जब नायिका की रति अनेक कान्त विषयक होती है अथवा नायिका का प्रेम किसी एक निश्चित कान्त विषयक नहीं होता तब वह कुलटा कहलाती है।

दो एक उदाहरण :—

चली अली कहि कौन पैं वढ़ौ कौन कौ भाग।
उलटी कचुकि कुचनि पैं कहैं देति अनुराग॥

यहाँ पर यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि नायिका का स्वभाव किसी भी व्यक्ति से प्रेम करने का है। वह चाहे जिसके पास जा सकती है।

इसी प्रकार —

आनन उपटै ओप अति कसे कुचुकी लेति।
का पर कोपैं कामिनी काजरु नैननि देति॥

यहाँ पर भी उपर्युक्त व्यंग्यार्थ निकलता है।

पलन चलैं जकि सी रही थकि सी रही उसास।
अबहीं तनु रितयौ कहौं मनु पठयौ किहिं पास॥

एक और उदाहरण :—

लखि लोने लोइनु के कोइनु होइ न आजु।
कौनु गरीबु निवाजिबौ कित त्यौ रतिराजु॥

यहाँ पर "आजु" से यह व्यक्त होता है कि नित्य नया प्रेम करना ही नायिका का स्वभाव है। इस प्रकार ये कुलटा के उदाहरण हैं।

(५) अनुशयाना—जब नायिका नायक से मिलने की सम्भावना न रहने के कारण अथवा सकेत स्थान मे न पहुँच सकने के कारण पश्चात्ताप करती है तब उसे अनुशयाना नायिका कहते हैं। विहारी ने अनुशयाना नायिका के दो चार उदाहरण लिखे हैं। देखिये :—

(अ) फिरि फिरि बिलखे ह्वै लखति फिरि फिरि लेति उसासु।
साइं सिर सित केस लौं बीत्यौ चुनति कपासु॥

(आ) सनु सूक्यौ बीत्यौ बनौ ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहरि अजैं धरु धरहरि जिय नारि॥

(इ) केलि करैं मधु मत्त जहँ घन मधुपन के पुंज।
सोंचन करि तब सासुरैं सखी सघन बन कुंज।

सकेत के चूक जाने में अनुशयाना का उदाहरण :—

सखि सोहति गोपाल कैं उर गुंजनु की माल।
बाहिर लसति मनौ पिए दावानल की ज्वाल॥

(६) मुदिता नायिका—परकीया का अन्तिम भेद है मुदिता। जब नायिका सम्भोग सुख प्राप्ति की सम्भावना में आनन्दित होती है तब उसे मुदिता नायिका कहते हैं।

उदाहरण —

चलत देत आभारु सुनि उहीं परोसिहिं नाह।
लसी तमासे की दृगनु हाँसी आँसुनु माँह॥

इसी प्रकार —

देवर फूल हने जु सु उठे हरषि अंग फूलि।
हँसि करति औषधि सखिनु देह ददोरनु भूलि॥

इस प्रकार परकीया नायिका के सभी उपभेदो के उदाहरण बिहारी में मिल जाते हैं।

साधारणी नायिका

साधारणी नायिका सर्व साधारण की प्रेयसी बन सकती है। वेश्या को ही साधारणी नायिका कहते है। वेश्या न तो धार्मिक दृष्टि से ही उचित होती है और न उसमे प्रेम की ही गहराई होती है। धनोपार्जन के लिये उसे प्रेम का दिखावा करना पडता है। इसका वर्णन करते हुए साहित्य दर्पणकार ने लिखा है—"यह सामान्य नायिका (वेश्या) धीरा होती है, कलाम्रो मे निपुण होती है, यह गुणहीनो से द्वेष नही करती और गुणवानो से प्रेम नही करती। केवल धन को ही देखकर बाहर से आदर प्रदर्शित किया करती है। चाहे कितना ही किसी व्यक्ति को स्वीकार कर लिया हो किन्तु जब उसका धन ले लेती है तब माता से उसे बाहर निकलवा देती है। स्वय नही निकालती जिससे वह विरक्त न हो जावे और पुन आवे। चोर, पण्डक, मूर्ख, सुख से जिन को धन मिल जाता हो, सन्यासादि चिन्हो को धारण करने वाले और प्रच्छन्न कामना वाले इसके प्यारे होते हैं। यह भी कभी कभी काम-परवश होकर सत्य प्रेम करती है। किन्तु चाहे यह रक्त हो या विरक्त हो किन्तु इस का सुरत सर्वथा दुर्लभ होता है।"

साधारणी नायिका का वर्णन न तो धर्मशास्त्रानुकूल है और न साहित्यशास्त्र-सम्मत। क्योंकि वेश्या गमन का समर्थन धर्मशास्त्र तो करते ही नहीं और भावना की कमी होने के कारण साहित्यशास्त्र भी इसको उपयुक्त नहीं समझते। जहाँ कही साहित्य-दर्पण के अनुसार वेश्या सत्यानुरागणी होती है वहाँ उसका समावेश इतर नायिकाओ मे हो जाता है। प्रबन्धकाव्य और नाटको मे उसको विविक्त करके दिखलाया जा सकता है मुक्तक काव्य मे नही इसी लिये बिहारी ने वेश्या के विषय में केवल एक दोहा लिखा है —

ज्यौं ज्यौं पटु झटकति हठति हँसति नचावति नैन।
त्यौं त्यौं निपट उदार हू फगुवा देत बनै न॥

ज्येष्ठा-कनिष्ठा

कामसूत्रो मे ज्येष्ठा-कनिष्ठा पर विस्तृत प्रकरण है। इसी आधार पर साहित्य शास्त्र मे भी नायिका भेद के अन्तर्गत ज्येष्ठा कनिष्ठा भेद को स्थान दिया गया है। जो नायिका नायक को अधिक प्यारी होती है वह ज्येष्ठा कहलाती है और जो कम प्यारी होती है वह कनिष्ठा कहलाती है। बिहारी ने एक दोहा ज्येष्ठा कनिष्ठा विषयक भी लिखा है —

मिस ही मिस आतप दुसह दई सबै बहराइ।
चले ललन मन भावतिहिं तन की छाँह छिपाइ॥

ज्येष्ठा कनिष्ठा प्रसग में एक भेद और सम्भव है कभी-कभी दो नायिकाओं के प्रति समान प्रेम भी हो सकता है। इस भेद की ओर साहित्यशास्त्रकारों ने ध्यान नहीं दिया है। बिहारी ने इस आशय का भी एक दोहा लिखा है —

आयो मीत विदेस ते काहू कह्यो पुकारि ।
सुनि पुलकी विहँसी हँसी दोऊ दुहुन निहारि ।।

अवस्था भेद से नायिका भेद

आचार्यों ने अवस्था भेद से नायिकाओं के आठ भेद किये हैं—

स्वाधीन पतिका, खण्डिता, अभिसारिका, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषित-पतिका, वासकसज्जा और विरहोत्कण्ठिता। इन में खण्डितावस्था का विस्तृत विवेचन मध्या और परोढा के उपभेदों (धीरा, धीराऽधीरा और अधीरा) के प्रसग में किया जा चुका है। प्रोषितपतिका तीन प्रकार की होती है—प्रवत्स्यत्पतिका, प्रवसत्पतिका, और आगमिष्यत्पतिका। इन तीनों भेदों का विस्तृत निरूपण विप्र-लम्भ शृंगार के प्रकरण में किया जावेगा। शेष ६ भेदों का सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

(१) स्वाधीनपतिका—जिसका पति सर्वदा उसके आधीन ही रहे उसे स्वाधीन-पतिका कहते हैं। यह नायिका प्रयत्न करने पर भी नायक के अपराध नहीं ढूँढ पाती और इसे मान का अवसर ही नहीं मिलता।

राति द्यौस हौंसै रहै मानु न ठिकु ठहराइ ।
जेतौइ औगुनु ढूँढियै गुनै हाथ परिजाइ ।

नायक अनेक प्रकार से इस का शृंगार करता है और उसके निकट बैठने में अपने को कृतार्थ मानता है। नायिका भी निरन्तर नायक की निकटता से सात्विकता का अनुभव करती रहती है :—

रह्यौ गुही बेनी लखे गुहिवे के त्यौनार ।
लागे नीर चुचान जे नीठि सुकाये बार ।।

इसी प्रकार —

नैंकु उतै उठि बैठिये कहा रहे गहि गेहु ।
छुटी जाति नहदी छिनकु महदी सूकन देहु ।।

इस नायिका का जादू जैसा प्रभाव नायक पर पडता है और वह सर्वदा हर्षोत्फुल्ल रहती है —

गुहि लैहौं अपनौ हरा, छोडौ लाल सुभाउ ।
मेरौ दुनहाई बहू पर्यौ जात है नाउ ।।

(२) अभिसारिका नायिका दो प्रकार की मानी जाती है—शुक्लाभिसारिका तथा कृष्णाभिसारिका। शुक्लाभिसारिका उसे कहते हैं जो चाँदनी रात में श्वेत वस्त्र पहन कर अभिसरण करती है। जैसे :—

जुवति जोन्ह मैं मिलि गई नैंक न होति लखाइ ।
सौंधे कैं डोरैं लगी अली चली सँग जाइ ।।

कृष्णाभिसारिका कृष्ण रात्रि में काले वस्त्र पहन कर अभिसरण करती है।

उदाहरण :—

निसि अँधियारी नील पटु पहिरि चली पिय-गेह।
कहौ दुराई क्यों दुरै दीप-सिखा सी देह॥

अभिसारिका का स्वरूप (शुक्लात्व या कृष्णात्व) चन्द्रोदय पर निर्भर रहता है। किन्तु चन्द्र का प्रकाश व्यवस्थित नही होता। यह सर्वदा स्वाभाविक ही है कि नायिका चन्द्रमा के प्रकाश मे शुक्ल वस्त्र धारण कर अभिसरण करे और सुरत क्रीडा में विलम्ब हो जाने से लौटने पर चन्द्र प्रकाश का सहयोग प्राप्त न हो सके। इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि कृष्ण रात्रि मे कृष्ण वस्त्र धारण कर अभिसार किया जावे और लौटने के अवसर पर चन्द्र उदय हो जावे। किन्तु बिहारी की नायिकाओ को इन दोनों अवस्थाओ मे निराश होने की आवश्यकता नहीं है। शुक्लाभिसारिका तो हँस कर चन्द्रमा का प्रकाश फैला लेती है और कृष्णाभिसारिका के शरीर की सुगन्ध पर लुब्ध हो कर भौंरे गली मे अँधेरा करते चलते हैं। देखिये मार्ग में चन्द्र उदय हो जाने पर शुक्लाभिसारिका की सखी नायिका को क्या परामर्श देती है :—

छिपैं छिपाकर छिति छुवै तम ससिहरि न सँभार।
हँसति हँसति चलु ससिमुखी मुख तैं आँचरु टारि॥

इसी प्रकार कृष्णाभिसारिका का हर्ष भी देखने योग्य है :—

निसि अँधियारि नीलुपटु पहिरि चली पिय गेह।
कहौ दुराई क्यो दुरै दीप सिखा सी देह॥

इन नायिकाओ को वर्षा काल तो और भी अधिक सहायता देता है। वर्षा काल मे न इन्हें काले कपडे पहनने की आवश्यकता होती है और न सफेद। बादलो के घेरे मे ये बिजली समान चमकती चली जाती हैं और कोई जान भी नही पाता :—

उठि ठकु ठकु ऐतौ कहा पावस कैं अभिसार।
जानि परैगी देखियौ दामिनि घन अँधियार॥

किन्तु कठिनाई वहाँ पड जाती है जहाँ अन्धकार मे काले कपडो से भी काम नही चलता, नायिका दीपशिखा के समान अन्धकार मे चमक उठती है :—

सघन कुंज घन घन-तिमिरु अधिक अँधेरी राति।
तउ न दुरि है स्याम वह दीपसिखा सी जाति॥

बिहारी ने एक और अभिसारिका की ओर सकेत किया है जिस पर अन्य आचार्यों का ध्यान नही गया है कभी-कभी नायक और नायिका परस्पर वेश बदल कर अभिसार करते हैं। जैसे :—

राधा हरि, हरि राधिका बनि आये सकेत।
दम्पति रति बिपरीत-सुखु सहज सुरतहूँ लेत॥

ईश्वर ने राधा और कृष्ण का वर्ण क्या सोच समझ कर अभिसार के अनुकूल बनाया है :—

मिलि परछाहीं जोन्ह सौं रहे दुहुनु के गात ।
हरि राधा इक सग ही चले गली महिं जात ।।

(३) प्रेम सर्वदा कुटिलगामी माना जाता है। उसका आनन्द जितना वियोग मे आता है उतना सयोग मे नही। प्रणय का सोत्साह उपभोग उतना आनन्ददायक नहीं होता जितना प्रणय कलह। यह कलह कभी-कभी किसी कारण से होता है और कभी-कभी अकारण ही स्वाभाविक प्रवृत्तिवश भी हो जाता है। प्रणय कलह मे सखियो का सहयोग अत्यन्त अपेक्षित होता है और विहारी ने प्राय: सर्वत्र इसका सहारा लिया है। प्रणय-कलह प्रवृत्त नायिका को कलहान्तरिता कहते हैं। यह जब किसी प्रकार भी नहीं मानती तब देखो नायिका की सखी इससे क्या कहती है :—

सौहैं हू हेर्यो न तैं केती धाईं सौंह ।
ऐहो क्यौं बैठी किए ऐंठी ग्वैंठी भौंह ।।

इसी प्रकार —

अहे कहै न कह्यो कह्यो तो सौं नन्द किसोर ।
बड़बोली बलि होति कत बड़े दृगनु के जोर ।।

इन कथनो से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सखी नायिका को भय दिखला रही है कि कहीं तुम्हारे अधिक मान करने पर नायक स्वय रूठ कर न चला जावे। किन्तु अन्त मे होता वही है जिसकी आशका पहले से ही रहती है। नायक निराश हो कर लौट जाता है तब नायिका की सखी की वचनावली के ये नमूने होते है —

हम हारी कै कै हहा पायनु पार्यो प्योरु ।
लेहु कहा अजहूँ किये तेह तरेरौ त्यौरु ।।

वह समझाती भी है —

मैं तब तू बरजी हुती नहीं रोस को काम ।
साती बातैं तैं कहीं सीरे ह्वै गये स्याम ।।
कोटि कुटिलता छाँड़ि कै कियौ प्रेम प्रतिपाल ।
टेढ़ी भौंहैं तैं करीं सूधे ह्वै गये लाल ।।

फिर अन्त मे नायक को पुन लाने की चेष्टा करती है किन्तु किसी प्रकार भी वचनवद्ध नहीं होती जिससे नायिका की लघुता न होने पावे और नायिका के मन जाने पर नायक पर उसका अहसान भी बना रहे। वह नायक से कहती है —

चलौ चलैं छुटि जाइगौ हठु रावरे संकोच।
खरे चढाये हेति अब आये लोचन लोच ।।

(४) जब नायिका शृंगार करके प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा करती है तब उसे वासकसज्जा कहते हैं —

वेंदी भाल तबोल मुख सीस सिलसिले बार ।
दृग आँजे राजै खरी एई सहज सिंगार ।।

कभी कभी वह अपना शृंगार पूरा करके स्वयं प्रियतम की प्रतीक्षा करती

है और उसकी सूचना सखी द्वारा प्रियतम के पास भेजती है —

भाल लाल बेंदी ललन आखत रहे विराजि ।
इन्दु कला कुज मैं बसी मनौ राहु भय भजि ।।

इसी प्रकार ‘—

तिय मुख लखि हीरा जरी बेंदी बढै विनोदु ।
सुत-सनेह मानौ लियौ विधु पूरन बुधु गोदु ।।

(५) जब नायिका सकेत स्थान पर नायक को प्राप्त नही कर पाती तब वह अत्यन्त दु खित होती है । इस प्रकार की नायिका को विप्रलब्धा कहते हैं ‘—

साहस करि कुंजन गई लख्यो न नन्द किसोर ।
दीप सिखा सी थरहरी लगै बयार-झकोर ।।

कभी कभी नायिका को सामाजिक और पारिवारिक उलझनो के कारण स्वय अपना वादा पूरा नही कर मिलता, नायक सकेत स्थान पर जा कर निराश होकर लौट आता है । वह अपने सकेत स्थान पर जाने के प्रमाण के रूप मे कोई वस्तु लेता आता है । उस समय नायिका की मनोवृत्ति कुछ और ही प्रकार की होती है । अत यह भी एक पृथक् भेद होना चाहिये जिस की ओर आचार्यों ने ध्यान नही दिया है । विहारी ने इस आशय के भी कुछ दोहे लिखे हैं ।
दो एक उदाहरण लीजिये —

छरी सपल्लव लाल कर लखि तमाल की हाल ।
कुम्भिलानी उर साल धरि फूलमाल ज्यौं बाल ।।

कही कही सखी भी नायिका का ध्यान इस ओर आकर्षित करती हुई दिखलाई जाती है ।

सखि सोहति गोपाल कै उर गुंजनु की माल ।
बाहिर लसति मनौ पिये दावानल की ज्वाल ।।

(६) जब नायिका रात्रि भर प्रतीक्षा करती रहती है और नायक नहीं आता तब नायिका अत्यन्त उद्विग्न हो जाती है । उसे विरहोत्कण्ठिता कहते हैं —

नभ-लाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन ।
रति पाली, आली, अनत, आए वनमाली न ।।

वस्तुत विप्रलब्धा और विरहोत्कण्ठिता मे अधिक भेद नही है । विप्रलब्धा को भी विरह मे उत्कण्ठित होना ही पड़ता है और विरह मे उत्कण्ठिता भी विप्रलब्धा ही होती है । किन्तु इनका भेद आचार्य परम्परानुसार माना जाता है । अत पृथक्-पृथक् उदाहरण दिखाये गये हैं ।

दशा भेद से नायिका भेद

पहले बतलाया जा चुका है कि भानुदत्त ने दशा भेद से नायिकाओ के तीन भेद किये थे—अन्य सम्भोग दु खिता, गर्विता और मानवती । इस का अनुसरण हिन्दी के अधिकतर आचार्यों ने किया है । इन मे मानवती का विस्तृत वर्णन मान-विप्रलम्भ

के प्रसग मे किया जावेगा। शेप दो दशा भेदो का यहाँ पर सक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है —

(१) अन्य सम्भोग दु खिता—जब नायिका की सखी या दूती नायिका द्वारा भेजी जाने पर स्वय सम्भोग करा कर लौटती है या नायिका किसी सौत के सम्भोग चिन्हो को देखती है तब उसे तीव्र वेदना का अनुभव होता है। इस प्रकार की नायिका को अन्य सम्भोग-दु खिता कहते हैं, जैसे —

खलित बचन अधखुलित दृग, ललित स्वेदकन जोति।
अरुन बदन छबि मदन की खरी छबीली होति।।

यह व्याजोक्ति द्वारा दूती को उपालम्भ दिया गया है।

दूसरा उदाहरण —

बेई कर ब्योरनि वहै ब्यौरौ कौन बिचार।
जिनही उरझ्यो मो हियो तिनही सुरझेवार।।

सौत के सम्भोगचिन्हो से व्यथित होने का उदाहरण —

बिथुर्यो जावकु सौति पग निरखि हँसी गहि गाँसु।
सलज हँसौंहीं लखि लियौ आधी हसी उसाँसु।।

इसी प्रकार — बिथुर्यो जावकु सौति पग निरखि रही अनखाइ।
पिय अगुरिनु लाली लखैं खरी उठी लगि लाइ।।

यह खण्डिता से इस अर्थ में भिन्न होती है कि खण्डिता के समक्ष प्रियतम सम्भोग चिन्हो के साथ प्रात काल जाता है और अन्य सम्भोगदु खिता दूसरी नायिका के प्रियतम विषयक सम्भोग को देख कर दु खित होती है।

(२) गर्विता—गर्व अनेक प्रकार का हो सकता है- गुणो का गर्व, प्रेम का गर्व, सुरत का गर्व, सौन्दर्य का गर्व, इत्यादि। बिहारी ने कतिपय गर्विताओ का वर्णन किया है .—

(अ) गुणों का गर्व —

दुसह सौति सालैं जु हिय गनति न नाहबियाह।
धरे रूप गुन कौ गरबु फिरै अछेह उछाह।।

इसी प्रकार —

सुघर सौति बस पिउ सुनत दुलहिनि दुगुन हुलास।
लखी सखी तन दीठि करि सगरब सलज सहास।।

(आ) प्रेम का गर्व .—

फिरति सबनु में डहडही उहीं मरगजी माल।।

दूसरा उदाहरण —

कियौ जु चिबुक उठाइ कै, कम्पित कर भरतार।
टेढ़ीयै टेढ़ी फिरति टेढ़ैं तिलक लिलार।।

तीसरा उदाहरण :—

गुहि लैहौं अपनौ हरा छोड़ौ लाल सुभाउ।
मेरौ दुनहाई बहू पर्यो जात है नाउ।।

(इ) सुरत का गर्व —

तीज परब सौ तिनु सजे भूषन बसन सरीर।
सबै मरगजे मुंह करी इहीं मरगजैं चीर।।

(ई) सौभाग्य का गर्व जैसे :—

मनु मार्यौ केते मुनिनि मनु न मनायौ आइ।
ता मोहन पै राधिका मान गहावति पाइ।।

इसी प्रकार दूसरे गर्वों के भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

नायिका की सहायिकायें

आचार्यों ने नायिका की साहायिकाओ पर भी पर्याप्त विस्तार के साथ विचार किया है। साहित्यदर्पण मे दूती-भेद करते हुए लिखा है :—

दूत्य: सखी नटी दासी धात्रेयी प्रतिवेशिनी।
बाला प्रव्रजिता कारु शिल्पिन्याद्या: स्वयं तथा।।

(सखी, नटी, दासी, धाय की पुत्री, पड़ोसिन, बाला, सन्यासिनी, परजा, शिल्पकार की स्त्री इत्यादि और स्वय नायिका ये दूती के भेद हैं)

कुछ हेर फेर के साथ दशरूपक इत्यादि दूसरे लक्षण ग्रन्थो मे भी यही सूची स्वीकृत की गई है। वस्तुत काम शास्त्रो में तो यह बतलाना उपयोगी हो सकता है कि प्रेम को जोडने के लिये किन से सहायता ली जा सकती है किन्तु साहित्य-शास्त्र मे इस प्रकार के विभाजन की कोई आवश्यकता नही। दूती का कार्य नटी करे तो क्या? पडोसिन या धाय की पुत्री करे तो क्या? न तो इससे मनोवृत्ति मे कोई अन्तर आता है और न विच्छित्ति विशेष का परिपोष ही होता है जो समस्त भेदोपभेदो का एकमात्र उपजीवक है। अन्तर इस बात में अवश्य पड़ जाता है कि नायिका स्वय दौत्य कार्य करती है या प्रेम सम्बन्ध को जोडने के लिये वह दूसरे की सहायता पर निर्भर रहती है। यही कारण है कि जहाँ दूती के इतने अधिक भेदोपभेद किये भी गये हैं वहाँ भी उदाहरण दो के ही दिये गये हैं। एक तो नायिका द्वारा स्वय दौत्य कार्य करने का और दूसरा दूसरे से सहायता लेने का। इस प्रकार दोही दूती भेद उचित प्रतीत होते हैं। स्वय-दूती और पर-दूती।

कामशास्त्र के अनुसार सर्वोत्तम प्रेम वही होता है जिसमे दूसरे की सहायता न ली जावे और प्रेम-सम्बन्ध स्वय स्थापित कर लिया जावे। इस प्रकार के प्रेम मे कोई बुराई उत्पन्न होने की सम्भावना नही रहती। इसके प्रतिकूल यदि प्रेम मे किसी मध्यस्थ की सहायता ली जावे और दौत्य कार्य कुशलतापूर्वक न किया जा सके तो उस में प्रेम की असफलता के अतिरिक्त दूसरे प्रकार की बुराई भी उत्पन्न हो सकती है। इसीलिये बिहारी ने लिखा है :—

तीन बार लाला तुम्हैं पठै दई अलि साथ ।
चोरी प्रेम सुगधि की उघरि गई तिहिं हाथ ।।

अतएव स्वय दूतिका का काव्य-जगत् मे बहुत बड़ा महत्त्व है। बिहारी ने भी स्वयदूतिका के कई दोहे लिखे हैं।

एक दो उदाहरण लीजिये —

घाम घरीक निवारिये कलित ललित अलि पु ज।
जमुना-तीर तमाल-तरु-मिलित मालती कु ज ।।

यहाँ पर नायिका मालती कु ज मे रमण की अपनी इच्छा स्वय व्यक्त करती है और जल लेने के बहाने वहाँ जाने का वायदा भी करती है।

दूसरा उदाहरण —

झूठैं ही ब्रज में लग्यौ मोहिं कलंक गुपाल ।
सपनैं हूँ कबहूँ लगे हियैं न तुम नन्दलाल ।।

यहाँ पर नायिका स्वय सहवास की आकाक्षा प्रकट करती है। कभी कभी यह कार्य सकेतो द्वारा भी किया जाता है :—

न्हाइ पहिरि पटु डटि कियौ बेंदी मिसि परनामु ।
दृग चलाइ घर कौं चली बिदा किये घर स्यामु ।।

स्वयदूतिका द्वारा संस्थापित प्रेम महत्त्वपूर्ण होते हुए भी सर्वथा एकमात्र साधन नहीं कहा जा सकता। कभी कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जब किसी दूसरे की सहायता के बिना काम चलता ही नहीं। बिहारी के कथन के अनुसार प्रेम रूपी भवन का निर्माण करने मे दूती "कालबूत" (मिट्टी या ई ट का ढाचा जिस पर लिन्टर जोडा जाता है) का काम देती है। किन्तु दूती को बहुत सोच समझ कर चुनना चाहिये। दूती मे अनेक अच्छे गुणो की आवश्यकता होती है। एक तो यह कला-कौशल मे निपुण हो, उसके अन्दर उत्साह होना चाहिये। अन्यथा वह एक दो बार की असफलता से निरस्त हो सकती है। उसके अन्दर भक्ति भी होनी चाहिए नही तो वह या तो कार्य में प्रवृत्त ही नही होगी और यदि प्रवृत्त भी होगी तो स्वार्थ-साधन मात्र उसका ध्येय रहेगा। सब से बडी उसकी विशेषता है चित को समझना और अवसर के अनुकूल बात करना क्योकि यही सफलता के एक मात्र साधन होते है। उसे हसी मजाक का भी ज्ञान होना चाहिये और उसके अन्दर मधुरता भी पूर्ण रूप से आवश्यक है।

दूती का कार्य-क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। उसे नायक के हृदय मे नायिका के प्रति आकर्षण उत्पन्न करना पडता है और एतदर्थ नायिका की प्रशसा करनी पडती है। इस आशय के बिहारी मे बहुत से दोहे हैं जिन मे दूती नायक के सामने नायिका के सौन्दर्य और गुणो की प्रशसा कर उस के हृदय मे प्रेम उत्पन्न करने की चेष्टा करती है। उसे इस बात का भी ध्यान रखना पडता है कि नायक के हृदय मे उत्पन्न हुआ प्रेम क्षणिक ही न हो। अतएव उसे नायक को शीघ्रातिशीघ्र नायिका

के पास लाने की चेष्टा करनी पडती है। यदि नायिका स्वय उत्कण्ठित दिखलाई दे तो प्रेम को अधिकाधिक दृढ़ करने के लिये उसे यह भी कहना पडता है —

छुवै छिगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाइ।
वलि वावन कौ ब्यौंतु सुनि कोवलि तुम्हैं पत्याइ॥

उसे नायिका पर भी नियन्त्रण रखना पडता है कि कही नायिका को लोकापवाद का सामना न करना पडे। दूसरी ओर उसे यह भी ध्यान रखना पडता है कि कही नायिका प्रेमोन्मत्त होकर नायक की दृष्टि मे लघुता को प्राप्त न हो जावे। क्योकि जो वस्तु जितनी सुलभ होती है उसका महत्त्व उतना ही कम हो जाता है। अतएव वह नायिका को मान की शिक्षा देती है। फिर वह इस विषय मे भी सावधान रहती है कि कही मान इतना सीमातीत न हो जावे कि नायक विरक्त हो कर चला जावे और नायिका को सताप करना पडे। यदि कभी ऐसी स्थिति आ ही जावे तो उसे पुन नायक का प्रतिसधान करना पडता है। मान कराने और मनाने मे नायक नायिका का प्रेम तो दृढ़ होता ही है इसी मे दूती का भी महत्त्व वना रहता है। अन्यथा प्रेम के जुड जाने के वाद उसका महत्त्व ही क्या रह जावे। इसलिये तो सखी कहती है —

तुम रूठीं उत वे झुकैं थकैं हमारे पाइ।
पाथर लागै लोह सौं रूई वीचि जरि जाइ॥

नायक से अपराध हो जाने पर उसे एक ओर नायिका को शान्त करना पड़ता है और दूसरी ओर नायक को सावधान करना पडता है। साथ ही सौतो के चित्त मे निराशा, उदासी और खेद उत्पन्न कर नायक को उनसे फोडना पडता है और उनके सामने नायिका की प्रतिष्ठा स्थापित रखने की चेष्टा करनी पडती है। विहारी ने वडे ही विशद रूप में इन समस्त कार्यों का चित्रण किया है और इस दिशा मे विहारी का काव्य सर्वांग पूर्ण है। इस प्रकार नायिका भेद की दृष्टि से विहारी का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विस्तृत है तथा साहित्य-शास्त्रानुमोदित सभी भेदो को आत्मसात् कर लेता है।

नायक के भेद

साहित्य शास्त्र में नायिका भेद के समान नायक भेद का विस्तार नहीं किया गया है। वस्तुत· स्त्री-पुरुष की स्थिति मे अन्तर भी है और पुरुष की मनोवृत्ति उतनी जटिल भी नहीं होती। अतएव नायिका भेद के समान नायक भेद सम्भव ही नहीं है। सुरत मे पुरुष क्रिया शील होता है और स्त्री साधन। पुरुष मे यदि काम-प्रवृत्ति न हो तो ऐसी दशा मे सम्भोग की क्रिया-शीलता उत्पन्न हो ही नहीं सकती, अतएव क्रियाशीलता मे प्रवृत्ति के तारतम्य के आधार पर नायिका के भेद (मुग्धा, मध्या और प्रौढा) पुरुष मे सम्भव ही नही है। स्त्री के वहुविवाह का विधान न होने के कारण स्वकीया के अपराध का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। अतएव धीराऽधीरा, धीरा और अधीरा यह भेद पुरुष मे भी सम्भव नहीं हो सकते। इसीलिये नायिका के

अन्य सम्भोग दु खिता और मानवती के भेद भी पुरुष मे सम्भव नहीं है। पुरुष को अपनी पत्नी पर सर्वदा स्वामित्व होता ही है। अतएव उसे पत्नी के वहुमत होने का गर्व भी नही हो सकता। अत तीसरा दशा भेद "गर्विता" भी पुरुष मे सम्भव नही है। पुरुष मे स्वकीया परकीया और सामान्य भेद भी नही किये जा सकते। स्त्री पर पूर्ण स्वामित्व होने के ही कारण स्वाधीनपत्नीत्व, कलहान्तरितत्व, विप्रलब्धत्व, खण्डितत्व और विरहोत्कण्ठितत्व भी सम्भव नही है। शृ गार करके स्त्री के आगमन की प्रतीक्षा करना भी पुरुष जाति मे व्यवहृत नही है। अतएव पुरुष वासकसज्ज भी नही हो सकता। स्त्री जाति की भाँति समाज ने पुरुष के कही आने-जाने पर प्रतिवन्ध लगाया ही नही है। अतएव शुक्ल और कृष्ण वस्त्र पहन कर छिप कर जाने की उसे न तो आवश्यकता ही पडती है और न उस का सामान्य रूप से निकलना लोगो के कौतूहल और अगुलिनिर्देश का कारण हो सकता है। इसीलिये उसका अभिसारक भेद भी नहीं माना जा सकता। अव केवल प्रोषितत्व भेद रह जाता है। एक तो अनेक पत्नियो के होने के कारण किसी एक पत्नी का कही चला जाना पुरुप के लिये विशेष महत्वपूर्ण नहीं होता। दूसरे केवल एक तत्व को लेकर भेदो की कल्पना भी नहीं की जा सकती। पुरुप विप्रलम्भ शृ गार का आश्रय होता ही है। अतएव नायिका के ये सभी भेद पुरुप मे सम्भव नहीं है।

आचार्यों ने नायक के केवल चार भेद किये है—(१) दक्षिण, (२), अनुकूल, (३) शठ और (४) धूर्त। जव नायक का अनुराग अनेक महिलाओ से एक जैसा हो तव उसे दक्षिण नायक कहते हैं। जैसे :—

गोपिनु सँग निसि सरद की रमत रसिकु रस रास।
लहा छेह अति गतिनु की सवनु लखे सब-पास॥

यहा पर कृष्ण का सव गोपियो से एक जैसा व्यवहार है अतएव कृष्ण दक्षिण नायक हैं।

अनुकूल नायक एकनिष्ठ रहता है वह दूसरी ओर दृष्टि भी नही डालता, जैसे :—

दच्छिन पिय ह्वै वाम-वस विसराईं तिय आन।
एकै वासरि कैं बिरह लागी वरष विहान॥

इस नायक का कभी अपराध मिलता ही नहीं —

राति द्यौस हौंसै रहै मानु न ठिकु ठहराइ।
जेतौइ औगुनु ह्व ढियै गुनै हाथ परि जाइ॥

शठ नायक उसे कहते हैं जो गुप्तरूप से अपकार करे। इसकी भावना एक ओर वन्धी होती है और यह वाहर से अनुराग दूसरी ओर प्रकट करता है तथा अन्यत्र अप्रिय व्यवहार करता है। जैसे :—

आए आपु भली करी मेटन मान मरोर।
दूरि करौ यह, देखिहै छला छिगुनिया छोर॥

इसी प्रकार :—

तू मति मानै मुकतई कियैं कपट चित कोटि।
जौ गुनही तौ राखियै आँखिनु माँझ अगोटि ॥

जो अपराधी होने पर भी निश्शङ्क हो, तर्जित करने पर भी लज्जित न हो और दोष दिये जाने पर भी मिथ्या बातें करे उसे धृष्ट नायक कहते हैं।

इसके उदाहरण :—

दुरैं न निघर घट्यौ दियैं ए रावरी कुचाल।
बिपु भी लागति है बुरी हँसी खिसी की लाल ॥

यहाँ पर नायक के प्रत्यक्ष दोष देखे गये हैं किन्तु वह लज्जित नहीं होता।

दूसरा उदाहरण :—

मार्यौ मनुहारिनु भरी गार्यौ खरी मिठाहिं।
बाकौ अति अनखाहटौ मुसकाहट बिनु नाहिं ॥

इसी प्रकार —

निधरक अटकत कटनि बिनु साईं सुरसु नखियाल।
अनत अनत नित नित हितनु चित सकुचत कत लाल ॥

इस प्रकार नायक के चारो भेदो के उदाहरण बिहारी मे विद्यमान हैं।

नायिकाओं के अलंकार

स्त्री जाति स्वभावत. स्रष्टा की सर्वोत्तम कृति है। जो आकर्षण स्त्री जाति मे पाया जाता है उसकी तुलना विश्व के किसी अन्य मनोरम पदार्थ से नही की जा सकती। किन्तु यौवनजन्य लावण्य और कामनाजन्य हाव, भाव, विलास आदि चेष्टायें इनके स्वभावसिद्ध सौन्दर्य को और अधिक बढ़ाने वाली होती है। स्वाभाविक विलासो मे भी एक अभूतपूर्व आकर्षण होता है जिस पर मानव-मनोमयूर स्वतः नाच उठता है। भर्तृहरि के शब्दो मे .—

लीलावतीना सहजा विलासास्त एव मूढस्य हृदि स्फुरन्ति।
रागो नलिन्या हि स्वभावसिद्धस्तत्र भ्रमत्येव वृथा षडंघ्रि ॥

सस्कृत साहित्यशास्त्रकारो ने इन चेष्टाओ को स्त्रियो का अलकार बतलाया है। जिस प्रकार अन्य आभूषण सुन्दरता को बढ़ाने वाले होते हैं उसी प्रकार ये चेष्टायें भी नायिकाओ के सौन्दर्य को बढ़ाती है। इसीलिये इन्हे अलकार शब्द से अभिहित किया जाता है। बिहारी इन चेष्टाओ को सर्वोत्तम अलकार मानते है जिन की तुलना मे वाह्य अलकार खडे ही नही हो सकते —

नहिं टीकौ न गुलीबदौ नहिं हमेल नहिं हारु ॥
सुरस-समै इक नाहियै नख-सिख होति सिंगारु।

हिन्दी मे इन्हें "हाव" की सज्ञा प्रदान की जाती है। साहित्यशास्त्र के अनुसार इन अलकारो की कुल सख्या २८ होती है। इन को तीन भागो में विभाजित किया जाता है —कुछ अलंकार शारीरिक विकारो तक ही सीमित होते हैं, इनको

अगज अलकार कहते हे। कुछ अलंकार आभ्यन्तर होते है और कुछ बाह्य। यौवन और कामना के सचार के साथ-साथ कुछ विशेषतायें स्वत प्रकट हो जाती हैं इनको अयत्नज चेष्टा कहते हैं, इसके प्रतिकूल कुछ चेष्टायें स्वभाव सिद्ध न होकर बाह्य प्रयत्न साध्य होती है इन्हें यत्नज चेष्टा कहते हैं। यहाँ पर ध्यान रखना चाहिये कि वे ही चेष्टायें अलकार कहला सकती है जिन मे राग जागृत करने और प्रेम का उद्दीपन बनने की क्षमता होती है। जो चेष्टायें नायिकाओ के अनुराग को व्यक्त किया करती हैं वे चेष्टायें अनुभाव होती है अलंकार नहीं। किन्तु अधिकतर नायिकाओ के अन्त करण का अनुराग भी नायको मे रति भाव को जागृत करने मे कारण बनता है। ऐसी दशा में जितने अश मे नायिकाओ की चेष्टायें नायक के अनुराग को जागृत करती हैं उतने अश मे वे अलकार कहलाती हैं और जितने अश मे नायिकाओ की भावना को व्यक्त करती हैं उतने अश मे अनुभाव कहलाती है। आशय यह है कि जहाँ नायिका के अनुभाव नायक मे प्रेमोद्दीपन करने वाले दिखलाये जाते हैं वहाँ वे अनुभाव अलकार का रूप धारण कर लेते हैं।

प्रथम प्रकार के अलकार अगज कहलाते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं— भाव, हाव और हेला। (१) बचपन मे चित्त विकारहीन होता है। उसमे किसी प्रकार की वासना या कामना नही होती। जब यौवनारम्भ मे इसी विकारशून्य चित्त मे काम विकार प्रथम बार उत्पन्न होता है तब इसे भाव कहते है। जैसे —

लाल अलौकिक लरिकई लखि लखि सखी सिहाति।
आज काल्हि में देखियतु उर उकसौंहीं भाँति॥

लडकपन का अलौकिक हो जाना ही काम विकार का परिचायक है।

इसी प्रकार —

औरै ओप कनीनिकनु गनी घनी सरताज।
मनीं धनी के नेह की बनीं छनीं पट लाज॥

और ओप कामनाजन्य है

(२) जब यही भावजन्य विकार इस रूप मे प्रकट होने लगता है कि दूसरे लोग भी उसे लक्षित करने मे समर्थ हो जाते हैं तब इसे हाव कहते हैं। जैसे —

त्रिवली नाभि दिखाइ कर सिर ढकि सकुचि समाहि।
गली अली की ओट कै चली भली विधि चाहि॥

यहाँ पर नायिका की चेष्टायें सर्वजन सवेद्य नही हैं किन्तु निपुणतापूर्वक प्रत्यभिज्ञेय हैं। इसी प्रकार —

(१) देख्यौ अनदेख्यौ कियैं अँगु अँगु सबै दिखाइ।
पैठति सी तन मे सकुचि बैठी चितै लजाइ॥

(२) मुहु धोवति एडी घसति हँसति अनगवति तीर।
धसति न इन्दीवरनयनि कालिन्दी के नीर॥

(३) चितवत जितवत हित हियैं कियैं तिरीछे नैन।
भीजैं तन दोऊ कँपैं क्यौं हूँ जप निवरै न ॥

उत्कण्ठा और लज्जा के अन्तर्द्वन्द्व मे नेत्रो मे कुछ विलक्षण मनोरमता आ जाती है जिसका वर्णन विहारी ने इन शब्दो मे किया है —

करे चाह सौं चुटकि कै खरे उड़ौहैं मैन।
लाज नवाएँ तरफरत करत मूँद सी नैन ॥

नेत्रो का शिकारी के रूप मे मन को आक्रान्त करना भी हाव के अन्दर ही आता है —

डारी सारी नील की ओट अचूक चुकैं न।
मो मन मृग करबर गहैं अहे अहेरी नैन ॥

(३) जब हाव की चेष्टायें इतनी अधिक बढ जाती हैं कि उनमे लज्जा का भाव न्यूनातिन्यून अवस्था को पहुँच जाता है और उनसे साधारण से साधारण व्यक्ति भी नायिका के प्रेम को लक्षित कर लेते हैं तब उसे हेला कहते है। जैसे —

ज्यौं ज्यौं आवति निकट निसि त्यौं त्यौं खरी उताल।
झमकि झमकि टहलैं करै लगी रहचटैं बाल ॥

हेला मे नेत्रो की चचलता और भी अधिक बढ जाती है। बिहारी ने इसकी उपमा नर्तकी से दी है .—

सब अँग करि राखी सुघर नाइक नेह सिखाइ।
रसजुत लेति अनन्त गति पुतरी पातुर राइ ॥

इसको कभी कल तो पडती ही नहीं .—

चलतु घैरु घर घर तऊ घरी न घर ठहराइ।
समुझि उही घर कौं चलै भूलि उहीं घर जाइ ॥

लाखो की भीड मे भी नायिका अनुरागाभिव्यजना को नहीं रोक सकती —

पहुँचति डटि रण सुभट लौं रोकि सकैं सब नाहि।
लाखनु हू की भीर मैं आँखि उहीं चलि जाँहि ॥

ये चेष्टायें कभी-कभी उपहास के योग्य भी हो जाती हैं —

उड़ति गुड़ी लखि ललन की अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह ॥

ऊपर अगज चेष्टाओ का वर्णन किया गया है। दूसरे प्रकार के अलकार अयत्नज होते है। जब यौवनागम का अवसर होता है, तब स्वभावत लावण्य आ हो जाता है। इस लावण्य के लिए किसी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती। इसीलिए इस प्रकार के अलकारो को अयत्नज अलकार कहते है। अयत्नज अलकार सात प्रकार के होते है .—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य।

बिहारी मे इन सभी अलकारो के उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं। अतएव यहा पर उनका सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

(१) शोभा—यौवनागम से शरीर के सौन्दर्य की वृद्धि हो जाती है। चेहरे पर नई चमक आ जाती है। इसी चमक को शोभा कहते है। यह शोभा आकर्षण मे सबसे बड़ा कारण होती है। बिहारी ने इस सौन्दर्य का वडे विस्तार से वर्णन किया है। इस चमक के आ जाने पर दुबली-पतली नायिका का शरीर भी भरा सा प्रतीत होता है —

अंग अग छवि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरी ऊ तऊ लगै भरी सी देह॥

इस यौवन के विकास मे नायिका अपनी सहेलियो मे ऐसे ही नही छिपती जैसे दीप शिखा नही छिपाई जा सकती —

बाल छबीली तियनु मैं बैठी आपु छिपाइ।
अरगट हीं फानूस सी परगट होति लखाइ॥

बिहारी की नायिका का सौन्दर्य देख कर तो आँख का मैल भी जाता रहता है —

कहा कुसुम कह कौमुदी कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखैं आखि ऊजरी होति॥

नवोढा के यौवन-विकास को देख कर सौतो की चिन्ता स्वाभाविक है —

निरखि नवोढा नारि तन छुटत लरिकई-लेस।
भौ प्यारौ प्रीतमु तियन् मनहु चलत परदेस॥

इसी प्रकार —

देह दुलहिया की वढ़ैं ज्यौं ज्यौं जोबन जोति।
त्यौं त्यौं लखि सौत्यैं सबैं बदन मलिन दुति होति॥

(२) जब पूर्वोक्त यौवनजन्य लावण्य के अन्दर काम वासना का भी सचार हो जाता है तब शरीर के रग-ढग कुछ और ही हो जाते हैं। उस समय काम वासना का प्रभाव शारीरिक सौन्दर्य पर भी पडता है। इस प्रकार काम वासना से युक्त शोभा को काति कहते है। कान्ति के उदाहरण—

अरतैं टरत न बर परे दई मरक मनु मैंन।
होड़ा होडी बढ़ि चले चितु चतुराई, नैन॥

यहा पर चित्त और चतुराई का होड मे सम्मिलित होना काम वासना के सचार का परिचायक है। काम सचार मे चेष्टायें कुछ और ही हो जाती हैं —

और हँसनि औरै लसनि और कसनि कटि ठौर।
नैंन जुगल कानन लगे मनु करि डार्‌यौ और॥

(३) जब कान्ति का बहुत अधिक विस्तार हो जाता है तब उसे दीप्ति कहते

है। बिहारी ने दीप्ति के कारण अगो पर शासन करने वाले कामदेव को प्रवीण नृपति कहा है —

अपने अँग के जानि कै जोबन नृपति प्रवीन।
स्तन मन नैन नितम्ब कौ वड़ौ इजाफा कीन॥

"मन के वहुत अधिक इजाफा" का अर्थ कामदेव का पूर्ण सचार है और नेत्रो के बडे इजाफा का अर्थ बाह्य चेष्टाओ का परिपूर्ण रूप से आप्यायित होना है। नेत्रो की प्रियतम से अद्वैत प्राप्त करने की चेष्टा भी कितनी सुन्दर है —

जोग-जुगति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता काननु सेवत नैन॥

नख-शिख वर्णन

शोभा, काति और दीप्ति ये तीनो अलकार अगज कहे जाते है। ये बाह्य शारीरिक सौन्दर्य के परिचायक हैं। इनमे रमणी-सौन्दर्य तथा अग-प्रत्यग का चित्रण किया जाता है। बाह्य सौन्दर्य का भावना से अत्यन्त निकट सम्बन्ध है। बाह्य सौन्दर्य का माधुर्य हृदय मे भावुकता उत्पन्न होने पर स्वत बढ जाता है। शोभा सामान्य सौन्दर्य का परिचायक अलकार है और कान्ति तथा दीप्ति मे काम वासना सचार-जन्य सौन्दर्य का वर्णन किया जाता है। यह चक्षु-ग्राह्य रूप-सौन्दर्य सचमुच बडा प्रभावशाली होता है। इससे इन्द्रिय तृप्ति और हृदय तुष्टि होती है। अनेक कवियो ने इस दिशा मे अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया है।

अगज अलकारो की काव्य जगत् में दो परम्परायें प्रसिद्ध है—(१) अग प्रत्यग का वर्णन (२) सामूहिक शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन। प्रथम प्रकार के वर्णन के लिए साहित्य जगत् मे दो शब्द प्रसिद्ध है—नख-शिख वर्णन या शिख-नख वर्णन। मल्लि-नाथ ने लिखा है कि नख-शिख वर्णन दिव्य सौन्दर्य के वर्णन मे प्रयुक्त हुआ करता है और शिख-नख वर्णन मानव सौन्दर्य के वर्णन के लिए किया जाता है। विहारी के रूप सौन्दर्य चित्रण को यद्यपि मानव सौन्दर्य मे ही सम्मिलित किया जाता है तथापि इनके शृगार वर्णन का मूल प्रवृत्ति-निमित राधा-कृष्ण प्रेम का वर्णन है। अतएव विहारी के काव्य मे नख-शिख वर्णन का ही विवेचन किया जाना चाहिए, शिख-नख वर्णन का नही। इसके अतिरिक्त विहारी ने एक दोहे मे नख-शिख शब्द का प्रयोग भी किया है। इसका आशय यही है कि विहारी ने अग-प्रत्यग का वर्णन नख-शिख के मतव्य से ही किया है शिख-नख वर्णन के मतव्य से नही।

विहारी ने अगो का वर्णन दोनो रूपो मे किया है, आभूषणो से रहित भी और आभूषणो से युक्त भी। इसी प्रकार शुद्ध सौन्दर्य और भावना सम्मिलित सौन्दर्य दोनो का चित्रण विहारी मे प्राप्त होता है। साथ ही उसमे दर्शक पर पडे हुए प्रभाव का भी वर्णन किया गया है। यहाँ पर विहारी के नख-शिख वर्णन का सक्षिप्त परिचय दिया जावेगा।

'रण वर्णन—

चरणो के वर्णन मे अधिकतर चरणो की लाली और कोमलता का वर्णन ारने की परम्परा है। विहारी ने पैरो के तीन अवयवो की कोमलता और लाली ा वर्णन किया है—(१) पैर की उगली, (२) एडी और (३) सम्पूर्ण पैर।

उगली का वर्णन निम्नलिखित दोहे मे किया गया है :—

अरुन बरण तरुनी चरन अँगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरगु रँगु सी मनौ चपि बिछियनु के भार॥

इस दोहे मे उत्प्रेक्षा के द्वारा उगली की कोमलता का आधिक्य व्यक्त किया या है, साथ ही शब्दो का उपादान भी इस रूप मे हुआ है कि शब्दो से ही उगली ी कोमलता अभिव्यक्त हो जाती है।

सम्पूर्ण पैर के वर्णन मे निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया जा सकता है —

पग पग मग अगमन परत अरुण-चरणदुति झूलि।
ठौर ठौर लखियत उठे दुपहरिया से फूलि॥

यहाँ पर अरुणोदय और दुपहरिया का सादृश्य वडा ही मनोहर है। साथ ही सिको के हृदयो के प्रफुल्लित हो जाने की व्यजना भी सुन्दर है। एडियो की लाली वर्णन मे विहारी ने खिलवाड-सा किया है। नाइन को भ्रम हो जाता है कि इन ़डियो मे महावर लगा तो नही है :—

कौंहरु सी एड़ीनु की लाली देखि सुभाइ।
पाइ महावरु देइ को आपु भई बेपाइ॥

केवल इतना ही नहीं वह तो एडियो को महावरी ही समझ जाती है :—

पाइ महावरु दैन कौं नाइन बैठी आइ।
फिरि फिरि जानि महावरी एडी मीड़ति जाइ॥

केवल लाली ही नही पैरो की कोमलता भी आश्चर्य चकित करने वाली है। ाइन पैर धोने के लिए आई है। वह स्वयं जानती है कि नायिका का पैर बहुत ही ोमल है। अतएव यह पत्थर का झामा न लाकर गुलाब के फूल का झामा लाई किन्तु उस गुलाब के झामे को भी पैरो मे इस भय से नही छुआ सकती कि कही रो मे छाले न पड जायें —

छाले परिबे कैं डरनु सकै न हाथ छुवाइ।
झिझकत हियैं गुलाब कैं झँवा झँवैयत पाइ॥

पैरो के आभूषणो का भी वर्णन किया गया है। जैसे —

सोहत अँगुठा पाइ कै अनवटु जर्‌यौ जड़ाइ।
जीत्यौ तरिवन दुति सुढरि पर्‌यौ तरनि मनु पाइ॥

पैरो के ऊपर मुरवो का वर्णन और मिलता है :—

मुर्‌यौ न मनु मुरवानु चभि भौ चूरनु चपि चूरु॥

नख-शिख वर्णन मे पैरो के वाद दूसरा महत्त्वपूर्ण अग आता है जघा। इसके

वर्णन मे बिहारी सतसई मे केवल एक दोहा मिलता है —

जघ जुगल लोइन निरे करे मनौ विधि मैन ।
केलि तरुनु दुखु दैन ए केलि तरु न दुख-दैन ॥

यहाँ पर विरोधाभास तथा व्यतिरेक से सौन्दर्याधिक्य तथा रमण करने की स्पृहणीयता अभिव्यक्त होती है। नख-शिख वर्णन मे दो और महत्त्वपूर्ण अग आते हैं ऊरु तथा नितम्ब। विहारी ने इन दोनो का वर्णन छोड दिया है। ऊपर के दोहे मे केला का वृक्ष अप्रस्तुत विधान के रूप मे उपस्थित किया गया है। केला की उपमा जघा के लिये नही अपितु ऊरु के लिये दी जाती है। दोनो मे विस्तृत परिणाह ही साधर्म्य के रूप मे स्वीकृत किया जाता है। परिणाह ऊरु मे ही होता है जघा मे नहीं। ज्ञात होता है कि विहारी ने ऊरु और जघा दोनो को एक ही माना है। नितम्ब की स्थूलता और विशालता के वर्णन करने की कवि परम्परा है। बिहारी ने कटि वर्णन के सम्बन्ध मे नितम्ब की स्थूलता और विशालता का ओर सकेत मात्र किया है —

लगी अनलगी सी जु बिधि करी खरी कटि खीन ।
किए मनौ वैं हीं कसर कुच, नितम्ब अति पीन ॥

प्राय कवियो ने अगो के परस्पर विनिमय का वर्णन किया है ·—

अगानीव परस्पर विदधते निलु ण्ठन सुभ्रु व· ।

इसी परम्परा का प्रभाव इस दोहे पर लक्षित होता है। कटि की क्षीणता के वर्णन मे कवि ने विशेप पाडित्य का परिचय दिया है ·—

वुधि अनुमान प्रमान श्रुति किएँ नीठि ठहराइ ।
सुछम कटि पर ब्रह्म की अलख, लखी नहिं जइ ॥

निस्सदेह इस दोहे मे नायिका की कटि के अन्दर परब्रह्म के दर्शन करना विहारी के हृदय की पवित्रता का परिचायक है। विहारी ने इस दोहे मे उच्च कोटि के दार्शनिक सिद्धात और न्यायशास्त्र के चारो प्रमाणो का कुशलतापूर्वक उल्लेख किया है जो सर्वथा सराहनीय है।

स्तन वर्णन

स्तन वर्णन के प्रसग मे कवियो ने विशालता और सघनता का वर्णन किया है। किन्तु विहारी मे इस प्रकार के वर्णन प्राप्त नही होते। स्तन सौन्दर्य के प्रसग मे शारीरिक चमक से आँगी के छिप जाने का वर्णन किया गया है —

भई जु छवि तन वसन मिलि बरनि सकैं सु न वैन ।
आँग ओप आँगी दुरी आँगी आँग दुरै न ॥

यहाँ पर शब्दालकारो के साथ मीलित और विभावना का जितना सुन्दर सयोग है वह वास्तव मे विहारी जैसे कुशल कवि की लेखनी से ही सम्भव हो सकता है।

हस्त वर्णन

गोस्वामी तुलसीदास ने साधु समाज मे प्रयाग के दर्शन किये थे, बिहारी नायिका की "छला" से युक्त "गोरी छिगुनी" और "अरुण नख" मे त्रिवेणी के दर्शन करते हैं। त्रिवेणी स्नान से मुक्ति की प्राप्ति बतलाई जाती है। किन्तु एक तो वह कालान्तर मे होती है और दूसरे उससे मुक्ति लाभ निश्चित नही है। किन्तु नायिका की छिगुनी तत्काल रति रूपी मुक्ति को प्रदान करने वाली है :—

गोरी छिंगुनी नखु अरुनु छला स्यामु छवि देइ।
लहत मुकति रति पलकु यह नैन त्रिवेनी सेइ॥

बिहारी नायिका की छिगुनी की शोभा पर विशेष अनुरक्त हैं और वह भी यदि मेहदी से रगी हो तो नेत्र तो उसी मे रग कर रह जाते हैं —

गड़े, बड़े छवि-छकि छकि छिगुनी छोर छुटैं न।
रहे सुरँग रँग रँगि उहीं नह-दी महदी नैन॥

हस्त सौन्दर्य का ठग से रूपक भी सुन्दर है —

नख-रुचि, चूरनु डारि कै, ठगि, लगाइ निज साथ।
रह्यो राखि हठि लै गए हथाहथी मनु हाथ॥

कोई कितना ही बडा क्यो न हो कितना ही महान् क्यो न हो किन्तु हस्त-सौन्दर्य को देखकर उसका मन भी उस के हाथ मे नही रहता —

बड़े कहावत आपसौं गरुवे गोपीनाथ।
तौ बदिहौं जौ राखिहौ हाथनु लखि मनु हाथ॥

ग्रीवा वर्णन

ग्रीवा वर्णन मे कवि प्राय उसकी वर्तुलाकारता का वर्णन किया करते हैं किन्तु बिहारी ने त्वचा की निर्मलता और पतलेपन का वर्णन किया है

खरी लसति गोरैं गरैं धँसति पान की पीक।
मनौ गुलीबँद लाल की लाल लाल दुति-लीक॥

नायिका की त्वचा इतनी पतली और इतनी निर्मल है कि पान की पीक भी निगलते समय दिखलाई पड जाती है और तब ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो नायिका ने गुलीवन्द पहर रखा हो।

चिबुक वर्णन

नख शिख वर्णन मे चिबुक वर्णन की परम्परा प्राय नही है। किन्तु बिहारी ने कई दोहो मे चिबुक वर्णन किया है। बिहारी का मन चिबुक की दो विशेषताओ पर रीझा है—चिबुक के गड्ढे की सुन्दरता पर और चिबुक के गोदने पर। चिबुक के गड्ढे मे तो नेत्र और मन दोनो ही फस कर रह जाते हैं। नेत्रो के फसने मे बिहारी ने ठगो के द्वारा बटोही के मारे जाने और गड्ढे मे डाल दिये जाने की सुन्दर कल्पना की है :—

डारे ठोढ़ी गाड़ गहि नैन बटोही मारि।
चिलक चौंध में रूपु-ठगु हाँसी फाँसी डारि।।

नेत्र मृत व्यक्ति के समान सर्वथा निष्क्रिय और विवेकशून्य हो गये हैं। अब वे वहाँ से हट सकने की क्षमता क्या चेतना भी नहीं रखते किन्तु मन की विचित्र दशा है। वह ठोडी के गड्ढे मे गडा हुआ भी उडा-उडा फिरता है :—

तो लखि मो मन जो लही सो गति कही न जाति।
ठोढ़ी गाड़ गड़्यो तऊ उड़्यो रहै दिन राति।।

कितना सुन्दर विरोधाभास है ? गौर वर्ण मे श्याम वर्ण के गोदने के लिये गुलाव पर भ्रमर की कल्पना भी वडी सुन्दर है :—

ललित स्याम लीला ललन बढ़ी चिबुक छवि दून।
मधु छाक्यौ मधुकर पर्‌यौ मनौ गुलाव-प्रसून।।

इस दोहे मे उत्प्रेक्षा जहाँ सौन्दर्य की परिचायिका है वहाँ मधुर शब्दावली तथा अलकृत प्रौढ भाषा सौन्दर्य को व्यजित करती है।

अधर वर्णन

अधर वर्णन के प्रसग मे अधर की लाली और पतलापन ही मुख्य वर्ण्य विषय रहे हैं। विहारी के निम्नलिखित दोहे मे अधर की लाली की व्यजना होती है :—

अधर धरत हरि कैं परत ओठ-डीठि-पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्र-धनुष रँग होति।।

निस्सदेह विहारी की दृष्टि मे वे अचेतन पदार्थ भी भाग्यशाली है जिनको अधर सम्पर्क का सुयोग प्राप्त हो जाता है —

बेसरि-मोती, धनि तुहीं को बूझै कुल, जाति।
पीबौ करि तिय-ओठ कौ रसु निधरक दिनराति।।

दशन वर्णन

दन्त पक्ति के सौन्दर्य मे उनका शिखरी तथा समपक्ति वद्ध होना और उनकी चमक ही कवि परम्परा मे मुख्य वर्ण्य-विषय रहे हैं। विहारी ने निम्नलिखित दोहे मे दन्त पक्ति की चमक का वर्णन किया है —

नैंकु हँसौंहीं वानि तजि लख्यो परतु मुँहुँ नीठि।
चौका चमकनि चौंध मैं परि चौंधि सी डीठि।।

यहाँ पर 'दन्त पक्ति" की चमक विजली के समान है।" यह उपमा व्यक्त होती है। दन्त पक्ति की चमक इतनी वढ़ी चढी है कि नायक की दृष्टि चौंधिया जाती है और यह मुख की ओर भली भाति देख भी नहीं पाता। इस प्रकार असम्बन्ध मे सम्बन्ध होने से यहा पर सम्बन्धातिशयोक्ति भी है।

कपोल वर्णन

गुलावी चेहरे मे कपोलो के रग सुकुमारता और सुगन्ध का सयोग वास्तव मे

सर्वाधिक वशीकरण होता है। बिहारी ने मीलित अलकार के द्वारा गुलाब की पखडी से समता स्थापित कर इसी सयोग का परिचय दिया है —

बरन बास सुकुमारता सब विधि रही समाइ ।
पँखुरी लगी गुलाब की गात न जानी जाइ ।।

कपोलो की स्वर्णिम आभा मे कही ताटक का स्वर्ण विलीन हो जाता है और कही पान का पाटल वर्ण कपोल का स्मरण कराने का कारण होता है —

(अ) तरिवन कनकु कपोल-दुति बिच बीचहीं बिकान ।
लाल लाल चमकतिं चुनीन्ह चौका चीन्ह समान ।।

(आ) परसत पोछत लखि रहतु लगि कपोल कैं ध्यान ।
कर लै प्यौ पाटल विमल प्यारी पठए पान ।।

कभी कभी हँसने से कपोलो में गढे पड जाते हैं। बिहारी को किसी ग्रामीण वनिता की यह विशेषता बडी ही मनोमोहनी प्रतीत हुई है —

गोरी गदनु कारी परैं हँसत कपोलन गाड़ ।
कैसी ललति गँवारि यह सुन किरवा की आड़ ।।

नासिका वर्णन

नायिका का प्रत्येक अवयव आकर्षक होता है। यदि तिरछे नेत्र हृदय को बींधते हैं तो नासिका का छिद्र भी जो स्वय आविद्ध है हृदय को विदीर्ण करने वाला हो जाता है —

बेधक अनियारे नयन बेधत करि न निषेधु ।
बरबट बेधतु मो हियो तो नासा कौ बेधु ।।

स्वर्णिम आभामयी नासिका मे नील मणि जटित सीक भी कितनी सुन्दर लगती है —

जटित नीलमनि जगमगत सींक सुहाई नाँक ।
मनौ अली चम्पक कली बसि रसु लेत निसाँक ।।

सामान्यतया भौंरा चम्पा की कली पर नही बैठता । अतएव इस उत्प्रेक्षा से यह व्यजना निकलती है कि नासिका का सौंदर्य विवेक को भुला देने वाला होता है। जब तिर्यग्योनिजात भ्रमर की यह दशा है तब सहृदय पुरुषो का तो कहना ही क्या ?

नेत्र वर्णन

बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनो प्रकार के सौंदर्य वर्णन मे नेत्रो का स्थान सर्वोच्च है। शृ गार रस मे इनका महत्व अनिर्वचनीय है। ससार के प्राय समस्त कवीश्वरो ने नेत्रो के बाह्य वर्णन और उनके द्वारा प्रेमानुभव को महत्त्व दिया है। हिन्दी मे भी अनेक कवियो ने नखशिख वर्णन मे नेत्रो के सौन्दर्य तथा चेष्टाओ के सजीव तथा हृदयाकर्षक चित्र खीचे हैं। इन सब वर्णनो मे बिहारी का वर्णन अत्यन्त उच्च कोटि का कहा जा सकता है। इसमे रमणीय कवि-कल्पनायें, अलकारो

का सामजस्यपूर्ण योग, सानुप्रास सशक्त भाषा ऐसे तत्व है जिनका हिन्दी साहित्य मे ही नही विश्व साहित्य मे महत्वपूर्ण स्थान है। सर्वप्रथम वाह्य सौन्दर्य चित्रण को लीजिए। सुन्दरता उसी को कहते है जो प्रत्येक अवस्था मे आकर्षक प्रतीत हो। नेत्र चाहे शृगार सहित हो चाहे शृगार रहित हो, आकर्षकता उनमे विद्यमान रहती ही है —

रस सिंगार मंजनु किए कजनु भजनु दैन।
अंजनु रजनु हू बिना खजनु गंजनु नैन।।

चाहे नेत्रो मे हाव, भाव, कटाक्षादि की लहरें उठ रही हो, चाहे अजनहीन श्यामता उनमे विद्यमान हो प्रत्येक अवस्था मे उनका सौन्दर्य अपने उपमानो का मान मर्दन करने वाला होता है। यही भाव निम्नलिखित दोहे मे विद्यमान है :—

वर जीते सर मैन के ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनानु तैं हरि नीके ए नैन।।

केवल कमल, खजन और हरिणी के नेत्र ही नही मछली और मोती के उपमान भी नायिका के नेत्रो के सामने नही ठहर सकते —

सायक-सम मायक नयन रँगे त्रिविधि रँग गात।
झखौ बिलखि दुरि जात जल लखि जलजात लजात।।

झीने घूँघट पट के अन्दर से चमचमाने वाले नेत्रो की सुन्दरता और भी वढ जाती है —

चमचमात चचल नयन बिच घूँघट-पट झीन।
मानहु सुर सरिता-विमल जल उछरत जुग मीन।।

यह तो नेत्रो के वाह्य सौन्दर्य की वात हुई। चितवन का बाँकापन भी कम महत्वपूर्ण नही होता। इस विषय मे विहारी का निम्नलिखित दोहा वहुत प्रसिद्ध है :—

तिय कित कमनैती पढ़ी विन जिहि भौंह-कमान।
चल चित वेझैं चुकति नहिं वक विलोकनि वान।।

वैषम्य की पराकाष्ठा हैं। सामान्य धनुर्धर विना डोरी के कभी वाण नहीं छोड सकता किन्तु नायिका की भौं रूपी कमान मे डोरी है ही नही फिर भी वाण छूटता है। सामान्य धनुर्धरो का वाण यदि जरा भी टेढा हो तो लक्ष्य पर नही पहुँचता, किन्तु नायिका का तिरछा चितवन रूपी वाण सर्वदा टेढा ही है। फिर सामान्य धनुर्धर स्थिर लक्ष्य को ही वेधते हैं, यदि लक्ष्य कुछ हिलता हुआ हो तो उसको वेध देना वड़ी कुशलता की वात मानी जाती है। किन्तु नायिका का लक्ष्य मन है जिससे वढकर ससार का दूसरा पदार्थ चचल नही। डोरी रहित धनुष, टेढ़ा वाण और सर्वाधिक चचल मन लक्ष्य, फिर भी वाण छूटता है और लक्ष्य विध जाता है, सामान्य धनुर्धर कभी चूक भी जाते हैं किन्तु नायिका के नेत्र लक्ष्य वेधने मे

ी चूकते ही नही। कितना बडा आश्चर्य है। केवल इतना ही नहीं यहा तो टी शिकार भी खेली जाती है। यह तो सभी ने सुना होगा कि नागरिक ग जगली हिरणो का शिकार खेलते है, किन्तु यह बिहारी की नायिका मे सुना गया है कि जगली हिरण भी नागरिको का शिकार खेलते है —

खेलन सिखए अलि भलैं चतुर अहेरी मार।
काननचारी नैन-मृग नागर नरनु सिकार॥

यहाँ तक तो कोई बात नही। किन्तु इन नेत्र बाणो मे एक और बहुत बडी लक्षणता है। सामान्य बाण जिसको लगते हैं उसी के घाव करते हैं और उसी ो व्याकुल करते हैं तथा जहाँ पर लगते हैं वही पर घाव करते हैं। किन्तु इन नेत्र ाणो का हाल ही दूसरा है। यह लगते नेत्रो मे हैं, हृदय मे घाव करते हैं और दूसरे अगो को व्याकुल करते है —

दृगनु लगत बेधत हियहिं बिकल करत अंगु आन।
ए तेरे सब तैं कठिन ईछन-तीछन बान॥

सामान्य बाण की अपेक्षा नेत्र बाणो मे एक और विशेषता है। सामान्य बाण जब किसी शरीर को फाड़ कर आरपार निकल जाते है तब उनका कोई अश अन्दर शेष नही रह जाता। किन्तु नयन बाण हृदय के दो टुकडे करके पार भी हो जाते हैं और टूटी नोक के समान कसकते भी रहते हैं —

लागत कुटिल कटाच्छ-सर क्यौं न होहिं बेहाल।
कढ़त जियहिं दुसाल करि तऊ रहत नट साल॥

दो जीवों के शिकार खेलने का ढग अत्यन्त विलक्षण है--एक तो बाज का और दूसरे चीते का। बाज नीचे नीचे उडता रहता है और एक दम ऊपर उठ कर झपट लेता है। चीता सध्या समय किसी पेड पर चढ कर किसी डाली के सहारे छिपकर बैठ जाता है और जब रात मे कोई मृग उस वृक्ष के नीचे आश्रयार्थ आता है तब उस पर ऊपर से टूट पड़ता है। नेत्र इन दोनो प्रकारो का शिकार खेलने मे निपुण हैं। बाज के शिकार के विषय मे देखिये —

नीचीयै नीची निपट दीठि कुही लौं दौरि।
उठि ऊँचैं नीचौ दयौ मनु कुलिंगु झपि झौरि॥

नायिका नीचे-नीचे ही देखती रही। सहसा आख ऊपर उठकर जो एकदम नीचे झुक गई उसकी तुलना बाज के शिकार से की गई है। इससे व्यजना निकलती है कि मन सर्वथा गतिहीन हो गया है। इसी प्रकार चीते के शिकार के विषय मे भी देखिये —

डारी सारी नील की ओट अचूक चुकैं न।
मो मन मृगु करबर गहैं अहे अहेरी नैन॥

जिस प्रकार चीता डाली की आड़ मे छिपकर मृग का शिकार करता है उसी प्रकार नेत्र घूंघट की आड से मनरूपी हिरण का शिकार खेलते हैं।

इसके अतिरिक्त बिहारी ने नेत्रो की रूपपिपासा, दृष्टिमिलन, प्रेम मे नेत्रो की वहक, अश्रु और नेत्रो द्वारा वातचीत का भी वर्णन किया है। किन्तु उमे हम अलकारो मे सन्निविष्ट नही कर सकते। उनका समावेश अनुभावो मे होगा।

भृकुटि वर्णन

भृकुटि की शरासन-रूपता इत्यादि का वर्णन नेत्रो से मिलाकर ही किया गया है किन्तु केवल भृकुटि मरोड भी आकर्षक होती है —

नासा मोरि, नचाइ जे करी कका की सौंह।
काटे सी कसकैंति हिय गड़ी कँटीली भौंह ॥

मस्तक वर्णन

जिस प्रकार विहारी ने नेत्र वर्णन मे शिकार की अप्रस्तुत योजना की है उसी प्रकार मस्तक तथा उसके प्रसाधनो के वर्णन मे ज्योतिप से अप्रस्तुतो का उपादान किया गया है। मस्तक मे लाल विन्दी लगी है और उस पर छूटे हुए विखरे वाल राहु के समान शोभित हो रहे हैं। मुख चन्द्रमा के समान और विन्दी सूर्य के समान है :—

भाल लाल वेन्दी छए छुटे बार छबि देत।
गह्यौ राहु अतिआहु करि मनु ससि सूर-समेत ॥

लोक मे सूर्यग्रहण अमावस्या को और चन्द्रग्रहण पूर्णिमा को पडा करता है। दोनो एक साथ हो ही नही सकते। यहाँ विलक्षणता यह है कि सूर्य और चन्द्र दोनो का उपराग एक साथ हो रहा है। इसमे व्यजना यह है कि यदि सूर्य और चन्द्र दोनो ग्रहणो का सम्मिलित फल प्राप्त करना हो तो रतिदान का इससे और अधिक अच्छा अवसर नही मिल सकता। केवल सामान्य पुण्यलाभ ही नही राज्य-धन इत्यादि की प्राप्ति का भी वडा सुन्दर योग वतलाया गया है —

भाल लाल वेंदी ललन आखत रहे विराजि।
इन्दु कला कुज मैं वसी मनौ राहु भय भाजि ॥

वृहत्पाराशरी के अनुसार यदि केन्द्रस्थ मगल मे चन्द्र की दशा आ जावे और ये ग्रह उच्च के हो तो अनेक प्रकार की सुख-समृद्धि प्राप्त होती है। यहा पर स्त्री स्थान मे (सप्तम स्थान मे) जो केन्द्र का एक स्थान है, मस्तक जैसे उच्च स्थान पर विन्दीरूपी मगल मे अक्षतरूपी चन्द्र विराजमान है। अत यह योग अनेक शुभ फलो को देने वाला है। केवल एक ही नहीं दूसरा योग भी देखिये —

तिय-मुख लखि हीरा-जरी वेंदी वढ विनोद।
सुत सनेह मानौ लियौ विधु पूरन वुधु गोद ॥

स्त्री का मुख चन्द्रमा के समान है और उसमे लगी हुई हीरा जडी वेंदी ऐसी शोभित होती है मानो पुत्र प्रेम के कारण चन्द्रमा ने वुध को गोद ले लिया है। वृहत्पाराशरी के अनुसार चन्द्र मे बुध का अन्तर्भाव यदि ये केन्द्रस्थ तथा उच्च के हो, तो अनेक सुख जैसे धनागम, राजमान इत्यादि देने वाला होता है। वे ही फल

सम्प्रति नायिका को देखने से भी प्राप्त हो सकते हैं। विन्दी के वर्णन मे विहारी ने मीलित और उन्मीलित अलकारो का भी अच्छा प्रयोग किया है .—

मिलि चन्दन बेंदी रही गोरे मुँहु न लखाइ।
ज्यौं-ज्यौं मद लाली चढ़ै त्यौं-त्यौं उघरत जाइ ॥

गणित मे विन्दी का बहुत बडा महत्त्व है। किन्तु गणितज्ञो मे सर्वदा से एक भ्रम रहा है कि विन्दी लगाने से केवल दसगुना मूल्य ही बढता है। किन्तु बिहारी इससे सहमत नही। विहारी कहते हैं कि रमणी के मस्तक पर विन्दु लगाने से केवल दस गुना ही नही असख्य गुना मूल्य वढ जाता है।

कहत सबै बेंदी दिये आँकु दसगुनौ होतु।
तिय-लालाट बेंदी दियैं अगनितु बढ़तु उदोतु ॥

समस्त मुख वर्णन

कवि परम्परा के अनुसार नख-शिख वर्णन मे मुख वर्णन आता है और मुख को प्राय चन्द्रमा की उपमा दी जाती है। विहारी ने मुख चन्द्र के सामने चकोरो के भ्रम का अच्छा वर्णन किया है —

सूर उदित हूँ मुदित-मन मुखु सुखमा की ओर।
चितै रहत चहुँ ओर तैं निहचल चखनु चकोर ॥

केवल चकोरो को ही क्यो सारे विश्व को भ्रम हो जाता है। लोगो को मुख चन्द्रिका के प्रकाश मे तिथि का ही पता नही चल पाता। तिथि देखने के लिये पचाग का ही सहारा लेना पडता है।

पत्रा हीं तिथि पाइयैं वा घर कैं चहुँ पास।
नित प्रति पून्यौईं रहै आनन-ओप उजास ॥

यह तो केवल मुख सौंदर्य की वात हुई। घूघट मे ढके हुए मुख की शोभा कुछ और ही होती है —

छिप्यौ छबीलौ मुँह लसै नीलैं अंचल-चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै कालिन्दी के नीर ॥

कालिदास इत्यादि कवियो ने मुख की चमचमाहट और आह्लादकत्व धर्मों के एकीकरण के लिये चन्द्र तथा विजली के एक मे मिल जाने का वर्णन किया है। विहारी ने दोनो तत्वो को पृथक्-पृथक् रखते हुए एकस्थीभाव का वर्णन किया है —

जरी-कोर गोरैं बदन बढ़ी खरी छ्वि, देखु।
लसति मनौ बिजुरी किये सारद-ससिपरिवेषु ॥

श्रम के अनन्तर स्वेद विन्दु सहित मुख की शोभा कुछ और ही होती है। देखिये —

चखित ललित स्रम-स्वेदकन-कलित अरुन मुख तैं न।
वन बिहार थाकी तरुनि खरे थकाये नैन ॥

केश वर्णन

सौन्दर्य वर्णन मे केशो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तुलसी ने तो कलियुग का आभूषण ही केशो को बतलाया है। केशो की सुन्दरता देख कर मन का कुमार्गगामी हो जाना स्वाभाविक ही है —

सहज सचिक्कन स्याम सुचि रुचि सुगन्ध सुकुमार।
गनतु न मन पथु अपथु लखि बिथुरे सुथरे बार॥

बाल किसी भी अवस्था मे हो वशीकरण होते ही है —

छुटे छुटावत जगत तैं सटकारे, सुकुमार।
मनु बाँधत बेनी बँधे नील छबीले बार॥

प्रथम पंक्ति मे स्वाभाविकता है और दूसरी पंक्ति मे विरोधाभास की ध्वनि। छुटकारा वही दे सकता है जो स्वय छुटा हुआ हो। किन्तु जो बँधा हुआ है वह बेचारा बाध क्या सकता है ? जब कभी बालो की टेढी लट मुख पर पड जाती है, तब सौन्दर्य कितना अधिक बढ़ जाता है इसका बिहारी ने ठीक हिसाब लगाया है —

कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगौ इतौ उदोतु।
बकबकारो देत ज्यौं दामु रुपैया होतु॥

निम्नलिखित दोहो मे बिहारी ने जूडा बाधने का कितना स्वाभाविक चित्र खीचा है जो नेत्रो के सामने नाचने लगता है —

कर समेट कच, भुज उलटि, खएँ सीस-पटु टारि।
काको मनु बाँधे न यह जूरा-बाँधनहारि॥

यही बिहारी के नखशिख वर्णन का सक्षिप्त परिचय है। इस समस्त वर्णन को शोभा, कान्ति और दीप्ति इन अलकारो मे सन्निविष्ट किया जा सकता है।

(४) वास्तविक सौन्दर्य को बाह्य उपकरणो की आवश्यकता नही होती। सुन्दर व्यक्ति किसी भी अवस्था मे क्यो न रहे सुन्दर ही प्रतीत होता है। बिहारी ने कहा ही है —

सबै सुहाएई लगैं बसे सुहाएँ ठाम।
गोरैं मुँह बेंदी लसैं अरुन पीत सित स्याम॥

सभी अवस्थाओ मे सुन्दर प्रतीत होना "माधुर्य" कहलाता है। सुन्दरता का सब से बडा आश्रय नेत्र ही होते है। बिहारी की नायिका के नेत्र अजन से रगे हुए या न रगे हुए दोनो अवस्थाओ मे सुन्दर ही मालूम पडते हैं —

रस सिंगार मजनु किये कजनु भजनु दैन।
अजनु रजनुहूँ बिना खजनु गजनु नैन॥

नेत्रो की ही क्यो बालो की भी यही दशा है। चाहे वे बन्धे हुए हो या न बंधे हुए हो दोनो अवस्थाओ मे सुन्दर ही प्रतीत होते हैं —

छुटे छुटावत जगत तैं सटकारे सुकुमार।
मनु बाँधत बेनी बधे नील, छबीले बार॥

वस्तुत सौन्दर्य मे शृगार की आवश्यकता ही नही, हा कहने-सुनने के लिये शृगार किया अवश्य जाता है —

तन भूषन अजन दृगनु पगनु महावर रग।
नहिं सोभा कौं साजियतु कहिबैं ही कौं अग ।।

(५) नायिकाओ का भोलापन आकर्षित करता ही है उनका प्रगल्भता भी कम मनमोहक नही होती। यह प्रगल्भता भी वाह्य लक्षण नही किन्तु आन्तरिक मन का एक प्रतिविम्ब मात्र है और विना प्रयत्न के स्वत प्रवृत्त हो जाती है। इस प्रकार "प्रगल्भता" भी एक अयत्नज अलकार है। इसके उदाहरण :—

ज्यों-ज्यौं पावक-लपट सी तिय हिय सौं लपटाति।
त्यौं-त्यौं छुही गुलाव सैं छतिया अति सियराति।।

कभी कभी प्रगल्भता की कमी दूर करने के लिये मदिरा पान का प्रवन्ध करना पडता है। तव तो मुग्धाओ मे भी प्रगल्भता का आधिक्य हो जाता है। विहारी ने मदिरापान-जन्य प्रगल्भता का कई दोहो मे वर्णन किया है। दो एक उदाहरण लीजिये —

(१) निपट लजीली नवल तिय बहकि वारुनी सेइ।
त्यौं-त्यौं अति मीठी लगति ज्यौं ज्यौं ढीठ्यो देइ ।।

(२) हँसि-हँसि हेरति नवल तिय मद के मद उमदाति।
वलकि-वलकि बोलति वचन ललकि-ललकि लपटाति ।।

(३) ढीठ्यौ दै बोलति हँसति पौढ विलास अपौढ़।
त्यौं-त्यौं चलत न पिय-नयन छकए छकी नवोढ़।

(६) नायिकाओ का रूठना और इठलाना तो आकर्षक होता ही है उनकी सरलता भी जादू का प्रभाव उत्पन्न करने वाली होती है। यह भी कुलवती ललनाओ का एक आभूषण ही है। इस अलकार को औदार्य कहते हैं। विहारी की नायिका मान का उपदेश देने वाली सखी से क्या कहती है —

सखी सिखावति मान-विधि सैननि वरजति बाल।
हरुये कहु मो मन वसत सदा विहारी लाल ।।

नायिकायें स्वभाववश प्रयत्न करने पर भी नायक से रूठ नही सकती। यह भी उनका अयत्नज अलकार ही है —

वालम, तुम सौं रूठियै मन सौं कछु न बसाइ।
ज्यों-ज्यौं खैंचौ आपु त्यौं त्यौं-त्यौं तुम तन जाइ ।।

(७) धैर्य—सातवा अयत्नज अलकार है धैर्य। नायिकाओ का सटपटाना, चचल होना इत्यादि जिस प्रकार आनन्ददायक होता है उसी प्रकार उन का धैर्य और दृढ़ता भी आनन्द देने वाली होती है। विहारी की नायिका पत्र द्वारा अपने प्रियतम को क्या सदेश देती है —

कहा भयौ जौ बीछुरे मो मन तो मन साथ ।
उड़ी जाउ कितै गुडी तउ उडाइक हाथ ।।

रत्नाकर ने इसका अर्थ गणिकापरक किया है। गणिकापरक अर्थ करने मे भी यह धैर्य का ही उदाहरण हो सकता है। क्योकि गणिका भी ऊपरी दिखावा करने मे तो कुशल होती ही है और वह भी ऐसी वात क्यो लिखेगी जिससे नायक उसके प्रेम की न्यूनता की आशका करने लगे। ऐसी दशा मे प्रेम की दृढता का वहाना करके ही यहाँ पर नायक को आकर्पित करने का प्रयत्न किया है। दूसरा उदाहरण —

प्रियतम दृग मिहिचत प्रिया पानि परस सुखु पाइ ।
जानि पिछानि अजान लौं नैकु न होत लखाइ ।।

ये अगज और अयत्नज अलकार पुरुपो मे भी सम्भव है। किन्तु इनका सौन्दर्य नायिकाओ के अन्दर ही विच्छित्ति-विशेप का परिपोपक होता है।

उपर्युक्त अयत्नज अलकारो के अतिरिक्त कुछ यत्नज चेष्टायें भी होती हैं। इनकी सख्या १८ है।

"लीला विलासो विच्छिर्न्विव्वोक किलकिंचितम् ।
मोहायित कुट्टमित विभ्रमो ललितं मद ।।
विहृत तपन मौग्ध्य विक्षेपश्च कुतूहलम् ।
हसित चकित केलि

(१) प्रथम यत्नज अलकार लीला है। प्रियतम का वेप वनाना लीला नामक हाव कहलाता है। विहारी ने नायक और नायिका के परस्पर वेष परिवर्तन का निम्नलिखित दोहे मे वर्णन किया है —

राधा हरि राधिका वनि आये सकेत ।
दपति रति विपरीति सुखु सहज सुरत हू लेत ।।

कभी कभी नायक और नायिका एक दूसरे का वेप धारण कर विपरीत रति करते है। यह भी लीला ही हैं। रात मे नायक और नायिका ने वेप विपरिवर्तन करके विपरीतरति की है। सयोग वश प्रात काल पर्यन्त नायक के मस्तक मे वेंदी लगी रह गई है जिससे सखिया विपरीत रति का अनुमान लगाती है —

मेरे वूझत वात तू कत वहरावति वाल ।
जग जान विपरीत रति लखि वेंदी पिय भाल ।।

यह भी लीला ही है।

(२) दूसरा यत्नज अलकार "विलास" है। प्रेयसी का चलना-फिरना, उठना-वैठना तथा किसी प्रकार की चेष्टा करना प्रियतम के लिए एक आकर्पण होता है। यदि प्रियतम के अवलोकन से इस प्रकार की चेष्टाये प्रवृत्त हो अथवा उनमे विशेपता आ जाये तो प्रियतम के लिए उनमे और अधिक अनुराग उत्पन्न हो जाता है। इन चेष्टाओ को विलास कहते है। विहारी ने विलास के कई दोहे लिखे है। राधा का

वन्सी चुराना और कृष्ण से उस विषय में वातचीत करना विलास का ही उदाहरण है—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय ।
सौंह करे भौंहनु हँसै देन कहैं नटि जाय ।।

चरखा कातने वाली का भी विलास देखिए —

ज्यौं कर त्यौं चुकुटी चलै ज्यौं चुकुटी त्यो नारि ।
छबि सौं गति सी लै रही चातुर कातनि हारि ।।

वेश्याओ की विलास चेष्टाओ का उदाहरण —

ज्यौं ज्यौं पटु झटकति हटति हँसति नचावति नैन ।
त्यो-त्यो निपट उदार हू फगुआ देत बनै न ।।

स्नान करने के वाद की किसी नायिका की विलास चेष्टाओ का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

त्रिवली नाभि दिखाइ कै सिर ढकि सकुचि समाहि ।
गली अली की ओट ह्वै चली भली विधि चाहि ।।

प्रेम प्रदर्शन करने वाली दो एक विलास चेष्टायें देखिए —

(अ) करु उठाइ घू घट करत उझरत पट गुझरौट ।
सुख मोटैं लूटीं ललन लसि ललना की लौट ।।

(आ) मोंह उचै आचरु उलटि मोरि मोरि मु ह मोरि ।
नीठि नीठि भीतर गई दीठि दीठि सों जोरि ।।

(इ) फेरु कछुक करि पौरि ते फिर चितई मुसकाई ।
आई जावन लेन जिय नेहै चली जमाइ ।।

(३) जब थोडी ही शृ गार सामग्री से अधिक काति का परिपोष दिखलाया जावे तब उस हाव को विच्छित्ति कहते हैं। कोई ग्रामीण नायिका अपने सीमित शृ गार साधनो मे ही कितनी अच्छी मालूम पड़ती है —

वेंदी भाल तमोल मुख सीस सिलसिले वार ।
दृग आँजे राजे खरी येई सहज सिंगार ।।

एक नायिका दो मोतियो को ही नाक मे पहन कर ससार के नेत्रो को अपनी ओर आकृष्ट करने लगी है —

इहिं द्वै ही मोती सुगथ तु नथ गरवि निसांक ।
जेहि पहिरे जगदृग ग्रसति लसति हँसति सी नाक ।।

नायिका की शोभा मलिन वस्त्रो द्वारा ही वढ गई है :—

मलिन देह वेई वसन मलिन विरह क रूप ।
पिय आगम औरै चढ़ी लाली ओठ अनूप ।।

(४) विब्वोक स्त्रियो का स्वाभाविक गुण है, इष्ट वस्तु का अनादर। कालिदास के कथनानुसार "उत्कट इच्छा होते हुए प्रियतम की प्रार्थना मे वामाचरण की उनकी प्रवृत्ति होती है, सम्भोग सुख की आकाक्षा होते हुए भी अपने शरीर के प्रदान मे वे कातर हो जाती हैं। इस प्रकार केवल कामदेव ही उन्हें पीडित नही करता अपितु वे भी समय को विता कर कामदेव को पीडित करती हैं।" जब गर्व के कारण वे अभीष्ट वस्तु का आदर नही करती तब उस हाव को विब्वोक कहते हैं। इसके उदाहरण —

ऐरी यह तेरी दई क्यों हूँ प्रकृति न जाइ।
नेह भरे हिय राखिए तौ रुखियै लखाइ॥

दूसरा उदाहरण —

नहि नचाइ चितवति दृगनु नहि बोलत मुसकाइ।
ज्यो ज्यों रूखी रुख करै त्यो त्यो चित चिकनाइ॥

(५) किलकिंचित—भावनाओ के सघात को कहते हैं। जब परस्पर विरुद्ध अनेक भावनायें उदभूत होकर हसी, त्रास, रोदन इत्यादि को उत्पन्न करती हैं तब वहाँ पर किलकिंचित हाव होता है। बिहारी ने किलकिंचित के कई एक अच्छे उदहारण लिखे हैं। विशेष परिस्थिति मे जो अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न होता है उसके चित्रण मे बिहारी बहुत अधिक सिद्धहस्त हैं। कोई नायिका सौत की पारी मे प्रियतम का परस्त्रीगमन सुनती है। उस समय के उसके मनोभाव को बिहारी किन शब्दो मे चित्रित कर रहे है —

बालम बारैं सौति के सुनि परनारि बिहारु।
भौ रसु अनरसु रिस रली रीझि खीझि इकवार॥

यहाँ पर नायिका के अन्दर अनेक भावनायें उत्पन्न हुई हैं। एक तो ईर्ष्या के कारण सुख हुआ। दूसरी सौत पैदा हो गई, इस बात का दुख हुआ। यदि नायक को कही जाना ही था तो मेरे यहाँ क्यो नहीं चला आया, इस बात पर क्रोध हुआ। सौत की गुणहीनता पर मजाक करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। रीझ इस बात से हुई कि नायक मेरी पारी मे कहीं नहीं जाता और खीझ इस बात से हुई कि बुरी आदत पडने पर मेरी भी पारी में कही जा सकता है। इस प्रकार अनेक भावनाओ के सघात होने के कारण यहाँ पर किलकिंचित हाव है। प्रियतम ने रति की प्रार्थना की है, उस समय का किलकिंचित हाव देखिये :—

रमण कह्यौ हठि रमन को रति बिपरीत बिलास।
चितई करि लोचन सतर सलज सरोस सहास॥

यहाँ पर अनेक भावो के सघात होने के कारण किलकिंचित हाव है। कोई नायक किसी के घर पर गया है उस समय पान देने मे नायिका के अन्दर कौन

भावनाओ का सघात उत्पन्न होता है उसे भी देखिए :—

सहित सनेह सकोच सुख स्वेद कम्प मुसुकानि ।
प्राण पानि करि आपमें पान धरे मो पानि ।।

एक नायिका सरोवर पर स्नान कर रही है, वहाँ उस का प्रियतम अकस्मात् आ जाता है। उस समय उसका किलकिंचित हाव देखिये —

सुनि पग धुनि चितई इतै न्हाति दियें हीं पीठि ।
चकी झुकी सकुची डरी हसी लजा सी दीठि ।।

(६) मोट्टायित —हाव वहाँ पर होता है जहाँ नायिका अपने प्रेम को छुपाने के लिये कान खुजलाना इत्यादि कोई अन्य कार्य करने लगती है, वैसे उसका पूरा ध्यान प्रियतम की ओर ही होता है और प्रियतम की भावना ही से उस का हृदय भावित होता है। विहारी सतसई मे इसका केवल एक उदाहरण प्राप्त होता है। प्रियतम प्रस्थान करना चाहता है। उस समय परकीया की आँखो मे आँसू आ जाते है, किन्तु अपने अनुराग को छिपाने के लिये वह जमुहाने लगती है :—

ललनु चलनु सुनि पलनु मे अँसुवा झलके आइ ।
गई लखाइ न सखिनु हूँ झूठैं हीं जमुहाइ ।।

(७) कुट्टमित—यह हाव विहारी को बहुत पसन्द है। विहारी ने दो एक सूक्तियो मे इस का महत्व भी वतलाया है। सहवास के अवसर पर जब नायक हाथ पकड़ता है तब नायिका चाहते हुए भी नही नही करती चली जाती है। यही हाव कुट्टमित की सज्ञा प्राप्त करता है। विहारी इस की प्रशसा करते हुए कहते हैं —

वनक झूठ न सवादिली कौन बात परि जाइ ।
तिय मुख रति आरम्भ नाहिं झूठियै मिठाइ ।।

कुट्टमित हाव के चित्रण मे विहारी ने कई दोहे लिखे है :—

(क) भौंहनु त्रासति मुँह नटति आँखिन सौं लपटाति ।
ऐंचि छुड़ावति करु इची आगे आवति जाति ।।

(ख) जदपि नाहिं नाहँ नहीं लगी वदन जक जाति ।
तदपि भौंहिं हाँसी भरिनु हाँसीयै ठहराति ।

(ग) लहि सूनैं घर करु गहत दिठा दिठी की की ईठि ।
गड़ी सुचित नाहीं काहि करति करि ललचौहीं दीठि ।।

(घ) नाक मोहीं नाही ककै नारि निहोरैं लेइ ।
छुवत ओठ विय आँगुरिनु विरी वदन प्यौ देइ ।

(८) विभ्रम—हाव वहाँ पर होता है जहाँ प्रियतम के अकस्मात आ जाने पर अथवा नायक के प्रेम से प्रभावित होने पर नायिका की विचित्र सी दशा हो जाती है और वह ऊटपटाग काम करने लगती है। विहारी मे केवल इसके एक दो उदाहरण मिलते है। नायक के अकस्मात् आ जाने पर दही विलौने वाली नायिका

की क्या दशा हो जाती है —

रही दहेंडी ढिग धरी भरी मथनियां वारि।
फेरति करि उलटी रइ नई विलोवनि हारि ॥

नायिका प्रियतम के पास जाना चाहती है। वह ठीक कपडे भी नहीं पहन सकी है —

चली अली कहि कौन पै बडो कौन को भाग।
उलटी कचुकि कुचनि पै कहै देति अनुराग ॥

(९) ललित —अगो के सौकुमार्य की अभिव्यक्ति ललित हाव नही जाती है। निम्नलिखित दोहे मे ललित हाव है :—

छिनकु चलति ठिठुकति छनकु भुज प्रियतम गल डारि।
चढी अटा देखति घटा बिज्जु छटा सी नारि ॥

यहाँ पर क्षण भर चलना और फिर ठिठक जाना अगो के सौकुमार्य को अभिव्यक्त करता है। सौकुमार्य के दूसरे वर्णन भी इसी ललित हाव के अन्तर्गत आते है। कहीं गुलाब की पँखुडी से शरीर पर खरौंच आने की बात कही गई है और कहीं उगली लग जाने से पैरो में छाले पड़ने की आशका व्यक्त की गई है; गुलाब के झामा घुमाने मे भी नाइन को संकोच ही होता है। यह सब ललित हाव के अन्दर ही आते हैं।

(१०) मद—सौभाग्य या यौवन के प्रभाव से जो एक गर्व उत्पन्न होता है उस का भी प्रभाव बाह्य चेष्टाओ पर अवश्य पड़ता है। ये चेष्टायें भी आकर्षण मे कारण होती है। इन गर्विता की चेष्टाओ को मद कहते है। प्रियतम के प्रेम के द्वारा उत्पन्न होने वाले मद का उदाहरण :—

कियौ जु चिबुक उठाइ कै कम्पित कर भरतार।
टेढी यै टेढी फिरति टेढे तिलक लिलार ॥

यौवन जन्य मद का उदाहरण :—

गदराने तन गोरटी ऐपन आड़ लिलार।
हूँठ्यो दैं इठलाइ दृग करै गवारि वार ॥

(११) विहृत —यदि बात करने का अवसर होते हुए भी अवरुद्ध कण्ठ के कारण अथवा सकोच से बात मुह से न निकले तो यहाँ पर विहृत हाव होता है। नायक प्रस्थान कर रहा है। नायिका का कण्ठ अवरुद्ध हो गया है। उसके मुह से शब्द नही निकलते। उसी का वर्णन कवि ने निम्नलिखित दोहे मे किया है —

ललनु चलनु सुनि चुपु रही, बोली आपुन ईठि।
राखौ गहि गाढै गरैं मनो गलगली ठीठि ॥

प्रस्थान काल में ही नहीं, परावर्तन काल मे भी नायिका के मुख से शब्द नही निकलते —

बिछुरे जिए सकोच इहिं बोलत बनत नबै न ।
दोऊ दौरि लगे हियैं किए लजौहैं नैन ।।

(११) नायिका की उद्दीप्त वियोग व्यथा भी अनुराग का सचार करने मे कारण बनती है। इस दशा को तपन हाव कहते हैं। विहारी ने कई स्थानो पर वियोग व्यथा का अतिरजित वर्णन किया है कतिपय उदाहरण लीजिये —

(क) जाति मरी बिछुरी धरी जल सफरी की रीति ।
खिनु खिनु होति खरी खरी धरी, जरी यह प्रीत ।।

(ख) प्रजरयौ आगि वियोग की बह्यो विलोचन नीर ।
आठौं याम हियौं रहै उड्यो उसास समीर ।।

(ग) ह्यां तै ह्यां ह्यां तै इहां नैकौ धरति न धीर ।
निसि दिन डाढी सी रहति वाढी गाढी पीर ।।

(घ) वैरिनै को साहस ककै बढै विरह की पीर ।।
दौरत ह्वै समुही सजी सरसिज सुरभि समीर ।।

यद्यपि नायिका की चेष्टायें भाव की व्यजिका होने के कारण अनुभाव ही कही जावेंगी तथापि वियोग व्यथा भी अलकृत करने वाली होती है। इस से भी शोभा बढ जाती है और इससे भी नायक के हृदय मे प्रेम का सचार होता है। अतएव इसे अलकारो के अन्दर भी लिया जा सकता है। इस अलकार को तपन हाव कहते हैं।

(१३) नायिका का अल्हड़पन भी आकर्षक होता है। इस अल्हड़पन को मौग्ध्य हाव कहते हैं। मुग्धता के कारण कभी कभी ये नायिकायें बड़ी विचित्र बातें करने लगती है जिससे सहृदय व्यक्ति का इनकी ओर स्वभावत आकर्षण हो जाता है। देखो विहारी की नायिका खद्योतो के विषय मे क्या कहती है —

बिरह जरी लखि जीगननु कह्यौ न उहि कै वार ।
अरी, आउ भजि भीतरी, वरसत आजु अगार ।

(१४) साहित्यदर्पणकार ने विक्षेप की परिभाषा लिखते हुए इसके अन्दर तीन बातें मानी हैं।

(क) आभूषणो की अर्ध रचना, (ख) वृथा इधर-उधर देखना और (ग) कुछ थोडा-थोडा रहस्य कथन। आभूषणो की अर्ध रचना का कोई स्पष्ट उदाहरण विहारी मे नहीं मिलता। किन्तु अस्पष्ट रूप मे एक-दो स्थानो पर इस ओर सकेत अवश्य किया गया है। प्रियतम के निकट होने पर वृथा इधर-उधर दृष्टि दौडाना और इसी प्रसग मे प्रियतम को भी देख लेना एक आनन्ददायक चेष्टा है। इसका वर्णन विहारी ने निम्नलिखित शब्दों मे किया है —

सबही त्यौं समुहाति छिनु, चलति सबनु दै पीठि ।
वाही त्यौं ठहराति यह, कविलनवी लौं दीठि ।।

यहाँ पर कविलनवी की उपमा बडी सुन्दर है। जिस प्रकार मन्त्र की कटोरी चोर को प्रकट कर देती है उसी प्रकार नायिका की दृष्टि भी उसके चित्त चोर को प्रकट कर देने मे समर्थ है। कुछ थोडे-थोडे रहस्य कथन का भी एक उदाहरण लीजिए —

ढोरी लाई सुमन की, कहि गोरी मुसकात।
थोरी थोरी सकुच सौं भोरी भोरी बात॥

(१५) किसी रमणीय वस्तु को देखकर जो चचलता उत्पन्न हो जाती है वह भी आकर्षणका कारण होती है। इस चचलता को कुतूहल कहते हैं। इसका एक उदाहरण —

उर लीनै अति चटपटी सुनि मुरली धुनि धाइ।
हौं निकसी हुलसी सु तौ गौ हुलसी हिय लाइ॥

(१६) हसित—कामदेव के आवेश से जो अकारण हँसी उत्पन्न हो जाती है उसे हसित कहते हैं —

मुँहु धोवति एड़ी घसति हसति अनगवति तीर।
धँसति न इन्दीवरनयनि कालिंदी कैं नीर॥

(१७) चकित—जब कही से अकस्मात् प्रियतम आ जावे तब जो भय और सम्भ्रम उत्पन्न हो जाता है उसे चकित हाव कहते हैं। एक नायिका हिंडोल झूल रही है। अकस्मात् नायक आ जाना है। उस समय का उसका भय और सम्भ्रम देखने योग्य है .—

हेरि हिंडोरै गगन तैं परी परी सी टूटि।
धरी धाइ पिय बीच हीं, करी खरी रस लूटि॥

(१८) प्रियतम के साथ क्रीडा करना केलि हाव कहलाता है। राधा ने कृष्ण की वशी चुरा कर रख ली है। कृष्ण वँशी माँगने आये हैं। उस समय राधा की केलिमयी चेष्टायें देखने योग्य हैं —

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं, भौंहनु हँसै, देन कहैं नटि जाइ॥

चोर निहचिनी खेल का भी अच्छा वर्णन है —

दोऊ चोर मिहीचनी खेलु न खेलि अघात।
दुरत हियैं लपटाइ कै, छुवत हियैं लपटात॥

होली का खेल भी मनोरम है —

जज्यौं उझकि झाँपति वदनु झुकति विहँसि सतराइ।
तत्यौं गुलाल मुठी झुठी झझकावत प्यौ जाइ॥

विश्वनाथ ने उपर्युक्त १८ अलकार ही माने है। हिन्दी मे कुछ आचार्यो ने बोधक हाव और माना है। जब नायिका नायक को सकेत स्थान इत्यादि का बोध

करावी है तब बोधक हाव कहा जाता है। बिहारी मे इसके दो एक उदाहरण मिलते है। जैसे —

लखि गुरुजन बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।
हरि सनमुख करि आरसी हियैं लगाई बाम॥

इसी प्रकार —

बिनती रति बिपरीत की करी परसि पिय पाइ।
हसि, अनबोलैं ही दियौ ऊतरु, दियौ बताइ॥

यहाँ पर दीपक धर करके विपरीत रति करने का बोध कराया गया है। अतएव यहा पर बोधक अलकार (हाव) है। इस प्रकार नायिकाओ के अलकारो के सभी उदाहरण बिहारी मे मिल जाते हैं।

उद्दीपन-विभाव

रस की निष्पत्ति मे कारण भूत दूसरे प्रकार के विभाव उद्दीपन कहलाते हैं। जिन कारणो से प्रेम इत्यादि भावनायें उद्दीप्त होती हैं उन्हें उद्दीपन कहते है। ये उद्दीपन अनेक प्रकार के हो सकते हैं। आलम्बन की चेष्टायें भी उद्दीपन हो सकती हैं, आलम्बन से सम्बन्ध रखने वाली कोई दूसरी वस्तु भी उद्दीपन हो सकती है और देश काल भी उद्दीपन हो सकता है। देश काल की परिस्थितियाँ प्राय. हमारे मन के भाव उद्दीप्त करने वाली हो जाती हैं। जब शीतल मन्द सुगन्ध पवन वह रहा हो, चादनी अपना रजतपट सारे विश्व मे तान रही हो ऐसे अवसर पर स्वभावत हृदय मे गुदगुदी उत्पन्न हो जाती है और हम चाहते हैं कि हम प्रियतम के सम्पर्क मे इस प्राकृतिक सौंदर्य का आनन्द लें। इसी प्रकार परिस्थितिया हमारे अन्दर क्रोध, उत्साह इत्यादि को भी उत्पन्न कर सकती हैं।

आलम्बन की चेष्टाओ का वर्णन नायिकाओ के अलकार के प्रसग मे किया जा चुका है। ये चेष्टायें नायको के मन मे रसोद्दीपन करती हैं। यदि नायिकाओ के मन मे रसोद्दीपन हो तो नायक की चेष्टायें उसमे उद्दीपन का काम करती हैं। किन्तु साहित्य-शास्त्रकारो ने नायिका की चेष्टाओ को अधिक महत्त्व दिया है। किन्तु जो सौन्दर्य नायिकाओ की चेष्टाओ मे होता है वह नायकों की चेष्टाओ क्यों नही हो सकता। बिहारी ने कतिपय दोहे नायक की चेष्टाओ के भी लिखे हैं। मे निलिखित दोहे मे भगवान् कृष्ण का हँसते हँसते सामने से निकल जाना नायिका के हृदय मे प्रेम जागृत करने मे कारण बना है —

मन तन कौं, निकसत, लसत हँसत हँसत, इत आइ।
दृग खजन गहि लै चल्यौ चितवनि चैंपु लगाइ॥

भगवान् कृष्ण की दूसरी चेष्टायें भी भावोद्दीपन करने वाली दिखलाई गई हैं —

भृकुटी मटकनि पीत पट चटक लटकती चाल।
चल चख चितवनि चोरि चितु लियौ बिहारीलाल॥

एक देहाती नायक की तम्बाकू पीने की चेष्टायें भी नायिका के लिए उद्दीपन हो गई हैं —

ओठु ऊँचै हाँसी भरी दृग भौंहनु की चाल।
मो मनु कहा न पी लियौ पियत तमाकू लाल ।।

चेष्टाओं के अतिरिक्त नायिकाओं के आभूषणों की शोभा भी उद्दीपन हो सकती है। नायिकाओं के आभूषणों का विस्तारपूर्वक परिचय पहले दिया जा चुका है। एक उदाहरण लीजिये :—

सालति है नटसाल सी क्यौं हूँ निकसति नाहिं।
मनमथ-नेजा-नोक सी खुभी खुभी जिय माँहि ।।

अपने प्रियतम की प्रत्येक वस्तु प्यारी होती है। प्रियतम की किसी भी वस्तु को देखकर स्वभावत उसका स्मरण आने लगता है। वियोग में वही वस्तु प्रियतम का प्रतिनिधित्व करती है और वही प्राणों का एक आलम्बन होती है :—

हसि उतारि हियतैं, दई तुमजु तिहिं दिना लाल।
राखति प्रान कपूर ज्यौं वहै चुहु टिनी-माल ।।

यहाँ पर घु घची की माला उद्दीपन है। नायक ने प्रेमपूर्वक पखा भेजा है। नायिका के लिए वही उद्दीपन का काम करता है :—

हितु करि तुम पठयौ, लगैं वा विजना की बाइ।
टली तपति तन की, तऊ चली पसीना न्हाइ।

यहाँ तो चुहुटिनी की माला और विजना से तपन मिट जाती है और प्राण की रक्षा होती है किन्तु यदि प्रियतम की वस्तु कष्टदायक भी हो तो भी प्रेम को उद्दीपन करने के कारण वह वस्तु आनन्ददायक ही होती है और उसका आदर भी स्वभावत बढ़ ही जाता है। एक नायिका आँखो की पीडा की परवाह न कर प्रियतम के द्वारा डाले हुए गुलाल को भी अपनी आँख से दूर नहीं करना चाहती .—

दियौ जु पिय लखि चखनु मैं खेलत फाग-खियालु।
बाढत हू अति पीर सुन काढत बनतु गुलालु ।।

एक दूसरी नायिका प्रियतम द्वारा खण्डित अधर को कितने आदर से देखती है यह भी देखिए :—

छिनकु उघारति, छिनु छुवति, राखति छिनकु छिपाइ।
सबु दिनु पिय खण्डित अधर दरपन देखत जाइ ।।

इतना ही क्यो एक नायिका तो नख-क्षत को स्वय खोट खोट कर उसे हरा रखने की चेष्टा करती है। कभी-कभी सकेत स्थान भी उद्दीपन का काम करता है —

फिरि फिरि बिलखी ह्वै लखति, फिर फिरि लेति उसासु।
साईं सिर कच-सेत लौं बीत्यौ चुनति कपासु ।।

देशकाल की परिस्थितियो का उद्दीपन के रूप मे वर्णन भी अत्यन्त महत्व

ए रहा है। इसका विवेचन विहारी के प्राकृतिक चित्रण के प्रसग मे किया जावेगा ही देखना चाहिये।

अनुभाव

जैसा कि पहले वतलाया जा चुका है रस का सर्व प्रथम विवेचन नाट्य के सग में हुआ था और इसको नाटच रस की सज्ञा भी प्राप्त हुई। वाद मे उसका नुकरण प्रवन्ध काव्य के क्षेत्र मे किया गया और मुक्तक के क्षेत्र मे उसका समावेश ौर भी वाद मे हुआ। नाटच मे सर्वाधिक महत्त्व अभिनय का ही है। किसी दूसरे भावो का अभिनय अनुभावो द्वारा ही किया जाता है। काव्य मे भी भाव कभी वशब्द-वाच्य होकर आस्वादन का कारण नही वनते। उनको अनुभाव वर्णन के ारा ही व्यक्त करना पडता है। ऐसी दशा मे रस शास्त्र मे अनुभाव का वहुत वडा हत्त्व है। अनुभाव की परिभाषा करते हुए नाटच-शास्त्रकार ने लिखा है·— अथानुभाव इति कस्मादुच्यते? यदयमनुभावयति नानार्थाभिनिष्पन्नो वागंग-त्वै कृतोऽभिनय इति। "अर्थात् इसका नाम अनुभाव क्यो पडा? (इस का नाम ड़ने का कारण यही है कि) नाना अर्थों से अभिनिष्पन्न होने वाला वाणी अग ौर सत्व के द्वारा किया हुआ यह अभिनय ही भाव को अनुभव का विषय वनाता ।। आशय यह है कि वाणी, अग और सत्व के द्वारा किया हुआ अभिनय ही अनुभाव के नाम से पुकारा जाता है। अभिनय भावो का ही होता है और वे भाव अनुभावो के माध्यम से व्यक्त किये जाते हैं, अनुभाव भावो को अनुभव का विषय वनाते हैं और भावों का अनुगमन करते हैं। इसीलिए इन्हे अनुभाव कहते हैं।

भरत मुनि ने अभिनय के चार भेद किए हैं—कायिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य। यही अनुभाव के भी भेद कहे जा सकते हैं। भरत मुनि ने इन अनुभावो का वर्णन करने के लिए कई एक अध्याय व्यय किये हैं। करणो और अगहारो का भी इसी प्रसंग मे वर्णन किया गया है और वाणी के भी अनेक भेदोप-भेद गिनाये गये हैं। किन्तु इनका उपयोग नाटच-शास्त्र मे ही सगत होता है। काव्य ास्त्र मे न तो उनका अधिक विस्तार सम्भव ही है और न उपयोगी ही। यही ारण है कि काव्य मे रस निरूपणपरक ग्रन्थो मे इनका वर्णन छूटता ही गया।

स्थायी भाव ही विभावादि अनुचरो से सम्पुष्ट होकर एक राजा के समान रस-रूपता को धारण करते हैं और यही सहृदय पाठको और दर्शको के आनन्द मे कारण वनते हैं। सहृदय पाठकों को स्थायी भाव का परिज्ञान अनुभाव के द्वारा ही होता है। ये भ्रूविक्षेप, कटाक्ष इत्यादि अनुभाव स्थायी भाव को प्रतीति-गोचर वना कर ही सम्पुष्टकरते है। नाटच की तो यह आत्मा हैं किन्तु काव्य मे भी अनुभव करने वाले रसिकों की अनुभव क्रिया मे ये ही साक्षात् कारण होते हैं इसलिए भी इन्हें अनुभाव कहा जाता है। स्त्रियो के शारीरिक लावण्य विकास से ले कर जितने भी छोटे-वडे अलकार हैं वे सव अनुभाव की सीमा मे आते हैं। (साहित्य दर्पण तीन-१४२) आश्रम की दृष्टि से ये अनुभाव होते हैं और प्रेमियो के अन्दर प्रेम को जागृत करने

मे कारण बन कर वे उद्दीपन भी हो जाते है। आशय यह है कि नायिका के भावाभिव्यजक अलकार नायिका की दृष्टि से अनुभाव होते है और नायक की दृष्टि से उद्दीपन। इनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

बिहारी ने कही-कही पर स्वतन्त्र रूप से भी अनुभावो का सुन्दर चित्रण किया है। देखो नायिका के दृष्टिपात से नायक की क्या दशा होती है :—

कहा लड़ैते दृग करे परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीतपटु कहूँ मुकटु बनमाल॥

दो परकीया नायिकायें किस प्रकार अनुभावो के द्वारा एक दूसरे के सामने खुलती है इसका भी चित्र देखिये —

आयौ मीतु बिदेस तैं काहू कह्यौ पुकारि।
सुनि हुलसी बिहसी हँसी दोऊ दुहुनु निहारि॥

कायिक अनुभाव का निम्नलिखित उदाहरण बहुत ही सुन्दर है :—

उड़ति गुड़ी लखि ललन की अँगना अँगना माँहि।
बौरी लौं दौरी फिरति छुअत छबीली छाँह॥

हर्ष का अनुभाव गति मे स्वभावत वक्रता उत्पन्न कर देता —

कियौ जु चिबुक उठाइ कै कम्पित कर भरतार।
टेढीयै टेढी फिरति टेढैं तिलक लिलार॥

अनुभावो मे नेत्रो का बहुत अधिक महत्त्व है। प्रेम प्रदर्शन मे सबसे अधिक उपयोग नेत्रो का ही किया जाता है। दम्पति घर मे है वे एक दूसरे से बातचीत करना चाहते हैं किन्तु घर मे सभी वयोवृद्ध तथा दूसरे लोग उपस्थित हैं। ऐसी दशा मे वे नेत्रो द्वारा किस प्रकार एक दूसरे से बातचीत करते है इसका भी एक नमूना देखिये —

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैननु ही सब बात॥

नायक के नेत्र सम्भोग की प्रार्थना करते हैं, नायिका के नेत्र "नटत" इन्कार करते हैं, इस पर नायक के नेत्र "रीझत" प्रसन्न हो जाते हैं, इन्कारी पर नायक की प्रसन्नता को देखकर नायिका के नेत्र "खिझत" खिसिया जाते हैं, थोडी देर की अप्रसन्नता के बाद दोनो के नेत्र "मिलत" मिल जाते हैं, इस पर नायक के नेत्र मुस्करा देते हैं, यह देखकर नायिका के नेत्र लज्जित हो जाते हैं। निस्सन्देह बातचीत का यह अनोखा ढग बिहारी की लेखनी से ही सम्भव है।

वाचिक अनुभावो मे एक ओर तो प्रेम प्रदर्शन परक दोहे आते है जिनमे या तो प्रत्यक्षरूप से नायक या नायिका एक दूसरे के समक्ष अपनी सम्भोगेच्छा को प्रकाशित करता है अथवा सदेश भेजा जाता है। इसका विस्तृत विवेचन यथास्थान किया गया है। दूसरी ओर खडिता नायिका की कटूक्तिया आती हैं इनका भी

नायिका भेद के अन्तर्गत धीरा इत्यादि के प्रसग मे विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। नायिकाओ का सामान्य स्वभाव होता है प्रेमी के पास अनलकृत न जाना। विहारी ने अधिकतर नायिकाओ के वनाव शृ गार का वर्णन किया है। यदि शृ गार करने मे भाव की अभिव्यक्ति हो तो उसे आहार्य अनुभाव कहते हैं। इसका भी परिचय पहले दिया जा चुका है।

सात्विक भाव

सात्विक भावों के विषय मे दो मत हैं। कुछ लोग सात्विक भावो को अनुभाव के अन्तर्गत रखते हैं और कुछ लोग सचारियो मे ले जाते हैं। भरतमुनि ने एक ओर सात्विक अभिनयो का वर्णन कर इनको अनुभाव की कोटि मे रखा है दूसरी ओर ४९ भावों मे इन्हें सन्निविष्ट कर सचारी भावो के समकक्ष स्थान दिया है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र से न्यूनाधिक रूप मे दोनो मतो की पुष्टि हो जाती है। सस्कृत के परवर्ती आचार्यों ने सात्विक भावों को अनुभाव की कोटि में रखते हुए भी इन्हें अनुभावों से कुछ भिन्न वतलाया है। (सा० द० ३—१४४) भानुदत्त ने सात्विको को अनुभाव न मानकर शारीर सचारी माना है। उन्ही का अनुकरण कर देव ने भी दो प्रकार के सचारी माने हैं शारीर और आन्तर। शारीर सचारियो मे सात्विक भाव रखे गये हैं और आन्तर सचारियो मे हर्ष निर्वेद इत्यादि ३३ सचारी। इन्ही के अनुकरण पर वाद में रसलीन ने व्यभिचारी भाव के दो भेद किये हैं, तन व्यभिचारी और मन व्यभिचारी। तन व्यभिचारी मे सात्विको को और मन व्यभिचारी मे निर्वेदादिको को रखा है। सम्भवत इसीलिए इन्हे सात्विक अनुभाव न कह कर सात्विक भाव की ही सज्ञा प्राप्त हो गई है।

जहा तक सात्विक भावो के अनुभाव या सचारी भाव मे सन्निविष्ट करने के औचित्य का प्रश्न है वहुमत इनको अनुभावो के अन्तर्गत रखने के ही पक्ष मे है। सस्कृत के प्रामाणिक महान् आचार्यों ने इन्हें अनुभाव ही माना है। पडितराज ने रस की परिभाषा देते हुए "अश्रुपातादिभिरनुभावै." लिखा है। यद्यपि अभिनवगुप्त इत्यादि आचार्यों ने परम्परानुरोध से भावो की सख्या ४९ मानी है तथापि सात्विको को अनुभाव के अन्तर्गत मानने का ही समर्थन किया है। विश्वनाथ महापात्र ने सम्भवत इसी सदेह के कारण भावो की पृथक् सज्ञा ही नही दी है। वस्तुत. सात्विको को भाव कहना ही उचित प्रतीत नही होता। भाव या मनोविकार आतरिक तत्व हैं जिनकी सत्ता सात्विक भावो से अभिव्यक्त होती है। अतएव सात्विक भाव दूसरे भावो का कार्य कहे जा सकते है स्वय भाव कभी नही हो सकते। कुछ लोगो ने (देखो रीतिकाल की भूमिका, डा० नगेन्द्र के द्वारा) सात्विको को भाव मानने मे यह कारण दिया है कि "सात्विक भाव भी रस के परिपाक मे शरीर मे सचरण कर स्थायी को पुष्ट करते ही हैं, इस रूप मे मन को व्यभिचारी का शरीर रूप मान लेने मे कोई हर्ज भी नही है।" किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो

शरीर में संचरण करना और स्थायी को पुष्ट करना ये दोनो हेतु ऐसे है जो नायिका के स्वभावज शोभा काति इत्यादि अलकारो और प्राय समस्त अनुभावो के विषय मे वैसे ही लागू हो जाते हैं जैसे सात्विको के विषय मे। किन्तु इनको भाव न कहकर अनुभाव ही कहा जाता है क्योकि वे भाव के पीछे आने वाले और भाव को अनुभव गोचर बनाने वाले होते हैं। नाट्यशास्त्रकार ने लिखा है कि सात्विको को भाव इसलिए माना जाता है कि नाट्य मे सुख और दु ख का अभिनग ऐसे व्यक्ति करते हैं जो स्वय सुखी या दुखी नही होते। वे लोक के सुख और दु.ख को उन्ही के समान अश्रुपातादि द्वारा व्यक्त किया करते हैं। आशय यह है कि लोकगत भावो या मनोविकारो की सत्ता नटो के शरीर तक ही सीमित होती है उनके मन पर उनका कोई प्रभाव नही पडता। भरतमुनि के कथन से दो बातें स्पष्ट हो जाती है—सात्विको को हम भाव भले ही कहें सचारी मनोविकार नही कह सकते। दूसरी बात यह है कि सात्विको की भावरूपता नाट्य मे कुछ अ शो तक भले ही सगत हो काव्य मे उनको किसी अ ंश मे भी भाव नहीं कहा जा मकता। अतएव सात्विको को भाव न कह कर अनुभाव ही मानना चाहिये।

बिहारी सतसई में प्रत्येक सात्विक भाव के लिए एक-दो उदाहरण मिल जाते हैं। नीचे कतिपय उदाहरण दिये जाते है —

चकी जकी सी ह्वै रही बूझैं बोलति नीठि।
कहूँ दीठि लागि, लगि कै काहू की डीठि॥

यहा पर स्तम्भ सात्विक है। इस प्रकार —

(अ) पलन चलैं जकि सी रही, थकि सी रही उसास।
अबहीं तनु रितयौ कहौ मनु पठयौ किहिं पास॥
(आ) रही अचल सी ह्वै है मनौ लिखि चित्र की आहि।
तजैं लाज, डरु लोक कौ, कहौ बिलोकत काहि॥

ये नायिकागत स्तम्भ के उदाहरण हैं। नायकगत स्तम्भ के भी एक-दो उदाहरण लीजिये :—

(अ) चलित ललित, श्रम-स्वेदकन कलित अरुन मुख तैन।
बन-बिहार थाकी तरुनि खरे थकाये नैन।
(आ) दीठ्यौ दै बोलति, हँसति पोढ़ बिलास अपोढ़।
त्यौं-त्यौं चलत न पिय-नयन छकये छकी नबोढ़॥

प्रथम दोहे मे नायिका के मुख की अरुणिमा और स्वेद बिन्दु उद्दीपन हैं तथा नायक का स्तम्भ सात्विक है। इसी प्रकार द्वितीय दोहे मे नायिका की प्रौढ चेष्टायें उद्दीपन हैं और नायक का स्तम्भ सात्विक है।

रहौ गुही बेनी, लखे गुहिबे के त्यौनार।
लागे नीर चुचान जे नीठि सुकाए बार॥

यहाँ पर उभय (नायक-नायिका) गत स्वेद सात्विक है। केवल नायिका-

गत स्वेद सात्विक के उदाहरण लीजिए—

(अ) नैंक उतै उठि बैठिये कहा रहे गहि गेहु।
छुटी जाति नह-दी छिनक मेंहदी सूकन देहु ॥

(आ) मोसौं मिलवति चातुरी तूँ नहिं मानति मेउ।
कहे देव यह प्रगट ही प्रकट्यौ पूस पसेउ ॥

(इ) हितुकरि तुम पठ्यो लगैं वा विजना की बाइ।
टली तर्पात तन की तऊ चली पसीना न्हाइ ॥

रोमान्च के लिए अधिकतर कवियो ने मौलश्री की उपमा दी है। विहारी ने भी इस परम्परा का पूर्ण रूप से पालन किया है।

दो-एक उदाहरण —

मैं यह तोही मैं लखी भगति अपूरब बाल।
लहि प्रसाद माला जु भौ तनु कदम्ब की माल ॥

यहाँ पर नायिका को पुजारी के प्रति रति के कारण रोमाच सात्विक हो गया है।

इसी प्रकार. —

पहिरत हीं गोरैं गरैं यौं दौरी दुति, लाल।
मनौ परसि पुलकित भई बौलसिरी की माल ॥

निम्नलिखित दोहे मे केवल रोमाच सात्विक का वर्णन किया गया है —

रहि मुंहु फेरि कि हेरि इत, हित समुहौ चितु नारि।
डीठि परस उठि पीठि के पुलके कहैं पुकारि ॥

स्वर भग का भी एक उदाहरण विहारी ने लिखा है —

सुरति न ताल न तान की उठ्यो न सुर ठहराइ।
ऐरी रागु विगारिगौ बैरी बोलु सुनाइ ॥

कम्प सात्विक के नायिकागत होने का उदाहरण —

कारे बरन डरावने कत आवत इहिं गेह।
कै वा लखी सखी लखैं लगै थरथरी देह ॥

एक दूसरा उदाहरण —

साहस करि कुंजनि गई लख्यौ न नन्द किसोर।
दीप शिखा सी थरहरी लगैं बयार झकोर ॥

कम्प सात्विक के नायक गत होने का उदाहरण —

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कम्पि किसोरी दरसि कै खरैं लजाने लाल ॥

विहारी ने वैवर्ण्य का वर्णन प्रतिनायिकाओ के लिए किया है —

तीज परब सौतिनु सजे भूषन वसन सरीर।
सबै मर गजे मुँह करीं इहीं मरगजैं चीर ॥

इसी प्रकार सम्भावित वैवर्ण्य का वर्णन :—

फूली फाली फूलसी फिरति जु बिमल बिकास ।।
भोर तरैयाँ होहु तें चलत तोहि पिय पास ।

अश्रुओ का वर्णन बिहारी ने कई दोहो मे किया है। यहाँ पर एक-दो उदाहरण दिए जाते हैं :—

नेहु न नैननुको कछू उपजी बड़ी बलाइ ।
नीर-भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाई ।।

यहाँ पर औत्सुक्य के साथ सन्ताप का विपरिणाम अश्रु हैं। निम्नलिखित दोहे मे अश्रु सन्ताप मात्र से उद्भूत हुए हैं —

स्यौं बिजुरी मनु मेंह आनि इहाँ विरहा धरे ।
आठौहु जाम अछेह दृग जु बरत बरसत रहत ।।

स्मृति से अश्रु —

स्याम सुरति करि राधिका, रुकति तरनिजा तीरु ।
अंसुवनु करति तरौंसकौ खिनकु खरौंहौं नीर ।।

निम्नलिखित दोहे मे अश्रुओ के मार्ग का सुन्दर वर्णन है —

पलनु प्रगटि बरुनी नु बढि नहिं कपोल ठहरात ।
अंसुवा परि छतिया छिनकु छनछनाइ छिपि जात ।।

आसुओ के निरन्तर भरे रहने के लिए भी कितनी सुन्दर उपमा दी गई है —

हरि छवि जल जब तैं परे तब ते छिनु बिछुरैं न ।
भरत ढरत बूड़त तरत रहत घरी लौं नैंन ।।

प्रलय (मूर्छा) का भी एक-दो दोहो में वर्णन किया गया है .—

(अ) मरी डरी कि टरी बिथा कहा खरी चलि चाहि ।
रही कराहि कराहि अति अब मुँह आहि न आहि ।।

(आ) कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल ।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पट कहूँ मुकुट बनमाल ।।

प्रथम दोहे मे नायिका की मूर्च्छा का वर्णन है और दूसरे मे नायक की।

कही कही एक-एक दोहे मे कई-कई सात्विको का समावेश हो गया है .—

इहिं बसन्त न खरी अरी गरम न सीतल बात ।
कहि क्यौं झलके देखियत पुलक पसीजे गात ।।

यहाँ पर रोमाच और स्वेद का वर्णन है।

गिरै कपि कछु, कछु रहे कर पसीजि लपटाइ ।
लैयौ मुठी गुलाल भरि छुटत झुठी ह्वै जाइ ।।

यहाँ पर कम्प और स्वेद का वर्णन है।

ध्यान आनि ढिग प्रानपति रहति मुदित दिन रात ।
पलकु कपति पुलकति पलकु पलकु पसीजति जाति ।।

यहाँ पर कम्प रोमाच और स्वेद का एक साथ वर्णन किया गया है।

ये विभाव और अनुभाव भरत मुनि तथा धनजय के अनुसार लोक स्वभाव प्रसिद्ध होते हैं और भावो की अभिव्यजना मे कारण बनते हैं। अभिव्यग्य भाव ही होते हैं। इन विभाव और अनुभावो को लोक-व्यवस्था के अनुसार भावाभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त किया जाता है। बिहारी के अनुसार इनका यहाँ पर सक्षिप्त परिचय दिया गया है।

भाव

रस सिद्धान्त मे सर्वाधिक महत्त्व भावो का ही है। विभाव और अनुभाव साधक होते हैं और भाव साध्य। हमारी चित्त-वृत्तियाँ प्रारम्भ मे निर्लेप होती हैं किन्तु जैसे जैसे जगत् के बाह्य सवेदनो का हमारे अन्त करणो पर प्रभाव पड़ता जाता है उनमें विकार उत्पन्न होने लगता है। इसी विकार को भाव कहते हैं। जब अनेक प्रकार की परिस्थितियाँ हमारे सामने आती हैं तब उनके सम्वेदनो से हमारे अन्त. करणो मे तदनुकूल परिवर्तन हो जाता है। इस परिवर्तन का प्रभाव केवल अन्त-करण तक ही सीमित नही रहता अपितु सारे शरीर पर इसका प्रभाव पडता है और तद्भावानुकूल प्रयत्न भी आविर्भूत हो जाते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी मनोविकार की अनुभूति मे एक ओर परिस्थितियाँ कारण होती हैं दूसरी ओर उनके प्रभाव से शारीरिक प्रयत्न उत्पन्न हो जाते हैं और शरीर की स्थिति परिवर्तित हो जाती है। यह तो लोक की बात हुई। कवि हमारे मनोविकार को उत्तेजित कर आस्वादन के योग्य बनाने के लिए उसी प्रकार की परिस्थिति तथा प्रभाव की उद्भावना करता है जो लोक मे उस प्रकार के मनोविकार को जागृत करने मे कारण होते है। परिस्थितियो तथा तदन्तर्गत व्यक्तियो को विभाव की संज्ञा प्रदान की जाती है। मनोविकार-जन्य प्रभावो और प्रयत्नो को अनुभाव कहा जाता है और स्वय मनोविकार को भाव के नाम से पुकारा जाता है।

भरत मुनि ने भाव के नामकरण का कारण लिखते हुए लिखा है कि जिस प्रकार कोई द्रव्य किसी सुगन्ध इत्यादि से भावित किया जाता है अर्थात् बसाया जाता है और वह द्रव्य तत्सुगन्धिमय हो जाता है उसी प्रकार हमारे अनिर्लिप्त अन्त करण भी मनोविकार विशेष के द्वारा भावित या वासित किए जाते है, इसी लिए इन्हे भाव कहते हैं। ये भाव अनेक प्रकार के होते हैं, कुछ तो ऐसे होते हैं जो अल्प काल के लिए हमारे अन्त करणो को प्रभावित कर चलते बनते हैं, कुछ भाव स्थिरता को प्राप्त कर लेते हैं, कुछ भाव स्वतन्त्र होते है, कुछ कई मनोविकारो का सघात रूप होते हैं, कुछ मनोविकार पोषक होते है और कुछ पोष्य। साहित्य शास्त्र मे इन सभी प्रकार के मनोविकारो को भाव शब्द से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार हम भावो या मनोविकारो को शुद्ध, मिश्र, मन्द, तीव्र, अस्थायी, स्थायी, आदि अनेक भागो मे विभाजित कर सकते है। जो मनोविकार कई दूसरे मनोविकारो द्वारा पोषित होकर स्थायित्व धारण करने की क्षमता रखते है उन्हें मनोवृत्ति या स्थायी

भाव की संज्ञा प्रदान की जाती है और जो मनोविकार मनोवृत्ति के पोषक हो कर आते हैं तथा स्वतन्त्र (मिश्रण रहित) होते है उन्हें मनोविकार मात्र कहा जाता है तथा साहित्य के आचार्यों की भाषा मे उन्हें व्यभिचारी भाव या संचारी भाव कहते है। नाट्य शास्त्र मे व्यभिचारी शब्द की व्युत्पत्ति के प्रसग मे लिखा है—"वि० अभि० यह दो उपसर्ग है तथा "चर" यह गमनार्थक धातु है। "वि" का अर्थ है विविध प्रकार से, और "अभि" का अर्थ है अभिमुख। इस प्रकार व्यभिचारी शब्द का व्युत्पत्ति-लम्य अर्थ हुआ जो विविध रूप मे अभिमुख होकर रसो को प्राप्त करावें। यह व्यभिचारो भाव किसी रस को उसी प्रकार प्राप्त कराते हैं जिस प्रकार सूर्य किसी दिन या नक्षत्र को प्राप्त कराता है।"

नाट्य-शास्त्र के अनुसार भावो की सख्या ४२ है जिनमे ३३ सचारी, ८ स्थायी और ८ सात्विक भाव माने जाते हैं। सात्विको के विपय मे कहा जा चुका है कि ये अनुभाव अधिक है और भाव कम। वस्तुत. इनको भाव कहना ही अधिक समीचीन ज्ञात नही होता। शेप ४२ भावो को ज्यो का त्यो परवर्ती आचार्यों ने मान लिया। इस सख्या मे मतभेद उत्पन्न ही नही हुआ। केवल रस-तरगिणी मे छल को पृथक् सचारी मान कर सचारियो की सख्या ३४ करने की चेष्टा की गई जिसका केवल देव ने अपने "भाव विलास" मे अनुसरण किया। आचार्य शुक्ल ने छल को "अवहित्थ" अथवा" भाव गोपन" के अन्दर दिखला कर उसका खण्डन किया है। वास्तव मे देव ने ही अपनी परवर्ती रचना "शब्द रसायन" मे केवल ३३ ही सचारी माने है इस प्रकार देव ने स्वय ही उस त्रुटि को सुधार लिया था। इस प्रकार सचारियो की सख्या केवल ३३ ही सर्वसम्मति से मानी जाती है। जब हम सचारियो की सख्या का निर्धारण करते है तव उसका अर्थ होता है केवल सचारी अर्थात् हम सचारी भाव उन्ही को कहते है जिनमे स्थायी भाव बनने की क्षमता नही होती। जिनमें स्थायी भाव बनने की क्षमता विद्यमान है वे भी सचारी हो सकते हैं। इस प्रकार सचारियो की ठीक सख्या ४२ है ३३ नहीं। इन्ही ४२ सचारियो मे केवल ८ को (और बाद मे ६ को) स्थायी भाव का पद प्राप्त हुआ। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भावो की सख्या का पूर्ण निर्धारण नही किया जा सकता। जिस प्रकार लौकिक सम्वेदन अनन्त हैं उसी प्रकार मनोविकार भी अनन्त ही हैं। भावों की सख्या परम्परानुरोध से ही चलती है और इस विपय मे मुनि का मत ही अनुशासन की भाँति स्वीकृत किया जाता है।

मानव ध्वनि

जिस प्रकार कपूर, शक्कर, मिर्च इत्यादि अनेक पदार्थों से बने हुए पेंग मे एक सामूहिक रस की निष्पत्ति हो जाती है उसी प्रकार अनेक सचारियो से पुष्ट होकर स्थायी भाव रस रूपता को धारण करते हैं किन्तु जिस प्रकार कभी-कभी उक्त द्रव्यो से बने हुए पेंग मे किसी एक वस्तु की प्रधानता हो जाती है और तब हमें अन्य द्रव्यो की अपेक्षा उसी एक वस्तु का आस्वादन होता है उसी प्रकार स्थायी

के साथ कई सचारियो के सयोग से निष्पन्न आस्वाद में कभी-कभी किसी एक सचारी की प्रधानता हो जाती है। तब आस्वादन का पर्यवसान उसी एक भाव मे हो जाता है। हम उसे उस मचारी) भाव की ध्वनि कहने लगते हैं। बिहारी ने भी इस प्रकार की भावध्वनियो के कई एक दोहे लिखे हैं। यहा पर उनका सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

(१) निर्वेद—यहा पर तत्वज्ञान, आपत्ति, ईर्ष्या अथवा ऐसे ही किसी अन्य कारण से आत्म-गर्हणा की भावना जागृत हो जाती है उसे निर्वेद कहते है।

उदाहरण —

भजन कह्यौ, तातैं भज्यौ, भज्यौ न एकौ बार ॥
दूरि भजन जातैं कह्यौ, सो तैं भज्यौ गवार ॥

यहा तत्वज्ञानसे निर्वेद हुआ है।

(२) ग्लानि—ग्लानि शब्द का सामान्य अर्थ है हर्ष-क्षय तथा उससे होने वाला बल-क्षय।

पडितराज ने लिखा है कि आधि-व्याधि से बल हानि के कारण जो दुख होता है और उससे वैवर्ण्य, शिथिलागता, दिग्भ्रम इत्यादि अनुभव उत्पन्न हो जाते है उस दु ख को ग्लानि कहते हैं। साहित्यदर्पण मे रति और आयास इत्यादि से उत्पन्न होने वाले दु ख को ग्लानि कहा गया है। दोनो आचार्यों के उदाहरण वियोगजन्य दु खपरक हैं। रति इत्यादि से उत्पन्न शिथिलागता को ग्लानि कहने पर उसका श्रम से भेद ही क्या रह जायेगा ? अतएव वियोग इत्यादि कारणो से चित्त मे जो एव प्रकार का वेदनामय निर्वेद होता है और जिससे शिथिलांगता, कृशता इत्यादि अनु भाव उत्पन्न हो जाते है उसे ही ग्लानि कहना चाहिये। पडितराज ने लिखा है वि बहुत से आचार्य बल-क्षय को ग्लानि कहते है, किन्तु बलक्षय कोई मनोविकार नह है। अतएव बलक्षय के साथ कार्श्य इत्यादि को उत्पन्न करने वाले दु ख को ही ग्लानि सज्ञा प्राप्त होती है।

ग्लानि का उदाहरण —

करके मीड़े कुसुम लौं गई विरह कुम्हिलाइ।
सदा समीपनु सखिनुहू नीठि पिछानी जाइ ॥

यहा पर प्रिय-विरह विभाव है। कुम्हिलाना यहा पर अनुभाव है। इन पुष्ट हो कर ग्लानि सचारी आस्वाद का विषय बन गया है। इसी प्रकार न पहिचा जाने से अभिव्यक्त होने वाली कृशता और वैवर्ण्य इत्यादि भी अनुभाव हैं।

इसी प्रकार —

करी विरह ऐसी वऊ गैल न छाड़तु नीचु।
दीनैंहू चसमा चखनु चाहै लहै न मीचु ॥

यहा पर भी विरह ही विभाव है।

(३) शका—जहा पर किसी अपराध के कारण अनिष्ट की आशंका उत्पन्न हो जावे उसे शका व्यभिचारी कहते हैं। इस मे बार-बार इधर उधर देखना, शीघ्रता पूर्वक छिपने का प्रयत्न करना इत्यादि अनुभाव होते है।

उदाहरण —

अरी खरी सटपट परी बिधु आधैं मग हेरि।
सग लगैं मधुपनु लई भागनु गली अँधेरि॥

यहा पर पूर्वार्ध मे नायिका का अभिसरण अपराध है जिससे लोकापवाद की शका उत्पन्न हो गई है। सटपटाना उसका अनुभाव है।

(४) असूया—ईर्ष्या को कहते हैं। यह दो कारणो से उत्पन्न होती है—परापराध से और परोत्कर्ष को देखकर। इस मे दूसरे की निन्दा और दु:ख, मालिन्य इत्यादि अनुभाव होते हैं।

परापराध से असूया का उदाहरण —

सोवत सपनैं स्यामघनु मिलिहिलि हरत वियोगु।
तबहीं टरि कितहू गई नींदौ नींदनु जोगु॥

यहा पर निन्दा के अपराध से उसके प्रति असूया उत्पन्न हुई है और उसकी निन्दा अनुभाव है। परोत्कर्ष से असूया का उदाहरण —

तीज परब सौतिनु सजे भूषण बसन सरीर।
सबै मरगजे मुँह करीं इही मरगजे चीर॥

यहा पर नायिका के सौभाग्य के कारण सौतो मे असूया उत्पन्न हुई है जिसका अनुभाव मुख-मालिन्य है, यहा सौतो का मुख-मालिन्य ही आस्वाद का कारण है।

(५) मद—मदिरा के उपयोग से उत्पन्न होने वाला सम्मोह और आनन्द नामक मनोविकार मद कहलाता है। इसके अनेक अनुभाव विभिन्न प्रकृति के पुरुषो के भेद से बतलाये गये हैं। किन्तु बिहारी ने मध्यम प्रकृति के अनुसार हसना, उन्मत्तवत् देखना, झुकना इत्यादि चेष्टाओ का वर्णन किया है। सोने का वर्णन केवल अभिनय मे ही चमत्कारोत्पादक हो सकता है और नीच प्रकृति के पुरुषो मे सुलभ गाली देना, बकना इत्यादि बिहारी की सात्विक कला के प्रतिकूल है। अतएव मध्यम प्रकृति के पुरुषो मे प्राप्त होने वाला हसना, गाना, झुकना इत्यादि चेष्टायें ही बिहारी के काव्य मे स्वीकृत की गई हैं। उदाहरण के लिये —

हँसि हँसि हेरति नवल तिय मद के मद उमदाति।
बलकि बलकि बोलति वचन ललकि ललकि लपटाति॥

इसी प्रकार :—

मानु तमासौ करि रही बिवस बारुनी सेइ।
झुकति हँसति हँसि हँसि झुकति झुकि झुकि हँसि हँसि देइ॥

यहा पर मादक द्रव्य सेवन विभाव है। हँसना, देखना, बोलना इत्यादि अनु-

भाव है। यहा पर स्वभावोक्ति अलकार मद की व्यंजना करता है। अतएव मद की ही प्रधानता है।

(६) श्रम—किसी शारीरिक क्रिया की अधिकता से उत्पन्न होता है। इसके अनुभाव जभाना, शरीर का टूटना, गति का अभाव, नेत्र का आधा खुला रह जाना, तीव्र श्वास लेना इत्यादि हैं।

इसके उदाहरण —

लखि अँखियनु अधखुलिनु आँगु मोरि अँगिराइ।
अधिक उठि, लेटति, लटकि, आलस-भरी जम्हाइ॥

दूसरा उदाहरण :—

खलित बचन अधखुलित दृग, ललित स्वेद-कन-ज्योति।
अरुन बदन छवि मदन की खरी छबीली होति॥

यहा पर सुरत मे सलग्नता विभाव है। वचन-स्खलन इत्यादि अनुभाव हैं।

तीसरा उदाहरण —

रँगी-सुरत-रँग पिय हियैं लगी जगी सब राति।
पैंड पैंड पर ठठुकि कै ऐंड भरी ऐंडाति॥

यहा पर सुरत मे निरन्तर लगे रहना और रात भर जागना विभाव है। आधी खुली हुई आखो से देखना, अग मरोडना, जभाना, ठिठुकना इत्यादि अनुभाव हैं।

(७) आलस्य—गर्भ, व्याधिश्रम इत्यादि से जो अत्यन्त तृप्ति हो जाती है जिस से काम मे लगने से अरुचि हो जाती है उसे आलस्य कहते हैं।

उदाहरण —

दृग थरकौंहैं अधखुले देह थकौंहैं ढार।
सुरत सुखित सी देखियत दुखित गरभ कैं भार॥

यहा पर गर्भ का भार विभाव है, नेत्रो की चचलता, देह की थकावट इत्यादि अनुभाव हैं। इसके अनुभाव श्रम के जैसे ही होते हैं। यहा पर श्रम के अनुभावो की अधिक आवश्यकता है। किन्तु गर्भ के विभाव से श्रम का निराकरण हो जाता है। रसगगाधरकार ने लिखा है कि श्रमजन्य आलस्य मे श्रम की पोषकता अनिवार्य होती है।

(८) दैन्य—इस के विभाव हैं चित्त की अधिक उत्कण्ठा, मन का सताप, दुर्गति इत्यादि। इस से ओज की हीनता, मलिनता इत्यादि अनुभाव उत्पन्न होते हैं।

उदाहरण —

हरि कीजति विनती यहै तुम सौं बार हजार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यो रह्यौ पर्‌यौ रहौं दरबार॥

यहा पर आक्षेप-गम्य दैहिक, दैविक, भौतिक ताप विभाव है और दीन वचन अनुभाव हैं।

इसी प्रकार :—

बाल-बेलि सूखी सुखद इहिं रूखी रुख-घाम ।
फेरि डहडही कीजियै सुरस सींचि घनस्याम ।।

यहा पर नायक की रूखी रुख विभाव है और सूखना तथा मिलने की प्रार्थना करना अनुभाव है।

(९) चिन्ता—इष्ट की अप्राप्ति तथा अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाला और वैवर्ण्य, हतप्रभता इत्यादि को उत्पन्न करने वाला मनोविकार चिन्ता के नाम से पुकारा जाता है।

जैसे :—

रहिहैं चंचल प्रान ए कहि कौन की अगोट।
ललन चलन की चित धरी कलन पलन की ओट ।।

यहा पर प्रियतम के वियोग रूप अनिष्ट की प्राप्ति से कल न पडना, वैवर्ण्य इत्यादि अनुभाव है। इससे प्राणो की रक्षा की चिन्ता अनुभाव है।

दूसरा उदाहरण :—

देखत बुरै कपूर ज्यौं उपै जाइ जिन लाल।
छिन छिन जाति परी खरी छीन छबीली बाल ।।

यहाँ पर इष्ट (नायक) की अप्राप्ति विभाव है। प्रतिक्षण क्षीण होना अनुभाव है। इन से पुष्ट होकर नायिका की रक्षा रूप चिन्ता ध्वनित होती है।

(१०) मोह—जहाँ पर किसी कारण वास्तविकता का अवधारण न किया जा सके उसे मोह कहते हैं। जैसे —

रही पकरि पाटी सु रिस भरे भौंह, चितु, नैन।
लखि सपनैं पिय मान-रत जगतहु लगत हियैं न ।।

यहाँ पर स्वप्न-दर्शन विभाव है। पाटी पकडे रहना, नेत्र चढ़ाना, हृदय मे लगाना इत्यादि अनुभाव हैं।

(११) स्मृति—संस्कार-विशेष से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं। जैसे —

जहाँ जहाँ ठाढौ लख्यौ स्यामु सुभग-सिरमौरु।
बिनहूँ उन छिनु गहि रहतु दृगनु अजौं वह ठौरु ।।

यहाँ पर कृष्ण के साहचर्य के सस्कार से स्मृति उत्पन्न हुई है। इसमे विभाव है कृष्ण का वियोग। स्थानो की ओर दृष्टि लगाये रहना, शरीर की निश्चलता इत्यादि अनुभाव है। यद्यपि यहा पर रस-सामग्री भी विद्यमान है— कृष्ण आलम्बन हैं, स्मारक स्थान उद्दीपन है, दृष्टि लगाये रहना इत्यादि अनुभाव है, स्मृति सचारी भाव है। किन्तु फिर भी स्मृति इतनी अधिक प्रधान हो गई है कि स्मृति ध्वनि

कहना ही उचित प्रतीत होता है। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहो मे भी स्मृति है —

(अ) चितवनि भोरे भाइ की, गोरैं मुँह मुसकानि।
लगति लटकि आली गरैं चित खटकति नित आनि ।।

(आ) खिन खिन मैं खटकति सुहिय मरी भीर मैं जात।
कहि जु चली अनहीं चितै ओठनु हीं बिच बात ।।

(१२) धृति—ऐसे मनोविकार को कहते हैं जिस मे भय, शोक इत्यादि किसी लौकिक कारण से विचलित न होने का भाव पाया जाये। जैसे —

नैन लगे तिहिं लगनि जु, न छुटैं छुटैंहू प्रान।
काम न आवत एकहू तेरे सैंक सयान ।।

यहा पर नेत्रो का लगना विभाव है और आक्षेप-गम्य आकृति की दृढ़ता अनुभाव है।

(१३) व्रीडा—यह स्त्रियो मे पुरुष-मुखावलोकन इत्यादि से उत्पन्न होती है और पुरुषों मे प्रतिज्ञा-भग, पराभव इत्यादि से होती है। स्त्रियो मे लज्जा स्वभाव-सिद्ध है तथापि कभी-कभी कारण-विशेष से भी इस की उत्पत्ति सम्भव है और पुरुषो का प्रतिज्ञा-भग कारण स्त्रियो मे भी सम्भव है। उदाहरण —

सटपटाति सैं ससिमुखी मुख घूँघट पटु ढाँकि।
पावक-झर सी झमकि कै गई झरोखा झाँकि ।।

यहाँ पर नायक का अवलोकन विभाव है। सटपटाना, घू घट मे मु ह छिपा कर तत्काल अन्दर को भाग जाना इत्यादि अनुभाव है।

इसी प्रकार प्रतिज्ञाभग से व्रीडा का उदाहरण '—

बिछुरैं जिए सकोच इहिं बोलत बनत न बैन।
दोऊ दौरि लगे हियैं किए लजौंहैं नैन ।।

(१४) चपलता—मनोवृत्ति की अस्थिरता को कहते हैं। इस मे राग, द्वेष, ईर्ष्या, अमर्ष इत्यादि अनेक कारण हो सकते हैं। इसके अनुभाव शरीर की अस्थिरता, परुषभाषण इत्यादि हो सकते है।

उदाहरण —

समरस समर-सकोच-बस बिवस न ठिक ठहराइ।
फिरि फिरि उझकति, फिरि दुरति दुरि दुरि उझकति जाइ ।।

यहाँ पर राग और सकोच की समानता विभाव है जिससे उत्पन्न होने वाली शरीर की अस्थिरता अनुभाव है।

(१५) हर्ष—इष्ट-प्राप्ति इत्यादि से जो विशेष सुख मिलता है उसे हर्ष कहते हैं। इस मे मुख की प्रसन्नता, गद्गदस्वर, रोमाच इत्यादि अनुभाव होते हैं। जैसे —

छला छबीले लाल कौ नवल नेह लहि नारि।
चूँबति, चाहति लाइ उर, पहिरति, धरति उतारि ।।

यहाँ पर प्रियतम का छल्ला मिलना विभाव है, उसे चूमना, देखना, हृदय मे लगाना इत्यादि अनुभाव उत्पन्न होते है। इसी प्रकार —

बिय सौतिनु देखत दई अपने हिय तैं लाल।
फिरति सबनु मैं डहडही उही मरगजी माल।।

) आवेग—नाट्य शास्त्र मे आवेग ८ प्रकार का माना गया है। किन्तु भावध्वनि मे दो ही प्रकार का अधिक उत्तम माना जा सकता है—(१) अप्रिय का अधिगम और (२) प्रिय का अधिगम। बिहारी मे भी इन्ही दो आवेग ध्वनियो के उदाहरण मिलते हैं। रस-गंगाधरकार ने भी अनर्थातिशय से उत्पन्न होने वाले सम्भ्रम को ही आवेगसंज्ञा प्रदान की है। बिहारी ने शृंगार रस का ही विशेष विस्तार किया है। शृंगार रस के अनुकूल यही आवेग होता है। उदाहरण —

ह्याँ तैं ह्वाँ ह्वाँ तैं इहाँ नैकौ धरति न धीर।
निसिदिन ठाढ़ी सी रहति बाढ़ी गाढ़ी पीर।।

यहाँ पर वियोग की परिस्थिति विभाव है और एक स्थान पर स्थिर न रहना अनुभाव है। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहो मे भी आवेग ध्वनि हैं —

इत तैं उत उत तै इतै छिनु न कहूँ ठहराति।
जक न परति, चकरी भई फिरि आवति फिरि जाति।।

यहाँ पर "जक न परति" कहने से चपलता का निराकरण हो जाता है। इसी प्रकार —

न जक धरत हरि हिय धरैं, नाजुक कमला बाल।
भजत, भार-भय-भीत ह्वै, घनु, चन्दनु, वनमाल।।

इष्ट-प्राप्तिजन्य आवेग का उदाहरण —

उड़ति गुड़ी लखि ललन की अँगना अँगना माँहि।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह।।

(१७) जड़ता—इसके विभाव हैं—चिन्ता, उत्कण्ठा, भय, विरह, इष्ट और अनिष्ट का वर्णन तथा श्रवण इत्यादि। इस का सामान्य लक्षण है कार्य का ज्ञान न होना, मौन हो जाना। विस्मरण इत्यादि इस के अनुभाव हैं। उदाहरण —

चकी चकी सी ह्वै रही बूझैं बोलति नीठि।
कहूँ दीठि लागी, लगी कै काहू की डीठि।।

यहाँ पर प्रिय दर्शन विभाव है। स्तम्भ, उत्तर न देना इत्यादि अनुभाव हैं। इसी प्रकार —

पल न चलैं, जकि सी रही, थकि सी रही उसास।
अबहीं तनु रितयौ कहौ मनु पठयौ किहिं पास।।

(१८) गर्व—इस के ऐश्वर्य, कुल, रूप, यौवन इत्यादि अनेक विभाव हो सकते हैं। इस के अनुभाव इठलाना, सीधे न चलना, उत्तर न देना इत्यादि अनेक है। उदाहरण .—

दुसह सौति सालैं, सु हिय गनति न नाह-बियाह।
धरे रूप गुन कौ गरबु फिरै अछेह उछाह॥

यहाँ पर रूप और गुण विभाव हैं। उत्साह के साथ इधर-उधर घूमना अनुभाव है। इसी प्रकार—

सुघर-सौति-बस पिउ सुनत दुलहिनि दुगुन हुलास।
लखी सखी तन दीठि करि सगरब, सलज, सहास॥

यहा पर सुघरता विभाव है। प्रसन्नता, सखी की ओर देखना इत्यादि अनुभाव हैं —

(१९) विषाद—इष्ट की असिद्धि तथा राजा, गुरु इत्यादि के प्रति अपराध करने से जो अनुताप उत्पन्न होता है उसे विषाद कहते हैं। इसके अनुभाव उत्साह-नाश, खिन्नता, निश्श्वास, सहायान्वेषण इत्यादि हैं। उदाहरण '—

नभ-लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली, आली अनत, आए बनमाली न॥

यहाँ प्रात काल के लक्षण, इष्ट भगवान् कृष्ण की अप्राप्ति ये विभाव है और आक्षेपगम्य निश्श्वास, मुख-मालिन्य इत्यादि अनुभाव हैं।

दूसरा उदाहरण —

फिरि फिरि बिलखि ह्वै लखति, फिरि फिरि लेति उसासु।
साईं। सिर-कच-सेत लौं बीत्यौ चुनति कपासु॥

यहाँ पर स त-स्थानो के अभाव की सम्भावना विभाव है। उच्छ्वास, व्याकुलतापूर्वक अवलोकन इत्यादि अनुभाव हैं। साहित्यदर्पणकार ने विषाद का विभाव उपाय का अभाव माना है। उक्त उदाहरणो मे भी उपायहीनता विद्यमान है।

(२०) औत्सुक्य—प्रिय जन वियोग मे कालक्षेप की असहिष्णुता औत्सुक्य कहलाती है। इस की उत्पत्ति इष्ट वियोग से होती है, उद्दीपन प्रिय के सस्मरण से होता है और खेद, त्वरा, स्वेद तथा दीर्घनिश्श्वास इत्यादि से इसका अनुभावन किया जाता है। बिहारी के कई एक दोहो मे औत्सुक्य की अच्छी ध्वनि अधिगत होती है। दो-एक उदाहरण लीजिये —

लई सौंह सी सुन्न की, तजि मुरली, धुनि आन।
किए रहति नित राति दिनु कानन लागे कान॥

यहाँ पर कृष्ण वियोग औत्सुक्य का उत्पादक है, वशी श्रवण उद्दीपन है और वनकी ओर कान लगाये रहना अनुभाव है। इसी प्रकार—

(अ) जदपि तेज रौहाल बल पलकौ लगी न बार।
तौ ग्वैंड़ो घर कौ भयौ पैंडौ कोस हजार॥

(आ) फिरि घर कौ नूतन पथिक चले चकित-चित भागि।
फूल्यौ देखि पलासु बन समुही समुझि दवागि॥

(इ) रहे बरोठे मैं मिलत पिउ प्रानन् के ईसु।
आवत आवत की भई विधि की घरी घरी सु॥

(२१) निद्रा—की उत्पत्ति दुर्बलता, क्षय, मद, आलस्य, चिन्ता इत्यादि अनेक कारणों से होती है। इस के अनुभाव वदन-गौरव, शरीर का टूटना, नेत्रो का चारो ओर घुमाना, जभाना, निश्श्वास, सम्मोहन इत्यादि होते है। इसके उदाहरण —

लखि लखि अँखियनु अधखुलिनु आँगु मोरि अँगिराइ।
अधिक उठि लेटति लटकि आलस भरी जँभाइ॥

यहा सुरत तथा रात्रि-जागरण विभाव हैं तथा अक्षि सकोच, अग टूटना जमुहाई लेना इत्यादि अनुभाव हैं।

दूसरा उदाहरण .—

नीठि उठि नीठि वैठिहू प्यौ प्यारी परभात।
दोऊ नींद भरैं खरैं गरैं लागि गिरि जात॥

(२२) अपस्मार—वियोग, शोक, भय, जुगुप्सा इत्यादि की अत्यन्त अधिकता से जो व्याधि उत्पन्न होती है उसे अपस्मार कहते हैं। अपस्मार मे शरीर अस्त-व्यस्त हो जाता है। भूमि पतन, झाग डालना इत्यादि इसके दूसरे लक्षण हैं। जब वियोग इत्यादि की तीव्रता के कारण शरीर की ऐसी दशा हो जाती है तब उसे अपस्मार कहते हैं। नायिका के दृष्टिपात से भगवान् कृष्ण की यही दशा हो गई है .—

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल वेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पटु, कहुँ मुकुट बनमाल॥

निम्नलिखित दोहे मे अपस्मार माना गया है :—

चिलक चिकनई, चटक सौं लफति सटक लौं आइ।
नारि सलौनी साँवरी नागिनि लौं डसि जाइ॥

किन्तु अपस्मार एक व्याधि है जो किसी भावना की तीव्रता मे आश्रय की दशा प्रकट करती है। यहाँ नायिका की स्वाभाविक चेष्टायें उद्दीपन मात्र हैं; सचारी भाव से उद्भूत अनुभाव हो सकने की क्षमता नही रखतीं।

(२३) सुप्त या स्वप्न—भरतमुनि ने 'सुप्त' नामक व्यभिचारी भाव माना था और बाद के आचार्यो ने भी उसी का अनुसरण किया। किन्तु विश्वनाथ महापात्र ने उसको स्वप्न कर लिया। यहा यह ध्यान रखना चाहिये कि इस विषय मे शब्द भेद मात्र है। परिभाषा सभी आचार्यों की विश्वनाथ के स्वप्न से कुछ मिलती जुलती है। निद्रागत व्यक्ति के द्वारा विषय का अनुभव करना स्वप्न या सुप्त कहलाता है। इससे कोप आवेग सुख-दुःख इत्यादि अनुभाव उत्पन्न होते हैं। इसके उदाहरण रूप मे कवि लोग प्राय स्वप्न मे बड़बडाने इत्यादि का वर्णन करते हैं। किन्तु इस अर्थ मे बिहारी का कोई भी दोहा स्वतन्त्र रूप मे स्वप्न का उदाहरण

नहीं कहा जा सकता। निम्नलिखित दोहे के पूर्वार्ध मे स्वप्न का वर्णन है और उत्तरार्ध मे निद्रा के प्रति असूया का —

सोवत सपनैं स्यामघनु हिलि मिलि हरत वियोगु।
तबहीं टरि कितहूँ गई नींदौ नींदनु जोगु॥

यहा पर प्रधानता असूया की है। वैसे इसे हम विरोध के उदाहरण मे रख सकते हैं। सुप्त भी एक साधारण भाव हो सकता है। क्योंकि सुप्तावस्था मे हमारी वृत्तिया कुछ न कुछ क्रियाशील अवश्य रहती है। वियोगावस्था की निद्रा और प्रियतम के गले लग कर सोने की निद्रा मे अन्तर होता है। धनजय ने सुप्त का यही रूप माना है।

केवल सुप्त का उदाहरण :—

सुख सौं बीती सब निसा, मनु सोए मिलि साथ।
मूकामेलि गहे सुछिनु हाथ न छोड़ै हाथ॥

स्वप्न के अभिनय का बिहारी ने एक दोहे मे अच्छा चित्रण किया है :—

सोवत लखि मनु मानु धरि, ढिग सोयौ प्यौ आइ।
रही सुपन की मिलनि मिलि तिय हिय सौं लपटाइ॥

(२४) विबोध—निद्रानाश के बाद स्वप्न के न रहने से जो चेतना उत्पन्न हो जाती है उसे विबोध कहते हैं।

जैसे —

देखौं जागत वैसियै साँकर लगी कपाट।
कित ह्वै आवतु जातु भजि को जानै किहिं बाट॥

कुछ लोग अविद्या-ध्वसजन्य विबोध का वर्णन करते हैं।

इसका उदाहरण —

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ।
एकै रूपु अपार प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ॥

यहा पर तत्व ज्ञान से विबोध उत्पन्न हुआ है। वैराग्यपूर्ण उदासीनता का आक्षेप कर लिया जाता है जो कि अनुभाव है।

(२५) अमर्ष—परकृत अवज्ञा इत्यादि नाना अपराधों से जो मनोविकार उत्पन्न होता है, उससे कठोर वाणी बोलना, मौन हो जाना इत्यादि अनुभाव उत्पन्न होते हैं। जैसे —

दुसहदुइनु चरचा नहीं आनन आनन आन।
लगी फिरैं ढूका दिये कानन कानन कान॥

यहां पर नायिका के विषय मे बहुत अधिक बातचीत करना और पीछे लगे रहना अपराध है जिससे अमर्ष उत्पन्न हुआ है। कठोर वचन अनुभाव है।

दूसरा उदाहरण —

फिरि सुधि दै, सुधि द्याइ प्यौ, इहिं निर्दयी निरास।
नई नई बहुर्‌यौ दई ! दई उसासि उसास॥

यहा पर पपीहा का बोलना विभाव है और गहरी श्वास अनुभाव है। बिहारी ने पडितराज के उदाहरणो[1] से मिलता-जुलता भी एक दोहा लिखा है —

लरिका लैवै कैं मिसनु लगरु मो ढिग आइ।
गयौ अचानक आँगुरी छाती छैलु छुआइ॥

किन्तु यहा पर अमर्ष की अभिव्यक्ति शिथिल है।

(२६) अवहित्था—व्रीडा इत्यादि कारणो से हर्ष इत्यादि अनुभावो के गोपन को अवहित्था कहते हैं। इसके अनुभाव हैं किसी और काम मे लग जाना और वहाना कर देना, दूसरी ओर देखना इत्यादि।

इसके उदाहरण —

ललन चलनु सुनि पलनु मैं अँसुआ झलके आइ।
भई लखाइ न सखिनुहूँ झूठैंहीं जमुहाइ॥

यहा पर व्रीडा विभाव है और जमुहा कर आँसुओ का कारण छिपाना अनुभाव है।

इसी प्रकार —

ऊँचैं चितै सराहयतु गिरह कबूतर लेतु।
झलकित द्रग मुलकित वदनु तनु पुलकित केहि हेतु॥

यहा पर प्रियतम दर्शन जन्य हर्ष को कबूतर के देखने से हर्ष के रूप मे छिपाया गया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।[2]

(२७) उग्रता—शौर्य, अपराध इत्यादि से उत्पन्न होने वाली प्रचण्डता को उग्रता कहते हैं। निम्नलिखित अन्योक्ति मे उग्रता की ध्वनि है :—

गोधन तू हरस्यौ हियैं घरियक लेहि पुजाय।
समुझि परैगी सीस पर परत पसुनु के पाइ॥

यहाँ पर अत्याचारी राजा के प्रति उग्रता व्यक्त की गई है।

(२८) मति—नाना शास्त्रो के चिन्तन इत्यादि से जो नीतिशास्त्र के अनुसरण इत्यादि की बुद्धि उत्पन्न होती है उसे मति कहते हैं। जैसे :—

कहैं यहै श्रुति सुम्रत्यौ, यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसकहीं पातक, राजा, रोग॥

दूसरा उदाहरण —

मैं लखि नारी-ज्ञानु करि राख्यौ निरधारु यह।
वहई रोग-निदानु वहै वैदु औषधि वहै॥

१—वक्षोजाग्र पाणिनामृश्य दूरे यातस्य द्रागाननाब्ज प्रियस्य।
शोणाग्राभ्यां भामिनी लोचनाभ्यां जोषं जोष जोषमेवावतस्थे॥

२—देखो—लज्जिता नायिका के उदाहरण।

प्रथम दोहे मे नाना शास्त्रो के चिन्तन से दरिद्र के उत्पीडन का सिद्धात निकाला गया है और दूसरे दोहे मे कामशास्त्र के चिन्तन के द्वारा नायिका के रोग और औषधि इत्यादि का निर्णय किया गया है ।

(२९) व्याधि—रोग, विरह इत्यादि से उत्पन्न होने वाले मनस्ताप को व्याधि कहते हैं । यह दो प्रकार की मानी गई है—दाहमय और शैत्यमय । दाहमय के उदाहरण —

(अ) औंधाई सीसी सुलखि विरह बरनि बिललात ।
बीचहीं सूखि गुलाबु गौ छीटो छुई न गात ।।
(आ) मैं लै दयौ लयौ सु कर छुवत छिनकि गौ नीरु ।
लाल, तिहारौ अरगजा उर ह्वै लग्यौ अबीर ।।
(इ) हितु करि तुम पठ्यौ, लगैं वा बिजना की बाइ ।
टली तपति तन की, तऊ चली पसीना न्हाइ ।।

शैत्यमय व्याधि में कम्प का वर्णन किया जाता है[1] । इसका विवेचन कम्प सात्त्विक के प्रकरण मे किया जा चुका है ।

(३०) उन्माद—काम, शोक, भय इत्यादि के कारण उत्पन्न होने वाले चित्त के समोह को उन्माद कहते है । इस में बिना अवसर के हसी, रोना, गाना, बकना इत्यादि अनुभाव होते है । उदाहरण —

तजी सक, सकुचति न चित बोलत बाकु कुबाकु ।
दिनछिनदा छाकी रहति, छुटतु न छिनु छबि-छाकु ।।

यहाँ पर कामनाजन्य उन्माद है जिस मे अटसट बकना, मत्त रहना इत्यादि अनुभाव हैं ।

(३१) मरण—यह भाव अमागलिक है । अतएव धनजय ने इसकी परिभाषा ही नहीं दी । साहित्यदर्पणकार ने बाण इत्यादि से शरीर-पतन को मरण कहा है । इस पर पण्डितराज का कहना है कि जितने भी भाव होते हैं वे सब देह और प्राण के सयोग मे ही होते हैं । शरीर-पतन और देह-त्याग कोई भाव नही हो सकता । मरण से पूर्व होने वाली चेतनाशून्यता या मूर्च्छा को मरण कहा जाता है । साहित्यदर्पणकार ने भी विप्रलम्भ की मरण-दशा के प्रसग मे लिखा है—"मरण से रस का विच्छेद हो जाता है । क्योंकि आलम्बन के अभाव मे रस निष्पत्ति हो ही नहीं सकती । अतएव जातप्राय या आकांक्षित मरण का वर्णन करना चाहिए ।" मरण व्यभिचारी की परिभाषा मे दर्पणकार ने नाटय शास्त्र का अनुसरण किया है । नाटय शास्त्र का विवरण अभिनय के लिए उपयुक्त है । काव्य के क्षेत्र मे उसका उपयोग नही हो सकता । अतएव काव्य की दृष्टि से पण्डितराज की परिभाषा (मूर्छा को मरण कहना) ही उपयुक्त जचती है । मूर्च्छा के दो पक्ष हो सकते हैं—एक

१. शैत्यमयत्वे उत्कम्पनादय —(साहित्य दर्पण)

वाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। वाह्य दृष्टि से मूर्छा सात्विक भावो मे आती है और आन्तरिक दृष्टि से मनोवृत्ति की सम्वेदनशून्यता मरण व्यभिचारी के अन्दर आवेगी। अतएव प्रलय सात्विक का उदाहरण निम्नलिखित दोहा मरण व्यभिचारी का भी उदाहरण हो सकता है —

मरी डरी कि टरी बिथा, कहा खरी, चलि चाह।
रही कराहि कराहि अति अब मुँह आहि न आहि॥

मरण व्यभिचारी की ध्वनि का दूसरा उदाहरण बिहारी मे नही मिलता।

(३२) त्रास—किसी लोकातीत सुन्दर अथवा उद्वेगजनक वस्तु को देखकर अथवा ऐसे ही किसी दूसरे कारण से जो मन का सक्षोभ उत्पन्न होता है उसे त्रास कहते हैं। इससे उत्कम्पन, पलायन इत्यादि अनुभाव उत्पन्न होते हैं। उदाहरण:—

हेरि हिंडोरैं गगन तैं परी परी सी टूटि।
धरी धाइ पिय बीच हीं करी खरी रस लूटि॥

यहाँ पर प्रियतमाऽवलोकन विभाव है और हिंडोरे से कूद पड़ना अनुभाव है। मिलाइये : -

आलीषु केलीरभसेन वाला रहो ममालापमुपालपन्ती।
आरादुपाकर्ण्य गिर मदीया सौदामनीया सुषमामयासीत्॥
(पडितराज)

(३३) वितर्क—विचारपूर्वक किसी निर्णय पर पहुँचने की चेष्टा करने को कहते है। इसमे भौह, सिर, अगुलि, इत्यादि का हिलाना दिखलाया जाता है।

उदाहरण :—

नेहु न, नैननु, कौ कछू उपजी बड़ी बलाइ।
नीर-भरे नित-प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाइ॥

यहाँ पर तर्क द्वारा व्याधि का निर्णय किया गया है। इसी प्रकार :—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हियैं दई, नई, यह रीति॥

उपर्युक्त उदाहरणो मे प्राय सर्वत्र (आलम्बन, उद्दीपन इत्यादि) विभाव, अनुभाव और सचारी भाव का योग दिखा कर अथवा आक्षेप कर स्थायी भाव की पुष्टि के द्वारा रस की सत्ता सिद्ध की जा सकती है। किन्तु चर्वणा का पर्यवसान भाव ध्वनि मे ही है। अतएव इन स्थानो पर रस ध्वनि न मान कर भाव ध्वनि मानना ही ठीक होगा। सचारी भावो की सख्या के विषय मे भरत मुनि का नाट्यशास्त्र ही प्रमाण है। उसको आधार मानकर यह सख्या साहित्य शास्त्र मे एक मत से स्वीकार कर ली गई है। किन्तु नाट्य शास्त्र मे इनका वर्णन सर्वथा नाट्योपयोगी है। प्रत्येक भाव के विभाव और अभिनय की प्रक्रियानाट्य के अनुसार दिखलाई गई है। किन्तु परवर्ती आचार्यों ने इनकी परिभाषायें काव्य

के उपयुक्त बना ली हैं। इनमे कई एक में तो वहुत थोडा-थोड़ा अन्तर है। जैसे श्रम, आलस्य, और निद्रा में बहुत थोडा भेद है। इसी प्रकार अपस्मार और व्याधि भी लगभग मिलते-जुलते ही है इनके वर्णन में मनोविकार के साथ वाह्य चेष्टाओ पर भी ध्यान रखा गया है।

उपर्युक्त ३३ सचारियो के अतिरिक्त रति भी जो कि शृ गार रस का स्थायी भाव है, दाम्पत्य-प्रेम से भिन्न क्षेत्रो मे आकर भावध्वनि हो जाती है। उदाहरण के लिये .—

(अ) करौ कुबतु जगु, कुटिलता तजौं न, दीन दयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत, त्रिभंगी लाल॥
(आ) मैं तपाइ त्रयताप सौं राख्यौ हियौ हमामु।
मति कबहुँक ,आऐं यहाँ पुलकि पसीजै स्यामु॥

उक्त दोहो मे भगवद्विषयक रति है। अतएव यह भावध्वनि के क्षेत्र मे आ जाती है। इसी प्रकार राजविषयक तथा प्रकृतिविषयक रति इत्यादि के विषय मे भी समझना चाहिये। इनका यथास्थान वर्णन किया जावेगा।

रस-ध्वनि

भारतीय साहित्य शास्त्र मे रस सम्प्रदाय का सब से अधिक महत्त्व है। रसेतर काव्य को आत्मसात् करने के लिये जिन आचार्यों ने ध्वनि सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया अथवा मान्यता दी उनके मत मे भी रसध्वनि ही काव्य की आत्मा मानी जाती है। रस सम्प्रदाय के आचार्य तो सूक्ति काव्य मे भी किसी न किसी रूप मे रस की सत्ता स्वीकार करते हैं। इन दोनो सम्प्रदायो से भिन्न दूसरे सम्प्रदाय भी रस की महत्ता स्वीकार अवश्य करते हैं किन्तु वे अलंकारो की अपेक्षा रस को गौंण स्थान देने के पक्षपाती हैं।

रस के आचार्यों की सम्मति में जब स्थायिनी चित्तवृति का अनुकूल उपकरणों को प्राप्त कर इस रूप मे परिपोष हो जाता है कि उसमे आस्वादन के प्रवर्तन की योग्यता उत्पन्न हो जाती है तव वही स्थायिनी चित्त वृत्ति रसमयता को प्राप्त हो जाती है। इस स्थायिनी चित्तवृत्ति के परिपोषक तीन तत्व है– (१) विभाव अथवा कारण, (२) अनुभाव अथवा कार्य और (३) व्यभिचारी अथवा सहकारी कारण। इन तीनो तत्वो के सयोग से पुष्ट हुई स्थायिनी चित्तवृत्ति का जब आस्वाद-रूपता मे विपरिणाम हो जाना है तब उसे रस की सज्ञा प्राप्त हो जाती है। यह विपरिणाम ४ प्रकार का होता है—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप। विकास या आह्लादमयी प्रफुल्लता मुख्यतया रति की परिचायिका है और गौण रूप में हास की। यही कारण है कि भरत मुनि ने हास्य रस को शृ गार की प्रकृति माना है। विस्तार या ओजस्विताामय प्रसार उत्साह का द्योतक है और गौण रूप मे आश्चर्य का। वीर रस का कार्य ही अद्भुत रस है। चित्तवृत्ति का आन्दोलित

होना जिसे क्षोभ कहते हैं, क्रोध का विपरिणाम है जिसके परिणाम में करुणा रहती है। इस प्रकार रौद्र और करुण दोनों रसो में चित्तवृत्ति विक्षुब्ध रहती है। चित्तवृत्ति का विक्षेप मुख्यतया घृणा से होता है और गौण रूप मे भय से। भरत मुनि ने लिखा है कि बीभत्स का दर्शन ही भयानक होता है। इस प्रकार चित्तवृत्ति तथा उसके विपरिणाम से रसो का सम्बन्ध इस प्रकार होगा —

चित्तवृत्ति का स्वरूप	मुख्य या अमुख्य	स्थायिनी चित्तवृत्ति	रस
१	२	३	४
१—विकास	मुख्य	रति	शृंगार
२ —विकास	अमुख्य	हास	हास्य
३ —विस्तार	मुख्य	उत्साह	वीर
४—विस्तार	अमुख्य	आश्चर्य	बीभत्स
५—क्षोभ	मुख्य	क्रोध	रौद्र
६ क्षोभ	अमुख्य	शोक	करुण
७—विक्षेप	मुख्य	घृणा	बीभत्स
८ – विक्षेप	अमुख्य	भय	भयानक

नाट्य शास्त्र मे यही ८ रस माने जाते है। इनकी सख्या के अनुरोध मे परम्परा ही कारण है। कतिपय दूसरे मनोविकार भी स्थायित्व को प्राप्त हो सकते हैं और इनमे भी कुछ ऐसे है जिनका स्थायित्व परम्परागत होने के कारण ही स्वीकार्य होता है। रीतिकाल के रसशास्त्राचार्य अधिकतर शृगार निरूपण तक ही सीमित रहे है। बिहारी ने भी शृगार रस का ही विशेष विस्तार किया है और इसके प्राय सभी भेदोपभेदो के उदाहरण बिहारी सतसई मे अधिगत हो जाते है। अन्य रसो मे न तो इतना उक्ति-वैचित्र्य ही सम्भव है और न ये रस सर्वजन हृद्य ही हो सकते हैं। अतएव बिहारी ने अन्य आचार्यों की भाँति दूसरे रसो के एक-एक या दो दो उदाहरण दे दिये हैं। यहाँ पर बिहारी की रस ध्वनि का सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

(१) शृगार रस—भरतमुनि ने लिखा है—"लोक मे जो कुछ शुचि, मेध्य तथा दर्शनीय है उस सब का अनुमान शृगार से हो जाता है। शृगार हृद्य तथा उज्ज्वल-वेषात्मक होता है।" शृगार शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है मन्मथोद्भेद के आगमन मे कारणभूत। यह शब्द दो शब्दो से मिलकर बना है शृग और आर। शृग शब्द का अर्थ है मन्मथोद्भेद या कामोद्दीपन। 'आर' शब्द आङ् उपपद 'ऋ गतौ' धातु से सज्ञार्थक और घञ् प्रत्यय होकर बनता है। इसी प्रकार इस रस के अनुसार परस्पर अनुरक्त स्त्री-पुरुष दोनो मे कामोद्दीपन की प्राप्ति शृगार शब्द के द्वारा अभिहित की जाती है। आचार्यों ने रसो के वर्णों तथा देवताओं का भी

वर्णन किया है। किन्तु उनकी आवश्यकता केवल नाट्य के रंग-पूजन मे ही होती है। मुक्तक काव्य के विवेचन मे उनका कोई उपयोग नही।

रस-ध्वनि मे औचित्य का बहुत बड़ा महत्त्व है। यदि रस औचित्य से प्रच्युत होगा तो उसे रस ध्वनि की सज्ञा प्राप्त नहीं हो सकेगी और वह रसाभास कहा जावेगा। अतएव शृ गार रस का आलम्बन स्वकीया नायिकायें तथा कन्या होगी यदि अनुरागिणी वेश्या हो तो वह भी आलम्बन हो सकती है। किन्तु वह प्रौढा नही होनी चाहिए। इसी प्रकार दक्षिण इत्यादि नायक भी रति के आलम्बन होते है। औचित्य के लिए रति का उभयनिष्ठ होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि रति उभयनिष्ठ नही होती है तो वह भी रसाभास ही कही जाती है। नायिकाओ के सात्त्विक, यत्नज और अयत्नज अलकार, दूसरे प्रकार की चेष्टायें, प्राकृतिक सौन्दर्य, सुख तथा विलास की सामग्री इत्यादि उद्दीपन होते है। भ्रू-विक्षेप, कटाक्ष, हसित इत्यादि चेष्टाएँ और सात्विक भाव अनुभाव होते हैं। शृगार रस मे प्राय सभी सचारी भाव होते हैं। विश्वनाथ ने लिखा है कि उग्रत्व, मरण, आलस्य और जुगुप्सा ये व्यभिचारी भाव शृ गार रस मे नही होते। किन्तु विभिन्न आचार्यों के सचारी भाव विषयक उदाहरणो के परिशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये व्यभिचारी भाव भी शृ गार रस मे सम्भव हैं। मरण तो काम दशाओ मे गिनाया ही गया है। सभोग-श्रमजन्य आलस्य हो ही सकता है। यह केवल उपनिबन्धन की कुशलता होती है कि प्राय सभी सचारी भाव शृ गार रस मे दिखलाये जा सकते हैं। इन से पुष्ट होकर रति स्थायी भाव आस्वादनरूपता को धारण कर शृ गार रस की सज्ञा प्राप्त करता है।

इस शृ गार रस के दो पक्ष होते हैं, सुख और दुख। जहाँ पर विलासी दम्पति दर्शन, स्पर्श इत्यादि सुख का अनुभव करते है, वहाँ पर सम्भोग शृ गार कहलाता है। इसके चुम्बन-परिरम्भण इत्यादि असख्य भेद हो सकते हैं। इसमे वन-विहार, जल, केलि, नृत्य, गीत, अनुलेपन, आभूषण, नेपथ्य-रचना, उपभोग, श्रवण, दर्शन, क्रीडा-लीला इत्यादि सैकडो प्रकार के वर्णन किये जा सकते हैं। यहाँ पर केवल दो एक उदाहरण दिए जा रहे है जो कि काव्यप्रकाश मे दिए हुए उदाहरणो के अनुवाद मात्र कहे जा सकते हैं —

मैं मिसहा सोयौ समुझि मुहु चूम्यौ ढिग आइ।
हस्यो खिसानी गल गह्यौ रही गरैं लपटाइ॥

यहाँ पर नायक और नायिका एक दूसरे के लिए आलम्बन हैं। आक्षेपगम्य एकान्त स्थान इत्यादि उद्दीपन हैं। मुख चूमना, गले लिपटाना इत्यादि अनुभाव हैं। औत्सुक्य, हर्ष, लज्जा इत्यादि सचारी भाव हैं। इससे पुष्ट होकर रति आस्वादरूपता को प्रकट करती है। सस्कृत के काव्य शास्त्रो मे अमरुक का निम्नलिखित पद्य सभोग शृ गार के उदाहरण के रूप मे प्राय उद्धृत किया जाता है —

शून्य वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चित् शनात् ।
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ॥
विश्रब्ध परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीम् ।
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

इस पद्य का बिहारी ने आश्चर्यजनक रूप मे दोहे की केवल दो पक्तियो मे सफल अनुवाद किया है । इसी आशय का एक दूसरा दोहा बिहारी ने लिखा है :—

मुखु उघारि पिउ लखि रहत रह्यौ न गौ मिस सैन ।
फड़के ओठ, उठे पुलक, गये उघरि जुटि नैन ॥

एक और दूसरा उदाहरण :—

यति रति की वतियाँ कही सखी लखी मुस्काइ ।
कै कै सबै टला टली अली चलीं सुखु पाइ ॥

यहाँ पर भी नायक और नायिका एक दूसरे के लिए आलम्बन है । नायिका का शृगार और सौन्दर्य इत्यादि उद्दीपन है । मुस्कराहट, सखी की ओर देखना अनुभाव है । औत्सुक्य, हर्ष और लज्जा सचारी भाव हैं और इनसे पुष्ट होकर रति स्थायी भाव शृगार रस के रूप में आस्वाद प्रवर्तक बन गया है ।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सयोग और वियोग ये आन्तरिक भावनायें हैं । यह आवश्यक नही है कि सयोग मे दम्पति एक साथ ही हो और वियोग मे दोनो दूरदेशस्थ ही हो । एक ही चारपाई पर वियोग हो सकता है और दूर स्थित होने पर भी सयोग सुख प्राप्त हो सकता है । यह आन्तरिक भावना पर अधिक निर्भर है, बाह्य परिस्थिति पर कम । जैसे —

दूरौ खरै समीप कौ लेत मानि मन मोदु ।
होत दुहुन के दृगनु हीं बतरस हसी विनोदु ॥

यहाँ पर दूरस्थता मे भी सयोग सुख का अनुभव किया जा रहा है ।

इसके प्रतिकूल —

रही पकरि पाटी सु रिस भरे भौंह, चित, नैन ।
लखि सपनैं तिय-आन-रत, जगतहु लगत हियै न ॥

यहाँ पर एक ही चारपाई पर वियोग का अनुभव हो रहा है ।

विप्रलम्भ शृगार मे वियोगजन्य दु.ख का वर्णन किया जाता है । वस्तुत अनुराग की तीव्रता का माप दण्ड वियोग ही है । यही कारण है कि सयोग की अपेक्षा वियोग अधिक मधुर तथा महत्वपूर्ण माना जाता है । भरतमुनि ने वियोग शृगार के उपभेद नही किये थे और बहुत बाद तक वियोग शृगार भी सयोग शृगार की भाँति एक ही प्रकार का माना जाता रहा । पडितराज के अनुसार वियोग शृगार के उपभेदो मे परस्पर विशेष विच्छित्ति-वैचित्र्य नही होता । मनोदशा प्राय प्रत्येक प्रकार के वियोग मे एक जैसी ही रहती है । इसीलिए उन्होने वियोग शृंगार के उपभेद नही किये —

(इमं च एवंविध प्राच प्रवासादिभिरुपाधिभिरामनन्ति। ते च प्रवासाभिलाषविरहेर्ष्याशापाना विशेषानुपलम्भात् नास्माभि प्रपचिता)। विप्रलम्भ की उपाधियो का सर्वप्रथम उल्लेख भोजराज ने शृगारप्रकाश में किया और तब से लेकर विप्रलम्भ के उपभेद करने की परम्परा सी चल पडी। विप्रलम्भ के उपभेदों मे अधिक अन्तर भले ही न हो किन्तु मनोदशा में कुछ अन्तर अवश्य पाया जाता है। उदाहरण के लिए प्रवासजन्य विप्रलम्भ मे सताप की तीव्रता होगी तो ईर्ष्याजन्य विप्रलम्भ मे खेद की जैसी मनोवृत्ति हो जावेगी और उसमें रोष का भी कुछ न कुछ सचार अवश्य होगा। इसी प्रकार प्रथम सम्मिलन के पहले के विप्रलम्भ मे सम्मिलन के वाद के विप्रलम्भ की अपेक्षा कुछ न कुछ विशेषता अवश्य होगी। इसीलिए धनजय ने शृगार के तीन भेद किये हैं और अयोग को विप्रयोग से पृथक् रखा है। विप्रलम्भ के उपभेदो के विषय मे दो मत हैं। एक मत मे विप्रलम्भ ५ प्रकार का माना जाता है—अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास और शाप। दूसरे मत में इसके ४ उपभेद है पूर्व राग, मान, प्रवास और करुण। वस्तुत अभिलाष और पूर्व राग दोनो एक ही होते हैं और ये दोनो धनजय के अयोग के ही पर्यायवाचक हैं। करुण तथा शाप भी लगभग एक जैसे ही हैं। किन्तु ये दोनो भेद विप्रलम्भ के कारण मात्र हैं और इनसे मनोवृत्ति पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ता। अतएव इनको प्रवास की कक्षा मे सन्निविष्ट हां नही किया जा सकता। मान और प्रवास दोनों मे विद्यमान है। साहित्यदर्पणकार ने विरह नाम का पृथक् भेद नही माना है। किन्तु जव तक प्रियतम के परस्त्री-ससर्ग का पता न चल जावे तव तक हम इसे ईर्ष्या मान में सन्निविष्ट नही कर सकते और प्रवास तथा प्रणय मान मे यह रखा ही नही जा सकता। अतएव विरह को पृथक् भेद के रूप मे स्वीकार करना ही उचित है। इस प्रकार विप्रलम्भ के ४ भेद हो जाते है—पूर्वराग, मान, विरह और प्रवास। मान दो प्रकार का होता है। प्रणय मान और ईर्ष्या मान। शास्त्रकारो ने इनकी उत्पत्ति के प्रकार तथा विभिन्न दशाओ का परिचय दिया है। यहा पर विहारी से दिङ्मात्र एक [दो उदाहरण दिए जा रहे हैं।

(१) पूर्वराग—जहाँ पर सखी इत्यादि के मुख से किसी के गुण श्रवण करके अथवा लोकोत्तर सौन्दर्य को स्वय देखकर परस्पर अनुराग जागृत हो जाता है किन्तु विशेष प्रतिवन्धो के कारण सम्मिलन नही हो पाता उसे पूर्वराग कहते हैं। उदाहरण .—

हरि छवि जल जब तैं परैं तब तैं छिनु बिछुरैं न।
भरत ढरत बूड़त तरत रहत घरी लौं नैन॥

यहा पर दृक्सगजन्य पूर्वराग है। नायक (हरि) आलम्बन हैं, सौन्दर्य उद्दीपन है, रोते रहना इत्यादि अनुभाव है और स्मृति, दैन्य, चिन्ता, औत्सुक्य और आवेग सचारी भाव है। इनमे पुष्ट होकर रति स्थायी आस्वादन मे कारण हुआ है। यह

दृक्सङ्गजन्य पूर्वराग है। श्रवणजन्य पूर्वराग निम्नलिखित दोहे से अभिव्यक्त होता है :—

मकराकृति गोपाल कैं सोहत कुण्डल कान।
धर्‌यौं मनौ हियधर समर ड्योढी लसत निशान ॥

यहाँ पर उत्प्रेक्षा द्वारा अभिव्यक्त होता है कि कृष्ण के हृदय पर कामदेव ने पूर्ण अधिकार स्थापित कर लिया है। और इस कामदेव ने श्रवण-मार्ग से कृष्ण के हृदय मे प्रवेश किया है पहले दोहे मे नायिका गत पूर्वराग है और प्रस्तुत दोहे मे नायकगत पूर्वराग है। साहित्यदर्पण मे श्रवण के तीन भेद किए गए है —(१) दूत के मुख से श्रवण, (२) वन्दी के मुख से श्रवण और सखी के मुख से श्रवण। इसी प्रकार दर्शन के भी ४ भेद किये गये है—(१) इन्द्रजाल मे दर्शन, (२) स्वप्न मे दर्शन, (३) साक्षात् दर्शन, (४) चित्र मे दर्शन। वस्तुत यह भेदोपभेद कल्पना सङ्गत नही है। श्रवण चाहे सखी के मुख से हो, चाहे दूत के मुख से और चाहे वन्दी के मुख से— इनसे किसी विच्छित्ति-वैचित्र्य की पुष्टि नही होती। विहारी मे समवत इसीलिए इस भेदोपभेद कल्पना के पृथक्-पृथक् उदाहरण नही पाये जाते।

(२) मान—प्रणय सदा कुटिलगामी होता है। अतएव जहाँ एक दूसरे के रूठने की प्रवृत्ति होती है वहाँ प्रणय मान कहा जाता है। जहाँ प्रियतम के अपराध के कारण रोष होता है उसे ईर्ष्या मान कहते है। प्रथम मान का उदाहरण —

दोऊ चाह भरे कछू चाहत कह्यौ कहैं न।
नहिं जाचकु सुनि सूम लौं वाहर निकसत वैन ॥

ईर्ष्या मान का उदाहरण · ·

वाही दिन ते ना मिट्यो मानु कलह को मूलु।
भलैं पधारे पाहुने ह्वै गुडहर कौ फूलु ॥

ईर्ष्या मान का विशेष विवेचन स्वकीया के मध्या इत्यादि के भेदोपभेदो के प्रकरण मे किया जा चुका है। वही देखना चाहिए।

(३) विरह —खण्डिता अथवा विप्रलब्धा नायिका की उत्कण्ठा तथा सताप का वर्णन विरह विप्रलम्भ कहलाता है। उदाहरण —

नभ-लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली आली अनत आये वनमाली न ॥

(४) प्रवास—जब किसी कार्य से प्रियतम विदेश को चला जाये तब उस समय की सतापमयी मनोवृत्ति प्रवास विप्रलम्भ कहलाती है। प्रवास विप्रलम्भ मे तीन प्रकार की मनोवृत्ति लक्षित होती है— (१) जिस समय नायक विदेश जाने के लिए उद्यत हो रहा हो, (२) जब विदेश मे रहे और (३) जब लौट कर घर आ

स्था मे उद्वेग की प्रधानता होती है, द्वितीय अवस्था मे सताप अवस्था मे औत्सुक्य की। विहारी मे तीनो अवस्थाओ का बडे र्णन किया गया है। एक-एक उदाहरण दिया जा रहा है —

प्रस्थान काल की मनोवृत्ति का चित्रण। जैसे —

रहिहैं चचल प्रान ए कहि, कौन की अगोट।
ललन चलन की चित धरी कल न पलनु की ओट ॥

ग) प्रोषित अवस्था का वर्णन। जैसे —

जिहिं निदाघ दुपहर रहै भई माघ की राति।
तिहिं उसीर की रावटी खरी आवटी जाति।

इ) आगमन काल का वर्णन —

रहे बरोठे मैं मिलत हरि प्राननु के ईसु।
आवत आवत की भई विधि की घरी घरीसु ॥

इस प्रकार विहारी मे केवल ४ प्रकार के विप्रलम्भ शृ गार के उदाहरण होते हैं। करुण अथवा शाप का कोई उदाहरण विहारी मे नही है। एक तो न्वोपयोगी है दूसरे ये विप्रलम्भ के कारण मात्र है। इनसे मनोदशा मे अन्तर पड़ता। इसी लिए विहारी ने इनके उदाहरण नही दिए है। इनके अतिरिक्त न दशायें भी होती है और उनके उदाहरण भी विहारी मे मिल जाते है।

काव्य शास्त्र मे वियोगजन्य काम दशाओ का विवेचन किया गया है। ाहित्यदर्पण मे पूर्वराग की १० तथा प्रवास की १० कामदशाओ का उल्लेख किया ाया है। पूर्वराग की दशायें ये है—अभिलाप, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, सम्प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडता और मृति। प्रवास की दशायें ये है अगो का असौष्ठव, ताप, पाण्डुता, कृशता, अरुचि, अधृति, तन्मयता, उन्माद, मूर्छा और मृति। इनमे मृति दोनो अवस्थाओ मे समान है। पूर्वराग की व्याधि मे ही—अगो का असौष्ठव, ताप, पाण्डुता, कृशता, अरुचि, उन्माद और मूर्छा का अन्तर्भाव हो जाता है। अधृति, और तन्मयता ये दशायें प्रवासावस्था मे अधिक बतलाई गई हैं। ये दोनो पूर्वराग मे भी सम्भव हैं। इसीलिए मल्लिनाथ ने कुमारसभव की टीका में पार्वती जी के पूर्वराग मे १२ दशाओ की व्याख्या की है। विहारी मे न्यूनाधिक रूप मे उक्त सभी दशायें प्राप्त हो जाती हैं। चिन्ता, स्मृति, उद्वेग (आवेग), उन्माद, जडता और मरण इनका वर्णन सञ्चारियो के प्रकरण मे किया जा चुका है। व्याधि की ताप-दशा का भी वर्णन हो चुका है। शेष दशाओ का सक्षेप मे परिचय दिया जा रहा है —

(१) अभिलाष सम्मिलन की इच्छा को कहते है। मल्लिनाथ ने दृक्सग, मन सग और सकल्प का कामदशाओं मे उल्लेख किया है। इनका समावेश अभिलाप के अन्दर हो जाता है। विहारी ने नेत्र सम्मिलन का बहुत ही सुन्दर वर्णन

किया है। कही कोई नायिका अपनी छत पर खडी होकर दूसरी ओर खडे हुए नायक के ऊपर कटाक्ष पात कर रही है, कही कोई दम्पति भरे घर में ही आखो ही आखो सारी बातें कर रहे है। कहीं दृष्टि को रस्सी बतलाया गया है और उस पर दौडने वाले दोनो के चित्त को नट की उपमा से विभूषित किया गया है तथा कही उन्हें बाजी खेलने वालो से उपमा दी गई है। इस दिशा मे एक से एक उच्च कोटि की कल्पना दर्शनीय है किन्तु ये वर्णन सुखात्म-मनोवृत्ति के परिचायक हैं, अत. दृक्सग के उदाहरण में वे ही दोहे उद्धृत किए जा सकते हैं जिनमे नेत्रो के सम्मिलन से वियोग व्यथा के जागरूक होने का वर्णन किया गया है जैसे —

कहत सबै कवि कमल से, मो मत नैन पखानु ॥
न तरुक कत इन बिय लगत उपजत बिरह-कृसानु ॥

इसी प्रकार —

को जानै, ह्वैहै कहा, ब्रज उपजी अति आगि।
मन लागै नैननु लगैं चलै न मग लगि लागि ॥

मन सग का वर्णन निम्नलिलित दोहे मे पाया जाता है :—

क्यौं,वसियै क्यौं निवहियै, नीति नेह-पुर नाँहि।
लगा लगी लोइन करैं नाहक मनु बँधि जाइ ॥

सकल्प का समावेश भी अभिलाष मे ही होता है। निम्नलिखित दोहे की नायिका ने दृढ निश्चय कर लिया है कि वह भगवान् कृष्ण से मिलकर रहेगी। कोई भी उसका प्रेम छुडा नही सकता। उसका मन भगवान् के रूप से पानी मे नमक के समान मिल गया है —

कीनैंहू कोटिक जतन अब कहि, काढै कौनु।
भो मनु मोहन-रूपु मिलि पानी मे कौ लौनु ॥

इसी प्रकार

नैन लगे तिहिं लगनि जु, न छुटैं छुटैं हूँ प्रान।
काम न आवत एकहूँ तेरे सैक सयान ॥

शुद्ध अभिलाप का उदाहरण —

मोहूँ सौं तजि मोहु, दृग चले लागि उहिं गैल।
छिनकु छाइ छवि-गुर-डरी छले छबीलैं छैल ॥

२ गुण कथन बिहारी ने वियोग की दशा मे आलम्बन के शरीर-सौन्दर्य की ओर प्राय सकेत किया है। एक उदाहरण —

फिरि फिरि चितु उतहीं रहतु, टुटी लाज की लाव।
अग अग छवि भौंर में भयौ भौंर की नाव ॥

सामान्य गुणो की ओर न रीतिकाल के कवियो का ध्यान था और न बिहारी ने उसका कहीं कथन ही किया है। निम्नलिखित दोहे मे सामान्य गुणो की ओर सकेत किया गया है —

(३) धैर्य के अभाव का आशय है कहीं स्थिर न होना। इसके बिहारी मे कई दोहे है।

एक उदाहरण—

नई लगनि कुल की सकुच विकल भई अकुलाइ ।
दुहूँ ओर ऐंची फिरति फिरकी लौं दिन जाइ ।।

(४) तन्मयता का उदाहरण —

कबकी ध्यान-लगी लखौं, यह घरु लगिहै काहि ।
डरियतु भृंगी कीट लौं मति वहई ह्वै जाइ ।।

एक नायिका तो ध्यान करते-करते प्रियतम के रूप मे परिणत भी हो गई है। अब वह स्वय अपनी आकृति मे प्रियतम की आकृति देख देख कर रीझ रही है —

पिय कैं ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि ।
आपु आपुहीं आरसी लखि रीझति रिझवारि ।।

(५) वियोग दशा मे प्रसाधनो का अभाव और उससे उत्पन्न होने वाला अगो का असौष्ठव प्रेमाधिक्य का भी अभिव्यजक होता है किन्तु बिहारी की सात्विक कला असौष्ठव का वर्णन करना नहीं जानती। बिहारी ने आगमिष्यत्पति के प्रसग मे ही असौष्ठव की ओर इङ्गित किया है जबकि नायिका अपने असौष्ठव को छोडकर प्रसाधन मे लग जाती है। जैसे —

मलिन देह, वेई बसन, मलिन विरह कैं रूप ।
पिय-आगम औरै चढी आनन ओप अनूप ।।

(६) व्याधि दशा का व्याधि सचारी के प्रकरण मे उल्लेख किया जा चुका है। व्याधि अनेक प्रकार की हो सकती है। संताप का उदाहरण पहले दिया जा चुका है। व्याधि की कतिपय अन्य दशायें देखिए

(क) कृशता —

(i) देखत बुरै कपूर ज्यौं उपै जाइ जिन, लाल ।
छिन छिन जाति परी खरी छीन छबीली बाल ।।

(ii) नैंक न जानि परति, यौं पर्‌यौ विरह तनु छामु ।
उठति हियैं लौं नाँदि, हरि, लियैं तिहारौ नामु ।।

(iii) कर के मीड़े कुसुम लौं गई विरह कुम्हिलाइ ।
सदा समीपिनि सखिनुहूँ नीठि पिछानी जाइ ।।

(ख) उन्माद —

(i) बहके, सब जियकी कहत, ठौरु कुठौरु लखैं न ।
छिन औरै, छिन और से, ए छबि छाके नैन ।।

(ग) जागर —

लाल तुम्हारे रूप की कहौ रीति यह कौन ।
जासौं लागत पलक दृग लागत पलक पलौ न ।।

इसी प्रकार व्याधि के दूसरे रूपो के विषय में भी समझना चाहिए। इस प्रकार बिहारी ने वियोग की प्राय सभी दशाओ का वर्णन किया है।

दूसरे रस

हिन्दी के रसशास्त्रीय ग्रन्थो मे शृगार रस का ही विस्तार के साथ निरूपण किया गया है। रसशास्त्र की पूर्णता के निमित्त अन्य रसो के चलते हुए उदाहरण दे दिए गए हैं। इसी परम्परा को बिहारी ने भी निबाहा है। बिहारी की सतसई मे शृगारातिरिक्त रसो के एक-एक या दो-दो उदाहरण दे दिए जा रहे हैं।

शृगार से भिन्न जिस दूसरे रस मे चित्त का विकास पाया जाता है वह है हास्य। हास्य मे चित्त का विकास शृगार के समान केवल आन्तरिक ही नही होता अपितु इस मे चित्त का विकास वाणी और अग इत्यादि के विकार के रूप मे अधिक प्रस्फुटित हुआ करता है। इसमे विशेषता यह है कि अन्य रसो के समान हास्य तथा अद्भुत मे सर्वत्र आश्रय के उपनिबन्धन का अनिवार्य नियम नहीं है। सस्कृत तथा प्राचीन हिन्दी साहित्य मे हास्य रस का प्राय अभाव है। नाट्य शास्त्र मे हास्य के जो आलम्बन गिनाये गये है वे अधिकतर नाट्योपयोगी ही है और उन्ही का अनुकरण कर आचार्यों ने सामान्य रूप मे उनको हास्य का आलम्बन मान लिया है। किन्तु मुक्तक काव्य के क्षेत्र मे ज्योतिषी, वैद्य, पण्डित इत्यादि दो ही चार आलम्बन प्रतिष्ठित हो सके।

बिहारी ने प्रचलित परम्परा के अनुसार हास्य रस के आलम्बन के रूप मे या तो किसी ज्योतिषी को चुना है या वैद्य को। इनके हास्य रस मे शृगार भावना का योग अनिवार्य रूप से पाया जाता है। एक ज्योतिषी का पुत्रजन्म के अवसर पर विषाद और हर्ष भी कितना मनोरजक है। ज्योतिषी जी नवजात पुत्र का जन्म-पत्र देख रहे हैं। उसमे पितृमारक योग देखकर ज्योतिषी जी को बडा दु ख होता है कि पुत्र मुझे ही मारने आया है। किन्तु जब ज्योतिषी जी एक दूसरा योग देखते हैं जिसके अनुसार वह पुत्र उनसे पैदा ही नहीं है तब उनका दु ख हर्ष मे बदल जाता है:—

चितु पितुमारक-जोगु गनि भयौ भयैं सुत, सोगु।
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी समुझैं जारज जोगु ।।

इसी प्रकार इन वैद्य जी की ओर भी देखिए जो स्वय तो नपु सक होने के कारण अपनी पत्नी को सतुष्ट नही कर पाते, किन्तु नपु सकता को दूर करने का पारा दूसरो को बडी प्रशसा के साथ देते है —

बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
बैद-बधू हँसि भेद सौं, रही नाह-मुँह चाहि ।।

एक ओर नपुंसक की मर्यादा की रक्षा किस प्रकार होती है यह भी देखिए —

गुरुजन दूजैं ब्याह कौ, नित उठि रहत रिसाइ ।
पति की पति राखति वधू आपुन बाँझ कहाइ ।

एक पुराण-वाचक पण्डित जी स्वय तो परस्त्री गमन करते है और दूसरो को परस्त्री गमन के दोप समझाते है । उनकी भी दशा देखिए

परतिय-दोपु पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि ।
कसु करि रोकी मिश्रहूँ मुहुँ श्राइ मुसुकानि ।।

विहारी का हास्य शिष्ट है और स्मित के अन्तर्गत आता है ।

(२) जिस मनोविकार से चित्तवृत्ति का विस्तार हो जावे उसे उत्साह कहते है । यदि स्थायिनी चित्तवृत्ति पराक्रमादि के कारण उत्साहमयी हो और आलम्वनादि के सयोग से उसमें आस्वादन की क्षमता उत्पन्न हो जावे तो उसे वीर रस कहते हैं । यह वीर रस अनेक प्रकार का हो सकता है । किन्तु परम्परा-नुरोध से केवल चार ही प्रकार का माना जाता है—दानवीर, दयावीर, धर्मवीर और युद्धवीर । यद्यपि दान और दया का धर्म वीर मे अन्तर्भाव हो सकता है और धर्म के दूसरे भी अनेक भेद सभव हैं तथापि मुनि-वचनानुरोध से आचार्यों ने चार ही प्रकार के उत्साह का रस दशा को प्राप्त होना माना है । विहारी ने वीर रस के विभिन्न भेदो के आश्रय के रूप मे जयसिंह का उपादान किया है । निम्नलिखित दोहो मे जयसिंह की दानवीरता तथा युद्ध-वीरता व्यक्त होती है :—

रहति न रन, जयसाहि मुख लखि, लाखनु की फौज ।
जाचि निराखरऊ चलै लै लाखनु की मौज ।।

दयावीरता का उदाहरण—

घर घर तुरकिनि, हिंदुनी देतिं असीस सराहि ।
पतिनु राखि चादर, चुरी तैं राखी, जयसाहि ।।

धर्मवीरता का उदाहरण —

प्रलय-करन वरसन लगे जुरि जलधर इक साथ ।
सुरपति गरबु हर्यौ हरपि गिरिधर गिरि धरि हाथ ।।

यह दोहा युद्धवीरता का उदाहरण भी हो सकता है ।

युद्धविपयक उत्साह का उदाहरण —

सायाँ सेन, सयान की सबै साहि कैं साथ ।
बाहुबली जयसाहिजू फते तिहारैं हाथ ।।

वस्तुत विहारी ने वीर रस ध्वनि के जो दो चार दोहे लिखे है वे या तो राज-विपयक रति भाव के उदाहरण कहे जा सकते है या भगवद्विपयक रति भाव के । ऐसी दशा मे व्यग्य वीर रस उस रति भाव का अग होकर गुणीभूत हो जाता है । किंतु एक तो आस्वादन का पर्यवसान वीर रस मे ही होता है, दूसरे कवि की रति स्पष्ट रूप मे व्यक्त भी नही हो रही है । अतएव ये उदाहरण वीर रस ध्वनि के ही कहे

जावेंगे, गुणीभूत व्यग्य के नही। (देखो लालचन्द्रिका मे इन दोहो की व्याख्या)

(३) वीर रस के समान ही अद्भुत रस में भी चित्तवृत्ति विस्तार को प्राप्त हो जाती है। इसका स्थायीभाव विस्मय है। जब हम किसी अलौकिक वस्तु को देखते हैं उस समय जो हर्ष तथा कौतूहलमय आनन्द का अनुभव हो जाता है उसे अद्भुत रस कहते हैं। हास्य के समान विस्मय के आश्रय का उपनिबन्धन अनिवार्य नहीं है। यदि आश्रय का उल्लेख किया जावे तो नेत्रो को फाड-फाड कर देखना, टकटकी लगाना, रोमाच, अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधु वाद, चरण-भ्रमण अथवा अगुलि-भ्रमण इत्यादि अनुभाव होते हैं। आवेग, सम्भ्रम, जडता इत्यादि व्यभिचारी होते हैं। बिहारी ने दो दोहे अद्भुत रस ध्वनि के लिखे हैं —

(अ) मोहन-मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ।
बसतु सुचित-अन्तर तऊ प्रतिबिम्बितु जग होइ॥
(आ) या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रँग, त्यौं त्यौं उज्ज्वल होइ॥

प्रथम दोहे मे भगवान् की मूर्ति की विलक्षणता अद्भुत रस का विभाव है और दूसरे दोहे मे चित्त की विलक्षणता का चित्रण किया गया है।

(४) रौद्र रस—इस रस का वर्णन बिहारी की प्रकृति के अनुकूल नही था फिर भी एक उदाहरण में रौद्र रस की ध्वनि लक्षित की जा सकती है —

अनी बड़ी उमड़ी लखैं असिबाहक भट भूप।
मंगलु करि मान्यौ हियैं, भौ मुँहु मगलु रूप॥

मुख का मंगलरूप होना क्रोध का अनुभाव है।

लोपे कोपै इन्द्र लौं रोपे प्रलय अकाल।
गिरधारी राखै सबै गो, गोपी, गोपाल॥

यहाँ पर कृष्ण की युद्ध तथा धर्म वीरता प्रधान है। अतः यह रौद्र का उदाहरण नहीं हो सकता। लालचन्द्रिका मे निम्नलिखित दोहे में रौद्ररस लिखा है :—

हम हारीं कै कै हहा पाइनु पार्‌यौ प्यौरु।
लेहु कहा अजहु किए तेह तरेर्‌यौ त्यौरु॥

किन्तु यहा पर क्रोध स्यायी भाव नही है। यहा पर क्रोध रति स्थायी का सचारी मात्र है। अतएव यहा पर रौद्र रस नहीं हो सकता।

(५) करुण—रौद्र के समान करुण मे भी चित्तवृत्ति आन्दोलित और क्षुब्ध हो जाती है। जब तक अपनी प्रिय वस्तु अथवा व्यक्ति के मिलने की सम्भावना रहती है तब तक तो रति ही स्थायीभाव होता है और उसके अन्तर्गत विपाद रति का पोपक मात्र होता है। किन्तु जब प्रियतम की पुनरावृत्ति की सम्भावना नही रहती है तब वह विपाद शोक का रूप धारण कर करुण रस मे परिणत हो जाता है।

लालचन्द्रिका मे निम्नलिखित दोहो मे करुण रस बतलाया गया है —

(अ) गोपिनु कैं अँसुवनु भरी सदा असोस अपार।
डगर डगर नै ह्वै रही अगर अगर कै बार ॥

(आ) स्याम सुरत करि राधिका तकति तरनिजा तीरु।
अँसुवनु करति तरौंस कौ खिनकु खरौंहो नीरु ॥

इन दोनो दोहो में अश्रु करुणाजन्य नही किन्तु विप्रलम्भजन्य है। क्योंकि यहा पर कृष्ण के पुन सम्मिलन की सम्भावना सर्वथा समाप्त नही हुई है। निम्नलिखित दोहे मे करुण रस की हलकी सी छाया अधिगत होती है —

कहे जु बचन वियोगिनी बिरह विकल बिललाइ।
किए न को अँसुआ सहित सुवाति बोल सुनाइ ॥

नायिका का वियोग व्यथा मे देहान्त हो गया है और उसके अन्त काल के वचन सखियो तथा दूसरे लोगो की आखो मे आँसू लाने वाले है। ये आँसू आलम्बन के विच्छिन्न हो जाने के कारण शृ गार रस के आँसू नही हो सकते, अत. ये करुणा के आँसू हैं।

(७) चौथे प्रकार की चित्त वृत्ति विक्षेपात्मक होती है इस मे किसी विशेष परिस्थिति से पृथक् होने की आकाक्षा होती है। यह चित्तवृति मुख्य रूप मे घृणा होती है और बीभत्स रस के आस्वादन मे कारण बनती है। बिहारी के टीकाकारो ने निम्नलिखित दोहे मे बीभत्स रस बतलाया है —

यौं दल काढे बलक तैं तैं, जयसाहि भुवाल।
उदर अघासुर कैं परैं ज्यौं हरि गाइ गुवाल ॥

यहा पर अप्रस्तुत मे ही बीभत्स की प्रतीति होती है। प्रस्तुत मे उत्साह राज-विषयक रति भाव का अग है। किन्तु आस्वादन का पर्यवसान रौद्र मे होता है। इसी प्रकार 'बचै न बड़ी सबील हूँ, चील-घोसुवा माँसु' मे अप्रस्तुत मे बीभत्स की छाया समझनी चाहिये।

(८) विक्षेपात्मक चित्तवृत्ति की गौण स्थिति भय होती है यह भयानक रस का स्थायी भाव है। निम्नलिखित दोहे के पूर्वार्ध मे भयानक रस ध्वनि है —

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कपि किशोरी दरसि कै खरैं लजाने लाल ॥

बिहारी की रस ध्वनि की दृष्टि से विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि बिहारी ने यद्यपि "भरी अनेक सवाद" सतसई के लिखने का दावा किया है तथापि शृ गार रस के अतिरिक्त अन्य रस परम्परा निर्वाह मात्र के उद्देश्य से लिखे गये हैं। उसमे कवि का काव्यात्मक अभिनिवेश अत्यन्त अल्प मात्रा मे प्रस्फुटित हुआ है। शृंगारेतर रसो मे हास्य और अद्भुत रसो के उदाहरण ही पूर्णतया स्पष्ट कहे जा सकते है।

भरत मुनि ने ये ही ८ रस लिखे थे। बाद मे शान्त रस प्राय सर्वसम्मति से ९ वाँ रस स्वीकार कर लिया गया। वस्तुत मुनि को भी शान्त रस की सत्ता सर्वथा अस्वीकार्य नही है। नाटचशास्त्र के छठे अध्याय के अन्त मे "कही-कही भावो का प्रशम भी होता है" कह कर उन्होने शान्त रस की सत्ता सूचित की थी। किन्तु इसे पृथक् रस न मानने का कारण यही था कि यह रस अभिनय के लिए उपयुक्त नही है। विपयाभिलाष से सर्वतोभावेन निवृत्त हो जाना ही निर्वेद कहलाता है। इसमे भी एक अभूतपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है। निर्वेद जब विभावादि के सयोग से रसरूपता को धारण कर लेता है तब शान्त रस कहा जाता है। कहा भी है —

यच्च कामसुख लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हत पोडशी कलाम्॥ (ध्वन्यालोक की लोचन व्याख्या)

अर्थात् रसो मे जो काम सुख है अथवा जो दिव्य महान् सुख है वह तृष्णा-क्षय से उत्पन्न होने वाले सुख की सोलहवी कला को भी नही प्राप्त हो सकता। योग दर्शन के तृतीय पाद का एक सूत्र है—"तस्य प्रशान्तवाहिता सस्कारात्" अर्थात् जब चित्तवृत्ति की क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त भूमिकायें समाप्त हो जाती है तब व्युत्थानरूप ज्ञानो का अवसर नही रहता, उस समय निरोध सस्कार से चित्त-वृत्ति का प्रभाव प्रशान्त हो जाता है। चतुर्थ पाद मे एक दूसरा और सूत्र है—"तच्छिद्रेपु प्रत्ययान्तराणि सस्कारेभ्य"। इसका आशय यह है कि जिस समय जीव समाधि मे स्थित हो जाता है उस समय भी बीच-बीच मे कुछ ऐसे विघ्नस्वरूप अवसर आते रहते है जिन मे दूसरे प्रकार के प्रयत्नो का आविर्भाव होता रहता है और उनमे पुराने सस्कार कारण होते है। अर्थात् समाधि की दशा मे आने से पहले जिन व्युत्थान रूप ज्ञानो का अनुभव किया था उनसे सस्कार बन जाते है, समाधि मे आ जाने पर भी पीछा नही छोडते। बीच-बीच मे विघ्न उपस्थित होते रहते है और उन अवसरो पर पुराने सस्कारो के बल पर व्युत्थानात्मक ज्ञानो का उद्रेक होता ही रहता है। यह है शान्तरस की पूर्व भूमिका का वर्णन। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शान्त रस की पूर्णावस्था मे भी चेष्टायें होती ही है। इस अनुभव के बल पर कहा जा सकता है कि यम, नियम इत्यादि के मध्य मे बहुत से व्यभि-चारियो की सम्भावना की जा सकती है। अतएव शान्त रस की प्रतीति का अपलाप नही किया जा सकता। जो लोग सभी प्रकार की चित्तवृत्तियो की प्रशम अवस्था को ही शान्त रस की सज्ञा प्रदान करते है उनका भी आशय यही है कि जिस चित्तवृत्ति मे तृष्णा का प्रशम हो गया हो वही चित्तवृत्ति शान्त रस कहलाती है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि अभ्यास-शून्यता की अवस्था शान्त रस की सज्ञा नही प्राप्त कर सकती क्योकि रसन के लिये आनन्दानुभव अनिवार्य है।

ऐसी दशा में तृष्णा-प्रशम को ही शान्त रस कहना उचित होगा। इस तृष्णा-क्षय मे उसी प्रकार का आनन्द आया करता है जिस प्रकार पूर्ण रूप से भोजन कर लेने पर भोजन इच्छा के अभाव मे एक अनुपम तृप्ति का अनुभव होता है। इसके विभाव होते है शास्त्रानुशीलन, वीतरागो का ससर्ग, परमात्मतत्व, जगत् की असारता का ज्ञान इत्यादि। अनुभाव होते है रोमाच इत्यादि और हर्ष, स्मरण, मति इत्यादि सचारी भाव होते है।

बिहारी ने शान्तरस के बहुत से दोहे लिखे है। शान्त रस का विस्तार-पूर्वक निरूपण अगले अध्याय में किया जायेगा। दो-एक उदाहरण लीजिये —

कोऊ कोरिक सग्रहौ कोऊ लाख हज़ार।
मो संपति जदुपति सदा विपति विदारनहार॥

यहाँ पर कवि की तृष्णा-शून्यता के साथ भगवद्विश्वास का परिचय प्राप्त होता है। इतना ही नही कवि तो किसी न किसी रूप मे भगवान् का दरवाजा छोड़ने को उद्यत नही है —

हरि, कीजति बिनती यहै तुमसौं बार हजार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्यौ रहौं पर्यौ रहौं दरबार॥

यहाँ पर आत्मगर्हणा और भगवत् शरणागति की भावना ध्वनित होती है। इसी प्रकार शान्त रस के दूसरे उदाहरणो के विषय मे भी समझ लेना चाहिये।

रसाभास और भावाभास

अनौचित्य प्रवृत्त रस और भाव मे आस्वादन व्याहत हो जाता है क्योकि इसमे अधर्म की गन्ध आती है। इसी लिए इसे रसाभास और भावाभास की सज्ञा प्राप्त होती है। जो प्रेम धर्मशास्त्र तथा लौकिक मर्यादा से अनुमोदित होता है वह रस की श्रेणी मे आता है तथा तद्भिन्न प्रेम, रसाभास (शृ गाराभास) कहलाता है। स्वकीया प्रेम तथा कन्या प्रेम, रस होते है। नायकगत परोढा प्रेम रसाभास होता है। इसी प्रकार परोढा का उपनायक से प्रेम-पुरुषप्रवृत्त रति, नायिका का अनेक पुरुष-विषयक प्रेम इत्यादि भी रसाभास ही कहलाते है। परोढा प्रम का उदाहरण —

देह लग्यौ ढिग गेह पति, तऊ नेहु निरबाहि।
नीची अँखियनु ही इतै गई कनखि मनु चाहि॥

यह नायिका परोढा है। यह अपने विवाहित पति के साथ बैठी हुई भी उपनायक को देखती है। परोढा के प्रेम मे देवर के प्रेम का वर्णन अधिकतर किया गया है। बिहारी ने भी देवर प्रेम विषयक कई एक दोहे लिखे हैं। जैसे —

देवर फूल हने जु सु उठे हरषि अँग फूलि।
हँसी करति ओषधि सखिनु देह ददोरनु भूलि॥

यदि नायिका का प्रेम पहले हो तो भी रसाभास ही होता है। इसी प्रकार अनुभयनिष्ठ रति भी रसाभास की ही श्रेणी मे आती है। निम्नलिखित दोहे मे

केवल नायकनिष्ठ रति है .—

कहति न देवर की कुबत कुल तिय कलह डराति।
पंजर-गत मजार-डिग सुक ज्यौं सूकति जाति।।

यहा पर केवल देवर प्रेम करता है नायिका को प्रेम नही है। पुरुष-प्रवृत्त रति अत्याचार की सीमा तक पहुँच सकती है। इसीलिए रसाभास मानी जाती है। अनेक कांत-विषयक रति का उदाहरण —

लखि लौने लोइननु के कोइनु होइ न आजु।
कौनु गरीवु निवाजिबौ कित तूठ्यौ रति राजु।।

यहाँ पर "आजु" इस काल वाचक क्रिया विशेषण से व्यक्त होता है कि नित्य नया प्रेम करना नायिका का स्वभाव है। तिर्यंगत प्रेम को भी रसाभास माना जाता है किन्तु विहारी ने इसका वर्णन नही किया है। मुनि-गुरु पत्नी इत्यादि विषयक प्रेम का परोढा मे ही समावेश हो जाता है। कुछ आचार्य रसाभास मे सदोष-रसता मानते हैं। उनके मत में रस के अनौचित्य प्रवृत्त होने पर भी रसनीयता वनी ही रहती है किन्तु वह सदोष हो जाती है। दूसरे लोग रसाभास को रस की सीमा मे सन्निविष्ट ही नही करते। उनके मत मे रस उज्ज्वल ही होता है, कालुष्य आ जाने पर उसमे रसनीयता रहती ही नही। दूसरे रसो के भी आभास हो सकते हैं। किन्तु आचार्यों ने अधिकतर शृंगार रस के उदाहरण देकर दिग्दर्शन मात्र करा दिया है। विहारी ने भी रसो के आभासो के उदाहरण नही दिए हैं। इस प्रकार अनौचित्य-प्रवृत्त रस मे जहाँ किसी विशेष भाव की प्रधानता अभिव्यक्त होती है वहाँ भावाभास ध्वनि कही जाती है। जैसे .—

सनु सूक्यौ, बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहरी अजैं धरु धरहरि जिय नारि।।

यहाँ पर, नारि, सम्बोधन से परोढागत उपपति-विषयक विषाद की ध्वनि होती है अतएव यह भावाभास ध्वनि है।

भाव-संधि, भावोदय, भाव-शान्ति और भाव-शबलता

जिस प्रकार विद्यमान भाव की ध्वनि आस्वादन प्रवर्तक होती है उसी प्रकार भावो की विभिन्न अवस्थायें भी आस्वादन मे निमित्त होती है। किन्तु अवस्थाओ के आस्वादन मे पर्यवसान भाव ध्वनि मे ही होता है। तो भी आस्वादन की प्रयोजिका विभिन्न अवस्थायें ही होती हैं। आचार्यों ने भाव की चार अवस्थायें आस्वादन मे निमित्त मानी हैं —भाव सन्धि, भावोदय, भाव शान्ति, और भाव शवलता। ये अवस्थायें रस की नही हो सकती क्योकि रस अखण्ड स्वरूप माना जाता है। अतः आचार्यों ने रस सन्धि इत्यादि भेद नही किए है।

(१) भाव सधि—जहाँ पर दो भाव मिलकर आस्वादन मे निमित्त हो रहे हो वहाँ पर भाव सन्धि होती है। वैसे तो एक ही स्थान पर अनेक सचारी अधिक-

तर हुआ ही करते हैं किन्तु उनमें भाव सन्धि की प्रतीति नही होती। जिन भावो में एक मे मिलकर सघात रूप आस्वादन उत्पन्न करने की क्षमता होती है वहाँ भाव सधि नही कही जाती। भाव-सन्धि वही पर होती है जहाँ दो विरोधी भावो का एक साथ वर्णन किया जाता है और वे साघातिक प्रभाव न उत्पन्न कर पृथक् पृथक् आस्वादन मे कारण बनते हैं। दो भावो की सन्धि एक ही विभाव के प्रति भी हो सकती है और अनेक विभावों के प्रति भी। बिहारी ने निम्नलिखित दोहे मे एक ही विभाव के प्रति व्रीडा और औत्सुक्य की सन्धि दिखलाई है—

छुटैं न लाज न लालचौ प्यौ लखि नेहरगेह।
सटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह॥

यहाँ पर प्रियतम विभाव है, नेत्रों का सटपटाना अनुभाव है और व्रीडा तथा औत्सुक्य की ध्वनि आस्वादन मे निमित्त है। निम्नलिखित दोहे मे व्रीडा तथा औत्सुक्य का अच्छा चित्रण है —

करे चाह सौं चुकुटि कै खरैं उढौहैं मैन।
लाज नवाएँ तरफरत, करत खूँद सी नैन॥

यहाँ पर एक ही आलम्बन के प्रति व्रीडा और औत्सुक्य की ध्वनि है।

पिय बिछुरन कौ दुसहु दुखु, हरसु जात प्यौसार।
दुरजोधन लौं देखियति तजत प्रान इहि बार॥

यहाँ पर अनेक विभावो के प्रति हर्ष और विषाद की सन्धि है।

ममरस समर-सकोच-वस-विवस न ठिक ठहराइ।
फिरि फिरि उझकति फिरि दुरति, दुरि दुरि उझकत भाइ॥

यहा पर अनुभाव-मुख से व्रीडा और औत्सुक्य सन्धि का चमत्कारकारक वर्णन किया गया है।

(२) भावोदय और (३) भाव शान्ति मे क्रमश उदय और अस्त के समय भाव आस्वादन मे निमित्त बनते है। काव्यप्रकाशकार का मत है कि भावोदय और भाव-शान्ति दोनो प्रायः एक ही स्थान पर हुआ करते हैं किन्तु आस्वादन के प्रकर्ष के आधार पर उन्हें भावोदय या भाव-शान्ति की सज्ञा प्रदान की जाती है। इसके प्रतिकूल रसगगाधरकार ने अपने उदाहरणो मे दोनो को पृथक्-पृथक् रखा है। वस्तुत उदयव्यतिरिक्त शान्ति भी हो सकती है और शान्तिव्यतिरिक्त उदय भी। किन्तु आस्वादन का प्रकर्ष एक की शान्ति और दूसरे के उदय मे ही होता है। बिहारी मे दोनो प्रकार के उदाहरण प्राप्त होते हैं। जैसे :—

हेरि हिंडौरैं गगन तैं परी परी सी टूटि।
धरी धाइ पिय बीच ही, करी खरी रस लूटि॥

यहा पर त्रास का उदय आस्वादन मे निमित्त है। इसी प्रकार —

सुरति न ताल न तान की उठ्यौ न सुरु ठहराइ।
एरी रागु बिगरिगौ बैरी बोलु सुनाइ॥

यहा पर जड़ता का उदय दिखलाया गया है।

सोवत लखि, मनु मानु धरि ढिग सोयौ प्यौ आइ।
रही, सुपन की मिलनि मिलि तिय हिय सौं लपटाइ॥

यहा पर अमर्ष की शान्ति आस्वादन मे निमित्त है। निम्नलिखित दोहो में भावोदय और भाव-शान्ति का सम्मिलित वर्णन है·—

बिथुरयो जावक सौति पग निरखि हँसी गहि गाँसु।
सलज हसौही लखि लियौ आधी हसी उसासु॥

यहाँ पर ईर्ष्या की शान्ति और विषाद का उदय आस्वादन मे कारण है —

इसी प्रकार —

सतर भौंह रूखे बचन करति कठिनु मनु नीठि।
कहा कहौं ह्वै जाति हरि हैरि हसौही दीठि॥

यहाँ पर अवहित्था की शान्ति और हर्प का उदय आश्वादन मे निमित्त है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

(८) भाव-शवलता—कई भावो के मिलन को कहते है। इस विपय मे भी दो मत हैं। काव्यप्रकाशकार विरोधी भावो के उपमर्द्य-उपमर्दक भाव मे भाव शवलता मानते है और पण्डितराज किसी भी अवस्था मे भावो के मिलन मे भाव शवलता स्वीकार करते है। यदि भावशवलता के लिए उपमर्द्य-उपमर्दक भाव की अनिवार्यता न भी मानी जावे तो भी भावो का विरोधी होना तो अनिवार्य होगा ही, अन्यथा समान भावो की शवलता न होकर सघात रूप ही आस्वादन मे कारण हो जावेगा।

विहारी मे भाव-शवलता का उदाहरण —

वालमु वारैं सौति के सुनि परनारि विहार।
भौ रसु अनरसु, रिस रली, रीझि, खीझ इक बार॥

यहाँ पर ईर्प्याजन्य सुख, दूसरी सपत्नी के सामने आ जाने का दु.ख, नायक के अपने अवसर पर दूसरे के यहाँ न जाने पर रीझ और वुरी आदत के पड जाने की खीझ इन विरुद्ध भावो की शवलता आस्वादन मे निमित्त है।

इस प्रकार ध्वनि काव्य के समस्त भेद-उपभेद न्यूनाधिक रूप मे विहारी मे विद्यमान है और सभी प्रकार के उदाहरणो के सकलित करने मे विहारी को सफलता मिली है।

———

चतुर्थ अध्याय

अलंकार

चारुता की प्रतीति ही काव्य की आत्मा है, इस विषय मे भारतीय काव्य-शास्त्राचार्यों में मतभेद नही है। स्वय अभिनव गुप्तपादाचार्य ने कहा है —

यच्चोक्तम्—चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्यात्मा इति तदगीकुर्म एव। नास्ति खल्वय विवाद इति। (लोचन-पृ०-३३)

साहित्य के प्रारम्भ युग के आचार्य दण्डी ने इष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली को काव्य कहा और अन्त मे पण्डितराज ने रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द को काव्य कहकर उसका उपसहार किया। इष्टता और रमणीयता चारुता के ही दूसरे नाम हैं। इस प्रकार भारतीय मनीषी चारुता-प्रतीति को काव्य की आत्मा मानने मे एक-मत है। चारुता प्रतीति के उपकरणो मे मतभेद का प्रारम्भ होता है। काव्यशास्त्राचार्य इस विषय मे अधिक हठधर्मिता नही दिखलाते कि काव्य के उपकरण कितने और कौन कौन से हो सकते है। उनकी सख्या घट भी सकती है और बढ भी सकती है तथा उनके रूप मे भी परिवर्तन हो सकता है। यही कारण है कि प्राचीनो के प्रति मान्यता और श्रद्धा की भावना रखते हुए भी सभी नवीन आचार्यों ने अपने अपने ढग से अलकारो की सख्या तथा उनके स्वरूप का निर्णय किया है। इन आचार्यों के मत मे सामान्य सिद्धान्त (चारुता-प्रतीति) को काव्यात्मा के रूप मे अगीकृत कर लेने मात्र से प्राचीनो के आदर्श का निर्वाह हो जाता है। उपकरणो के तारतम्य का स्वतन्त्र निर्धारण प्राचीनो के प्रति श्रद्धा मे व्याघात उपस्थित नही करता। हाँ, समस्त उपकरणो को किस एक नाम से अभिहित किया जावे, इस विषय मे मतभेद हो सकता है और यही मतभेद विभिन्न सम्प्रदायो के प्रवतन का मूलाधार है। प्राचीन आचार्य चारुता-प्रतीति के समस्त उपकरणो को अलकार की सज्ञा प्रदान करते थे। चाहे उक्ति-वैचित्र्य हो, चाहे रसानुभूति हो चाहे वाच्य-व्यतिरिक्त अर्थ की प्रतीति हो, ये आचार्य सभी को अलकार नाम से ही अभिहित करते थे। इन लोगों ने कभी इस बात पर विचार नही किया था कि यदि काव्य के समस्त अगो को अलकार कहा जावेगा तो अलकार्य कौन होगा। अलकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य थे भामह, उद्भट और रुद्रट।

कतिपय आचार्यों को आभूषण-स्थानीय अलकारो की नित्यधर्मिता उचित प्रतीत नही हुई। अतएव उन्होने गुणो तथा तदाश्रित रीतियो को काव्यात्मा के रूप मे अगीकृत किया। किन्तु उनके मत मे भी अलकारो का उतना ही माहात्म्य बना रहा, इसमें सन्देह नही। इन आचार्यों मे प्रमुख थे वामन और दण्डी। वामन

ने स्पष्ट शब्दो में रीति को काव्य की आत्मा स्वीकृत किया। दण्डी ने स्पष्ट तो नही कहा, किन्तु जिस रूप मे उन्होने अलकारो और रीतियो का विवेचन किया है उससे प्रकट हो जाता है कि वे भी रीतियो को अलकारो की अपेक्षा अधिक महत्व देते थे। इसीलिए दण्डी को भी रीति सम्प्रदायवादियो मे ही स्थान दिया जाता है। अलकार सम्प्रदायवादियो के समान उसमे यही त्रुटि थी कि इन लोगो ने इस वास्तविकता की ओर ध्यान नही दिया था कि गुण सर्वदा द्रव्याश्रित होते है। रीति का पर्यायवाचक दण्डी ने मार्ग लिखा है। यदि मार्ग ही साध्य हो जावेगा तो गन्तव्य स्थान का क्या होगा ?

ध्वनि सिद्धान्त के आविर्भाव के पहले यही दो सम्प्रदाय प्रतिष्ठित थे। यद्यपि कतिपय आचार्यों ने रस को भी पर्याप्त महत्व दिया था और भामह की वक्रोक्ति मे ध्वनि सिद्धान्त का बीज भी अन्तर्निहित ही था तथापि तब तक किसी ने भी खुलकर ध्वनि या रस को काव्य की आत्मा नही कहा था। इतना ही नहीं, ये आचार्य काव्य के सभी अगो को अलकार या रीति मे ही सन्निविष्ट कर देना चाहते थे। इन लोगो की घोषणा थी कि न केवल वर्तमान अपितु भविष्य मे भी प्रतीति-गोचर होने वाले समस्त काव्य तत्वो को अलकार या रीति मे ही अन्त-र्भुक्त कर देना चाहिये। अभिनवगुप्त के समय तक ऐसे लोग विद्यमान रहे जो ध्वनि को रीति या अलकार का एक भेद मानते थे। अभिनव गुप्त ने ध्वनि के पूर्व-पक्ष की स्थापना करते हुए ऐसे लोगो की मनोवृत्ति का इस प्रकार परिचय दिया है —"इन लोगो का कहना है कि यदि ध्वनि को चारुता का हेतु मान भी लें और वह शब्द, अर्थ, गुण और अलकारो के अन्तर्भूत भी सिद्ध हो जावे तो भी ध्वनि नाम की कोई अपूर्व वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती। ध्वनि भी चारुता-हेतुओ मे एक है। अतएव उपर्युक्त चारुता-हेतुओ मे उसका अन्तर्भाव कर दिया जाना उचित है।........ शब्द और अर्थ की विचित्रतायें अनन्त है। इस प्रकार यह मान लिया जावे कि ऐसा कोई प्रकार सम्भव है जिसको काव्य के प्रसिद्ध लक्षणकार आचार्यों ने नही दिख-लाया है तो भी उसका सग्रह सामान्य लक्षण के द्वारा ही हो जाता है। सामान्य सिद्धातो के अगीकार कर लेने पर यदि कोई नया प्रकार निकलता है तो उसका समावेश सामान्य लक्षण के द्वारा अलकारादिको मे ही हो जाता है।" (लोचन प्रथम उद्योत)। ध्वनि सिद्धान्त के प्रकाश मे आने से पहले प्रसिद्ध प्रस्थान मे चार तत्व माने जाते थे। अलकार, गुण, रीति और वृत्ति। इसकी व्याख्या, इस प्रकार की जाती थी—शब्द और अर्थ की चारुता ही काव्य का जीवन है। यह चारुता दो प्रकार की हो सकती है—शब्दस्वरूपगत चारुता और सघटनागत चारुता। शब्दस्वरूपगत चारुता शब्दालकार के नाम से अभिहित होती है और अर्थस्वरूपगत चारुता अर्थालकार कही जाती है। शब्द सघटनागत चारुता शब्द गुण कहलाती है और अर्थसघटना-गत चारुता अर्थ गुणो के नाम से पुकारी जाती है। उपनागरिका आदि वृत्तियो का समावेश अलकारो मे हो जाता है और वैदर्भी इत्यादि रीतियो का समावेश गुणो मे

हो जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ध्वनि सिद्धान्त के सत्ता मे आने से पहले केवल दो सम्प्रदाय प्रतिष्ठित थे—अलकार सम्प्रदाय और गुण सम्प्रदाय। गुण सम्प्रदाय का ही दूसरा नाम रीति सम्प्रदाय भी था।

ध्वनिकार ने एक ओर ध्वनि सिद्धान्त के द्वारा काव्य के विस्तृत क्षेत्र का समाहार किया दूसरी ओर अलकार तथा गुण को यथास्थान विन्यस्त करने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी सम्पादित किया। सर्वप्रथम उन्होने अलकार और अलकार्य का ठीक विभेद किया। उन्होने बतलाया कि अलकार चाहे उक्ति वैचित्र्यमूलक हो, चाहे वस्तु-व्यजनामूलक हो और चाहे भाव-व्यजनामूलक हो वह अलकार की सज्ञा तभी प्राप्त कर सकता है जब किसी दूसरे तत्व को अलकृत करे। उन्होने इस बात से भी सावधान किया कि यदि काव्य मे अलकार ही चरम उपास्य हो जावेगा तो वह अलकार्य को सर्वथा आक्रान्त कर लेगा और उसका अलकारत्व-धर्म ही समाप्त हो जावेगा। ध्वनिकार का कहना है कि अलकारो की काव्यात्मता का आशय यही है कि उक्ति-वैचित्र्य की प्रधानता सम्पादित की जावे। ऐसी दशा मे उपपाद्य वस्तु दब जाती है और विनेयाभिमुखीकरण-प्रयोजन सिद्ध नही होता। वही अलकार प्रतिपाद्य वस्तु को अलकृत कर सकता है जो अपृथग्यत्न-निर्वर्त्य हो अर्थात् कवि का पूरा ध्यान रसबन्ध मे लगा हो और बिना ही उसके यत्न किए हुए अलकार का स्वत प्रयोग हो जावे। ऐसा ही अलकार काव्यशोभाधायक धर्म होता है। कभी-कभी तो इस प्रकार अलकार के प्रयोग हो जाने पर कवि को स्वय आश्चर्य हो जाता है कि अमुक अलकार बिना ही उसके प्रयत्न किए हुए कैसे आ गया।

शृगार रस सबसे अधिक महत्वपूर्ण और सर्वाधिक आनन्ददायी होता है। अतएव इस रसानुबन्ध के अवसर पर विशेषरूप से सावधान रहने की आवश्यकता है। विशेषरूप से अनुप्रास, यमक और सभगश्लेष इत्यादि अलकारो के प्रयोग मे सावधानी बरतनी चाहिए। यदि शृगाररस मे एक से अनुबन्ध वाला अनुप्रास लाने की चेष्टा की जाती है तो वहाँ पर अनुप्रास प्रधान हो जाता है और उससे शृगार रस का प्रकाशन नहीं होता। यदि अनेकरूपानुबन्ध वाला अनुप्रास स्वत आ जाता है तो दोष नही होता। इसी प्रकार कवि कितना ही प्रतिभाशाली क्यो न हो यमक का बहुल प्रयोग उसके काव्य को बिगाड ही देता है। विप्रलम्भ शृगार मे तो यमक का प्रयोग नही ही करना चाहिए। यही बात सभगश्लेष के विषय मे कही जा सकती है। कारण यह है कि इन अलकारो के लिए पृथक् प्रयत्न करना ही पडता है। अर्थालकारो का बहुल प्रयोग इतना रसोपघातक नही होता। आलोककार का कहना है कि प्रतिभाशाली कवियो के सामने अर्थालकार होड सी लगाकर स्वत आया करते हैं। रसाक्षेप वाच्य के द्वारा ही होता है। अतएव वाच्यार्थगत अलकार रस का परिपोष ही करते है। फिर भी अर्थालकारो के प्रयोग मे इन बातो का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। अलकार को अगी कभी नहीं बनाना चाहिए, उसे सर्वथा रसपरक

ही रखना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि किसी विशेष अलकार का कहाँ पर ग्रहण करना उचित है और कहाँ पर त्याग करना। अलकार को पूर्णता तक पहुँचाने का विशेष प्रयत्न कभी नही करना चाहिये। यदि अलकार पूर्णता को पहुँच ही गया हो तो भी उसे प्रयत्नपूर्वक रसादि का अग बना देना चाहिए। यदि इन बातो का ध्यान रक्खा जाता है तो अलकार वास्तव मे अलकार का कार्य करता है।

अलकारो की सख्या बहुत लम्बी है। प्रारम्भ मे मुनि ने केवल चार अलकारो का वर्णन किया था—उपमा, रूपक, दीपक और यमक। यह सख्या भामह के समय तक ३८ हो गई और उद्भट ने इसे बढाकर ४८ तक पहुँचा दिया। रुद्रट अलकार सम्प्रदाय के अन्तिम आचार्य है। इन्होने पुराने अलकारो के भेदोपभेद किये और प्रचलित सख्या मे ३० नये अलकार और जोड़ दिए। दण्डी और वामन रीति सम्प्रदाय के आचार्य माने जाते हैं। किन्तु अलकारो के विवेचन मे भी इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि रुद्रट के बाद अलकार सम्प्रदाय का ह्रास हो गया तथापि अलकारो का महत्व कम नही हुआ। भोजराज, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ प्रभृति काव्यशास्त्राचार्यों ने विस्तारपूर्वक अलकारो का निरूपण किया। चन्द्रालोक मे अलकारो की सख्या १०० तक पहुँच गई और अप्पयदीक्षित ने इसे बढाकर १२३ तक पहुँचा दिया।

हिन्दी साहित्यशास्त्र एक ओर सस्कृत की पुरानी परम्परा से निस्यूत हुआ है और दूसरी ओर फारसी की चमत्कारवादी प्रवृत्ति का भी इस पर प्रभाव पडा। अतएव प्रारम्भ से ही हिन्दी के आचार्यों का ध्यान शृगार विवेचन के साथ-साथ अलकार-विवेचन की ओर भी पर्याप्त मात्रा मे रहा है। बिहारी से पहले हिन्दी मे भी कई अलकार ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। प्रसिद्ध आचार्य केशव की कविप्रिया मे अलकारो का विस्तृत विवेचन केशवमिश्र के अलकार शेखर के आधार पर किया गया है। इसमे अलकारो के दो भेद किये गये हैं—साधारण और विशिष्ट। साधारण अलकारो मे कविशिक्षा है और विशिष्ट मे ३७ अलकारो का विवेचन किया गया है। अलकारो का विभाजन तथा वर्गीकरण उक्ति, उपमा, तुलना, यमक, श्लेष, विरोध, कार्य-कारण सम्बन्ध आदि को मानकर किया गया है। केशव ने काव्य की उपादेयता के लिये अलकारो का होना अत्यन्त आवश्यक माना है। केशव के अतिरिक्त करणेश का करणाभरण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण भी अलकार की प्रसिद्ध रचनायें है। सम्भवत गोपा का रामभूषण भी बिहारी के पहले की रचना है। चिन्तामणि त्रिपाठी लिखित कविकुल कल्पतरु के तीसरे अध्याय मे अर्थालकारो का विस्तृत विवेचन है। जसवन्तसिह का भाषा भूषण हिन्दी साहित्य की अत्यन्त प्रसिद्ध कृति है। कुछ लोगो का मत है कि इसकी रचना स्वय बिहारी ने जसवन्तसिह के नाम पर की थी। किन्तु इसमे कोई पुष्ट प्रमाण नही।

ध्वनि काव्य की दृष्टि से अलकारो को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—व्यग्यार्थ-मूलक अलकार और व्यग्यार्थोपस्कारक अलकार। व्यग्यार्थ-मूलक अनकार भी दो प्रकार के होते हैं—रसाभिव्यजनामूलक अलकार और वस्तु-व्यजना-मूलक अलकार। व्यग्यार्थोपस्कारक अलकार व्यग्य वस्तु और रस का उपस्कार करते है तथा कभी-कभी वाच्य वस्तु तथा अलकार का भी उपस्कार करते हैं। इनके भी दो भेद किये जा सकते हैं—शब्दालकार और अर्थालकार। अर्थालकार भी दो प्रकार का होता है स्वभावोक्ति तथा अतिशयोक्ति। अतिशयोक्ति औपम्य इत्यादि अनेक तत्वो का आधार लेती है।

जैसा कि बतलाया जा चुका है, बिहारी अलकारवादी नही थे और न अलकार को काव्य मे अपरिहार्य ही मानते थे। किन्तु इन्होने स्वच्छन्द रूप मे अलकारो का पर्याप्त प्रयोग किया है और आजकल समालोचक जगत् मे अपनी चमत्कारवादी सूक्तियो के लिए प्रसिद्ध हो गये हैं। इनका एक भी दोहा ऐसा नही है जिसमे चमत्कार, उक्ति-वैचित्र्य या किसी अलकार का प्रयोग न पाया जाता हो। यद्यपि यह तो नही कहा जा सकता कि बिहारी ने सभी अलकारो का प्रयोग किया है किन्तु अधिकतर अलकार बिहारी की रचना मे मिल ही जाते हैं। बिहारी के अलकार-प्रयोग की सबसे बडी विशेपता यह है कि इसमें पूरी सावधानी बरती गई है। अलकार बाहुल्य या निर्वहणपरता के कारण कही रसभग नही होने पाया है। यमक जैसे अलकार भी बडे ही स्वाभाविक रूप मे आये हैं। यही बिहारी की रससिद्धता है कि रसबन्धाभिनिवेश के होते हुए भी अलकार होड सी लगाकर आते है और रस परिपोप मे अपना पूरा भाग अदा करते हैं।

बिहारी की टीकाओ में प्रत्येक दोहे के अलकारो का प्राय. विवेचन किया गया है। इनका वर्गीकृत रूप यहाँ पर अत्यन्त सक्षिप्त रूप में दिया जा रहा है। अलकारों का विशेष अध्ययन टीका-ग्रन्थो से ही करना चाहिए।

अलकारों की दृष्टि से बिहारी का एक अध्ययन

(अ) रसाभिव्यजना-मूलक अलकार—रसाभिव्यजनामूलक अलकारो की परिभापा के विषय मे कई मत हैं— (१) पुराने आचार्य मानते थे कि जहाँ कही रस हो वही रसवत् इत्यादि अलकार हुआ करते है। (२) ध्वन्यालोककार ने बिना किसी आचार्य का नाम निर्देश किए इस मत का उल्लेख किया है कि जहाँ कही भी चेतन वस्तु का वर्णन होता है वहाँ रसवत् इत्यादि अलकार हुआ करते हैं। अचेतन वस्तु वर्णन मे ये अलकार नही हो सकते। कारण यह है कि रस तथा भाव की स्थिति के लिए चित्तवृत्ति अपेक्षित होती है और वह अचेतन मे सम्भव नही, चेतन मे ही हो सकती है। उद्भट तथा उनके अनुयायियो ने दो मतो का और निरूपण किया है—(१) जहा रस इत्यादि प्रधान होते हैं वही रसवत् इत्यादि अलकार होते हैं। यदि रस इत्यादि गौण हो तो उदात्त अलकार होता है। (२) रस इत्यादि भी

रूपक इत्यादि के समान शोभाधायक ही होते हैं। इसी साम्य को लेकर रस इत्यादि को अलकार कह दिया जाता है। वस्तुत रस इत्यादि के विषय मे अलकार शब्द का प्रयोग सर्वथा गौण होता है। किन्तु यह कोई भी मत ध्वनिकार को समीचीन प्रतीत नही हुआ। हम रस की सत्ता मात्र से ही उसे अलकार नही कह सकते क्योकि ऐसी दशा मे अलकार और अलकार्य का भेद नही किया जा सकता। हम चेतन वस्तु-वृत्त को भी रसालकार नही कह सकते। कारण यह है कि काव्य-रसास्वादन के लिए चेतन वस्तु वृत्त की योजना अनिवार्य होती है। दूसरी बात यह है कि विभाव, अनुभाव और सचारी भाव की सत्ता भी चेतनगत ही होती है। अतएव चेतन वस्तु-वृत्तयोजनामात्र मे रसालकार मानने पर उपमा इत्यादि का सर्वथा विपयापहार हो जावेगा। रस इत्यादि के प्रधान होने पर भी हम रसालकार की सज्ञा प्रदान नही कर सकते। क्योकि ऐसी दशा में जो अलकार्य होता है वह अलकार कभी नही हो सकता। उदात्त अलकार रसादिको के गौण होने पर नही होता किन्तु महान् लोगो के चरित्र वर्णन मे ही उदात्त अलकार होता है। अतएव ध्वनिकार ने सिद्धान्त स्थापित किया कि जहाँ पर वाच्य, वाचक तथा इनकी चारुता के अनेक हेतु रस को पुष्ट करते है और इन सबसे पुष्ट होकर रस प्रधान रूप से आस्वाद का विपय बनता है वहाँ पर रस अलकार नही कहा जा सकता किन्तु वहाँ पर रस ध्वनि का ही रूप धारण करता है। इसके प्रतिकूल जहा पर वाक्य का वाच्यार्थ अथवा कोई अन्य व्यग्यार्थ प्रधान हो और कोई रस इत्यादि अभिव्यक्त होकर उसमे सरसता का सम्पादन करते हुए उसे अलकृत करे वहाँ पर रसाभिव्यजनामूलक अलकार होते हैं। यही सिद्धान्त ठीक भी है। क्योकि इसमे अलकार तथा अलकार्य का ठीक रूप मे विभाजन किया जा सकता है।

प्राचीन आचार्यों ने रसाभिव्यजनामूलक अलकारो के चार प्रकार बतलाये थे–(१) जहा रस दूसरे तत्त्व का परिपोप करता है वहाँ पर रसवत् अलकार होता है। (२) जहाँ पर भाव किसी दूसरे तत्त्व का परिपोप करता है वहाँ पर प्रेय अलकार होता है। (३) जहा पर रसाभास और भावाभास किसी अन्य तत्त्व का परिपोषण करते हैं वहाँ पर ओजस्वी अलकार होता है और (४) जहाँ पर भाव-शान्ति किसी दूसरे तत्व का परिपोप करती है वहाँ पर समाहित अलकार होता है। काव्य-प्रकाशकार ने लिखा है कि जिस प्रकार भावशाति अलकार का रूप धारण कर सकती है उसी प्रकार भाव की तीन और अवस्थायें भावोदय, भाव सन्धि और भावशबलता भी अलकार हो सकती हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर ये सात प्रकार के अलकार हो सकते है।

बिहारी का निम्नलिखित दोहा लीजिये —

सामा सेन सयान के सबै साहि कैं साथ।
बाहुबली जय-शान्ति जु फतेह बिहारो हाथ॥

यहाँ पर शत्रु सेना आलम्बन है। उसका अपकारी होना उद्दीपन है। बाहुबल दिखलाना अनुभाव है। हर्ष इत्यादि सचारी भाव है। इनमे पुष्ट होकर जयसिंह के उत्साह ने वीर रस का रूप धारण किया है। यह वीररस कवि की राजविषयक रति का अग हो गया है। कवि की राजविषयक रति ही प्रधान वर्ण्य-विषय है। अतएव यहाँ पर रसवत् अलकार है।

इसी प्रकार

घर घर तुरकिनि, हिन्दुनी देति असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर चुरी तैं राखी, जयसाहि ।।

यहाँ पर मुख्य वर्ण्य विषय है कवि की राजविषयक रति। उसे पुष्ट करती है हिन्दुओ और तुर्कों की स्त्रियो की राजा के प्रति कृतज्ञता की भावना और कृतज्ञता की भावना को राजा की शत्रुसहारक वीरता पुष्ट करती है। वीरता द्वारा कृतज्ञता तथा श्रद्धा की भावना के पुष्ट होने में रसवत् अलकार है और कृतज्ञता की भावना के द्वारा कवि की राजविषयक रति के पुष्ट होने मे प्रेय अलकार है। इन दोनो की यहाँ पर ससृष्टि है।

तीसरा उदाहरण —

यौं दल काढ़े बलख तैं तैं जयसाहि भुआल।
उदर अघासुर कैं परैं ज्यौं हरि गाइ गुवाल ।।

यहाँ पर राजा का वीर रस कवि की राजविषयक रति को पुष्ट करने के कारण रसवत् अलकार ही है। पिछले उदाहरणो से इसमे अन्तर यह है कि पिछले उदाहरण शुद्ध रसवत् अलकार के उदाहरण है और यह सकीर्ण रसवत् का उदाहरण है। यहाँ पर वीररसालकार के साथ उपमा का सकर हुआ है।

चौथा उदाहरण —

प्रतिबिंबित जयसाहि दुति दीपति दरपन-धाम।
सबु जग जीतन कौं कर्‌यौ काय-व्यूह मनु काम ।।

यहाँ शृ गार रस कवि की राजविषयक रति का पोषक होने के कारण रसवत् अलकार है। यह भी उत्प्रेक्षा से सकीर्ण है।

रसवत् अलकार का पाँचवाँ उदाहरण —

गोपिनु सँग निसि सरद की रमत रसिकु रस-रास।
लहाछेह अति गतिनु की सबनु लखे सब-पास ।।

यहाँ पर शृ गार रस अद्‌भुत रस का अग है।

रसवत् अलकार का छठा उदाहरण—

रहति न रन, जयसाहि-मुख लखि, लाखनु की फौज।
जाँचि निराखर ऊ चलै लै लाखनु की मौज ।।

इस दोहे के प्रथम दल मे जयसिंह के शत्रुओ के उत्साह की शान्ति का वर्णन किया गया है जो कि कवि की राजविषयक रति का अग है। अतएव यहाँ पर समाहित अलकार है। द्वितीय दल मे यह व्यजना निकलती है कि राजा गुणो की तथा विद्वत्ता की परवा नही करता। निरक्षरो को लाखो का दान दे देना राजा की विवेकहीनता का परिचायक है। इस प्रकार यहाँ पर दानवीरता के अनौचित्य-प्रवृत होने के कारण वीररसाभास कवि की राजविषयक रति को पुष्ट करता है। अतएव ओजस्वी अलकार है। इस प्रकार इस दोहे मे समाहित और ओजस्वी अलकारो का सकर है।

ओजस्वी अलंकार का शुद्ध उदाहरण यह है —

चलत पाइ निगुनी गुनी धनु मनि-मुत्तिय-माल।
भेंट होत जयसाहि सौं भागु चाहियतु भाल॥

इसमे भी अविवेकपूर्ण दान वीररसाभास होकर कवि की राजविषयक रनि को पुष्ट करता है। अतएव ओजस्वी अलकार है। इसी प्रकार —

अनी बड़ी उमड़ी लखैं असिबाहक भट भूप।
मंगलु करि मान्यौ हियैं भो मुँहु मंगलु रूप॥

यहा पर 'मगलु करि मान्यौ हियैं" से हर्ष का उदय व्यक्त होता हैं। दोनो मुख्य वर्ण्य कवि की राजविपयक रति को पुष्ट करते हैं। अतएव यहाँ पर भावोदय अलकार है। साथ ही हर्ष और क्रोध की सधि होने से 'भाव सधि अलकार भी है। अन्तिम चरण 'भो मुँहु मगलु रूप' से क्रोध की अभिव्यक्ति होती है। इस क्रोध मे ही चर्वणा का पर्यवसान मानकर यहाँ पर रौद्ररस ध्वनि भी मानी जा सकती है।

बिहारी का कोई भी दोहा भाव-शवलतालकार का उदाहरण नही है। निम्न-लिखित ६ दोहे मिलकर भावशवलता अलकार के उदाहरण कहे जा सकते हैं जो एक साथ लिखे भी गये है।

वेद भेद जानैं नहीं नेति नेति कहैं बैन।
ता मोहन सौं राधिका कहे महावरु दैन॥१॥
जग्य न पायौ ब्रह्म हूँ जोग न पायौ ईस।
ता मोहन पैं राधिका सुमन गुहावति सीस॥२॥
सिव सनकादिक ब्रह्म हूँ भरि देख्यौ नहिं दीठि।
ता मोहन-तन राधिका दै दै बैठति पीठि॥३॥
मद्‌नु मार्‌यौ केते मुनिनि, मनु, न मनायौ आइ।
ता मोहन पैं राधिका मान गहावति पाइ॥४॥
जिन सगरी वसुधा करी तत्व मिलै कै पाँच।
ता मोहन कौं राधिका किते नचावति नाच॥५॥

देव अदेव सबै जपैं अपनैं अपनैं ऐन।
ता मोहन तन राधिका चितवति आधे नैन ॥१॥

यहाँ पर गर्व, अमर्ष, अवहित्था, असूया, हर्ष, लज्जा, औत्सुक्य इत्यादि भावों की शबलता कवि की भगवद्विषयक रति का अंग है। अतएव यहाँ पर भावशबलता-अलंकार कहा जा सकता है। यद्यपि यहाँ पर उपमर्द्य-उपमर्दक भाव नहीं है तथापि पृथक् प्रतीति ही शबलता की प्रयोजिका कही जा सकती है।

कुछ लोगों का कहना है कि अलंकार वहीं पर होता है जहाँ वह वाच्य-वाचक का उपकार करते हुए रस का उपकार किया करता है। अलंकार कभी भी रस का प्रत्यक्ष उपकारक नहीं होता। यहाँ पर रस भाव इत्यादि का प्रत्यक्ष उपकारक है, अतएव अलंकार नहीं कहे जा सकते। अभिनवगुप्त का कहना है कि उपकारकत्व धर्म मात्र ही अलंकार का प्रयोजक होता है। इसमें शब्द और अर्थ के द्वारा उपकारक होना प्रयोजनीय नहीं है। अतएव उपकारकत्व धर्म को लेकर इन्हें भी रस की संज्ञा प्रदान की जा सकती है।

वस्तु-व्यंजनामूलक अलंकार

कुछ अलंकार ऐसे होते हैं जिनमें वस्तु-व्यंजना की विशदतापूर्वक प्रतीति होती है और जो वस्तु-व्यंजना पर ही आधारित होते हैं। वस्तु-ध्वनि तथा वस्तु-व्यंजना मूलक अलंकारों में यह अन्तर है कि ध्वनि वहाँ पर होती है जहाँ पर व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो और वस्तु व्यंजनामूलक अलंकारों में व्यंग्य वस्तु गौण होती है। यद्यपि आस्वादन के अवसर पर प्रधानता का पता नहीं चलता क्योंकि पहले बतलाया ही जा चुका है कि तत्वद्योतिनी बुद्धि में उस अर्थ की प्रतीति एकदम हो जाती है जिससे किसी भी काव्य का पर्यवसान अखण्ड चर्वणा में ही होता है और उसमें पौर्वापर्य का कुछ भी अनुभव नहीं होता तथापि जब विवेचक लोग काव्य के जीवन का अन्वेषण करते हैं तब उन्हें मालूम होता है कि जहाँ पर व्यंग्य वाच्यार्थ को अनुप्राणित करता है वहाँ वस्तु-व्यंजना मूलक अलंकार हुआ करते हैं। कारण यह है कि वहाँ पर वाच्य अर्थ ही व्यंग्यार्थ से उपस्कृत होकर चमत्कार में कारण हुआ करता है। यद्यपि पर्यवसान रस ध्वनि में ही होता है तथापि वह व्यंग्यार्थ मध्य कक्षा में सन्निविष्ट हो चुका होता है, अतः वह रस-ध्वनि की सहायता के लिये उन्मुख नहीं होता, किन्तु स्वतन्त्रतापूर्वक वाच्यार्थ के संस्कार की ओर ही दौड़ता है। वस्तु-व्यंजना मूलक कतिपय अलंकारों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(१) समासोक्ति :—

सरस कुसुम मँडरात अलि न झुकि झपटि लपटातु।
दरसत अति सुकुमारु तनु परसत मनु न पत्यातु॥

इसमें किसी कोमलांगी नायिका पर अनुरक्त किसी नायक के संकोच की

व्यजना होती है। इस व्यजना से उपस्कृत होकर पुष्प और भ्रमर का वाच्यार्थ ही आस्वादन मे निमित्त हो रहा है। इसी प्रकार

नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहि काल।
अली, कली ही सौं बँध्यौ आगैं कौन हवाल॥

यहाँ पर भी किसी कामी द्वारा किसी कम आयु वाली नायिका से अनुरक्त होना व्यग्य है जिससे उपस्कृत होकर भ्रमर का कली से बन्ध जाना रूप वाच्यार्थ आस्वादन मे निमित्त होता है। समान विशेषणो के आधार पर अर्थान्तर की प्रतीति होने के कारण उक्त उदाहरणो मे समासोक्ति है।

(२) आक्षेप —

ज्यौं ह्वै हैं, त्यौं होउँगौ हौं, हरि अपनी चाल।
हठु न धरिय अति कठिन है मो तारिबौ गुपाल॥

यहा निषेधाभास वाच्य है। इससे तरने की कवि की आकाक्षा व्यग्य है। व्यग्यार्थ से पुरस्कृत होकर निषेधाभास वाच्य ही चमत्कार-पर्यवसायी है। अतः यहा पर आक्षेप अलकार है।

पूस-मास सुनि सखिनु पैं साइँ चलत सवारु।
गहि कर बीन प्रवीन तिय राग्यौ रागु मलारु॥

यहाँ पर उपाय का आक्षेप किया गया है और नायक को रोकने की नायिका की कामना व्यग्य हो कर वाच्य वस्तु की उपस्कारिका बन गई है।

कही-कही पर उक्त विषय में भी आक्षेप होता है। जैसे —

भये बटाऊ नेहु तजि, वादि बकति बेकाज।
अब, अलि देति पुराइनौ अति उपजति उर लाज॥

यहा पर नायिका ने पूरी बात कह दी है किन्तु फिर भी "वादि बकत बेकाज" कहकर निषेध किया गया है।

(३) पर्यायोक्त —

मोरचन्द्रिका, स्याम-सिर चढि कत करति गुमानु॥
लखिबी पाइनु पर लुठति, सुनियतु राधा-मानु॥

यहा पर व्यजना होती है— कि "राधा ने मान किया है और तुम्हें मनाना पडेगा।" यही बात मोर-चन्द्रिका के व्याज से कह दी गई है। अतएव दूसरे रूप मे गम्य बात के कह देन के कारण यहाँ पर पर्यायोक्त अलकार ही है।

इसी प्रकार —

इहिं बसत न खरी, अरी, गरम, न सीतल बात।
कहि क्यौं झलके देखियत पुलक, पसीजे गात॥

यहाँ पर भी "मैं समझ गई हू कि तू सभोग कर आई है" यह बात पे कह दी गई है।

(४) अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति —

किती न गोकुल कुलवधू किहिं न काहि सिख दीन ।
कौनैं तजी न कुल-गली ह्वै मुरली-सुरलीन ।।

यहाँ पर कुल गली के छोडने का कारण है कृष्ण का रूप ही इतना मधुर तथा आकर्षक है कि उसको देख कर मर्यादा मे रहा ही नही जा सकता। इसकी प्रतीति व्यजना से ही होती है —

चितु तरसतु, मिलत न बनतु बसि परोस कैं बास ।।
छाती फाटी जाति सुनि टाटी ओर उसास ।।

यहाँ पर परोस मे रहने से मिलने का कारण तो सन्निहित ही है, किन्तु फिर भी मिलते नही वनता। इस प्रकार कारण के होते हुए भी फल नहीं निकल रहा है, अतएव विशेषोक्ति है। किन्तु न मिल सकने का कारण नही वताया गया है जिसका उन्नयन व्यजना वृत्ति से करना पडता है कि लोक-लाज इतनी वढी-चढी है कि दोनो ओर इच्छा होते हुए भी मिलना नही हो रहा है।

इसी प्रकार दूसरे अलकारो के विषय मे भी समझना चाहिए।

इसी वर्ग मे अन्योक्तियाँ भी आती हैं। विहारी की अन्योक्तिया सख्या मे वहुत हैं। इनमे भी किसी लोक-वृत्त अथवा लोक-व्यवहार की व्यजना हुआ करती है। किन्तु व्यग्यार्थ चमत्कार पर्यवसायी नही होता। चमत्कार का पर्यवसान वाच्यार्थ मे ही हुआ करता है। अतएव वहा पर भी व्यग्यार्थोपस्कृत वाच्य ही आस्वादन मे निमित्त होता है। इन अन्योक्तियो का विस्तृत-विवेचन यथास्थान किया जावेगा।

व्यंग्यार्थोपस्कारक अलंकार

पहले वतलाया जा चुका है कि व्यग्यार्थोपस्कारक अलकार दो प्रकार के होते है —शब्दालकार और अर्थालकार। शब्दालकार भाषा-सौन्दर्य से सम्बन्ध रखते है। अतएव उनका विवेचन भाषा के प्रकरण मे किया जावेगा।

अर्थालकार भी दो प्रकार के वतलाये गये हैं—स्वभावोक्ति और अतिशयोक्ति। विहारी सतसई मे दोनो प्रकार के अलकारो के उदाहरण पाये जाते हैं। विहारी ने ग्रामीण और नागरिक दोनो प्रकार की ललनाओ के स्वभाव का वहुत ही स्वाभाविक चित्रण किया है। कतिपय उदाहरण देखिये —

चाले की वातैं चलीं सुनत सखिनु कैं टोल।
गोएँ हूँ लोइनु हँसत, विहँसत जात कपोल ।।

यहाँ पर किसी नायिका की गौने के अवसर की भावना का कितना सुन्दर स्वाभाविक चित्रण किया गया है।

इसी प्रकार किसी सामान्य परिचित नायिका के प्रथमसम्मिलन का चित्र देखिए —

भौंहन त्रासति मुँह नटनि, आँखिनु सौं लपटाति।
ऐंचि छुडावति करु इँची आगें आवति जाति।।

इसी प्रकार —

त्रिबली, नाभि दिखाई कर सिर ढकि, सकुचि, समाहि।
गली अली की ओट कै, चली भली विधि चाहि।।

यहाँ पर किसी नायिका के देखने की चेष्टाओ का सुन्दर वर्णन है। तम्बाकू पीने का चित्रण देखिए —

ओठु उँचे हाँसी-भरी दृग भौंहनु की चाल।
मो मनु कहा पी लियौ, पियत तमाकू लाल।।

यद्यपि स्वभावोक्ति को अलकार कहने मे कुछ लोगो को आपत्ति है। कुन्तक ने लिखा है कि "जो लोग स्वभावोक्ति को भी अलकार मानते हैं उनके मत मे अलकार्य क्या होगा ? क्या कभी कोई अपने कधे पर भी चढ सकता है।" किन्तु वास्तविकता यह है कि स्वाभाविक चेष्टाओ का जहा लोक-सामान्य रूप मे वर्णन किया जाता है वहा स्वाभाविक चेष्टायें अलकार्य होती है। किन्तु जहाँ इन चेष्टाओ का वर्णन इस रूप मे किया जाता है कि उनमे चमत्कार उत्पन्न हो जावे तब वे ही चेष्टायें अलकार हो जाती हैं। आचार्यों ने स्वभावोक्ति को इसी आधार पर अलकार माना है।

दूसरे प्रकार के अर्थालकार होते हैं अतिशयोक्ति मूलक। ये कई प्रकार के हो सकते हैं। कही कवि अप्रस्तुत की योजना करता है, कही कार्य-कारण की कोई विशेषता बतलाता है, कही प्रस्तुतो और अप्रस्तुतो की एक साथ ही योजना मे चमत्कार का आधान करता है, कही साम्य दिखलाता है, कही वैषम्य प्रकट करता है, कही विरोध को ही चमत्कार के साथ अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार इन अलकारो की सख्या बहुत अधिक है। बिहारी ने प्राय सभी प्रकार के अलकार लिखे हैं। बिहारी का ऐसा कोई दोहा नही, जिसमे चमत्कार विद्यमान न हो और ऐसे अलकार भी बहुत कम निकलेंगे जिनका उदाहरण बिहारी मे न मिल जाये। इन्होने अलकारो का प्रयोग ठीक अर्थ मे किया है अर्थात् इनके अलकार रस पर आवरण नही डालते अपितु रस को अलकृत ही करते है।

बिहारी के अलकारो का विस्तृत विवेचन करना प्रस्तुत निबन्ध के छोटे से कलेवर मे सम्भव नही है और न आवश्यक ही है। टीका-ग्रन्थो मे अलकारो पर विचार किया गया है। यहा प्रमुख अलकारो का दिग्दर्शन मात्र कराया जा रहा है।

सर्वप्रथम सादृश्यमूलक अलकारो को लीजिए। इनकी उपजीवक उपमा है। पण्डितराज की परिभाषा के अनुसार जहाँ सुन्दर सादृश्य होता है उसे उपमा कहते हैं। बिहारी ने उपमानो का उपादान क्रीडा-क्षेत्र (पतग, लट्टू इत्यादि), पौराणिक गाथायें, राजनैतिक स्थिति, सैनिक उपकरण, प्राकृतिक तत्त्व, जगली जीवो का स्वभाव और रासायनिक पदार्थ इत्यादि अनेक क्षेत्रो से किया है। उपमायें पूर्ण भी है और लुप्त भी।

उदाहरण —

हरि-छवि जल जब तैं परे, तब तैं छिनु बिछुरैं न।
भरत ढरत, बूडत तरत रहत घरी लौं नैंन।

यहा पर नैंन उपमेय है 'घरी' उपमान है, 'लौं' वाचक शब्द है और भरत, ढरत, बूडत, तरत धर्म है। लुप्तोपमा के उदाहरण लीजिए —

धर्मलुप्ता - चढी अटा, निरखति घटा, बिज्जु-छटा सी, नारि।
× × ×
लै चुभकी चलि जाति जित जित जल केलि-अधीर ।।
कीजतु केसरि-नीर से तित तित के सरि-नीर ।।

उपमेयलुप्ता – नई लगनि कुल की सकुच विकल भई अकुलाइ।
दुहूँ ओर ऐंची फिरति फिरकी लौं दिनु जाइ ।।

यहा पर उपमेय (नायिका) अनुक्त है।

वाचकलुप्ता – कत लपटइयतु मो गरैं सो न, जुही निसि सैन।
जिहिं चपक वरणी किए गुल्लाला रग नैन ।।

नैंन उपमेय, गुल्लाला उपमान, रग धर्म, किन्तु वाचक अनुक्त है।

उपमेय-वाचक लुप्ता – इततैं उत, उततैं इतै छिनु न कहूँ ठहराति।
जक न परति, चकरी भई, फिरि आवति फिरि जाति ।।

निम्नलिखित दोहे के पूर्वार्ध मे उपमेयलुप्ता उपमा है और उत्तरार्ध मे धर्मोपमेयवाचक लुप्ता है। इनका सकर बहुत ही सुन्दर है —

फूली फाली फूल सी फिरति जु विमल-विकास।
भोर तरैयाँ होहु ते चलत तोहि पिय-पास ।।

पूर्वार्ध मे फूल उपमान है, फूली फाली धर्म है और 'सी' वाचक है। किन्तु सौतो का उल्लेख नही किया गया है, जो कि उपमेय है। इमी प्रकार उतरार्ध मे न वाचक ही है, न धर्म ही है और न उपमेय ही है। केवल उपमान 'भोर तरैया' का उल्लेख कर दिया गया है।

उपमा अनेक अलकारो की उपजीवक भी होती है और बहुत से अलकारो मे उपमा की अभिव्यक्ति भी होती है। ऐमे अलकारो मे प्रत्येक की सख्या बिहारी सतसई मे बहुत अधिक है। केवल प्रमुख अलकारो के एक दो उदाहरण दिये जावेंगे।

रूपक बिहारी का बहुत-प्रिय अलकार है। बिहारी ने इसका कम से कम ४८ बार प्रयोग किया है। दो उदाहरण लीजिये —

(१) अरुन सरोरुह-कर-चरन दृग-खजन, मुख-चद।
समय आइ सुन्दरि सरद काहि न करति अनद ।।
तिय-तिथि तरुन किसोर वय पुन्यकाल समु दोनु।
काहूँ पुन्यनु पाइयतु वैस-सन्धि-सक्रोनु ।।

अपह्नुति · (१) जोन्ह नहीं यह, तमु वहै, किए जु जगत निकेतु ।
होत उदै ससि के भयौ मानहु सनहरि सेतु ।।
(२) धुरवा होहिं न, अलि, उठै धुआँ धरनि-चहुँ कोद ।
जारत आवत जगत कौ पावस प्रथम पयोद ।।

दृष्टान्त का भी विहारी ने बहुत अधिक प्रयोग किया है। यह भी विहारी का प्रिय अलकार है। एक उदाहरण लीजिये —

कैसैं छोटे नरनु तैं सरत बड़नु के काम ।
मढ्यौ दमामौ जात क्यौं कहि चूहे कैं चाम ।।

यहाँ पर काम सरना और दमामा मढा जाना दोनो मे धर्म भेद है, अतएव दृष्टान्त अलकार है।

प्रतिवस्तूपमा—चटक न छाँडनु घटत हूं सज्जन-नेहु गँभीरु ।
फीकौ परै न, बरु फटै रग्यौ चोल रग चीरु ।।

यहाँ पर फीका न पडना और चटक न छोडना एक ही धर्म है। अतएव प्रतिवस्तूपमालकार है।

यह तो लोक-सम्भव सादृश्य विधान की बात हो गई। जब कल्पित वस्तु से सादृश्य विधान किया जाता है तब उसे उत्प्रेक्षा कहते है। उत्प्रेक्षालकार एक प्रसिद्ध अलकार है। विहारी ने इसका बहुत अधिक प्रयोग किया है। उदाहरण लीजिये —

भाल लाल बेंदी, ललन, आखत रहे विराजि ।
इन्दु कला कुज में बसी मनौ राहु भय भाजि ।।

मगल मे कभी इन्दु कला नही बसती। किन्तु कवि ने कल्पना कर ली है। एक दूसरा उदाहरण लीजिये —

चमचमात चचल नयन बिच घूँघट पट झीन ।
मानहुँ सुरसरिता-विमलजल उछरत जुग मीन ।।

यहाँ पर लोक सिद्ध वस्तु से सादृश्य की सम्भावना मात्र कर ली गई है। विहारी के दोहो मे उत्प्रेक्षा की बहुतायत है। टीका-ग्रन्थो मे इनका निर्देश किया गया है।

यह तो हुई सादृश्य विधान की बात। वैषम्यमूलक अलकारो के दो एक उदाहरण देखिये।

जब उपमेय के सामने उपमान को व्यर्थ बतलाया जाता है तब उसे प्रतीप कहते हैं।

जैसे · —

कहाँ कुसुमु, कहँ कौमुदी, कितक आरसी जोति ।
जाकी उजराई लखैं आँखि ऊजरी होति ।।

इसी प्रकार –

केसरि कै सरि क्यौ सकै, चपकु कितकु अनूपु।
गात रूपु लखि जातु दुरि जातरूप कौ रूपु॥

व्यतिरेक के उदाहरण भी विहारी ने बहुत ही सुन्दर लिखे है। निम्नलिखित दोहे मे सौन्दर्य और मदिरा का वैषम्य दिखलाया गया है —

डर न टरै, नींद न परै, हरै न काल-विपाकु।
छिनकु छाकि उछकै न फिरि, खरौ विषमु छवि-छाकु॥

सामान्य मदिरा का नशा डर मे नीद मे, अथवा समय के व्यतीत हो जाने पर जाता रहता है। किन्तु छवि का नशा इतना गहरा होता है कि क्षण भर में पी लेने के बाद कभी नही उतरता। अतएव छवि के नशा मे सामान्य नशा की अपेक्षा वहुत बड़ा वैषम्य है।

सादृश्यमूलक अलकारों के अतिरिक्त विहारी के सबसे अधिक प्रिय अलकार है असगति, दीपक और मीलित। विहारी ने कई एक असगतियां बडी ही सुन्दर लिखी है। निम्नलिखित दोहे मे असगति अलकार है —

दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत, चतुर-चित प्रीति।
परत गाँठि दुरजन-हियैं, दई, नई, यह रीति॥

सामान्य रस्सी के उलझने पर वही टूटती है और वही जुडती है और उसी मे गाँठ पडती है। किन्तु प्रेम के क्षेत्र मे उलझती आँखें है, कुटुम्ब टूटता है, चतुरों के चित्त मे प्रेम जुडता है तथा दुष्टो के हृदय मे गाँठ पडती है। यही असगति है। दूसरा उदाहरण लीजिये।

क्यौं बसियै, क्यौ निबहियै, नीति नेह-पुर नाँहिं।
लगी लगी लोइन करैं नाहक, मनु बँधि जाँहि॥

दीपक के भी एक दो उदाहरण देखिये—

(१) तत्री-नाद, कवित्त रस, सरस राग, रति-रग।
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग॥

(२) गढ़ रचना, वरुणी अलक, चितवनि, भौंहि कमान।
आघु बँकाई हीं चढ़ै तरुनि, तुरगम, तान॥

इसी प्रकार कई एक भावो और क्रियाओ का उल्लेख भी सुन्दर बन पडा है। विहारी ने मीलित के कई दोहे लिखे है। किन्तु एक-दो को छोड़कर प्राय. सर्वत्र उन्मीलित हो गया है। मीलित अलकार का उदाहरण निम्नलिखित है —

बरन, वास, सुकुमारता, सब विधि रही समाइ।
पँखुरी लगी गुलाब की गात न जानी जाइ॥

किन्तु इस दोहे के अतिरिक्त विहारी ने सर्वत्र मीलित को उन्मीलित कर दिया है। एक उदाहरण लीजिये —

मिलि चदन बेंदी रही गोरैं मुँह, न लखाइ।
ज्यों ज्यों मद-लाली चढ़ै, त्यौं त्यौं उघरति जाइ।

विरोध के भी एक-दो उदाहरण लीजिये —

(१) कत बेकाज चलाइयति चतुराई की चाल।
कहे देति यह रावरे सब गुन निरगुन माल॥

(२) जब जब वै सुधि कीजियै, तब तब सब सुधि जांहि।
आँखिनु आँखि लगी रहै आँखें लागति नाँहि।

ग्रन्थ-विस्तार के भय से यह प्रकरण यही समाप्त किया जाता है। विहारी की रचना अलकार की दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न है और जितना ही इस पर विचार किया जाता है उतने ही रहस्य प्रकट होते हैं। किसी-किसी दोहे मे सात-सात आठ-आठ अलकार उलझे हुए है। अलकारो की ससृष्टि और सकर सर्वथा दर्शनीय है और विहारी की सबसे बडी विशेषता यह है कि अलकार-प्रयोग मे विशेप अभिरुचि लेते हुए भी परिमाण का वहुत अधिक ध्यान रक्खा गया है। अलकार कही रस पर हावी नही हुए है। यही बिहारी की सफलता है।

बिहारी का चमत्कार-विधान

आलोचक-प्रवर क्षेमेन्द्र ने कवि कण्ठाभरण मे लिखा है कि — जिस प्रकार स्वाद का लोभी भ्रमर पुष्पो के कारण सुशोभित होने वाले वन मे वसन्त के समय मे नवीन कुसुमो के आमोद को ग्रहण करने के लिए अग्रसर होता है उसी प्रकार एक सुकवि भी अपनी कविता मे विशेपता उत्पन्न करने के लिए वस्तु, शब्द और अर्थों की मनोज्ञता को ग्रहण करता है। चमत्कारहीन कवि न तो कवि ही हो सकता है और न काव्य ही हो सकता है। काव्य मे कितने ही सुन्दर वर्ण हो, चाहे उसमे दोप का एक भी अश न हो किन्तु जब तक उसमे वहुमूल्य मणि के समान कोई चमत्कारोत्पादक शब्द नही होगा तब तक वह किसी के भी मन को उसी प्रकार आकर्पित न कर सकेगा जिस प्रकार अगनाओ का यौवन लावण्यहीन होने पर किसी को भी आकृष्ट नही कर सकता।' (कवि तृ० स०) क्षेमेन्द्र ने १० प्रकार का चमत्कार माना है। विहारी मे चमत्कार का आग्रह बहुत अधिक है। उनके ऐसे दोहो की सख्या वहुत अधिक है जिनमे उक्ति-वैचित्र्य तथा चमत्कार की प्रौढता पाई जाती है। निम्न प्रकरण मे विहारी के दोहो मे क्षेमेन्द्र के बतलाये हुए दश-विध चमत्कारो का दिग्दर्शन कराया जा रहा है —

(१) अविचारित रमणीय —

लाल तुम्हारे विरह की अगनि अनूप अपार।
सरसै बरसै नीरहूँ झरहू मिटै न झार॥

अग्नि का जल वरसने पर बढना तथा सीचने से भी ताप का न मिटना चमत्कारपूर्ण ढग से वर्णित किया गया है। यह चमत्कार सहसा पाठक के सामने आ जाता है और पाठक को विचार नही करना पडता।

(२) विचार्यमाण रमणीय —

बालमु बारैं सौति कैं सुनि पर नारि विहार।
भो रसु अनरसु रिस रली, रीझ खीझ इक बार ॥

यहाँ पर सहसा चमत्कार प्रतीत नही होता। जब रस इत्यादि के हेतुओ पर विचार किया जाता है तभी चमत्कार की प्रतीति होती है। नायिका को अपनी सौत की पारी मे नायक का किसी परस्त्री से विलास करना सुनकर अनेक भाव एक साथ उत्पन्न हुए—ईर्ष्याजन्य सुख हुआ कि अच्छा हुआ सौत को कष्ट मिला। दूसरी ओर सौत तैय्यार हुई इसका दु ख हुआ। नायक को यदि अन्यत्र ही जाना था तो मेरे यहाँ क्यो नही आया इस बात पर क्रोध हुआ। सौत से मजाक करने की भावना उत्पन्न हुई। नायक मेरी पारी मे कही नही जाता इस बात की रीझ और नायक की आदत बुरी पड गई है, कही मेरी पारी मे भी न चला जावे इस बात की खीझ उत्पन्न हुई। इन सब तत्वो पर विचार करने से ही चमत्कार की प्रतीति होती है।

(३) सम्पूर्ण सूक्तिव्यापी —

भौंहनु त्रासति, मुँह नटति, आँखिनु सौं लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति करु इँची आगैं आवति जाति।

इस दोहे मे चमत्कार समस्त दोहे मे विद्यमान है। पूर्वार्ध मे नायिका की चेष्टाओ का सुन्दर वर्णन है और उत्तराध मे कुट्टमित हाव अपना चमत्कार स्थापित किये हुए है।

(४) सूक्त्येकदेश दृश्य . -

तो लखि मो मन जो लही, सो गति कही न जाति।
ठोढ़ी-गाड़ गड्यौ, तऊ उड्यौ रहै दिन राति ॥

यहाँ पर उत्तरार्द्ध मे विरोध का चमत्कार है, किन्तु पूर्वार्ध मे कोई चमत्कार नही।

(५) शब्द-चमत्कार —

छकि रसाल-सौरभ, सने मधुर माधुरी गध।
ठौर ठौर झौंरत झंपत भौंर झौंर मधु अध ॥

- यहाँ पर शब्दो के द्वारा ही मत्त व्यक्ति की चेष्टाओ को मूर्त रूप सा दे दिया गया है। किसी नायिका के सकोच और उत्कण्ठा के साथ देखने का शब्द-चित्र कितना सुन्दर है—

पावक झर सी झमकि कै गई झरोखा झाँकि ॥

एक और उदाहरण —

रस सिंगार मजनु किए कजनु भजनु दैन।
अजनु रजनु हूँ बिना खजनु गजनु, नैन ॥

(६) अर्थ चमत्कार :—

तिय, कित कमनैती पढी, विनु जिहि भौंह कमान।
चलु चितु बेभैं चुकति नहिं वक्र विलोकनि बान॥

यहाँ पर नेत्र बाणो का सामान्य बाणो से वैषम्य बहुत ही चमत्कार-पूर्ण है।

(७) शब्दार्थगत —

डर न टरै, नींद न परै हरै न काल-विपाकु।
छिनकु छाकि उ छकै न फिर, खरौ विषमु छवि-छाकु॥

यहाँ पर मदिरा और प्रेम के नशे का वैषम्य अर्थ चमत्कार मे आता है और 'छ' का अनुप्रास शब्द चमत्कार मे।

(८) अलकारगत —

तूँ मोहन-मन गढ़ि रही गाढी गडनि गुवालि।
उठे सदा नर साल ज्यौं सौतिनु कैं उर सालि॥

यहाँ पर चमत्कारपूर्ण असगति अलकार है। नायिका गडी तो है नायक के हृदय मे और टीसती है सौतो के हृदयो मे।

(९) रसगत —

छिनकु उघारति, छिनु छुवति राखति छिनकु छिपाइ।
सबु दिन पिय-खडित अधर दरपन देखत जाइ॥

यह सयोग की हर्षपूर्ण अवस्था का चमत्कारपूर्ण चित्रण है। नीचे के दोहे मे विप्रलम्भ के अनुभाव आँसुओ का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया गया है —

पलनु प्रगटि, वरुनीनु बढ़ि, नहिं कपोल ठहरात।
अंसुवाँ परि छतिया, छिनकु छन छनाइ, छिपि जात॥

(१०) प्रख्यात वृत्तिगत —

'समरस समर सकोच वस विवस' तथा 'मरकत भाजन सलिलगत इन्दुकला' मे समास वृत्ति का चमत्कार कारक प्रयोग किया गया है।

यहाँ पर विहारी सतसई के अलकार प्रयोग तथा चमत्कार विधान का बहुत ही सक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है। यदि कोई विहारी सतसई के चमत्कार तथा अलकार के विषय मे पूछे तो पूरी विहारी सतसई उसके समक्ष उदाहरण के रूप मे उपस्थित की जा सकती है। सभी दोहे चमत्कारपूर्ण है तथा विहारी की प्रतिभा के परिचायक है इसमे सन्देह नही।

———

पंचम अध्याय

मुक्तक काव्य-परम्परा की दृष्टि से

बिहारी का अध्ययन

पिछले अध्यायो मे काव्यशास्त्रीय मुक्तक परम्परा की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन प्रस्तुत किया गया था। दूसरा दृष्टिकोण वस्तुमूलक परम्परा का है जिसका विस्तृत विवेचन प्रथम खण्ड मे किया जा चुका है। बिहारी अपने समय तक के काव्य के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं क्योकि इनके काव्य मे हमे उन सभी प्रवृत्तियो के दर्शन होते हैं जिनको परम्परा ने प्रतिष्ठित कर दिया था। प्रस्तुत अध्याय में वस्तुमूलक काव्य-परम्परा की दृष्टि से बिहारी सतसई पर विचार किया जावेगा तथा यह देखने की चेष्टा की जावेगी कि इस परम्परा मे बिहारी का योग-दान कहाँ तक रहा है।

बिहारी के रसात्मक मुक्तक

जैसा कि बतलाया जा चुका है बिहारी के समय मे मुक्तक काव्य की पृथक्-पृथक् दो धारायें चल रही थी, एक तो राधा कृष्ण या गोपी कृष्ण को आलम्बन मानकर रसाभिव्यक्ति सम्बन्धिनी जयदेव द्वारा प्रचालित धारा और दूसरी कल्पित विभाव विषयक हाल द्वारा प्रचालित प्राकृत काव्य धारा। अव्यक्त के प्रति प्रेम-विषयक एक तीसरी धारा भी थी जिसका प्रचलन सन्त परम्परा मे हुआ था। यह धारा सन्तो तक ही सीमित रही थी। काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् तथा कवि इस धारा की ओर उन्मुख नही हुए थे और न यह धारा उस समय के जन-समूह को ही अपनी ओर आकृष्ट कर सकी थी। बिहारी के समय तक आते-आते यह धारा अपना अस्तित्व खो चुकी थी। आदि काल की प्रकृति-चित्रण सम्बन्धिनी वैदिक परम्परा से प्रचलित होने वाली धारा भी अपना अस्तित्व प्राय. खो चुकी थी। हाँ, प्रकृति-चित्रण अनेक विधाओ मे विभक्त हो कर किसी न किसी रूप मे प्रतिष्ठित अवश्य था। इस प्रकार बिहारी के समय की रसात्मक मुक्तक-परम्परा को हम तीन भागो मे विभक्त कर सकते हैं —

(१) कृष्ण-काव्य परम्परा—इसको अधिक व्यापक रूप मे विशिष्ट विभाव-सम्बन्धिनी परम्परा या भक्ति परम्परा के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है। (२) प्राकृत काव्य परम्परा और (३) प्रकृति चित्रण की परम्परा। नीचे की पक्तियो मे इन्ही परम्पराओ के आधार पर बिहारी के योगदान की समीक्षा की जावेगी।

(१) कृष्ण-काव्य परम्परा

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है—कृष्ण काव्य में भी दो परम्परायें चल रही थीं। (क) जयदेव और विद्यापति की परम्परा जिसमें प्राकृत काव्य से केवल इतना ही भेद था कि नायक और नायिका के रूप मे कृष्ण और राधा का उल्लेख कर दिया जाता था। वहाँ कृष्ण का अर्थ होता है साधारण नायक और राधा का अर्थ होता है साधारण नायिका। (ख) दूसरी परम्परा थी सूर इत्यादि कवियो की जिसमे कृष्ण की विशिष्ट जीवन लीलाओ के प्रेम भरे अशो को लेकर कविता की जाती थी।

(क) राधा-कृष्ण का सामान्य नायिका और नायक के रूप में चित्रण

जयदेव और विद्यापति ने कृष्ण काव्य की जो परम्परा चलाई थी उस का अनुसरण करने वाले कवियो ने मनमाने ढग से कृष्ण को शृगार का आश्रय ही मान लिया। ये कवि जहाँ चाहते थे वही कृष्ण और राधा का उल्लेख कर देते थे। इससे कृष्ण के सम्बन्ध में जहाँ उच्चकोटि के मनोमोहक तथा मनोवैज्ञानिक चित्र उतरे हैं वहाँ अमर्यादित तथा अशोभन चित्र भी पर्याप्त मात्रा मे चित्रित किये गये हैं। कई कवियो ने नायिका भेद पर पुस्तकें लिखी है और सर्वत्र कृष्ण को नायक के रूप में चित्रित कर दिया है। किन्तु बिहारी के काव्य की यह विशेषता है कि उन्होने कहीं भी कृष्ण काव्य मे मर्यादा का उल्लघन नही किया है। यदि बिहारी के वे सभी दोहे सकलित किये जावें जिन में "मोहन" "मनमोहन" 'घनश्याम" इत्यादि का उल्लेख हैं। तो ज्ञात होगा कि बिहारी ने दृढता के साथ जयदेव तथा विद्यापति की परम्परा का पालन किया है। बिहारी ने ये दोहे केवल उन्ही प्रसगो मे लिखे है जिनको जयदेव या विद्यापति ने अपनाया था। सामान्यतया बिहारी के इस वर्णन को हम निम्नलिखित उपशीर्षको मे विभाजित कर सकते है :—

दर्शन तथा आकर्षण

बिहारी की नायिका कृष्ण भगवान् को देखने में लोक मर्यादा की अवहेलना नहीं करती। नायिका स्नान कर चुकी है और बाल सुलझा रही है। अकस्मात् भगवान कृष्ण आ जाते हैं। उस समय भगवान् को वह किस तरह देखती है —

कज नयनि मजनु किए बैठी ब्यौरति बार।
कच-अगुरी-बिच दीठि करि चितवति नंद कुमार॥

एक दूसरी नायिका कृष्ण को एकान्त मे खडी होकर अपने भवन की छत से देखती है :—

ठाढ़ी मन्दिर पै लखै मोहन-दुति सुकुमारि।
तन थाकेहू ना थकै चख चित चतुर निहारि॥

प्रेम उत्पन्न होते देर नहीं लगती। कभी अपने दैनिक कार्यों मे ही किसी प्रसग मे आखें मिल जाती हैं और फिर वह भाव स्थायी हो जाता है। एक गोपी कही गाय दुहाने जाती है। सयोगवश कृष्ण से उसकी आखें मिल जाती हैं और यह कृष्ण की वशवर्तिनी बन जाती है।

गाइ दुहावन हौं गई लखे खरिक हरि साँझ।
सखो, समोवनु ह्वै गई आँखैं आँखिनि माँझ॥

कभी-कभी विशेष प्रकार की चेष्टाये आकर्षक होती हैं —

भृकुटी मटकनि पीत पट चटक लटकती चाल।
चल चख चितवनि चोरि चित लियौ विहारीलाल॥

कभी आकर्षण इतना तीव्र हो जाता है कि दर्शन की उत्कण्ठा रोके नही रुकती। उस समय हृदय पर जो प्रभाव अकित होता है उसमे अधिक तीव्रता होती है। भगवान् कृष्ण वशी बजाते हुए निकल रहे है। वशी-ध्वनि किसी प्रकार नायिका के कानो मे पड जाती है। वह उत्कण्ठित होकर दौड़ी हुई दरवाजे पर आती है। उस समय का भगवान् कृष्ण का सौन्दर्य उसके हृदय मे भाले की नोंक के समान खटकने लगता है —

उर लीनै अति चटपटी सुनि मुरली धुनि धाइ।
हौ निकसी हुलसी, सु तौ गौ हुल सी हिय लाइ॥

उत्कण्ठा की तीव्रता

जब प्रेम अधिक तीव्रता धारण कर लेता है तो लोक-लाज का भय स्वभावतः छूटजाता है। एक नायिका वशी की ध्वनि पर कितनी मस्त है कि वह वंशी की ध्वनि को छोडकर अन्य किसी ध्वनि कोसु नने की शपथ सी खा चुकी है और रात दिन वन की ओर ही कान लगाये वैठी रहती है। एक दूसरी नायिका रात दिन रोती ही रहती है। उसके नेत्रो की दशा एक घटी-यन्त्र के समान हो गई है, जो कि हर समय जल मे ही डूबती-भरती तथा तैरती रहती है। निम्नलिखित दोहे मे टोने के उलटे पड़ जाने की कल्पना कितनी सुन्दर है :—

साजे मोहन-मोह कौं, मोहीं करत कुचैन।
कहा करौं, उलटे परे टोने लोने नैन॥

एक दूसरी नायिका वाम वाहु के स्फुरण से कृष्ण-सम्मिलन की सम्भावना कर उसे यह पुरस्कार देना चाहती है कि वह भगवान् कृष्ण से मिलने पर दाहिनी को दूर रख कर वाई ही से भेटेगी। निस्सन्देह दाहिनी आंख मूद कर वाई आंख से ही देखने की अपेक्षा इस भाव मे कही अधिक उच्चता है। नायिका की इस प्रकार की तीव्र उत्कण्ठा को देखकर सखियाँ उसको समझाती भी है, यश-अपयश की वात भी कहती हैं और उसको कृष्ण की ओर से विमुख हो जाने का भी परामर्श देती हैं किन्तु वह स्पष्ट शब्दो मे कह देती है कि जिस प्रकार पानी मे घुले हुए नमक का पानी से पृथक् कर सकना असम्भव है उसी प्रकार मेरे मन को कृष्ण के रूप

से पृथक् कर सकना असम्भव ही है। यश-अपयश की बात पर तो वह अपनी विवशता स्पष्ट शब्दो में प्रकट करती है —

जसु अपजसु देखत नहीं देखत साँवल गात।
कहा करौं, लालच-भरे चपल नैन चलि जात॥

बिहारी ने इस विषय में सट्टे के व्यापारी की भी कल्पना बडी ही सुन्दर की है —

लोभ-लगे हरि-रूप के करी साँटि जुरि, जाइ।
हौं इन बेची बीच ही, लोइनु बड़ी बलाइ॥

केवल इतना ही नही, अपितु जब सखी स्वाभिमान तथा स्वसम्मान की रक्षा के लिए मान का भी उपदेश देती है तब भी वह मन पर काबू न होने की बात कहकर उसका प्रत्याख्यान ही करती है और यह कह कर सखी को उपदेश देने से रोकती है कि कही उसके हृदय मे विराजमान भगवान् कृष्ण उसके उपदेश को सुन न लें।

सकेत तथा अभिसार

इसके बाद सकेत तथा मिलन का अवसर आता है। एक नायिका कितनी कुशलता से भगवान् कृष्ण की अभ्यर्थना का उत्तर देती है :—

लखि गुरुजन बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।
हरि सनमुख करि आरसी हियैं लगाई बाम॥

कृष्ण भगवान् ने कमल से सर छुआ कर चरण-कमलो पर सर रखते हुए सुरत की अभ्यर्थना की और नायिका ने भगवान् की ओर दर्पण करके उसे हृदय मे लगाकर यह व्यक्त किया कि मैं तुम्हें हृदय मे बिठाती हूँ और तुम्हारी अभ्यर्थना स्वीकार करती हूँ। यहाँ पर हरि शब्द का श्लेप भी अत्यन्त सुन्दर तथा स्वाभाविक है। हरि शब्द का दूसरा अर्थ सूर्य भी होता है। सूर्य की ओर दर्पण करके हृदय मे लगाने का आशय यह है कि सूर्य के अस्ताचल पर चले जाने पर मैं तुम्हें मिल सकूगी। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे मे गोरस शब्द का श्लेप भी सुन्दर है —

लाज गहौ, बे काज कत घेरि रहे, घर जाँहि।
गो रस चाहत फिरत हौ, गोरसु चाहत नाँहि॥

कृष्ण ने मार्ग मे किसी गोपी से छेड-छाड की है। गोपी ने गोरस (इन्द्रिय-रस) की तृप्ति की स्वीकृति देकर घर जाकर मिलने का सकेत किया है। जब गोपियाँ अपनी ओर से सकेत देती हैं तब भाव और अधिक मधुर हो जाता है —

घाम घरीक निवारियै, कलित ललित अलिपुंज।
जमुना-तीर तमाल-तरु-मिलित मालती-कुंज॥

यहा गोपी ने "अलि पुंज कलित" कहकर स्थान का एकान्त होना बतलाया

की उपभोग-क्षमता व्यक्त की है और मालती कुंज के तमालतरु से मिलने
ा कर स्वप्रवृत्त अबाध आलिंगन का आश्वासन किया है। केवल शब्दो
ही दृष्टि संचालन के द्वारा भी संकेत स्थान व्यक्त किया जाता है—

न्हाइ पहिरि पटु इटि, कियौ बेंदी-मिसि परनामु।
दृग चलाइ घर कौं चली बिदा किये घनश्यामु॥

बिहारी ने राधा-कृष्ण के एक साथ अभिसार का भी वर्णन अच्छा किया
धा कृष्ण दोनो एक साथ जा रहे है। वर्ण की विशेषता के कारण कृष्ण
या छुपाती है और राधा को चादनी। एक बार राधा और कृष्ण एक दूसरे
र धारण कर अभिसार करते है। उस समय उन्हें स्वाभाविक रति मे भी
ीत रति का आनन्द मिलता है।

ास्य-विनोद

राधा ने "बतरस लालच" मे भगवान् की मुरली छिपाकर रख ली है। इस
मय के हास्य-विनोद का कवि ने बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है —

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं भौंहनु हँसै दैन कहैं नटि जाइ॥

कृष्ण के वशी मांगने पर राधा शपथ खा जाती है और स्पष्ट कह देती है कि वशी का उन्हें पता नही है। भगवान् कृष्ण निराश होकर लौट पड़ते हैं तब जरा भौंहो में हँस देती हैं, जिस से कृष्ण को सदेह हो जाता है और वे लौट कर पुन मागने लगते हैं। तब राधा पुन कह देती है कि वशी उनके पास नही है। नि सन्देह यह लीला भक्तो का सर्वस्व है और इस लीला मे हमे विश्व-हृदय अधिगत होता है।

दूती-सम्प्रयोग

कभी-कभी रति का स्वप्रवृत्त होना असम्भव हो जाता है। विशेपतया तब जब एक-दूसरे के भाव का परिचय न हो ऐसी दशा मे दूती-सम्प्रयोग करना पडता है। नि सन्देह दूतियो का काम बडा ही कठिन होता है। एक ओर इन्हें एक-दूसरे के सामने इस प्रकार बात रखनी पडती है जिससे वह व्यक्ति प्रेम का प्रत्याख्यान न कर दे, दूसरी ओर उन्हें उत्कण्ठा तथा प्रेम को जागृत करना पडता है। यदि प्रेम जागृत हो चुका हो तो उसको सुरक्षित भी रखना पडता है। संकेत-स्थान निश्चित करना और अभिसार कराना भी उन्ही का काम होता है और यदि दोनो मे अनबन हो जावे तो उसका पुन प्रतिसन्धान करना भी उन्ही का काम होता है। बिहारी ने राधा-कृष्ण के प्रसङ्ग मे दूतियो का पर्याप्त वर्णन किया है। कृष्ण के द्वारा सम्प्रयुक्त दूती नायिका को कृष्ण की वियोग-व्यथा की सूचना देने मे कितने सुन्दर ढग से नायिका के नैनो को उपालम्भ देती है —

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पट्ट, कहूँ मुकटु, बनमाल ।।

दूती कृष्ण की वश्यता का परिचय देने के लिए राधा को कितने सुन्दर शब्दों में बधाई देती है —

तो पर वारौं उर बसी सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन कैं उर बसी ह्वै उरबसी समान ।।

यहा पर उरवसी का श्लेष और यमक दोनो महत्त्वपूर्ण है। निस्सन्देह यदि यह यमक और श्लेष चारो चरणो मे होता तो अधिक अच्छा होता। इस मे दूसरा चरण तो बिलकुल भरती का ही ज्ञात होता है। जब नायिका के भाव का ठीक रूप मे ज्ञान नही होता तब दूती कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन करके उस की प्रतिक्रिया देखना चाहती है —

मोर मुकट की चद्रिकनु यौं राजत नंदनन्द ।।
मनु ससिसेखर की अकस किय सेखर सतचंद ।।

इसी प्रकार :—

अधर धरत हरि कैं, परत ओठ-डीठि-पट-जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष-रग होति ।।

कभी-कभी भगवान् के सौन्दर्य वर्णन के प्रसग मे भी अधिक गहरी बात कह जाती है :—

मकराकृति गोपाल कैं सोहत कुंडल कान।
धर्यौ मनौ हिय-धर समरु ड्यौढ़ी लसत निसान ।।

यहाँ पर दूती ने स्पष्ट सकेत किया है कि कृष्ण तुम्हारे गुणो को सुन क तुम्हारे वशवर्ती हो गये है। काम देव ने उनके हृदय पर पूर्ण अधिकार जमा लिर है। जब नायिका भी कृष्ण से अनुरक्त हो जाती है तब उसके उस अनुराग क बनाये रखने तथा कृष्ण के प्रति शका के निराकरण के मन्तव्य से वह नायिका क समय समय पर प्रोत्साहित भी करती रहती है —

तूँ मोहन-मन गड़ि रही गाढ़ी गड़नि, गुवालि।
उठै सदा नटसाल ज्यौं सौतिनु के उर सालि ।।

बिहारी असगति अलकार लिखने मे अत्यन्त निपुण है। नायिका गडी तो कृष्ण के हृदय मे है किन्तु टीस सौंतो के हृदय मे उत्पन्न होती है। केव नायिका के हृदय मे ही नही, कृष्ण के हृदय मे भी प्रेम बनाये रखने की उसे चेष्ट करनी पडती है। इसके लिये वह नायिका के सौंदर्य का अतिरजित वर्णन कर है। निम्नलिखित दोहो मे यमक, प्रतीप और व्यतिरेक की ससृष्टि कि सुन्दर तथा स्वाभाविक है —

बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनानु तैं हरि नीके ए नैन ।।

निम्नलिखित दोहे मे वह नायिका के हाथो की सुन्दरता का वर्णन कर कृष्ण के हृदय मे सम्मिलन की उत्कण्ठा उत्पन्न करना चाहती है —

बड़े कहावत आपु सौं, गरुवे गोपीनाथ।
तौं बदिहौं, जौ राखिहौ हाथनु लखि मनु हाथ॥

कृष्ण कितने ही बडे क्यो न हो नायिका के हाथो के सौंदर्य के वशवर्ती होने से नहीं बच सकते । जहा दूती को दोनो मे प्रेम जोडने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादन करना पडता है वहाँ अपना गौरव बनाये रखने की उसे चिन्ता रहती है । इसके लिये बीच-बीच मे वह अपने कार्य की गुरुता का परिचय देती है । कृष्ण ने नायिका को अभिसार कराने की दूती से प्रार्थना की है । दूती यह कह कर टालना चाहती है कि कही बात प्रकट न हो जावे । यदि कोई देख लेगा तो अच्छा नहीं रहेगा । इस पर कृष्ण कहते है कि बादलो के घने अन्धकार मे कुजो के बीच मे उसको ला सकना कठिन न होगा । अन्धेरे मे उसको कोई देख न सकेगा । इस पर नायिका उत्तर देती है :—

सघन कुंज घन घन-तिमिरु, अधिक अँधेरी राति।
तऊ न दुरिहै, स्याम, वह दीप सिखा सी जाति॥

क्या दीप-शिखा को अन्धेरे मे छिपा कर ले जाना कोई आसान बात है ? कभी-कभी नायिका की तीव्र वियोग-वेदना को व्यक्त कर उसे कृष्ण के हृदय में करुणा भी उत्पन्न करनी पडती है और कभी कृष्ण के रूखेपन से उत्पन्न नायिका की दुर्दशा का वर्णन कर उनसे नायिका को कृतार्थ करने की अभ्यर्थना भी करनी पड़ती है । निम्नलिखित दोहे मे सुरस तथा घनश्याम के श्लेष का इसी प्रसग मे कितना सुन्दर प्रयोग हुआ है —

बाल-बेलि सूखी सुखद इहिं रूखी रुख घाम।
फेरि डहडही कीजियै सुरस सींचि, घनस्याम॥

यहा पर सुखद विशेषण नायिका की अनुपेक्षणीयता को अभिव्यक्त करता है ।

कृष्ण भगवान् वन-विहार का आनन्द ले रहे हैं । सखी चाहती है कि कृष्ण वन के सौंदर्य को छोड कर शीघ्र ही राधा के पास चलें । वह राधा के मान का समाचार दे कर कृष्ण के हृदय मे भय उत्पन्न करके उन्हें शीघ्र ही राधा के पास जाने की प्रेरणा देना चाहती है किन्तु स्वय झूठ बोलने का उत्तरदायित्व नही लेना चाहती । अतएव वह मोर-चन्द्रिका को सम्बोधित करके कहती है —

मोर-चन्द्रिका, स्याम-सिर चढि कत करति गुमानु।
लखिबी पाइनु पर लुठति सुनियतु राधा मानु॥

यहा पर मोर-चन्द्रिका को सम्बोधित कर उसने अपना मन्तव्य भी सिद्ध कर लिया और "सुनियत" क्रिया के प्रयोग के द्वारा उसका उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर नहीं लिया । प्रेम को जोडने तथा निरन्तर बनाये रखने के अतिरिक्त अभिसार

कराना भी उसका काम होता है। निम्नलिखित दोहे मे वह नायिका को अभिसार करने की शीघ्रता करा रही है —

गोप अथाइनु, तैं उठे, गोरज छाई गैल।
चलि, बलि, अलि अभिसार की भली सँझौखैं सैल ॥

गु जो की कु ज मे अभिसार-स्थान नियत किया गया है। भगवान् कृष्ण तो ठीक समय पर कु ज मे पहुँच गये पर नायिका कतिपय प्रतिबन्धो के कारण नहीं जा सकी। कृष्ण ने कुछ समय तक तो प्रतीक्षा की, बाद मे गु जो की माला पहन कर अपने गमन की सूचना देने के लिए नायिका के दरवाजे से हो कर निकले हैं। सखी इसको लक्षित करा कर नायिका से कहती है :—

सखि सोहति गोपाल क उर गुंजनु की माल।
बाहिर लसति मनौ पिए दावानल की ज्वाल ॥

यहाँ पर उसने बडी चतुरता से कृष्ण की वियोग दावाग्नि पीने की अभिव्यंजना नायिका के प्रति की है। दूसरे श्रोताओ की दृष्टि मे यह कृष्ण की गुंजमाला का सामान्य वर्णन है। सखी (दूती) को एक ओर नायिका की अत्यन्त लिप्तता बचाये रखनी पडती है क्योकि इस से नायक के विरक्त हो जाने की सम्भावना रहती है। दूसरी ओर अत्यन्त मान भी नायक के विराग मे कारण हो सकता है। अत ऐसी परिस्थिति को बचाने की भी चेष्टा करनी पडती है। कभी वह नायिका को यह कह कर बहकाती है कि उसका मान तो पहले ही छूट गया था, कभी कृष्ण से यह कह कर "नायिका प्राय मान ही गई है" उसे कृष्ण को विरक्त होने से रोकना पडता है तथा नायिका को सबुद्ध करना पडता है कि कही उस के मान की अति से नायक विरक्त न हो जावे। जब उसका कोई भी वश नही चलता तब वह दोनो की गर्हणा भी करती है। इस प्रकार दूती के प्राय सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों का समावेश कृष्ण के प्रसग मे किया गया है।

भाव-गोपन

किन्तु सभी सखियाँ विश्वासपात्र नही होती अन्तरगिणी सखियो को छोड कर शेष से तो नायिका को अपना भाव छिपाना ही पडता है। नायिका कृष्ण से मिल कर देर मे लौटी है। वह अपने विलम्ब का कारण अटक-भटक वन मे भटक जाने को कहकर रहस्य को छिपाने का उद्योग करती है। इसी प्रकार दूसरी नायिका को कृष्ण के आगमन से कम्प सात्विक हो जाता है। वह अपने सात्विक भाव को भय का बहाना करके छिपाती है किन्तु सब कुछ प्रयत्न करने पर भी उसका रहस्य प्रकट हो ही जाता है —

पूछैं क्यौं रूखी परति, सगिबगि गई सनेह।
मन मोहन छवि पर कटी, कहै कँट्यानी देह ॥

खण्डिता वर्णन

प्रेम के राज्य मे सर्वदा सुख ही नही दुख भी है। नायिका ने रात भर कृष्ण की प्रतीक्षा की है। अन्त मे वह निराश तथा दुखी होकर कह रही है —

नभ-लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली, आली, अनत आए बनमाली न ॥

यहाँ पर निराशा तथा खेद की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। जब कृष्ण का यह व्यवहार अधिक बढ जाता है तब उसे क्रोध पूर्ण भाषा मे कहना पडता है.—

सदन सदन के फिरन की सदन छुटै, हरि राइ।
रुचै, जितै विहरत फिरौ, कत विहरत उरु आइ ॥

यहाँ पर लाटानुप्रास, यमक तथा श्लेप की ससृष्टि और सकर देखने योग्य है। कृष्ण नखक्षत को धारण किए हुए नायिका के पास गये है। नायिका निम्न शब्दो मे उपालम्भ देती है —

मरकत भाजन सलिल गत इन्दु कला कैं वेख।
झीन झगा मैं झलमलैं स्याम गात नख रेख ॥

किसी पात्र के जल मे चन्द्र विम्व देखना अशुभ माना जाता है। इस प्रकार नायिका अपनी अरुचि तथा व्यथा व्यक्त करती है।

वियोग-वर्णन

विहारी ने कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत ही वियोग के कई दोहे लिखे हैं। सूर ने कृष्ण-वियोग मे गोपियो के नेत्रो के रात-दिन वरसने का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ किया है और आँसुओ से नदी वहने तथा व्रज के डूवने की भी अत्युक्तियाँ लिखी हैं, साथ ही कृष्ण से डूवते हुए व्रज को वचाने की प्रार्थना भी की गई है। विहारी ने भी कृष्ण-वियोग मे गोपियो के आँसुओ का वर्णन किया है जो स्वभावोक्ति के रूप मे भी है और अत्युक्ति के रूप मे भी। स्वभावोक्ति के रूप मे अश्रु-प्रवाह का वर्णन —

स्याम-सुरति करि राधिका, तकति तरणिजा तीर।
अँसुवनि करति तरौंस कौ खिनकु खरौंहौ नीर ॥

यद्यपि आँसुओ से यमुना जल का खारी वना देना अत्युक्ति ही है तथापि "तरौंस" तथा "खिनकु" शव्दो के प्रयोग से यह स्वभावोक्ति वन गई है। अत्युक्ति के रूप मे अश्रु-प्रवाह का वर्णन :—

अहो पथिक, कहियौ तुरत गिरधारी सौं टेरि।
दृग झर लाई राधिका, अव वूड़त व्रज फेरि ॥

यहा पर "गिरधारी" शव्द के प्रयोग के द्वारा कृष्ण को इन्द्र के द्वारा व्रज को डुवो देने के उद्योग किए जाने के अवसर पर व्रज की रक्षा करने की याद दिलाई गई है।

केवल अश्रु-वर्षा ही नहीं सताप के आधिक्य की भी आग लग जाने से सुन्दर तुलना की गई है—

को जानै, ह्वै है कहा, अज उपजी अति आगि।
मन लागै नैननु लगैं चलै न मगलगि लागि॥

यह आग भी विलक्षण है। साधारण आग तो पत्थर जैसी कठोर वस्तु के टकराने से उत्पन्न हुआ करती है और शुष्क वस्तु को ही जला सकती है। किन्तु यह विरह व्यथा की आग नेत्र जैसे कोमल पदार्थों के टकराने से उत्पन्न होती है और मन रूपी मानसरोवर को भी जला डालती है। विहारी ने कृष्ण के स्मरण का भी बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। निम्नलिखित दोहे मे बहुत ही साधारण स्मरण है —

सघन कुंज छाया सुखद शीतल सुरभि समीर।
मनु ह्वै जातु अजौं वहै उहि जमुना के तीर॥

इसी प्रकार—

जहाँ जहाँ ठाढ़ौ लख्यौ स्यामु सुभग-सिरमौरु।
बिनु हूँ उन छिनु गहि रहतु हगनु अजौं वह ठौरु॥

निस्सन्देह जिन स्थानो पर अपने प्रेमी के साथ आनन्द किया हो वे स्थान सर्वदा प्रेमी का स्मरण दिलाया करते है। किन्तु प्रेमी की तीव्र वेदना मे प्रेमी सर्वदा निकट ही बना रहता है। एक क्षण के लिए भी उसका विस्मरण नही होता। किसी कवि ने ठीक ही कहा है —

संगम-विरह-विकल्पे वरमिह विरहो न सगमस्तस्या।
सगे सैव तथैका विरहे सर्वं तन्मयं भुवनम्॥

(सयोग और वियोग के विकल्प मे मुझे अपनी प्रेमिका का वियोग अच्छा लगता है, सयोग नही। सयोग मे तो वह केवल अकेली ही मेरे पास होती है किन्तु वियोग मे सारा ससार ही मुझे तन्मय ज्ञात होता है।)

विहारी की गोपियाँ भी प्रयत्न करने पर भी एक क्षण के लिए भी कृष्ण को नही भूलती .—

सोवत जागत सपन बस रस रिस चैन कुचैन।
सुरति स्याम घन की सुरसि बिसरैं हूँ बिसरै न॥

यहाँ पर यमक और विरोधाभास की ससृष्टि दर्शनीय है। गोपियाँ तो सोने मे भी स्वप्न मे निरन्तर भगवान् कृष्ण को देखा करती है। अकस्मात् निद्राभग उन्हें अच्छा नहीं लगता—

सोवत सपनैं स्यामघनु मिलिहिलि हरत वियोगु।
तब हीं टरि कित हूँ गई नींदौ नींदनु जोगु॥

विहारी ने हाल के आदर्श पर सतसई की रचना की थी और प्रेम का वर्णन प्राकृतिक क्षेत्र मे ही किया था। कृष्ण के प्रेममय रूप का चित्रण उन्होने अपने समय

की प्रचलि। परम्परा तथा अपने सम्प्रदाय के आधार पर ही किया है। किन्तु फिर भी कृष्ण काव्य मे प्रेम के वे सभी अग सन्निविष्ट हो गये है जिनका इस सम्प्रदाय के गण्यमान्य कवि किया करते थे। इस दिशा मे विहारी ने मर्यादा की पूर्ण रूप से रक्षा की है। उत्तान शृगार का भगवान् कृष्ण के प्रसग मे वर्णन करने मे विहारी अत्यन्त सयत रहे हैं। हम कह सकते है कि विहारी ने कृष्ण के प्रेममय रूप के चित्रण मे पूर्ण सफलता प्राप्त की है तथा वह इस परम्परा का निर्वाह पूर्ण कुशलता के साथ कर सके हैं इसमे सदेह नहीं।

(ख) कृष्ण चरित्र की विशेष घटनायें

कृष्ण-भक्ति शाखा के प्रमुख कवि कृष्ण की जीवन-लीला से खण्ड-चित्रो को लेकर मुक्तक रचना किया करते थे। इस दिशा मे अष्ट-छाप के कवियो का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार के वर्णन को हम तीन भागो मे विभाजित कर सकते है— (१) वालनीला, (२) शृगारिक लीला और (३) कृष्ण के लोकोत्तर कार्य। वाललीला का वर्णन काव्य-जगत् में अत्यन्त प्रतिष्ठित रहा है और कवियो ने वडे मनोयोग से इन चरित्रो का वर्णन किया है। भगवान् के बाल-रूप-वर्णन के ही प्रसग मे माखन-चोरी, गोचारण इत्यादि की लीलायें भी आ जाती है। किन्तु विहारी ने जान-बूझ कर इस प्रकार के वर्णन की उपेक्षा की है। सम्भवत इसका कारण यह रहा है कि विहारी निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे और इस सम्प्रदाय मे भगवान् की मधुरा भक्ति ही एक मात्र उपास्य होती है। विहारी के सम्प्रदाय मे भगवान् की शृगारिक मूर्ति की ही प्रतिष्ठा है और उसी की उपासना की जाती है। मधुरा भक्ति मे वाल रूप का अवसर नही है, इसीलिये हमे बिहारी सतसई मे उसके दशन नही होते। विहारी के नाम पर निम्नलिखित दो दोहे कृष्ण के वाल रूप वर्णन मे पाये जाते है —

लाख भाँति नेवजु करै, माँगे, महरि न देइ।
मोहन मुखु देखत रहै, जाखु गुरैय्या लेइ।।
ब्रज वासिन कौ वनि गयौ याही तैं सबु सूतु।
गहकि गुरैय्या पूजियै गोद गदाधर पूतु।।

इन दोहो का विहारी कृत होना निश्चित नही है और न इन दोहो में विहारी की कला के ही दर्शन होते हैं। सम्भव है कि विहारी ने परम्परा निर्वाह के मन्तव्य से कृष्ण के वाल रूप वर्णन मे भी कुछ दोहे लिखे हो, किन्तु हृदय तत्त्व सन्निहित न होने के कारण वे इतने सुन्दर न वन पडे हो कि उनको सतसई मे स्थान दिया जा सकता। कुछ भी हो विहारी मे वाल रूप का वर्णन नही के वरावर है और जो कुछ है भी वह महत्त्वपूर्ण नही कहा जा सकता।

भगवान् की शृगारिक लीलाओ का सामान्य वर्णन पहले दिखलाया ज चुका है। इस प्रसग मे जितना भी वर्णन किया गया है वह कृष्णपरक होते हु भी सर्व साधारण के लिये लागू हो जाता है। उसमे कृष्ण का नाम सामान्य नायक

परक होता है। किन्तु कृष्ण चरित्र की कतिपय ऐसी विशेषतायें भी है जिनको हम सर्वसाधारण-परक नही कह सकते। सामान्यतया तीन वर्णन इस कोटि मे आते हैं :—(१) चीर हरण, (२) रास लीला और (३) भ्रमर गीत। बिहारी का क्षेत्र इन घटनाओ का वर्णन करना नही था और न मुक्तक के दोहा जैसे छोटे कलेवर मे इन घटनाओ का ठीक रूप मे चित्रण हो ही सकता है। फिर भी मुक्तक काव्य की इस परम्परा का भी प्रतिनिधित्व करने के मन्तव्य से बिहारी ने इन घटनाओ के सम्बन्ध मे भी एक-दो दोहे लिख दिये हैं।

चीर-हरण

चीरहरण की लीला भक्तो का सर्वस्व है और कृष्ण के प्रेममय स्वरूप का एक वहुत वडा निदर्शन है। कतिपय कुमारियाँ कृष्ण को पति के रूप मे प्राप्त करने की कामना से कात्यायनी व्रत किया करती थी। एक वार जब वे सरोवर में नग्न स्नान कर रहा थी, भगवान् ने उनके वस्त्रो का अपहरण कर लिया। वस्त्र के लेने के लिये कुमारियो को अपने हाथो से योनि को ढक कर जल से वाहर आना पडा। तव भगवान् ने गोपियो से कहा कि —"सरोवर के जल मे नग्न स्नान करना वरुण देव का अपमान है। अतएव हाथ जोडकर सूर्य को नमस्कार करो और अपने वस्त्र ले लो।" जब गोपियो ने सूर्य को हाथ जोडकर नमस्कार किया तव उनके वस्त्र दिये गये। यही चीरहरण की कथा है। यह कथा प्रतीक रूप मे कही गई है। कृष्ण भगवान् है और गोपियाँ जीवात्मा। भगवद्-भक्ति की पूर्ति तव तक नही होती जब तक वीच मे आवरण वना रहता है। भगवान् से मिलने के लिए वीच मे किसी प्रकार का परदा नही होना चाहिए। यही कारण है कि वैधी भक्ति की अपेक्षा रागात्मिका भक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है। किन्तु थोडा वहुत आवरण वना ही रहता है। उसका भग विना भगवान की कृपा के नही होता। साधना भगवत्कृपा को प्राप्त करने का एक साधन मात्र है। जव भगवत्कृपा प्राप्त हो जाती है तभी समस्त आवरण भग हो जाते है और भगवान् से निरावरण रूप मे मिलकर सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। यही इस कथा का रहस्य है। भागवत का निम्नलिखित श्लोक कथा की प्रतीकात्मकता का सवसे वडा प्रमाण है —

न मय्यावेशितधियां काम कामाय कल्पते।
भर्जितास्तर्जिता धाना न प्ररोहन्ति तण्डुला।

(भगवान् वस्त्र देने के वाद कुमारियो से कह रहे हैं :—"मुझ मे जिन्होंने अपनी वुद्धि लगा दी है उनमे कामदेव कभी सफलता प्राप्त नही कर सकता, जो धान भूने जा चुकते है उनसे कूटकर चावल तैयार नही होते।)

बिहारी ने केवल एक दोहे मे इस घटना का वर्णन किया है—

रबि बन्दौ कर जोरि ए सुनत स्याम के वैन।
भए हँसौहैं सवनु के अति अनखौंहैं नैन॥

वस्तुत यही इस घटना का केन्द्र बिन्दु है, जिसको बिहारी ने भली भांति

पहचान लिया था। अभा तक कुमारियो के हृदय में लज्जा का झीना सा आवरण विद्यमान था। ऐसी दशा में भगवत्प्राप्ति का पूर्ण आनन्द अधिगत हो ही नही सकता था। इसीलिए गोपियो के नेत्रो मे लज्जा तथा अमर्ष की अनखाहट विद्यमान थी। जव भगवत्कृपा से यह अंतिम आवरण भी भग्न हो गया तभी उन्हें वास्तविक आनन्द की प्राप्ति हुई और उनके मुख तथा नेत्रो पर हर्ष की रेखा दौड़ गई। निस्सन्देह विहारी ने दोहे के इस छोटे से कलेवर मे एक ओर विस्तृत कथा का समाहार किया है दूसरी ओर अमर्प-शान्ति और हर्षोदय का वर्णन कर उस महान् आदर्श की ओर भी सकेत किया है जिसके लिए उक्त कथा की रचना की गई थी।

रास-लीला

रास लीला भगवान् का दूसरा महत्वपूर्ण चरित्र है। भगवान् ने गीता मे जिस ज्ञान योग, कर्म योग और अन्त साधना का उपदेश दिया है उसकी चरम अभिव्यक्ति रास लीला के द्वारा ही होती है। वस्तुत काम-वासना पर विजय प्राप्त कर सकना मनुष्य की सवसे वडी सफलता है। यही वह वासना है जो मनुष्य को सवसे अधिक जकड लेती है और मानव सरलतापूर्वक साधना-च्युत हो जाता है। रमणियो के वीच मे योग साधना का आदर्श उपस्थित करना भगवान् का ही काम था। श्रीमद्भागवत मे रास पचाध्यायी के उपक्रम मे लिखा है . —

भगवानपि ता रात्री शरदोत्फुल्लमल्लिका।
वीक्ष्य रन्तु मनश्चके योगमायामुपाश्रित॥

यहाँ पर "योगमायामुपाश्रित" शव्द ध्यान देने योग्य है। भागवत-कार का मत है कि रास-लीला भगवान् की योग साधना थी। दूसरी ओर गीता मे भगवान् कहते है कि:—"जव मै योग साधना का आश्रय लेता हूँ तव मुझे सव लोग नही समझ पाते।" यहाँ पर आश्चर्यजनक रूप मे "योगमायामुपाश्रित" शव्द गीता तथा भागवत दोनो स्थानो पर प्रयुक्त हुआ है और रास लीला को योग साधना परक सिद्ध करता है। कथासार केवल यही है कि भगवान् ने वशी वजाई और गोपियाँ अपना सर्वस्व छोडकर भगवान् के पास जा पहुँची। भगवान् ने पहले उन्हें लौटाने की चेष्ट की किन्तु जव गोपियो ने पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण कर दिया तव कृष्ण ने उन्हें स्वीकार किया और नृत्य प्रारम्भ हो गया। इसी वीच मे कामदेव ने गोपियो के हृदयो मे सचार किया। यह देखकर भगवान् एक गोपी (सम्भवत राधा) को लेकर अन्तर्धान हो गये। जव उस गोपी के हृदय मे भी काम-विकार का सचार हुआ तव कृष्ण उसे भी वन मे छोडकर कहीं अन्तर्धान हो गए। इधर गोपियो ने कृष्ण के वियोग मे दु खी होकर रास लीला प्रारम्भ की और उनके वीच मे भगवान् पुन आविर्भूत हो गए। इसके वाद गोपियो के साथ भगवान के विश्रम्भ विहार का वर्णन किया गया है जो कि भगवान् की योग साधना का एक प्रमुख अग है। विहारी

ने इस घटना के केन्द्र बिन्दु रास-लीला का ही एक दोहे मे वर्णन किया है—

गोपिनु संग निसि सरद् कें रमत रसिकु रस रास।
लहाछेह अति गतिनु की सबनु लखे सब पास॥

लघ्वाक्षेप के द्वारा सबके पास पहुँचना भगवान् के काम-वासना-राहित्य और योगसाधना का परिचायक है। कामुक व्यक्ति कभी भी द्रुतगति से सब के पास पहुँच ही नही सकता। कामनाजन्य शिथिलता उसे पराभूत कर ही देती है। इस दोहे मे एक और नई बात आ गई है। पिछली शताब्दी से कृष्ण की लीलाओ को लौकिक व्याख्या के साथ देखने की एक परम्परा सी बन गई है। स्वर्गीय श्री उपाध्याय जी ने अपने प्रिय-प्रवास मे भगवान् की लीलाओ की व्याख्या नवीन शैली पर करने की चेष्टा की है। बिहारी के इस दोहे मे भी यही बात पाई जाती है। श्रीमद्भागवत मे लिखा है कि भगवान् कृष्ण ने अनेक रूप धारण कर सभी गोपियो के साथ रमण किया। किन्तु बिहारी ने लघ्वाक्षेप के कारण कृष्ण का सबके पास होना बतलाया है। यह कृष्ण चरित्र की नवीन शैली से व्याख्या है।

भ्रमर गीत

भ्रमर गीत कृष्ण चरित्र का तीसरा महत्त्वपूर्ण अग है। श्रीमद्भागवतकार तथा सूर इत्यादि दूसरे भक्त कवियो ने भ्रमर गीत के द्वारा ज्ञान और कर्म पर भक्ति की महत्ता स्थापित की है। सूर ने ज्ञान और कर्म के मार्ग को ऊबड-खाबड काँटो ककडो से भरा हुआ बतलाया है और भक्ति को प्रशस्त राजमार्ग कहा है। तुलसी ने ज्ञान और कर्म की अपेक्षा भक्ति की महत्ता तर्क के आधार पर स्थापित की है। किन्तु कृष्ण-भक्त कवियो ने यह कार्य भावना के आधार पर व्यग्यात्मक शैली मे सम्पादित किया है। उद्धव ज्ञान और कर्म का गर्व लेकर गोपियो को विरागिनी बनाने आते हैं और उन्हें निर्गुणोपासना का उपदेश देते हैं। गोपिया व्यग्यात्मक शैली मे उद्धव पर खूब फबतियाँ कसती हैं। उद्धव ज्ञान और कर्म का थोथापन जान लेते हैं और भक्ति का प्रसाद लेकर चले जाते हैं। यही भ्रमर गीत का सार है। इसका केन्द्र बिन्दु है गोपियो का उद्धव को उत्तर देना। इसी केन्द्र बिन्दु को लेकर बिहारी ने निम्नलिखित दोहा लिखा है —

जौ न जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकति मुँह दीन।
जौ लहियै सग सजन, तौ धरक नरक हूँ कीन॥

वस्तुत बिहारी ने गोपियो के उत्तर का सार प्रस्तुत दोहे मे अन्तर्निहित कर दिया है। प्रियतम के साथ नरक भी अच्छा है और प्रियतम के वियोग मे मुक्ति भी अच्छी नही यही एक वाक्य मे गोपियो के उत्तर का साराश है और इसी कथन मे समस्त भ्रमर गीत वेष्टित हो जाता है। भ्रमर गीत का दूसरा तत्व है उद्धव का गोपियो को निर्गुण उपासना परक उपदेश। निम्नलिखित निर्गुणोपासनापरक दोहे की उद्धव के उपदेश के रूप मे व्याख्या की जाती है —

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन विस्तारन काल ।
प्रकटत निर्गुन निकट रहि चग रग भूपाल ।।

उद्धव के उपदेश का सार भी यही है कि सगुण रूप की उपासना मे दूरी बढती है और अन्तरात्मा मे निर्गुण भगवान् की व्यापकता की भावना से भगवान् का सान्निध्य सुलभ हो जाता है। उद्धव गोपियो की प्रेम भावना से प्रभावित हो गये थे और लौट कर भगवान् के समक्ष गोपियो की विरह-व्यथा का निवेदन कर रहे हैं —

गोपिनु कैं अँसुवनि भरी सदा असोस, अपार ।
डगर डगर नै ह्वै रही, बगर बगर कैं बार ।।

यहाँ पर लाटानुप्रास, श्रुत्यनुप्रास और वृत्त्यनुप्रास की अच्छी ससृष्टि है। इस प्रकार उद्धव का उपदेश, गोपियो का उत्तर और कृष्ण के प्रति गोपियो के विरह-निवेदन का एक-एक दोहा विहारी ने लिखा है तथा उसमे पूर्ण भावना का समाहार करने की सफल चेष्टा की गई है।

कृष्ण के लोकोत्तर कृत्य

कृष्ण का जीवन लोकोत्तर कृत्यो से भरा पडा है। अपने जन्म के कुछ ही दिनो बाद पूतना को मारने से लेकर निर्वाण पर्यन्त सारा जीवन महत्त्वपूर्ण कर्म योग मे ही व्यतीत हुआ। किन्तु हिन्दी मुक्तक क्षेत्र मे उनकी वृन्दावन लीलायें ही प्रधान रही। वृन्दावन मे तृणावर्त, वकासुर, अघासुर इत्यादि अनेक दैत्यो की हत्या, कालिय-दमन, दावानल पान, गोवर्धन धारण इत्यादि अनेक चरित्र भक्तो का आकर्षण केन्द्र रहे है और इन चरित्रो को गा-गा कर भक्त गण शान्ति लाभ करते रहे है। विहारी ने इन सभी चरित्रो पर काव्य रचना नही की। किन्तु मुक्तक काव्य की इस परम्परा को पूरा करने के लिए कतिपय चरित्रो का वर्णन किया है। इन वर्णनो को हम इस प्रकार की परम्परा का नमूना कह सकते है। सक्षेप मे विहारी ने निम्नलिखित चरित्रो का वर्णन किया है —

पूतना-वध तथा विश्व-रूप दर्शन

इस विषय मे विहारी के नाम पर एक दोहा मिलता है —

हनी पूतना अरु दियौ जग मुँह जग मे दिखराइ ।
कहा जानियै को भयौ प्रगट नन्द-घर आइ ।।

इस मे उदात्त अलकार है। कृष्ण के लोकोत्तर चरित्र का वर्णन किया गया है। पूतना वध की कथा तो प्रसिद्ध ही है मिट्टी खाने के प्रसग मे कृष्ण ने मुख मे अपनी माता को सारे विश्व दर्शन कराये थे। इन्ही घटनाओ से व्रजवासियो को कृष्ण के भगवद्रूप का विश्वास हो गया था।

गोवर्धन–धारण

विहारी को भगवान् की इन लीला ने सबसे अधिक आकृष्ट किया था। वास्तव

मे भक्तो की आर्ति का उन्मूलन करने के लिये भगवाग का गोवर्धन को उठा कर सुर राज के भी अभिमान को चूर करना एक महत्त्वपूर्ण घटना है और बिहारी का इस ओर ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है। बिहारी ने इस घटना का वर्णन तीन दोहो मे किया है। एक दोहे मे इस घटना का सीधा-सादा वर्णन कर दिया गया है—

प्रलय करन बरषन लगे जुरि जलधर इक साथ ।
सुरपति गरबु हर्यौ हरषि गिरिधर गिरि धरि हाथ ।।

यहाँ पर "प्रलय करन " "हरषि" और "सुरपति" शब्द सभिप्राय है। एक ओर प्रतिद्वन्द्वी इन्द्र थे जो कि देवाधिदेव कहे जाते है और उन्होने अपनी पूरी शक्ति से वर्षा करना प्रारम्भ कर दिया था। वर्षा भी ऐसी वैसी नही थी अपितु प्रलय करने वाली थी। किन्तु फिर भी भगवान् को कुछ भी विषाद या शका नही थी। वदन पर मुस्कराहट थी और अनायास ही उन्होने इन्द्र का मान मर्दन कर दिया। दूसरी बात यह है कि भगवान किसी का गर्व तो रखते ही नही, फिर चाहे वे इन्द्र ही क्यो न हो। इस प्रकार इस दोहे से भगवान् की उदात्तता सिद्ध होती है। दूसरे दोहे मे यह बात अधिक मुखर हो उठी है —

लोपे कोपे इन्द्र लौं रोपे प्रलय अकाल ।।
गिरिधारी राखे सबै गो, गोपी, गोपाल ।।

इस दोहे का प्रत्येक शब्द साभिप्राय है —"इन्द्र लौं" मे "लौं" का प्रयोग इन्द्र की लोकातीत महत्ता का परिचायक है। "कोपे" और "प्रलय 'अकाल' रोपे" ये विशेषण इस बात को व्यक्त करते है कि इन्द्र ने भगवान् का सामना अनवधानता से नही किया था किन्तु पूर्ण शक्ति के साथ प्रलय कर डालने पर ही तुले हुए थे। "पराजित कर दिया" के स्थान पर "लोपे" क्रिया का प्रयोग इन्द्र की शक्ति के सर्वथा ह्रास का परिचायक है। 'गिरिधारी" भगवान् के पर्वत उठाने की क्रिया का परिचायक है। 'सबै" इस कर्म कारक से सिद्ध होता है कि इस दुर्घटना मे एक भी हताहत नही हुआ। भगवान् पर्वत उठाने की दुष्कर क्रिया के अवसर पर भी कितने निश्चिन्त थे इसका परिचय निम्नलिखित दोहे से प्राप्त होता है —

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल ।
कंपि किशोरी दरसि कै, खरैं लजाने लाल ।।

भगवान् की दृष्टि मे यह कार्य कोई अधिक दुष्कर नही था। अतएव ऐसे आपत्काल मे भी भगवान् मनोरजन मे ही लगे हुए थे। यही तो महापुरुषता है। दूसरी बात इससे यह भी सिद्ध होती है कि राधा का रूप ही कुछ ऐसा आकर्षक था ऐसे अवसर पर भी उनको देखकर कृष्ण के अन्दर सात्त्विक कम्प उत्पन्न हो ही गया।[1]

रुक्मिणी-हरण

रुक्मिणी हरण कृष्ण लीला की एक प्रमुख घटना है। यह कृष्ण चरित्र के उत्तर भाग से सम्बद्ध है। रुक्मिणी का पाणिग्रहण करने शिशुपाल आया हुआ

१—कृष्ण के विशिष्ट चरित्र परक प्राय. समस्त दोहों में कवि का भगवद्विषयक रति भाव अङ्गी हुआ। अतएव विशिष्ट व्यग्य अङ्ग मात्र होकर आया है। किन्तु सौन्दर्य का पर्यवसान विशिष्ट व्यग्य में भी ही होता है। अतएव पारिभाषिक अर्थ में व्यग्य के गुणीभूत होते हुए भी इसे हम गुणीभूत व्यग्य की सीमा में नहीं रख सकते। ज्ञात होता है इन दोहों के लिखने में बिहारी का ध्यान पण्डितराज के उत्तम काव्य की ओर अवश्य रहा होगा।

है। इस सम्भावना से कि कही कृष्ण कुछ अनर्थ न करें या कोई सघर्ष न छिड जावे उसके सभी साथी जरासन्ध, वाणासुर इत्यादि तैयार हो कर आये है। उधर कृष्ण भी एकाकी आकर कुण्डिनपुर मे ठहर गये हैं। रुक्मिणी देवी-पूजन के लिए वाहर मदिर मे आयी है। चारो ओर शिशुपाल तथा उसके सहायको की सेनाये सुरक्षा के लिए लगा दी गयी हे। कुण्डिनपुर की भी सेनायें रुक्मिणी की पूर्ण रूप से रक्षा कर रही हे। रुक्मिणी देवी के मन्दिर मे जाकर पूजन करती हे और भगवान् कृष्ण को पति के रूप मे प्राप्त करने का वरदान माँगती हे। इसके वाद सखियो के साथ मन्द गति से अम्बिका के मन्दिर से वाहर निकलती है। यही रुक्मिणी हरण का अवसर है और यही इस समस्त घटना का केन्द्र है। विहारी इस घटना का वर्णन करते हुए लिखते हैं —

नाद गरजि नाहर-गरज वोलु सुनायौ टेरि।
फँसी फौज मैं वन्दि विच हँसी सबनु तनु हेरि॥

भगवान् कृष्ण ने सिंह-नाद मे गरज कर अपना बोल सुनाया और रुक्मिणी सेना के घेरे मे वन्दी जैसी अवस्था मे सवकी ओर देखकर हँसी। कृष्ण ने यो ही धोखे से-अपहरण नही किया। किन्तु रक्षको को पहले सिंह नाद मे ललकारा। रुक्मिणी भी साक्षात् महामाया का अवतार थी। उन्हें पूरा विश्वास था कि कृष्ण के सामने इन सवकी सगठित सेनायें भी मेरा अपहरण वचा नही सकती। इसीलिये उन्होंने प्रसन्नता तथा निरादर व्यजक हास किया। भागवत मे लिखा है कि इस अवसर पर रुक्मिणी ने अपने वाये हाथ की उ गलियो से अपने वालो को जरा हटाते हुए सगठित सैनिको की ओर देखा जिससे रुक्मिणी के सौंदर्य से पराभूत होकर राजा लोग पृथ्वी पर गिर गये। उस समय भगवान् ने रुक्मिणी का अपहरण किया। यहाँ पर विहारी ने कृष्ण की ललकार और रुक्मिणी का अनादर-सूचक हास विशेप रूप से दिखलाया है जिससे इस वर्णन मे एक विशेपता आ जाती है।

कृष्ण चरित्र के उक्त अशो को विहारी ने प्रत्यक्ष वर्ण्य—विपय के रूप मे अकित किया है। इसके अतिरिक्त अप्रस्तुत विधान मे भी निम्नलिखित दो चरित्रो की ओर सकेत किया गया है :—

अघासुर वध

कस के भेजे हुए अनेक दैत्यो मे अघासुर प्रमुख था। यह गायो तथा गोपालो के मार्ग मे सर्प का रूप धारण कर मु ह फैलाकर वैठ गया था। गायें तथा ग्वाल-वाल उसे पर्वत की कन्दरा समझ कर उसमे घुस गये। भगवान् कृष्ण भी साथ थे। भगवान् ने उसका वध कर सभी को उसके अन्दर से निकाला था। इसी घटना को विहारी ने निम्नलिखित दोहे मे अप्रस्तुत विधान के रूप मे उद्धृत किया है —

यौं दल काढ़े वलख तैं, तैं जयसिंह भुवाल।
उदर अघासुर कैं परैं ज्यौं हरि गाइ गुवाल॥

इतिहास के पाठक जानते हैं कि वलख मे मुगल सेना को कितने पराभव का

सामना करना पडा था। मुरादवक्श पराजित ही हो गया था। औरगजेब का भी जीवित लौटना असम्भव हो गया था। उस समय जयसिंह ने सेना का भार अपने ऊपर लेकर जैसे-तैसे मुगल सेना को वहाँ से बचाकर निकालने का स्तुत्य कार्य किया था। इसी घटना के वर्णन के प्रसग में कवि ने अघासुर-वध की ओर सकेत किया है।

दावानल पान

कस की प्रेरणा से एक दानव ने वन मे आग लगा दी थी जिसमे गाय तथा ग्वाल-बाल सभी जले जा रहे थे। भगवान् ने उस दावानल का पान कर सभी की रक्षा की थी। इसी घटना को निम्नलिखित दोहे मे अप्रस्तुत विधान के रूप में प्रयुक्त किया गया है।

सखि सोहति गोपाल कैं उर गुंजनु की माल।
बाहिर लसति मनौ पिए दावानल की ज्वाल॥

यहाँ विरहानल का पान करने से सादृश्य स्थापित किया गया है। इस प्रकार विहारी ने कृष्ण काव्य के समस्त प्रमुख अगो पर मुक्तक र ना का प्रतिनिधित्व किया है। उन्होने जयदेव तथा सूर दोनो की परम्पराओ पर मुक्तक पद्य प्रस्तुत कर काव्य क्षेत्र के विस्तार का परिचय देने मे पूर्ण सफलता प्राप्त की है, इसमे सदेह नही। बिहारी के नाम पर दो दोहे और प्राप्त हुए हैं जिनमे भगवान् की बाललीला के लोकोत्तर कार्यों का परिगणनमात्र कर दिया गया है —

बकी बिदारन बक-दमन बनमाली जितवान।
दामोदर देवकि तनय दुर्जय दया निधान॥
सकट सहारन अघहरन करुणाघन घनस्याम।
कुबिजा कामुक दौ दमन बहु नायक बहु नाम॥

प्राकृत मुक्तक

विहारी सतसई की रचना हाल के आदर्श पर हुई है। अतएव इसमे प्राकृत जन विषयक दोहो का प्राधान्य है। प्राकृत जन विषयक रचना ही ग्रन्थ का प्रधान प्रवृत्ति-निमित्त है। अन्य विषय आनुषगिक रूप मे परम्परा निर्वाह मात्र के उद्देश्य से ही सम्मिलित हो सके हैं। इन मुक्तको का विस्तृत विचार शास्त्रीय अध्ययन के प्रसग में एक पृथक् अध्याय मे किया जा चुका है। किन्तु यहा पर इन मुक्तकों के विषय मे कतिपय तथ्यो पर प्रकाश डाल लेना समीचीन प्रतीत होता है।

(अ) क्षेत्र —बिहारी ने भारतीय मुक्तक परम्परा का आदर्श अपनाते हुए ऐसे ही समाज का चित्रण किया है जिसमे आमोद-प्रमोद का बाहुल्य है। जहाँ स्वर्णा-भरण तथा रत्न-जटित आभूषणो से सारे अग सजाये जाते हैं। दैनिक जीवन मे मदिरा का बोलबाला है और मदिरा पान की विशष गोष्ठियो का आयोजन होता है। जहाँ प्रणय-लीला दिनचर्या मे सम्मिलित है और प्रत्येक व्यक्ति के अन्त पुर मे

का होना एक स्वाभाविक सी बात है। बिहारी ने एक ओर तो इस समाज के दर्शन प्राचीन काव्य परम्परा में किये थे। दूसरी ओर स्वय समाज मे ही जीवन यापन किया था। अतएव उन्हें ग्रामीण समाज से सी हो गई थी और वे ग्रामीण जीवन को हेय दृष्टि से देखने लगे थे। इस स्वाभाविक ही था कि वे ऐसे ही समाज से काव्य-वस्तु का उपादान करते ी कुछ रमणीय ही था, जहाँ नायिकाओ के सौन्दर्य के कारण स्वर्ण भी दर्पण पर मोरचे जैसे मालूम पड़ते थे, जहाँ नायिकाओ के शरीर नेत्रो ने से भी मैले हो जाते थे और जहाँ गुलाब की पखडी लगने से भी छाले पड े तथा खरोच आ जाती थी। साथ ही बिहारी जल खीचने वाली, खेत न वाली, चरखा कातने वाली देहातिनियो को भी नही भूले है। यद्यपि इनके बहुत थोडे हैं तथापि समाज-विशेष का प्रतिनिधित्व अवश्य करते है। इस ार बिहारी की वाणी जहाँ ऐश्वर्यमय जीवन के चित्रण मे प्रवृत्त हुई है वहाँ ्ती जीवन को भी उन्होने सर्वथा परित्यक्त नही किया था।

जिस प्रकार दोनो समाजो का चित्रण बिहारी की कविता मे पाया जाता है उसी प्रकार दाम्पत्य प्रेम के अनेक रूपो का वर्णन भी इनकी कविता मे विद्यमान है। यह प्रेम क्रीडा-क्षेत्र से प्रारम्भ होता है जहाँ नायक और नायिका चोर मिहिचनी खेल मे प्रणय सुख का आस्वादन करते है। यह प्रेम क्रमिक विकास द्वारा प्रौढावस्था के प्रेम तक ले जाया जाता है। नायिका के अज्ञात यौवन रूप से प्रारम्भ कर पूर्ण कुशलतामयी रति क्रीडा तक सभी अवस्थाओ का चित्रण किया गया है। सभी प्रकार की नायिकायें उनके सभी प्रकार के अलकार, अनेक प्रकार की चेष्टायें, अवस्थायें, अनेक प्रकार के भाव, दूती प्रयोग, सखी सम्वाद इत्यादि सभी प्रेम के अग इनकी कविता मे विद्यमान हैं। रूप-चित्रण भी पूर्ण कुशलता के साथ किया गया है और उसमे प्राचीन परम्परा के अनुसार नख-शिख वर्णन भी उपलब्ध होता है। इन सब का विस्तृत विवेचन शास्त्रीय परम्परा के अन्तर्गत रस निरूपण के अवसर पर किया जा चुका है। आशय यह है कि दाम्पत्य प्रेम की दिशा मे बिहारी का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और प्रेम के प्राय समस्त तत्त्व उस रचना मे विद्यमान हैं। साथ ही परकीया-प्रेम का भी समावेश है, किन्तु इसमे मर्यादा का पर्याप्त ध्यान रखा गया है। वेश्या-प्रेम भी उपलब्ध होता है, किन्तु उसमे कवि का हृदयाभिनिवेश नही है। उसका उपादान परम्परा निर्वाह मात्र के मन्तव्य से हुआ है।

(आ) प्रसग योजना—प्राकृतिक मुक्तक रचना काल्पनिक घटना, प्रसग या प्रकरण पर आधारित होती है। इसमे आह्लादजनक परिस्थिति, भावना तथा चेष्टाओ का चमत्कार के साथ वर्णन किया जाता है जिनसे वे घटनायें सवजन-सम्वेद्य तथा सर्वजनीन होकर रसास्वादन की क्षमता धारण कर लेती है। मुक्तक के छोटे से कलेवर मे और विशेष कर दोहे जैसे छोटे छन्द मे समस्त घटना का

वर्णन कर सकना असम्भव होता है। प्रबन्ध काव्य जैसी न तो इसमें कथा-धारा होती है और न प्रवाह-शृंखला को मिलाने वाले अंशो का ही इसमें अवसर होता है। मुक्तक में प्रबन्ध के समान फालतू प्रसगो को भरने का अवसर नही होता। अतएव कवि को किसी विशिष्ट घटना के ऐसे मार्मिक अशो का चुनाव करना पडता है जिसके कह देने मात्र से पाठको को सारी घटना अनायास ही ज्ञात हो जाये और उस घटना के प्रकाश मे कवि के उस विशेष कथन के द्वारा आह्लादित हो सके। कवि अवसर तथा आवश्यकता के अनुसार कहीं नायिका की किसी उक्ति को उद्धृत कर देता है कही नायक के किसी विशेष कथन का ही उल्लेख कर सन्तोष लाभ करता है। कही-कही उसे नायक या नायिका के सहचरो का आश्रय लेना पडता है। प्रशस्त मुक्तक रचना वही होती है जिसमे अभिहित वस्तु के द्वारा समस्त घटना का एक दम बोध हो जाता है। जहाँ पाठक को प्रसग समझने मे कष्ट-कल्पना करनी पडती है वहा रसचर्वणा उपहत हो जाती है। यही कारण है कि काव्यशास्त्र के आचार्यों ने विभाव और अनुभाव की कष्ट-कल्पना को दोष माना है।

बिहारी के विषय मे गागर मे सागर भरने की उक्ति प्रसिद्ध है। बडे-बडे और लम्बे-लम्बे कथा-प्रसगो की दोहा के छोटे से कलेवर में इन्होने जैसी सफल योजना की है उसका उपमान प्राप्त कर सकना कठिन है। प्राय. पूरे-पूरे प्रसंग साधारण से दोहे मे सिमट कर बैठ गये है। उदाहरण के लिए किसी नायक को कुछ परिहास करने की सूझी, नायिका प्राय अनिच्छा ही प्रकट किया करती थी, नायक नीद का बहाना कर चुपचाप लेट गया और सो जाने की मुद्रा धारण कर ली। नायिका ने देखा कि एकान्त स्थान है और नायक सो रहा है। वह उसके निकट आई और ध्यान से उसकी ओर देखती रही, जब उसे विश्वास हो गया कि नायक सो ही रहा है तब उसने उसका चुम्बन लिया। नायक हँसने लगा, रहस्योद्घाटन हो जाने से नायिका खिसिया गई, नायक ने उसका गला पकड़ लिया। नायिका गले मे लिपट गई और फिर दोनो का विश्रम्भ विहार होने लगा। इतने बड़े कथा-प्रसग की बिहारी ने निम्नलिखित दोहे मे कितनी सफल योजना की है.—

मैं मिसहा सोयो समझि मुँहु चूम्यो ढिग जाइ।
हँस्यो, खिसानी, गल गह्यो रही गरैं लपटाइ॥

"मिसहा" से नायक की परिहास प्रवृत्ति लक्षित होती है, "समुझि" से नायिका का ध्यानपूर्वक सोने का निश्चय करना प्रकट होता है। शेष घटना का शब्दो के द्वारा वर्णन कर दिया गया है।

इसी प्रकार नायिका नवोढा है, अभी लज्जा और सकोच पर्याप्त रूप मे दूर नहीं हुए हैं, घर मे गुरुजन तथा दूसरे लोग भरे हुए हैं, अतएव निस्सकोच बात-चीत कर सकना सम्भव नहीं है, नायक नेत्र सकेत से सुरत की प्रार्थना करता है,

नायिका नेत्रो से ही अस्वीकार कर देती है। नायक उसकी उत्कण्ठा और सुरत-प्रवृत्ति की आकुलता से परिचित है, वह जानता है कि उसकी अस्वीकृति तात्विक नही है, अतएव वह उसकी अस्वीकृति पर रीझ जाता है, नायिका यह देख कर खिसिया जाती है। थोडी देर तक दोनो मे अनबन रहती है, फिर मेल हो जाता है, नायक इस भावना से खिल उठता है कि नायिका का मान कितना अस्थिर है कि उससे कुछ देर भी नही रहा जाता, नायक को प्रसन्न देख कर और इस भाव को लक्षित कर नायिका लज्जित हो जाती है। ये सब बातें आँखो-आँखो मे ही हो जाती हैं और उसे कोई लक्षित नही कर पाता। इतने बडे प्रबन्ध की कवि ने एक दोहे मे योजना की है और विशेषता यह है कि सारा प्रसग एक ही दोहे मे समा गया है।

कहत, नटत, रीझत, खिजत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैंननु हीं सब बात॥

इसी प्रकार एक दूसरे प्रसग में नायिका की सौत की पारी थी। नायक उस दिन किसी पर-स्त्री के यहा चला गया, यह समाचार नायिका के कानो मे पडता है। इस सम्वाद से नायिका की विचित्र सी दशा हो जाती है, कभी वह यह विचार कर हर्षित होती है कि उसकी सौत को वचित किया गया, पुन उसे स्मरण हो आता है कि एक दूसरी सौत और उत्पन्न हुई, अतएव वह दुखी हो जाती है, साथ ही उसे नायक पर क्रोध भी लगता है कि यदि उसे कही अन्यत्र ही जाना था तो वह उसके यहा क्यो नहीं चला आया, पुन सौत के प्रति लघुता और उसकी अयोग्यता की भावना उत्पन्न होती है कि वह इतनी गुणवती नही है कि नायक को अपने वश मे रख सके, साथ ही उसे प्रसन्नता भी उत्पन्न होती है कि नायक उसकी पारी मे कही नही जाता, फिर उसे खीझ तथा भय का अनुभव होता है कि नायक की आदत बुरी पड गई है, कही वह उसकी पारी मे अन्यत्र न चला जाये, इतने बडे प्रसग का चित्रण कवि ने केवल एक दोहे मे किया है :—

बालमु बारैं सौति कैं सुनि पर नारि-बिहार।
भो रसु अनरसु, रिस रली रीझ खीझ इक बार॥

कभी-कभी जब सम्पूर्ण कथावस्तु का उपाख्यान एक दोहे मे सम्भव नहीं होता है तब कवि उस प्रसग का ऐसा केन्द्र बिन्दु सामने लाकर रख देता है जो स्वय ललित होने के साथ ही साथ सम्पूर्ण प्रसग को आलोकित कर देता है और पाठक एकदम समस्त परिस्थिति से अवगत हो जाता है' उदाहरण के लिये निम्न-लिखित दोहा लीजिये :—

पट की ढिग कत ढाँपियति सोभित सुभग सुवेष।
हद रद छद छबि देति यह सद रद छद की रेख॥

यह नायिका की उपालम्भोक्ति है, इस दोहे मे नायक का पर-स्त्री विहार, उसका दन्तक्षत और नायक की उसको गोपन करने की चेष्टा का उल्लेख नहीं किया

है। केवल नायिका की व्यग्योक्ति का ही वर्णन कर दिया गया है, किन्तु नायिका के कथन सामर्थ्य से ही सम्पूर्ण कथा एकदम प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार —

गह्यौ अबोलौ बोलि प्यौ आपुहिं पठै बसीठि।
दीठि चुराई दुहुनु की लखि सकुचौहीं दीठि ॥

इस दोहे मे नायक का दूती सहवास कथन सामर्थ्य से ही अवगत हो जाता है। कुछ प्रसग ऐसे अवश्य है जिनमे बिहारी ने लम्बे-लम्बे प्रबन्धो के सयोजित करने की चेष्टा की है, किन्तु वे प्रसग इतने व्यवहित हो गये है कि एक दम प्रतीत नहीं होते। ऐसे प्रसगो मे विभावादि की कष्ट-कल्पना के कारण रसचर्वणा व्यवहित हो गई है और प्रसाद गुण का ह्रास हो गया है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित दोहा लीजिये .—

द्वैज-सुधा-दीधिति कला वह लखि दीठि लगाइ।
मनौ अकास अगस्तिया एकै कली लखाइ ॥

इस दोहे से केवल यही प्रतीत होता है कि द्वितीया के चन्द्र का वर्णन किया गया है और अगस्त की कली से उसका सादृश्य स्थापित कर दिया गया है। किन्तु इस दोहे के पीछे एक लम्बी कथा छिपी है। नायक और नायिका ने एक अन्तरगिणी सखी के सामने आश्विन शुक्ल द्वितीया के दिन सायकाल मे अगस्त के पेड के नीचे मिलने का निश्चय किया था। वही समय आ गया। नायिका की सखी नायिका को निश्चित समय तथा अगस्त के पेड की याद दिलाकर अभिसार के लिये प्रेरित करना चाहती है। इसीलिये वह इस दोहे मे ऐसी उत्प्रेक्षा कर रही है। किंतु दोहे के द्वारा उक्त प्रसग योजना पर यथेष्ट प्रकाश नही पडता और उसके लिये कष्ट कल्पना करनी पडती है। इसी प्रकार —

सखि सोहति गोपाल कैं उर गुजन की माल।
बाहिर लसति मनो पियैं दावानल की ज्वाल ॥

इस दोहे से केवल इतना ही सुगमता पूर्वक लक्षित होता है कि कृष्ण की गुजमाला का वर्णन किया गया है और उसक लिये अप्रस्तुत दावानल की योजना की गई है। नायक-नायिका का गुंजो के झुरमुट मे मिलने का निश्चय, नायिका की कार्यव्यस्तता के कारण न जा सकना, नायक का प्रतीक्षा करना और अपने गमन की सूचना देने के लिये उसी गुंज पुष्पमाला को धारण करके निकलना तथा सखी द्वारा नायक के विरह दावाग्नि पान की सूचना इत्यादि प्रसगो का प्रस्तुत दोहे से बिल्कुल बोध नही होता। इनकी कष्ट-कल्पना करनी पडती है। यही कारण है कि बिहारी के अनेक दोहो मे टीकाकारो को पर्याप्त कष्ट-कल्पना करनी पडी है और उनमें परस्पर बहुत अधिक मतभेद है। किन्तु यह प्रसग अपवादमात्र हैं। सामान्यतया बिहारी का काव्य प्रसाद गुण से पूर्ण है और उसमे प्रसग-योजना सर्वथा स्वाभाविक तथा सरल है।

(इ) द्विविध शैली—प्राचीन भारतीय काव्य-जगत् में दो प्रकार की शैलियाँ प्रचलित थीं—एक थी वैदर्भी और दूसरी थी गौडी। वैदर्भी शैली मे स्वाभाविक चित्रण को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता था और गौडी शैली में अत्युक्ति का बोलबाला था। आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श मे दोनो के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वैदर्भी शैली मे यदि स्तनो के विस्तार का बहुत अधिक बढा-चढाकर वर्णन किया जावेगा तो उसकी सीमा यह होगी "हे अनवद्यागि ! तुम्हारे बढते हुए स्तनो को बाहुलता के अन्दर स्थान नही मिल सका।" इसी बात को गौडी शैली मे इस प्रकार कहा जावेगा कि —"शायद ईश्वर ने यह नही सोचा था कि तुम्हारे स्तन इतने अधिक बढ जावेंगे इसीलिये उसने इतना छोटा आकाश बनाया।" आगे चल कर गौडी काव्य-रीति जगत् मे अपनी प्रतिष्ठा खो बैठी और वैदर्भी रीति का ही काव्य-जगत् मे बोलबाला रहा। किन्तु बिहारी के समय मे दोनो प्रकार की शैलियो मे कविता की जाती थी। एक ओर प्राचीन परम्परा के आधार पर स्वाभाविक वर्णनों को महत्व प्रदान किया जाता था, दूसरीओर मुगल दरबार मे अरबी फारसी की कविता मे अत्युक्ति की महत्ता थी। उर्दू कविता का भी आविर्भाव हो चुका था। यह कविता अरबी फारसी के अन्धानुकरण पर चलती थी। वही उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, उसी प्रकार की शब्द योजना, उसी, प्रकार के विषय इस कविता मे आते थे। बिहारी के जीवन चरित्र से प्रकट है कि इन्होने अरबी-फारसी का भी ज्ञान प्राप्त किया था। अतएव बिहारी की कविता में रूप-चित्रण तथा भाव-चित्रण की दिशा मे दोनो प्रकार की शैलियो के दर्शन होते हैं। बिहारी ने अधिकतर स्वाभाविक वर्णन ही किये है और कुछ अपवादो को छोडकर प्राय समस्त सतसई वैदर्भी रीति के उदाहरण मे प्रस्तुत की जा सकती है। तथापि दूसरी प्रकार की शैली का प्रतिनिधित्व करने के मन्तव्य से बिहारी ने अत्युक्तियाँ भी बहुत लिखी हैं। कोई नायिका इतनी दुबली पतली है कि श्वास लेने मे ही ६-७ पग आगे-पीछे आती-जाती है और इस प्रकार रातदिन हिंडोले पर ही चढी-सी रहती है। एक दूसरी नायिका यौवन-विकास इतना द्रुतगति से हो रहा है कि उसका चित्र खीचना ही असम्भव सा हो जाता है। कोमलता के वर्णन मे पैर मे उगली लगने से छाले पड जाना तो मामूली बात है। गुलाब की पखडी से भी खरोंच आ जाने का वर्णन किया गया है और पैर धोने के लिये गुलाब के झामे का उपादान किया गया है। नाइन गुलाब का झामा भी शकित होकर ही पैर के ऊपर धीरे-धीरे घुमाती है। किसी नायिका के मुख-चन्द्र के कारण प्रतिदिन पूर्णिमा हो रहती है। पडोसियो को तिथि देखने के लिए पत्रे का सहारा लेना पडता है।

भाव-चित्रण की दिशा में भी अत्युक्ति के दर्शन होते हैं। कही वियोग-वेदना के ताप के कारण ऊपर औंटी हुई गुलाब जल की पूरी बोतल शरीर पर पहुँचने

के पहले ही सूख जाती है और एक छींट भी शरीर पर नही पहुँचती, दूसरी ओर चन्दन के स्पर्श मात्र से उसका समस्त पानी सूख जाता है और चन्दन बात की बात में अबीर बन जाता है। एक नायिका के शरीर के सताप के कारणतो माघ की रात्रियो मे भी लू लगने लगती है। इस प्रकार बिहारी ने भारतीय काव्य-पद्धति पर स्वाभाविक चित्रण करते हुए भी विदेशी मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करने के लिए कतिपय ऊहात्मक अत्युक्तिपूर्ण उक्तियाँ भी लिखी है। ये उक्तिया खिलवाड की सीमा तक पहुच जाती हैं।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बिहारी ने उर्दू काव्य की दूसरे प्रकार की विशेषताओ को प्रश्रय नही दिया। मुगल दरबार से सम्बन्ध होते हुए भी इनकी कविता मे भारतीय अन्तरात्मा पूर्ण रूप से सुरक्षित है। उर्दू कविता मे शृंगार के वियोग-चित्रण मे वीभत्स का प्राय प्रयोग किया जाता है। कही खून के कतरे कट कर गिरते हैं कही जिगर का वर्णन किया जाता है। रक्त, मांस इत्यादि का वर्णन एक प्रायिक तत्व है। किन्तु बिहारी ने कही भी शृंगार के प्रसग मे इस प्रकार का वीभत्स नही आने दिया है। उन्होंने सम्भवतः इस प्रकार की कविता का प्रतिनिधित्व करने के मन्तव्य से ही एक-दो बार अप्रस्तुत विधान में वीभत्स का प्रयोग किया है :—

बहकि न इहिं बहिनापुली जब तब, वीर विनासु।
बचै न बड़ी सबीलहूँ चील घोंसुवा माँसु॥

यहाँ पर ध्यान देने वाली बात यह है कि बिहारी की रचना में हमे वीभत्स के दर्शन नही होते और न उससे उद्वेग ही उत्पन्न होता है।

(ई) रस के उपकरण—रस के उपकरणो मे सर्वप्रथम रूप-चित्रण आता है। यह रूप-चित्रण दोनो प्रकार का हो सकता है—भावना सवलित भी और तद्व्यतिरिक्त भी। दोनो प्रकार का रूप-चित्रण आश्रय की भावनाओ को उद्दीप्त करने वाला हो सकता है। अतएव इसे शास्त्रीय दृष्टि से उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत लिया जाता है। बिहारी ने रूप-चित्रण करने मे सामान्य सौन्दर्य का भी वर्णन किया है और अग-प्रत्यग का भी वर्णन किया है। इसी प्रकार आभूषणशून्य भी रूप-चित्रण किया गया है और आभूषणो से युक्त भी किया गया है। बाह्य चित्रण के साधर्म्य के आधार पर रूप-चित्रण के साथ ही आलम्बन की चेष्टाओ का चित्रण भी हो जाता है। आलम्बन की चेष्टाओ को सस्कृत मे अलकार कहते है और हिन्दी वाले इन्हें हाव की सज्ञा प्रदान करते हैं। कुछ चेष्टायें ऐसी भी होती हैं जो किसी भाव को जागृत करने के उपयोग मे नही आती। बिहारी ने इन सभी प्रकार की चेष्टाओ का वर्णन किया है।

पहले बतलाया जा चुका है कि रस निष्पत्ति नाट्य के अनुकरण पर काव्य मे गृहीत हुई। रस के क्षेत्र में स्वशब्द-वाच्यत्व एक दोष माना जाता है। नाट्य मे भाव अभिनय के द्वारा अभिव्यक्ति किये जाते हैं। किन्तु काव्य के क्षेत्र मे उनकी

अभिव्यक्ति का आधार वर्णन ही हो गया। भावाभिव्यक्ति के लिये आश्रय की चेष्टाओ का वर्णन ही एक मात्र माध्यम था। ये चेष्टायें नियमपूर्वक भावना-सवलित ही होती थी अतएव इन्हे अनुभाव की सज्ञा प्राप्त हुई। कुछ अनुभाव शारीरिक क्रियामात्र तक सीमित रहते है, कुछ मे वाणी का उपयोग किया जाता है, कुछ वेश-भूषा गत होते है और कुछ सत्व से उद्भूत होते हैं। बिहारी सतसई मे सभी प्रकार के अनुभावो का माध्यम अपनाया गया है।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जिन माध्यमों के द्वारा रस-निष्पत्ति की जाती है, अलकारशास्त्रो मे उन सबका विस्तृत विवेचन पाया जाता है। सामान्य कवि के लिए इन लक्षण-ग्रन्थो मे वर्णित विभावो और अनुभावो के आधार पर रस-निष्पत्ति सुकर हो जाती है। किन्तु सहृदय कवि इन ग्रन्थो पर ही आश्रित नही रहते। वे ग्रन्थों की अपेक्षा प्रत्यक्ष अनुभव से अधिक प्रभावित होते हैं। बिहारी के रूप चित्रण में मुद्रा, हाव, अनुभाव, कार्य व्यापार इत्यादि केवल शास्त्र ग्रन्थो पर ही आधारित नही है किन्तु इन्होने प्रत्यक्ष अनुभूति तथा अवेक्षण-शक्ति का अधिक आश्रय लिया है।

बिहारी को चेष्टाओ के वर्णन मे विशेप सफलता मिली है। सामान्यतया कहा जाता है कि दोहे के कलेवर के अत्यन्त छोटे होने के कारण उसमे प्रबन्ध के समान एक भाव की अभिव्यक्ति के लिए कई चेष्टाओ का वर्णन असम्भव होता है। सफल मुक्तककार अनेक चेष्टाओ से छाँट कर ऐसी एक चेप्टा का वर्णन कर देता है कि जिस से भावाभिव्यक्ति सफलतापूर्वक हो जाती है। किन्तु बिहारी के वर्णन में यह विशेपता है कि इन्होने एक साथ कई-कई चेष्टाओ की योजना सफलता-पूर्वक की है। कहीं-कही तो पूरे के पूरे सम्वाद ही चेप्टाओ के माध्यम से करवा दिये गये है। इन सभी प्रकार की चेष्टाओ का विस्तृत विवेचन तीसरे अध्याय मे किया जा चुका है, वही देखना चाहिये।

(उ) सयोग तथा वियोग—रसात्मक क्षेत्र मे भावाभिव्यक्ति ही प्रधान तत्व है और उसी के लिये सारे उपकरण जुटाने पड़ते हैं। कही भावाभिव्यक्ति भाव तक ही सीमित रहती है और कही उपकरणो के सयोग से रस का रूप धारण कर लेती है। रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भाव-शान्ति और भाव-शवलता, ये सभी भावाभिव्यक्ति के ही रूप है। अभिव्यक्ति जितनी तीव्र तथा प्रभावशालिनी होगी, काव्य उतना ही श्लाघ्य माना जावेगा और उसकी प्रतिष्ठा उतनी ही अधिक होगी।

बिहारी का मुख्य क्षेत्र शृगार-रसाभिव्यक्ति था। अन्य रसो मे इतना विस्तार नहीं होता। शृंगार मे दो पक्ष होते है—सुख और दुःख। सुख प्रवण प्रेम को सम्भोग शृंगार कहा जाता है और दुःख-प्रवण प्रेम को विप्रलम्भ शृगार की सज्ञा प्रदान की जाती है। बिहारी मे शृगार रस के अनेक रूप पाये जाते है। सम्भोग

शृंगार में हास-परिहास की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। भगवान् कृष्ण से राधा के परिहास का कवि ने निम्नलिखित दोहे मे वर्णन किया है :-

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं भौंहनु हँसै दैन कहै नटि जाइ ॥

कभी-कभी सामने देखकर मुस्करा देना पर्याप्त होता है। यदि सयोग वश कोई एक-दूसरे की ओर आकृष्ट नही होता है तो उसके लिए दूसरा थोडी-सी चेष्टा भी करता है :—

उन हरकी हँसिकै, इतै इन सौंपी मुसकाइ।
नैन मिलैं मन मिलि गये दोऊ, मिलवत गाइ।।

इसी प्रकार क्रीडाओ मे चोरमिचिहनी, जल क्रीड़ा, झूला, फाग इत्यादि का समावेश सयोग शृगार मे किया गया है। कहीं कोई नायिका प्रियतम के आँख मूद लेने पर पाणिस्पर्श सुखानुभव कर रही है, कही कोई काँटे के पैर मे गड़ जाने पर प्रियतम से निकलवाने का ही आनन्दास्वादन कर रही है, कोई एक नायिका प्रियतम के कम्पित हाथ से टेढ़ा ही तिलक लगवाकर आनन्द का अनुभव कर रही है तो दूसरा नायिका हाथ की मुद्रिका की आरसी मे प्रियतम का प्रतिबिम्ब देखने में अपने को भूले जा रही है। कही कोई नायक प्रियतमा के साथ ककरीले मार्ग पर चल उसकी सहानुभूतिपूर्ण सिसकारी का ही आनन्द ले रहा है तो दूसरा गुलाल की झूठी मुट्ठी से उसे डरा कर चेष्टाओ को देखने में मस्त है।

बिहारी ने सयोग शृगार के क्षेत्र मे मदिरा-पान, उद्यान-भ्रमण, जल-क्रीडा इत्यादि सभी प्रकार के आमोद-प्रमोदो का वर्णन किया है। सम्मिलन के ढग भी अनोखे हैं। एक नायिका किस प्रकार व्याजनिद्रा मे पड़े हुए प्रियतम से मिलती है—

मुखु उघारि पिउ लखि रहत रह्यौ गौ मिस-सैन।
फरके ओठ, उठे पुलक, गये उघरि जुरि नैन।।

इसी प्रकार —

मैं मिसहा सोयौ समुझि मुँह चूम्यौ ढिग जाइ।
हँस्यौ खिसानी गल गह्यौ रही गरैं लपटाइ।।

सम्भोग शृंगार के वर्णन मे कही-कही उक्ति-प्रत्युक्तियो से भी काम लिया गया है जिन्हें हम वाचिक अनुभाव मे सन्निविष्ट कर सकते हैं। विपरीत रति का भी वर्णन आता है। रूप वर्णन मे नख-शिख तथा सर्वांग सौन्दर्य वर्णन इसी सम्भोग शृगार के अन्दर आते हैं। शृगार के उद्दीपन के रूप में प्रकृति-चित्रण भी किया गया है और कहीं-कही प्रकृति-चित्रण सकेत-स्थान के व्यजक के रूप मे भी प्रयुक्त हुए हैं। कहीं-कही नायिका की सखी नायिका को नायक के प्रेम-सदेश देने के लिये भी प्रकृति का व्यजक वर्णन करती है। इस प्रकार बिहारी के सभोग शृगार का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और बिहारी मे इस दिशा मे विशेष सफलता पाई है।

प्रेम की वास्तविक गहराई का पता संयोग में नहीं वियोग में ही लगता है।

इसी लिये हमारे आचार्यों ने सयोग की अपेक्षा वियोग को ही अधिक मधुर माना है। प्रेम वस्तुत. वियोग मे घटता नही अपितु वियोग-वेदना मे उस का और अधिक परिपाक हो जाता है।

शास्त्रकारो ने विप्रलभ के जितने भी भेद किये हैं उन सब का समावेश बिहारी की रचना मे प्राप्त हो जाता है। इसका विस्तृत वर्णन शास्त्रीय प्रसग मे किया जा चुका है। सक्षेप मे बिहारी के विरह-वर्णन मे ऊहात्मक उक्तियाँ ही अधिक पाई जाती हैं। कहीं शरीर के ताप से बोतल भर गुलाव-जल सूख जाता है और शरीर तक पहुँचते-पहुँचते एक भी बूद शेप नही रह जाती। कहीं नायिका की उष्ण श्वासो से माघ की रात मे भी लुयें चलने लगती हैं। किन्तु कहीं-कही स्वाभाविक वर्णन भी किया गया है। इसके अतिरिक्त भाव रसाभास, भावाभास इत्यादि का भी विहारी सतसई में समावेश पाया जाता है और दूसरे रसो के भी एक आध उदाहरण विद्यमान है। फिर भी प्रधानता सयोग तथा वियोग शृगार की ही है और इन दोनो के अनेक रूपो की अभिव्यक्ति इस रचना मे पाई जाती है।

प्रकृति काव्य परम्परा

जैसा कि बतलाया जा चुका है वैदिक काल से प्रचलित प्रकृति काव्य परम्परा मध्य युग में आकर समाप्त हो गई। इस परम्परा का स्थान प्राकृत काव्य ने ले लिया और प्रकृति-चित्रण या तो उद्दीपन के रूप मे रह गया या अलकार-योजना तथा अप्रस्तुत विधान के लिए प्रकृति का उपादान होने लगा। प्रकृति को मानव भावना अथवा चेतना से सवलित देखने की वैदिक काल से चली आती हुई प्रवृत्ति के भी यत्र तत्र दर्शन हो जाते थे तथापि प्रकृति-चित्रण की दिशा मे प्रधानता उद्दीपन विभाव के रूप मे चित्रण की ही रही और पुरानी परम्परा के आदर्श पर प्रकृति चित्रण नाम मात्र को ही हुआ।

परवर्ती मुक्तक काव्य-परम्परा मे प्रकृति-चित्रण की दिशा मे षड्ऋतु वर्णन और बारह मासा के वर्णन को प्रमुखता प्रदान की गई। कालिदास का ऋतु सहार प्रसिद्ध ही है और भी अनेक कवियो ने षड्ऋतु वर्णन किया है। बिहारी ने बारहमासा लिखने की चेष्टा नही की। सभवत इसका कारण यह था कि बारहमासा एक तो प्रबन्धो मे विरह-वर्णन मे प्रयुक्त होता था दूसरे विरह-गीतो मे इसका उपयोग किया जाता था। सामान्य स्फुट मुक्तको मे इसकी परम्परा प्रतिष्ठित न हो सकी थी। दूसरी बात यह थी कि दो-दो महीनो की एक-एक ऋतु मानी गई है। इन दो महीनो मे प्राकृतिक स्थिति मे कोई विशेष अन्तर नही पडता। एक ऋतु की स्थिति प्राय. एक सी रहती है। अतएव बारहमासा का लिखना परम्परा-लब्ध रहा हो किन्तु बिहारी को इसके लिखने का औचित्य प्रतीत नहीं हुआ।

बिहारी ने षड्ऋतु वर्णन किया और इनका यह वर्णन व्यापक भी है। प्रत्येक ऋतु का वर्णन आलवन रूप मे भी हुआ है और उद्दीपन रूप में भी हुआ है। इसके अतिरिक्त अधिकतर ऋतुओ के आमोद-प्रमोदो पर भी दो-चार दोहे प्राप्त हो जाते है। सस्कृत के परवर्ती कवियो मे तथा हिन्दी के कवियो मे प्रकृति को आलवन के रूप मे चित्रित करने की परपरा समाप्त हो गई थी। हिन्दी मे केवल सेनापति ही ऐसे कवि हैं जिन्होने स्फुट मुक्तको मे प्रकृति का स्वतन्त्र आलवन के रूप में चित्रण किया है। अतएव बिहारी की यह अपनी विशेषता है कि उन्होने प्रकृति के आलंबन रूप का भी चित्रण किया है और उद्दीपन रूप का भी चित्रण किया है। नीचे की पक्तियो मे विहारी के षड्ऋतु-वर्णन का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

वसन्त वर्णन

वसन्त मे आम्रमजरियाँ खिल उठती हैं, माधवी लतायें फूल जाती हैं। इनकी धीमी-धीमी गन्ध चतुर्दिक् व्याप्त होकर भौंरो को उन्मत्त वना देती है। इस स्थिति का चित्रण निम्नलिखित दोहे मे कितनी सुन्दरता से किया गया है —

छकि रसाल-सौरभ सने मधुर माधुरी गन्ध।
ठौर ठौर झौंरत झँपत भौंर झौंर मधुअन्ध।।

यहाँ भ्रमरो को मदिरामत्त व्यक्ति मान कर उनकी अवस्था का सुन्दर वर्णन किया गया है। जिस प्रकार कोई शरावी व्यक्ति मद्यपान कर उन्मत्त होकर झूमता हुआ गिरता-पड़ता चलता है उसी प्रकार भौंरो के झुण्ड भी मतवाले होकर झूमते हुए तथा झुकते हुए उड़ रहे है। इस दोहे मे शब्दो का ऐसा मनोहर उपादान हुआ है कि शरावी तथा मधुपवृन्द का मतवालापन शब्द-चित्र के द्वारा विल्कुल हमारे सामने आ जाता है। वीप्सा और छेकानुप्रास का सघटन इस क्रिया मे विशेष सहायक होता है।

विहारी ने वसन्त काल की मन्द-मन्द सुरभित वायु का कई दोहों मे वर्णन किया है और ये दोहे उत्कृष्ट भी वन पडे हैं। निम्नलिखित दोहे मे वासन्ती वायु की तुलना मदमत्त हाथी से की गई है।

रनित भ्रृ ग घटावली, झरित दान मधुनीरु।
मद मद आवतु चल्यौ कुंजरु कुंज समीरु।।

कितना सुन्दर रूपक है। वायु के साथ भौंरे गुन्जार रहे हैं और हाथी के घण्टे वज रहे है, वायु मे मधु नीर झर रहा है और हाथी का मद प्रवाह उमड रहा है। हाथी झूमते हुए मस्ती के साथ चलता है। वायु भी उसी प्रकार मन्थर गति से चल रहा है। "रणित भ्रृ ग घण्टावली" मे शब्दो के प्रयोग से घण्टा का शब्द सा सुनाई पड़ने लगता है। "झरित" शब्द का कुछ ऐसे ढग से प्रयोग किया है कि मधु के झरने का दृश्य सा उपस्थित हो जाता है और "मन्द मन्द समीर"

में मानो समीर की मन्द गति समाई हुई है। इस दोहे मे प्रसाद तथा माधुर्य गुण दर्शनीय है। वासन्ती कुंज वायु का इतना मनोहर वर्णन करने मे विरले ही कवि समर्थ हो सके हैं। निम्नलिखित दोहे मे भी शब्द-चयन प्रशस्त है :—

चुवतु स्वेद मकरंद कन तरु तरु पर विरमाइ।
आवतु दच्छिन देस तैं थक्यौ बटोही बाइ॥

"मकरन्द कन" के टपकने से शीतलता और सुगन्ध तथा "थके बटोही" की उपमा से मन्दता अभिव्यक्त होती है। वासन्ती वायु को पहले मस्त हाथी की उपमा दी गई थी, अब घोड़े की उपमा भी देखिये :—

रुक्यौ साँकरैं कुंज-मग, करतु झाँझि, झकुरातु।
मन्द मन्द मारुत तुरंगु खूँदतु आवतु जातु॥

वायु की उपमा मे हाथी की अपनी सुन्दरता है और घोड़े की अपनी सुन्दरता है तथा "थके यात्री" की उपमा भी वायु के विशेष गुणो की अभिव्यंजक है किन्तु जो सौन्दर्य नवोढा की उपमा मे अभिव्यक्त होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है —

लपटी पुहुप पराग पट, सनी स्वेद मकरंद।
आवति, नारि नवोढ लौं सुखद वायु गति मंद॥

कितनी कोमलता है, नवोढ़ा मन्द गति से चलने मे भी पसीने से सराबोर हो गई है। वायु की कोमलता के लिए नवोढा का उपादान बिहारी की लोकोत्तर प्रतिभा का परिचायक है। नायिका के शरीर मे यौवनजन्य सुगन्ध आ रही है और वायु मे मकरन्द की सुगन्ध विद्यमान है ही। नवोढा की उपमा से वायु मे शीतल-मन्द गुणो की स्वभावतः अभिव्यक्ति हो जाती है। छेक और वृत्ति अनुप्रासो से भाषा की शोभा बढ गई है। यहाँ पर पूर्ण उपमा की अभेद रूपक से पुष्टि होती है।

उपर्युक्त दोहो मे वसन्त का वर्णन आलम्बन रूप मे है। दो एक-दोहे उद्दीपन रूप मे भी लिखे गये है। चारो ओर पुष्प खिले हुए है, वनों और उपवनों मे रंग-बिरंगे फूलो की छटा फैली हुई है। ऐसा मालूम पडता है मानो वियोगियो के लिए वसन्त ने काम-बाणो का जाल सा फैला रखा है। वसन्त तो कामदेव का मित्र ठहरा। फिर कामदेव की सहायता क्यो न करता। वसन्त मे टेसू के फूल विशेष रूप से वनो की शोभा बढाया करते है। वियोगियो को वे फूल दावाग्नि जैसे प्रतीत हो रहे है। अतएव वे अपने घरो को भागे हुए चले आ रहे हैं। केवल प्रवासी ही नही, घरो मे नायिकायें भी "पलास की डार" पर चढ कर जल मरने की कामना कर रही हैं क्योकि "ऐसे निर्धूम अंगारे" और कहाँ मिल सकते है। कोयल तो वास्तव में वन—मार्गो मे विश्राम करने वाले पथिको के लिए साक्षात् बटपरे के समान ही है —

थन ब्राटधु पिक-वटपरा लखि विरहिनु मत मैंन ।
कुहौ कुहौ कहि कहि उठैं करि करि राते नैंन ।।

होली खेलना वसन्त का प्रमुख उत्सव है तथा आमोद प्रमोद का सर्वोत्तम साधन है। इसका भी कई दोहो मे बिहारी ने वर्णन किया है। इसको हम उद्दीपन के रूप मे अगीकृत कर सकते है —

ग्रीष्म-वर्णन

बिहारी ने ग्रीष्म के प्रसग मे आलम्बनात्मक वर्णन मे उष्णता की तीव्रता का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया है —

कहलाने एकत बसत अहि मयूर, मृग बाघ ।
जगतु तपोवन सौ कियौ दीरघ-दाघ निदाघ ।।

तपोवन मे किसी ऋषि की उपस्थिति के प्रभाव से विरोधी जीव परस्पर विरोध छोड कर निर्भय विचरण किया करते है। इसका प्राय. वर्णन कालिदास, तुलसीदास आदि महाकवियो ने किया है। ग्रीष्म काल की उष्णता की तीव्रता के कारण मयूर और बाघ जैसे हिंसक जीव इतने व्याकुल हो गये है कि भोज्य वस्तु के निकट होते हुए भी उस पर आक्रमण नही कर रहे है और सर्प तथा हरिण भी इतने व्याकुल है कि काल निकट बैठा है फिर भी भागने का उत्साह नही करते। यही दोनो वर्णनो मे सादृश्य है। कहा जाता है बिहारी ने यह दोहा एक चित्र को देख कर बनाया था और परवर्ती कई कवियो ने इस दोहे के आधार पर अपने पद्यो की रचना की। निम्नलिखित दोहे मे उष्णता की तीव्रता का वर्णन व्यजक रूप में किया गया है।

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन मौंहि ।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँह ।।

कितनी उत्कृष्ट कल्पना है! दोपहरी मे सूर्य सीधे सर पर आता है। छाया केवल घर की दीवालो के अन्दर और वृक्षो के नीचे ही सीमित होकर रह जाती है, बाहर इधर-उधर नही फैलती। ऐसा प्रतीत होता है मानो छाया को भी छाया की आवश्यकता है, वह भी बाहर नही निकलना चाहती। कितना रोमांचकारी वर्णन है। यदि यह वर्णन स्वय दूती-कृत माना जावे तो इसमे सुरत की प्रेरणा की व्यजना होगी। इस प्रकार इस दोहे मे ग्रीष्म वर्णन प्रकृति पर चेतन वृत्त के आरोप मे भी लिखा गया है और व्यजक रूप मे भी, साथ ही लुप्तोत्प्रेक्षा का रसोपकारक रूप में उपादान किया गया है। ग्रीष्म की तीव्रता का एक और उदाहरण

नाहिं न ए पावक-प्रबल लुवैं चलैं चहुँ पास ।
मानहु बिरह बसंत कैं ग्रीषम लेत उसास ।।

यहाँ पर भ्रान्तापह्नुति और हेतूत्प्रेक्षा का सकर है। भ्रातापह्नुति के द्वारा उष्णता की तीव्रता और हेतूत्प्रेक्षा के द्वारा ग्रीष्म ऋतु के विरहिणी नायिका और

वसन्त में नायक का आरोप व्यक्त होता है। ग्रीष्म ऋतु के प्रसग में सायकाल का सुखद होना विशेष रूप से वर्णन किया जाता है, किन्तु बिहारी का इस प्रकार का कोई दोहा नहीं मिलता। कभी-कभी ग्रीष्म ऋतु मे वायु बिलकुल बन्द सा हो जाता है और उष्णता की तीव्रता असह्य हो उठती है, फिर शीतल वायु के एक-दो झोंके आ जाते हैं, तब अभूतपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। बिहारी ने इस प्रकार की वायु मे नायिका का आरोप कर अच्छा वर्णन किया है —

रही रुकी क्यौं हूँ सु चलि, आधिक राति पधारि।
हरति तापु सब द्यौस कौ उर लगि यारि बयारि॥

यहाँ पर अर्थ-श्लेप रूपक का अग है और वायु पर मानव-वृत्त (नायिका-वृत्त) का आरोप किया गया है।

वर्षा-वर्णन

वर्षा ऋतु विशेप उद्दीपक मानी जाती है। सस्कृत के काव्यो मे विशेप रूप से वर्षा का वर्णन किया गया है। कालिदास ने तो पावस की उद्दीपकता को ही लेकर अपना अनुपम काव्य मेघ-दूत लिखा था। बिहारी ने उद्दीपन रूप मे ही पावस-वर्णन के कई दोहे लिखे है। बिहारी ने लिखा है कि पावस ऋतु मे मान करना असम्भव है। वर्पा मे अन्य गाँठें तो कडी पड जाती हैं किन्तु मान की गाठ छूट जाती है।

निम्नलिखित दोहे मे बादलो पर डाकुओ का आरोप सुन्दरतापूर्वक किया गया है —

कौन सुनै, कासौं कहौं, सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी ज्यौं लेत हैं ऐ बदरा बदराह॥

प्रथम पक्ति मे नायिका की परवशता दर्शनीय है। जिस प्रकार कोई चोर डाकू देखते-देखते धन का अपहरण कर लेता है उसी प्रकार ये बादल भी नायिका के प्राण रूपी धन का अपहरण करने पर तुले हुए हैं।

निम्नलिखित दोहे मे भाषा सौन्दर्य देखने योग्य है —

विकसित-नवमल्ली-कुसुम-विकसित परिमल पाइ।
परसि पजारति विरहि हिय, वरसि रहे की वाइ॥

इस दोहे में प्रथम पक्ति मे समास लम्बा है, फिर भी रचना कौशल से अशोभन प्रतीत नही होता। शब्दो का उपादान माधुर्य गुण से ओत-प्रोत है और दोहे की वियोग-शृंगार की भावना के सर्वथा अनुकूल है। वर्षा मे शीतलता वर्षा-काल के कारण आ ही गई है, नवीन मल्लिका के पुष्पो के सम्पर्क के कारण गन्ध का सचार हो ही गया है। इसी प्रकार की वायु के जलाने का वर्णन करने मे विरोधाभास ध्वनि है।

निम्नलिखित दोहे का लाटानुप्रास बहुत ही सुन्दर तथा स्वाभाविक है और

उसके लिए किसी प्रकार की शब्दो की तोड मरोड अपेक्षित नही हुई है —

तिय-तरसौंहैं मुनि किए करि सरसौंहैं नेह।
धर-परसौंहै ह्वै रहे झर बरसौंहैं मेह ॥

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे मे शुद्धापह्नुति का अच्छा उपादान किया गया है।

धुरवा होहिं न अलि उठै धुवाँ धरनि-चहुँ कोद।
जारत आवत जगत कौ पावस-प्रथम पयोद ॥

केवल मेघ ही नही खद्योत भी उद्दीपक होते हैं। खद्योतो की उद्दीपकता के कारण ही निम्नलिखित दोहे मे नायिका भ्रान्त हो गई है —

बिरह-जरी लखि जीगननु कह्यौ न उहि कै बार।
अरी, आउ भजि भीतरी, बरसत आजु अंगार ॥

यदि तुलसी की सीता ने अ गारो के रूप मे अशोक पल्लव देखे थे तो बिहारी की नायिका खद्योनो को अ'गार समझ रही है। वास्तव मे पावस और पावक मे अन्तर ही कितना है ? अन्तिम "स" को "क" के रूप मे बदल देने मात्र से पावस का पावक बन जाता है। प्रियतम के वियोग मे जब शीतलता भी दाहक हो जाती है तब पावस को पावक बनते देर नही लगती —

चिनग फुही, लपटै छटा, घटा धूम विस्तार।
पावस-रितु प्रानेस बिनु होत सकार ककार ॥

उपर्युक्त सभी दोहो मे पावस की उद्दीपकता का ही वर्णन किया गया है।

निम्नलिखित दोहे मे वर्षा काल के अन्धकार का आलम्बन के रूप मे भी वर्णन है

पावस घन अ'धियार महि रह्यौ भेदु नहिं आनु।
रात द्योस जान्यौ परै लखि चकई चकवानु ॥

पावस के घने अन्धकार मे चकई-चकवो को देख कर ही रात-दिन का पता चल जाता है, अन्यथा दिन मे भी घना अन्धकार छाया रहता है। इस दोहे पर आलोचकों मे पर्याप्त खीचातानी हुई है। वस्तुत वर्षा काल मे चक्रवाक नही होते। अतएव यहाँ पर चक्रवाको का वर्णन प्रकृति-परिचय की कमी का परिचायक है। रत्नाकर ने पालतू चक्रवाको का वर्णन मान कर समाधान दिया अवश्य है किन्तु अधिक सतोषजनक नही कहा जा सकता। वास्तव मे इस काल मे कविता राज दरबार की वस्तु रह गई थी, कवि गण प्रकृति के प्रत्यक्ष सम्पर्क मे आने की चेष्टा नही करते थे, केवल परम्परा निर्वाह के लिए ही इस प्रकार के वर्णनो को अपने काव्यो मे स्थान दिया करते थे। अतएव ऐसी भूले हो जाना कुछ आश्चर्यजनक नही है।

यह दोहा वाल्मीकि के निम्नलिखित श्लोक के आधार पर लिखा गया है —

निलीयमानैर्विहगैर्निमीलद्भिश्च पङ्कजै ।
विकसन्त्या च मालत्या गतोऽस्त ज्ञायते रवि ॥

(छिपने वाले पक्षियो से, सकुचित होने वाले कमलो से और खिलने वाली चमेली से सूर्य का अस्त होना ज्ञात होता है ।)

किन्तु इस श्लोक मे भी वर्षा में कमलो का वर्णन है जो कि वर्षा काल मे नही होते । किन्तु कमलो की भाँति दिन मे विकसित होने वाले पुष्पो के उपलक्षण के रूप मे श्लोक की व्याख्या की जा सकती है । ऐसी व्याख्या दोहा के विषय मे दोहे की अपेक्षा स्वाभाविकता भी अधिक है और दीपक अलकार का प्रयोग उस मे अधिक सुन्दरता उत्पन्न कर देता है । श्लोक निस्सन्देह दोहे की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है ।

शरद्-वर्णन

शरद् काल मे जल निर्मल हो जाता है, आकाश से बादल हट जाते हैं, कमलों की शोभा जैसी शरद् ऋतु मे होती है वैसी और किसी ऋतु मे नही होती, चन्द्रमा का प्रकाश भी इसी ऋतु मे अभूतपूर्व होता है । चन्द्र, कमल और खञ्जन ये ही शरद् काल के प्रधान वर्ण्य है । इन सब का निम्नलिखित एक ही दोहे मे सुन्दर वर्णन हुआ है :—

अरुन सरोरुह कर चरन, दृग खञ्जन मुख-चन्द ।
समै आइ सुन्दरि शरद् काहि न करति अनन्द ॥

यहाँ पर साग रूपक प्रशस्त है और रूपक के रूप मे ही शरद् का वर्णन किया गया है । उद्दीपन के रूप मे शरद् का वर्णन निम्नलिखित दोहे मे किया गया है :—

ज्यौ शरद-राका ससी करति क्यौं न चित चेतु ।
मनौ मदन छितिपाल कौ छाँहगीरू छवि देतु ॥

वाच्योत्प्रेक्षा के साथ "त" "क" "च" और "छ" का अनुप्रास भी अच्छा बन पडा है ।

निम्नलिखित दोहे मे आलम्बन के रूप मे शरद् का वर्णन है –

घन घेरा छुटिगौ, हरषि चली चहूँ दिसि राह ।
कियो सुचैनौ आइ जगु सरद सूर नरनाह ॥

यहाँ पर मेघ मण्डल को कटक माना गया है और ससार को नगर । मेघ मण्डल रूपी शत्रु-कटक ससार रूपी नगर का घेरा डाले पडा था उसी समय शासन का भार शरद् रूपी वीर राजा के हाथो मे चला गया जिससे मेघ रूपी शत्रु-कटक पराजित होकर छिन्न-विच्छिन्न हो गया और ससार रूपी नगर मे सुख शान्ति का साम्राज्य हो गया । इस दोहे में उस समय की राजनीतिक दशा की ओर सकेत किया गया है । यहाँ पर शब्द-मैत्री और रूपक का प्रयोग दोनो ही प्रशसनीय है ।

हेमंत-वर्णन

हेमन्त की एक विशेषता यह है कि इस मे पुष्पो की कमी होती है। हेमन्त के प्रारंभ से ही पुष्पो की कमी दृष्टिगत होने लगती है। हेमन्त ऋतु की दूसरी विशेषता यह है कि यौवन सुख का उपभोग करने के लिए यह ऋतु सर्वोत्तम मानी गई है। चरक मे लिखा है —

"हेमन्त में मदिरा पान करना चाहिये और कामिनियो के यौवन का पान करना चाहिए।" बिहारी ने निम्नलिखित दोहे में हेमन्त काल की पुष्पो की कमी और उपभोग-क्षमता का वर्णन किया है —

कियौ सबै जगु काम-बसु, जीते जिते अजेय।
कुसुम सरहिं सर धनुष कर अगहनु गहन न देइ ॥

पुष्प कामदेव के बाण है, किन्तु इस काल में हेमन्त ऋतु ही सारे ससार को कामी बना देती है, कामदेव को पुष्प-बाण धारण करने की आवश्यकता ही नही पडती। इसी लिए इस मास का नाम ही अगहन (जिसमें पुष्प बाण ग्रहण न किये जावें) पडा है। हेमन्त भी एक नवीन ब्रह्मा है। इसकी सृष्टि की विलक्षणता यह है कि सारे ससार के विभिन्न प्रकार के जीव जन्तुओ को हटा कर इसने सर्वत्र जुराफा पक्षी ही पैदा कर दिये है। जिस प्रकार जुराफा पक्षी अपने जोडे मे अलग होते ही मर जाता है उसी प्रकार इस ऋतु में सभी प्राणी अपने प्रेमी-प्रेमिकाओ से वियुक्त होकर जीवित नही रहते। मिल कर विहार करना ही इस ऋतु का सार है —

मिलि विहरत, बिछुरत मरत दम्पति अति रति-लीन।
नूतन विधि हेमन्त सबु जगतु जुराफा कीन ॥

इस ऋतु में रात्रि का सीमातीत बढ़ जाना कोक को छोड कर सभी को आनन्ददायक है —

ज्यौं ज्यौं बढ़ति विभावरी त्यौं त्यौं बढ़त अनन्त।
ओक ओक सब लोक सुख कोक शोक हेमन्त ॥

इस दोहे में 'ज्यौं' 'ज्यौं' के पश्चात् 'त्यौं त्यौं' 'ओक' 'ओक' तथा 'कोक' 'शोक' इन शब्दो का उपादान बहुत ही समीचीन हुआ है। साथ ही प्रेमी दम्पतियो को अनन्त सुख तथा वियोग की सम्भावना में कोक को शोक मिलने का वर्णन भी बहुत ही स्वाभाविक तथा उपयुक्त है। इस ऋतु में दिन बहुत ही छोटे हो जाते हैं। इनका मान (परिमाण) घट जाने की तुलना बिहारी ने ससुराल में रहने वाले दामाद से की है —

आवत जात न जानियतु तेजहिं तजि सियरानु।
घरहुँ जँवाई लौं घट्यो खरौ पूसु दिन मानु ॥

बिहारी को भी तो ससुराल में रहना पडता था। उसी अनुभव का इन दोहे में प्रतिफलन तो नही हुआ है ?

शिशिर-वर्णन

शिशिर वर्णन के केवल दो दोहे उपलब्ध होते हैं। एक शुद्ध शिशिर वर्णन-परक है और दूसरा उद्दीपन के रूप में शिशिर वर्णन परक। निम्नलिखित दोहे में शुद्ध रूप में शिशिर वर्णन किया गया है —

लगत सुभग सीतल किरन निसि-सुख दिन अवगाहि।
माह ससी-भ्रम सूर त्यौं रहति चकोरी चाहि ॥

चकोरी को तो माघ का महीना हर्षोल्लास से भरा हुआ ही होता है। दिन में सूर्य को चन्द्र समझ कर उसका आनन्द लेती है और रात में तो प्रत्यक्ष चन्द्र देव उसे आनन्द देते ही है। शिशिर का शीत दूर करने के लिए लोग रजाई का सहारा लेते है, धूप मे बैठते है, आग तापते हैं। पर शीत के निराकरण के ये सब उपाय तुच्छ है। बिहारी के पास शिशिर के शीत को दूर करने का केवल एक नुस्खा है—प्रेमियो का एक दूसरे के साथ लिपट कर रहना —

तपन-तेज तपु-ताप तपि, अतुल तुलाई माँहि।
शिशिर-शीतु, क्यौं हुँ न मिटै बिनु लपटैं तिय नाँह ॥

इस प्रकार बिहारी ने सभी ऋतुओ का बहुत ही सुन्दर तथा व्यापक वर्णन किया है। यद्यपि ऋतु सौन्दर्य वर्णन बिहारी के काव्य का प्रधान प्रवृत्ति-निमित्त तो नहीं है तथापि वर्णन पूर्ण है और दोहा जैसे छोटे छन्द में चमत्कार-चारुता के साथ बिहारी ने जो ऋतु सौन्दर्य का पूर्ण तथा व्यापक वर्णन किया है उसको देखकर आश्चर्य होता है।

दूसरे प्राकृतिक वर्णन

ऋतु वर्णन के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के प्राकृतिक वर्णनो की प्राय कमी है। निम्नलिखित दोहे में चन्द्रिका का वर्णन किया गया है।

जोन्ह नहीं यह, तमु वहै, किए जु जगत निकेतु।
उदय होत ससि के भयौ मानहुँ ससहरि सेतु ॥

यहाँ पर दोहे का प्रधान प्रवृत्ति-निमित्त केवल अलकाराभिनिवेश ही है। केवल अपन्हुति और उत्प्रेक्षा के सकर के मन्तव्य से ही यह दोहा लिखा हुआ ज्ञात होता है। पिछले काल के कवियो मे अलकार के मन्तव्य मे ही प्रकृति-चित्रण की प्रवृत्ति बढ गई थी। यह दोहा उसी का उदाहरण हो सकता है। इस दोहे मे न तो कवि का प्रकृति प्रेम ही लक्षित होता है और न प्रोषितपतिका की वियोग व्यथा की तीव्रता ही अभिव्यक्त होती है। सौन्दर्य का पर्यवसान केवल अलकार मे ही होता है। कहीं कही उद्दीपन रूप मे एक दो वर्णन आ गए हैं। निम्नलिखित दोहे मे प्रभात वर्णन उद्दीपन रूप मे किया गया है —

नभ-लाली चाली निशा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली, आली, अनत आए बन माली न ॥

यहाँ पर प्रभात काल नायिका की वियोगव्यथा के उद्दीपन मे कारण हो रहा है। समस्त दोहे मे शब्दो का प्रयोग बहुत ही कलापूर्ण है। निम्नलिखित दोहे मे प्रभात नायिका को सुरत से विरत होने का सकेत दे रहा है:—

कुज भयनु तजि भवन कौं चलियै नन्द किशोर।
फूलति कली गुलाब की, चटकाहट चहुँ ओर॥

गुलाब प्रात काल फूलता है और फूलने के साथ चट-चट का शब्द होने लगता है। इस चटकने के वर्णन के विषय मे बिहारी का एक दोहा और पाया जाता है—

सघन कुंज जमुहाति तिय, उठी प्रात तजि सैन॥
लगे गुलाब खुसामदी चट चट चुटकी दैन॥

निम्नलिखित दोहे मे यमुना तट पर कुजो का वर्णन नायिका द्वारा सकेत देने के लिए प्रयुक्त हुआ है—

घाम घरीक निवारियै, कलित ललित अलि पुंज॥
जमुना तीर तमाल तरु मिलित मालती कुज॥

निम्नलिखित दोहे मे यमुना तट की उद्दीपकता का सुन्दर वर्णन किया गया है.—

सघन कुंज छाया सुखद सीतल सुरभि समीर।
मनु ह्वै जातु अजौं वहै उहि जमुना के तीर॥

इस प्रकार यद्यपि बिहारी ने प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण अधिक नही किया है तथापि पूर्ण है इसमे सन्देह नहीं।

धार्मिक-मुक्तक

(अ) समन्वय-वाद तथा एकता का उपदेश

बिहारी के समय की धार्मिक स्थिति अत्यन्त जटिल थी। ज्ञान और कर्म के प्राधान्य का युग समाप्त हो चुका था। उपासना के क्षेत्र मे भक्ति का विकास हुआ था। सारा धार्मिक समाज विभिन्न सम्प्रदायो मे विभाजित था। शाक्त, शैव और वैष्णव पृथक्-पृथक् अपनी सत्ता स्थापित किए हुए थे। इनमे प्रायः परस्पर कलह हुआ करता था। साम्प्रदायिक व्यक्ति दूसरे सम्प्रदाय वालो की निन्दा तो करते ही थे, दूसरे सम्प्रदाय वालो के उपास्यो की निन्दा करने मे भी सकोच नही करते थे। केवल इतना ही नही, वैष्णव सप्रदाय के अन्तर्गत भी राम और कृष्ण सप्रदाय भी उसी प्रकार पृथक् थे। अनेक धर्म साधक कवियो ने विरोध को मिटा कर एक सामान्य भक्ति मार्ग को स्थापित करने की चेष्टा की थी। कबीर के एकता के प्रयत्न प्रसिद्ध ही है। तुलसी ने भी शैवो और वैष्णवो मे एकता स्थापित करने की पर्याप्त चेष्टा की थी और इन महात्माओ के प्रभाव से उत्तर भारत मे धार्मिक विद्वेष उतना उग्र रूप नही धारण कर सका। यद्यपि बिहारी उन महात्मा कवियो मे तो नहीं आते जिन की साधना का एक मात्र प्रवृत्ति-निमित्त धर्म ही था तथापि

इनके काव्य मे धार्मिक प्रवृत्ति भी पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। विहारी उन धर्म साधना-परायण कवियो मे है जिन्होने अपनी पूत वाणी के प्रभाव से धार्मिक सहिष्णुता और एकता स्थापित करने का चेष्टा की तथा जो धार्मिक विद्वेष को निरर्थक तथा हानिकारक समझते थे। उन्हीं का अनुसरण विहारी ने भी किया। इन्होने धार्मिक विरोध के विषय मे लिखा है —

अपने अपने मत लगे वादि मचावत सोर।
ज्यौं त्यौं सबको सेइवौं एकै नन्द किशोर ॥

वास्तव मे एक ईश्वर की सत्ता ही सत्य है, कोई उसे राम के रूप मे पूजता है कोई कृष्ण के रूप में, कोई उसे शिव कहता है कोई विष्णु। नाम तथा पूजन के प्रकार मे भेद है, पारमार्थिक भेद नहीं। उस समय का दूसरे प्रकार का मत-भेद निर्गुण और सगुण धाराओं मे था। विहारी ने दोनो की स्थापना की है। निर्गुण सम्प्रदाय की स्थापना करते हुए लिखा है —

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन विस्तारन काल।
प्रकटत निर्गुन निकट रहि चँग रग भूपाल ॥

भगवान् सगुणोपासको से दूर रहते हैं क्योकि उनके और भगवान् के बीच मे गुणो का व्यवधान रहता है। इसके प्रतिकूल निर्गुणोपासको के निकट अपनी व्यापकता के द्वारा सर्वदा सन्निहित ही रहते हैं। दूसरी ओर भगवान् से अपने गुणो मे बाधने की प्रार्थना कर रहे है.—

मोहूँ दीजै मोपु ज्यौं अनेक अधमनु दियौ।
जो बाँधे ही तोपु, तौ बाँधौ अपने गुननु ॥

एक ओर ये कृष्ण के अनन्य उपासक है, एक ही कृष्ण की किसी न किसी रूप मे उपासना करने की बात कहते है दूसरी ओर भगवान् राम के समुद्र बन्धन और गृद्धोद्धारण का उल्लेख कर राम और कृष्ण की एकता का सकेत देते हैं। एक ही दोहे मे विहारी ने भगवान् का सम्बोधन मुरारि रखा है और भगवान् के द्वारा गृद्ध के तारने की बात कही है।

(आ) प्रत्यक्षकृत स्तुति-परक दोहे

सृष्टि के आरम्भ से ही मनुष्य सुख और शांति के अन्वेषण में लगा हुआ है। वह एक ऐसी शक्ति का अन्वेषण करना चाहता है जो उसे सुख-शांति प्रदान करने में तत्पर हो और उसे दुःख से छुटकारा दिला सके। ऐसी महान् शक्ति केवल ईश्वर है। उसकी उपासना तथा भक्ति ही मनुष्य को पुरुषार्थ प्राप्ति में सहायता प्रदान कर सकती है। परम पुरुषार्थ मोक्ष है। उस को प्राप्त करने का एक मात्र उपाय भगवदनुग्रह ही है। भगवदनुग्रह के बिना मोक्ष प्राप्ति सम्भव ही नहीं है। भगवदनुग्रह प्राप्त करने का उपाय है भक्ति, भगवान् से व्यक्तिगत सम्बन्ध की स्थापना। भक्ति के क्षेत्र में आ कर कवि निस्सकोच भाव से भगवान् के सामने आत्म-निवेदन

करता है। वह अपने पापो को छिपाना नही चाहता अपने को पापी, कुकर्मी, पतित इत्यादि कहकर भगवान् से अपने पापो के क्षमा करने की प्रार्थना किया करता है। एक ओर उसके सामने परम सत्ता का अनवद्य रूप रहता है और दूसरी ओर अपनी पाप प्रवृत्ति। यह अपने स्वल्पतम पापो को परम सत्ता के अनवद्य रूप के सामने महान् समझता है तथा अनेक पतितो के उद्धार की कथाओ का निदर्शन देकर भगवान् से उद्धार की प्रार्थना किया करता है —

कीजै चित सोई, तरे जिहिं पतितनु के साथ।
मेरे गुन-औगुन गननु गनौ न, गोपीनाथ॥

कवि इस बात को समझता है कि उसके कर्म इस योग्य है ही नही जो उसे भवसागर से निस्तार दिलाने मे कारण बन सकेंगे। उसके निस्तार का एक मात्र उपाय यही है कि भगवान् बिना सोचे-समझे अपना समझ कर उसे तार दें। यदि भगवान् तारने के लिए उसके गुणावगुणो की मीमासा करने लगेंगे तो उसका तार सकना असम्भव हो जावेगा

तौवलियै भलियै वनी, नागर नन्द किशोर।
जौ तुम नीकैं का लख्यौ मो करनी की ओर॥

मध्य काल के भक्त कवियो ने प्राय भगवान् से होड लेने की चेष्टा की है। विहारी भी पीछे नही है —

मोहिं तुम्हैं बाढी बहस को जीतै जदुराज।
अपनैं-अपनैं बिरद की दुहूं निवाहन लाज॥
कौन भाँति रहिहै विरदु अब देखिवी, मुरारि।
बीधे मोसौं आइ कै गीधे गीधहिं तारि॥

जब भगवान् अपने पतितोद्धारक विरद मे पीछे नही हटते तो भक्त भी अपने पाप करने के विरद मे पीछे क्यो रहे? अब देखना है भक्त पाप करने मे जीतता है कि भगवान् उद्धार करने मे। भक्त व्याकुलतापूर्वक उद्धार की प्रतीक्षा कर रहा है। धीरे-धीरे उसके धैर्य का बाँध टूट जाता है। उसे ऐसा लगने लगता है मानो भगवान् ने पतितपावन का विरद ही छोड दिया —

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन विरदु बारक बारनु तारि॥

उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो भगवान् पर कलियुग के दानियो का प्रभाव पड गया है —

थोरैंहीं गुन रीझते विसराई यह बानि।
तुमहूँ कान्ह मनौ भए आजु कालि के दानि॥
कब कौ टेरतु दीन रट, होत न स्याम सहाइ।
तुमहूँ लागी जगत गुरु जग नाइक जगवाइ॥

यहाँ पर "जगत गुरु" और "जगनाइक" शब्द विशेष रूप से व्यजक है। जब जगद्-गुरु और 'जगनायक' भी जगत् का अनुकरण करने लगेगे तब तो ससार का चौपट होना निश्चित ही है। अत यदि भगवान् ससार का कल्याण चाहते हैं तो उन्हें अचिरात् भक्त का उद्धार कर देना चाहिए, अन्यथा ससार निराश होकर निरीश्वरवादी बन जावेगा। जब कवि भगवान् को पुकारते-पुकारते थक जाता है तब उसे खीझ भी उत्पन्न होती है और वह अमर्षपूर्वक कह उठता है :—

ज्यौं ह्वैहौं, त्यौं होहुँगौ हौं, हरि अपनी चाल।
हठु न करौ, अति कठिन है मो तारिबो गोपाल॥

वह अपने अविश्वास को सीधे रूप मे व्यक्त करने लगता है —

बन्धु भये का दीन के, को तार्यो रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे बिरद कहाइ॥

इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र मे बिहारी की उपालम्भ तथा व्यग्य की उक्तियाँ बडी ही मर्मस्पर्शिनी तथा भावना-सवलित है। इन उक्तियो मे कुन्तक की वक्रोक्ति अथवा वैदग्ध्य-भगी-भणिति का पूर्ण समावेश पाया जाता है। इनके भक्ति के उद्‌गार कवित्वमय, वाग्वैदग्ध्यपूर्ण तथा बाँकेपन से युक्त है। उपर्युक्त दोहो मे कवि ने सख्य भाव तथा कही कही दास्य भाव की स्थापना के द्वारा भगवद् भक्ति के क्षेत्र मे व्यग्यात्मक तथा ऊहात्मक उक्तियो का प्रतिनिधित्व किया है। इस प्रकार की उक्तिया ध्वनि-काव्य के सर्वथा अनुकूल हैं। अतएव बिहारी मे इन्ही की प्रधानता पाई जाती है। साथ ही कृतज्ञता-प्रकाशन के भी एक-दो पद्य पाये जाते हैं —

निज करनी सकुचैहिं कत सकुचावत इहिं चाल।
मोहूँ-से नित विमुख त्यौं सन्मुख रहि गोपाल॥

यदि और कुछ नही तो कवि इतने से ही सन्तुष्ट है कि जैसे-तैसे भगवान् की भक्ति मे ही उसका सारा समय व्यतीत हो जावे —

हरि, कीजतु विनती यहै तुमसौं बार हजार।
जिहिं तिहिं भाति डर्यौ रहौ पर्यौ रहौं दरबार॥

कवि की प्रधान कामना यही है कि उसे मुक्ति का लाभ हो जावे। किन्तु यदि यह सम्भव न हो तो उसको केवल इतना चाहिए कि वह भगवान् के गुणो मे पूर्ण रूप से आवृत हो जावे —

मोहूँ दीजै मौषु, ज्यौं अनेक अधमनु दियौ।
जौ बाँधै ही तोषु, तौ बाँधौ अपनैं गुननु॥

इस दोहे मे बाधने मे अर्थ-श्लेष, और 'गुननु' के शब्द का श्लेष का सकर दर्शनीय है। भक्त का एक मात्र काम्य भगवद्भक्ति ही है। लोक आराधना के द्वारा जिन पुरुषार्थों को प्राप्त करने की चेष्टा किया करता है, भक्ति के लिए वे पदार्थ

उपेक्षणीय होते है। तुलसी ने भक्त के लिए मोक्ष भी त्याज्य बतलाया है — 'सगुण उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन कहँ राम भक्ति वर देहीं।' किन्तु बिहारी का प्रथम विकल्प मोक्ष है और द्वितीय भक्ति। मोक्ष न मिलने पर बिहारी जैसे-तैसे भगवद्-भक्ति से ही (भगवान् के द्वार पर पडे रहने मे ही सन्तुष्ट है। यह तो हुई मोक्ष प्राप्त करने की बात। कवि लौकिक सुख-भोग के लिए भी भगवान् का ही आश्रय लेना चाहता है, इसके लिए वह भगवान् से पिता पुत्र का सम्बन्ध स्थापित करता है :—

प्रकट भये द्विजराज कुल, सुबस बसै ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेष सब, केसव केसव राइ॥

सासारिक व्यक्ति आपत्काल के लिए धन सचय किया करते हैं किन्तु कवि का धन केवल भगवान् है, वही उसकी आपत्तियो का निवारण करेंगे :—

कोऊ कोरिक सग्रहौं, कोऊ लाख हजार।
मो सम्पति जदुपति सदा विपति विदारन हार॥

कितना महान् विश्वास है। कवि भगवान् के भरोसे सपत्ति के संचय की भी कामना नही करता। भगवद् भक्ति के कारण कवि के सारे दुर्गुणो का परिमार्जन हो गया है और अच्छे गुण उभार को प्राप्त हो गये है। इस बात को कवि ने बडे ही सुन्दर, चमत्कारक ढग से कहा है —

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं ज्यौं बूड़े स्याम रग त्यौं त्यौं उज्ज्वल होइ॥

यहाँ पर विरोधाभास कितना सुन्दर है? चित अनुरागी (लाल) है और श्याम (काले) रग मे डूबता है फिर भी उज्ज्वल (श्वेत) वर्ण का निकल आता है। कितने आश्चर्य की बात है? भला यह किस की समझ मे आवेगा? बिहारी ने अपनी कुटिलता का भी कितना सुन्दर समर्थन किया है —

करौ कुबत जगु कुटिलता तजौं न, दीन दयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत, त्रिभगी लाल॥

भगवान् जब वशी बजाते हुए कदम्ब के नीचे एक घुटने पर दूसरा पैर रख कर खडे होते है तब वे तीन स्थानो से टेढे हो जाते है। कवि उसी मूर्ति को अपने हृदय मे बसाना चाहता है। यदि कवि अपने हृदय को सरल कर ले तो भगवान को कवि के हृदय मे निवास करने मे कष्ट नही होगा?

भगवान् को द्रवित करने के लिये कवि ने किस प्रकार अपने हृदय को सताप दिया है, इसका भी एक चित्र देखिये —

मैं तपाइ त्रय ताप सौं राख्यौ हियौ हमामु।
मति कबहुँक आएँ यहाँ पुलकि पसीजै स्यामु॥

निम्नलिखित दोहे मे कवि ने भगवान् के ध्यान करने के स्वरूप का वर्णन

सीस मुकट, कटि काछनी, कर-मुरली, उर-माल।
इहिं बानक मो मन सदा बसौ, बिहारी लाल॥

प्राचीन शैली का प्रार्थनापरक एक दोहा भी बिहारी के नाम पर उपलब्ध होता है —

नद, नद, गोविन्द जै, सुख मन्दिर गोपाल।
पुण्डरीक-लोचन ललित, जै जै कृष्ण रसाल॥

(इ) परोक्षकृत स्तुतिपरक दोहे

ऊपर जिन दोहो का उल्लेख किया गया है वे यास्क के अनुसार प्रत्यक्षकृत प्रार्थनाओ मे आते हैं जिनमे भगवान् के सुख-भोग तथा मोक्ष की प्रार्थना की गई है। कुछ दोहे परोक्ष स्तोत्रपरक भी है जिन मे कृष्ण के लोकोत्तर महत्त्व का वर्णन किया गया है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित दोहे द्रष्टव्य हैं —

हनी पूतना अरु दियौ जग मुँहु मैं दिखराइ।
कहा जानियै, को भयौ प्रगट नद घर आइ॥
प्रलय करन बरषन लगे जुरि जलधर इक साथ।
सुरपति-गरबु हर्‌यौ हरषि गिरधर गिरि धरि हाथ॥

इस दोहे मे भगवान् के अनायास ही पर्वत उठाने की अभिव्यक्ति बडी ही मनोरम है। निम्नलिखित दोहे मे राधा और कृष्ण का सम्मिलित महत्त्व बतलाया गया है —

वेद भेद जानैं नहीं, नेति नेति कहैं बन।
ता मोहन सौं राधिका कहै महावरु दैन॥
जग्य न पायौ ब्रह्म हूँ जोग न पायौ ईस।
ता मोहन पैं राधिका सुमन गुहावति सीस॥
शिव, सनकादिक, ब्रह्म हूँ भरि देख्यौ नहिं डीठि।
ता मोहन तन राधिका दै दै बैठति पीठि॥
मनु मार्‌यौ केते मुनिनि, मनु, न मनायौ आइ।
ता मोहन पैं राधिका मान गहावति पाइ॥
जिन मिगरी वसुधा रची तत्व मिलै कै पाच।
ता मोहन को राधिका कितै नचावति नाच॥
देव अदेव सबै जपैं आनैं अपनैं ऐन॥
ता मोहन तन राधिका चितवति आँधैं नैन॥

(ई) आध्यात्मिक तत्त्व

इस काल की परम्परा के अनुसार बिहारी के कतिपय दोहो मे दार्शनिकता की भी छाप पायी जाती है। इन्हे हम यास्क के अनुसार आध्यात्मिक कोटि मे रख सकते हैं। निम्नलिखित दोहे मे प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन प्रमाणो का वर्णन

किया गया है —

बुधि अनुमान, प्रमान, श्रुति किए नीठि ठहराइ।
सूषम कटि पर ब्रह्म की अलख, लखि नहिं जाइ॥

आशय यह है कि ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नही हो सकता। केवल अनुमान या शब्द प्रमाण से ही उसका निश्चय किया जा सकता है। ब्रह्म का सादृश्य भी कही अधिगत नहीं होता। अतएव उसके विषय मे उपमान प्रमाण भी अकिंचित्कर हो जाता है। एक दोहे मे प्रत्यक्ष के बाधक तत्व अतिसान्निध्य का वर्णन किया गया है —

जगतु जनायौ जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाँहि।
ज्यौं आँखिनु सबु देखियै आँखि न देखी जाँहि॥

चरक मे प्रत्यक्ष के बाधक तत्वो मे अत्यन्त निकट होना भी एक प्रत्यक्ष का बाधक तत्व माना गया है। आखो मे लगा हुआ काजल आंखो को ही प्रत्यक्ष नही होता। कारण यह है कि प्रत्यक्ष के लिये कुछ दूरी अपेक्षित अवश्य होती है। विहारी इससे भी आगे बढकर कहते हैं कि अति सान्निध्य के कारण आखें ही आंखो को प्रत्यक्ष नही होतीं। इसी प्रकार सर्वव्यापकता के नाते भगवान् हमारे इतना अधिक निकट है कि हम भगवान् का प्रत्यक्ष नहीं कर पाते। बिहारी ने प्रतिविम्ब-वाद का भी बडा ही सुन्दर वर्णन किया है। भगवान् विश्व मे व्यापक हैं और हमारे हृदय मे भी विद्यमान है। हमारे हृदय मेर हते हुए भी उनका प्रतिविम्ब समस्त विश्व में दृष्टिगत होता है —

मोहन मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ।
बसतु सुचित अंतर तऊ प्रतिबिम्बितु जग होइ॥

इसी प्रकार —

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ।
एकै रूपु अपार प्रतिविम्बित लखियतु जहाँ॥

'जिमि घट कोटि एक रवि छाहीं" वाला दृष्टान्त दर्शन मे बहुत प्रसिद्ध है किन्तु इस दृष्टान्त की अपेक्षा विहारी के दोहे मे एक नवीनता तथा विशेषता है— विहारी के दोहे मे जगत् की असारता और अनन्त सत्ता की सत्यता का प्रतिभास प्राप्त हो जाता है जो उक्त दृष्टान्त मे नही मिलता। दूसरी बात यह है कि भगवान् का चित्तवृत्ति-वर्ती होना भी दोहे मे प्रकट रूप मे कह दिया गया है। उस अनन्त सत्ता के साथ अन्तरात्मा के मिलाने की ध्वनि निकलती है। "अति अद्भुत गति जोइ" से भगवान् की अनिर्वचनीयता भी प्रकट होती है। इस प्रकार विहारी ने प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक तीनो प्रकार के दोहे लिखे हैं।

(उ) विहारी का सम्प्रदाय

जैसा कि विहारी के जीवन चरित्र मे बतलाया गया है, विहारी हरिदासी या सखी सम्प्रदाय की गद्दी के महन्त स्वामी नरहरिदास के शिष्य थे तथा इनके

पिता और ये दोनो ही उम सम्प्रदाय मे दीक्षित थे। हरिदास का चलाया हुआ यह सम्प्रदाय साधना मार्ग ही है कोई वेदान्त का वाद नही। स्वामी हरिदास ने राधा-कृष्ण की युगल उपासना का केवल सखी भाव से प्रचार किया। हरिदास जी कुंज बिहारी कृष्ण का नाम सदा जपा करते थे और राधा-कृष्ण के विहारो का अवलोकन सखी भाव से करते। ये अपनी गान विद्या के प्रभाव से सखी की भाँति श्याम और श्यामा को प्रसन्न किया करते थे। तानसेन हरिदास के ही शिष्य थे और उन्होने गान-विद्या इन्ही के यहाँ सीखी थी। बिहारी ने राधा-कृष्ण की युगलोपासना सखी भाव से ही की है और राधा-कृष्ण की प्रेम लीला के प्राधान्य का यही कारण है। इस प्रेम लीला मे सखियाँ अनेक स्थान पर मध्यवर्तिनी बन कर आयी हैं। बिहारी ने युगलोपासना का एक रूप मे वर्णन बडे ही चमत्कारपूर्ण ढग से किया है —

नित प्रति एकत ही रहत बैस-बरन-मन-एक।
चहियत जुगलकिसोर लखि लोचन-जुगल अनेक॥

इसी प्रकार निम्नलिखित परिहासोक्ति भी सखी सम्प्रदाय के प्रभाव से ही लिखी गई है —

चिर जीवौ जोरी, जुरै क्यौं न सनेह गँभीर।
को घटि ए वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥

शरणागति तथा मोक्ष के लिए भगवदनुग्रह प्राप्त करने की कामना मे पुष्टि-मार्ग का प्रभाव लक्षित होता है।

भगवान् के मधुर रूप की उपासना का दार्शनिक पद्धति पर विवेचन निम्बार्काचार्य ने किया था। परवर्ती मधुरोपासनापरक सप्रदायो मे निम्बार्क का प्रभाव सबसे अधिक लक्षित होता है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि इन परवर्ती सम्प्रदायो के रूप मे निम्बार्क मत ही प्रतिफलित हुआ था। बिहारी पर भी निम्बार्क सम्प्रदाय की पर्याप्त छाप पाई जाती है। निम्बार्क सप्रदाय मे तीन तत्त्व माने जाते हैं—ब्रह्म, चित् और अचित्। ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। यह पराख्या, जीवाख्या और मायाख्या इन तीन शक्तियो से सम्बद्ध रहता है। इस मत मे कृष्ण ही ब्रह्म हैं। ये अनन्त तथा अचिन्त्य शक्ति से सम्पन्न हैं। रमा, लक्ष्मी और भू इन के ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री हैं और गोपी तथा राधा इनके प्रेम तथा माधुर्य की। यही व्रज-कृष्ण जो कि प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति राधा तथा अन्य आह्लादिनी शक्ति गोपी से परिवेष्टित रहते हैं निम्बार्क सप्रदाय के उपास्य देव हैं। कृष्ण की यह मधुरिमामयी लीला एक देश या एक काल तक सीमित नही है। यह लीला नित्य है जो कि गोलोक के वृन्दावन नामक खण्ड मे नित्य प्रति हुआ करती है और जिस लीला से अपनी आत्मा को वासित कर भक्त मोक्ष लाभ कर सकता है। मुक्ति दो प्रकार की होती है—नित्यमुक्ति और साधना मुक्ति। मुक्ति के दो भेद और हैं—क्रम-मुक्ति और सद्योमुक्ति।

कर्मादि के द्वारा स्वर्गादि का भोग करते हुए कल्पान्त मे जो सायुज्य लाभ होता है वह क्रम मुक्ति कहलाती है और श्रवणादि भक्ति के आधार पर जो बन्धन-मुक्त हो जाते हैं वे सद्योमुक्ति के भागी होते है। मुक्ति लाभ का साधन केवल भक्ति ही है। दशश्लोकी मे लिखा है—

नान्या गति कृष्ण पदारविन्दात् संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहादचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यशासनात्।
तस्मात्कृष्ण एव परो देवस्त ध्यायेत्त रसेत्तं भजेत्त यजेदोंतत्सदिति ॥

विहारी ने अनेक स्थानो पर कृष्ण से जो मोक्ष प्रदान करने की प्रार्थना की है और कृष्ण भक्ति को ही मोक्ष का साधन माना है तथा इस दिशा मे गुणावगुणो की अवहेलना की है इस पर निम्बार्क सम्प्रदाय की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। यह भक्ति भी भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होती है। इसीलिये विहारी ने भगवान् से भक्ति प्राप्त करने की प्रार्थना की है—

हरि कीजति बिनती यहै तुम सौं बार हज़ार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्यौ रहौं पर्यौ रहौं दरबार ॥

इसी प्रकार भगवान् से अपने गुणों मे बाँधने की प्रार्थना की गई है—

मोहूँ दीजै मोषु, ज्यों अनेक अधमनि दियौ।
जौ बधे ही तोषु तौ बाँधौ अपने गुननु ॥

निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुसार कृष्ण के साथ राधा की भी उपासना की जाती है। दशश्लोकी मे कृष्ण के साथ राधा की भी प्रार्थना की गई है।

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखी सहस्रै परिषेविता मुदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥

विहारी ने भी अपनी सतसई का मंगलाचरण राधा-स्तुतिपरक ही रखा है और स्थान-स्थान पर राधा के महत्त्व का वर्णन किया है। इस प्रकार विहारी मे निम्बार्क सम्प्रदाय की स्पष्ट छाप पाई जाती है।

सूक्ति-काव्य

धार्मिक सूक्तियाँ —जैसा कि बतलाया जा चुका है जहाँ कवि भगवान् से प्रत्यक्ष भावनामय सम्बन्ध स्थापित कर उत्तम पुरुष तथा मध्यम पुरुष का प्रयोग करता है वहाँ पर धार्मिक काव्य कहा जाता है। इसके प्रतिकूल जहाँ चमत्कार का आश्रय ले कर कवि किसी धार्मिक वृत्त का सर्वसाधारण को उपदेश करना चाहता है वहाँ धार्मिक सूक्ति होती है। विहारी ने इस प्रकार की कई सूक्तियाँ लिखी है। ये सूक्तियाँ उन्ही विषयो पर लिखी गई हैं तथा इन मे उन्ही तत्वो का उपदेश दिया गया है जिन की प्रतिष्ठा परम्परागत रूप मे हो चुकी थी और कविगण जिनमे प्रायः सूक्तियाँ लिखा करते थे। विषय विभाजन के अनुसार विहारी की धार्मिक सूक्तियो का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

(अ) वैराग्य का उपदेश—काव्य रचना अधिकतर त्यागी तथा सन्यासी व्यक्तियो द्वारा हुई है और ये लोग सासारिकता को सर्वथा हेय समझते थे। कवियो की वाणी मे धार्मिक क्षेत्र मे अधिकतर निवृत्ति मार्ग का ही प्रस्फुटन हुआ। प्रवृत्ति मार्ग को इन्होने सर्वदा हेय ही समझा है। बिहारी ने निम्नलिखित दोहे में निवृत्तिमार्ग का उपदेश दिया है —

भजन कह्यौ, तातैं भज्यौ, भज्यौ न एकौ बार ॥
दूरि भजन जातें कह्यौ, सो तैं भज्यौ गँवार।

यहाँ पर "भजन" तथा "भज्यो" शब्दो का उपादान चमत्कारपूर्ण हुआ है। इसमे यमक तथा लाटानुप्रास की ससृष्टि मनोरम है। कवि की वृद्ध-गृहस्थ के समान कुपथगामियो को डाँटने-फटकारने की प्रवृत्ति का भी इसमे निर्वाह किया गया है।

(आ) गुरु-भक्ति तथा भगवद् भक्ति का उपदेश—

जमकरि-मुँह-तरहरि पर्‌यौ यह धरहरि चित लाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ॥

यहाँ पर एक साथ भगवद्-भक्ति और गुरु-भक्ति का उपदेश रूपक के द्वारा दिया गया है। नरहरि शब्द का श्लेष भी मार्मिक है—एक ओर इस से विहारी के गुरु का उपादान किया गया है और दूसरी ओर नृसिंह भगवान् का ग्रहण हुआ है।

(इ) नाम जप :—

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाउ।
तरि ससार पयोधि कौं, हरि नावैं करि नाउ॥

यहाँ पर भी रूपक के द्वारा नामजप का महत्त्व स्थापित किया गया है।

(ई) ईश्वर-विश्वास—आपत्काल मे मनुष्य का यदि कोई सच्चा साथी है तो वह ईश्वर ही है। जब भवसागर मे हमारे अस्तित्व की नौका डगमगाने लगे उस समय विहारी उसी मल्लाह की शरण जाने का उपदेश देंगे जिसने समुद्र में पत्थरो को भी तैरा कर सभी वानर-भालुओ को पार उतार दिया—

यह बिरियाँ नहिं और की तूँ करिया वह सोधि।
पाहन नाव चढाइ जिहिं कीने पार पयोधि॥

कितना अच्छा मल्लाह है यह ? ऐसे कर्णधार के रहते हुए जो इधर-उधर भटकते फिरते हैं उन हतभागियो का कही निस्तार नही होता। केवल इतना ही नही सच्चा धन तो भगवान् ही है। अन्य धन नश्वर हैं। उनको प्राप्त करके चिन्ता बढती ही है शान्त नही होती। यदि मनुष्य निश्चिन्त होना चाहता है तो उसे वही प्रशस्त धन अपनाना चाहिये। अन्यथा निश्चिन्तता आ ही नही सकती—

ब्रजवासिनु कौ उचित धनु, जो धन रुचित न कोइ।
सु चित न आयौ, सुचितई, कहौ कहाँ तैं होइ॥

वस्तुत ससार में सुख-शान्तिमय निश्चिन्त जीवन उन्ही का व्यतीत होता है जो भगवान् पर विश्वास करते हैं। ईश्वर-विश्वास के साथ ही भय, चिन्ता इत्यादि समस्त विभीषिकाओ का स्वत. तिरोधान हो जाता है।

(उ) एकरसता - जीवन के दो छोर है सुख और दुख। दोनो को ही भगवान् का प्रसाद मान कर सहर्ष अगीकृत करना चाहिये। गीता मे कहा गया है—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।

विहारी भी इसी सिद्धात के समर्थक है। साधारण व्यक्तियो का स्वभाव होता है कि थोडी सी भी सम्पत्ति में उन मे अवलेप तथा उन्माद का सचार हो जाता है और वे इस वात को भूल जाते है कि उस सम्पत्ति को देने वाला तो कोई और ही है। ऐसे व्यक्तियो पर जब आपत्ति आती है तव वे सहसा व्याकुल हो उठते है। विहारी का ऐसे लोगो को उपदेश है—

दीरघ साँस न लेहु दुख सुख साईं हिं न भूल।
दई दई क्यों करतु है दई दई सु कबूल॥

दुःख मे गहरी श्वासें भरना और सुख मे उन्मत्त हो जाना नासमझी है। सुख या दुःख जो कुछ भी मिलता है सब परमात्मा का प्रसाद है और प्रसाद समझ कर ही प्रत्येक स्थिति को सहर्ष स्वीकार करना चाहिये। आखिर जिस परमात्मा ने हमे दुख दिया है, उसी से हमे सुख भी तो लेना है। यदि आज उसके दिये हुए दुःख को हम लौटा देंगे तो वह सुख भी नही देगा—

दियौ सु सीस चढाइ लै आछी भांति अएरि।
जापैं सुखु चाहतु लियौ, ताके दुखहिं न फेरि॥

(ऊ) वाह्याडम्बर का त्याग—सूक्ति परम्परा मे धार्मिक कवि वाह्याडम्बरो का खण्डन करते चले आये हैं। निर्गुण सम्प्रदाय के कवि और विशेष कर कबीर इस दिशा मे विशेष प्रसिद्ध है। विहारी ने भी एक दोहे में वाह्याडम्बरो के परित्याग का उपदेश दिया है—

जपमाला, छापैं, तिलक सरै न एकौ काम।
मन काचै नाचै वृथा सांचैं रांचै राम॥

जपमाला, गोदना, तिलक इत्यादि वाह्याडम्बर मात्र है, इनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता। भगवान् तो सच्चाई से प्रसन्न होते हैं। जिसमे सच्चाई नही उसकी समस्त वाह्य-साधनायें व्यर्थ हैं।

(ए) कपट का परित्याग—धर्माचार मे कपट का कोई स्थान नही। कपटी व्यक्ति कभी भक्त हो ही नही सकता। भगवद्भक्ति के लिये पहली शर्त यह है कि अपने हृदय को सर्वथा निष्कपट, शुद्ध और पवित्र वना लेना चाहिये। कपट तथा दूसरे प्रकार के दोषो से परिपूर्ण हृदय मे भगवान् का प्रवेश हो ही नही सकता—

तौ लगु या मन-सदन में हरि आवैं किहि वाट।
विकट जटे जौ लगु निपट खुटैं न कपट-कपाट॥

जिस प्रकार पूर्ण रूप से अडे हुए किवाडो वाले भवन मे प्रवेश पाना दुष्कर है, उसी प्रकार कपटपूर्ण हृदय मे भगवान् का प्रवेश भी असम्भव है।

(ऐ) केवल भगवान् से प्रेम करने का उपदेश—विषय-वासनाओ की अधिक आसक्ति मानव के पतन का कारण होती है। किन्तु यदि इन वासनाओ को भगवान् की ओर प्रेरित कर दिया जावे तो उसकी बुराइयाँ दूर हो सकती है—

मन मोहन सौं मोहु करि, तूँ घनस्यामु निहारि।
कुजबिहारी सौं बिहरि, गिरधारी उर धारि॥

बिहारी का यह दोहा अत्यन्त प्रसिद्ध है और मध्यकाल के भक्त कवियो की मनोवृत्ति पर प्रकाश डालता है। प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य नन्ददास ने भी कुछ ऐसी ही बातें कही हैं —

जे कोई रस है ससारा। ताकर प्रभु तुमही अधारा॥

यहाँ पर "मनमोहन","घनश्याम", "कुजविहारी" और "गिरधारी" ये शब्द साभिप्राय हैं। अतएव यहा पर परिकराकुर अलकार है।

(ओ) सत्सग महिमा—बिहारी ने इस विषय मे एक अत्यन्त चमत्कारपूर्ण श्लेष गर्भित दोहा लिखा है —

अजौं तर्यौना ही रह्यौ रह्यौ श्रुति सेवत इक अग।
नाक बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतनु के सग॥

आशय यही है कि वेद का पठन-पाठन मनुष्य को पवित्र नही बना पाता। सत्सगति ही एक ऐसी वस्तु है जो मनुष्य को कही से कही पहुँचा देती है।

(औ) स्त्री-निन्दा—

या भव-पारावार कौ उलँघि पार को जाइ।
तिय छवि छाया ग्राहिणी ग्रहै बीचही आइ॥

तुलसी ने रामचरित्र मानस मे छाया-ग्राहिणी राक्षसी का वर्णन किया है। कहा जाता है कि समुद्र मे एक छाया-ग्राहिणी राक्षसी रहती थी। उसके अन्दर कुछ ऐसी कला थी कि आकाश मे उड़ने वाले पक्षियो की छाया पकड कर खीच लेती थी। वह पक्षी उड नही सकता था और वह राक्षसी उसे खीच कर खा जाया करती थी। जब हनुमान् जी समुद्र को लाँघ रहे थे तब उसने वही छल हनुमान् से भी किया। हनुमान् जी इस रहस्य को समझ गये और उस राक्षसी को मारकर समुद्र पार चले गये। ससार को सागर की उपमा दी जाती है। इसमे स्त्री की सुन्दरता छाया ग्राहिणी राक्षसी का काम करती है। जो व्यक्ति ससार-सागर को लाँघना चाहता है उसको यह स्त्री की सुन्दरता रूपी राक्षसी बीच मे ही पकड लेती है और उसकी साधना को समाप्त कर देती है। बिहारी का कहना है कि जो व्यक्ति हनुमान् के समान इस स्त्री-सुन्दरता रूपी राक्षसी की निर्मम हत्या की शक्ति रखता है वही भवसागर को पार कर सकता है, दूसरा नही।

आर्थिक सूक्तियां

आर्थिक सूक्तियाँ दो रूपो मे मिलती हैं--तथ्योक्ति के रूप मे और अन्योक्ति के रूप में। तथ्योक्ति के रूप मे किसी लोकसिद्ध तथ्य अथवा लोकोपयोगी तत्व का अभिधान या तो अप्रस्तुत योजना इत्यादि किसी अर्थ-चमत्कार के साथ होता है अथवा शब्द-चमत्कार की ही प्रधानता रहती है। चमत्कार के कारण प्रवृत्त हुआ पाठक सरलतापूर्वक प्रतिपाद्य वस्तु के द्वारा प्रभावित हो जाता है। इस प्रकार की तथ्योक्तियो मे आर्थिक तत्वो का भी समावेश रहता है और व्यावहारिकता का भी उपदेश सन्निविष्ट रहता है। भारतीय अर्थशास्त्र की पुस्तको मे इस प्रकार की व्यवहारोक्तिया भी सन्निविष्ट हैं। अतएव इस प्रकार का समस्त सूक्तियो को आर्थिक सूक्ति कहा जा सकता है।

अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डा० ऐंजिल का सिद्धान्त है कि जब आय मे वृद्धि होती है तब आवश्यक वस्तुओ पर व्यय मे प्रतिशत परिमाण घट जाता है और विलासिता पर व्यय बढ जाता है। ऐंजिल यही पर रुक गये है किन्तु बिहारी एक कदम और आगे बढ़ गये, उनका कहना है— कि जैसे जैसे सपत्ति बढती जाती है विलासिता इत्यादि ऐच्छिक विषयो मे व्यय करने का उत्साह बढता जाता है। उससे जो आमोद-प्रमोदमय जीवन यापन करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है वह धन के घटने पर भी समाप्त नही होती। इस बात को बिहारी ने चमत्कार के साथ निम्नलिखित दोहे मे कहा है —

बढ़त-बढत सपति सलिलु मन-सरोजु बढ़ि जाइ।
घटत घटत सु न फिरि घटै बरु समूल कुम्हिलाइ॥

इतने बडे सिद्धान्त को बिहारी ने कितनी सफलता के साथ एक छोटे से दोहे मे रख दिया है और सूक्ति काव्य के लिए अपेक्षित चमत्कार का उत्पादन करने के लिये रूपक का प्रयोग करने मे भी नही चूके है। निस्सदेह बिहारी के इस दोहे का उत्तरार्ध डा० ऐंजिल के सिद्धान्त का विकास है जिस पर अर्थशास्त्रियो को अनुसधान करना चाहिये। धन के बढ जाने से व्यय करने का उत्साह बढ जाता है यह तो अच्छी बात है किन्तु धन मे एक बहुत बडा दोष यह है कि उससे अवलेप भी बढ जाता है और एक प्रकार का उन्माद सा आ जाता है। बाणभट्ट इत्यादि कवियो ने विस्तारपूर्वक धन से उन्माद तथा अवलेप बढने का वर्णन किया है। बिहारी ने कनक शब्द मे यमक अलकार का बहुत ही सुन्दर तथा स्वाभाविक प्रयोग कर व्यतिरेक अलकार के सकर के द्वारा इसी भाव का वर्णन किया है —

कनकु कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाइ।
उहिं खायें बौराइ जग, इहिं पाये बौराइ॥

सपत्ति के बढने पर व्यय करने की प्रवृत्ति तो उदार अथवा साधारण व्यक्तियो के लिए है, किन्तु जो कृपण है उनके लिए तो जितनी सम्पत्ति बढती

जाती है उतनी ही उनकी कृपणता भी बढ़ जाती है ।

जेती सम्पत्ति कृपन कें तेती सूमति जोर ।
बढ़त जात ज्यौं ज्यौं उरज त्यौं त्यौं होत कठोर ।।

यहाँ पर स्तनो का दृष्टान्त बहुत ही सरस और मनोहर है और वर्ण्य वस्तु का पूर्ण उपकारक भी है । धन मे एक और बहुत बडा दोप होता है—इसको प्राप्त करने मे लोभ की प्रवृत्ति भी उत्पन्न होती है । घर-घर घूमना, श्रीमानो का मुख देखना, चाटुकारिता इत्यादि के कारण जीवन मे अनेक अपमान और घृणा सहनी पडती है । स्वाभिमान का तो नाम ही नही रहता —

घरु घरु डोलत दीन ह्वै जनु जनु जाँचतु जाइ ।
दियैं लोभ चसमा चखनु लघु पुनि बड़ौ लखाइ।।

यहाँ पर लोभ पर चश्मा का आरोप सुन्दर है । सम्पत्ति का व्यवहार तथा स्वभाव पर भी बहुत प्रभाव पडता है । सम्पत्ति के होने पर सज्जनो और दुर्जनो के व्यवहार मे अन्तर पड जाता है ।

सम्पति केस सुदेस नर नमत दुहुन एक बानि ।
विभव सतर कुच नीच नर नरम विभव की हानि ।।

यहाँ पर दीपक अलकार के द्वारा सज्जनो और दुर्जनो का वैपम्य स्थापित किया गया है । जिस प्रकार केश तेल इत्यादि से प्रभावित होकर वैभव मे झुक जाते है उसी प्रकार भले व्यक्ति भी सम्पत्ति के बढ़ने पर नम्र हो जाते हैं । इसके प्रतिकूल नीच लोग सम्पत्ति आने पर वैसे ही अकड जाते है जिस प्रकार स्तन अभिवृद्ध होकर कडे पड जाते हैं ।

वास्तव मे सम्पत्ति मे बहुत दोष है । पचतन्त्र के एक श्लोक मे कहा गया है —"धनो के उपार्जन मे कष्ट होता है, उपार्जित धनो की रक्षा करने मे कष्ट होता है, आय मे दु.ख, व्यय मे दुख, इस प्रकार धन कष्टो का आकर हैं । इन धनो को धिक्कार ।" किन्तु धन है भी अनिवार्य । इसके अभाव मे सम्मान की भी तो रक्षा नही होती । विहारी धनो को सम्मान रक्षा के निमित्त ही आवश्यक मानते हैं । यदि धन के अभाव मे भी परमात्मा सम्मान की रक्षा करता रहे तो विहारी को अनेक दोपो से भरे हुए धन की आवश्यकता नही ।

तौ अनेक औगुन-भरहिं चाहै याहि बलाइ ।।
जौ पति सम्पति हू बिना जदुपति राखे जाइ ।।

किन्तु अधिकतर लोगो के जीवन का उद्देश्य ही धनोपार्जन होता है । जितना धन बढ़ता जाता है उतना ही लोभ भी बढता जाता है । तुलसी ने कहा ही है— "जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई ।" यही एक स्थिति ऐसी है जो मनुष्य के पतन मे कारण होती है और मनुष्यो को कल्याण मार्ग की ओर अग्रसर नहीं होने देती । मनुष्य का स्वभाव है कि जब धन नष्ट होने लगता है तब तो वह सतोप कर लेता है किन्तु धनोपार्जन मे उसे सतोप नहीं होता । यदि धनोपार्जन के अवसर पर भी

मनुष्य संतुष्ट हो जावे तो उसकी सारी समस्यायें ही अचिरात् सुलझ जायें और विहारी तो यहाँ तक कहते है कि उसे मोक्ष भी शीघ्र ही प्राप्त हो सकता है—

जात जात वितु होतु है ज्यौं जिय मैं संतोषु।
होत होत जो होइ तौ होइ घरी मैं मोषु॥

धनोपार्जन तथा धन-सरक्षण के विहारी विरोधी नही। किन्तु यदि खाने-पीने के बाद धन बच जाये तभी जोडने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। गलित होकर धन जोडना विहारी को अच्छा नही लगता।

मीत न नीति गलीत ह्वै जौ धरियै धन जोरि।
खाएँ खरचैं जो जुरै तौ जोरियै करोरि॥

यह तो प्रत्यक्ष धनविषयक सूक्तियाँ हुई। अर्थशास्त्रो मे दूसरे प्रकार की सूक्तियाँ व्यवहार सम्बन्धिनी हैं। विहारी ने इस दिशा मे परम्परा मे प्रसिद्ध बहुत से विषयो पर सूक्तियाँ कही है। विहारी की इन व्यवहार-सम्बन्धिनी आर्थिक सूक्तियो का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

(अ) दुष्टों की निन्दा :—

न ए बिससियहि लखि नए दुरजन दुसह सुभाइ।
आँटैं परि प्राननु हरत काँटैं लौं लगि पाइ॥

दुर्जनो का स्वभाव ही होता है कि सामने बहुत नम्र हो जाते है किन्तु दाँव पड़ने पर प्राणो को खीच लेने में भी इन्हें संकोच नही होता। यहाँ पर 'नए' और 'न ए' के यमक के साथ "काटैं लौं" की उपमा की संसृष्टि बहुत ही सुन्दर है।

किन्तु विहारी को इस बात से दुःख होता है कि बुरे व्यक्ति ही समाज मे सम्मान पाते है :—

बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु।
भलौ भलौ कहि छोड़ियै खोटे ग्रह जपु दानु॥

भलाई का पुरस्कार तो केवल यही मिलता है कि लोग अच्छा कहने लगते है किन्तु सम्मान बुराई मे ही प्राप्त होता है। यह संसार की उल्टी रीति है।

बुरे व्यक्तियो का व्यवहार यदि कभी अच्छा भी दिखाई देता है तो भी उन पर सहसा विश्वास नही होता। दुष्ट व्यक्ति की शालीनता और नम्रता से और अधिक आशंका ही उत्पन्न होती है —

बुरौ बुराई जो तजै तौ चितु खरौ डरातु।
ज्यौं निकलंक मयंकु लखि गनैं लोग उत्पातु॥

(आ) कुसंग निन्दा :—विहारी कुसंग के विरोधी है। कितना ही सज्जन तथा विवेकशील क्यो न हो कुसंग का प्रभाव पडता अवश्य है —

"काजल की कोठरी मे कैसो हूँ सयानो जाय,
काजल की रेख एक लागि है पै लागि है॥"

बिहारी ने शृ गार सम्बन्धी दृष्टान्त देकर इस भाव को अधिक सरस बना
ा है .—

सगति दोपु लगै सबनु, कहेति साचे वैन।
कुटिल-बँक-भ्रु व-सँग भए कुटिल, वँक गति नैन ।।

विहारी इस बात के पक्षपाती नही हैं कि कुसग की बुराइयो को दूर करने के लिए सत्सग किया जावे। कुसग का प्रभाव इतना भीषण होता है कि सत्सग से उसका परिमार्जन नही हो सकता —

सगति सुमति न पावही परे कुमति के धँध।
राखौ मेलि कपूर मे, हींग न होइ सुगन्ध ।।

(ई) स्थान का महत्व—वास्तव मे मनुष्य कुछ नही। स्थान ही प्रधान होता है—किसी कवि ने ठीक ही कहा है —

स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ता केशा. नखा नरा।

विहारी ने शृ गारिक दृष्टान्तो के द्वारा इस भाव को अधिक उपादेय बना दिया है —

सबै सुहाई लगैं बसैं सुहाए ठाम।
गौरे मु हुँ वेंदी लसैं अरुण पीत सित श्याम ।।

गुणो का विकास भी स्थान पर ही होता है। यदि कोई गुणवान् व्यक्ति किसी देहात मे जा पडता है तो उसके सारे गुण समाप्त हो जाते है —

सबै हसत करतार दै नागरता कैं नाँव।
गयौ गरबु गुन कौ सबु गए गंवारे गाव ।।

किन्तु किसी अच्छे व्यक्ति को उसके अनुकूल स्थान पर नियुक्त करने समस्त उत्तरदायित्व राजा पर ही होता है। यदि योग्य व्यक्ति अयोग्य स्थान नियुक्त कर दिया जाता है तो इससे नियोजक की ही निन्दा होती है। किसी ने कहा है—"सोने के आभूपणो मे सजाने योग्य मणि यदि लाख मे जड दी है तो उसकी शोभा वहा पर नही होती है और वह वहा पर रोती भी नहीं। नियोजक की निन्दा होती है। (पचतत्र)" विहारी ने इसी भाव को अधिक सु के साथ अभिव्यक्त किया है —

जो सिर धरि महिमा मही लहियति राजा राइ।
प्रगटत जड़ता आपनी सु मुकुट पहिरत पाइ ।।

लाख मे मणि को लगा देने मे इतनी निन्दा नहीं होती जित को पैर मे पहनने में निन्दा होती है। इस प्रकार विहारी का दृष्टान्त क अच्छा है।

(ई) गुणो का महत्त्व —वास्तविक महत्ता गुणो से ही उत्पन्न किसी बडे आदमी का नाम रख लेने मात्र से कोई बडा नही हो जाता —

बढ़े न हूजत गुननु विनु विरद बड़ाई पाइ।
कहत धतूरे सौं कनकु गहनौ गढ़्यो न जाइ॥

धतूरे ने "कनक" का नाम रख लिया है किन्तु उससे गहने तो नही गढ़े जा सकते। इसी प्रकार अकोडे को अर्क कहते हैं किन्तु उसमे अर्क (सूर्य) ऐसा प्रकाश तो नही होता :—

गुनी गुनी सबकैं कहे निगुनी गुनी न होतु।
सुन्यौ कहूँ तरु अरक ते अरक समान उदोतु॥

अतएव बडप्पन के लिए गुणो का सम्पादन ही करना चाहिए; बड़ो से स्पर्धा महत्ता प्राप्त करने के लिए अकिंचित् कर है। यहा पर दोनो ही दृष्टान्त मार्मिक है तथा वस्तु को पूर्ण रूप से पुष्ट करते हैं।

महत्ता के लिए विनय अपेक्षित होता है। बाह्याडबर दिखलाते हुए अकड़ने और मिथ्याभिमान दिखलाने से कभी कोई मनुष्य बडा नही बन सकता। तुच्छ व्यक्ति तुच्छ ही रहेगा चाहे वह कितना ही दिखावा क्यो न करे :—

ओछे बड़े न ह्वै सकैं लगौ सतर ह्वै गैन।
दीरघ होहिं न नैंक हूँ फारि निहारैं नैन॥

"लगौ सतर ह्वै गैन" इस पाद तथा दृष्टान्त मे परिहास छिपा हुआ है और प्रतिपाद्य वस्तु का पोषण करता है।

(उ) विनय की प्रशंसा —जहाँ विहारी ने मिथ्याभिमान की निन्दा की है वहाँ विनय को इन्होने उच्चता और महत्ता का मापदण्ड भी माना है —

नर की अरु नल नीर की गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै तेतो ऊंचौ होइ॥

(ऊ) पूँजीवाद में मर्यादा-अतिक्रमण की स्वाभाविकता—किन्तु जब सपत्ति आती है, तब मर्यादा का उल्लघन हो ही जाता है। जिस प्रकार बहुत अधिक बढ़ जाने पर सरोवर का मर्यादा मे रखना कठिन हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य भी अधिक बढ़ने पर मर्यादा मे नही रहता —

अरे परेखौ को करै, तुहीं विलोकि विचारि॥
किहिं नर किहिं सर राखियै खरैं बढ़ैं परि पारि॥

यहाँ पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत के योग मे दीपक अलकार है।

(ए) मित्रता में क्रोध न करने का उपदेश —दृढ़ मित्रता करने के लिए क्रोध का परित्याग कर ही देना चाहिए, इस आशय को विहारी ने बहुत ही सुन्दर कलात्मक रूप मे व्यक्त किया है —

जो चाहत चटक न घटै मैलो होइ, न मित्त।
रज राजसु न छुवाइ तो नेह चीकनौ चित्त॥

जिस प्रकार तेल से डूबे हुए कपड़े मे धूल के स्पर्श से कपडा मैला हो जाता

है और उसकी चमक जाती रहती है। उसी प्रकार प्रेम रूपी तेल से डूबे हुए हृदय रूपी वस्त्र मे क्रोध रूपी धूल का स्पर्श नही होना चाहिए।

(ए) राजा द्वारा दरिद्रों का ही शोषण :—दुर्वलो और दरिद्रो को त्राण देने वाला कोई नही। राजा भी दुर्वलो और दरिद्रो को ही सताता है —

कहै यहै श्रुति सुम्रत्यो यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसकही पातक राजा रोग।।

धनवानो को न तो पातक ही पीडित कर पाते हैं, न रोग ही उन्हें अधिक सताता है और न राजा लोग भी दण्ड देते हैं। धनवानो के वडे से वडे पापो की भी उपेक्षा की जाती है जब कि दरिद्रो का छोटा सा अपराध सह्य नही होता। धनवानो की राजा तक पहुँच होती है, अतः राजकीय कर्मचारियो का छेडने का साहस नही होता और धनवानो का शरीर हृष्ट-पुष्ट होता है उन्हें चिकित्सा की सारी सुविधायें प्राप्त होती हैं। वेचारे दरिद्रो का कोई नही होता। इनको प्रत्येक व्यक्ति सताता है। यहाँ पर भी दीपक के द्वारा वस्तु का प्रतिपादन किया गया है।

विहारी ने तथ्योक्ति परक दोहो मे परम्परागत विपयो का समावेश किया है और परम्परा गत शैली मे दीपक, रूपक, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा अर्थान्तिरन्यास इत्यादि अलकारो से उन की पुष्टि की है। विहारी के दृष्टान्त वडे ही मार्मिक हैं और वस्तुतत्व को पूर्ण वल से प्रतिपादित करते है। इस दिशा मे इन के सभी अप्रस्तुत विधान स्वाभाविक है और जहा कही परम्परागत भाव का आश्रय लिया गया है वहा उस मे मौलिक अप्रस्तुत योजना के द्वारा एक नवीनता उत्पन्न कर दी गई है।

आर्थिक सूक्तियो का दूसरा प्रकार अन्योक्ति पद्धति है। तथ्योक्तियों मे कोई वात अभिधा वृत्ति मे कही जाती है और अन्योक्तियो मे व्यजना वृत्ति मे। अतएव अन्योक्तियो मे कही हुई वात अधिक रमणीय तथा अधिक प्रभावशालिनी होती है और कवि-भावना की भी अधिक परिचायिका होती है। विहारी की अन्योक्तियो के प्रधान विपयो मे किसी अयोग्य या दुष्ट व्यक्ति का महत्वपूर्ण पद प्राप्त कर लेना और उस पर मिथ्याभिमान दिखलाना, किसी योग्य व्यक्ति का किसी ऐसे स्थान पर जा पडना जहा उस के गुणो का सम्मान करने वाला कोई न मिले, अतीत का ऐश्वर्य, भविष्य की आशा, गुणग्राहकता इत्यादि है। सव से अधिक विहारी ने किसी अयोग्य व्यक्ति के महत्त्वपूर्ण पद पर पहुच जाने के विपय मे अन्योक्तिया लिखी हैं। यह विपय जहा एक ओर विहारी को परम्परागत काव्य से अधिगत हुआ था वहा दूसरी ओर अपने समय की राजनैतिक स्थिति से भी पर्याप्त प्रेरणा मिली थी। कभी-कभी भाग्य-चक्र से कोई योग्य व्यक्ति उपेक्षित हो जाता है और अयोग्य व्यक्ति महत्त्व प्राप्त कर लेता है इस विपय मे विहारी की अन्योक्तिया देखिये —

मरतु प्यास पिंजरा पर्यो सुआ समै के फेर।
आदरु दै दै बोलियतु बाइसु बलि की बेर ॥

ऐसे लोग जब दिखावा करते है या डीग हाकने लगते हैं तब बिहारी अन्योक्तियो के द्वारा उन्हें इनकी वास्तविकता का बोध कराते है और चेतावनी देते हैं कि इनका पद अस्थायी है। अपदस्थ होते ही उनको कोई पूछेगा भी नही। अतएव उन्हें अधिक अभिमान नही करना चाहिये —

दिन दस आदरू पाइ कैं करि लै आपु बखानु।
जौं लगि काग[1] सराध पखु, तौ लगि तो सनमानु ॥
काल्हि दसहरा बीति है, धरि मूरखि, जिय लाज।
दुर्यौ फिरत कत द्रुमनि मैं नीलकण्ठ बिनु काज ॥

कभी-कभी बिहारी का क्रोध और अधिक बढ जाता है —

गोधन, तूँ हरष्यौ हियैं घरियक लेहि पुजाइ।
जानि परैगी सीस पर परत पसुनु के पाइ ॥

यहा पर सर्व साधारण के विद्रोह के प्रति बिहारी ने किसी अभिमानी अधिकारी को चेतावनी दी है। इसी प्रकार किसी योग्य व्यक्ति के किसी अनुपयुक्त स्थान में फस जाने पर भी बिहारी ने उसे अन्योक्तियो द्वारा सम्बुद्ध करने की चेष्टा की है —

वे न इहाँ नागर, बढी जिन आदर तो आब।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ गवँई गाँव गुलाब ॥
करि फुलेल कौ आचमन, मीठौ कहत सराहि।
रे गधी, मति-अंध तूँ अतर दिखावत काहि ॥
चल्यौ जाइ ह्यां को करैं हाथिनु कौ व्यापार।
नहिं जानतु, इहिं पुर बसैं धोबी ओड़ कुँभार ॥

कही किसी ऐसे व्यक्ति को फटकारा गया है जो स्वय को बहुत अच्छा समझता है और आश्चर्य करता है कि उसे राजसम्मान क्यो प्राप्त नही हो सका। ऐसे व्यक्ति की गुणहीनता का उसे मधुकर तथा गुडहर के फूल की अन्योक्ति के द्वारा बोध कराया गया है। (दो० न० ८२) दूसरे स्थान पर मरुदेश मे तरबूजो से पिपासा शान्त करने को अन्योक्ति के द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि किसी व्यक्ति के लिये वही वडा है जिस से उसका काम बन जावे। दूसरे बडे लोग कितने हा बडे क्यो न हो उनके बडप्पन से उस व्यक्ति को क्या लाभ-हानि हो जाती है। (दोहा न० ३६६, ३६७) इसी आशय को लेकर एक दूसरे दोहे मे प्यास न शान्त करने पर "नदी कूप सर बाय" की व्यर्थता की अन्योक्ति की गई है। ईश्वर-विश्वास पर भी दो एक अन्योक्तिया पाई जाती हैं —

जाकैं एकाएक हू जग ब्यौसाइ न कोइ ।
सो निदाघ फूलै फरै आकु डहडहौ होइ ।।
रह्यौ न काहू काम कौ सैंत न कोऊ लेत ।
बाजू टूटे बाज कौं साहब चारा देत ।।

स्वाभिमानी व्यक्तियो की परिपाटी का वर्णन करने के लिये चकोर की अन्योक्ति की गई है कि भूख लगने पर भी चकोर या तो आग की चिनगारी खाता है या चन्द्र किरणो का पान करता है, तीसरी वस्तु को स्वीकार नही करता। स्वाभिमानी व्यक्ति असम्मानित तथा अभद्र जीवन व्यतीत करने मे कभी प्रवृत्त नही होता। जो लोग सम्मानित जीवन व्यतीत करने के बाद कष्टपूर्ण दशा मे पड कर भी काल यापन करते हैं उन पर दु ख प्रकट किया गया है —

सूक्यौ बारिज, कुसुम-बन पुहुप मालती-वृन्द ।
मधुप कहा जीवन जियैं मूली कैं मकरन्द ।।

किन्तु किसी सम्भ्रान्त शासक से लाभ प्राप्त करने के लिये स्वाभिमान का कुछ अश छोडना ही पडता है —

नहिं पावसु ऋतुराजु यह, तजि, तरवर, चित भूल ।
अपतु भये बिनु पाइहै क्यौं नव दल, फल, फूल ।।

परमात्मा ने मनुष्य को ही दु खी बनाया है अन्य जीवो को न खाने पीने की चिन्ता, न पहिरने ओढने की चिन्ता और न प्रेमी व्यक्ति के वियोग का दु ख, केवल मानव ही समस्त दु खो को लेकर ससार मे आया है। मानव से तो सामान्य पक्षी ही अच्छा है जिसे इन वस्तुओ की आवश्यकता मे दु खी नही होना पडता —

पटु पाखै भखु काकरै, सपर परेई सग ।
सुखी, परेवा, पुहुमि मैं एकै तुँहीं विहग ।।

यह अन्योक्ति किसी ऐसे व्यक्ति के विषय में की गई है जिसकी आवश्यकतायें बहुत कम हैं, जो मोटा-झोटा खाकर और साधारण वस्त्रादिको से काम चलाकर अपना आनन्दमय जीवन व्यतीत कर रहा है। आशय यह है कि अधिक आवश्यकताओ का बढ जाना ही एकमात्र दु ख का कारण होता है।

बिहारी ने दो एक अन्योक्तिया उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप मे भी लिखी हैं। कोई व्यक्ति किसी गत-विभव स्वामी की सेवा मे तत्पर है। उसे सम्बोधित करते हुए कोई कहता है —

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार ।
अब, अलि, रही गुलाब मे अपत, कँटीली डार ।।

आशय यह है कि जिन स्वामी की तुमने आज तक सेवा की और उसका पुरस्कार भी तुम्हे मिलता रहा, अब उनके पास क्या रक्खा है ? उनका तो दिवाला निकल चुका है। अब तुम्हें उनकी आशा छोडकर कही अन्यत्र अपना प्रबन्ध करना चाहिए।

इस पर वह व्यक्ति उत्तर देता है —

इहीं आस अटक्यौ रहतु अलि गुलाब के मूल ।
ह्वैहैं फेरि बसन्त ऋतु इन डारन वे फूल ।।

इसी प्रकार किसी उच्च वंश के व्यक्ति के अपमानित होकर रहने पर कोई कहता है —

जनमु जलधि, पानिप विमलु, भौ जग आघु अपारु ।
रहै गुनी ह्वै गर पर्यौ भलैं न मुक्ताहारु ।।

इसी पर वह व्यक्ति उत्तर देता है —

गहै न नेकौ गुन गरबु, हँसौ सबैं संसारु ।
कुच-उच्च पद-लालच रहै गरैं परैं हू हारु ।।

दो एक अन्योक्तियाँ विशेष घटनाओं की ओर भी संकेत करती हैं । जयसिंह की मोह निद्रा तोडने वाला दोहा अन्योक्ति ही है । जयसिंह को अन्योक्ति के द्वारा ही मुसलमानों का साथ छोड कर हिन्दुओं की रक्षा करने के लिए समझाया गया है । (दोहा सं० ३००)

बिहारी की समस्त आर्थिक सूक्तियों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इन्होंने जीवन के सुखद तथा कटु दोनों प्रकार के अनुभव किए थे और उन अनुभवों के द्वारा उन्होंने अपने पाठकों के सामने एक प्रशस्त जीवन रखने की चेष्टा की । हम बिहारी के अनुभवों का सार निम्नलिखित शब्दों में प्रकट कर सकते हैं —

"इस संसार में सब कुछ समीचीन ही नहीं है । प्राय अयोग्य व्यक्ति ऊँचे स्थानों पर पहुँच जाते हैं और योग्य व्यक्तियों को अच्छे स्थान नहीं मिलते । किन्तु ईश्वर न्यायकारी है । कभी न कभी अपनी योग्यता का पुरस्कार मिलता अवश्य है । अयोग्य व्यक्ति किसी ऊँचे स्थान पर अधिक समय तक नहीं टिक सकता, उसे नीचे गिरना पडता है और तब जन-समाज की प्रतिक्रिया बड़ी ही भयानक होती है । बात यह है कि अयोग्य व्यक्ति ऊँचे स्थान पर पहुँच कर मिथ्याभिमान से भर जाता है और अपने को कुछ का कुछ समझने लगता है । अपने ऐश्वर्य-मद में अपने अधीनस्थों तथा सामान्य व्यक्तियों का अपमान करने लगता है । किन्तु उसका यह अवलेप बहुत समय तक नहीं चलता और जब वह नीचे गिरता है तब उससे पूरा बदला चुका लिया जाता है । अतएव किसी उच्च पद पर पहुँच कर अपनी वास्तविकता का सदा ध्यान बनाए रखना चाहिये । यदि कोई ऐसा व्यक्ति अन्याय पर उतारू हो तो समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए । उसे शीघ्र ही प्रतिशोध का अवसर मिलेगा ।

"गुणों का विकास सर्वदा अच्छे ही स्थानों में, नागरिकों में ही होता है । अतएव अपने उपयुक्त स्थान पर ही रहने की चेष्टा करनी चाहिए । मूर्खों की अवहेलना से गुणों के महत्व में कमी नहीं आती । अतएव मूर्खों की अवहेलना से निराश तथा उदास नहीं होना चाहिए । सर्वदा अच्छा आश्रय ही ग्रहण करना चाहिए ।

यदि अच्छा आश्रय न मिले तो जैसे-तैसे दिन काट डालना चाहिए किन्तु क्षुद्र मनुष्य का आश्रय ग्रहण नही करना चाहिए। स्वाभिमान की रक्षा करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। जिस स्थान पर सम्मानमय जीवन व्यतीत किया हो उस स्थान पर असम्मानित होकर रहना मरण से भी बढकर है। किन्तु मिथ्या सम्मान की भावना भी अच्छी नही होती। किसी उदारचेता व्यक्ति के सामने मिथ्या स्वाभिमान की भावना से प्राय स्वार्थ साधन मे विघ्न पडता है, अतएव मध्य मार्ग अपनाना ही श्रेयस्कर होता है। न तो श्रीमानो को देखकर इनके आश्रितो से ईर्ष्या करनी चाहिए और न अपने स्वामी को तुच्छ ही समझना चाहिए। ससार मे एक से एक बडे लोग विद्यमान हैं किन्तु हमारा काम जिससे निकले हमारे लिए वही महान् है। यदि कभी अपने स्वामी पर दुर्दिन भी आ जावे तो सहसा उसका साथ छोड देना कृतघ्नता है। सम्भव है पुन सुदिन के दर्शन हो और वही पुराना सुख-भोग प्राप्त हो जावे। यदि सम्पत्ति बहुत बड जावे तो कम से कम मित्र शत्रु और भगवान् को नही भूलना चाहिए।

"जहाँ तक हो सके अपने वर्ग का ध्यान रखना चाहिए। अपने स्वार्थ के लिए भी उसका विनाश नही करना चाहिए और दूसरो के हाथ मे पडकर तो नही ही करना चाहिए। यदि मनुष्य गुणवान है तो चाहे वह दरिद्रता मे ही क्यो न रहे उसकी प्रतिष्ठा होती ही है और गुणहीन व्यक्ति सम्पन्न होते हुए भी उसकी जैसी प्रतिष्ठा प्राप्त नही कर सकता ; अतएव गुणहीन धनाढ्यो को देखकर कभी कभी अपनी गर्हणा नही करनी चाहिए। यह ससार एक माया-मोह का जाल है। जो भी इस मे पड जाता है उसे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। अतएव माया मोह के झझट मे पडकर घबराना नही चाहिए। जब सारे ससार की दशा ही ऐमी है तब घबराने से क्या लाभ होगा ? ईश्वर-विश्वास बडी चीज है। जिसका कोई आश्रय नही होता, ईश्वर उसका निर्वाह करता है। अतएव ईश्वर का प्रसाद समझ कर सुख तथा दु ख को समान रूप मे स्वीकार करना चाहिए।

"कुसग का ज्वर सबसे अधिक भीषण होता है। कुसग मे पडे व्यक्ति का उद्धार सत्सग के द्वारा भी नही हो सकता। ससार का कुछ ऐसा नियम है कि बुराई का भय के कारण अधिक सम्मान हुआ करता है। भले लोगो के प्रति प्राय उपेक्षा हो जाती है। फिर भी विनय नही छोडना चाहिए। विनय भी महत्त्व देने वाला एक तत्त्व है।

"कृपणो के पास जितनी भी सम्पत्ति बढती है उतने ही वे कृपण होते जाते है। किन्तु उदार व्यक्तियो का उत्साह व्यय मे अधिक बढ जाता है। इसमे भी एक बुराई है। विलास पर व्यय का जो बुरा स्वभाव पड जाता है वह सम्पत्ति के ह्रास मे भी नही छूटता। सम्पत्ति सज्जनो को नम्रता प्रदान करती है और दुष्टो को उद्दण्डता। सम्पत्ति के उपार्जन करने मे भी सतोष की वृत्ति से ही काम लेना चाहिए। अधिक लोभ नही करना चाहिए। क्योकि इससे पद-पद पर असम्मान का सामना

करना पडता है। धन मे बहुत अधिक बुराइया है। अतएव यह सर्वदा ध्यान रखना चाहिए कि धन आवश्यकता पूर्ति का साधन मात्र है। धन को जीवन का उद्देश्य कभी नही बनाना चाहिए और परमात्मा पर आस्था रखते हुए जीवन यापन करना चाहिए।"

कामपरक सूक्तियां

विहारी ने धार्मिक और आर्थिक सूक्तियो के समान कामपरक सूक्तिया भी पर्याप्त मात्रा में लिखी हैं। इन सूक्तियो में रति-सम्बन्धी तथ्यो का अभिधान रहता है। कही कही किसी रहस्यमय तथ्य का ही इस रूप मे कथन कर दिया जाता है कि पाठक चमत्कृत हो जाता है और कही-कही अप्रस्तुत योजना इत्यादि माध्यमो के द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है। रति-भावना तर्क-सापेक्षिणी नही होती। भगवान् चरक ने लिखा है कि "ससार मे अनेक प्रकार की स्त्रियां होती है और उनके गुण भी अनेक प्रकार के होते हैं। किन्तु दैववश या कर्मवश कोई ही स्त्री किसी के हृदय मे शीघ्र प्रविष्ट हो जाती है।" भवभूति दाम्पत्य प्रेम को आन्तरिक हेतु से उत्पन्न हुआ मानते है। उनके मत मे प्रीति मे वाह्य हेतु अपेक्षित नही होता। यही वात विहारी ने निम्नलिखित शब्दो मे अभिव्यक्त की है —

अनियारे, दीरघ दृगनु किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहिं वश होत सुजान॥

मनुष्य के आकर्षण मे स्त्री-सौन्दर्य निमित्त नही होता। सुन्दरता मे एक से एक सुन्दर स्त्रिया एक दूसरे से वढ़ कर मिल जाती हैं किन्तु विहारी के मत मे किसी विशेष अवसर की चितवन ही कुछ ऐसी विशिष्ट होती है कि उस की ओर मनुष्य का आकर्षण हो ही जाता है। इसी वात को विहारी ने एक दूसरे दोहे मे कहा है:—

समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ॥

इस दोहे से यह भी सिद्ध होता है कि विहारी प्रेम को विषयीगत मानते थे।

प्रेम कोई ऐसी-वैसी वस्तु नही है। रसिक शिरोमणियो के पर्वत के समान विशाल हृदय भी एक नही सहस्रो की सख्या मे इस प्रेम के महासागर मे समा जाते हैं। किन्तु उसी प्रेम के महासागर को नर-पशु— हृदय-हीन व्यक्ति एक साधारण सी खाई समझ कर अनायास ही लाघ जाने की चेष्टा किया करते है। विहारी प्रेम के महासागर मे सव अगो से डूव जाने को ही जीवन की सफलता मानते हैं —

तन्त्री-नाद, कवित्त रस, सरस राग, रति रग।
अनवूड़े वूड़े, तरे जे वूड़े सव अग॥

यहाँ पर विहारी ने दीपक अलकार का सुन्दर प्रयोग किया है। इस प्रेम की पीड़ा मे अधिक सोच-विचार नही करना चाहिए। प्रेम का निर्वाह ही एकमात्र

सके द्वारा प्रेम की पीडा का निस्तार हो सकता है —

नेहु निबाहैं हीं बनै सोचैं बनै न आन।
तनु दै, मनु दै, सीसु दै, प्रेम न दीजै जान ।।

बिहारी तो प्रेम के निर्वाह के लिए 'सीपु' ही क्या सर्वस्व निछावर कर देना मझते हैं —

गति दै, मति दै, हेतु दै, रसु दै, जसु दै दान।
तनु दै, मनु दै, सीसु दै नेह न दीजै जान ।।

निस्सदेह आनन्द, यश, शरीर, मन इत्यादि सभी से प्रेम बडा है। अतएव ी रक्षा के लिए सर्वस्व अर्पित कर देना भी थोडा है। सस्कृत के कई कवियो ामपरक सूक्तियो मे स्त्री सहवास को ही सच्चा मोक्ष बतलाया गया है। ारी ने भी इस आशय की एक सूक्ति लिखी है —

चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि।
ए जिहिं रति, सो रति मुकुति, और मुकति अति हानि ।।

इस दोहे मे अनेक क्रियाओ का उपादान चमत्कारकारक है तथा उस से वभिन्न भावो की अभिव्यक्ति होती है।

सुन्दरता का नशा भी बडा विलक्षण होता है। विहारी ने व्यतिरेकालकार के द्वारा सामान्य नशा से उसका वैपम्य स्थापित किया है—

डर न टरै, नींद न परै, हरै न काल-विपाकु।
छिनकु छाकि उछकै न फिरि, खरौ विषमु छबि छाकु ।।

इसी प्रकार प्रेम की विलक्षणता का असगति अलकार के आधार पर निरूपण किया गया है—

दृग अरुझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाठि दुरजन हियै, दई, नई, यह रीति ।।

इसी आशय का एक दूसरा दोहा भी देखिए —

क्यौं बसियै, क्यौं निवहियै, नीति नेह पुर नाँहि।
लगालगी लोइनु करैं नाहक मन बँधि जाहिं ।।

यह भी असगति अलकार का सीदा-साधा उदाहरण है।

काव्य-परम्परा मे प्रेम के खिचाव का प्राय वर्णन आता है। आचार्यों ने कहा भी है कि शृ गार तथा प्रेम का महत्त्व इसी लिए अधिक है कि इस मे आस्वादन विघ्नित होता है। विहारी ने इस विषय मे कई सूक्तिया लिखी है—

गढ रचना, तरुनी, अलक, चितवनि, भौंह, कमान।
आघु बँकाई ही चढै तरुनि, तुरगम, तान ।।

यहाँ पर दीपक का बडा ही महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। यदि 'बँकाई' शब्द क वक्रोक्ति का बिगडा हुआ रूप माने तो यह दोहा अभिव्यञ्जना के माध्यम से वक्रो

की महत्ता स्थापित करने वाला भी माना जा सकता है।

बिहारी नायिका के रूठने मे भी आनन्द का अनुभव करते हैं —

अनरस हूँ रसु पाइयतु, रसिक रसीली-पास ।
जैसे साठे की कठिन गांठ्यौ भरी मिठास ।।

सुरत समय की "नही" का महत्त्व देखिए —

नहिं टीकौ, न गुलीबँदौ, नहिं हमेल नहिं हारु ।
सुरतिसमै इक नाहियै नख-सिख होति सिंगारु ।।

बिहारी के मत मे प्रेम के क्षेत्र मे विजय उसी की होती है जो भावना को छिपा कर ले चल सकता है.—

सरस सुमिल चित-तुरग की करि करि अमित उठान ।
गोइ निवाहे जीतियै खेलि प्रेम-चौगान ।।

इस दोहे पर उस समय के एक खेल की छाप है जो कि पोलो के समान घोडे पर चढ़ कर खेला जाता था। प्रेम को जोडने के लिए बिहारी ने दूती की आवश्यकता पर भी बल दिया है। किन्तु प्रेम के पूर्ण रूप से जुड जाने पर दूती का बीच से हटना ही समीचीन बतलाया है—

काल बूत दूती बिना-जुरै न और उपाइ ।
फिरि ताकैं टारैं बनै पाकैं प्रेम लदाइ ।।

यहाँ पर बिहारी ने अपने वास्तुकला विज्ञान का परिचय दिया है। जिस प्रकार किसी डाट को जोडने के लिए ईंट इत्यादि के ढांचे की आवश्यकता होती है। किन्तु जब डाट पक्की हो जाती है तब उस ढाचे को हटाने से ही काम चलता है। इसी प्रकार बिना दूती की मध्यस्थता के काम नही चलता। किन्तु जब प्रेम पूर्ण रूप से जुड जाता है तब दूती को हटाने से ही काम चलता है।

बिहारी ने सदाचार का भी महत्त्व स्थापित किया है। लोग परकीया से भी प्रेम करते है। किन्तु जो लज्जा और सकोच तथा आत्मीयता और प्रेम स्वकीया मे होता है वह परकीया मे स्वप्न मे भी सम्भव नही। बिहारी के मत मे स्वकीया प्रेम पर तो करोडो अप्सरायें भी निछावर की जा सकती हैं —

कोटि अप्सरा वारियैं, यौं सुकिया सुखु देइ ।
बोली आखिनि हौं चितै गाढैं गहि मनु लेइ ।।

यही बिहारी के सूक्ति-काव्य का सक्षिप्त परिचय है।

प्रशस्ति काव्य

बिहारी का प्रशस्ति-काव्य बहुत थोडा है और इस प्रकार का काव्य अधिक महत्त्वपूर्ण भी नही है। अत्युक्ति की सबसे अधिक सम्भावना प्रशस्तियो के क्षेत्र मे ही रही है और बिहारी की प्रकृति भी अत्युक्ति-प्रिय थी। किन्तु आश्चर्य होता है कि बिहारी ने इस दिशा मे अत्युक्ति का प्रयोग नही किया है। सम्भवत. इसका कारण यही था कि बिहारी को जयसिंह का मुसलमान बादशाहो के प्रति अनुचित पक्षपात

गता था। इन्होने जयसिंह की प्रशसा के विषय मे जितने दोहे लिखे है वे
तक हैं और जयसिंह जैसे प्रसिद्ध वीर के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। यद्यपि
ो सख्या कम है तथापि उनमे प्रशस्ति-काव्य के तीनो विषयो का समावेश
। जयसिंह की वीरता के विषय मे निम्नलिखित दोहे उद्धृत किए जा
—

अनी बड़ी उमड़ी लखैं असि वाहक भट भूप।
मगलु करि मान्यौ हियैं भौ मुँहु मंगलु रूप॥
सामाँ सेन, सयान की सबै साहि के साथ।
बाहुबली जयसाहिजू, फते तिहारैं हाथ॥
यौं दल काढ़े बलक तैं तैं जयसिंह भुवाल।
उदर अघासुर कैं परैं ज्यौं हरि गाइ गुवाल॥
घर घर तुरकिनि, हिंदुनी देतिं असीस सराहि।
पतिनु राखि चादरि चुरी तैं राखी जयसाहि॥

निम्नलिखित दोहे मे जयसिंह की दानशीलता की प्रशसा की गई है—

चलत पाइ निगुनी गुनी धनु मनि-मुत्तिय माल।
भेंट होत जयसाहि सौं भागु चाहियतु भाल॥

निम्नलिखित दोहे मे वीरता तथा दानशीलता का सयुक्त वर्णन है —

रहित न रन जयसाहि मुख लखि लाखनु की फौज।
जांचि निराखरऊ चलै लै लाखनु की मौज॥

निम्नलिखित दोहे मे जयसिंह के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है —

प्रतिबिम्बित जयसाहि दुति दीपति दरपन धाम।
सबु जगु जीतन कौं कर्‌यौ काय-व्यूह मनु काम॥

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते है —

(१) विहारी की कविता का मूल प्रवृत्ति-निमित्त हाल के आदर्श पर प्राकृत-प्रेम की कविता करना है तथापि मुक्तक काव्य के क्षेत्र मे आने वाले सभी विषयो पर अनुषगिक रूप मे इन्होने कविता की है।

(२) मुक्तक काव्य की दिशा मे जो चार परम्परायें प्रतिष्ठित थी उन सब पर विहारी का काव्य उपलब्ध होता है। इससे सिद्ध होता है कि विहारी की प्रखर प्रतिभा ने मुक्तक काव्य परम्परा के वास्तविक रहस्य को समझा था और उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व करने की सफल चेष्टा की।

(३) रसात्मक मुक्तक की दिशा मे जो तीन कालो की पृथक् पृथक् प्रवृत्तियाँ विद्यमान थी उन सब पर इन्होने काव्य रचना की।

(४) रसात्मक मुक्तक की दिशा मे दोनो प्रकार की शैलियां अपनाई गई हैं—स्वभावोक्ति भी और अत्युक्ति भी।

(५) बिहारी ने जहाँ वैदर्भी रीति को प्रमुखता प्रदान की है वहा मुसलमानी दरबार का भी इनकी कविता पर प्रभाव लक्षित होता है।

(६) कृष्ण काव्य के दोनो रूप इनकी कविता मे पाये जाते हैं। सामान्य नायक के रूप मे भी कृष्ण का वर्णन किया गया है और कृष्ण के जीवन की विशिष्ट घटनाओ का उपादान भी हुआ है।

(७) प्रकृति चित्रण मे षड्-ऋतु वर्णन को प्रधानता दी गई है, शेष वर्णन गौण रूप मे सन्निविष्ट कर दिए गये है। प्रकृति वर्णन मे अनेकविधता के दर्शन होते हैं और परम्परागत प्राय सभी प्रकार इन की कविता मे सन्निहित है।

(८) धार्मिक काव्य के क्षेत्र मे प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत तथा आध्यात्मिक तीनो प्रकार का काव्य सतसई मे पाया जाता है।

(९) बिहारी निम्बार्क-मतानुयायी थे और हरिदासी सप्रदाय की इन के ग्रथो मे छाप पाई जाती है।

(१०) बिहारी ने सभी प्रकार की सूक्तियाँ लिखी है।

(११) धार्मिक सूक्तियो मे वैराग्य तथा भगवद्-भक्ति के उपदेश की प्रधानता है। आर्थिक सूक्ति मे जहाँ सम्पत्ति के विषय मे कई तथ्योक्तियाँ है वहाँ व्यावहारिक जीवन के विषय मे भी पर्याप्त सूक्तियाँ पाई जाती है। कामसम्बन्धी सूक्तियो की भी कमी नही है।

(१२) बिहारी ने सूक्तियो के दोनो प्रकारो पर कविता की है—तथ्योक्तियो पर भी और अन्योक्तियो पर भी। इन की अन्योक्तियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(१३) तथ्योक्तियो मे रूपक, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, अर्थान्तरन्यास और दीपक अधिक अपनाये गये हैं। दृष्टान्त और दीपक की अन्योक्तियाँ अधिक रमणीय बन पडी है।

(१४) प्रशस्तियाँ अधिक अच्छी नही बन पड़ी हैं। इन में परम्परा-निर्वाह मात्र किया गया है। बिहारी का हृदय इस प्रकार की कविता मे अनुरक्त नही हुआ है।

यही वस्तुमूलक परम्परा की दृष्टि से बिहारी का सक्षिप्त परिचय है।

———

षष्ठ अध्याय

बिहारी की भाषा

पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीयता को ही काव्यत्व का मूल प्रवृति-निमित माना है। उनका मत है कि रमणीयता अर्थ मे रहती है और उसकी अभिव्यक्ति शब्द (भाषा) द्वारा होती है। अर्थ की रमणीयता को अभिव्यक्त करने वाला शब्द ही पण्डितराज के मत में काव्य है। काव्यप्रकाशकार ने भी अर्थ ध्वनि मे शब्द का सहकार अनिवार्य माना है। ये आचार्य रीति को काव्य की आत्मा मानने मे वामनाचार्य से सहमत भले ही न हो किन्तु भाषा और शब्दो के प्रयोग का महत्त्व इनकी दृष्टि मे भी कम नही है। वस्तुत रमणीयता का बहुत कुछ आधान भाषा के हाथ मे होता है। भाषा भाव की वाहिका होती है। यदि काव्य मे भाषा सदोष हुई तो रसास्वादन मे व्याघात उपस्थित हुए विना नहीं रहता। सच्चा कवि भावावेश मे लिखता है। अतएव सच्ची या उच्च कोटि की कविता मे भाषा भी भावानुगामिनी होती है। भाषा यदि उपयुक्त न हुई तो नाना प्रकार की अभिव्यञ्जन-शैलियाँ भी काम नही दे सकती। भावाभिव्यक्ति के अन्य प्रकार भी भाषा की अपूर्णता मे कुण्ठित हो जावेंगे।

बिहारी की भाषा पर दो दृष्टियो से विचार किया जा सकता है — १ व्याकरण की दृष्टि से और २ रमणीयता की दृष्टि से।

१ बिहारी का भाषा-व्याकरण

व्रज भाषा एक परिचय—भारतीय चरित्र की विशेषता है आदान प्रदान, समन्वय तथा एकीकरण। धार्मिक, दार्शनिक सामाजिक इत्यादि अनेक क्षेत्रो के समान भाषा के क्षेत्र मे भी हमे इस विशेषता के दर्शन होते है। आर्य जाति ने चिर अतीत मे ही भाषा की नश्वरता तथा परिवर्तनशीलता के साथ कालकृत तथा देशकृत परिवर्तनीयता को भी समझ लिया था। यही कारण था कि लोक भाषा प्राकृत के साथ एक ऐसी भी कल्पना मनीषियो द्वारा कर ली गई थी जिसमे सस्कारो की विशेषता के कारण कभी परिवर्तन ही न हो और उसमे अभिव्यक्त किये हुए भाव जिस प्रकार विस्तृत प्रदेश मे समझे जा सकें उसी प्रकार काल-क्रम से भी लुप्त न हो सकें। कहने की आवश्यकता नही कि यह भाषा केवल विद्वानो की सम्पत्ति थी और सर्वसाधारण से इसका सम्पर्क नही के समान था।

उस समय की जन भाषा प्राकृत कहलाती थी जो देश-भेद से तीन प्रकार की थी—पैशाची, शौरसेनी और मागधी। पैशाची पजाब तथा पश्चिमी प्रदेश की भाषा थी, शौरसेनी सामान्यतया उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग की भाषा थी और

मागधी मगध में बोली जाती थी। यह अनुभव किया गया कि सुदूर प्रदेशों के लोग भी एक दूसरे से विचारो का आदान-प्रदान तथा पत्र-व्यवहार इत्यादि कर सकें और महात्माओ के धार्मिक सन्देश समस्त उत्तरी भारत मे समझे जा सकें इसके लिए एक सर्वसाधारण की भाषा की आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक राष्ट्रीय साहित्यिक भाषा की कल्पना कर ली गई जिसका नाम महाराष्ट्री पडा। इस भाषा मे तीनो प्रदेशो के शब्दो को निस्संकोच अपनाया गया था। किन्तु इसमे शौरसेनी को प्रमुखता प्रदान की गई थी। सम्भवत इसका कारण यह था कि शौरसेनी मध्य मे पडती थी और निकटवर्तिनी होने के कारण अन्य दोनो प्रदेशो मे भी सरलतापूर्वक समझी जा सकती थी।

जन भाषा की अपेक्षा साहित्यिक भाषा मे अधिक स्थायित्व होता है। जन-भाषा उच्चारण इत्यादि की विशेषताओ से निरन्तर परिवर्तित होती रहती है और साहित्यिक भाषा कुछ न कुछ नियमबद्ध होने से स्थिर रहती है। धीरे-धीरे एक समय ऐसा आ जाता है जब जन भाषा साहित्यिक भाषा से सर्वथा दूर जा पडती है और साहित्यिक भाषा सर्वसाधारण मे अव्यवहृत होने के कारण केवल पढे-लिखे लोगो की भाषा रह जाती है। अतएव सर्वसाधारण की प्रवृत्ति जन भाषा मे ही लिखने-पढने की हो जाती है और धर्मोपदेशक तथा प्रचारक भी उसी भाषा को अपना लेते हैं। तब वह जन भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित भाषा भी साहित्य-जगत् मे पदार्पण करती है और पुरानी भाषा मे साहित्य सर्जना समाप्त हो जाती है। इसी को भाषाओ का साहित्यिक मरण कहते है।

प्राकृत भाषाओ ने कुछ समय तक साहित्य रचना का काम दिया। किन्तु भाषाओ के प्राकृतिक नियम के अनुसार जब जनभाषायें व्यवहार-क्षेत्र मे अपनायी जाने लगी तब इन भाषाओ का अञ्चल धीरे-धीरे छूटने लगा और प्राकृत भाषाये साहित्यिक मरण की ओर उन्मुख होने लगी। नवीन लोक-भाषायें व्याकरण के नियम से च्युत थी अतएव इन्हें विद्वानो ने अपभ्रंश की सज्ञा प्रदान की। प्राकृत भाषाओ के समान अपभ्रंश भाषायें भी तीन ही प्रकार की थीं—पैशाची, शौरसेनी और मागधी। इनके अतिरिक्त तीनो प्रदेशो की सामान्य विशेषताओ से युक्त एक तीसरी भाषा भी साहित्यिक महाराष्ट्री के स्थान पर प्रयुक्त होने लगी। इस भाषा मे भी अपनी प्रादेशिक विशेषता के कारण शौरसेनी अपभ्रंश की प्रधानता थी। प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओ के साहित्यिक रूप का ज्ञान कुछ तो हमे तत्कालीन नाटको मे प्रयुक्त भाषा से होता है और कुछ हेमचन्द्र इत्यादि प्राकृत व्याकरण-कारो ने इनका परिचय दिया है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि व्याकरण ग्रन्थो तथा नाटको से हमे जिस भाषा का ज्ञान होता है वह उसका साहित्यिक रूप ही है। उस समय की जन-भाषा का क्या रूप था, इसका पता लगाने का हमारे पास कोई साधन नही।

धीरे-धीरे प्राकृतिक कारणों से ही अपभ्रंश भाषाओं को भी साहित्यिक मरण का सामना करना पड़ा। नवीन भाषाओं का प्रादुर्भाव अपभ्रंशों के साहित्यिक रूपों और जन भाषाओं के मिश्रण से हुआ है। कोई भाषा कब सत्ता में आती है और कब साहित्य-जगत् से बहिष्कृत हो जाती है इसकी कोई एक तिथि निश्चित नहीं की जा सकती। सत्ता में आने वाली भाषा अपनी व्यवस्थित साहित्य-सर्जना से सैकड़ों वर्ष पहले कवियों और लेखकों द्वारा व्यवहृत होने लगती है और बहिर्भूत भाषा में भी बहुत समय तक साहित्य रचना होती रहती है। यद्यपि नवागत भाषा में बहुत पहले सम्भवतः हेमचन्द्र से दो-तीन सौ वर्ष पहले ही रचनायें प्रस्तुत की जाने लगी थीं तथापि भाषाओं के व्यवस्थित साहित्य का प्रथम महान् ग्रन्थ चन्द्रवरदायी का पृथ्वीराज रासो कहा जा सकता है। कवि चन्द्र ने अपनी भाषा को षड् भाषा कहा है। रत्नाकर ने कल्पना की है कि चन्द्र की षड्भाषा में संस्कृत, प्राकृत, राष्ट्रीय अपभ्रंश तथा तत्सामयिक तीनों प्रचलित भाषाओं का मेल है तथापि क्रियायें तथा विभक्तियाँ शौरसेनी की ही हैं। जिस प्रकार महाराष्ट्री प्राकृत तथा राष्ट्रीय अपभ्रंश में शौरसेनी का ही प्राधान्य था उसी प्रकार षड् भाषा में शौरसेनी ही प्रतिष्ठित थी और अपने प्रदेश के बाहर भी एक बहुत बड़े भूभाग में काव्य भाषा के रूप में समझी जाती थी तथा सम्मानित होती थी। शौरसेनी के भी कई प्रादेशिक रूप हो गये। पश्चिमी उत्तरप्रदेश में ब्रजभाषा कहलाती थी, मध्य उत्तरप्रदेश में कन्नौजी, बैसवाड़ी इत्यादि नाम थे और अवध प्रान्त के आस पास इसे अवधी के नाम से अभिहित किया जाता था। राजस्थान में मारवाड़ी, मेवाड़ी इत्यादि भी इसी भाषा के रूप थे। बुन्देलखण्डी और ग्वालियरी रूप भी शौरसेनी से ही निस्सृत हुए थे। हिमालय के प्रदेशों में गढ़वाली, कुमायुनी, नेपाली, इत्यादि भाषायें भी इसी शौरसैनी के ही उपभेद थे।

शौरसैनी भाषाओं के उपभेदों में ब्रजभाषा को सर्वाधिक प्रतिष्ठित पद प्राप्त हुआ। यह तत्कालीन काव्य भाषा बन गई और ब्रज प्रान्त से दूरवर्ती प्रदेशों में भी कविगण कविता के लिये इसे ही अपनाने लगे। जिस प्रकार विस्तृत क्षेत्र में व्यापक प्रचार के लिए अति प्राचीन काल से महाराष्ट्री इत्यादि की कल्पना होती चली आई थी उसी प्रकार इस काल में ब्रजभाषा व्यापक क्षेत्र की काव्य भाषा बन गई। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का मध्य भाग ब्रजभाषा के चरमोत्कर्ष का था। आचार्य वल्लभ के पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर अनेक रससिद्ध कवियों ने इस भाषा को समृद्ध बनाया। इस भाषा को गौरव प्रदान करने का सर्वाधिक श्रेय महात्मा सूरदास को दिया जा सकता है। यद्यपि इनके पहले और बाद में भी अनेक कवियों ने इस भाषा में कविता की थी तो भी जो लोकप्रियता तथा श्रेष्ठता महात्मा सूर को प्राप्त हुई वह दूसरे के लिए दुर्लभ है।

काव्य भाषा के रूप में ब्रज भाषा लोक में व्यवहृत होने वाली ब्रज भाषा

से भिन्न है। यद्यपि व्रज प्रान्त में प्रादुर्भूत होने के कारण इसमें व्रज के शब्दो की ही बहुलता है किन्तु अन्य प्रादेशिक शब्दो का सर्वथा प्रत्याख्यान नही किया गया है। व्रज-भाषा के रूप मे होते हुए भी यह नई ही काव्य भाषा है जो कि अनेक प्रदेशो के शब्दो के उपादान के द्वारा बनाई गई है।

यद्यपि इस भाषा मे काव्य-रचना पर्याप्त मात्रा मे हुई तथापि व्याकरण का नियत्रण न होने के कारण यह भाषा मनमाने रूप मे लिखी जाती रही। इसका एक बहुत बडा कारण यह भी था कि व्रजभाषा के लिखने वाले अनेक कवि विद्वान् नही थे। इन लोगो का सारा ज्ञान सत्संग पर ही आधारित था। इधर-उधर से सुन-सुनाकर ये लोग भाषा का ज्ञान अर्जित कर लेते थे और मनमाने रूप मे लिखने लगते थे। शब्दो की मनमानी तोड-मरोड, क्रिया, कर्त्ता, कर्म इत्यादि के रूपो का मनमाना प्रयोग व्रजभाषा काव्य मे सर्वत्र पाया जाता है। न तो कभी किसी ने व्रजभाषा को नियमवद्ध करने की चेष्टा की और न कवियो पर भाषा सम्वन्धी नियन्त्रण ही लगाया गया। विहारी के समय तक आते-आते हमे भाषा इसी अव्यवस्थित रूप मे प्रयुक्त होती हुई मिलती है।

१—विहारी की भाषा

विहारी सतसई को देखने से ज्ञात होता है कि ये सस्कृत, प्राकृत तथा अप-भ्रश भाषाओ के अच्छे पण्डित थे। इन भाषाओ के काव्य-ग्रथो के साथ अनेक शास्त्रो की भी छाप इनकी रचना मे पाई जाती है। अतएव भाषा का अव्यवस्थित तथा अपरिमार्जित रूप विहारी को पसन्द नही आया। इन्होने भाषा के क्षेत्र मे अपनाये जाने वाले अनेक रूपो पर ध्यान दिया और उसका परिमार्जित ढाचा तैयार कर लिया। इनकी भाषा की सबसे वडी विशेषता यह है कि इसमें प्रयोग अव्य-वस्थित नही पाये जाते। विहारी के पहले किसी भी कवि की भाषा इतनी परिमार्जित और एक-रूप नही मिलती। पुराने कवि एक ही शब्द को एक ही विभक्ति मे अनेक रूपों मे लिख दिया करते थे। अन्त्यानुप्रास के लिए ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व कर लेना तो मामूली बात थी। सानुनासिक वर्णों का भी प्रयोग चाहे जहा कर दिया जाता था। विहारी ही एक ऐसे कवि हैं जिन्होने सर्वप्रथम विभक्तियो के परिनिष्ठित रूपो का प्रयोग किया। इन्होने किसी एक विभक्ति मे प्रयुक्त होने वाले सभी प्रकार के रूपो पर ध्यान दिया और जो रूप इन्हें प्राचीन परम्परा से मिलता हुआ तथा असदिग्ध अर्थ देने वाला प्रतीत हुआ, उसी को इन्होंने अपनी परिमार्जित भाषा के लिए चुन लिया और दृढतापूर्वक उसी प्रयोग का अनुकरण करते रहे। इससे विहारी परिष्कृत भाषा लिखने मे तो सफल हुए ही, परवर्ती कवियो के लिए भी इन्होने मार्ग प्रशस्त कर दिया और बाद मे घनानन्द इत्यादि जिन कवियो ने परिष्कृत व्रजभाषा का प्रयोग किया है उनके मार्ग-दर्शन का श्रेय बहुत कुछ विहारी को ही प्राप्त है। आचार्य शुक्ल ने सतसई मे लक्षण-ग्रथो की छाप देखकर किसी

लक्षण ग्रथ के न लिखने पर भी बिहारी को रीति-ग्रथकार कवियो मे स्थान दिया है। यदि इसी दृष्टि से विचार किया जावे तो बिहारी की परिमार्जित तथा परिष्कृत भाषा उन्हें भाषा-शास्त्रियो मे भी स्थान दिलाने मे समर्थ है। बिहारी ने भाषा के परिमार्जन के लिये किन-किन उक्तियो का आश्रय ग्रहण किया था इसका पूरा विवरण उपस्थित करना पृथक् अनुसन्धान का विषय है। रत्नाकर ने इस प्रकार का कुछ अनुसन्धान किया भी था और उनका विचार भी था बिहारी के भाषा परिष्कार पर एक पृथक् ग्रथ लिखा जा सके। किन्तु उनकी उक्त कामना चरितार्थ नही हो सकी और यह कार्य अब भी किसी भाषाशास्त्री के प्रयत्न की अपेक्षा कर रहा है। अग्रिम पृष्ठो मे बिहारी के गृहीत रूपो का सक्षिप्त परिचय दिया जावेगा।

वैय्याकरण विद्वान् शब्दो को दो भागो मे विभक्त करते हैं – सिद्ध तथा साध्य। सिद्ध शब्द वस्तु वाचक होते हैं और साध्य शब्द क्रिया वाचक। सिद्ध शब्दो मे एक ओर वे शब्द आते हैं, जिनमे विभक्तियो के सयोग से रूपो मे परिवर्तन हो जाता है और दूसरी ओर वे शब्द होते है जिनमे विभक्तियो के सयोग से किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता। प्रथम प्रकार के शब्दो मे सज्ञा, सर्वनाम और विशेषण आते है, दूसरे प्रकार के शब्दो को अव्यय कहते हैं।

(अ) सिद्ध शब्द : सज्ञायें

भाषा सर्वदा सयोग से वियोग की ओर, विस्तार से सक्षेप की ओर चला करती है। उसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि संस्कृत मे समस्त विभक्तियाँ सक्षिप्त अवस्था मे पाई जाती है और एक-एक शब्द के कम से कम १८ रूप पाये जाते है किन्तु आज खडी बोली मे सभी विभक्तियाँ विश्लिष्ट हैं। हम केवल तीन रूपो से ही काम चलाते हैं जैसे लडका शब्द मे कर्त्ता कारक एक वचन मे लडका, कर्त्ता कारक बहुवचन मे लडके और शेष विभक्तियो मे लडको यह रूप हो जाता है। 'लडको' के बाद कोई भी विभक्ति चिन्ह लगा दिया जाता है। जैसे लड़को को, लड़को मे, लड़को के लिए इत्यादि। किन्तु ब्रजभाषा मे विभक्तियाँ इतनी अधिक विश्लिष्ट नही हैं और इसमे एक शब्द के सात रूप बनते हैं। सस्कृत का द्विवचन ब्रजभाषा मे समाप्त हो गया था। केवल एक वचन और बहुवचन शेष रह गए थे। सस्कृत का कारक भेद भी ब्रज भाषा मे समाप्त हो गया था। सस्कृत मे ही सिद्धान्त रूप मे कर्म इत्यादि के स्थान पर षष्ठी स्वीकार की गई थी और प्राय अन्य कारको के अर्थ मे षष्ठी का प्रयोग हो जाया करता था। इसी आधार पर सक्षिप्तीकरण की दिशा मे चलते हुए ब्रजभाषा मे केवल एक कारक शेष रह गया था जिसका प्रयोग सभी कारको के अर्थ मे हो जाया करता था। इसे हम सामान्य कारक के नाम से अभिहित कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त कर्त्ता और कर्म के लिए दूसरे रूपो का भी प्रयोग मिलता है। इन्हें हम विशिष्ट कारक कह सकते हैं। इस प्रकार सामान्य तथा विशिष्ट कारको के एक

वचन तथा बहुवचन के भेद से प्रत्येक शब्द के चार रूप हो जाते हैं। इन रूपो के अतिरिक्त कर्मवाच्य भूतकाल के एक वचन के कर्त्ता के लिए भी एक प्रथम रूप प्रयुक्त होता था जो कि करण कारक के एक वचन के रूप से सर्वथा भिन्न होता था। कर्म वाच्य भूतकाल के बहुवचन में सामान्य कारक के बहुवचन का ही प्रयोग होता था। इन रूपो के अतिरिक्त सम्बोधन के दोनो वचनो मे भी दो पृथक्-पृथक् रूप आते थे। व्रजभाषा के कवि इनकी एकविधता मे आबद्ध नही रहते थे और विभक्तियो के प्रयोग मे मनमाना हेर फेर कर लेते थे। बिहारी की सबसे बडी विशेषता इस बात मे है कि उन्होने वैकल्पिक रूपो से एक रूप चुन लिया और उसी का प्रयोग किया। उनके इस चुनाव मे क्या कारण था यह विषय प्रस्तुत निबन्ध से बाह्य है। यहाँ पर केवल यही दिखलाया जावेगा कि बिहारी ने अपनी भाषा के लिए किन शब्दो को चुना था। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अन्तिम स्वर रूप-भेद का निर्णायक होता है। उसी के आधार पर रूप बना करते है। उदाहरण के लिए—

बिहारी ने सामान्य कारक के एकवचन के लिए 'ही' विभक्ति चुन ली थी और बहुवचन के लिए 'नु' विभक्ति चुन ली थी। इन विभक्तियो के पहले कभी कभी दीर्घ वर्ण को ह्रस्व भी हो जाता है। कभी-कभी इस नु विभक्ति के बाद सौं, के, कौं, इत्यादि विश्लिष्ट विभक्तियो का प्रयोग भी कर दिया जाता है। 'हिं' विभक्ति के उदाहरण —'गीधहिं तारि' यहाँ पर कर्म कारक में अदन्त से 'हिं' प्रत्यय है, मन भावतिहिं' मे ईकारान्त को ह्रस्व कर उससे 'हिं' प्रत्यय जोडा गया है। कहा जानि ये कहत है ससिहिं सीतकर नाउं'' यहाँ पर इदन्त से 'हिं' प्रत्यय जोड़ा गया है। उन्ही परोसिहिं नाह' मे ईकारात पुलिग को ह्रस्व कर 'हिं' प्रत्यय कर्मकारक के अर्थ मे जोडा गया है। इसी प्रकार कविहिं, 'तनहिं', पियहिं इत्यादि विभक्तियो में भी समझना चाहिए। अकारान्त या आकारान्त शब्द के बाद कभी इस 'हिं' के 'ह' का लोप होकर वृद्धि हो जाती है अर्थात् उस अवस्था में 'हिं' विभक्ति के स्थान पर 'ऐं' विभक्ति शेष रह जाती है। जैसे 'हरिनावँ' अर्थात् भगवान के नाम को कर्मकारक एकवचन, 'बालमु बारैं सौति कैं' अर्थात् सौत की पारी में अधि-करण कारक, 'मगलु करि मान्यो हियैं' अर्थात् हृदय में अधिकरण कारक इत्यादि। एक स्थान पर बिहारी ने ऐं विभक्ति ईदन्त से भी जोड़ी है और यण् सधि करके 'सौति' का 'सौत्यौ' बनाया है। कुछ आदन्त शब्द ऐसे भी होते है जिनमें आ को ह्रस्व कर अदन्त के समान रूप चलाये जाते है। ऐसे शब्दो से हिं और नु विभक्तियो के जोडने पर अ को ए हो जाता है। जैसे 'सकुचेहिं' सकुचित हुए व्यक्ति के लिए सम्प्रदान कारक।

नु विभक्ति के रूपों के उदाहरण

शब्द	दो न	कारक	विशेष
कनीनिकनु	४	अधिकरण	आ को ह्रस्व हो गया है
मखनु	१२	करण	
मुकतनु के	२०	करण	कें यह विश्लिष्ट विभक्ति जोड़ी गई है।
पलनु	२२	अधिकरण	
दृगनु	२६	सम्बन्ध	की पृथक् विभक्ति का प्रयोग
नैननु	३२	करण	
नैननु कों	३७	कर्म	पृथक् विभक्ति कों
आखिनु	४१	करण	
कजनु	४६	सम्प्रदान	पृथक् विभक्ति का प्रयोग
सरोजनु	५३	सम्प्रदान	
लोइनु कें	५८	सम्बन्ध	कारक चिन्ह का प्रयोग
लोइनु	६४	सम्बन्ध	कारक चिन्ह का लोप
नैनानु तें	६७	अपादान	प्रातिपादिक को दीर्घ
नयननु	७८	अधिकरण	पृथक् विभक्ति
लाखनुकी	८०	सम्बन्ध	
गुरेरनु	९०	करण	

प्रथम शतक के 'नु' विभक्ति के उदाहरण ऊपर दिए गये हैं। इसी प्रकार सतसई भर में बहुवचन के सामान्य कारक में 'नु' विभक्ति का प्रयोग मिलता है। आकारान्त को ह्रस्व करके जब उससे विभक्ति लगाई जाती है तब 'आ' को ए हो जाता है। जैसे 'बडेनु सो' ४३१ करण कारक 'घूटेनुतें' ६३६ इत्यादि। किन्तु जब दीर्घ 'आ' बना रहता है तब सीधा 'नु' जोड दिया जाता है। जैसे चकवा का चकवानु। कभी-कभी दीर्घ आ' ह्रस्व भी हो जाता है जैसे 'अखियाँ' का 'अखियनु', अँसुवा का अँसुवनु।

यह तो हुई सामान्य कारक की बात। प्रथमा तथा द्वितीया मे इनमे पृथक् रूप भी आते हैं। अतएव इन्हे विशिष्ट कारक कहा जा सकता है। सामान्यतया विशिष्ट कारक मे निर्विभक्तिक प्रातिपादिक का प्रयोग किया जाता है। ह्रस्व तथा दीर्घ वर्णो को कभी-कभी आवश्यकतानुसार दीर्घ तथा ह्रस्व कर लेते हैं। रवि बन्दौ २२४ (कर्म कारक), अनी लखें २१६ (कर्म कारक), उयौ सरद राका ससी २३६ (कर्त्ता कारक), नैना लागन नैन २३२ (कर्त्ता कारक व व), खरे उरोजनु बाल २४८ (कर्त्ता कारक), जियत बिचारी बाल २५८ (कर्म कारक ए व) लियौ बिहारी लाल ३०२ कर्त्ता कारक ए व, कुटिल वक्र गति नैन ३०३ (कर्त्ता कारक ब. व)

सींचि गुलाब घरी घरी ३०८ (कर्म कारक ए व), आवति नारि नवोढ लौं सुखद वायु गति मद ३६२ (कर्त्ता कारक ए व) इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। इस नियम के दो-एक अपवाद भी है। अदन्त के विशिष्ट कारक एक वचन में उ जोडा जाता है जैसे आपु दियौ (कर्त्ता कारक) सबु जगु कहतु ३६४ (कर्त्ता कारक) अवधि दुसासनु वीर ४०० (कर्त्ता कारक) भये सुत सोगु समुझें जारज जोगु ५७५ (कर्म कारक) रहि मुहु फेरि (कर्म कारक), वादि मचावत सोरु एकै नन्द किसोरू ५७१ (कर्म कारक), हितुकरि ५६३ (कर्म कारक)। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। यदि आकारान्त शब्द को ह्रस्व किया जाता है तो विशिष्ट कारक के एक वचन मे 'औ' जोड देते हैं और बहुवचन में ए जोडते हैं। जैसे एक वचन के रूप हियौ २७ (कर्म कारक) गह्यौ हियौ अघेरौ डराहनौ टीकौ इत्यादि। बहुवचन के रूप टोने ४७ बडे १६१ सदेसे २८३, कर्म कारक खरे २४८ कर्म कारक सुहाये २४८ इत्यादि।

सामान्य विशिष्ट कारको के अतिरिक्त कर्म वाच्य भूतकाल की क्रिया के साथ कर्त्ता कारक में एक रूप और जुड़ता है। संस्कृत मे जब कर्तृवाच्य से कर्म वाच्य बनाया जाता है तब कर्त्ता मे तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया जाता है कर्त्र॰ र्थक तृतीया तथा करणार्थक तृतीया के रूपो मे सस्कृत मे कोई अन्तर नही पडता। किन्तु व्रजभाषा मे बहुवचन मे तो सामान्य विभक्ति का नु ही जोड़ते हैं जैसे—'लगा लगी करि लोइननु करि उरमे लाई लाइ 'सवनु लखे सब पास' २६१, 'सौतिनु दियौ' इत्यादि। किन्तु एकवचन मे विशिष्ट विभक्ति का 'उ' नही जुडता अपितु प्रातिप॰ दिक का ही प्रयोग किया जाता है। जंसे—'लखि गुरुजन विच कमल सो ससि छुवायौ स्याम।' इमी प्रकार 'हरि सन्मुख करि आरसी हियें लगाई वाम', 'दई मरक मनु मैन' 'रूपठग बटोही मारि' इत्यादि। आकारान्त को ह्रस्व करने पर सामान्य कारक ऐं ही जोडा जाता है जैसे, 'काटें मो पाँइ गडि' 'पीनसवारें जौ तज्यो'।

सम्बोधन के दोनो वचनो मे केवल प्रातिपदिक का ही प्रयोग किया जाता है। जैसे—ललन ६६०, मीत ४८१, जो लिग काग सराध पख ४३४, छबीले लाल ८, जग नाइक ७१, सुखी परेवा पुहमि में ६१६, वाल १६८, वेसरि मोती धनि तुही ७०६, अलिइन लोयन सरन को २७२, वामा भामा कामिनी कहि वोलौ प्राणेश ७०३ विहारी सतसई मे इस नियम का केवल एक अपवाद मिलता है। दीर्घ आकारान्त शब्दो के सम्वोधन संस्कृत के अनुसार एकारान्त रूप मे भी आये हे और प्रातिपदिक रूप मे भी। जैसे, 'मोर चन्द्रिका स्याम सिर ···' मे मोर चन्द्रिका सम्वोधन प्रातिपदिक रूप मे आया है। 'सुनि राधिके सुजान' मे 'राधिके' सस्कृत के अनुसार एकारान्त रूप मे आया है।

सक्षेप में विहारी की परिष्कृत भापा मे एक शब्द के ७ रूप होते हैं—(१) सामान्य कारक एकवचन; (२) सामान्य कारक वहुवचन, (३) विशिष्ट कारक कर्त्ता कर्म एकवचन, (४) विशिष्ट कारक वहुवचन, (५) सम्वोधन एकवचन, (६) सम्वोधन

भूतकाल मे कर्मवाच्य क्रिया का कर्त्ता। इनमे निम्नलिखित विभक्तियाँ
—

भक्ति	स्थान
उ	विशिष्ट कारक एक वचन मे अदन्त के वाद तथा विशिष्ट कारक एक वचन मे दीर्घ से ह्रस्व किये हुए अदन्त के वाद।
ए	विशिष्ट कारक वहुवचन मे दीर्घ के ह्रस्व किये हुए अदन्त के वाद।
हिं	सामान्य कारक एक वचन मे, इसके लगने से दीर्घ से ह्रस्व के किये हुए अदन्त को ए हो जाता है।
एँ	सामान्य कारक एक वचन मे अ और आ के वाद विकल्प से।
नु	सामान्य कारक वहुवचन तथा करण कर्त्ता वहुवचन इसके लगने पर दीर्घ से ह्रस्व किये हुए अ को ए हो जाता है।
प्रातिपदिक रूप	१—ह्रस्व अ एकवचन को छोडकर विशिष्ट कारक तथा कर्मवाच्य भू० का० का कर्ता ए० व० २—सम्वोधन के दोनो वचन।

सज्ञा शब्दो से कारक विमक्तियो का यही सक्षिप्त परिचय है। यदि समास न हुआ तो सामान्य तथा यही विभक्तिया विशेषणो से भी प्रयुक्त होती है।

(आ) सिद्ध शब्द सर्वनाम

सर्वनामो मे ३ पुरुष होते हैं—उत्तम पुरुष का प्रातिपदिक रूप है हम, मध्यम पुरुष का तुम और अन्य पुरुष मे यह, वह, जअ, कअ, इत्यादि। सर्वनाम शब्दो के रूपो मे यह विशेपता है कि सामान्य कारक मे दोनो वचनो मे हि तथा एँ इन्ही विभक्तियो का प्रयोग किया जाता है। दोनो वचनो मे अन्तर यह है कि एकवचन से 'हम' को 'मो' 'तुम' को 'तो' आदेश करके केवल हि विभक्ति जोडी जाती है। इस प्रकार सामान्य कारक मे एक वचन मे मोहि तोहि का प्रयोग होता है और वहुवचन में 'हमहि', 'तुमहि' का। उत्तम पुरुष तथा मध्यम पुरुष विशिष्ट कारक मे एकवचन मे हौं, तथा तू और तो का प्रयोग होता है और वहुवचन मे प्रातिपदिक का ही प्रयोग मिलता है। उत्तम पुरुष तथा मध्यम पुरुष के सामान्य कारक के रूपो मे एक विशेपता यह है कि सम्वन्ध कारक मे लोप हो जाता है और एकवचन मे उत्तमपुरुष मे 'मो' और मध्यम पुरुष मे 'तुम' तथा 'तो' का प्रयोग होता है। सम्वन्ध कारक वहुवचन मे प्रातिपदिक ही लिखा जाता है। करण, कर्त्ता एकवचन मे 'मैं' तथा 'तैं' लिखा जात है और वहुवचन मे प्रातिपदिक आता है। सर्वनाम शब्दो मे सम्वोधन नही होता।

अन्य पुरुष के रूपों में कुछ विलक्षणता होती है। एक तो बात यह है कि हिं विभक्ति का अनुस्वार कहीं-कहीं लुप्त हो जाता है—जैसे याही, वाही इत्यादि। यहा पर निश्चयार्थक ई जुड जाने से ही दीर्घ हो गया है। जहा इस प्रकार का ई नहीं जुडता वहा वाहि इत्यादि शब्दो मे ह्रस्व का ही प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त कुछ नये प्रकार की विभक्तियाँ भी जुडती हैं। जैसे, याकैं, कासौं इत्यादि। पर विस्तार भय से इस विषय को यही पर समाप्त किया जाता है।

जैसा कि बतलाया जा चुका है हिन्दी (खडी बोली) की भाति ब्रजभाषा मे भी कतिपय विभक्तियाँ विश्लिष्ट होती है। उन विभक्तियो का सक्षिप्त परिचय यह है—

कारक	खडी बोली की विभक्ति	ब्रज भाषा की विभक्ति
कर्म	को	कौं सौं
करण	से	सौं
सम्प्रदान	के लिए	कौं, सौं,
अपादान	से	तैं, पैं,
सम्बन्ध कारक	का, की, के,	को, के, की, कं
अधिकरण	मे	माहि, माह, मँहि, मे
	पर	पर
	बीच में	बीच, बिच

विहारी ने करणकर्त्ता की कोई पृथग्भूत विभक्ति का प्रयोग नही किया है। सिद्ध शब्दो मे विभक्तियो के प्रयोग का यही सक्षिप्त परिचय है।

(इ) साध्य शब्द : क्रिया

क्रियाओ के दो प्रकार पाये जाते है—एक तो पूर्ण क्रियायें हैं जिन्हें तिङन्त कहते हैं और दूसरी कृदन्त क्रियायें होती हैं जिनमे सुबन्त विभक्तियो को जोडना पडता है। तिङन्त क्रियाओ मे पुरुष भेद होता है किन्तु लिंगभेद नही होता, इसके प्रतिकूल कृदन्त क्रियाओ मे लिंगभेद होता है, पुरुष भेद नही होता। सस्कृत मे अति प्राचीन काल से कृदन्त रूपो को पूर्ण क्रिया के रूप मे लिखने की प्रवृत्ति बढ़ गई थी। निष्ठा प्रत्ययान्त शब्दो का प्रयोग पूर्ण क्रियाओ के रूप मे हुआ करता था। उनमे पूरक क्रिया लगाने की आवश्यकता नही पडती थी—जैसे 'रामेण पत्र लिखितम्' में 'लिखितम्' क्रिया कृदन्त की है और पूर्ण क्रिया के रूप मे इसका प्रयोग हुआ है। यह प्रवृत्ति हिन्दी की उपभाषाओ मे अधिक बढ़ी और जहाँ प्राचीन भाषाओ मे तिङन्त का प्राधान्य था, वहाँ हिन्दी की उपभाषाओ मे कृदन्त का प्राधान्य हो गया। तिङन्त की क्रियायें बहुत कम प्रयुक्त होने लगी।

सुबन्त विभक्तियो की भाँति तिङन्त विभक्तियो मे भी सक्षिप्तीकरण हुआ। सस्कृत मे दो पद थे—परस्मैपद और आत्मनेपद। हिन्दी मे दोनो के स्थान पर

केवल परस्मैपद शेष रह गया। इसके अतिरिक्त प्रत्येक लकार मे पुरुष तथा वचन के विचार से कम से कम ६ रूप बनते थे। उनके स्थान पर दो चार रूपो मे ही काम चलाया जाने लगा। लकारो की सख्या मे भी पर्याप्त कमी हुई। सस्कृत मे वर्तमान काल तथा भविष्य काल मे सभी विभक्तियाँ एक ही थी। हिन्दी मे भी वही दशा बनी रही। अतएव विभक्तियो के दो प्रकार हो गये वर्तमान-भविष्य की विभक्तिया और भूत काल की विभक्तिया।

बिहारी की भाषा मे वर्तमान भविष्य मे सामान्य धातु से 'ए' तथा 'ओ' ये विभक्तियाँ दृष्टिगत होती हैं। अन्य पुरुष तथा मध्यम पुरुष के एकवचनो मे 'ऐ' जोडा जाता है। जैसे 'क्यो न नृपति ह्वै भगिवै' मे 'ऐ' विभक्ति जोडी गई है। इस 'ऐ' का सानुस्वार प्रयोग करके अन्य पुरुष तथा उत्तम पुरुष का बहुवचन बनाया जाता है जैसे—'ठौरु कुठौर लखै न' ६ (अ०पु०ब०व०) 'बरणि सकै सु न बैन' १८६ (अ० पु० ब० व०), मध्यम पुरुष के बहुवचन मे ओ जोडा जाता है और उत्तम पुरुष के एकवचन मे उसको सानुस्वार कर दिया जाता है। जैसे—'तो पर, वारौं' २५ (उ० पु०ए०व०), 'वारौ बलि तो दृगनु पर' ६२८ (उ० पु० ए० व०) कहा करौं उलटे परे' ४७ (उ०पु०ए०व०)। भविष्यकाल मे भी यही विभत्तियाँ जुडती हैं, केवल भविष्य काल का चिन्ह 'ह' जुड जाता है। 'कौन भाँति रहिहै बिरदु' ३१, कहिहै सबु तेरौ हियौ, ६० (अ० पु० ए० व०), 'रहिहै चचल प्राण' ३६५। (अ०पु० ए० व०, ब० व० 'लखि-रीझि हौ' ८ (म०पु०ब०व०), तौ बादिहौं जौ राखिहौ २२६ (प्रथम मे उत्तम पुरुष का एक वचन तथा दूसरे मे मध्यम पुरुष का बहुवचन), लखै ५८६। इसी प्रकार अन्य उदाहरणो के विषय मे भी समझना चाहिये।

कुछ धातुयें आकारान्त भी होती है। इनमे ऐ के स्थान पर 'इ' तथा 'हि' जुडता है और ओ के स्थान पर 'उ' तथा 'हु' विभक्ति जुडती हैं। उदाहरण —

१—लाखनु हू की भीर मे आखि उही चलि जाहि १७७ (अ०पु०ब०व०)

२—नैकु न होति लखाइ ७ (अ०पु०ए०व०)

३—एडी मीडति जाइ ३५ (अ०पु०ए०व०)

यह अन्तर भविष्य काल मे 'ह' जुड जाने पर नहीं पडता। भूतकाल मे प्रारम्भ से ही कृदन्त रूप लिखे जाते हैं। ब्रजभाषा में आकर तिडन्त रूपो का प्राय अभाव हो गया और बिहारी की भाषा मे भूतकाल के कृदन्त रूप ही मिलते हैं, तिडन्त रूप नही।

जिस प्रकार अंग्रेजी मे प्रेजेन्ट पार्टीसिपिल और पास्ट पार्टीसिपल का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार सस्कृत मे भी क्रमश शतृप्रत्यय और निष्ठा प्रत्ययो का प्रयोग होता है। शतृप्रत्यय मूल शब्द अत् प्रत्यय को जोडकर बनता है—जैसे चलत् गच्छत् इत्यादि। इनके रूप पुल्लिग मे चलन् और स्त्रीलिग मे चलन्ती, गच्छन्ती इत्यादि हो जाते हैं।

बिहारी ने इनका प्रयोग वर्तमान काल की पूर्ण क्रिया के रूप मे किया है। यह बतलाया ही जा चुका है कि कृदन्त शब्दो मे सुवन्त प्रत्ययो का सयोग होता है। अतएव शतृ प्रत्ययान्त शब्दो को अदन्त मानकर उनसे पुलिंग मे विशिष्ट कारक एक वचन मे उ जोडा जाता था और वहुवचन मे प्रातिपदिक का प्रयोग किया जाता था जैसे—रहतु न रन जयसाहि दुति २०, वरवस वेधतु मोहियो २७। इसी प्रकार वहुवचन मे अरते टरत न ३, नैन मुसकात २३। कभी-कभी एकारान्त प्रयोग भी होता है। थोरे ही गुन रीझते ६८। इन शब्दो का प्रयोग कभी-कभी अपूर्ण क्रिया को प्रकट करने के लिए उस प्रकार भी होता है जिस प्रकार सस्कृत मे हुआ करता है जैसे—चलत देत आभारु सुनि ५५१, अर्थात् चलते हुए। चलत चलत लौ लै चले १७२ श्रुति सेवत एक रंग २०।

स्त्रीलिंग मे इन शब्दो का प्रयोग इकारान्त होता है और वहुवचन में अनुस्वार का सयोग कर दिया जाता है। जैसे झलकति ओप अपार १६ सालति है नटसाल सी ६, खिन खिन मे खटकति सु हि यसाचु दिखावति वाल सिय लौं सोधति ७४ इत्यादि। वहुवचन के उदाहरण —

(१) आँखें लागतिं नाहिं ६२ (२) लाल लाल चमकतिं चुरी ८२ कभी-कभी हैं, हीं, थीं इत्यादि सामान्य क्रियाओ का अध्याहार कर वहुवचन मे अनुस्वार का प्रयोग नही किया जाता। लुवैं चलति उहि गाँउ। फूली फाली फूल सी फिरति जु सहज विकास।

भविष्यकाल मे वर्तमान काल के तिङन्त रूप ही प्रयुक्त होते है। केवल लिंग भेद प्रकट करने के लिए यथा स्थान गो, गी तथा गे जोड दिये जाते है। जैसे चलोगी चलौगो इत्यादि। सस्कृत मे भविष्यत्काल के अर्थ मे भी शतृ प्रत्यय होता था। जैसे गमिष्यन्, पठिष्यन् इत्यादि। इसी प्रकार व्रजभाषा मे भी भविष्यत्काल वाचक 'है' को जोडकर कृदन्त प्रत्यय जोडे जाते हैं। जैसे कहा लेहुगे खेल पैं, ज्यौ ह्वै हो त्यो होहुगो, छुटि जाइगो इत्यादि।

भूतकाल मे सस्कृत मे निष्ठार्थक क्त प्रत्यय का प्रयोग होता था। यह शब्द कृअदन्त माना जाता था। व्रजभाषा मे भी यह शब्द अदन्त ही माना गया, किन्तु दूसरी कोटि मे आ गया अर्थात् इसके रूप दीर्घ से ह्रस्व किये हुए अ के समान चलते थे। विहारी सतसई मे भूतकालिक कृदन्त के एक वचन मे दो रूप मिलते हैं। यो जोड़कर अथवा औ जोड कर जैसे—कियो जु सीस उठाइ कै,'उपज्यो सुदिन सनेहु' 'कितौ मिठास दियौ दई' 'यो कहि दीनौ ईठि' 'सूखि गुलावुगौ' इत्यादि। पुलिंग के वहुवचन मे ए जोडा जाता है जैसे 'गीधे' 'वीधे' इत्यादि। स्त्रीलिंग मे एकवचन में य और वहुवचन में ई जोडकर प्रयोग किया जाता है। जैसे—'गनी घनी सरताज', चाले की वातें चली करी खरी रस लूटि' 'करी विरह ऐसी तऊ। कभी-कभी वहुवचन मे सामान्य क्रिया का अध्याहार कर अनुस्वार हटा दिया जाता है। जैसे—पतिनु राखि

चादरि चुरी तें राखी जयसाहि। यहाँ पर 'रक्खी' यह अर्थ होगा।

निश्चययार्थक क्रियाओं की भाँति सम्भावनार्थक, आज्ञार्थक और सकेतार्थक रूप भी प्रयुक्त होते है। अस तथा भू धातु के निश्चित रूप भी खडी वोली की भाँति कृदन्तरूपो के साथ व्यवहृत होते हैं तथा पूर्वकालिक और क्रियार्थक क्रियायें भी निश्चित पद्धति पर प्रयुक्त की गई हैं।

व्रजभाषा मे कतिपय शब्द प्राय प्रयुक्त होते थे। विहारी ने भी परम्परा-नुरोध से उन्हें अपनाया है। इनमे कीन, लीन, दीन, कियौ, लियौ, दियौ इत्यादि के साथ किय लिय, दिय, भी हैं। इनके अतिरिक्त कर्मवाच्य कीजियतु, लीजयतु, दीजि-यतु इत्यादि शब्दो का भी प्रयोग विहारी ने किया है।

ऊपर बिहारी द्वारा प्रयुक्त कतिपय भाषा व्याकरण सम्वन्धी नियमों का दिग्दर्शन कराया गया है। इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार विहारी ने मुक्तक काव्य-परम्परा की अन्तरात्मा को समझ कर परम्परागत प्रत्येक प्रकार की काव्य रचना प्रस्तुत करने की चेष्टा की, जिस प्रकार उन्होने काव्यशास्त्र की परम्पराओ को ठीक रूप मे समझकर उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व किया उसी प्रकार भाषा के विषय मे भी उन्होंने पर्याप्त खोज करने के वाद उसके रूप को स्थिर किया और दृढता के साथ भाषा के उसी स्वरूप पर डटे रहे। व्रजभाषा के अन्य कवियो की भाँति विहारी ने अन्त्यानुप्रास के लिए भी कभी दीर्घ का ह्रस्व और ह्रस्व का दीर्घ करने की स्वतन्त्रता का लाभ नही उठाया। यहाँ यह आशय नही है कि विहारी के निर्णय किन तत्वो पर आधारित थे और ये निर्णय कहाँ तक समीचीन कहे जा सकते हैं। यहाँ केवल यही कहना है कि विहारी ने प्रथमवार भाषा में एकरूपता लाने की चेष्टा की और इसका प्रभाव परवर्ती काव्य-जगत् पर भी पडा जिससे वाद के कवि घनानन्द इत्यादि अधिक परिष्कृत भाषा लिखने में समर्थ हो सके। यही विहारी की भाषाविषयक सफलता है।

शब्दों का प्रयोग

जैसा कि पहले वतलाया जा चुका है, भाषा के विषय में भारतीय कवियो में सर्वदा उदारता रही है। अति प्राचीन काल से पैशाची मागधी और शौरसेनी के मिश्रित शब्दो का प्रयोग करने में हमारे कवि गौरव का अनुभव करते थे। तुलसी ने अनेक भाषाओ का प्रयोग किया है। हमें विहारी में भी इस विशेषता के दर्शन होते हैं। व्रजभाषा में प्रयुक्त होने वाले सामान्य शब्दो के अतिरिक्त विहारी ने सस्कृत शब्दो का पूर्ण पाडित्य के साथ प्रयोग किया है। यदि विहारी सतसई में प्रत्येक भाषा के शब्दो का अनुपात निकाला जावे तो सवसे अधिक सख्या सस्कृत के तत्सम परिनिष्ठित शब्दो की आवेगी। इसके अतिरिक्त समासो के इतने सुन्दर तथा सुव्यवस्थित प्रयोग देखने से ज्ञात होता है कि विहारी सस्कृत काव्यशास्त्र के ही नही व्याकरण के भी अच्छे विद्वान् थे—'विकसित नवमल्ली कुसुम निकसित परिमल'

का समास केवल एक शब्द (पाइ) को छोडकर समस्त पूर्वदल को घेरे हुए है और प्रत्ययान्तो का सयोग बहुत ही सुन्दर है। 'समरस समर सकोच वश' में भी वही बात है। सस्कृत शब्दो के परिनिष्ठत तथा विवेकपूर्ण प्रयोग के कारण ही सतसई के दोहो का सस्कृत दोहो में सफलतापूर्वक अनुवाद किया जा सका। इस अनुवाद में अधिक से अधिक बिहारी के शब्दो का ही सस्कृत की विभक्तियो के साथ प्रयोग बिहारी के शब्द-प्रयोग की निपुणता का परिचायक है। सस्कृत के अतिरिक्त अरबी, फारसी के भी ताफता, इजाफा, कविलनवी, रोज इत्यादि शब्दो का प्रयोग मिलता है और बुन्देलखण्डी तथा अवधी के शब्दो का भी पर्याप्त प्रयोग किया गया है। शुद्धतथा परिनिष्ठित ब्रजभाषा के लिखने का व्रत लेकर भी बिहारी ने सम-सामयिक प्रादेशिक तथा राजकीय भाषाओ के प्रति पर्याप्त उदारता दिखलाई है। कोई इसे दोष कह सकता है किन्तु मे तो इसे बिहारी की उदारता तथा बहुभाषा ज्ञान ही कहूँगा।

मुहावरों का प्रयोग

शुद्ध साहित्यिक होने के साथ बिहारी की भाषा चलती हुई तथा प्रवाहपूर्ण भी है। इसमें लोकोक्तियो और मुहावरो का भी पर्याप्त प्रयोग किया गया है। कतिपय उदाहरण नीचे दिये जाते है।

हरि कीजतु तुमसो यहै विनती वार हजार।
जिहि तिहि भाँति डर्‌यौ रहौं पर्‌यौ रहौं दरबार।

इसमें 'डर्‌यौ रहौं' और 'पर्‌यौ रहौं' मुहावरे हैं।

इसी प्रकार —

(१) लाल अलौकिक लरिकई लखि लखि सखी सिहाति।
आजु काल्हि मे देखियतु उस उकसोही भांति॥

(२) कहि पठई मनभावती पिय आवन की बात।
फूली अगन मैं फिरै आँगु न आँग समात॥

(३) तुरत सुरत कैसे दुरत मुरत नैन जिरि नीठि।
डौंडी दे गुन रावरे कहति कनौडी दीठि॥

(४) फिरतु जु भटकत कटनि बिनु साई सुसरसु न खियाल।
अनत अनत नित नित हितनु चित सकुचत कत लाल॥

(५) छ्वे छिगुनी पहुँच्यौ गिलत अवि दीनता दिखाई।
बलि बावन को ब्योतु सुनि को बलि तुम्हैं पत्याइ॥

इसी प्रकार गले पडना, पीठ पकड कर रहना इत्यादि मुहावरे भी स्थान-स्थान पाये जाते हैं, जिससे भाषा मे प्रसाद गुण के साथ-साथ सजीवता भी आ गई है।

भाषा की रमणीयता

अभिव्यजना मे भाषा का सर्वोपरि महत्व है । भाव कितना ही उच्चकोटि का तथा हृदयस्पर्शी हो, कल्पना कितनी उच्चकोटि की हो किन्तु यदि तदनुकूल भाषा मे उसको अभिव्यक्त नही किया जाता तो उच्चकोटि का भाव भी नीरस जचता है और कवि की उक्ति कभी भी हृदयहारिणी नहीं हो सकती । आचार्यों ने शब्द सगठन को भी अभिव्यजक माना है । इस सघटना के आश्रित गुण होते हैं जोकि भावो को अभिव्यक्त किया करते है । भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह होनी चाहिए कि उस मे हृदय की प्रतिध्वनि सुनाई दे । यही भाषा की रमणीयता कविता मे प्राण-प्रतिष्ठा करने वाली होती है ।

आचार्यों ने कविता के अनुकूल तीन प्रकार की चित्तवृत्तियां मानी है —किसी विशेष प्रकार के शब्दो को सुनकर हमारे हृदय पिघलने लगते हैं । इसे आचार्यों ने द्रवणशील आह्लाद या द्रुति कहा है और इस प्रकार की आह्लादजनक रचना को माधुर्य गुण के नाम से अभिहित किया है । इसी प्रकार कभी किसी परिस्थिति या शब्दो के प्रभाव से हमारे हृदय भभक उठते है और हमारे अन्दर उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है । इस प्रकार उत्तेजित अवस्था को आचार्यों ने दीप्ति कह कर पुकारा है । दीप्तिजनक गुण को ओज कहा जाता है । प्रथम गुण मे चित्त विकसित तथा प्रफुल्लित हो जाता है और दूसरे गुण मे चित्त विक्षिप्त हो जाता है । आचार्यों ने इन दोनो गुणो के अतिरिक्त रचना का एक और गुण माना है और वह है प्रसाद गुण । जिस प्रकार शुष्क ईन्धन को अग्नि एक दम व्याप्त कर लेती है उसी प्रकार जो रचना हृदय पर एक दम प्रभाव जमा देती है वही रचना प्रशस्त मानी जा सकती है । चाहे माधुर्यमयी रचना हो, चाहे ओजस्विनी हो उसमे श्रवणमात्र से अर्थ समर्पकता का गुण अवश्य होना चाहिए अन्यथा वह सहृदयो मे कभी प्रतिष्ठित नही हो सकती । इस शीघ्र अर्थ समर्पकत्व के गुण को आचार्यों ने प्रसाद गुण को सज्ञा प्रदान की है । यदि माधुर्य मे चित्त विकसित तथा द्रवित होता है और ओजस्विनी रचना मे चित्त प्रज्वलित होता है तो प्रसाद गुण मे चित्त मे व्यापनधर्मिता विद्यमान होती है ।

अनेक आचार्यों ने गुण की वर्ण-धर्मिता का प्रतिपादन किया है । किन्तु काव्यप्रकाशकार इस मत से सहमत नही । उनका कहना है कि जिस प्रकार शूरता इत्यादि आत्मा के ही धर्म होते है, किन्तु कुछ लोग भ्रमवश आकार या शरीर को ही शूर कह दिया करते हैं, उसी प्रकार गुण रस के प्रत्यक्ष उपकारक होने के कारण आत्मस्थानीय रस के ही प्रत्यक्ष धर्म होते हैं, वर्ण केवल उनकी अभिव्यक्ति मे निमित्त हो जाते हैं । इसके प्रतिकूल शब्दालकार शब्द-धर्म ही होते हैं और शब्द का उपकार करते हुए रस का उपकार किया करते है । यही इन दोनो मे भेद है । जहा रस न हो वहां ये गुण तथा अलकार उक्ति-वैचित्र्यमात्र मे पर्यवसायी होते हैं ।

आचार्यों ने रस के उपकार करने में भी गुणो की व्यवस्था की है। पण्डित-राज ने इस विषय मे अनेक मतो का उल्लेख किया है। कुछ लोग कहते हैं, जितनी मधुरता शृ गार मे होती है उससे अधिक करुणा मे, उससे अधिक विप्रलम्भ मे और उससे भी अधिक शान्तरस मे मधुरता होती है। क्योकि ये रस उत्तरोत्तर अधिक-अधिक चित्त वृत्ति को विकसित किया करते हैं। दूसरे लोग कहते है कि सयोग शृ गार की अपेक्षा करुण तथा शान्त रसो मे अधिक मधुरता होती है, उनसे भी अधिक विप्रलम्भ मे होती है। तीसरे लोगो का कहना है कि सयोग शृ गार से करुण, विप्रलम्भ और शान्त मे अधिक मधुरता होती है किन्तु उनमे परस्पर तारतम्य नही होता। पण्डितराज का कहना है इनमे प्रथम तथा तृतीय मत समीचीन जान पडते हैं क्योकि उनके 'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्' यह सूत्र अनुकूल पडता है।

माधुर्यादि वर्ण-धर्म चाहे न हो किन्तु वर्णों से माधुर्यादि की अभिव्यक्ति अवश्य होती है। इसीलिये काव्यप्रकाशकार ने 'न तु वर्णाना' लिखकर भी माधुर्यादि मे प्रयोज्य वर्णों की व्यवस्था की है। काव्यप्रकाशकार ने माधुर्य के विषय मे लिखा है —

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगा स्पर्शा. अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा॥

अर्थात् टवर्ग को छोडकर शेष स्पर्श वर्णों के मस्तक पर विन्दी हो, लघु र तथा ण हो और समास या तो विल्कुल न हो या अल्प समास हो और सघटना मधुर हो उस गुण को माधुर्य कहते है।

विहारी ने मुख्यरूप से शृ गार रस का ही उपादान किया है। अतएव इनकी रचना भी माधुर्य गुण से परिपूर्ण है। माधुर्य गुण के लिये तीन तीन अक्षरो के शब्द अधिक अच्छे माने जाते है। विहारी की भाषा प्राय सर्वत्र माधुर्य के अनुकूल है। शब्द-योजना मे विहारी ने विशेष रूप से शास्त्रीय परम्परा का ध्यान रक्खा है। किन्तु इस प्रकार अवहित होकर काव्य रचना करने मे एक वहुत वडी कमी आ जाने का भय रहता है कि कही शब्दो के फेर मे पडकर कवि अर्थ को न विगाड ले। कवि की सवसे वडी कुशलता इसी वात मे है कि शब्द योजना के प्रति जागरूक रहते हुए भी अर्थ तथा भाव की अभिव्यजना मे कमी न आने पावे और शब्द-सौन्दर्य इतना भी न वढ जावे कि पाठक का ध्यान अर्थ-सौन्दर्य की ओर से हटकर शब्द सौन्दर्य पर ही केन्द्रित होकर रह जावे। विहारी की इस प्रकार की कमी प्राय. कही नही आने पाई है। निम्नलिखित दोहा लीजिये —

रससिंगार मजनु किए, कजनु भजनु दैन।
अजनु रजनु हूँ विना खजनु गजनु नैन॥

यहाँ पर प्रत्येक शब्द पृथक् है। माधुर्य का सर्वाधिक उपजीवक 'न' अपनी छटा दिखला रहा है। र वर्ण तीन वार आया है। एक वार तो अनुनासिक से युक्त है ही, शेष दो वार भी ह्रस्व होने के कारण माधुर्यानुगुण ही है। साथ ही नेत्रो का

सौन्दर्य-वर्णन भी माधुर्य से अभिभूत नही होता। दूसरा उदाहरण लीजिये —

अरुन-बरन तरुनी-चरन अँगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरँगु रँगु सी मनौ चपि बिछियनु कैं भार॥

यहाँ पर समास का अभाव और तीन-तीन वर्णों के शब्दमाधुर्यानुगुण शब्दो का उपादान पैरो की कोमलता तथा लालिमा को प्रत्यक्ष रूप मे सामने उपस्थित कर देता है। बिहारी एक से वर्णों का प्रयोग करने मे सिद्धहस्त है। दो-एक उदाहरण लीजिये —

(१) औरैं ओप कनीनिकनु गनी घनी-सिरताज।
मनी धँनी के नेह की बनीं छनीं पट लाज॥
(२ कज नयनि मजनु किए, बैठी ब्योरति बार।
कच अँगुरिनु विच दीठि करि चितवति नंदकुमार॥
(३) झीनैं पटमैं झुलमुली झलकति ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिन्धु मैं लसति सपल्लव डार॥

पण्डितराज ने माधुर्य गुण के उपयुक्त भाव के लिये वर्ण-सयोजना के कुछ नियम बनाये है। पण्डितराज ने लिखा है कि जिस रचना मे टवर्ग को छोडकर शेष वर्गों के प्रथम-तृतीय वर्ण, शर् तथा अन्त स्थ सम्मिलित हो, अनुस्वार और पर-सवर्णों का निकट निकट प्रयोग किया गया हो, जिसमे शुद्ध अनुनासिक वर्ण शोभित हो रहे हो, जिसमे निषिद्ध वर्ण सम्मिलित न हो, सयुक्त वर्णों का प्रयोग भी न किया गया हो, जिसमे समास या तो बिल्कुल न हो या अत्यल्प हो, इस प्रकार की रचना माधुर्य की अभिव्यजक होती है। वर्ग के द्वितीय-चतुर्थ वर्ण माधुर्य गुण के अनुकूल नही पडते और यदि दूर दूर सन्निविष्ट किये गये हो तो प्रतिकूल भी नही पडते। यदि अत्यन्त निकट-निकट उनका प्रयोग किया गया हो तो प्रतिकूल हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त पण्डितराज ने उन वर्णों को भी गिनाया है जिनसे माधुर्य गुण अपहृत हो जाता है। पण्डितराज ने लिखा है कि निषिद्ध वर्ण दो श्रेणियो में विभक्त किये जा सकते हैं, एक तो सामान्य रूप मे निषिद्ध और दूसरे विशिष्ट गुण के अनुसार निषिद्ध। सामान्य रूप से निषिद्ध वर्णों के विषय मे पण्डितराज ने लिखा है कि यदि एक ही वर्ण एक ही पद मे बिना किसी व्यवधान के दो बार आता है तो वह अश्रव्य हो जाता है क्योकि जिस करण तथा प्रयत्न से एक वर्ण का उच्चारण किया जाता है उसी करण तथा प्रयत्न से उसी वर्ण का पुन उच्चारण करने मे कुछ अटकाहट का अनुभव अवश्य होता है। यदि इस प्रकार के वर्ण अधिक बार प्रयुक्त होते है तो और अधिक अश्रव्यता आ जाती है। भिन्नपदगत भी यदि एक ही वर्ण दो बार आता है तो वह अश्रव्य ही होता है और यदि अधिक बार आता है तो और भी अधिक अश्रव्य होता है। इसी प्रकार स्ववर्ग के ही किसी समान वर्ण का एकपदगत या भिन्न पदगत होना अश्रव्य हो जाता है और अधिक बार प्रयोग हो तो और अधिक अश्रव्य हो जाता है। इन नियमो के कुछ अपवाद भी हैं। पचम वर्ण मधुरतर

होता है। अतएव उसका दो बार अनन्तर प्रयोग तो निषिद्ध होता है किन्तु अपने वर्ग के साथ उसका प्रयोग निषिद्ध नही होता। दूसरी बात यह है कि यदि इन वर्णों के बीच मे गुरु मात्रा विद्यमान हो तो अश्रव्यता जाती रहती है। 'अ' इत्यादि का सयोग अश्रव्य होता है और सयुक्त वर्ण तो प्राय सभी अश्रव्य होते हैं किन्तु परसवर्ण द्वारा जो अनुनासिक वर्ण जुडता है उसमे अश्रव्यता नही आती। इन दोषो से काव्य पगुवत् हो जाता है। अतएव इन दोषो को सामान्यतया काव्यमात्र मे छोड देना चाहिये। इनके अतिरिक्त पण्डितराज ने विशेष रूप से मधुर रस मे वर्जनीय वर्णों को भी गिनाया है। मधुर रस मे दीर्घ समास तो सामान्यतया वर्जित है ही। इसके अतिरिक्त पचम वर्णों को छोडकर अन्य स्पर्श वर्णो का सयोग, तथा 'र' और 'ह' मे किसी एक का सयोग बार बार प्रयुक्त नही होना चाहिये। पचम-भिन्न दो सवर्ण स्पर्शों का सयोग तथा शर् को की छोडकर अन्य महाप्राण वर्णों का सयोग यदि एक बार भी प्रयुक्त किया जावे तो अश्रव्य हो जाता है।

यदि उपर्युक्त दृष्टिकोण से विचार किया जावे तो ज्ञात होगा कि बिहारी-सतसई का प्रत्येक दोहा पण्डितराज की माधुर्य की परिभाषा से नितान्त आबद्ध है। पूरी सतसई पढने पर उक्त नियमो के केवल दो ही चार अतिचार मिलते हैं। बिहारी सतसई का कोई भी दोहा यदि उक्त कसौटी पर कसा जावे तो पूर्ण रूप मे खरा उतरेगा। जो दो चार अतिचार प्राप्त भी होते हैं वे भी इतने अधिक अश्रव्य नही है। 'न' या 'व' का स्वानन्तर्य अश्रव्य माना गया है और बिहारी सतसई मे वह दो-एक बार पाया भी जाता है तथापि उसकी अश्रव्यता उस समय और अधिक बढ जाती है जब तीन-चार बार निरन्तर उसका प्रयोग हो। ऐसा बिहारी सतसई मे कही नही मिलता। सयुक्त वर्ण बहुत ही कम प्रयुक्त किये गये हैं और जहाँ जहाँ सयोग है भी वहाँ भी निषिद्ध सयोग नही हैं। 'जोवन नृपति प्रवीन' मे 'न' का स्वानन्तर्य अश्रव्य अवश्य है। किन्तु 'न' का स्वानन्तर्य होने के कारण उसमे वैसी अश्रव्यता नही आने पाई है। इसी प्रकार 'प्र' सयुक्त वर्ण अवश्य है, किन्तु पण्डितराज के अनुसार दीर्घ के बाद सयुक्त वर्ण अश्रव्य होता है ह्रस्व के बाद नही। बिहारी ने सम्भवत कही भी दो निरनुनासिक स्पर्शों का सयोग नही किया है। यदि कही सयोग पाया भी जाता है तो ऊष्म और अन्तस्थो का सयोग उनमे प्राय: रहता है। श्रुति मे अन्तस्थ और ऊष्म का सयोग है और 'ज्यो ज्यो' मै स्पर्श तथा अन्तस्थ का सयोग अनुस्वार के व्यवधान मे प्रयुक्त हुआ है। 'हूठ्यो' मे भी स्पर्श का अन्तस्थ से सयोग हुआ है। ह् का सयोग सर्वथा निषिद्ध है। उसका प्रयोग बिहारी ने केवल रह्यो और लह्यो मे किया है तथा तर्यौना मे र् का सयोग है, किन्तु एक तो इनका सयोग अन्तस्थो से है जो इतना अश्रव्य नहीं होता, दूसरे जिस दोहे मे इनका प्रयोग किया गया है वह दोहा सूक्ति परक है, शृगार रस का दोहा नही है। अतएव माधुर्य गुण के लिये अभीष्ट नियम वहाँ पर लागू भी नही होते। इसी प्रकार 'स्याम' और ह्वै है इत्यादि सयोगो के विषय मे भी समझना चाहिये। 'चित्र' मे 'त्र' का प्रयोग

किया गया है किन्तु 'त्र' का अन्य वर्णों से सयोग निषिद्ध है।* इस प्रकार बिहारी की भाषा पण्डितराज के द्वारा निर्दिष्ट किये हुए नियमो मे बहुत कुछ बधी हुई है और माधुर्य गुण के सर्वथा अनुकूल है। इस प्रकार की माधुर्य-गुणमयी भाषा शृंगार रस की अभिव्यजना के लिये सर्वथा उपयुक्त है। यही कारण है कि हम जो कहते हैं कि बिहारी की भाषा मे बिहारीपन छिपा हुआ है, उसका यही रहस्य है।

शब्दालकार

आचार्यों ने शब्दालकार के प्रयोग मे विशेष सावधानी बरतने का निर्देश किया है। मधुर वर्णों का अनुप्रास शृंगार रस का उपकारक होता है, किन्तु निरतर आने वाला अनुप्रास शृंगार रस का उपघातक हो जाता है। अतएव अनुप्रास के प्रयोग की मात्रा उचित ही होनी चाहिए

आनन्दवर्धन ने कहा है—

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्व विप्रलम्भे विशेषत ॥

जहाँ पर वाच्य वाचक के सहकार से शृंगार रस ध्वनि काव्य की आत्मा के रूप में प्रकाशित हो रहा हो वहाँ यमक, शब्द श्लेष इत्यादि का निबन्धन सर्वथा रसोपघातक होता है। अतएव समर्थ होते हुए भी कवि उसके निबन्ध मे प्रमाद कर ही जाता है। यह बात विप्रलम्भ शृंगार मे और अधिक ध्यान रखनी चाहिए। बिहारी की शब्दालकार योजना की यह विशेषता है कि कही भी अलकार के कारण रसभग नहीं हो पाया है। अनुप्रास के कतिपय उदाहरण देखिए—

नभ लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली, आली, अनत, आए बनमाली न ॥

यहाँ पर लाली, चाली काली, पाली, आली, माली इन ६ शब्दो का एक सा प्रयोग किया गया है किन्तु उससे नायिका की विरह-व्यथा की विवृति मे कोई बाधा नही पड़ती। इसी प्रकार—

चमक, तमक, हासी, ससक, मसक, झपट लपटानि।
ये जिहिं रति, सो रति मुकुति, और मुकुति अति हानि ॥

यहाँ पर अनुप्रास के प्रशस्त प्रयोग से रति की विभिन्न दशाओं का चित्रण रति की विशेषता का और अधिक व्यजक हो जाता है। इसी प्रकार—

(१) मुहु धोवति, एड़ी घसति, हँसति, अनगवति, तीर।
घसति न इन्दीवर नयनि कालिन्दी के नीर ॥

(२) सहज सचिक्कन, स्यामरुचि, सुचि, सुगन्ध सुकुमार।
गनतु न मनु पथ, अपथ, लखि बिथुरे सुथरे बार ॥

बिहारी के अनुप्रासो में एक विशेषता यह भी है कि इन्होंने सर्वत्र पतत्प्रकर्षता को बचाने की चेष्टा की है। यदि अनुप्रास प्रथम पाद से चला है तो उसी रूप में अन्त तक पहुँचा दिया गया है। यदि कही व्यवधान भी हो गया है तो भी चतुर्थ पाद मे

अनुप्रास पुन आ ही जाता है। अधिकतर बिहारी के अनुप्रास उत्तरदल में आते हैं और इस प्रकार अपना अन्तिम प्रभाव सुन्दरता के साथ छोड जाते है। कहीं-कहीं इन्होने महाप्राण वर्णों का भी अच्छा अनुप्रास प्रयुक्त किया है —

सटपटाति सैं ससिमुखी मुख घूँघट पटु ढाँकि।
पावक-झर सी झमकि कै गई झरोखा झाँकि॥

इसमे प्रथम पाद सदोप है। एक तो मुख शब्द पुनरुक्त है, दूसरे स का आनन्तर्य भी नियम विरुद्ध है। किन्तु उत्तरार्ध मे झ का अनुप्रास सुन्दर बन पडा है। यद्यपि महाप्राण वर्णों का अनुप्रास भी निपिद्ध ही माना जाता है तथापि बिहारी ने बडी ही कुशलता के साथ दो-दो वर्णों के व्यवधान से झ को रखा है। इसी प्रकार—

पलनु प्रगटि, वरुनीनु बढि, नहिं कपोल ठहरात।
अँसुवा परि छतिया, छिनकु छनछनाइ छिपी जात॥

यहाँ पर छ का अनुप्रास भी व्यवहित रूप मे ही आया है। केवल छनछनाइ मे छ दो वार एक वर्ण के व्यवधान मे आ गया है किन्तु न से चारो ओर से घिरे होने के कारण अश्रव्य नही हुआ है। 'छ' के अनुप्रास का दूसरा उदाहरण—

डर न टरै, नीद न परै, हरै न काल-विपाकु।
छिनकु छाकि उछकै न फिरि खरौ विपमु छवि छाकु॥

इस प्रकार बिहारी ने अनुप्रास का स्वच्छन्द प्रयोग किया हैं। किन्तु निर्वाह भी इस रूप मे कर दिया है कि न अश्रव्यता आने पाई है और न रसोपघात ही हुआ है।

बिहारी ने यमक का प्रयोग भी पर्याप्त रूप मे किया है। किन्तु कही प्रमाद दिखलाई नही देता। काव्यप्रकाशकार ने पाद-वृत्ति और पादाश-वृत्ति के द्वारा उसके अनेक भेद माने हैं। बिहारी ने भी अनेक रूपो मे यमक का प्रयोग किया है। कभी-कभी तत्काल आवृत्ति होती है, जैसे —

विधि, विधि कौन करै, टरै नहीं परैं हूँ पानु॥

यहाँ पर प्रथम 'विधि' शब्द का अर्थ दैव है और द्वितीय विधि शब्द का अर्थ उपाय है। इस यमक की तृतीय पाद मे आने वाले 'चितै, कितै' के अनुप्रास से ससृष्टि होती है। इसी प्रकार —

'कनकु कनक तैं सौगुनौ मादकता अधिकाइ'

मे प्रथम कनक शब्द स्वर्ण का वाचक है और द्वितीय कनक शब्द धतूरे का वाचक है। कही-कही व्यवधान से भी यमक होता है —

वरजीते सरमैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनानु तैं हरि नीके ए नैन॥

यहाँ पर प्रथम पाद का मैन दूसरे पाद मे दिखलाई देता है, अतएव यहाँ पर मुख नामक यमक है। द्वितीय दल मे तृतीय पाद के नैन शब्द को चतुर्थ पाद मे

आवृत्ति होती है, अतएव यहाँ पर पुच्छ नामक यमक है। दोनो के सयोग से युग्मक नाम का यमक बन गया है।

तोपर वारौं उरवसी, सुनि, राधिक सुजान।
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरवसी समान।।

यहाँ पर प्रथम पाद का उरवसी शब्द तृतीय पाद मे आवृत्त होकर सदेश नामक यमक को बनाता है और चतुर्थ पाद मे आवृत्त होकर आवृत्ति नामक यमक को बनाता है। यद्यपि इस दोहे मे तीन पादो मे यमक के होने से दोष विद्यमान है तथापि दो प्रकार के यमको की एक ही शब्द मे ससृष्टि प्रशस्त है।

बिनती रति बिपरीत की करी परसि पिय पाइ।
हसी, अनबोलैं ही दियौ उतरु दियौ बताइ।।

यहाँ पर 'दियौ' मे भी पुच्छ नामक यमक है—

जब जब वे सुधि कीजियै तब तब सब सुधि जाँहिं।
आँखिनु आँखि लगी रहैं आखैं लगति नाँहिं।।

यहाँ यमक की विरोधाभास से अच्छी ससृष्टि है। 'आँखि' शब्द का तीन बार प्रयोग हुआ है। बिहारी के अधिक यमक तृतीय तथा चतुर्थ पाद गत ही हैं। उदाहरण—

केसरि कै सरि क्यौं सकै, चपकु कितकु अनूपु।
गात रूपु लखि जातु दुरि जातरूप कौ रूपु।।

यहाँ पर रूप शब्द मे यमक और लाटानुप्रास की ससृष्टि है।

लाज गहौ, बेकाज कत घेरि रहे घर जाँहि।
गो-रसु चाहत फिरत हौ, गोरसु चाहत नाँहि।।

यहाँ 'गोरसु' मे भी यमक है और 'चाहत' मे भी यमक है। प्रथम गोरसु का अर्थ इन्द्रिय रस है और द्वितीय गोरस का अर्थ दूध-दही इत्यादि है। इसी प्रकार प्रथम 'चाहत' का अर्थ देखना या तलाश करना है और दूसरे 'चाहत' का अर्थ इच्छा करना है।

कौहरु सी एडीनु की लाली देखि सुभाइ।
पाइ महावरु देइ को आपु भई बे-पाइ।।

यहाँ पर 'पाइ' शब्द मे यमक है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।

यमक के अतिरिक्त बिहारी ने लाटानुप्रास का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। निम्नलिखित दोहो मे लाटानुप्रास पाया जाता है—

चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि।
ए जिहिं रति, सो रति मुकति और मुकति अति हानि।।

यहाँ पर रति तथा मुकुति शब्दो के प्रयोग मे केवल तात्पर्य का ही भेद है। इसी प्रकार—

(१) छिनकु उघारति, छिनु छुवति, राखति छिनकु छिपाइ।
सबु दिन पिय खंडित अधर दरपन देखत जाइ।।

(२) रूप-सुधा-आसव छक्यौ, आसव पियत बनै न।
(३) कहूँ दीठि लागी लगी कै काहू की दीठि।
(४) पतिनु राखि चादरि चुरी तैं राखी जयसाहि॥
(५) फिरै दीठि जुरि दीठि सौं सबकी दीठि बचाइ।

बिहारी ने श्लिष्ट शब्दो का प्रयोग भी स्वाभाविक तथा सुन्दर किया है—'तौ बाँधिय अपने गुननु' मे 'गुननु' का श्लेप बहुत ही स्वाभाविक है। इसी प्रकार 'नेह भरे हिय राखिये' मे नेह का श्लेष स्वाभाविक रूप मे ही प्रयुक्त हुआ है। निम्नलिखित दोहे में श्लेष कुछ क्लिष्ट हो गया है :—

अजौ तर्यौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतनु कैं संग॥

सब बातो पर विचार करते हुए बिहारी की काव्य-भाषा परिमार्जित, शुद्ध तथा रमणीय है, इसमे व्यजना की पर्याप्त क्षमता है और प्रसाद गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। कही-कहीं बिहारी की भाषा सदोष भी हो गई है, जिस पर दोष प्रकरण मे विचार किया जावेगा, तथापि बिहारी शुद्ध तथा साहित्यिक ब्रजभाषा लिखने में पूर्ण रूप से कृतकार्य हुए है, इसमे सन्देह नही।

सप्तम अध्याय

बिहारी का आलोचनात्मक अध्ययन

बिहारी के काव्य का महत्त्व —बिहारी उन कवियो में एक है जो अपनी स्वल्पतम रचना के प्रभाव से ही केवल सहृदयो के ही नही अपितु कवियो के कवि बनने का भी गौरव प्राप्त कर लेते है। प्रबन्ध-काव्यो मे रामचरितमानस की जो प्रतिष्ठा है वही मुक्तक काव्य के क्षेत्र मे बिहारी सतसई को प्राप्त हुई है। किन्तु इन दोनो महान् ग्रन्थो के व्यापक प्रसार मे एक मौलिक अन्तर है। रामचरितमानस को अपने धार्मिक पुट के कारण सर्वसाधारण मे अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई पर बिहारी सतसई को अपनी रसात्मकता, कलात्मकता, ध्वनि तथा चमत्कार इत्यादि काव्य-तत्त्वो की प्रधानता के कारण कवियो तथा आलोचको को अपनी ओर आकर्षित करने का अधिक सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस सतसई की रचना के बाद से ही बहुत से लेखक सतसई की प्रतियाँ लिखकर जीविकोपार्जन करने लगे। सतसई[1] की प्रतियाँ बडे गौरव के साथ राजस्थान मे राजाओ, श्रीमानो और रसिक जनो के द्वारा ली जाती थी और पुरस्कार मे लेखको को पुष्कल धन प्रदान किया जाता था। इसके अतिरिक्त बहुत से कवि सतसई के दोहो को लेकर पद्य रचना करते थे। दूसरे कवि इन दोहो का दूसरी भाषाओ के पद्यो मे अनुवाद करते थे। बहुत से आलोचक सतसई पर टीकायें लिखते थे और इनमे रस, नायिका-भेद इत्यादि काव्य-तत्वो का विश्लेषण करते थे। दूसरे लोग सामान्य व्याख्यायें लिखकर उन पर पद्य-बद्ध शका समाधान किया करते थे। आधुनिक काल के प्रारम्भिक चरण मे जब नवीन शैली पर कवियो की आलोचना, परिचय और काव्य-विवेचन का युग प्रारम्भ हुआ तब भी बिहारी सबसे पहले क्षेत्र मे आये। हिन्दी आलोचना का प्रारम्भ देव और बिहारी की तुलना से ही हुआ था। उस समय देव और बिहारी की तुलना की बात सुनकर बहुत से हिन्दी के प्रतिष्ठित आचार्यों को आश्चर्य हुआ था। वास्तव मे देव पहली बार ही आलोचना के क्षेत्र मे इतने प्रतिष्ठित पद पर आसीन हो सके थे। इसके पहले ये साहित्य-जगत् मे अज्ञातप्राय थे। दूसरी ओर बिहारी के विषय मे एक पूरा साहित्य तैयार हो चुका था तथा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जैसे लब्ध-प्रतिष्ठ युग-प्रवर्तक महाकवियो तक ने बिहारी के दोहो पर अनुवादात्मक पद्य लिखकर अपनी वाणी को कृतार्थ करने की चेष्टा की थी। बिहारी के विषय मे जितना साहित्य मध्यकाल तथा आधुनिक काल के प्रारम्भ तक लिखा जा चुका था उतना हिन्दी के किसी दूसरे कवि के विषय मे नही लिखा गया। हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य तथा चन्द्र-सूर तथा तुलसी भी इसके अपवाद नही है। अपनी धार्मिक भावना,

१. देखो बिहारी रत्नाकर की भूमिका।

रसात्मकता तथा चमत्कारपूर्ण शैली के कारण ये कवि शीघ्र ही सर्वसाधारण के हृदय-सम्राट बन गये थे। किन्तु इन महाकवियो ने कवि-जगत् को इतना अधिक आकर्षित नही कर पाया था जितना कि बिहारी ने किया। ये महाकवि बिहारी के समान कवियो के कवि नहीं बन सके। यदि केवल इसी दृष्टि से विचार किया जावे तो बिहारी हिन्दी साहित्य के सर्वोत्तम कवि कहे जाने के अधिकारी हैं। काव्य-जगत् पर बिहारी के प्रभाव का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि इनकी रचना के बाद इनकी प्रतिष्ठा से प्रभावित होकर अनेक कवि इन्ही के आदर्श पर कविता करने लगे और शताब्दियो से चली आती हुई भक्ति-परम्परा के स्थान पर हाल के द्वारा चलाई हुई प्राकृत-जनविषयक रसात्मक मुक्तक-परम्परा का अबाध प्रसार हो गया और इन्ही के आदर्श पर कविता लिखी जाने लगी। बिहारी के दोहों को लेकर कुडलिया, कवित्त, सवैया तथा भाषान्तर के पद्य लिखने वाले बिहारी के जितने आभारी हैं उस से कम आभारी रीतिकाल के दूसरे कवि भी नही है जिन्होने बिहारी के द्वारा प्रतिष्ठित किये हुए मार्ग पर ही अपनी रचनायें प्रस्तुत की हैं। यद्यपि इस प्रकार की रचनायें प्राय प्रत्येक काल मे लिखी जाती रही हैं और जो परम्परा एक बार प्रतिष्ठित हो जाती है उसका अत्यन्ताभाव तो कभी होता ही नहीं तथापि उन कवियो की वाणी भक्ति के प्रवाह मे दबी रही थी तथा उसका इतना प्रभाव काव्य-जगत् पर नही पड सका था कि उसके आधार पर पुरानी परम्परा पुनरुज्जीवित हो जाती। यह कार्य बिहारी की रचना से सम्पन्न हुआ। आचार्य शुक्ल ने रीतिकाल के प्रवर्तन का श्रेय चिन्तामणि त्रिपाठी को दिया है और बिहारी-सतसई के दोहो की रीतिबद्धता के आधार पर यह सिद्ध किया हैं कि बिहारी ने अलकारशास्त्रीय लक्षणो के उदाहरणो को प्रस्तुत करने के लिये सतसई की रचना की थी तथा इसी तर्क के आधार पर बिहारी को रीति-ग्रन्थकार कवियो मे स्थान दिया। यदि इस तर्क के आधार पर बिहारी रीति-ग्रन्थकार कवि माने जा सकते हैं तो इस बात मे कोई सदेह नही रह जाता कि रीति-काल के प्रवर्तक चिन्तामणि त्रिपाठी नहीं बिहारी थे। एक तो चिन्तामणि त्रिपाठी अपने जीवन काल मे इतने प्रख्यात नही हो सके थे कि उनका आदर्श मानकर किसी युग का प्रवर्तन हो सकता। दूसरी बात यह है कि बिहारी चिन्तामणि त्रिपाठी के समसामयिक होते हुए भी इनसे कुछ पुराने थे। आचार्य शुक्ल ने बिहारी का जन्म १६६० माना है और श्री त्रिपाठी जी का जन्म १६६६ माना है। इसी प्रकार श्री त्रिपाठी जी का कविकुल-कल्पतरु १७०७ मे प्रकाशित हुआ था जबकि बिहारी सतसई १७०४ मे पूर्ण हो चुकी थी।[1] यदि बिहारी के किसी लक्षण ग्रन्थ के अभाव मे इन्हें रीति-ग्रथकार का विशेषण प्रदान न किया जावे तथापि अग्रिम युग के काव्य पर तो बिहारी की अमिट छाप विद्यमान है ही। इसमे किसी को भी विप्रतिपत्ति हो ही नही सकती। इस प्रकार बिहारी युग प्रवर्तक कवि कहलाने के सर्वथा अधिकारी है इसमे सदेह नही।

१. हिंदी साहित्य का इतिहास।

विहारी की इस अप्रतिम प्रतिष्ठा तथा प्रख्याति का कारण क्या है ? विहारी सतसई मे आनन्द का सागर लहराता है। मनोभावनाओ की जैसी सुन्दर अभिव्यक्ति विभावादि के माध्यम से की गई हैं वह विरले ही रस-सिद्ध कवियो को प्राप्त हो सकी है। विहारी ने परम्परावाही काव्य की अन्तरात्मा को पूर्ण रूप से समझने की चेष्टा की थी और मुक्तक काव्य के क्षेत्र मे प्रचलित चारों प्रकार की परम्पराओ पर प्राय सभी प्रकार की रचना प्रस्तुत करने की सफल चेष्टा की। इस मे शास्त्रीय परम्परा के भी आधार पर प्राय समस्त उदाहरण मिल जाते है और वस्तुमूलक परम्परा के अनुसार भी इसका क्षेत्र जितना व्यापक है उसकी कविता मे भावनाओ की अभिव्यक्ति की उतनी ही गहराई है। आनन्दवर्धन ने लिखा है कि कवियो की अनन्त परम्परा मे दो ही चार कवि महाकवि का पद प्राप्त कर पाते हैं। महाकवि का पद केवल अभिव्यजना की विशिष्टता के आधार पर ही प्राप्त होता है। विहारी ने अपनी सूक्ष्मदर्शिनी प्रतिभा के प्रसार से मुक्तक काव्य-जगत् के समस्त तत्त्वो को अवगत कर लिया था और अपनी कारयित्री प्रतिभा के द्वारा उसको अभिव्यक्त करने मे पूर्ण सफलता प्राप्त की। चाहे अविवक्षितवाच्य हो, चाहे विवक्षितान्यपरवाच्य हो, चाहे सलक्षय-क्रम व्यग्य हो, चाहे शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि हो, चाहे अर्थशक्तिमूलक ध्वनि हो, विहारी सतसई मे हमे सभी के दर्शन होते है। दूसरी ओर शृगार रस की उदात्त तथा परिष्कृत भावना के क्षेत्र मे सभी प्रकार के नायक भेद, नायिका भेद, नख शिख, सौन्दर्य चित्रण, हाव, नायिकाओ के काव्यशास्त्रीय अलकार, अनुभावो का विस्तार, सात्विक भाव, ३३ प्रकार के सचारीभाव, दूती सप्रयोग, सखी, सयोग, वियोग इत्यादि सभी तत्वो का समावेश पाया जाता है। इसके साथ ही साथ अन्य रसो के चलते हुए उदाहरण भी दे दिये गये है। धार्मिक काव्य के क्षेत्र मे एक ओर स्तोत्र परम्परा का आश्रय लिया गया है और दूसरी ओर आत्म-निवेदन की उच्च कोटि की भावनायें पायी जाती हैं। आध्यात्मिक तत्व का भी इस प्रशस्त रचना मे पर्याप्त समावेश किया गया है। सूक्ति काव्य की दिशा मे विहारी ने धर्म, अर्थ और काम के समन्वय के साथ जीवन निर्वाह के सुखकर और स्वस्थ दृष्टिकोण का उपदेश दिया है। यद्यपि प्रशस्ति-काव्य का वैसा विस्तार और उतनी अत्युक्तिपूर्ण रचनायें विहारी की कविता मे विद्यमान नही हैं तथापि उनका सर्वतोभावेन अभाव भी नहीं है। विहारी की मुक्तक रचना ही ऐसी है जिसमे सम्भवत एक भी पद्य चमत्कार-विधान से निर्मुक्त उपलब्ध नही होता और शायद ही कोई ऐसा दोहा हो जिसमे अलकार योजना प्रतिपाद्य वस्तु के अलकरण मे मन्थर हो अथवा अलकरण का कार्य न कर रही हो। ऐसा दोहा शायद ही कोई उदधृत किया जा सकता है जिसमे अलकार ही उपास्य हो। इस प्रकार विहारी ने ठीक अर्थ मे अलकारो का प्रयोग किया है। इनकी रचना मे शब्दों का प्रयोग बहुत ही समीचीन रूप मे हुआ है। इतनी कसी हुई सुगठित रचना

मे अधिक-पदता की तो सम्भावना की ही नही जा सकती, आश्चर्य यह है कि न्यून-पदता भी सम्भवत कही नही आई है। भाषा चलती हुई ब्रज भाषा है जिसमें लोकोक्तियो और मुहावरो का बहुतायत से प्रयोग किया गया है। भाषा मे माधुर्य और प्रसाद गुण अत्यधिक मात्रा मे विद्यमान हैं और शब्दालकारो का प्रयोग बहुत ही उचित मात्रा मे किया गया है। रत्नाकर ने लिखा है कि बिहारी ने ब्रजभाषा के अपने समय तक प्रचलित सभी प्रयोगो पर ध्यान देकर उनमे से समीचीन तथा सगत प्रयोगो को अपनी भाषा के लिये चुन लिया था। इस प्रकार उन्होने अपना एक स्वतन्त्र व्याकरण बनाकर भाषा को परिष्कृत करने की चेष्टा की थी। रत्नाकर का कहना है कि उन्होने अपनी स्वीकृत भाषा के निमित्त जो नियमावलिया अपनी भाषा के लिये निर्धारित की थी, उनका उल्लेख नही किया। यदि वे ऐसा कर जाते तो ब्रजभाषा का एक बडा सुन्दर और उपयोगी व्याकरण बन जाता। रत्नाकर ने उन नियमो को खोज निकालने की पर्याप्त चेष्टा की और अपने 'कविवर-बिहारी नामक ग्रन्थ मे भाषा के बिहारी सम्मत रूपो के साथ-साथ प्राचीन परम्परा के रूपो पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला। साथ ही उन्होने यह भी आश्वासन दिया कि बिहारी के व्याकरण पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा जावेगा जिसमें उन सभी नियमावलियो का उल्लेख किया जावेगा। किन्तु काल के निष्ठुर प्रहार से उनकी यह मनोवाञ्छा पूरी न हो सकी और पाठकों को पुन उस उपयोगी व्याकरण से वचित ही रह जाना पडा।

उपर्युक्त सक्षिप्त उपसहारात्मक परिचय से निष्कर्ष निकलता है कि चाहे ध्वनि काव्य की दृष्टि से देखे, चाहे रस-परिपाक की दृष्टि से विचार करें और चाहे अलकार योजना को लें, बिहारी का काव्य सभी दिशाओ में पूर्णता को पहुँचा हुआ है। इन्होने भाषा का परिष्कार भी किया, व्यजक भाषा भी लिखी, इनकी भाषा मे माधुर्य और प्रसाद गुणो के साथ अनुप्रास, यमक और श्लेष जैसे अलकारो का उपयुक्त मात्रा मे समावेश पाया जाता है। वस्तुमूलक मुक्तक काव्य-परम्परा के समस्त भेदोपभेदो का इनकी रचना मे समावेश हुआ है। इन समस्त तत्वो ने मिलकर बिहारी सतसई को काव्य-जगत् का मूर्धन्य बना दिया जिसके प्रभाव से एक ओर काव्य-मर्मज्ञ साधारण जनता मे बिहारी सतसई रखने का मोह उत्पन्न हो गया और बिहारी सतसई अनेक लेखको की जीविका का साधन बन गई, दूसरी ओर कवियो और आलोचको ने समान रूप से इस सतसई को महत्त्व प्रदान किया। बिहारी की प्रशस्त कृति को लेकर अनेक महत्त्वपूर्ण काव्य ग्रथ, टीका ग्रथ तथा आलोचना ग्रथ तैयार हुए। इन्ही का यह प्रभाव था कि कई शताब्दियो से परिनिष्ठित तथा प्रतिष्ठित भक्ति की काव्य-धारा को छोडकर कवि गण रीति बद्ध शृगारिक रचना मे प्रवृत्त हुए और हिन्दी साहित्य का रीति युग प्रवृत्त हो गया। यह है बिहारी के महत्त्व का सक्षिप्त सिंहावलोकन।

काव्य के उपादान

आचार्यों ने काव्य के तीन उपादान माने है—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। प्रतिभा कवित्व को उत्पन्न करने वाला बीज रूप मे स्थित एक सस्कार है। (देवा-राधानादि से भी एक प्रकार के अदृष्ट की उत्पत्ति होती है, यही सस्कार शक्ति और प्रतिभा के नाम से अभिहित किया जाता है।) इस कवित्व शक्ति के अभाव मे प्रथम तो काव्य का उद्भव और विकास ही सम्भव नहीं और यदि सम्भव भी हो तो भी इतना बुरा बनेगा कि सहृदय लोगो के समक्ष सर्वथा उपहास के योग्य ही होगा। अतएव साधारणतया काव्य-रचना के लिए और विशेष रूप से उत्कृष्ट काव्य रचना के लिए इस कवित्व-शक्ति का होना अनिवार्य है।

काव्य का दूसरा उपादान है निपुणता जो कि पदार्थों के अवहित होकर अध्ययन करने से प्राप्त होती है। इस निपुणता को प्राप्त करने के लिए सभी प्रकार के लौकिक पदार्थों के अध्ययन करने की आवश्यकता होती है, चाहे वे जड़ हो या चेतन। इसी प्रकार शास्त्रों के अध्ययन की भी आवश्यकता है—जिस मे व्याकरण, नामार्थ-कोश, चौसठ कला, रामायण, महाभारत इत्यादि ग्रथ अन्तर्भूत हो जाते है। चतुर्वर्ग का ज्ञान होना भी आवश्यक है जिसमे निम्नलिखित विषय आते हैं—

(१) धर्म शास्त्र जिस के अन्तर्गत जैमिनि प्रणीत पूर्वमीमासा और मनु, याज्ञवल्क्य प्रणीत स्मृति ग्रथ आ जाते हैं।

२—अर्थशास्त्र—जैसे गर्ग, भार्गव और भरत इत्यादि के रचे हुए नीति-शास्त्र के ग्रथ।

३—काम शास्त्र जैसे—वात्स्यायन मुनि प्रणीत कामसूत्र इत्यादि।

४—मोक्ष शास्त्र—जैसे व्यास, कपिल, कणाद रचित वेदात, साख्य, न्याय इत्यादि दर्शन। कवि को गज विज्ञान, अश्व विज्ञान, अस्त्र विज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक, गणित इत्यादि शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। उसे अलकारशास्त्र के लक्ष्य-लक्षण ग्रथो का जानना अनिवार्य होता है और साथ ही वाल्मीकि कालिदास प्रभृति महाकवियो के लिखे हुए महाकाव्यों का ज्ञान भी आवश्यक होता है। इस प्रकार इन सब लोक-शास्त्र और काव्यो के सतत परिशीलन से जो योग्यता उत्पन्न होती है, वही काव्य निपुणता के नाम से अभिहित की जाती है और वह काव्य क्रिया मे कारण होती है।

जो लोग काव्य-रचना करना जानते है अथवा जिन मे काव्य के भले-बुरे का निर्णय करने की विचार-शक्ति विद्यमान है उनके उपदेश मे काव्य-रचना करने मे और कविता मे शब्दो के सयोजन की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है तथा बार-बार पुरानी कृति को हटा कर उसके स्थान मे नवीन रचना करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि कुछ आचार्य निपुणता की अपेक्षा प्रतिभा को ही महत्त्व देते हैं। इनके मत मे जिन लोगो मे कविता करने की शक्ति है, उनमे यदि

निपुणता न भी हो तब भी शक्ति के बल पर वे किसी विषय का इतना सुन्दर प्रतिपादन कर सकते हैं कि सुनने और पढने वाले चमत्कृत हो जाते हैं। इस लिये कहा गया है .—

अव्युत्पत्तिकृतो दोष शक्त्या सव्रियते कवे ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झटित्येवावभासते ॥

"व्युत्पत्ति की कमीसे जो दोष उत्पन्न होता है वह शक्ति से आवृत हो जाता है किन्तु प्रतिभा के अभाव का दोष तत्काल व्यक्त हो जाता है।" दूसरे लोगो का कहना है कि कविता में व्युत्पत्ति प्रधान होती है और व्युत्पत्ति के द्वारा अशक्ति का दोष आवृत हो जाता है। किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास तीनो के सयोग मे ही काव्यत्व का प्रशस्त प्रस्फुरण मानते है। जब तक कवि मे तीनो तत्त्व विद्यमान नही होते तब तक अनिन्दनीय काव्य बन ही नही सकता। इसी तत्त्व को अभिव्यक्त करने के लिए काव्यप्रकाशकार ने हेतु शब्द मे एकवचन का प्रयोग किया है जिसका आशय यह है कि तीनो तत्त्वों को मिलाकर काव्य की हेतुता सिद्ध होती है तथा एक के अभाव में भी प्रशस्त काव्य नही बन सकता।

बिहारी की प्रतिभा और अभ्यास

प्रतिभा नये-नये अर्थों के स्फुरण की शक्ति को कहते हैं। इससे एक ओर वर्ण्य विषय के अनुकूल शब्द योजना मे प्रवृत्ति होती है, दूसरी ओर अर्थ सम्पादन की दिशा में चमत्कार के आधान मे भी शक्ति आती है, इसी प्रकार अलकार योजना की विशेषता भी प्रतिभा के बल पर ही उत्पन्न होती है। प्रतिभा का सामान्य अर्थ यही है कि जो शक्ति हृदय मे नवीन तत्वों का प्रतिभास करने या उद्भावना करने मे समर्थ होती है उसे प्रतिभा कहते हैं। यह शक्ति बीज रूप मे प्राय सबके अन्दर विद्यमान होती है, किन्तु इसमे विशेषता का आधान अभ्यास के द्वारा हुआ करता है। अभ्यास से नवीन स्फुटित हुए अर्थों के अभिव्यक्त करने की शक्ति उत्पन्न होती है जिससे कवि अन्तस्तल मे उद्भूत हुए आशय को सहृदयो मे सक्रान्त करने मे समर्थ हुआ करता है।

बिहारी एक प्रतिभाशाली कवि थे और जैसा कि इनके जीवन चरित्र से अवगत होता है स्वामी नरहरिदास के आश्रय मे तथा इसके बाद भी ये निरन्तर कविता का अभ्यास करते रहते थे जिससे इनकी कविता लोकोत्तर चमत्कारकारिणी तथा सरसतापूर्ण बन गई। महाराज जयसिह अपनी अविकसित यौवना रानी के प्रेम-पाश मे फस गए—उनकी उस मोह निद्रा को बिहारी के एक ही प्रतिभा-स्फुरण ने तोड़ दिया था, यह बिहारी के प्रतिभाशाली होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। शिवा जी ने जयसिह को बहुत बडा पत्र लिखा था जिसमे मुगलो के प्रति उनके अनुचित पक्षपात की बात कही गई थी। उस पत्र का समस्त सार बिहारी ने एक दोहे मे

रख दिया है और साथ में चमत्कार की योजना भी बडे ही समीचीन रूप में कर दी गई है। सबसे बडी बात यह है कि बिहारी जयसिंह के दरबार मे ही रहते थे। अतएव उनके लिए यह अनिवार्य था कि वे राजा के प्रति पूर्ण शालीनता का निर्वाह करते। बिहारी के दोहे में सौहार्द के साथ राजा को प्रबोध भी दिया गया है और शालीनता की रक्षा भी की गई है तथा नम्र और कोमल शब्दो में मुगलो के प्रति महाराज जयसिंह के अनुचित पक्षपात की गर्हणा भी की गई है। दोहा निम्न-लिखित है —

स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु वृथा देखि, विहग विचारि।
बाज परायें पानि परि तूँ पच्छीनु न मारि॥

यहाँ पर बाज के द्वारा ही अपने ही वर्ग के पक्षियो को दूसरो के लिए मारने का सादृश्य जयसिंह के द्वारा मुगलो के लिए हिन्दुओ को मारने से स्थापित किया गया है। इस प्रकार के सादृश्य की स्थापना बिहारी की लोकोत्तर प्रतिभा की परिचायिका है।

प्राय सभी लोग जानते हैं कि दाहिनी ओर बिन्दु रख देने से दसगुना मूल्य बढ जाता है अथवा टेढी बकारी लगा देने से सामान्य अक रुपये का अर्थ देने लगता है। किन्तु नायिका के मस्तक मे बिन्दी से उसके अनन्त मूल्य का बढ जाना तथा टेढी लट के मुख पर आ जाने से उसका बहुमूल्य हो जाना हमारे बिहारी की प्रतिभा से ही ज्ञात होता है। हम सब जानते है कि जब दो व्यक्तियो मे प्रेम उत्पन्न हो जाता है तब कुटुम्ब की परवाह नही की जाती तथा दुष्ट लोग दूसरे के प्रेम को देखकर जलने लगते हैं। हम यह भी जानते है कि जब कोई डोरी उलझ जाती है तब वही टूटती है और वही जोडी जाती है तथा उसी मे गाँठ पडती है। सामान्य व्यक्ति दोनो तथ्यो मे सादृश्य स्थापित नही कर पाता। यह कवि की प्रतिभा का ही प्रसाद है कि दोनो तथ्यो को मिलाकर एक अभूतपूर्व असगति अलकार की सर्जना कर दी गई है —

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाठि दुरजन हियैं दई नई यह रीति॥

लोक मे जो रस्सी उलझती है वही टूटती है, वही जोडी जाती है और उसी मे गाठ भी पडती है। किन्तु प्रेम के क्षेत्र मे नायक और नायिका के नेत्र उलझते हैं, कुटुम्ब टूटता है, दोनो के चित्त मे प्रेम जुडता है और दुष्टो के हृदय मे गाठ पड जाती है। कितना वैलक्षण्य है ? यह विलक्षणता कवि प्रतिभा से ही अवगत हो सकती है।

नेत्रो को बाण कहने की परम्परा है किन्तु बिहारी ने अपनी प्रतिभा के बल पर उसमे चार चाँद लगा दिये हैं —

तिय कित कमनैती पढ़ी बिनु जिहि भौंह कमान।
चलु चित बेझैं चुकति नहिं बक बिलोकनि बान॥

विहारी की नायिका की धनुर्विद्या सामान्य नही है। सामान्य धनुर्धर तब तक बाण नहीं छोड सकता जब तक उसके धनुष में डोरी न हो। विहारी की नायिका की भौह ही कमान है किन्तु उसमे डोरी है ही नही, फिर भी बाण छूटता है। सामान्य धनुर्धर स्थिर लक्ष्य को वेधते हैं। यदि लक्ष्य थोडा बहुत हिल रहा हो तो उसको वेध देना धनुर्धर के कौशल की पराकाष्ठा है। विहारी की नायिका का लक्ष्य चचल मन है जिसकी तुलना विश्व के किसी चचल पदार्थ से नही हो सकती। यदि बाण जरा भी टेढा हो तो लक्ष्य नही वेध सकता किन्तु विहारी की नायिका की तिरछी चितवन ही बाण है जो सर्वदा टेढा ही है। फिर भी लक्ष्य वेध होता है। बिना डोरी की कमान, टेढा बाण और वेध्य लक्ष्य ससार का सर्वाधिक चंचल पदार्थ, फिर भी लक्ष्य-वेध होता है और सबसे बडे आश्चर्य की बात यह है कि अन्य धनुर्धर तो लक्ष्य-वेध मे कभी-कभी चूक भी जाते हैं किन्तु विहारी की नायिका कभी चूकती ही नही, लक्ष्य-वेध अवश्य कर देती है। ऐसा धनुर्धर कवि-प्रतिभा मे ही सम्भव है। विहारी ने एक नही, सैकडो उच्च कोटि के सादृश्य-विधान किये हैं, इनका एक भी दोहा चमत्कार से रहित नही है। इससे विहारी की उच्च कोटि की प्रतिभा का अनुमान लगाया जा सकता है।

एक से अनेक शब्दो का एक साथ रखना भी कवि-प्रतिभा का परिचायक है। सामान्य व्यक्ति कठिनता से एक आध अप्रस्तुत का योग प्रस्तुत के साथ कर सकता है जबकि कवि अपनी प्रतिभा के वल पर अनेक शब्दो को अनायास रखता जाता है और उस प्रसग मे वे सभी शब्द सगत हो जाते हैं। सरल स्वभाव की नायिका अधिक अच्छी नही लगती। नायिका का इठलाना और कुटिलता धारण करना ही उसकी सुन्दरता का कारण होता है। इसके सादृश्य-विधान के लिए विहारी ने अनेक शब्दो का सुन्दरता के साथ उपादान किया है —

गढ रचना, बरुनी अलक, चितवन भौंह कमान।
आघु बकईहीं चढ़ै, तरुनि, तुरगम तान॥

इसी प्रकार कलाओ मे पूर्ण आनन्द लेना ही जीवन की सार्थकता है इसका वर्णन करने मे कवि ने प्रस्तुतो की योजना सुन्दरता के साथ की है —

तन्त्री नाद, कवित्त रस, सरस राग रति रग।
अन बूड़े, बूड़े तरे जे बूड़े सब अग॥

रति काल की क्रियाओ का सघात भी दर्शनीय है —

घमक, तमक, हासी, ससक, मसक, झपट, लपटानि।
ए जिहिं रति, सों रति मुकति और मुकति अति हानि॥

इसी प्रकार देखा-देखी के अवसर की अनेक क्रियायें भी देखिए —

कहत, नटत, रीझत, खिजत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैननु ही सब बात॥

भावनाओ का सघात भी अनुपम है —

आलमु बारैं सोति कैं सुनि पर नारि विहार।
भौं रसु, अनरसु, रिस, रली, राफ़, खीफ़ इक बार॥

विहारी की अभिव्यक्ति तथा अलकार योजना भी इनकी प्रतिभा की प
परिचायिका है। कही-कही एक ही दोहे मे अनेक अभिव्यक्तियो के दर्शन होते
और कही एक ही दोहे मे अनेक अलकारो की पिटारी सी सजा दी गई है।
पर भी विशेपता यह है कि अलकारो के वाहुल्य के कारण कही भी रस-भग न
होने पाया है और न अलकार इतने प्रधान ही वन गये हैं कि उनसे रसास्वा
आच्छादित हो जाता। इस दिशा मे एक-दो उदाहरण पर्याप्त होगे। सर्वप्र
विहारी का मगलाचरण वाला दोहा लीजिए :—

मेरी भव वाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाया परैं स्याम हरित दुति होइ॥

इस दोहे मे रस, वस्तु और अलकार तीनो प्रकार की ध्वनियो का ए
समूह सा लगा हुआ है। सक्षेप मे इसके व्यग्यार्थों की व्याख्या निम्नलिखित प्रक
से की जा सकती है —

(१) शृगार रस ध्वनि —राधा आलवन, शरीर सौन्दर्य-उद्दीपन, मुख विका
रोमाच इत्यादि अनुभाव, हर्प, विस्मय, उत्साह, औत्सुक्य इत्यादि सचारी भाव इन
पुष्ट होकर कृष्णात्मक रति ने शृगार रस रूप धारण किया है।

(२) वीर रस ध्वनि —पाप आलवन, उसकी उत्कटता उद्दीपन, शरी
की चमक इत्यादि अनुभाव, हर्प, गर्व, अमर्प इत्यादि सचारी भाव, इनसे पु
होकर उत्साह स्थायी भाव ने वीर रस का रूप धारण किया है। इसी
साथ राधा की दानवीरता, धर्मवीरता और दयावीरता की भी ध्वनि मिलती हैं।

(३) वस्तु ध्वनि —दोहे से निम्नलिखित वस्तु-ध्वनियाँ निकलती है :—

(क) राधा का ध्यान ऐहलौकिक तथा पारलौकिक दोनो प्रकार के कल्या
का साधक है।

(ख) काव्य का परिशीलन ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनो प्रकार
कल्याणो का विधायक है। अतएव यही इस ग्रन्थ का प्रयोजन है।

(ग) इस ग्रन्थ मे राधाकृष्ण की प्रेम लीला को लेकर रचना की गई है ज
जयदेव, विद्यापति, सूरदास, चण्डीदास इत्यादि की परम्परा मे आती है।

(घ) राधाकृष्ण की प्रेम लीला का व्यजना व्यापार से कीर्तन ग्रन्थ का विषय
है, राधाकृष्ण की प्रेम लीला और साहित्य शास्त्र का अनुसरण ग्रन्थ से सम्वद्ध है
भक्तगण अधिकारी हैं जो पाप से निर्मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं और लौकिक तथ
पारलौकिक कल्याण ग्रन्थ के प्रयोजन है।

(ङ) राधा को पापो के निराकरण के लिए व्यतिरिक्त करण की अपेक्षा नही है। उनका ध्यान ही भक्तो के पापो को समूल नष्ट कर उन्हें लौकिक कल्याण भी प्रदान करता है और उनको मोक्ष प्रदान करने मे भी कारण बनता है।

(च) 'श्यामु' शब्द काकु से कृष्ण की लोकोत्तर महत्ता और अलौकिक प्रभावशालिता का व्यंजक है। वे कृष्ण भी जिनके आते ही हरे-भरे और प्रसन्न-चित्त हो जाते है उन राधा के प्रभाव और ऐश्वर्य के विषय मे कुछ कहना व्यर्थ है। इस प्रकार यहाँ पर राधा की शक्ति और प्रभाव की अधिकता ध्वनित होती है।

(छ) राधा के अभूतपूर्व सौन्दर्य की भी व्यजना होती है जिसमे कृष्ण के स्वरूप को परिवर्तित कर देने की शक्ति है।

४ अलकार ध्वनि —राधा का वर्ण उज्ज्वल रत्न के समान है जो कि कृष्ण के रूप को परिवर्तित कर देता है। (कुछ रत्न इस प्रकार के होते हैं कि दूध मे डाल दिये जावें तो दूध का वर्ण नीला पीला इत्यादि मालूम पडने लगता है।) इस प्रकार यहाँ पर उपमा अलकार ध्वनि है। इसी प्रकार यहा पर रूपक, रूपकातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा और अपन्हुति की भी व्यजना हो सकती है। राधा का वर्ण कृष्ण के वर्ण का परिवर्तक हो जाता है किन्तु स्वय उससे परिवर्तित नही होता। अत राधा का वर्ण अधिक उज्ज्वल है, इस प्रकार यहाँ पर व्यतिरेकालकार ध्वनि है। वर्ण परिवर्तन का सम्बन्ध न होते हुए भी सम्बन्ध का वर्णन किया गया है—इस प्रकार यहाँ पर सम्बन्धातिशयोक्ति अलकार भी हो सकता है, राधा के वर्ण की व्यजित सुन्दरता कृष्ण के हरित द्युति हो जाने मे हेतु है। अतएव यहाँ पर काव्यलिंग अलकार ध्वनित होता है। इन अलकारो का यहाँ पर एकाश्रयानुप्रवेश सकर है।

२. गुणीभूत व्यग्य - यहा पर कवि की राधाविषयक रति अगी है जो कि भाव-ध्वनि के क्षेत्र में आती है। उसका अग है कृष्ण की राधा विषयक रति तथा राधा का पापविषयक उत्साह। इस प्रकार यहा पर अपरागगुणीभूत व्यग्य है। 'श्याम' में वाच्य सिद्ध्यग गुणीभूत व्यग्य तथा काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यग्य भी होता हैं। इस प्रकार इस दोहे में सभी प्रकार की (रस, वस्तु और अलकार) ध्वनिया विद्यमान है। एक और दोहा देखिये —

अरी, खरी सटपट परी बिधु आधैं मग हेरि।
सग लगैं मधुपनु लई धपु भागनु गली अँधेरि॥

वाच्य सामर्थ्य स व्यक्त होता है कि कृष्ण पक्ष मे नायिका ने अभिसार किया है। जिस समय उसने अभिसार आरम्भ किया उस समय अधकार फैला हुआ था। अतएव उसने कृष्ण वस्त्र धारण कर रखे थे। कृष्णाभिसारिका होने के साथ-साथ यह भी व्यक्त होता है कि नायिका परकीया है। अन्यथा चन्द्रोदय से घबराने की आवश्यकता ही क्या थी ? भौंरे साथ मे लगे हुए थे इमसे नायिका के शरीर की सुगन्ध व्यक्त होती है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि नायिका पद्मिनी है। इस

दोहे में बड़े ही कौशल के साथ नायिका के शरीर-सौन्दर्य का चित्रण किया गया है। नायिका के शरीर से सुगन्धि तो आ ही रही थी। चन्द्रोदय से जब उसका मालती के समान दर्शनीय मुख भी दिखलाई पडने लगा तब भौंरो के झुड के झुड आ गये और उन्होने गली मे ऐसा अन्धकार फैलाआ कि नायिका सामान्य दर्शको की दृष्टि से ओझल हो गई।

यहाँ रस का परिपाक भी अच्छा हुआ है। पद्मिनी नागरी परकीया नायिका आलम्बन है। भ्रमर गु जार, अधकार इत्यादि उद्दीपन है। अभिसार अनुभाव है। सटपटाने मे शका, त्रास इत्यादि सचारी भाव है। और रति स्थायी भाव है। आलम्बनादि से पुष्ट रति स्थायी भाव ने शृ गार रस का रूप धारण किया है। दोहा उत्तम या उत्तमोत्तम काव्य की सीमा मे आता है। क्योकि इससे व्यजना वृत्ति के आधार पर नायिका का पद्मिनीत्व, परकीयात्व तथा कृष्णाभिसारिकात्व अवगत होता है और अभिव्यक्त रति ही प्रधान होकर आस्वादन मे निमित्त है। इस दोहे मे निम्नलिखित अलकार अभिव्यक्त रतिभाव को पुष्ट करते हैं

(१) अरी और परी मे 'अरी' का स्वरूप तथा क्रम दोनो प्रकार से साम्य है। अतएव यहाँ पर छेकानुप्रास अलकार है।

(२) 'सट-पट' मे अट साम्य भी दोनो रूपो मे है। अतएव यहाँ पर भी छेकानुप्रास ही है।

(३) 'विधु' तथा 'आधे' मे केवल एक प्रकार से (स्वरूप से हो) साम्य है। अतएव यहाँ पर वृत्त्यनुप्रास है।

(४) सग तथा लगे मे भी वृत्त्यनुप्रास है।

(५) 'भागनु' तथा 'गली' मे वृत्त्यनुप्रास ही है।

इन अलकारो की परस्पर तथा निम्नलिखित अर्थालकारो के साथ ससृष्टि है।

(६) यहाँ पर प्रथम प्रहर्षण अलकार है क्योकि बिना ही प्रयत्न के नायिका का अभीष्ट सिद्ध हो गया है।

(७) यहाँ पर चन्द्रोदय रूप प्रतिबन्धक के होते हुए भी कार्य हो गया है। अतएव तृतीय विभावनालकार है।

(८) भौरो द्वारा गली मे अन्धकार किये जाने का सम्बन्ध न होते हुए भी सम्बन्ध का वर्णन किया गया है, अतएव यहाँ पर सम्बन्धातिशयोक्ति अलकार है।

(९) भौरो के आजाने से छिपने का कार्य सुकर हो गया है, अतएव यहाँ पर समाधि अलकार है।

(१०) नायिका अन्धकार मे अभिसार कर रही थी। यह पूर्व स्थिति थी। चन्द्रोदय से इसमे परिवर्तन उपस्थित हुआ और अन्धकार नष्ट हो गया। पुन भ्रमरो के आजाने से अन्धकार पूर्व रूप में आ गया। इस प्रकार यहाँ पर पूर्वरूप अलकार है।

(११) चन्द्र के दोष से अभिसार के व्याघात रूपी दोष के उत्पन्न हो जाने की आशका थी किन्तु वह दोष भ्रमरो के आ जाने से नही लगा, अतएव यहाँ पर अवज्ञा अलकार है। श्री लोकनाथ द्विवेदी ने 'विहारी दर्शन' नामक पुस्तक में मिश्रबन्धुओ द्वारा निर्दिष्ट अवज्ञालकार का खण्डन करते हुए लिखा है कि 'चन्द्र के उदय होने से दोष तो उत्पन्न ही हो गया इसी लिए 'खरी सटपट परी' लिखा गया है।' किन्तु यह सटपटाहट क्षणिक थी और अभिसार का व्याघात केवल सम्भावित हुआ था। अभिसार व्याहत नही हुआ। भौरो के गली को अवरुद्ध कर लेने से दोष का निराकरण तो तत्काल हो ही गया, अतएव यहाँ पर अवज्ञालकार मानना उचित ही है।

श्री लोकनाथ जी द्विवेदी ने यहाँ पर प्रथम व्याघात अलकार माना है। प्रथम व्याघात अलकार ऐसे स्थानो पर हुआ करता है जहाँ पर अन्यथा कार्य सम्पादन करने वाली वस्तु से ही उसके प्रतिकूल कार्य करा लिया जावे। यहाँ पर चन्द्रमा से अभिसार व्याघात रूप दोष उत्पन्न होने वाला था, उसके प्रतिकूल कार्य भौंरो द्वारा सम्पन्न हुआ है, अतएव यहाँ पर व्याघात अलकार नही माना जा सकता।

आशय यह है कि विहारी एक प्रतिभाशाली कवि थे। अभिव्यजना, रस-निष्पत्ति, अप्रस्तुत विधान, अलकार योजना, व्यजक रूप मे भाषा का प्रयोग इत्यादि प्रत्येक क्षेत्र मे इनकी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। प्रत्येक दोहे मे नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा के प्रसार के ही कारण ऐसी रमणीयता उत्पन्न हो गई है जिसका न तो अतिक्रमण ही किया जा सकता है और न अनुकरण ही किया जा सकता है। प्रतिभा के कारण ही विहारी के दोहो में एक ऐसी नवीनता आ गई है कि ये दोहे अपनी कलात्मकता के कारण किसी भी कविता मे मिल नही सकते और दोहे का विहारीपन अलग से ही प्रतिभासित होने लगता है। किसी उच्चकोटि के दोहे को देखकर लोग सहसा कहने लगते है, अमुक दोहा विहारी-कृत जान पडता है। यह सब भगवती प्रतिभा देवी ही की कृपा है। श्री अभिनव गुप्त पादाचार्य ने लिखा है —

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकला,
जगद् ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च।
क्रमात्प्रख्योपाख्या प्रसर सुभग भासयति तत्।
सरस्वत्यास्तत्त्व कवि-सहृदयाख्य विजयते ॥

ससार के सारे पदार्थों का निर्माण कारणापेक्षी होता है। विना उपादान कारण के किसी वस्तु का निर्माण नही हो सकता। किन्तु सरस्वती का तत्त्व (प्रतिभा) ही वहवस्तु है जो विना ही कारण की अपेक्षा के अपूर्व वस्तु को विस्तारित कर देता है। यो तो ससार पाषाणवत् नीरस है, किन्तु उसमें सरसता का आधान कर सारमय बना देना भगवती प्रतिभा का ही कार्य है। जो प्रतिभा उपाख्या अर्थात् वाणी के प्रसार से ससार को सुन्दरतम रूप में व्यक्त किया करती है और तुच्छ

से तुच्छ तथा असुन्दर से असुन्दर वस्तु को भी प्रकाशित कर देती है, वही कल्याण कारिणी प्रतिभा सर्वोपरि वर्तमान है।

बिहारी की निपुणता

कवि की वाणी चारों ओर को स्फुरित होती है। उसे अप्रस्तुत योजना के लिए शास्त्र और लोक दोनो ओर को हाथ फैलाना पडता है। मुक्तक काव्य मे तो निपुणता और अधिक अपेक्षित होती है। कारण यह है कि प्रबन्ध काव्य मे कथा का आश्रय लेकर कवि बढता चला जाता है। प्रस्तुत उसके सामने सर्वदा सन्निहित रहता है। उसे व्युत्पत्ति की आवश्यकता कथासूत्र-गुम्फन और अप्रस्तुत-विधान मे ही पडती है। इसके प्रतिकूल मुक्तक काव्य की प्रवृत्ति ही व्युत्पत्ति के आधार पर होती है। जो कवि जितना व्युत्पन्न होगा उतने ही अर्थ उसके सामने स्फुरित होगे और उतना ही कौशल वह अपनी रचना मे दिखला सकेगा।

राजशेखर ने काव्य मीमासा मे लिखा है कि आचार्यों का मत है कि 'बहुज्ञता को व्युत्पत्ति कहते हैं किन्तु मेरा मत है कि उचित-अनुचित विवेक को व्युत्पत्ति कहते है।' इसका आशय यह है कि कवि को अनेक शास्त्रो का ज्ञान केवल इसीलिये होना चाहिये कि वह कही रसचर्वणा के प्रतिकूल कोई अनुचित बात न कह जाये। कवि के लिये अनेक शास्त्रो का सामान्य अथवा ऊपरी ज्ञान अपेक्षित होता है। उसे सभी शास्त्रो मे प्रगाढ पाण्डित्य प्राप्त करना अपेक्षित नही होता है और न काव्य मे प्रगाढ पाण्डित्य प्रदर्शन समीचीन ही होता है। कवि को किसी भी शास्त्र की ऐसी ही छोटी-मोटी बातो का अपने काव्य में समावेश करना पड़ता है, जिनको सर्वसाधारण पाठक अनायास ही समझ जाये। प्रत्येक शास्त्र की साधारण सी बातें लोक में प्रचलित रहती हैं। अनेक शास्त्रो के ऊपरी विचारो से सभी लोग परिचित रहते है और कवि को भी उनका उसी रूप मे ज्ञान रहता है। जब कवि अपनी प्रतिभा के बल पर अपने उस ज्ञान से चमत्कारोत्पादक तथ्यो को ढूढ निकालता है तब कविता में विशेषता का आधान हो जाता है। कवि सुपरिचित तत्वो से अपरिचित भाव या आशय निकालता है जिससे परिशीलन करने वाले चमत्कृत हो जाते हैं। उदाहरण के लिए प्राय प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि दाहिनी ओर बिन्दी लगा देने से दस गुना मूल्य बढ़ जाता है। बिहारी ने अपने इसी ज्ञान का उपयोग कर स्त्री के मस्तक मे बिन्दी से असख्य गुने मूल्य के बढने की सुन्दर कल्पना की है।

उचित-अनुचित के विवेक के लिये कवि को काव्य-शास्त्र का ज्ञान तो होना ही चाहिये, दूसरे शास्त्रो की छोटी-मोटी बातें भी उसे अवगत रहनी चाहिये। साथ ही ससार मे भी उसे आख खोलकर चलना चाहिए और लोकवृत्त का भी उसे जितना अधिक हो सके ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि व्युत्पत्ति की कमी भी रसोपघातक होती है और यदि कवि पूर्ण विवेक से काम न ले तो व्युत्पत्ति की अधिकता भी काव्य

का बिगाडने वाली ही होती है। व्युत्पत्ति की कमी में तो कोई भी भाव शीघ्र स्फुरित ही नही होता और यदि स्फुरित होता भी है तो भी वर्णन वस्तुस्थिति के प्रतिकूल पड़कर काव्य को बिगाड़ देता है। इसी प्रकार व्युत्पत्ति की अधिकता के कारण यदि कवि किसी गहन सिद्धान्त को लेकर बैठ जाता है और उसका गम्भीर विवेचन करने लगता है तो वह काव्य की वास्तविक सीमा से कही दूर जा पडता है और उसका काव्य उपादेय नही बन पाता। प्राय कवियो मे यह दोष आ गया है। थोथे पाण्डित्य प्रदर्शन के लोभ को ये कवि सवृत नही कर सके हैं और इस प्रकार उनके काव्य काव्यत्व की सीमा से पर्याप्त रूप मे च्युत हो गये हैं।

विहारी के बहुत से आलोचक विहारी के किसी दोहे मे किसी शास्त्र की थोडी सी छाप देखकर उन्हें उस शास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित कहने लगते हैं। टेढी वकारी को लगाकर रुपया लिखा जाता है या बिन्दी लगाने से दसगुना मूल्य वढ जाता है, केवल इतना सा ज्ञान विहारी को महान् गणितज्ञ सिद्ध नही कर सकता। इसी प्रकार नाडी देखकर रोग का निश्चय किया जाता है या सुदर्शन चूर्ण से विषम ज्वर दूर हो जाता है, इतना ज्ञान विहारी को धन्वन्तरि सिद्ध नही कर सकता। गणित का इतना ज्ञान तो छोटी कक्षा मे पढने वाले साधारण छात्र को भी होता है और वैद्यक का इतना ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को होता है। काव्य मे भी इससे अधिक ज्ञान का प्रदर्शन अपेक्षित नही होता। यदि कोई कवि काव्य में ट्रिग्नामेटरी के गहन तथा दुरूह सिद्धान्तो की व्याख्या करने लगे अथवा स्टेटिक्स, डिनेमिक्स के गोरखधधे मे पड जावे तो वह काव्यत्व की सीमा से अवश्य गिर जावेगा। हाँ, इससे इतना सिद्ध अवश्य होता है कि कवि को अनेक विषयो में रुचि थी और कवि सासारिक ज्ञान मे भी निष्णात था। देखा यह जाता है कि कवि की रुचि किन विषयो तक सीमित रहती है। यदि कवि की वाणी मे किसी शास्त्रीय तथ्य का प्रस्फुटन हुआ है तो उससे इतना तो सिद्ध ही है कि कवि उन विषयो में रुचि लेता था। साथ ही यह भी देखना पडता है कि क्या कवि ने किसी शास्त्रीय सिद्धान्त के प्रस्फुटन मे कोई वड़ी भूल तो नही कर दी है। इसी लिए राजशेखर ने बहुज्ञता के स्थान पर उचितानुचित विवेक को व्युत्पत्ति या निपुणता कहा है। जब हम विहारी की अनेक शास्त्रो की निपुणता की वात करते हैं तब हमारा आशय यही होता है कि विहारी को अनेक विषयो मे रुचि थी। वे लोकवृत्त को ठीक रूप मे समझने मे सचेष्ट थे। उन्होने अपने काव्य वस्तु का उपादान विभिन्न शास्त्रीय सिद्धान्तो और लोकगत तथ्यो से किया है तथा उनकी रचना मे कोई ऐसी सिद्धान्त सम्बन्धिनी भूल नही है जिससे उनका काव्य विगड गया हो। काव्य मे सामान्य सिद्धान्तो का समावेश करना और शास्त्रों के गहन विचारो मे न उलझना अपने मे स्वय एक सफलता है जिसके लिए विहारी की प्रशसा की जानी चाहिए। यहा पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि विहारी ने ज्योतिष तथा वैद्यक के दो-चार विशिष्ट सिद्धान्तो का भी अपने काव्य मे समावेश किया है जो सर्वसाधारण मे प्रचलित नहीं है। किन्तु ऐसे स्थानो पर कवि ने सर्वत्र

प्रसादगुण का निर्वाह किया है और कहीं भी सिद्धान्तो की गहनता के कारण काव्य को विगडने नही दिया। अगले पृष्ठो मे इस वात का विवेचन किया जावेगा कि विहारी की कविता मे किन शास्त्रो की छाप है तथा विहारी ने अपनी कविता मे किस सीमा तक लौकिक ज्ञान का उपयोग किया है।

हम विहारी के ज्ञान को तीन रूपो मे विभक्त कर सकते है —

(१) शास्त्रो का ज्ञान, (२) इतिवृत्त का ज्ञान और (३) लोक-वृत्त का ज्ञान।

शास्त्र-ज्ञान के अन्दर विहारी ज्योतिष मे विशेष निष्णात प्रतीत होते है। इन्होने ज्योतिष के गहन सिद्धान्तो का प्रश्रय अपनी कविता मे लिया है। ये सिद्धात ऐसे नही है जिनको सर्वसाधारण मे प्रचलित कहा जा सके। सम्भवत विहारी ने ज्योतिष का अच्छा अध्ययन किया था अथवा ज्योतिषियो के निकट सम्पर्क मे रहे थे। जातक सग्रह के राजयोग प्रकरण मे लिखा है कि यदि शनैश्चर तुला, धनु या मीन मे हो अथवा लग्न मे पडा हो तो वह स्वय राजा होता है तथा राजवश का करने वाला होता है। ज्योतिष के इस सिद्धान्त को लेकर विहारी ने निम्नलिखित दोहा लिखा हैं —

सनि-कज्जल चख झख लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यौ न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेसु सबु देहु॥

नेत्र रूपी मीन की लगन (लग्न तथा लगालगी) मे स्नेह रूपी वालक का जन्म हुआ है। अतएव यह स्नेहरूपी वालक सारे शरीर रूपी देश पर शासन कर रहा है। इसी प्रकार एक दूसरा सिद्धान्त है कि यदि मगल, चन्द्रमा और वृहस्पति एक ही नाडी के चारो नक्षत्रो मे से किसी एक पर पडे हो तो इतनी वर्षा होती है कि ससार जलमय हो जाता है। निम्नलिखित दोहे मे मस्तक पर लगी लाल विन्दी को मगल माना गया है, मुख को चन्द्रमा माना गया है और केसर के पीले तिलक को वृहस्पति माना गया है। इसी मे तीनो एक ही नारी (नाडी या स्त्री) मे विराजमान हैं अतएव नेत्ररूपी ससार रसमय, प्रेममय या जलमय हो गया है —

मगलु विंदु सुरगु, मुखु ससि, केसरि आड़ गुरु।
इक नारी लहि सगु, रसमय किय लोचन जगतु॥

इसी प्रकार एक और सिद्धान्त है कि यदि चन्द्र के अन्दर कोई सौम्य ग्रह पडा हो और वह केन्द्र मे, ११वें स्थान पर अथवा त्रिकोण मे विद्यमान हो तो धनागम, राजमान, सतान, प्राप्ति इत्यादि अनेक सुख प्राप्त होते है। इस सिद्धान्त की छाया निम्नलिखित दोहे पर पडी है —

तिय-मुख लखि हीरा-जरी वेंदी वढ़ै विनोदु।
सुत सनेह मानौ लियौ विधु पूरन वुधु गोदु॥

यहाँ पर स्त्री के मुख में हीरा जडी वेंदी को चन्द्र के अन्दर वुध का योग माना गया है। स्त्री का स्थान सप्तम है। अतएव यह सन्धा केन्द्रगत हो गई है। सखी का

अभिप्राय यह है कि यह समय अनेक सुख, पुत्र, वित्तादि की प्राप्ति के लिये उपयुक्त है। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे में कवि ने मगल के अन्दर चन्द्र की अन्तर्दशा पर ध्यान दिलाया है जो कि दार-पुत्रादि अनेक सौख्यो का देने वाला होता है .—

भाल लाल बेंदी, ललन आखत रहे विराजि।
इन्दु कला कुज मैं बसी मनौ राहु भय भाजि।।

लाल विन्दी रूप मगल मे अक्षत रूप चन्द्रमा विराजमान है जो कि स्त्रीरूप सप्तम स्थान केन्द्र मे पडा हुआ है, अतएव अनेक सुखो का देने वाला है।

निम्नलिखित दोहे में सक्रान्ति का सुन्दर वर्णन किया गया है —

तिय-तिथि तरुन-किसोर-वय पुण्यकाल-सम दोनु।
काहू पुन्यनु पाइयतु वैस सन्धि-सक्रोनु।।

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे मे कवि ने किसी तिथि की हानि होने का अच्छा वर्णन किया है —

गनती गनिवे तैं रहे छत हूँ अछत-समान।
अलि अब ए तिथि औम लौं परे रहौ तन प्रान।।

जिस तिथि में प्रातःकाल सूर्य का उदय होता है वही तिथि दिन भर मानी जाती है। कभी कभी ऐसा हो जाता है कि सूर्योदय काल मे जो तिथि होती है वह केवल चार-छ पल वाद वदल जाती है और दूसरे दिन प्रात काल सूर्योदय के पहले समाप्त हो जाती है। वह तिथि यद्यपि विद्यमान रहती है तथापि न विद्यमान रहने के समान मानी जाती है। यहाँ पर इसी की उपमा दी गई है।

विहारी ने आयुर्वेद के चलते हुए सिद्धान्तो का वर्णन किया है। निम्नलिखित दोहे मे विपम ज्वर के सुदर्शन चूर्ण द्वारा होने की वात कही गई है .—

यह विनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु।
जरी विपम जुर जाइयै आइ सुदरसनु देहु।।

निम्नलिखित दोहे मे ज्वर की तीव्रता और उसका रस से दूर होना वतलाया गया है :—

हरि हरि वरि वरि उठति है करि करि थकी उपाइ।
वाको जुरु, वलि वैद, जौ तो रस जाइ, तु जाइ।।

निम्नलिखित दोहे मे पारे से नपु सकता दूर होने की ओर सकेत किया गया है .—

वहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
वैद- वधू हँसि भेद सौं रही नाह मुँह चाहि।।

निम्नलिखित दोहे मे नाडी ज्ञान, निदान इत्यादि की छाया पाई जाती है —

मैं लखि नारी-ज्ञानु करि राख्यौ निरधारु यह।
[illegible]।।

निम्नलिखित दोहे मे पीनस रोग का लक्षण बतलाया गया है :—

सीतल तरु सुवास कौ घटै न महिमा मूरु।
पीनसवारै जो तज्यौ सोरा जानि कपूरु।।

उपर्युक्त दोहो मे वैद्यक के किसी गहन सिद्धान्त का वर्णन नही किया गया है। केवल सर्व-जन-सवेद्य तत्वो का ही उपादान हुआ है। किन्तु एक दोहे मे एक ऐसे सिद्धान्त का उपादान किया गया है जो सर्वजन-सवेद्य नही कहा जा सकता। आयुर्वेद मे शरीर-शोधन के लिये पंचकर्म किये जाते है जिनमे स्नेहन भी एक है। इसमे रोगी को स्नेह पान कराया जाता है। यदि स्नेहन क्रिया विगड जाती है तो रोगी का पेट पानी से भर जाता है और प्यास शान्त नहीं होती। धीरे-धीरे रोगी प्यास मे ही मर जाता है। इस तथ्य की छाया निम्नलिखित दोहे मे विद्यमान है —

नेहु न, नैननु, कौं कछू उपजी बड़ी बलाइ।
नीर-भरे नित प्रति रहैं तऊ न प्यास बुझाइ।।

विहारी के दोहो मे कही-कही दार्शनिक विपयो की भी छाया पाई जाती है। कुछ तो साधारण विपय हैं और कुछ दोहो मे विशेपता भी है। निम्नलिखित दोहे मे प्रमाणवाद का उल्लेख किया गया है जो कि सर्वजन-सवेद्य नहीं कहा जा सकता —

बुधि अनुमान, प्रमान श्रुति किऐं नीठि ठहराइ।
सूछम कटि पर ब्रह्म की अलख, लखी नहिं जाइ।।

किसी-किसी दोहे मे परमात्मा की व्यापकता इत्यादि सर्वजन-सवेद्य सुलभ सिद्धान्तो की छाया भी पाई जाती है —

भगवान् की व्यापकता मे—

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ
एकै रूपु अपार प्रतिविम्वित लखियतु जहाँ।

एक तत्व की ही प्रधानता —

अपनैं अपनैं मत लगे बादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबौ एकै नन्दकिसोरु।।

योग तथा अद्वैतवाद—

जोग जुगति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता काननु सेवत नैन।।

प्रत्यक्ष के बाधक—

जगतु जनायौ जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाहि।
ज्यौं आँखिनु सबु देखियै आँखि न देखी जांहि।।

व्यापकता तथा रहस्यमयता—

मोहन मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ।
वसतु सु चित-अन्तर तऊ प्रतिविम्वितु जग होइ।।

राजधर्म प्रकरण में राज्य के सात अग माने जाते हैं—स्वामी, अमात्य, सुहृत् कोप राष्ट्र, दुर्ग और बल । विहारी ने एक दोहे में शरीर के अगों की तुलना राज्य के अगो से की है :—

अपने अंग के जानि कै जोबन-नृपति प्रवीन ।
स्तन, मन, नैन, नितम्ब कौ बड़ौ इजाफा कीन ॥

इसी प्रकार ६ उपाय माने जाते हैं—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, सश्रय और द्वैधीभाव । एक दोहे मे विहारी ने इन उपायों की ओर सकेत किया है —

क्योंहूँ सहवात न लगे, थाके भेद उपाइ ।
हठ दृढ़ गढ़ गढवै सु चलि लीजै सुरंग लगाइ ॥

नायक और नायिका का विग्रह तो चल ही रहा है, सन्धि के सारे उपाय यर्थ हो गये है भेद के उपाय-जिनमे द्वैधीभाव तथा सश्रय आ जाते हे-थक चुके हैं; नायिका हठ रूप दृढ़ गढ मे सुरक्षित है यही उपाय आसन के नाम से अभिहित किया जाता है । अब उस पर विजय प्राप्त करने का यही उपाय रह गया है कि यान र प्रेमरूपी सुरग लगाकर उस पर अधिकार कर लिया जावे । इस प्रकार एक ही दोहे में विहारी ने सभी उपायो का निर्देश कर दिया है ।

ऊपर राजनीतिज्ञता के उदाहरण दिये गये हैं । इसके अतिरिक्त कतिपय दोहो मे इनके युद्ध-विद्या-सम्बन्धी ज्ञान का भी पता लगता है । युद्ध के लिये जब सेनायें प्रस्थान करती हैं तब उसके आगे चलने के लिये सेना की छोटी टुकडी भेजी जाती है जिससे मुख्य सेना सुरक्षित रहे और उस सेना की आड से शत्रु पर प्रहार करे । सेना के इस भाग को हरौल कहते है । जब शत्रु-पक्ष की मुख्य सेनायें सवल होती हैं तब हरौल की उपेक्षा कर तत्काल मुख्य सेना पर जा पहुँचती है । विहारी ने घूघट के पतले परदे को हरौल माना है और नायक-नायिका के नेत्रो को मुख्य सेना । जिस प्रकार मुख्य सेना हरौल का अतिक्रमण कर शत्रु की मुख्य सेना पर जा टूटती है उसी प्रकार घूघट पट का अतिक्रमण कर दोनो के नेत्र जा मिले —

जुरे दुहुनु के दृग भमकि रुके, न झीनैं चीर ।
हलुकी फौज हरौल ज्यौं परे गोल पर भीर ॥

एक दूसरे और दोहे से भी विहारी की युद्ध विद्या का ज्ञान प्रकट होता है:—

लखि दौरत प्रिय-कर कटकु बास-छुड़ावन-काज ।
बरुनी-बन गाढैं दृगनु रही गुढ़ौ करि लाज ॥

जिस प्रकार जब शत्रु सेना आवास छुडाने का आक्रमण कर रही हो तब कोई दुर्वल प्रतिपक्षी वन मे वने हुए अपने किसी निवास स्थान मे छिपा रहता है उसी प्रकार जब प्रियतम का हाथ रूपी सैन्यदल नायिका के वास (वस्त्र) को छुडाने के लिये दौडने लगा तब नायिका की लज्जा वरुणी रूपी जगल में नेत्र रूपी गुप्त आवास स्थान मे छिप रही ।

एक-दो दोहो मे बिहारी के वैज्ञानिक ज्ञान की भी छाया पायी जाती है। जब किसी औषधि का अर्क खींचना होता है तब उसे पहले पानी मे डुबा देते हैं फिर किसी बर्तन मे भरकर उसे आग पर चढ़ा देते हैं और नीलाभ यन्त्र से उसका सम्बन्ध एक दूसरे बर्तन से कर देते हैं। औषधि पात्र का जल औषधि का सार लेकर भाप बनकर उड़ता है और नीलाभ यन्त्र के द्वारा दूसरे बर्तन मे पहुँचकर पानी बन कर टपक जाता है। बिहारी ने इसी क्रिया का उपादान आँसुओ के वर्णन के प्रसग मे किया है —

तच्यौ आँच अब विरह की, रह्यौ प्रेम रस भीजि।
नैननु कैं मग जलु बहै हियौ पसीजि पसीजि॥

हृदय प्रेम रस मे भीगा हुआ है और वियोगाग्नि से सन्तप्त किया गया है। इस प्रकार हृदय नेत्रो के मार्ग से पसीज पसीज कर पानी के रूप मे बहता है।

दो-एक दोहो से रगो के समिश्रण के भी ज्ञान का पता चलता है। प्रथम दोहे मे ही पीले और नीले रग को मिलाकर हरे रग बन जाने की बात कही गई है। एक दूसरे दोहे में धूप-छाँह का वर्णन है —

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोवनु अग।
दीपति देह दुहूनु मिलि दिपति ताफता-रग॥

दो दोहो मे गणित के ज्ञान की छाया पाई जाती है। एक दोहे मे बिन्दु से दस गुने अक हो जाने की बात कही गई है और दूसरे दोहे से टेढी वकारी लगाने से दाम का रुपया हो जाने की ओर सकेत किया गया है। दो एक दोहो पर बिहारी के कर्मकाण्डविषयक ज्ञान की भी छाप पाई जाती है। बिहारी ने निम्नलिखित दोहे मे यज्ञ की ओर सकेत किया है —

होमति सुखु, करि कामना तुमहिं मिलन की, लाल।
ज्वालमुखी सी जरति लखि लगनि-अगन की ज्वाल॥

इसी प्रकार एक दूसरे दोहे मे पाणिग्रहण सस्कार की भी छाया अधिगत होती है —

स्वेद सलिलु, रोमांच कुसु गहि दुलही अरु नाथ।
दियौ हियौ सग हाथ कैं हथलैवै ही हाथ॥

कामशास्त्र का ज्ञान भी शास्त्रीय ज्ञान मे ही आता है। बिहारी का दन्त-क्षत नख-क्षत, विपरीत रति इत्यादि का वर्णन कामशास्त्रीय ज्ञान के अन्दर सन्निविष्ट हो जाता है। निम्नलिखित दोहे मे कामशास्त्र सम्बन्धी अनेक आसनो की छाया लक्षित होती है —

पलनु पीक अंजनु अधर, धरे महावरु भाल।
आज मिले सुभली करी भले बने हौ लाल॥

इसी प्रकार प्रेम-प्रदर्शन की अनेक चेष्टायें भी कामशास्त्रीय पद्धति पर वर्णित

की गई हैं और इनसे बिहारी का कामसूत्रो का अध्ययन प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त कतिपय दोहो से प्रतीत होता है कि बिहारी अश्वशास्त्र तथा रत्न-परीक्षा इत्यादि विषयो में भी रुचि रखते थे। इन दोहो से यह तो सिद्ध नही होता कि बिहारी इन विषयो में पूर्ण निष्णात थे और उन्होने इन विषयो का गम्भीर अध्ययन किया था किन्तु इनसे इतना अवश्य सिद्ध होता है कि बिहारी की रुचि अनेक शास्त्रो में थी और अध्ययनशीलता जोकि कवि का एक अपेक्षित गुण है इनमें विद्यमान था। साथ ही कवि ने किसी भी दोहे में किसी ऐसे गम्भीर सिद्धान्त के विश्लेषण करने की चेष्टा नही की जिससे अर्थबोध में दुरूहता उत्पन्न होती और रसास्वादन व्याहत हो जाता।

उपर्युक्त शास्त्रीय ज्ञान के अतिरिक्त बिहारी को अपने समय की राजनैतिक स्थिति का भी पर्याप्त ज्ञान था और उस विषय मे उनका अपना दृष्टिकोण भी था। साथ ही इन्होने अपने समय की सामाजिक स्थिति को गम्भीरतापूर्वक देखा था और उसका प्रतिफलन इनके काव्य मे पर्याप्त मात्रा मे हुआ। ये भक्ति-सम्प्रदाय से भी परिचित थे और लोक-वृत्त तथा सदाचार के विषय मे इनकी अपनी धारणायें थीं, अपनी मान्यतायें थी और लोकवृत्त के सुधार का इन्होने एक सुन्दर उपदेश दिया है। इन सब बातो का दिग्दर्शन यथास्थान कराया जा चुका है।

बिहारी का ऐतिह्य ज्ञान

ऐतिह्य ज्ञान को हम तीन भागो मे विभक्त कर सकते हैं —

(१) महाभारत का ज्ञान (२) रामायण का ज्ञान और (३) पौराणिक-कथाओ का ज्ञान। राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थो मे इस प्रकार के ऐतिह्य-ज्ञान की आवश्यकता पर बल दिया है। बिहारी के कतिपय दोहो मे तीनो प्रकार की ज्ञान की छाया पायी जाती है। भगवान् कृष्ण के जीवन की अनेक घटनाओ से ये परिचित थे और इन्होने अपने काव्य मे कृष्ण के जीवन की प्रमुख घटनाओ का उल्लेख कर दिया है जिसका यथास्थान विवेचन किया जा चुका है। द्रौपदी का चीर हरण महाभारत की प्रसिद्ध कथा है। बिहारी ने अवधि को दुःशासन माना है और विरह को द्रौपदी का चीर। कोई नायिका सखी से कह रही है कि अवधि रूपी वीर दुश्शासन विरह रूपी द्रौपदी के चीर को खीचता जा रहा है उसे अन्त नही मिलता।

रह्यौ ऐंचि, अंतु न लहै अवधि-दुसासनु बीरु।
आली, बढतु बिरह ज्यौं पाँचाली कौ चीरु॥

महाभारत की एक दूसरी कथा है कि दुर्योधन जल-स्तम्भन की विद्या जानता था। अन्त मे जब उसके वर्ग के सभी वीर मारे गये तब वह जल मे जाकर छिपा था। इस कथा की निम्नलिखित दोहे मे छाया विद्यमान है —

बिरह-बिथा-जल-परस बिनु बसियतु मो मन-ताल।
कछु जानत जल-थम्भ बिधि दुर्योधन लौं, लाल॥

दुर्योधन जल में बैठा था किन्तु जल-स्तम्भ की विद्या के प्रभाव से स्पर्श जल से नही होता था। इसी प्रकार नायक-नायिका के हृदय में विरहरूपी दुर्योधन निवास करता है किन्तु आश्चर्य है कि उसका स्पर्श किसी तरह का नही होना। इसी प्रकार दुर्योधन को वरदान था कि जब उसे हर्ष और शोक समान मात्रा मे होगा तभी उसकी मृत्यु होगी। अश्वत्थामा ने जब उसके वश के अन्तिम बीज पाण्डवो के पाच पुत्रो के सर काट लिये तब उसे हर्ष और शोक समान मात्रा मे हुआ था। इसका वर्णन निम्नलिखित दोहे मे किया गया है —

पिय-बिछुरन कौ दुसहु दुखु हरषु जात प्यौसार।
दुरजोधन लौं देखियति तजत प्रान इहि बार॥

दो-एक दोहो मे रामायण के ज्ञान की भी छाया पायी जाती है। कहा जाता है कि जब हनुमान् जी समुद्र कूद रहे थे तब समुद्र मे रहने वाली राक्षसी ने हनुमान् की छाया पकड ली जिससे हनुमान् रुक गये और उसको मार करके ही पार जा सके। तुलसी ने इस घटना का इस प्रकार वर्णन किया है।

निशिचरि एक सिन्धु महँ रहई, करि माया नभ के खग गहई।
जीव जन्तु जे गगन उड़ाहीं, जल विलोकि तिनकी परछाहीं॥
गहै छांह सक सो न उड़ाईं, एहि विधि सदा गगन चर खाईं।
ताहि मारि मारुत सुत वीरा, वारिधि पार गएउ मति धीरा॥

विहारी ने ससार-सागर को पार करने मे स्त्री को छाया-ग्राहिणी राक्षसी माना है जिसके कारण सरलतापूर्वक कोई भी भवसागर के पार नहीं जा सकता .—

या भव-पारावार कौं उलँघि पार को जाइ।
तिय-छवि-छायाग्राहिनी ग्रहै बीचहीं आइ॥

एक दोहे में सीता की अग्नि परीक्षा की भी छाया पायी जाती है —

बसि सकोच-दसवदन-बस, साँचु दिखावति बाल।
सिय लौं सोधति तिय तनहिं लगनि-अगनि की ज्वाल॥

निम्नलिखित दोहे मे जटायु के उद्धार का वर्णन किया गया है —

कौन भाति रहिहै बिरदु अब देखिबी, मुरारि।
बीधे मोसौं आइ कै गीधे गीधहिं तारि॥

रामायण महाभारत के अतिरिक्त दूसरी पौराणिक गाथाओ का भी समावेश विहारी सतसई मे पर्याप्त रूप मे पाया जाता है। वैसे तो महाभारत सभी पौराणिक कथाओ का भण्डार है और दावा किया जाता है कि जो कुछ महाभारत मे है वही अन्यत्र है, जो महाभारत मे नही है वह अन्यत्र नही है। किन्तु आचार्यों के रामायण, महाभारत और पुराण तीनो को पृथक्-पृथक गिनने से अवगत होता है कि रामायण और महाभारत की मुख्य कथाओ से आचार्यों का मन्तव्य है, जो पौराणिक अन्त कथायें आती है उनका ग्रहण पौराणिक कथाओ मे ही होता है

मदन-दहन की एक प्रसिद्ध पौराणिक कथा है। इसकी छाया निम्नलिखित दोहे में पाई जाती है।

मोर-मुकुट की चंद्रिकनु यौं राजत नंदनंद।
मनु ससिसेखर की अकस किय सेखर सत चंद ॥

इसी प्रकार वामनावतार की कथा भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसकी भी छाया बिहारी के दोहों में पाई जाती है —

छै छिगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाइ।
बलि बावन कौ ब्यौंतु सुनि को, बलि तुम्हैं पत्याइ ॥

गज-ग्राह की दूसरी कथा है। बिहारी ने इसकी ओर भी एक दोहे मे संकेत किया है :—

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन-बिरदु बारक बारनु तारि।

एक दोहे मे शंकर जी के मस्तक पर चन्द्र और विष्णु भगवान् के वक्ष-स्थल पर लक्ष्मी जी के निवास की पौराणिक कल्पना का भी सुन्दरता के साथ उपादान किया गया है :—

प्रानप्रिया हिय में बसै, नखरेखा ससि भाल।
भलौ दिखायौ आइ यह हरि-हर-रूप, रसाल।

पुराणों मे चन्द्र से बुध की उत्पत्ति मानी गई है। बिहारी ने निम्नलिखित दोहे मे इस पौराणिक कथा के आधार पर सुन्दर कल्पना की है —

तिय मुख लखि हीरा-जरी बेंदी बढ़ै बिनोद।
सुत-सनेह मानौ लियौ बिधु पूरन बुधु गोद ॥

इस प्रकार महाभारत, रामायण और पुराणो की कथाओ की छाप अनेक स्थानो पर बिहारी सतसई मे पाई जाती है। यद्यपि ऐसे दोहो की सख्या कम है, अधिकतर कृष्ण-काव्य से सम्बद्ध दोहे ही अधिक है तथापि अन्य विषयो और शास्त्रो की भाँति इन ग्रथो का भी प्रतिनिधित्व बिहारी सतसई मे पाया अवश्य जाता है।

कवि को शास्त्रीय ज्ञान के अतिरिक्त लोक का भी ज्ञान होना चाहिये। बिहारी सतसई को देखने से अवगत होता है कि इन्हे अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोद का भी ज्ञान था। कतिपय आमोद-प्रमोदो की छाया देखिये —

(१) नट का खेल .—

फूले फदकत लै फरी पल, कटाच्छ-करवार।
करत बचावत बिय-नयन-पाइक घाइ हजार।

(२) नृत्य—

सब अंग करि राखी सुघर नाइक नेह सिखाइ।
रसजुत लेति अनंत गति पुतरी पातुर-राइ।

३—गान विद्या—

सुरति न तालन तान की, उठ्यो न सुरु ठहराइ ।
ए री रागु बिगारि गौ बैरी बोलु सुनाइ ।।

४—पतगबाजी—

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन बिस्तारन काल ।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि चँग रग भूपाल ।।

५—चोर मिहीचनी का खेल—

दोऊ चोरमिहीचनी खेल न खेलि अघात ।
दुरत हियैं लपटाइ कै, छुवत हियै लपटात ।।

६—लट्टू नचाना —

झटकि चढ़ति उतरति अटा, नैंक न थाकति देह ।
भई रहति नट कौ बटा अटकी नागर नेह ।।

७—चौगान का खेल —यह घोडो पर चढ कर पोलो के समान खेला जाता है :—

सरस सुमिल चित-तुरग की करि करि अमित उठान ।
गोइ निबाहैं जीतियै खेलि प्रेम चौगान ।।

८—मृगया—

खैंरि पनिच भृकुटी धनुषु वधिक समरु, तजि कानि ।
हनतु तरुन-मृग, तिलक सर सुरक-भाल भरि तानि ।।
खेलन सिखए, अलि भलै चतुर अहेरी मार ।
कानन चारी नैन मृग नागर नरनु शिकार ।।

बिहारी कृषि के कार्यो को भी बहुत ध्यान से देखते थे। निम्नलिखित दोहा इसका उदाहरण है —

सनु सूक्यौ बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि ।
हरी हरी अरहरि अजैं धरि धरहरि जिय नारि ।।

बिहारी ने इस दोहे मे समाप्त होने वाली फसलो का क्रमश: उपादान किया है। पहले तो सन काटा जाता है। उसके बाद कपास का नम्बर आता है, फिर ईख समाप्त होती है और उसके बाद अरहर काटी जाती है। कपास जब तैयार हो जाती है तब उसकी डोडियो को चुन लिया जाता है। इसका भी बिहारी के निम्नलिखित दोहे मे प्रभाव पाया जाता है —

फिरि फिरि बिलखी ह्वै लखति, फिरि फिरि लेति उसासु ।
साईं ! सिर-कच सेत लौं बीत्यौ चुनति कपासु ।।

बिहारी को प्रकृति का ज्ञान पुस्तकीय तो था ही साथ ही ये प्रत्यक्ष रूप मे भी प्रकृति के रहस्यो को देखने और समझने की चेष्टा किया करते थे। इनके

कई-एक दोहों में प्रकृति पर्यवेक्षण की छाया पाई जाती है। इनके कई-एक दोहो से ज्ञात होता है कि इन्हें पुष्पो का अच्छा ज्ञान था। निम्नलिखित दोहे मे इन्होने कई पुष्प गिनाये हैं —

कत लपटइयतु मो गरैं सो न जु ही निसि सेन।
जा चम्पक बरनी किए गुल्लाला रंग नैन।।

इस दोहे मे कई पुष्पो के नाम आ गये हैं। दो एक शब्दो को छोड़ कर यह दोहा पुष्पो के नामों से ही बना है। लपटह्या (इश पेंच) मोगरा (एक प्रकार का वेला) सोन जुही, निशि शयन (कमल), चंपक, वरणी (पर्णी) गुल्लाला, नैन (पचनैना) ये पुष्पो के नाम अर्थ में उपकारक नही होते। तथापि इनसे कवि का पुष्पो का ज्ञान अवश्य प्रकट होता है। यह एक प्रकार का मुद्रालकार है। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे में भी दो पुष्पो के नाम लिये गए हैं

सोनजुही सी जगमगति अँग अँग जीवन जोति।
सुरग, कुसू भी कचुकी दुरग देह दुति होति।।

इस दोहे में सोनजुही और कुसु म का पुष्प इन दोनो का उल्लेख किया गया है। भौंरा आक के फूल पर नही बैठता। इस तथ्य की ओर भी बिहारी ने सकेत किया है :—

खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि।
आक कली न रली करै, अली अली जिय जानि।।

इसी प्रकार भौंरा चपा के फूल पर नहीं बैठता, इस ओर भी बिहारी ने सकेत किया है :—

जटित नीलमनि जगमगति सींक सुहाई नाक।
मनौं चम्पक कली, बसि रस लेत निसाक।।

निम्नलिखित दोहे मे भी दो-एक पुष्पो की उपमा दी गई है :—

केसरि के सरि क्यौं सकै चपक कितकु अनूप।
गात रूपु लखि जातु दुरि जातरूप को रूप।।

निम्नलिखित दोहे से प्रकट होता है कि बिहारी की रुचि बागवानी की ओर भी थी :—

लग्यौ सुमन ह्वै है सफलु, आतप रोसु निवारि।
बारी बारी आपनी सींचि सुहृदता बारि।।

बसन्त में पतझड होने के बाद वृक्षो में हरियाली आती है किन्तु वर्षाकाल मे स्वयं ही वृक्षो की हरीतिमा बढ जाती है। इस तथ्य को ओर बिहारी ने निम्नलिखित दोहे मे सकेत किया है —

नहिं पावसु ऋतुराज यह, तजि तरुवर चित भूल।
अपतु भए बिनु पाइ है क्यौं नव दल, फल, फूल।।

इसके अतिरिक्त बिहारी ने कतिपय पौधो की विशेषताओ की ओर भी ध्यान दिया था। सेहुड मे यह विशेषता होती है कि उसके दूध से किसी कागज पर पत्र लिख दिया जावे तो सूख जाने के बाद वे अक्षर दिखलाई नही देते। यदि वह कागज कही भेज दिया जावे तो कोई उसे कोरा कागज समझ कर फेंक देगा, किन्तु यदि उसी कागज को कुछ आँच दिखला दी जावे तो वे समस्त अक्षर उभर आते है। बिहारी ने इस तथ्य को बडी ही निपुणता के साथ रक्खा है। हृदय एक कागज है जिस पर सेंहुड के दूध से लिखे हुए अक्षरो की भान्ति प्रेम विद्यमान है और लक्षित नहीं किया जा सकता। विरह में तचकर वही हृदय रूपी पत्र प्रेम रूपी सेहुड के अको को प्रकट करने लगता है —

छुतौ नेहु काजर हियैं, भई लखाइ न टाँकु।
बिरह तचैं उघर्यौ सुअब सेंहुड कैसो आँकु॥

उसी प्रकार सूरण का शाक यदि कच्चा रह जाता है तो मुख मे किनकिना-हट पैदा किया करता है। इस तथ्य के द्वारा बिहारी ने सर्वगुणसपन्न नायक की कच्चाई से दुःख होने की बात कही है —

लालन सलोने अरु रहे अति सनेह सौं पागि।
तनक कचाई देत दुख सूरन लौं मुँहु लागि॥

बिहारी ने जगली जानवरो के स्वभाव का भी थोडा बहुत ज्ञान प्राप्त किया था। चीता के शिकार के विषय मे प्रसिद्ध है कि वह शाम को पेड़ पर चढ कर छिप-कर बैठ जाता है। जब रात मे कोई हरिण उस वृक्ष के नीचे आता है तब वह उस पर ऊपर से टूट पडता है। बिहारी ने इस तथ्य के द्वारा घूघट की ओट से नायिका के कटाक्षो के प्रभाव का वर्णन किया है।

डारी सारी नील की ओट अचूक चुकै न।
मो मन-मृगु करबर गहैं अहे अहेरी नैन॥

आचार्यों का मत है कि कवि को देश-विदेश की विशेपताओ का भी ज्ञान होना चाहिए। यद्यपि बिहारी की रचना मे विशेप रूप से देश-भेद का वर्णन नहीं पाया जाता तथापि उन्होने मारवाड़ का वर्णन दो दोहो मे किया है। जिससे इस प्रकार का भी प्रतिनिधित्व हो जाता है —

विषम वृषादित की तृषा जिये मतीरनु सोधि।
अमित, अपार, अगाध-जलु मारौ मूड पयोधि॥
प्यासे दुपहर जेठ के फिरे सबै जल सोधि।
मरुधर पाइ मतीरहूँ मारू कहत पयोधि॥

बिहारी ने अपने समय के अन्धविश्वासो का भी पर्याप्त वर्णन किया है। किसी की चोरी खोलने के लिए पानी से भरी कटोरी चलाई जाती थी। वह कटोरी जिस के सामने रुक जाती थी वही वास्तविक चोर माना जाता था। बिहारी ने इसकी उपमा नायिका के नेत्रों के लिए प्रयुक्त की है.—

सब ही त्यौं समुहाति छिनु, चलति सबन दे पीठि।
वाही त्यौ ठहराति यह, कवितनवी लौं, दीठि ॥

यमक इत्यादि के सयोग से मोहन तथा वशीकरण की क्रियायें की जाती थी। यदि ये उलटी पड जाती थीं तो इनका प्रभाव प्रयोक्ता पर ही पडता था। बिहारी ने इस क्रिया का सुन्दरता के साथ वर्णन किया है:—

साजे मोहन मोह कौं, मोहीं, करत कुचैन।
कहा करौं, उलटे परे, टोने लोने नैन ॥

उस समय कुछ ऐसे तान्त्रिक लोग भी थे जो स्त्री-पुरुषो का अपहरण किया करते थे। ये कभी तो अभिमन्त्रित गुड की डली का स्पर्श करा देते थे, जिससे प्रयोज्य व्यक्ति स्वय ही पीछे-पीछे चल देता था और कभी कुछ चूर्ण छिडक देते थे और इस प्रकार किसी भी व्यक्ति को ठग लेते थे। इन दोनो तथ्यो का उपादान बिहारी ने क्रमश. सर्वांग-सौन्दर्य तथा नख सौन्दर्य के वर्णन के लिये किया है—

मोहूँ लौं तजि मौहु, दृग चले लागि उहिं गैल।
छिनकु छ्वाइ छवि-गुर डरी छले छबीलैं छैल ॥
नख रुचि-चूरनु डारि कै, ठगि, लगाइ निज साथ।
रह्यौ राखि हठि लै गए हथाहथी मनु हाथ ॥

एक सामान्य अन्धविश्वास था कि कभी-कभी तेल इत्यादि के रहने पर भी दीपक की लौ मन्द पडने लगती है। उस समय समझा जाता है कि दीपक किसी पाहुने के आगमन की सूचना दे रहा है। वहाँ बैठे हुए लोग एक-एक विदेशी प्रेमी का नाम लेते है और जिसके नाम लेने पर दोपक भभक कर जल उठता है·लोग समझते हैं कि वही व्यक्ति आने वाला है। बिहारी ने अप्रस्तुत योजना के निमित्त इस अन्ध-विश्वास का उपादान नायिका की कृशता और नायक का नाम सुनकर एकदम भभक उठने के लिये किया है—

नैंक न जानी परति, यौं पर्यौ बिरह तनु छामु।
उठति दियै लौं नाँदि, हरि, लियैं तिहारौ नामु ॥

एक दोहे मे बिहारी ने मुसलमानो के मलिग नामक सन्यासियों का भी अप्रस्तुत योजना के लिए उपादान किया है। ये सयासी औघडो और अलखियो की भाति कौडो की लडी और लोहे की सांकलो से अपने को कसे रहते हैं और किसी एकान्त स्थान मे मौनावलम्बन किये ईश्वर के ध्यान मे निमग्न पडे रहते हैं। बिहारी ने विरहिणी की आँखो के लिए इनकी उपमा का प्रयोग किया है—

कौड़ा आँसू बूँद कसि साँकर बरुणी सजल
कीन्हें बदननि मूँद दृग मलंग डारे रहत ॥

एक दोहे से बिहारी की वास्तु-कला विषयक रुचि भी प्रकट होती है—

कालबूत दूती बिना जुरै न और उपाइ।
फिरि ताकैं टारैं बनैं पाकैं प्रेम-लदाइ ॥

ऊपर विहारी का अनेक शास्त्र, पुराण, इतिहास तथा लोक का ज्ञान दिखलाया गया है। इससे यह तो सिद्ध नही होता कि विहारी अनेक शास्त्रो के प्रकाण्ड पण्डित थे, वे वहुत उच्च कोटि के गणितज्ञ तथा वैज्ञानिक थे, उन्होने समस्त पुराणो, दर्शनो और इतिहास-कथाओ का पूर्ण रूप मे परिशीलन किया था तथा अपने समय के वे इन विषयो के अधिकारी विद्वान् माने जाते थे। कोई भी विचारशील व्यक्ति कामदेव के लिये वधिक की उपमा देखकर यह नही कह सकता कि विहारी हत्यारे थे और वधिक का काम किया करते थे। शिकार का वर्णन देख कर यह भी सिद्ध नही होता कि विहारी राजा जयसिंह के साथ शिकार खेलने जाया करते थे। किन्तु इतना अवश्य सिद्ध होता है कि विहारी की रुचि वहुमुखी थी। वे अनेक शास्त्रो की मोटी-मोटी वातो को अपने काव्य मे कही अप्रस्तुत-योजना के लिए और कही वर्ण्य विषय के रूप मे प्रयुक्त किया करते थे। जहाँ कही भी वे जाते थे अथवा जिस प्रकार वे लोगो से मिलते थे उनके क्रिया कलापो के रहस्य को समझने की चेष्टा किया करते थे और उनमे रुचि लेते थे। उनकी काव्य-साधना एकान्तनिष्ठ नही थी, केवल पुस्तकीय ज्ञान ही उनका प्रेरक नहीं था, अपितु वे अपने समय की रीति-नीति, आचार-व्यवहार, धर्म, दर्शन, इत्यादि मे तो रुचि लेते ही थे, साथ ही लौकिक ज्ञान से भी प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त करना चाहते थे। यही कारण है कि जहा उनके काव्य मे अनेक शास्त्रो की छाप पाई जाती है, वहाँ उनका लोक-ज्ञान भा पर्याप्त रूप मे वढा-चढ़ा है। उन्हे शहरी जीवन का तो प्रत्यक्ष अनुभव था ही, ग्रामीण जनता की आन्तरिक स्थिति को उन्होंने पर्याप्त रूप में समझा था। जहाँ वे अद्वैत वेदान्त जैसे उच्च कोटि के दार्शनिक विषयो मे रुचि रखते थे वहाँ अत्यन्त निम्न कोटि के अन्धविश्वासो का भी उन्हें पूरा ज्ञान था। पशु-पक्षियो की चेष्टाओ को भी उन्होने प्रत्यक्ष रूप मे जानने की चेष्टा की थी और वच्चो से लेकर वड़े वूढो तक के आमोद प्रमोदो को उन्होने समझने की चेष्टा की थी। इस प्रकार उच्च कोटि के कवि वनने के लिए जिस निपुणता की आवश्यकता होती है वह उन्होंने पुस्तको से भी प्राप्त करने की चेष्टा की थी और प्रत्यक्ष अनुभव से भी उसे प्राप्त किया था। प्राय उन्ही अप्रस्तुतो का स्फुरण हुआ करता है जिनमे कवि रुचि रखता है। इस प्रकार प्रकाण्ड पाण्डित्य न सही किन्तु विहारी की इन विपयो मे रुचि अवश्य सिद्ध होती है इसमे सन्देह नही।

बिहारी के उपजीवक

कवि को शास्त्रीय तथा लोकवृत्त के ज्ञान के अतिरिक्त प्राचीन कवियो के काव्यो का परिशीलन भी आवश्यक होता है। श्री अभिनव गुप्तपदाचार्य ने लोचन (उद्योत ४) मे लिखा है कि वर्णनीय वस्तु के स्फुरण की प्रज्ञा को ही प्रतिभा के नाम से अभिहित किया जाता है। वर्णनीय विषय सीमित होते हैं। उन सवका सस्पर्श किसी न किसी रूप मे आदि कवि वाल्मीकि ने ही कर लिया था। अतएव समस्त

कवियो की प्रतिभा का स्फुरण उसी प्रकार का या उसी जाति का होगा और काव्य भी उसी प्रकार बनेगा। इस प्रकार धीरे-धीरे कवि शब्द का प्रयोग ही नष्ट हो जावेगा। किन्तु नवीनता उक्ति-वैचित्र्य में होती है। पुराना ही अर्थ लेकर नवीन युक्ति तथा चमत्कार के साथ उसका अभिधान कर देना काव्य मे नवीनता का सचारक होता है। इसीलिए ध्वनिकार ने लिखा है:—

ध्वनेर्यं सगुणीभुतव्यग्यस्याध्वा प्रदर्शित ।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुण ।।
अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता ।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि ।।

(गुणीभूत व्यग्य के साथ ध्वनि का जो मार्ग दिखलाया गया है उससे कवियों का प्रतिभागुण अनन्तता को प्राप्त हो जाता है। जो प्रकार ध्वनि तथा गुणीभूत व्यग्य के बतलाये गए है उनमे एक भी प्रकार से विभूषित होकर पूर्व अर्थ से अन्वित हुई भी वाणी नवीनता को धारण कर लेती है।)

इसके बाद ध्वनिकार कहते है —

दृष्टपूर्वा अपि त्वर्था काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमा ।

(प्राचीन कवियो ने जो अर्थ लिख भी दिये है उन्ही अर्थों मे जब नवीन रूप मे रस का परिग्रह किया जाता है तब सभी अर्थ उसी प्रकार नवीन प्रतीत होने लगते हैं जैसे मधुमास में वृक्ष नवीन मालूम पडते हैं।)

आशय यह है कि कवि अधिकतर पुराने अर्थों को ही नवीन भगिमा के साथ कहता है। नवीनता अर्थ मे नही अपितु उक्ति-वैचित्र्य तथा चमत्कार में होती है और रस का सचार अन्य रूप मे कर दिया जाता है जिससे रचना नवीन न होते हुए भी नवीन सी प्रतीत होने लगती है। अतएव अच्छा कवि वही हो सकता है जो काव्यशास्त्र तथा शब्दशास्त्र के अतिरिक्त जहाँ दूसरे शास्त्रो का चलता हुआ ज्ञान प्राप्त करे वहाँ प्राचीन कवियो की रचनाओ को भी गहराई के साथ पढे और उनसे अर्थों के उपादान की चेष्टा करे। पुराने अर्थ मे नवीन चमत्कार का सचार ही काव्य की मौलिकता है। काव्य मे अर्थापहरण निन्द्य नही माना जाता और न अपहरण का दोप ही कवियो को लगता है। किन्तु उसमे रमणीयता का आधिक्य अवश्य होना चाहिये। कहा जाता है कि काव्य-जगत् मे दूसरे के भवन से ईंट निकाल लाना चोरी नही माना जाता। चोरी तब होती है जब उस ईट को अपने भवन मे अधिक सुन्दरता से अथवा उतनी ही सुन्दरता से सजाया न जा सके। जब कवि जिस अर्थ का उपादान करता है उतनी ही सुन्दरता के साथ उसे अपने काव्य मे सजा न सके तभी कवि अर्थापहरण का दोपी माना जाता है।

क्षेमेन्द्र तथा राजशेखर ने अर्थापहरण के उपायो का भी निरूपण किया

है। क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि कवि कही एक शब्द का उपादान करता है, कही वाक्य का उपादान करता है, कही केवल पद्य की छाया ही लेता है और कही सभी तत्वो का उपादान करता है। राजशेखर ने काव्य मीमासा के १२ व अध्याय मे अर्थाहरण के प्रकारों का उल्लेख किया है। उन्होने अर्थाहरण की दृष्टि से काव्य को तीन भागो मे विभाजित किया है—अन्ययोनि, निह्नुतयोनि और अयोनि। अन्ययोनि के भी दो भाग किये गए हैं—प्रतिबिम्बकल्प और आलेख्य-प्रख्य। इसी प्रकार निह्नुत-योनि को भी दो भागो मे विभाजित किया जाता है, तुल्य देहि तुल्य और परपुर-प्रवेश सदृश। अयोनि केवल एक प्रकार का ही होता है। इस प्रकार अर्थाहरण की दृष्टि से काव्य के पाँच भेद होते है। प्रतिबिम्ब-कल्प काव्य वह होता है जिसमे किसी कवि के कहे हुए समस्त अर्थ को लेकर दूसरा वाक्य बनाया जावे किन्तु उसमे तात्विक भेद न हो। जहाँ पर वाक्यार्थ का इतना सस्कार कर दिया जावे कि वस्तु भिन्न के समान प्रतीत होने लगे उस अर्थाहरण को आलेख्य प्रख्य कहते हैं। जिस काव्य मे पुराने अर्थ से मूल की तो एकता हो किन्तु परिकर बन्ध सर्वथा भिन्न हो—उस शब्द को परपुर-प्रवेश सदृश कहते है। तुल्यदेहितुल्य काव्य वह होता है जिसमे विषय का भेद होते हुए भी अत्यन्त सादृश्य के कारण अभेद बुद्धि उत्पन्न हो। अयोनि काव्य कवि की मौलिक उद्भावना को कहते हैं। इस प्रकार के अर्थाहरण दूषित नही माने जाते। इसी उक्ति-वैचित्र्य मे नवीनता अगीकार करने के कारण ससार मे सभ्यता के अरुणोदय काल से लेकर कवि निरन्तर कविता करते चले आये तथापि वाणी का प्रवाह समाप्त नही हुआ।

विहारी उन कवियो मे से है जिनमे प्रतिभा के साथ निपुणता भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान होती है। पिछले अध्यायो मे दिखलाया जा चुका है कि इन्होंने काव्य-जगत् के मूल प्रवृत्ति-निमित्तो को अनेक दृष्टियो से समझने की चेष्टा की थी और उन सबका प्रतिफलन इनके काव्य मे पाया जाता है। इनकी सतसई को देखने से ज्ञात होता है कि ये सस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श तीनो भाषाओ से परिचित थे, इन्होने तीनो भाषाओ के काव्यो का पूरी तन्मयता के साथ अध्ययन किया था और उनके अर्थों को अपने काव्य में स्थान दिया था। अनेक विद्वानो ने विहारी के काव्य का अन्य कवियो से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। किन्तु खेद के साथ कहना पडता है कि ये तुलनायें निष्पक्ष नही हुई है। किसी ने विहारी की उन्ही उक्तियो को अन्य कवियो की उक्तियो से अधिक अच्छा ही सिद्ध किया है और दूसरो ने विहारी को सर्वत्र गिराने की ही चेष्टा की है। इसमे सन्देह नही कि इस प्रकार की तुलना न तो समीचीन ही कही जा सकती है और न उपादेय ही। इस प्रकार की तुलना राग-द्वेष से रहित भी नही हो सकती। एक एजिन दूसरे से अच्छा या बुरा कहा जा सकता है किन्तु आम की खटास या मिर्चों की कडुआहट गन्ने की मधुरता से अच्छी या बुरी नही कही जा सकती। रस के क्षेत्र मे इस प्रकार की तुलना उचित नही होती। अतएव प्रस्तुत प्रकरण मे केवल यह दिखलाने की चेष्टा की

जावेगी कि विहारी के काव्य में किन काव्यो का प्रभाव पडा है। यदि बिहारी के काव्य में किसी स्थान पर कोई विशेष नवीनता होगी तो उसका भी यथास्थान निर्देश कर दिया जावेगा। किन्तु उसका मन्तव्य तुलना नही है।

यदि गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया जावे तो विहारी का प्रत्येक दोहा किसी न किसी प्राचीन कविता पर आधारित है। किन्तु यहाँ पर केवल कुछ उदाहरण देकर ही सन्तोष किया जावेगा।

हाल और बिहारी

विहारी ने अपनी सतसई की रचना हाल के आदर्श पर ही की है और हाल ही मुक्तक काव्य के क्षेत्र में आदर्श रहे है। बिहारी ने सामान्य रूप से आदर्श अपनाने के अतिरिक्त उनके कतिपय पद्यो की छाया पर भी दोहे लिखे हैं। इस विषय में निम्नलिखित उदाहरण दिये जा सकते हैं :—

(१) अण्णाण विहोन्ति मुहे पम्हलधवलाइ दीहकसणाइ।
त अणाइं सुन्दरीण तह विहु दट्ठुण जाणन्ति ॥ (गाथा)

विहारी ने इस दोहे की छाया पर निम्नलिखित दोहा लिखा है :—

अनियारे, दीरघ द्दगनु किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान ॥

विहारी के दोहे में गाथा की अपेक्षा 'औरे कछू' की सम्बन्धातिशयोक्ति तथा 'जिहि बस होत सुजान' से व्यक्त होने वाली चितवन की प्रभावशालिता विशिष्ट है। पद के पूर्वार्ध मे वक्रता के अन्तर्गत सवृति वक्रता भी अपना नया चमत्कार स्थापित किये हुए है।

(२) फुरिए धामच्छि तुए एहिइ सो पिओज्ज ता सुइरम्।
संमीलिय दहिणाअ तुइ अवि एहं पलोइस्सम् ॥ २१३ ॥

इस गाथा मे वामनेत्र के स्फुरण का फल यदि प्रियतम का मिलना हो तो दाहिना नेत्र बंद कर केवल वायें से ही देखने की बात कही गई है। बिहारी ने इसी की छाया लेकर निम्नलिखित दोहा लिखा है —

बाम बाँह फरकति, मिलैं जौ हरि जीवन मूरि।
तौ तोहीं सौं भेटिहौं राखि दाहिनी दूरि ॥

गाथा मे एक आँख मीच कर देखना कुछ अशिष्टता भी है तथा एक आँख से देखना अशकुन भी माना जाता है। विहारी ने बाहु-स्फुरण मे उसे परिवर्तन कर उस दोष को दूर कर दिया है।

(३) असरिसचित्ते दिहरे सुद्धमणा पिअअमे विसमसीले।
ण कहइ कुडुम्बविहडणभएछ तणुआअए सोह्ला ॥ १।२६

अर्थात् प्रियतम विषम शील वाला है और देवर का चित्त असदृश है। स्नुषा कुटुम्ब विघटन के भय से कहती नहीं है, कृश होती चली जाती है। इस पर बिहारी का दोहा :—

कहति न देवर की कुबत कुल-तिय कलह डराति ।
पंजर गत मँजार-ढिग सुक ज्यौं सूकति जाति ।।

दोहे मे प्रियतम की विषमशीलता व्यग्य है और गाथा मे वाच्य है। दोहे में अप्रस्तुत योजना अतिरिक्त है। इसी आशय की एक गाथा और प्राप्त होती है जिस मे नायिका देवर को स्वयं उपदेश देती है—

दिअरस्य असुद्धमणस्य कुल वहू णिअअकुड्डुलिहिआइ ।
दिअहं कहेइ रामाणुलग्गसोमित्तिचारिआइ ।।

अर्थात् कुलवधू अशुद्ध मन वाले देवर के सामने अपने भवन के कुड्य पर लिखे हुए राम का अनुसरण करने वाले लक्ष्मण के चरित्रो को दिन भर कहती रहती है क्योकि रात मे अशुद्ध मन होने के कारण उतना प्रभाव नहीं पड सकता।

(४) अवलम्बिअमाणपरम्मुहीए एन्तस्य माणिणि पिअस्य ।
पुट्ठपुलउग्गमो तुद कहेइ संमुहठिअ हिअअ ।। १।८७

अर्थात् तुम्हारे सामने प्रियतम आ रहा है और तुम स्वय मान का अवलम्बन कर पराङ्मुखी हो रही हो। किन्तु तुम्हारी पीठ पर जो पुलकोद्गम हो रहा है वह वतला रहा है कि तुम प्रियतम के अनुकूल ही हो। इस पद्य की छाया विहारी के निम्नलिखित दोहे मे पाई जाती है —

रहि मुँहु फेरि कि हेरि इत, हित-समुहौ चित्तु, नारि ।
डीठि परस उठि पीठि के पुलके कहैं पुकारि ।।

गाथा और दोहे का भाव प्राय एक ही है।

(५) अज्जोदुक्करआरअ पुणोवि तान्ति करेसि गमनस्य ।
अज्ज वि ण होन्ति सरला वेणीअ तरंगिणो चिउरा ।।

अर्थात् हे दुष्कर कारकआजभी वेणी के तरगित केश सरल नही हो सके है, फिर भी तुम गमन की चिन्ता करने लगे हो। इस आशय को लेकर विहारी ने लिखा है—

अजौं न आए सहज रग विरह-दूबरैं गात ।
अब ही कहा चलाइयति, ललन, चलन की बात ।।

यहाँ पर वेणी के तरगित केशो के सरल न होने के स्थान पर विहारी ने 'विरह दूबरे गात सहज रग न आए' कहकर एक नवीन चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। गाथा सप्तशती के टीकाकार श्री मथुरानाथ जी शास्त्री ने प्रस्तुत गाथा की पाद-टिप्पणी मे लिखा है कि तरगित केश प्रसाधन इत्यादि के द्वारा शीघ्र सरल हो जाते है किन्तु शरीर की दुर्बलता शीघ्र दूर नही होती। अतएव गाथा के नायक का शीघ्र ही जाने के लिये उद्यत होना उसके हृदय की कठोरता को अधिक सिद्ध करता है। इस प्रकार गाथा दोहे की अपेक्षा अधिक सुन्दर है। किन्तु यहाँ पर ध्यान देने की वात यह है कि गाथा और दोहा दोनो का प्रतिपाद्य नायक की कठोर-हृदयता नहीं

अपितु नायिका की उत्कठा है। गाथा से सिद्ध है कि नायक प्रवास से लौट कर आया है और शीघ्र ही जाने के लिये उद्यत हो गया है। अतएव नायिका का निषेध उचित ही है। यदि दो-चार दिन भी हो गये होते और प्रसाधनादि से केश भी ठीक कर लिये होते तो भी यदि नायक प्रस्थान के लिये उद्यत होता तो नायिका को आपत्ति नही हो सकती थी। इसके प्रतिकूल दोहे का नायक लौटकर कुछ समय तक रह लिया है। फिर भी नायिका तृप्त नही हुई है वह उसे छोडना ही नही चाहती। इस प्रकार दोहे मे औत्सुक्य का आधिक्य अवश्य अभिव्यक्त होता है। श्री शास्त्री जी ने दुष्कर कारक और ललन इन सम्बोधनो के अन्तर पर भी ध्यान दिया है। शास्त्री जी का कहना है कि नायक की कठोरहृदयता को सिद्ध करने के लिये गाथाकार का सम्बोधन अच्छा है। किन्तु यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि नायक की कठोर हृदयता की अपेक्षा नायिका की विरह-व्यथा की तीव्रता अधिक अपेक्षणीय है। नायिका अपनी वेदना का वर्णन कर नायक के हृदय मे कोमलता उत्पन्न करना चाहती है। 'ललन' इस सम्बोधन से व्यक्त होता है कि मेरा आनन्द तुम्हारे ही हाथो में है। पहले की कृशता अभी बनी हुई है, यदि पुन तुम्हारे वियोग का दुःख मुझे सहना पडा तो मेरे सारे आनन्द समाप्त हो जावेंगे और पहले तो मै केवल कृश ही हो गई थी जीवन बचा रहा था किन्तु अबकी बार सम्भवत जीवन भी शेष नही रहेगा। इस प्रकार 'ललन' सम्बोधन से नायिका की विरह-वेदना की अभिव्यक्ति अधिक होती है। श्री शास्त्री जी ने लिखा है कि गाथा मे 'चिन्ता करने की बात ही गई है और दोहा मे बात चलाना' लिखा है। चिन्ता से ही नायिका का व्यथित हो जाना अधिक समीचीन है, किन्तु यहा पर ध्यान देने वाली बात यह है कि नायक जाने के लिये चिन्तित रहता है अतएव सुरत इत्यादि में उसका मन नही लगता है। इस कारण नायिका का व्यथित हो जाना स्वाभाविक हो है। इसके प्रतिकूल दोहे मे कहा गया है कि 'जाने की बात चलाई जाती है।' अभी केवल बात ही उठी है। दूसरी बात यह है कि यहाँ पर कर्मवाच्य क्रिया का प्रयोग हुआ है। अतएव यह सिद्ध नही होता कि बात किसने की है। सम्भव है नायक ने बात न की हो घर के बडे बूढ़ो ने या पास पडौस वालो ने बात की हो कि अमुक सज्जन को एक बार फिर वहाँ हो आना चाहिये। केवल इसी बात को सुनकर नायिका इतनी व्यथित हो गई हो। इस प्रकार गाथा के भाव को लेकर विहारी ने एक नवीनता अवश्य उत्पन्न की है, इसमे सदेह नही।

(६) जाव ण कोसविकास पावइ ईसीस मालईकलिआ।
मअरन्द पानलोहिल्ल भमर तावच्चिय मलेसि॥ ५।४४

अर्थात् हे मकरन्द-पान लोलुप भ्रमर जब तक मालती की कली कुछ कोष विकास को नही प्राप्त हो जाती तब तक तुम उसका मर्दन क्यो कर रहे हो? इसी गाथा का आशय लेकर आर्याकार गोवर्धन ने लिखा था :—

पिब मधुप बकुलकलिकां दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय ।
अधरविलेपसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि ।।

इसी भाव को लेकर विहारी ने लिखा है :—

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिं काल ।
अली, कली ही सौं बँध्यौ, आगैं कौन हवाल ।।

गाथा के भाव मे विपयासक्त मित्र के प्रति भावी अनर्थ की आशका के कारण व्याकुलता, एकान्त हितैपिता तथा परिणामदर्शिता के सुहृज्जनोचित भावो का समावेश कर एक नवीन चमत्कार उत्पन्न कर दिया गया है ।

हल्लफलह्राणपसाहिआणं छणवासरे सवत्तीणम् ।
अज्जाएँ मज्जणाणाभरेण कहिअ व सोहग्गम् ।। १—७६

अर्थात् उत्सव के दिन सोत्साह स्नान तथा प्रस्थान किये हुए सपत्नी वर्ग के वीच मे आर्या (नायिका) ने स्नान के प्रति अनादर द्वारा अपना सौभाग्य प्रकट किया । इस गाथा का भाव लेकर विहारी ने लिखा है —

तीज परव सौतिनु सजे भूषनु बसन सरीर ।
सबै मरगजे-मुँह करीं इहीं मरगजैं चीर ।।

गाथा की अपेक्षा विहारी के भाव मे यह विशेषता है कि गाथा में स्नान के अनादर के द्वारा सौभाग्य के स्थापन की वात कही गई है जो कि स्वयं असौभाग्य का लक्षण है । उसके स्थान पर विहारी ने मरगजे चीर को रखकर नायिका के सौभाग्य गर्व की व्यजना की है । इसके अतिरिक्त मरगजे का शब्दालकार भी सुन्दर है ।

(८) सहइ सहइ त्तितहतेण रामिआ सुरअदुव्वि अद्धेण ।
पम्माअसिरीसाइ व जह से जाआइं अंगाइं ।। १।५५

अर्थात् धीरे धीरे एक एक प्रकार को सहा सहा कर नायक ने इस प्रकार रमण किया कि नायिका के अग अम्लान शिरीष पुष्पवत् कुम्हला गये । इसी आशय को लेकर केशव ने निम्नलिखित पद्य लिखा था :—

सुखदै सखीन बीच दैके सौहैं खायकै,
खवाय कछु खाय वसु की ही वरयस है ।
कोमल मृणालिका सी मल्लिका सी मालिका सी,
वालिका जु डारि मींडि मानुस कै पसु है ।।
जाने ना विभात भयो केशव सुनै को वात,
देखो आनि गात जात भयो कैधों असु है ।।
चित्र सी जु राखि वह चित्रिणी विचित्र गति,
देखौ धौं न ये रसिक यामे कौन रसु है ।।

विहारी ने इसी भाव को लेकर लिखा है :—

यौं दलिमलियतु, निरदई, दई, कुसुम सौ गातु।
करु धरि देखौ, धरधरा उर कौ अजौं न जातु।।

गाथा में नायिका के अगो के शिरीप पुष्पवत् कुम्हला जाने की बात कही गई थी। केशव ने नायक मे विशेप छल कपट की व्यंजना की और सखियो के उपालम्भ में कुछ ग्राम्य दोप भी आ गया। बिहारी के दोहे मे शरीर के लिये पुष्प की उपमा प्रस्तुत प्रकरण के अत्यन्त उपयुक्त है। दलिमलियतु की कर्मवाच्यता ग्राम्यत्व का निराकरण करने वाली है तथा हृदय पर हाथ रखने की प्रेरणा कौतुक से खाली नहीं। बिहारी के दोहे में सखियो के उपालम्भ मे नायिका के सौभाग्य के कारण सखियो के हर्प की व्यजना होती है।

अमरुक और बिहारी

दूसरे जिस कवि से बिहारी ने अर्थों का उपादान किया है वह है अमरुक। अमरुक के पद्यो के विपय मे प्रसिद्ध है कि इनका एक-एक पद्य सौ-सौ प्रबन्धो के समान महत्वपूर्ण है। बिहारी ने पूर्ण सफलता से अमरुक के पद्यो की छाया अपने दोहो मे अपनायी है। सबसे बडी विशेपता यह है कि अमरुक ने अधिकतर बडे पद्य ही लिखे है। इन बडे-बडे छन्दो का पूरा भाव दोहा जैसे छोटे छन्द मे सन्निविष्ट कर देना बिहारी की अपनी विशेपता है। कतिपय उदाहरण लीजिये —

(१) शून्य वासगृह विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनात्,
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिर निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विश्रब्ध परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीम्,
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिर चुम्बिता।।

अमरुक का यह पद्य अत्यन्त प्रसिद्ध है और काव्यशास्त्र मे सयोग शृंगार के उदाहरण के रूप मे इसे प्राय उद्धृत किया जाता है। इस दोहे का आशय लेकर बिहारी ने निम्नलिखित दोहा लिखा है —

मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुँह चूम्यौ ढिग जाइ।
हँस्यौ, खिसानी, गर गह्यौ, रही गरैं लपटाइ।।

बिहारी ने उपर्युक्त पद्य के आशय का अपने छोटे से दोहे मे कितना सुन्दर निर्वाह किया है इसमें सहृदय ही प्रमाण है। 'बाला चिर चुम्बिता' नायक की क्रिया का परिचायक है तथा 'रही गरैं लपटाइ' नायिका की क्रिया की व्यजना करता है। नायक की अपेक्षा नायिका की क्रिया मे चमत्कार की विशेपता तथा रमणीयता का आधिक्य अवश्य है। इस प्रकार अमरुक के पद्य का आशय लेकर भी बिहारी ने उसमे एक नवीनता का सचार कर दिया है।

(२) मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिल काल. किमारभ्यते,
मान धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरीकुरु प्रेयसि।
सख्यैव प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना,
नीचै शस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति।।

इस पद्य की छाया विहारी के निम्नलिखित दोहे में पाई जाती है —

सखी सिखावति मान विधि सैननि वरजति वाल।
हुल्ये कहु मो मन वसत सदा विहारी लाल ।।

विहारी ने पूरे पद्य का भाव तो कतिपय शब्दो मे आत्मसात् कर ही दिया है, दो-एक और नवीनतायें दोहे मे आ गई हैं। अमरुक की नायिका सखी को सब कुछ कह जाने का अवसर देती है और जब सखी पूरी दो पक्तियाँ कह जाती है तभी वह उसका निषेध करती है। किन्तु विहारी की नायिका प्रारम्भ से ही सखी को रोक देती है। दूसरी वात यह है कि अमरुक की नायिका शब्दो के द्वारा मना करती है जिनको हृदयस्थित प्रियतम भी सुन ही सकते है अतएव मना करने के कारण मे सच्चाई नही आ पाती। इसके प्रतिकूल विहारी की नायिका इशारो से मना करती है जिससे प्रियतम का हृदय-स्थित होना प्रमाणित हो जाता है। विहारी की नायिका के हृदय में नायक सर्वदा विराजमान रहता है जो वात अमरुक की नायिका के विषय में नही पाई जाती। अमरुक की नायिका के हृदय मे 'प्राणेश्वर' इस समय विद्यमान है। सदा रहते हैं या नही ईश्वर जाने। विहारी के दोहे का 'विहारीलाल' शब्द भी व्यजक है—जो नायक स्वय विहार करने मे पटु है और इसी कारण-हृदय-सम्राट् वन गया है उससे मान करने की ताव नायिका मे कैसे हो सकती है। इस प्रकार अमरुक के भाव को लेकर विहारी ने उसमे नया चमत्कार उत्पन्न कर दिया है।

(३) त्व मुग्धाक्षि विनैव कचुकिकया धत्से मनोहारिणीम्,
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ।।
× × × ×
निर्यात शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ।।

इस पद्य की छाया पर विहारी ने लिखा है —

पति रति की वतिया कहीं सखी लखी मुसकाइ।
कै कै सवै टलाटली अली चली सुखु पाइ ।।

पद्य मे पति सारी वातें कह जाता है वह सखियो के सामने ही नायिका के वक्षस्थल को अनावृत भी करना चाहता है। यह वेहयाई है। इसके प्रतिकूल दोहे मे पति सकेतमात्र करता है। दूसरी वात यह है कि दोहे मे नायिका अपनी अन्तरङ्गिणी सखी से अभिप्राय गर्भित मुस्कराहट के द्वारा चले जाने का सकेत करती है। इससे नायिका की सुरतविषयक उत्कण्ठा भी अभिव्यक्त होती है। ये वातें अमरुक के पद्य मे नही आ पाई हैं। दोहे मे सखियो के लिए 'सुख पाइ' विशेषण दे कर कवियो ने सखियो की सहृदयता और नायिका के प्रति अनुराग भी अभिव्यक्त कर दिया है जो कि अमरुक के पद्य मे नहीं आया था। यही विहारी की मौलिकता है।

(४) भ्रूभगे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते,
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिद दग्धानन जायते।

कार्कश्यं गमितेपि चेतसि तनूर ोमाञ्चमालम्बते,
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथ मानस्य तस्मिन्जने ।।

इस पद्य की छाया पर विहारी का निम्नलिखित दोहा पाया जाता है:—

सतर भौंह, रूखे बचन, करति कठिन मनु नीठि ।
कहा करौं, ह्वै जाति हरि हेरि हँसौंही दीठि ।।

अमरुक के पद्य की प्रथम पक्ति का भाव 'सतर भौंह' में आ गया है, द्वितीय पंक्ति का भाव 'रूखे वचन' मे आ गया है, तृतीय पक्ति का भाव 'करति कठिन मनु नीठि' मे आ गया है, चतुर्थ पक्ति का भाव 'कहा करो' और 'हेरि' में आ जाता है। अमरुक ने प्रत्येक चेष्टा पर प्रेम की विजय दिखलाई है जो कि दोहे में नही पाई जाती, यह दोहे की कमी है ।

गोवर्धनाचार्य और बिहारी

बिहारी ने गोवर्धनाचार्य की बहुत सी आर्याओं का भाव अपने दोहो में अपनाया है । नीचे कतिपय उदाहरण दिए जाते है —

(१) गोवर्धन—शकरशिरसि निवेशितपदेति मा गर्नमुद्वहेन्दुकले ।
फलमेतस्य भविष्यति चण्डीचरणरेणुस्रजा ।।

विहारी—मोरचन्द्रिका स्याम सिर चढ़ि कत करति गुमानु ।
लखिबी पाइनु पर लुठति, सुनियत, राधा मानु ।।

(२) गोवर्धन—प्रथयसि किमेतदधुना चातुर्यं ते वृथा गुणैर्निखलम् ।
कथयति वलिता माला गुणगविता वचसा कलिता ।।

विहारी—कत वेकाज चलाइयति चतुराई की चाल ।
कहे देत यह रावरे सब गुण निरगुन माल ।।

(३) गोवर्धन—प्रिय-विरह-निस्सहाया सहजविपक्षाभिरपि सपत्नीभि ।
रक्ष्यन्ते हरिणाक्ष्या प्राणा गृहभगभीताभि ।

बिहारी—पिय प्राननु की पाहरु, करति जतन अति आपु।
जाकी दुसह दसा पर्यौ सौतिनहूँ सतापु ।।

विहारी के दोहे से सपत्नियो का नायिका के विरहजन्य दु ख से जो सन्ताप तथा जो प्रयत्न अवगत होता है वह आर्या से नही होता ।

(४) गोवर्धन—अलुलितसकलविभूषां प्रातर्बालां विलोक्य मुदित प्राक् ।
प्रियशिरसि वीक्ष्य यावकमथ निश्वसित सपत्नीभि. ।।

बिहारी—बिथुर्यौ जावकु सौति-पग निरखि हँसी गहि गांसु ।
सलज हँसौंही लखि लियौ आधी हँसी उसाँसु ।।

आधी हँसी मे गहरी श्वास के द्वारा भाव शाति और भावोदय की जितनी सुन्दर व्यजना दोहे मे होती है वह वात आर्या में विद्यमान नही है, आर्या से अभिव्यक्त होता है कि नायिका का विश्रम्भ विहार नही होता था जबकि दोहे के 'सलज

हसौंही' शब्द में ही रात्रि का सारा क्रिया कलाप भर दिया गया है। साथ ह नायिका की हर्षोत्फुल्लता, उत्कण्ठा, भविष्य का उत्साह इत्यादि भी अभिव्यक्त होते हैं और साथ ही नायक का नायिका के प्रति प्रेमाधिक्य तथा कम्प सात्विक भ भी अभिव्यक्ति होती है। यह रमणीयता आर्या में सर्वथा दुर्लभ है।

(५) गोवर्धन—उषसि विपरिणामन्त्या मुक्तादामोपवीततां नीतम्।
पुरुषायितवैदग्ध्यं व्रीडावति कैर्न विदित ते॥

बिहारी—मेरे बूझत बात तू कत बहरावति बाल।
जग जानी विपरीत रति लखि बिन्दुली पिय भाल॥

मुक्तादाम का उपवीत के रूप स्थापित करना और फिर सखियों के साम उसे ठीक करना नायिका के फूहड़पन को प्रकट करता है। प्रियतम के मस्तक बेंदी का होना अधिक चमत्कारोत्पादक है। यशवन्तयशोभूषण में बिल्कुल बिहा जैसा भाव ही दृष्टिगत होता है —

पृष्टे मया किमु त्वं गोपायसि प्रियस्य भालगतम्।
बिन्दुं विलोक्य विश्वैर्विपरीता ते रतिस्तु स विदिता॥

इस पद्य का बन्ध शैथिल्य तथा अर्थान्तरैकपदता इत्यादि दोषों के कारण भावाभिव्यक्ति कुण्ठित हो गई हैं। दोहे की अभिव्यक्ति निर्दुष्ट तथा स्पष्ट है।

(६) गोवर्धन—चिकुरविसारणनतकण्ठी विमुखवृत्तिरपि बाला।
त्वामियमंगुलिकल्पितकचावकाशा विलोकयति॥

बिहारी—कंज नयनि मजनु किये, बैठी ब्यौरति बार।
कच अँगुरी बिच दीठि दै, चितवत नन्दकुमार॥

भाव प्रायः एक सा ही है।

(७) गोवर्धन—एकैकशो युवजनं विलंघमानाक्षनिकरमिव तरला।
विश्राम्यति सुभग त्वामंगुलिरासाद्य मेरुमिव॥

बिहारी—सब ही त्यौं समुहाति छनु, चलति सबनु दै पीठि।
वाही त्यौं ठहराति यह, कविलनवी लौं, डीठि॥

बिहारी के दोहे में कविलनवी की उपमा से नायक के चित्त चोर हो की जो व्यंजना निकलती है वह आर्या में नहीं पाई जाती।

(८) गोवर्धन—अन्योन्यमनुव्रोतसमन्यदथान्यत्तटात्तटं भजतो।
उदितेऽर्केऽपि न माघस्नान समाप्यते यूनो॥

बिहारी—चितवत, जितवत हित हियैं, कियैं तिरीछे नैन।
भीजैं तन दोऊ कँपैं क्यौं हूँ जप निबरैं न॥

आर्या में स्नान समाप्त न होने की बात कही गई है और दोहा में जप समाप्त नहीं होता यह कहा गया है। स्नान काल की अपेक्षा जपकाल में एक दूसरे क देखादेखी का अधिक अवसर रहता है।

(६) गोवर्धन—त्वयि सर्पति पथि दृष्टि' सुन्दरवृतिविवरनिर्गता तस्या' ।
दरतरलभिन्नशैवलजाला शफरीव विस्फुरति ॥
बिहारी—देखत कछु कौतिगु इतै, देखौ नैकु निहारि ।
कब की इकटक डटि रही टटिया अंगुरिन फारि ॥

आर्या के समान बिहारी ने सफरी की अप्रस्तुत योजना नही की है फिर भी बिहारी में स्वाभाविक उक्ति का चमत्कार विद्यमान है ।

(१०) गोवर्धन—दृष्टमदृष्टप्राय दयित कृत्वा प्रकाशितत्रपया ।
हृदय करेण ताडितमथ मिथ्या व्यजितत्रपया ॥
बिहारी—देख्यौ अनदेख्यौ कियौ, अगु अगु सबै दिखाइ ।
पैठति सी तन मैं सकुचि बैठी चितै लजाइ ॥

आर्या में हाथ से हृदय को ताडित करने की बात कही गई है किन्तु बिहारी ने 'पैठति सी तन मे सकुचि' कर लिया है । यह भाव आर्या की अपेक्षा अधिक सुन्दर है और नायिका के लज्जाभाव को अधिक व्यक्त करता है ।

(११) गोवर्धन—आयाम परहिंसा वैतसिक सारमेय तव सारः ।
त्वामपसार्य विभाज्य कुरग एषोऽधुनैवान्यै ॥
बिहारी—स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु व्यथा, देखि, विहग विचारि ।
बाज परायैं पानि परि तूँ पछीनु न मारि ॥

कुत्ते की उपमा की अपेक्षा बाज की उपमा में यह विशेषता है कि बाज भी पक्षी है और अपने ही वर्ग के पक्षियो को केवल दूसरो के लिए मारता है । इसीलिए बाज को विहग शब्द से सम्बोधित किया गया है । 'स्वारथ सुकृत न' से व्यग्यार्थ मे एक शक्ति आ जाती है और 'पराये पानि परि' से जयसिंह का मुगलो के प्रति पक्षपात व्यक्त हो जाता है ।

(१२) गोवर्धन—निहितार्धलोचनायास्त्व तस्या हरसि हृदयपर्यन्तम् ।
न सुभग समुचितमीदृशमगुलिदाने भुज गिलसि ॥
बिहारी—छ्वै छिगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाइ ।
वलि बावन कौ ब्योंतु सुनि को, वलि तुम्हे पत्याइ ॥

बिहारी के दोहे मे 'वलि वावन को ब्योंतु सुनि' विशेष है ।

(१३) गोवर्धन—सुभग विजनविचालनशिथिलभुजाभूद् वयस्यापि ।
उद्वर्तन न सख्या समाप्यते किंचिदपगच्छ ॥
बिहारी—नैंकु उतै उठि, बैठिये कहा रहे गहि गेहु ।
छुटी जाति नह दी छिनकु मेहदी सूकन देहु ॥

उद्वर्तन के स्थान पर मेंहदी सूखने की बात कही गई है ।

(१४) गोवर्धन—आम आम स्थितया स्नेहे तव पयसि तत्र तत्रैव ।
आवर्सपतितनौकायितमनया विनयमपनीय ॥

बिहारी—फिरि फिरि चितु उत ही रहतु, टूटी लाज की लाव ।
अग अग छवि और मैं भयौं भौंर की नाव ॥

आर्या मे नायिका स्वय नौका है और दोहा में चित्त को नौका बनाया गया है। आर्या मे विनय छोडने की बात कही गई है और दोहा मे लज्जा छोडने की बात है। दोहा मे लज्जा को पतवार की उपमा दी गई है जो आर्या मे नही है।

(१५) गोवर्धन—अतिवत्सला सुशीला सेवाचतुरा मनोनुकूला च ।
अजनि विनीता गृहिणी, सपदि सपत्नीस्तनोद्भेदे ॥
बिहारी—निरखि नवोढा नारि तन छुटत लरिकई लेस ।
भौ प्यारौ पीतमु तियनु, मनहुँ चलत परदेस ॥

(१६) गोवर्धन—पिब मधुप बकुलकलिकां दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय ।
अधरविलेपसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि ॥
बिहारी—नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिं काल ।
अली, कली ही सौं बंध्यौ, आगैं कौन हवाल ॥

संस्कृत के अन्य कवि तथा बिहारी

(१) आदि कवि वाल्मीकि ने वर्षा-वर्णन मे निम्नलिखित श्लोक लिखा है —

निलीयमानैर्विहगैर्निमीलद्भिश्च पकजै ।
विकसन्त्या च मालत्या गतोऽस्त ज्ञायते रवि ॥

बिहारी ने इसी की छाया लेकर निम्नलिखित दोहा लिखा है —

पावस-घन अँधियार महि रह्यौ भेदु नहिं आनु ।
रात द्यौस जान्यौ परतु लखि चकई चकवानु ॥

श्लोक मे वर्षा काल के सध्या समय का सजीव तथा सच्चा चित्रण किया गया है। बिहारी ने उसके स्थान पर चक्रवाको द्वारा निर्णय होने की बात कही है। इस विषय मे काव्य-मर्मज्ञो में पर्याप्त विवाद उठाया गया। चक्रवाक वर्षा काल मे होते हो या न होते हो, बिहारी ने वाल्मीकि जी के भाव का पूरा निर्वाह नही कर पाया इसमे सन्देह नही।

(२) कालिदास—स्थिता क्षण पक्ष्मसु ताडिताधरा,
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिता ।
वलीषु तस्या स्खलिता प्रपेदिरे,
चिरेण नाभि प्रथमोदबिन्दव ॥
बिहारी—पलनु प्रगटि, बरुनीनु बढ़ि, नहिं कपोल ठहरात ।
अँसुवा परि छतिया, छिनकु छनछनाइ छिपि जात ॥

कालिदास के पद्य में नेत्र-लोमो की श्लक्ष्णता और घनत्व, अधरो की कोमलता, स्तनो का विस्तार और काठिन्य, वलियो की सत्ता और नाभि का गाम्भीर्य व्यक्त होता है जोकि दोहे में नही आ सका है। दोहे में सन्तापाधिक्य की व्यजना हुई है जोकि श्लोक में नही है। सन्तापाधिक्य की अभिव्यक्ति का श्लोक में प्रकरण भी नही है।

(२) माघ—महा महानील शिलारुच: पुरो,
निषेदिवान् कसकृष. सविष्टरे।
श्रितोदयाद्रे रभिसायमुच्चकै —
रचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम्॥

विहारी—सोहत ओढैं पीतु पटु, स्यामु सलौने गात॥
मनौ नीलमनि सैल पर, आतपु पर्यौ प्रभात।

(३) श्री हर्ष—या सोमसिद्धान्तमया नवेव,
शून्यात्मतावादमयोदरे वा।
विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव,
साकारता सिद्धिमयाखिलेव॥

विहारी—बुधि अनुमान, प्रमान श्रुति कियैं नीठि ठहराइ।
सूछम कटि पर ब्रह्म की अलख, लखी नहिं जाइ॥

श्लोक की दूसरी पक्ति का विस्तार ही दोहा है। इस दोहे पर निम्नलिखित श्लोक की भी छाया पाई जाती है —

अनन्तैर्वादीन्द्रैरगणितमहायुक्तिनिवहै,
निरस्ता विस्तार क्वचिदकलयन्ती तनुमपि।
असख्यातिव्याख्याधिकचतुरिमाख्यातमहिमा,
वलग्ने लग्नेय सुगतमनु सिद्धान्तसरणिम्॥

विहारी ने कतिपय ऐसे पद्यो की छाया पर भी दोहे लिखे हैं जो सस्कृत के विद्वानो मे प्रसिद्ध तो है किन्तु उनके लेखक का पता नही है। उनमे से कुछ तो सग्रह-ग्रन्थो मे पाये जाते है। कुछ लक्षण-ग्रन्थो मे उदाहरणो के रूप मे दिए गये हैं तथा कुछ श्रुति परम्परा से ही प्राप्त हुए हैं, कतिपय उदाहरण दिए जाते हैं :—

(४) घनतरघनमेदच्छादिते सर्वलोके,
सवितुरथ हिमांशो संकथैव न्यरंसीत्।
विरहमनुभवन्तीसंगमञ्चापि भर्त्रा,
रजनिदिवसभेद चक्रवाकी शशास॥

यह पद्य सुभाषित रत्न भाण्डागार मे आया है।

इस पद्य को लेकर विहारी का वर्षा वर्णन वाला वह दोहा बनाया गया है

जिसमें चक्रवाको के जोड़े से रात और दिन के निर्णय करने की बात कही गई है।

(५) आकाशात्पतित तोय यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कार केशव प्रति गच्छति ॥

बिहारी—अपनैं अपनैं मत लगे वादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइवौ एकै नन्दकिसोरु ॥

एक दूसरे कवि ने भी कहा है —

रुचीना वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

(६) समुल्लसत्पकजलोचनेन विनोदयन्ती तरुणानशेषान्।
शुभ्राम्बरा गुप्तपयोधरश्री शरन्नवोढेव समाजगाम ॥

बिहारी—अरुन सरोरुह-कर-चरन, दृग-खजन, मुख चद।
समै आइ सुन्दरि सरद काहि न करति अनद ॥

बिहारी के छोटे से दोहे मे शरद् का पूर्ण चित्रण मिलता है और रूपक भी सांग हो गया है साथ ही शरद् तथा नवोढा की प्रभावशालिता तथा आनन्ददायकता भी दिखला दी गई है। ये बाते श्लोक मे नही मिलती। अम्बर और पयोधर मे श्लेष की सुन्दरता सस्कृत पद्य मे विद्यमान है जिसकी दोहे मे कमी है।

(७) सस्कृत के एक पद्य मे कहा गया है —

अगानीच परस्परं विदधते निलुंठन सुभ्रुव।

इसी का आशय लेकर बिहारी ने लिखा है :—

नव नागरितन-मुलुकु लहि जोबन-आमिर जौर।
घटि बढि तैं बढि घटि रकम करीं और की और ॥

बिहारी ने अत्याचारी अधिकारी की उपमा जोड दी है जोकि श्लोक मे नहीं है।

(८) काव्यप्रकाशकार के उदाहरणो मे निम्नलिखित श्लोक पाया जाता है —

आर्द्रार्द्रं कराजरदनचवैस्तव लोचनयोर्दत्तम्।
रक्तांशुकं प्रमाद कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते ॥

बिहारी ने इसी का भाव लेकर लिखा है —

बाल कहा लाली भई लोइनु-कोइनु माँह।
लाल, तुम्हारे दृगनु की परी दृगनु मैं छाँह ॥

श्लोक मे अपन्हुति वाच्य है और दोहे मे व्यग्य है।

(९) इह स्फुट तिष्ठति नाथ कण्टक, शनै शनै कर्प नखाग्रलीलया।
इति च्छलात्काचिदलग्नकण्टक पद तदुत्सगतले न्यवेशयत् ॥

विहारी—इहिं काँटै मो पाइ गड़ि लीनी मरति जिवाइ ।
प्रीति जनावति भीति सौं मति जु काढ़्यो आइ ।।

(१) किं त्वं निगूहसे दूति स्तनौ वक्त्रम् च पाणिना ।
खण्डिता एव शोभन्ते शूराधरपयोधरा ।।

विहारी—पट के ढिग कत ढाँकियति, सोभित, सुभग सुवेष ।
हद रदछद छवि देति यह सद रद-छद की रेख ।।

श्लोक में दूती के प्रति नायिका की उक्ति है किन्तु दोहे में नायक के प्रति नायिका की उपालम्भोक्ति है ।

(११) सुवर्णं बहु यस्यास्ति तस्य न स्यात्कथ मद ।
नामसाम्यादहो यस्य धत्तूरोऽपि मदप्रदः ।।

इस श्लोक को लेकर विहारी ने लिखा है —

कनकु कनक तैं सोगुनौ मादकता अधिकाइ ।
उहिं खायें बोराइ जग, इहिं पायें बौराइ ।।

विहारी का कनक शब्द अधिक चमत्कार पूर्ण है ।

(१२) मुग्धे धानुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते ।
यया विध्यसि चेतांसि गुणैरेव न सायकैः ।।

श्लोक के इस सीधे तथा सरल भाव को लेकर विहारी ने अधिक कलापूर्ण तथा चमत्कार पूर्ण दोहा लिखा है —

तिय, कित कमनैति पढ़ी, विनु जिहि भौंह कमान ।
चलचित बेझें चुकति नहिं वकविलोकनि बान ।।

श्लोक मे केवल गुण शब्द का श्लेष ही चमत्कार पूर्ण है किन्तु दोहे में व्यतिरेक दर्शनीय है । विहारी का यह दोहा अत्यन्त प्रसिद्ध है तथा सर्वोत्तम दोहो मे से एक है ।

(१३) संसार तव निस्तारपदवी न दवीयसी ।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि ता मदिरेक्षणा ।।

विहारी—या भव-पारावार कौ उलँघि पार को जाइ ।
तिय-छवि-छायाग्राहिनी ग्रहै बीचहिं आइ ।।

विहारी ने श्लोक के भाव मे ही छायाग्राहिणी की उपमा का वहुत ही सुन्दरता के साथ समावेश किया है । साथ ही स्त्री सौन्दर्य की अवहेलना कर मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर होने का उपदेश भी बहुत ही सुन्दर है ।

(१४) विहारी ने केश वर्णन मे दो दोहे लिखे है —

कच समेटि कर भुज उलटि खयें सीस पटु टारि ।
काकौ मनु बाँधे न यह जूरा बांधनि-हारि ।।

छुटे छुटावत जगत तैं सटकारे, सुकुमार ।
मनु बाँधत वेनी-बँधे नीलछबीले बार ।।

इन दोनो दोहो पर निम्नलिखित पद्यो की छाया पाई जाती है :—

जानुभ्यामुपविश्य पीठनिहितश्रोणीभरा प्रोन्नम—
द्दोर्वल्ली नमदुन्नमत्कुचतटी दीव्यद् दृगन्ताञ्चला ॥
पाणिभ्यामवधूय कङ्कणझणत्कारावतारोत्तर,
बाला नंद्यति किं निजालकभर किंवा मदीयं मन ॥
... ...

कमलाक्षि क्षणं विलम्ब्यतां कमनीये कचभारबन्धने ।
दृढलग्नमिद दृशोर्युग शनकैरद्य समुद्धराम्यहम् ॥

संस्कृत पद्यो मे जितना सुन्दर चित्रण वन पडा है वह वात दोहो मे नही आ पाई। दोहे के छोटे से कलेवर मे पूर्ण चित्रण का अवसर ही नही था।

(१५) धत्ते चक्षुर्मुकुलिनि रणत्कोकिले वालचूते,
मध्ये गात्र क्षिपति वकुलामोदगर्भा शुभाप ॥
दावप्रख्य सरसविसिनीपत्रमन्तर्विधत्ते,
ताम्यन्मूर्ति श्रयति वहुशो मृत्यवे चन्द्रपादान् ॥

विहारी—मरिबे को साहसु ककै बढ़ै बिरह की पीर ।
दौरति ह्वै समुही ससी, सरसिज, सुरभि-समीर ॥

हिन्दी के पूर्ववर्ती कवि और बिहारी

बिहारी ने अपनी रचना में हिन्दी के पुराने प्रतिष्ठित कवियो का भी पर्याप्त आश्रय लिया है। नीचे कतिपय कवियो की उपजीव्यता का परिचय दिया जाता है :—

(१) विद्यापति—जनम अवधि हम रूप निहारल नैन न तरपित भेल ।

बिहारी— त्यौं त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं ज्यौं पियत अघाइ ।
सगुन सलौने रूप की जु न चख-तृषा बुझाइ ॥

यहाँ पर सलोने रूप के पान से तृष्णा के बढने की कल्पना सुन्दर है।

(२) विद्यापति—निरजन उरज हेरइ कत बेरि ।
हँसइ से अपन पयोधर हेरि ॥

बिहारी—भावकु उभरौहौं भयौ कछुकु पर्यौ भरुआइ ।
सीप हरा कैं मिस हियौ निसि दिन हेरत जाइ ॥

एकान्त में स्तनोद्भेद देखने की अपेक्षा "सीपहरा के मिस" देखने में चमत्कार की अधिकता है। विद्यापति के 'उरज' और 'पयोधर' दोनो शब्दो की अपेक्षा बिहारी का हियो शब्द विच्छित्ति विशेष का पोषक है और 'निसि-दिन' शब्द से उत्कण्ठा का आधिक्य प्रकट होता है।

(३) विद्यापति—मदन क भाव पहिल परचार ।
भिन जन देल भिन्न अधिकार ॥

कटिक गौरव पाओव नितम्ब ।
एकक खीन अओक अवलम्ब ।।

विहारी—अपनैं अग के जानि कै जोबन-नृपति प्रवीन ।
स्तन मन नैन नितब कौ बड़ौ इजाफा कीन ।।

विहारी की नायिका के अगो में राज्याङ्गो की कल्पना, नृपति के लिए 'प्रवीन' वह साभिप्राय विशेषण तथा 'इजाफा' शब्द से अपने समय की अव्यवस्थित राजनीतिक दशा की ओर सकेत इत्यादि नवीन उद्भावनायें है जो उक्त गीति में नही पाई जाती।

(४) कबीर—प्रियतम को पतियां लिखूँ जो कहू होय विदेस ।
तन में मन में नैन में ताकौ कहा सदेश ।।

विहारी—सखी सिखावति मानु विधि सैननि बरजति बाल ।
हरुए कहै, मो हिय मैं बसत विहारी लाल ।।

(५) कबीर—प्रेम छिपाया ना छिपै जा घट परगट होय ।
जो पै मुख बोलत नहीं नैन देत है रोय ।।

विहारी—प्रेमु अडोलु डुलै नहीं, मुँह बोलैं अनखाइ ।
चित उनकी मूरति बसी, चितवनि माँहि लखाइ ।।

(६) नानक—नानक नन्हे ह्वै चलौ जैसी नान्ही दूब ।
घास फूस जर जाइगो दूब रहैगी खूब ।।

विहारी—नर की अरु नल-नीर की गति एकै करि जोइ ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतो ऊँचौ होइ ।।

(७) कबीर—मोकौ एता दीजियौ जामें कुटुम समाय ।
आपु न भूखा मैं रहू साधु न भूखा जाय ।

विहारी—तौ अनेक औगुन-भरिहिं चाहै माहि बलाइ ।
जो पति सपति हूँ बिना जदुपति राखे जाइ ।।

कबीर ने जो बात सामान्य तथ्य के रूप मे प्रकट कर दी है उसी को विहारी ने अधिक कलात्मक रूप मे व्यक्त किया है।

(८) कबीर—माला फेरत जुग गया फिरा न मनका फेर ।
कर का मनका छाडि कै मन का मनका फेर ।

विहारी—जपमाला, छापैं, तिलक सरै न एकौ कामु ।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै रामु ।।

(९) सूर—तजौ मन हरि विमुखन कौ संग ।
कहा होत पय पान कराये विस नहिं तजत भुजग ।
कागहि कहा कपूर चुगाये स्वान न्हवाये गग ।।
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषण अ ग ।।
सूरदास खल कारी कामरि चढ़त न दूजो रग ।।

बिहारी—संगति सुमति न पावहीं परे कुमति कैं धंध।
राखौ मेलि कपूर मैं, हींग न होइ सुगंध॥

(१०) सूर—आजु हो एक एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कैं तुमही माधव अपुन भरोसे लरिहौं।
हौं तो पतित बहुत पीढिन को पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघटि नचन चाहत हौं तुम्हें विरद बिनु करिहौं।
कत अपनी परतीति नसावत हौ पायौ हरि हीरा।
सूर पतित तब ही लै उठिहै जब हसि देहौ बीरा॥

बिहारी—मोहिं तुम्हैं बाढ़ि बहस, को जीतैं, जदुराज।
अपनैं अपनैं बिरद की दुहूँ निबाहत लाज॥

दोनो कवियो का भाव एक ही है। सूर मे दृढ़ता के साथ आत्म-विश्वास की भावना अधिक है और बिहारी मे दृढता के साथ आत्म-निवेदन तथा दैन्य की प्रवृत्ति अधिक लक्षित होती है।

(११) सूर—तुम कब मो सो पतित उधार्यो।
काहे को प्रभु विरद बुलावत बिनु मसकत को तार्यौ।
गीध ब्याध गज गौतम की तिय तिनकौं कहा निहोरौ।
गणिका तरी आपुनी करनी नाम भयो प्रभु तेरौ।
अजामील तो विप्र तुम्हारो हुतो पुरातन दास।
नेक चूक ते यह गति कीन्ही पुनि वैकुण्ठहिं वास।
पतित जानि तुम सब जन तारे, रही न काहू खोट।
तो जानो जौ मोहिं तारिहौ सूर कूर कवि ढोट॥

बिहारी—बन्धु भये का दीन के, को तार्यौ, रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे बिरद कहाइ॥

सूर ने जो बात विस्तृत पद मे कही है उसी को बिहारी ने समास शैली मे दोहे मे कह दिया है। सूर ने अभिधावृत्ति का अधिक आश्रय लिया है और बिहारी ने व्यंजना वृत्ति अधिक अपनाई है।

(१२) तुलसी—तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मन मोरा।
सो मन रहत सदा तुहि पाहीं। जानु प्रेम रस एतनेहि माहीं।

बिहारी—कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेसु लजात।
कहिहै सबु तेरौ हियौ मेरे हिय की बात॥

(१३) तुलसी—बारि मथे बरु होय घृत सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धान्त अपेल॥

बिहारी—पतवारी माला पकरि, और न कछु उपाउ।
तरि संसार-पयोधि कौं, हरि-नावैं करि नाउ॥

(१४) तुलसी—अवध तहाँ जहँ राम निवासू । दिवस तहाँ जहँ भानु प्रकासू ।
बिहारी—तजि तीरथ, हरि-राधिका-तनु दुति करि अनुरागु ।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज मगु पग पग होतु प्रयागु ॥
(१५) तुलसी—नवनि नीचकै अति दुख दाई । जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई ।
बिहारी—न ये बिससि यहिं लखि नये दुरजन दुसह सुभाइ ।
आँटैं परि प्रानु हरत काँटैं लौं लगि पांइ ॥

तुलसी ने चमत्कार विधान के लिए मालोपमा का प्रयोग किया है, बिहारी ने उपमा के साथ यमक की ससृष्टि की है ।

(१६) तुलसी—धरम न अरथ न काम रुचि गति न चहौ निरवान ॥
जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन ॥

रहीम ने इसी आशय का शृंगार परक दोहा लिखा है:—

कहा करौ बैंकुण्ठ लै कल्प वृक्ष को छाँह ।
रहिमन ढाँक सुहावनो जो प्रीतम गलबाँह ॥

बिहारी ने इस आशय का निम्नलिखित दोहा लिखा है:—

जौ न जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकति मुँह दीन ।
जौ लहियै सँग सजन, तौ धरक नरक हूँ की न ॥

(१७) तुलसी—देखियत प्रकट गगन अंगारा । अवनि न आवत एकौ तारा ।
पावक मय ससि स्रवत न आगी । मानहुँ मोहिं जानि हतभागी ॥
बिहारी—हौं ही बौरी बिरह बस कै बौरौ सबु गाँव ।
कहा जानि ए कहत हैं ससिहिं सीतकर नांव ॥
मरिबे कौ साहसु कै बढ़े बिरह की पीर ।
दौरति ह्वै समुहीं ससी, सरसिज, सुरभि-समीर ॥
(१८) तुलसी—जो करनी समुझै प्रभु मोरी । नहिं निस्तार कलप सत कोरी ॥
बिहारी—तौ, बलियै, भलि यै, बनी, नागर नंदकिसोर ।
जो तुम नीकैं कैं लख्यौ मो करनी की ओर ॥
(१९) तुलसी—औरन के धनधाम सदा तुलसी घर राम के नाम खजाना ॥
बिहारी—तौ अनेक औगुन-भरिहिं चाहै याहि बलाइ ।
जौ पति सपति हूँ बिना जदुपति राखे जाइ ॥
(२०) मलूकदास—अजगर करैं न चाकरी पञ्छी करैं न काम ।
दास मलूका कहि गये सबके दाता राम ॥
बिहारी—रह्यौ न काहू काम कौ, सैंत न कोऊ लेत ।
बाजू टूटे बाज कौं साहब चारा देत ॥
(२१) केशव—केसौ दास सकल सुवास को निवास सखि,
किधौं अरविंद मधि बिन्दु मकरन्द कौ ।

किधौं चन्द्र मण्डल मे सोभित असुर गुरु,
किधौं गोद चद्र जू के खेले सुत चद को।
बाढ़ै रूप, काम गुन दिन देनो होत किधौं,
चदफूल सूघत है आनद के कद को।
नाक नायिकानि हूतें नीकौ नाक मोती नाक,
मानौ मन उरझि रह्यौ है नद नन्द को ॥

विहारी—तिय मुख लखि हीरा-जरी बेंदी बढ़ै विनोदु।
सुत सनेह मानौ लियौ विधु पूरन बुधु गोदु ॥

(२२) केशव—मेरो मुँह चूमे तरी साध चूमिवे की,
चाहे ओस, आँसु क्यो सिरात प्याम ढाढे है।
छोटे कर मेरे कहा छुवावति छबीली छाती,
छूवाइवौ जाके छूआइवे के अभिलाषा बाढे है ॥
खेलन जो आई हौ तौ खेलो जैसे खेलियत,
केसौ राय कोसौ तें ये कौन खेल काढे है ॥
फूलि फूलि भेंटति है मोहि कहा मेरी भट्ट,
भेटे किन जाइ वैजु भेंटिवे को ठाढे है ॥

विहारी—वै ठाढे उमदाहु उत जलन बुझै बड़वागि।
जाही सौ लाग्यौ हियौ ताही के हिय लागि ॥

(२३) केशव—तैसीयै जागति जोति सीस सीस फूलनि की,
चिलकत तिलक तरुनि तेरे भाल को ॥
तैसीयै दसन दुति दमकति केसौदास,
तैसौई लसत लाल कठ कठमाल कौ ॥
तैसीयै चमक चारु चिवुक कपोलनि को,
तैसो चमकत नाक मोतीचल चाल कौ ॥
हरैं हरैं हसि नैंकि चतुर चपलनैनी,
चित चकचौंधे मेरे मदन गुपाल को ॥

विहारी—नैंकु हसौंही बानि तजि, लख्यौ परतु मुँहु नीठि।
चौका-चमकनि- चौंध मे परति चौंधि सी डीठि ॥

(२४) केशव—अनगने औट पाय रावरे गने न जाहि,
वेऊ आहि तपकि करैया अति मान की।
तुम जोई सोई कही वेऊ जोई सोई सुनें,
तुम जीभ पातरे वे पातरी है कान की।
ऐसे केसौराय काहि बरजौं भट्ट काहि,
आपने सगाथौ कौन सुनत समान की।

वे ऊ वडवानल की ह्वै हैं सोई अवै वनि,
तुम वृषभान के वै हैं बेटी वृषभान की।

बिहारी—चिर जीवौ जोरी, जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
कौ घटि, ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर।

(२५) सुन्दरदास—कहूँ वनमाल कहूँ गुंजन की माल कहूँ,
सग सखा ग्वाल ऐसे हाल भूलि गये हैं।
कहूँ मोर चन्द्रिका कहूँ लकुट पीतपट,
मुरली मुकुट कहूँ न्यारे डारि दये हैं॥
कुंडल अडौल कहीं सुन्दर न बोले बोल,
लोचन अलोल मानौ कहूँ हरि लये हैं।
घूँघट की ओट ह्वै कै चितयौ किचौट करी,
लालन तौ लौट पौट तव ही ते भये हैं।

बिहारी—कहा लडैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पटु कहूँ मुकुट वनमाल॥

(२६) सुन्दर—मानो भुजगिनि कज चढी मुख ऊपर आपु रही अलकैं त्यों,
कारी महा सटकारी है सुन्दर भीजि रही मिलि सौंध नहीं सो।
लटकी लट वा लटकीली ते और गई बढि के छवि आननकी यौं
आंकु बढै दिए दूजी विकारी के होत रुपैयन तैं मौहरैं ज्यौं।

बिहारी—कुटिल अलक छुटि परत मुख वढिगौ इतौ उदोतु।
वंक बकारी देत ज्यौं दामु रुपैया होतु॥

(२७) सुन्दर—काहे कौ दुरावति है हमहूँ भुरावति है,
कौन कहलावति है झूठी सौंहै खाति हैं।
लियौ है चुराइ चित्त साहजहाँ दूलह को,
सुनौ यह वात सव नीके जानी जाति है॥
देखि तुहीं वैठ डीठ लालन को हेरि फेरि,
तियनि में तोहि परआई थिरथाति है॥
मन्त्र की कटोरी जैसे चलीचली डोलति है,
चोर की ही ठौर आइ भलै ठहराति है॥

बिहारी—सब ही तौं समुहाति छिनु, चलति सबनु दै पीठि।
वाही त्यौं ठहराति यह, कविलनवी लौं, दीठि॥

(२८) सेनापति—नैन नीर बरसत देखिवे को तरसत,
लागे काम सर सर सत पीर उर अति की।
पाये ना सदेसे वाते अधिक अदेसे वाढे,
सोचे सुकुमार पै न कहै मन गति की॥

ताही समें ओचक ही काहू आनि पाती दीन्ही,
देखत सेनापति पाई प्रीति मति की ।
माथे लै चढ़ाई दोऊ दृगनि लगाई चूमि,
छाती लपटाइ राखी पाती प्रानपति की ।।
बिहारी—कर लै, चूमि, चढाई सिर, उर लगाइ भुज भेंटि ।
लहि पाती पिय की लखति बाँचति धरति समेटि ।।
(२९) सेनापति—चद की कला सी चपला सी तिय सेनापति,
बालम के उर बीज आनन्द के बोति है ।
जाके आगे कचन में रचक न पैये दुति,
मानो मन मोती लाल माल आगे पोति है ।
देखी प्रीति गाढी तन सुख बाढी जोति,
जोवन की वाढी छिन छिन और होति है ।
झलकत गौरी देह वसन झीने मे मानो,
फानूस के अन्दर दिपति दीप जोति है ।
बिहारी—बाल छबीली तियनु में बैठी आपु छिपाइ ।
अरगट हीं फानूस सी परगट होति लखाइ ।
(३०) रसखानि—कौन ठगौरी भरी हरि आजु बजाई है बासुरिया रसभीनी ।
तान सुनी जिनही जितही तितही तित लाज विदा करि दीनी ।
घूमै खरी खरी नन्द के द्वार नवीनी कहा अरु बाल प्रवीनी ।
या ब्रज मण्डल मे रस खानि सु कौन भटू जु लटू नहिं कीनी ।।

विस्तार भय से प्रस्तुत प्रसग यही पर समाप्त किया जाता है। उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि बिहारी ने जहाँ अनेक शास्त्रो का चलता हुआ ज्ञान प्राप्त किया था वहाँ उन्होने अनेक काव्य-ग्रन्थो का भी मनन किया था। बिहारी मे जहाँ एक ओर भारतीय मुक्तक परम्परा की अन्तरात्मा सन्निहित-है और सभी प्रकार के भेदोपभेदो का इनकी रचना मे दर्शन होता है वहा इन्होने अनेक पद्यो की छाया का भी आधार लेकर अपने दोहो की रचना की है। बिहारी के आदान की सबसे बडी विशेषता यह है कि इन्होने छायामात्र को ही अपनाया है। प्रतिभा के द्वारा सर्वत्र नवीनता उत्पन्न कर दी है। सम्भव है कही भाव-निर्वाह मे कुछ न्यूनता आ गई हो किन्तु अधिकतर अपने पूर्ववर्ती कवियो की अपेक्षा नवीन चमत्कार उत्पन्न करने मे इन्हे सफलता ही मिली है।

बिहारी के दोष

दोप रसापकर्षक होते हैं। जिस शब्द अथवा अर्थ से रसानुभूति मे विच्छेद, व्याघात अथवा अपकर्षण उत्पन्न हो अथवा रस स्वय ही अनौचित्य प्रवृत्त होने के कारण कालुष्य से युक्त हो जाये उसे दोष कहते है। यहाँ पर रसानुभूति शब्द उप-

लक्षण है। चमत्कारानुभूति मे भी इन्ही तत्वो के होने पर दोष कहा जाता है मानव मनोवृत्ति सर्वदा सात्म्य से अनुरजित होती है। वह सात्म्य चाहे भाषा का हो चाहे अर्थ का हो और चाहे रस का हो। मनोवृत्ति के लिये वही वस्तु सात्म्य होत है जिससे वह पूर्णतया परिचित हो चुका हो। जिस प्रकार के शब्द सर्वदा सुने जा हैं अथवा शास्त्रकारो के प्रति पूर्ण निष्ठा होने के कारण जिस प्रकार के शब्दो को ग्रह करने के लिए हमारा मन उद्यत रहता है उसके प्रतिकूल सभी शब्द दोष की सीम मे आते हैं। इसी प्रकार सामाजिक मर्यादाओ के अन्दर जीवन निर्वाह करते हुए हम जिस अर्थ को उचित समझने लगे हैं या हमारे अनुभव मे जिन अर्थों को सम्भव क विशेषण प्राप्त हो चुका है उनसे भिन्न सभी प्रकार के अर्थ हमारी दृष्टि में दोष होते है। दोषों पर विचार करने मे इस बात पर भी ध्यान रखना पडता है कि जिस समाज के सामने कवि अपनी कविता प्रस्तुत करने जा रहा है क्या वह कविता किसी ओर से मनोवृत्ति के सात्म्य से विपरीत तो नही है। यदि वह कविता किसी भी दिश मे मनोवृत्ति मे सात्म्य उत्पन्न करने की दिशा मे कुण्ठित हो जावेगी तो वह कविता रसानुभूतिक्षम होते हुए भी उतने अ श मे सदोष कही जावेगी। दोषो पर विचार तीन दृष्टियो से किया जा सकता है—शब्द-दोष, अर्थ-दोष और रस-दोष। शब्द-दोषो में वाक्य-दोष भी आ जाते है और अर्थ-दोषो मे अलकार दोषो का भी समावेश हो जाता है। अगले पृष्ठो में इन्ही दृष्टियो से सक्षिप्त विचार प्रस्तुत किया जायेगा।

यहाँ पर यह जान लेना भी आवश्यक है कि आलोचना-जगत् मे बिहारी को लेकर जितनी खीचतान हुई है उतनी और किसी कवि को लेकर नही हुई। एक ओर उन लोगो का वर्ग था जो बिहारी की किसी भी छोटी से छोटी भूल को प्राप्त कर पुत्र जन्म का आनन्द प्राप्त करते थे और तुलसी की 'पुनि बन्दौ जस सेस सरोषा। सहस बदन बरणौं पर दोषा॥' इस उक्ति के अनुसार भगवान् शेष की उपाधि धारण करते थे और दूसरी ओर वे लोग थे जो बिहारी की बडी-से-बडी भूल को भी स्वीकार न करने का व्रत ले चुके थे। आलोचना-जगत् के लिये यह परम्परा स्वस्थ कभी नही कही जा सकती। काव्य के उत्थान मे आलोचक का एक महत्त्वपूर्ण भाग रहता है और उसे निष्पक्ष निर्णय देकर भावी काव्य परम्परा को प्रशस्त करने का उत्तरदायित्व वहन करना पडता है। तुलसी के शब्दो मे 'जड चेतन गुण दोष मय विश्व कीन्ह करतार' अतएव एकाध दोष आजाने से किसी महान् कवि की महत्ता मे न्यूनता नहीं आती। उस विषय मे तो कालिदास के अनुसार कहा जा सकता है कि—गुणो के समूह मे एक-दो दोष ऐसे ही छिप जाते है जैसे चन्द्रमा की किरणो मे कलक छिप जाता है। बिहारी के दोषो के पक्ष-विपक्ष मे जितना लिखा गया है यदि उस सबको उद्धृत कर विचार किया जावे तो एक पृथक् पुस्तक तैयार हो जावेगी। अतएव इस दिशा मे यहा दिग्दर्शन मात्र किया जा रहा है।

बिहारी के शब्द-दोष

जैसा कि पिछले अध्याय मे बतलाया जा चुका है, बिहारी ने ब्रजभाषा के सभी प्रचलित रूपो पर ध्यान देकर परिष्कृत भाषा लिखने की चेष्टा की थी। माधुर्य गुण के लिये उपयुक्त सभी नियमों पर उन्होने पूरा ध्यान रक्खा था। उनकी भाषा परिष्कृत होने के साथ ही कसी हुई भी है, व्यजना के अनुकूल शब्दो का प्रयोग किया गया है। इनकी भाषा मे सरलता तथा तत्काल अर्थ समर्पकत्व का गुण पूर्ण मात्रा मे विद्यमान है। इनके शब्द नाद-साम्य को दृष्टि मे रखकर प्रयुक्त हुए हैं और दूरान्वय न होने के कारण अर्थाभिव्यक्ति मे व्यवधायक नही होते। न इसमे न्यूनपदता है न निगूढार्थकता। बिहारी ने लम्बे-लम्बे प्रबन्धो को दोहा जैसे छोटे छन्द मे सन्निहित करने की चेष्टा की थी। अतएव अधिकपदता या कथितपदता की तो सम्भावना ही नही हो सकती। फिर भी एक दो स्थानो पर भाषा दोष विद्यमान है जिसका परिचय नीचे दिया जा रहा है।

१—पण्डितराज के अनुसार यदि ह्रस्व मात्राओ के साथ एक ही वर्ण दो या अधिक बार अव्यवहित रूप मे आता है तो वह माधुर्य गुण के प्रतिकूल होता है। बिहारी ने दो एक बार ऐसे प्रयोग किये है, जैसे भव बाधा, यौवन नृपति, अरुन निमि, तजत अठान न, चित्त तुरग, सिसिर ससन, ललकि इत्यादि। इस प्रकार के शब्दो के उपादान मे दोष इसलिए होता है कि जिन करण तथा प्रयत्नो से एक वर्ण का उच्चारण किया जाता है उन्ही करण और प्रयत्नो की तत्काल आवृत्ति करने मे उच्चारण करने वालो को कुछ कष्ट का अनुभव होता है। बिहारी ने शब्दो के प्रयोग मे इन नियमो का ध्यान पर्याप्त मात्रा मे रक्खा है और बहुत प्रयत्न के बाद दो चार प्रयोग ही हाथ आते हैं। इस प्रकार के वर्णों का दो से अधिक बार प्रयोग तो नितान्त दूषित होता है जो बिहारी मे सम्भवत कही नही मिलेगा। पण्डितराज ने समानवर्गीय वर्णों का भी ह्रस्व के व्यवधान से प्रयोग माधुर्य रचना के प्रतिकूल माना है। बिहारी ने एक ही दो बार ऐसे प्रयोग किये है जैसे गोरज छाई, थाकति-देह, डीठि। पण्डितराज ने यह भी लिखा है कि प्रथम-द्वितीय तथा तृतीय-चतुर्थ वर्णों का एक साथ होना ही अधिक दूषित माना जाता है। प्रथम-तृतीय तथा द्वितीय-तृतीय वर्णों का यह सह प्रयोग उतना दूषित नही होता। बिहारी के उक्त उदाहरणो मे प्रथम तृतीय अथवा द्वितीय-तृतीय का सयोग है जो कि बहुत बडा दोष नही कहा जा सकता। पण्डितराज ने इन दोषो को श्रुतिकटु के भेदो के रूप मे माना है।

२—पण्डितराज ने शृगार रस मे दीर्घ समास को वर्जनीय माना है। बिहारी ने एक-दो स्थानो पर दीर्घ समास का प्रयोग किया है किन्तु रचना सौन्दर्य के कारण इस प्रकार का प्रयोग न तो अश्रव्य ही हुआ है और न उसे दोष ही कहा

जा सकता है। उदाहरण के लिए 'रणित भ्र ग घण्टावली' 'झरित दान मधुनीर' मे एक-एक पाद मे प्रत्येक शब्द के साथ समास है किन्तु रूपक के अनुरोध से ऐसा किया गया है। 'विकसित नव मल्ली कुसुम निकसित परिमल पाइ' मे केवल पाइ शब्द को छोडकर प्रथम दल भर मे समास किया गया है। यह समास कुछ अश्रव्य अवश्य हो गया है किन्तु ऐसे भी उदाहरण एक दो ही मिलते हैं।

३—झय् घटित सयोग यदि ह्रस्वान्त हो तो अश्रव्य हो जाता है—जैसे स्तन, मन, नैन, नितम्व। 'स्तन' शब्द का उच्चारण कुछ विचित्रता अवश्य उत्पन्न करता है और 'मन-नैन' में भी ह्रस्व व्यवहित नकार का दो वार आना तथा 'नैनन' मे भी ह्रस्व घटित नकार दो बार आना अश्रव्य हो गया है। 'नैन' मे दीर्घ व्यवहित होने के कारण यह दोष नही आ पाया है। सयुक्त वर्णों का प्रयोग न करना व्रजभापा की ही विशेपता है। विहारी ने इसे और अधिक वचाने की चेष्टा की है।

४—पण्डितराज ने लिखा है कि अनुप्रास का उतना ही प्रयोग करना चाहिये जितना व्यग्य-चर्वणा के अनुकूल हो। यदि अनुप्रास का अधिक प्रयोग किया जाता है तो वह सहृदयो को अपनी ओर इतना अधिक आकृष्ट कर लेता है कि सहृदय रस पराङ्मुख हो जाते हैं। विहारी ने अधिक अनुप्रास का प्रयोग नही किया है जो रस-चर्वणा मे व्यवधायक हो। निम्नलिखित दोहे का शब्द चमत्कार अपनी ओर कुछ अधिक आकृष्ट करता है :—

गढ़े गढ़े छवि-छाके छकि, छिगुनी-छोर छुटैं न।
रहे सुरँग रँग रँगि रही नह दी मँहदी नैन॥

इसमे प्रथम दल का अनुप्रास रसास्वादन का उपघातक अवश्य हो गया है। इसी प्रकार का दूसरा चरण भी है। किन्तु ऐसे उदाहरण भी विहारी की रचना मे बहुत कम मिलते है।

५—विहारी की भापा मे एक दोप यह निकाला गया है कि विहारी ने व्रज-भापा मे बुन्देलखण्डी शब्दो का प्रयोग अधिक किया है। इस प्रकार इनकी भापा प्रादेशिकता के दोष से दूपित है। पर कतिपय आचार्यों ने इसी आधार पर बुन्देलखण्ड तथा आचार्य केशव से इनका सम्बन्ध सिद्ध किया है। विहारी ने बुन्देलखण्ड के कतिपय शब्दो का प्रयोग अवश्य किया है—जैसे लखिवी, रीझिवी, स्यो (यह शब्द विहारी तथा केशव मे साथ के अर्थ मे वहुत आया है)। इसी प्रकार घैरु (वदनामी), कोद (ओर), चाला (द्विरागमन), गीधे, वीधे इत्यादि। किन्तु इस आधार पर न तो इनका सम्बन्ध बुन्देलखण्ड से ही सिद्ध किया जा सकता है और न प्रादेशिकता का दोप ही इनके प्रयोगो मे आता है। विहारी ने बुन्देलखण्ड के ही क्या अन्य भापाओ के शब्द भी आवश्यकतानुसार अपनाये है। कीन, लीन, दीन इत्यादि अवधी भापा के शब्दो का प्रयोग किया गया है और है के लिए अवधी का आहि भी मिलता है। इसी प्रकार लजियात का प्रयोग भी प्रादेशिक है। खडी वोली के भी दो एक प्रयोग

मिलते हैं जैसे "रहे वरोठे मे मिलत", "नैको उहि न जुदी करी हरसि जु दी तुम लाल।" वास्तविकता यह है कि उस समय विभिन्न प्रादेशिक शब्दो का प्रयोग एक गुण माना जाता था। किसी आलोचक ने तुलसी और गग को सुकवियों का सरदार इसी लिये कहा था कि इनके काव्यो मे अनेक प्रकार की भाषा मिलती है। बिहारी की एक विशेषता यह भी रही है कि उन्होने प्रादेशिकभाषा के उन्ही शब्दो को ग्रहण किया है जिनका प्रायिक प्रयोग कवि जगत् मे प्रतिष्ठित था। अतएव बिहारी पर प्रादेशिकता का दोष लागू नहीं होता।

६—विहारी पर शब्दो के गढने का भी आरोप लगाया गया है और उदाहरण के रूप मे छाकु और उडायकु शब्द प्रस्तुत किये गये हैं। रत्नाकर ने लिखा है कि छाकु का अनुस्वार यो ही जोड दिया गया है। छाक शब्द छकने की सज्ञा है और उसका उकारान्त रूप विशिष्ट कारक का रूप है जो कि कर्त्ता और कर्म मे प्राचीन व्रजभाषा मे प्रयुक्त होता था। उडायक शब्द को गढा हुआ बतलाने मे सम्भवत मिश्र-बन्धुओ का आशय यह है कि उडाना क्रिया से कर्त्रर्थक प्रत्यय अप्रयुक्तता दोष से दूषित है। कर्त्रर्थक ण्वुल् प्रत्यय से बनने वाली सज्ञायें यौगिक होती हैं और सामान्यतया जो धातुयें प्रयुक्त होती हैं उनसे ण्वुल् प्रत्यय का प्रयोग भी असमीचीन नही माना जाता। हिन्दी धातुओ से सस्कृत प्रत्ययो के प्रयोग मे गढन्त मालूम पड सकती है, किन्तु उड्डयन स्वय सस्कृत का ही शब्द है जिससे उड्डायक ण्वुलन्त शब्द बनता है जिसका बिगडा हुआ रूप उडायक है। अतएव इसमे गढन्त की कल्पना सर्वथा भ्रम है।

७—विहारी मे असमर्थ शब्दो के प्रयोग का भी आरोप लगाया गया है। मिश्र-बन्धुओ ने निम्नलिखित दो असमर्थ शब्दो का निर्देश किया है —

(अ) 'दीजतु'—देती है या 'देगी' के स्थान पर इस शब्द का प्रयोग असमर्थ है। किन्तु बिहारी ने इसका कर्तृवाच्य वर्तमान या भविष्य काल का प्रयोग न कर कर्म-वाच्य क्रिया का प्रयोग किया है जो न तो असमर्थ है और न इसमे अधिक तोड-मरोड ही है।

(आ) ज्यौ शब्द जीव के अर्थ मे निरन्तर प्रयुक्त होता रहा है और कन्नोजी भाषा मे अब भी प्रयुक्त होता है।

८—मिश्रबन्धुओ ने बिहारी पर शब्दों के अत्यधिक तोडने-मरोडने का भी आरोप लगाया है। व्रजभाषा के प्राय. सभी कवियों पर यह आरोप लगाया जा सकता है। व्रजभाषा मे शब्दो के तोडने-मरोडने की परम्परा रही है। बिहारी ने उसी परम्परा को अपनाया है। यद्यपि यह तो नही कहा जा सकता कि बिहारी पर किसी भी शब्द के अस्वाभाविक रूप मे तोडने का आरोप लग ही नही सकता तथापि मिश्रबन्धुओ का आरोप अधिकतर असगत ही है। एक तो मिश्रबन्धुओ ने पाठ का विशेष अनुसन्धान नहीं किया। केवल प्रभुदयाल पाण्डेय के पाठ को

ही समीचीन मान लिया, दूसरे, शब्दो को आपने ठीक अर्थ में समझने की चेष्टा नहीं की इन्हीं कारणों से बहुत से शब्दो में तोड मरोड बतला दी गई। यदि ब्रजभाषा के अन्य कवियो से तुलना की गई होती तो बहुत से दोषो का समाधान प्राप्त हो जाता। नीचे इस प्रकार के कतिपय शब्दो पर विचार किया जाता है :—

(अ) बिहारी ने 'स्मर' का 'समरु' बनाया है। ब्रजभाषा मे आरम्भिक अर्ध सकार को पूरा कर लेने की आम प्रथा है। जैसे स्नेह को सनेह। स्वय समर शब्द का प्रयोग सूर इत्यादि ने प्राय. किया है। अतएव यह मनमानी गढन्त नही कही जा सकती।

(आ) तुष्ट के स्थान पर तूठ्यो का प्रयोग प्राय समस्त ब्रजभाषा कवियो ने किया है।

(इ) 'मोख' मोक्ष का अपभ्रंश है। यह शब्द भी प्रायः ब्रजभाषा काव्यो मे प्रयुक्त होता है।

(ई) 'ठिक' शब्द 'ठीक' का बिगडा हुआ रूप है। इसमें कोई विशेष तोड मरोड़ नही है।

(उ) 'भावकु' 'शब्द का अर्थ है' भाव-मात्र' अर्थात् इतना स्वल्प कि जिसका उन्नयन केवल भावना से हो सकता है, जो प्रत्यक्ष का विषय हो ही नहीं सकता। इस प्रकार भावकु शब्द स्वल्पतम अर्थ का वाचक है और कामिनीमुख के सौन्दर्य के समान 'निपुर्ण' प्रत्यभिज्ञेय' वाली विशेषता का परिचायक है। भाव शब्द से अल्प अर्थ मे 'क' प्रत्यय हुआ है और 'उ' विशिष्ट विभक्ति है। अतएव इसमे किसी प्रकार की तोड-मरोड नही है।

(ऊ) दुसाल और नटसाल शब्दो मे तोड मरोड मानी गई है। दुसार शब्द द्विसार से 'व' का सम्प्रसारण होकर बना है। बिहारी ने एक दूसरे दोहे मे दुसार शब्द का भी प्रयोग किया हैं। इसमे कोई ऐसी तोड मरोड तो दिखाई नही देती। यही दशा नटसाल की भी है। यह शब्द नष्ट शल्य का रूपान्तर मात्र है। इसमे भी कोई ऐसी अस्वाभाविक तोड़-मरोड नही है जो ब्रजभाषा के दूसरे कवियो मे न दिखलाई देती हो।

(ए) चोरटी, गोरटी शब्दो मे अस्वाभाविक तोड मरोड मानी गई है। यह शब्द चोरी और गोरी शब्दो के बिगडे हुए रूप है। ब्रजभाषा मे जिन शब्दो के अन्त मे रा या री होता है वहाँ रटो रटी क्रमश हो जाता है जैसे छोरा छोरटो, गोरी-गोरटी इत्यादि। यद्यपि ये इतने अधिक अस्वाभाविक तो नही हैं तथापि इन शब्दों का बिहारी के पहले के काव्य मे अधिक प्रयोग नही पाया जाता। दूसरी बात यह है कि यहाँ पर इन शब्दो का प्रयोग हास्यपरक हो गया है और शृंगार रस का उपघात करता है। अतएव यह दोष अवश्य है।

(ऐ) कुकत में भी तोड़ मरोड मानी गई है। दोहा इस प्रकार है :—

नसरु कुकत इन बिय लगत उपजत बिरह कृसानु।

पहले 'नतरुक' का नतरकु किया गया है और फिर इसको 'कत' में जोडकर कुकत वनाया गया। इस प्रकार जैसे तैसे विहारी पर दोषारोपण किया गया। वास्तविकता यह है कि नतरु शब्द 'नहीं तो' के अर्थ मे प्राय. आता है। उसी मे स्वार्थिक क प्रत्यय जोडकर 'नतरुक' वना है। इसमे कोई भी तोड मरोड नहीं है सीधा शब्द है।

(ओ) हई शब्द पर रत्नाकर की टिप्पणी देखिये—

यह शब्द संस्कृत हृति शब्द का अपभ्रंश रूप है। हृति का अर्थ विस्मय, भय, विवशता, निराशा इत्यादि होता है, यहाँ इसका अर्थ भय या विस्मय होता है। किसी किसी ने अरवी शब्द 'हयरत' का विगडा हुआ रूप मानकर विहारी पर शब्दो के मरोडने का धप्पा धरा है। पर हर्ष शब्द का प्रयोग विहारी ने विगाड कर नही किया है। यह शब्द अव भी भय के अर्थ मे अवध प्रान्त मे वोला जाता है जैसे 'उस खेत मे वन्दरो की वडी हई है'।

(औ) 'डाढी' शब्द पर मिश्रवन्धुओ ने नवरत्न मे आक्षेप किया है कि यह प्रान्तीय शब्द है और यह 'डाढी' (दौरहा आग) से निकला हुआ है। किन्तु इन्होंने यह ध्यान नही दिया कि सूर, तुलसी, केशव, भूपण, मतिराम, देव इत्यादि हिन्दी के मर्मज्ञ कवियो ने इस शब्द का जले हुए के अर्थ मे अनेकश प्रयोग किया है। विहारी ने भी इसी अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग किया है। यह परिष्कृत व्रजभापा का शब्द है न तो प्रान्तीय है और न विगाडा हुआ है।

(म) 'भयौ हरा-हर हारु' मे हरहारु को हलाहल कहकर आक्षेप किया गया है। किन्तु हार को हलाहल की उपमा सगत हो ही नही सकती। यहाँ पर हार को हर-हार (सर्प) की उपमा दी गई है जो कि कवि परम्परानुकूल है। शब्द का पदच्छेद ठीक न समझ सकने के कारण ही यह दोप-दृष्टि उत्पन्न हुई।

(अ:) विहारी ने ससौ शब्द का प्रयोग श्वास के लिये किया है। विहारी के प्रसिद्ध टीकाकार रत्नाकर ने इस शब्द का श्वास ही अर्थ किया है। श्वास के लिये ससौ अस्वाभाविक विगाड है। कुछ लोग इसका समाधान यह कहकर देते हैं कि यहाँ पर ससौ' का अर्थ सशय है तथा यहाँ पर विहारी ने कहा है कि-नित्य यही सशय वना रहता है कि वियोगिनी का जीव कैसे वचा हुआ है। यही अनुमान ठीक जान पडता है कि मृत्यु रूपी वाज विरहाग्नि की लपटो के डर से हसरूपी जीव पर झपट नही सकता, यदि यह अर्थ माना जावे तो जीव शब्द के अभाव मे अनुक्तपदतादोष आ जाता है। रूपकातिशयोक्ति के उपक्रम मे रूपक का लिखना स्वय एक दोष है। विहारी ने मीचु-सचानु 'विरह अगिनि लपटनु' मे रूपक रक्खा ही है। यदि यह माना जावे कि हसौ का प्रयोग जीव के अर्थ मे भी प्राप्त होता है। अतएव यहाँ पर हसौ का श्लेप से जीवरूपी हस' अर्थ होगा तो भी यहा पर हसौ मे 'औ' की मात्रा निरर्थक है। 'हसौ' का अर्थ होगा हस भी। प्रस्तुत प्रसग मे 'भी' का अर्थ सगत नहीं होता।

(क) मिश्रवन्धुओ ने 'वचँन बडी सबील हू चील घोसुआ मासु' के सबील शब्द को युक्ति या मार्ग के अर्थ मे मानकर प्रस्तुत प्रकरण मे असगत बतलाया है। किन्तु हिन्दी शब्द सागर मेँ सबील का एक और अथ दिया हुआ है--उपाय, तरकीब, यत्न। यहाँ पर उपाय के अर्थ मे सबील शब्द का प्रयोग बडा ही स्वाभाविक हुआ है। 'अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी चील्ह के घोसले मे माँस की धरोहर बचती नही।'

(ख) विहारी ने प्रणिधा का विकृत रूप पनिहा लिखा है जो कि स्वाभाविक विकार है। किन्तु मिश्रवन्धुओ ने इसे वुन्देलखण्डी शब्द पनाही का विकृत रूप मानकर आक्षेप किया है।

(ग) बिहारी ने 'नीठि' तथा 'नीठि नीठि' इन दोनो शब्दो का प्रयोग वहुत ही स्वाभाविक किया है। हिन्दी शब्द-सागर मे नीठि का अर्थ दिया हुआ है—अनिच्छा अथवा कठिनता से और 'नीठि नीठि' का अर्थ दिया हुआ है, 'किसी न किसी प्रकार।' इस प्रकार इन शब्दो पर आक्षेप करने का कोई अवसर ही नही।

(घ) 'चिलक' का प्रयोग चमक के अर्थ मे किया गया है। मिश्रवन्धुओ ने लिखा है कि यह शब्द व्रज और वुन्देलखण्डी मे चमक के अर्थ में वोला जाता है। किन्तु अपने प्रदेश मे पीडा के अर्थ मे आता है। इस शब्द के प्रयोग के कारण विहारी पर प्रान्तीय शब्द के प्रयोग का आक्षेप किया गया है। किन्तु सतसई वस्तुत· व्रजभाषा मे लिखी गई है। अतएव व्रजभाषा का शब्द किसी प्रकार भी असगत नहीं कहा जा सकता।

(च) विहारी ने वूढ शब्द का प्रयोग वीर वहूटी के अर्थ मे किया है। हिन्दी शब्द-सागर में इस शब्द का यही अर्थ दिया हुआ है। हिन्दी के दूसरे कवियो ने भी इस प्रकार का प्रयोग किया हैं। अतएव यह शब्द सदोप नही माना जा सकता।

(छ) नाँद उठना —भभक उठने के अर्थ में आता है और इसी अर्थ मे विहारी ने इसका प्रयोग भी किया है। जिस अर्थ मे लोकोक्ति के रूप मे इस शब्द का प्रयोग होता है उसी मे विहारीलाल जी ने भी किया है। लोकोक्ति के अनुरूप प्रयोग करने के कारण इसमे एक सुन्दरता है। मिश्रवन्धुओ ने नायिका का सम्वन्ध शब्द से जोडकर इसे अनुचित वतलाया है जो ठीक नही है।

(ज) 'वेपाइ' शब्द को विगडा हुआ वतलाया गया है। किन्तु इस शब्द का अविवक्षित वाच्य ध्वनि के रूप मे वहुत ही सुन्दर प्रयोग हुआ है।

(झ) 'चाड' शब्द चाट का अपभ्रंश है। जैसे शाटी का साडी, कटि का कडि इत्यादि।

(ट) खियाल शब्द खेल के लिये प्राय आता है। अतएव इसमे कोई विशेप तोड़ मरोड नही है।

(ठ) गाँसु शब्द 'ग्रास' से वना है। इसमे कोई अस्वाभाविक तोड-मरोड नहीं है।

इसी प्रकार असमर्थ, अप्रयुक्त, निहितार्थ तथा प्रादेशिक शब्दो की एक बडी-लम्बी सूची दी गई है। उनमे कुछ शब्द तो अवश्य अधिक विगडे हुए प्रतीत होते है। कुछ प्रादेशिक भी हैं; किन्तु अधिकतर शब्दो पर आक्षेप भ्रमवश किया गया है। 'निज' का 'निय', नदी का 'नै', धैर्य का घरहर, 'सैर के लिए' सैल इत्यादि दो-चार शब्द ऐसे अवश्य कहे जा सकते है जिनमे अस्वाभाविक विगाड़ हो गया है और उनसे प्रकरण मे ठीक अर्थ अभिव्यक्त नही होता। किन्तु अधिकतर शब्दो मे वलात् दोष निकालने की चेष्टा की गई है। रोज पडना या दिन पडना स्वाभाविक प्रयोग है उसको रोजा मानकर आक्षेप किया गया है। भूलि का अर्थ भूल कर होता है जो कि वडा सुन्दर प्रयोग है। 'अरुण चरण दुति भूलि' मे चरण के भूलकर फूल के रूप मे पड़ने मे चरण न्यास के वैयात्य की अभिव्यंजना होती है। किन्तु उसको भडने के अर्थ मे मानकर आक्षेप किया गया है। लोपे का अर्थ लुप्त करना है किन्तु उस को पूजा का लोप परक मानकर आक्षेप किया गया है। 'लोपे कोपे इन्द्र लो, रोपे प्रलय अकाल' का अर्थ होगा—'प्रलय अकाल को स्थापित किए हुए इन्द्र जैसे शत्रु को भी लुप्त कर दिया।' 'चीकने' का स्नेहमय अर्थ होता है पुष्ट अर्थ नही। किसी पक्षी का दौड़ना नही हो सकता यह भी विचित्र सी वात है।' 'नीची यै नीची निपट दीठि कुही लौ दौरि' पर मिश्रवन्धुओ ने लिखा है कि वाज दौडता नही उडता है। दृष्टि ने वाज के समान दौडकर आक्रमण किया। यह इन लोगो के मत मे ठीक नही हैं। दृष्टि ने वाज के समान उडकर आक्रमण किया यह कहा जाना चाहिए। सहृदय पाठक ही विचार करें कि वाज ने दौडकर पक्षी को झपट लिया इसमे अधिक शक्ति है या वाज ने उडकर पक्षी को झपट लिया इसमें अधिक शक्ति है? फिर उडना क्रिया का नेत्रो से क्या साधर्म्य होगा? 'साटि' सट्टा का विकृत रूप है। यदि साटना क्रिया भी मानी जावे तो भी इसका सर्वत्र बुरे अर्थ मे ही प्रयोग नही होता। साट-गाठ का प्रयोग छल-कपट पूर्वक किसी को वश मे करके उससे स्वार्थ साधन कर लेने का होता है। यहाँ पर नेत्रो की निन्दा ही वाच्य है और उन पर दलाली करने का आरोप लगाया गया है। अतएव यह शब्द सर्वथा उपयुक्त है। 'वारद' 'वार्द' का विकृत रूप है। 'वरि वरि' का अर्थ वकना किया गया है जो ठीक नही है। 'वरि वरि' का जल जल कर यह अर्थ ठीक है। 'हित' पति के अर्थ मे असमर्थ अवश्य है किन्तु हितैषी के अर्थ मे प्राय प्रयुक्त होता है। 'कटनि' का प्रयोग आसक्ति के लिये असमर्थ वतलाया गया है किन्तु इस अर्थ मे उसका प्रयोग लोक में प्राय होता है—मैं उस पर कटता हूँ। हाँ किसी अंश मे ग्राम्य दोष कहा जा सकता है। किन्तु प्रयोग वैशिष्ट्य से ग्राम्यता नही आने पाई है। गहिली—ग्रहिल का नही किन्तु गैली का विकृत रूप है। 'गैली' शब्द का प्रयोग मूर्ख के अर्थ मे प्रायः होता है।

विहारी के शब्दो के प्रयोग पर निष्पक्ष विवेचन करने की आवश्यकता है।

मिश्र बन्धुओ द्वारा दी गई सूची में कुछ शब्द ऐसे भी हो सकते हैं जो बिहारी ने प्रमाद वश लिख दिए हो और उनमे त्रुटि आ गई हो। किन्तु इन महानुभावों ने दोपो के विवेचन में असूया से काम लिया है और समर्थको ने अनुचित पक्षपात दिखलाया है। विहारी की भापा-परीक्षा पृथक् निवन्ध का विषय हो सकता है। अतएव यह विषय यहाँ पर छोडा जाता है।

वाक्य-दोष

रसानुगुण शब्दो तथा वर्णों का प्रयोग न होना प्रतिकूलवर्णता के नाम से अभिहित किया जाता है। विहारी का निम्नलिखित दोहा इसका उदाहरण हो सकता है—

ढरे ढार, तेहीं ढरत, दूजैं ढार ढरैं न।
क्यौं हूँ आनन आन सौं नैना लागत नैन॥

टवर्ग का अनुप्रास कठोर रसो के अनुकूल माना जाता है। यहाँ पर ढ का अनुप्रास शृगार रस मे प्रयुक्त हुआ है जोकि रस के प्रतिकूल है किन्तु इसका प्रयोग प्रथम दल में किया गया है। द्वितीय दल मे रसानुगुण वर्णों का उपादान हुआ है। अतएव इस दोप का बहुत कुछ परिमार्जन हो गया है।

विहारी ने जितनी कसावट के साथ रचना की उसमे अधिकपदता सम्भव नही है। आश्चर्य यह है कि कही न्यूनपदता भी नही आने पाई है। अधिकपदता निम्नलिखित दोहे मे पाई जाती है —

लपटी पुहुप पराग पट, सनी स्वेद मकरन्द।'

पराग पुष्पो का ही होता है। अतएव पुष्प शब्द अधिक है। इस विषय मे दर्पणकार का मत है—

'निरुपपदो मालाशब्द पुष्पस्रजमेवाभिधत्ते इति स्थितावपि
पुष्पमाला विभाति तें अत्र पुष्पशब्द उत्कृष्टपुष्पप्रसिद्ध्यै'।

अर्थात् उपपद रहित माला शब्द का अर्थ पुष्प माला ही होता है। ऐसी स्थिति मे पुष्प माला शब्द का प्रयोग उत्कृष्ट पुष्पो की माला होता है। यहाँ पर भी उत्कृष्ट पुष्पो की पराग से ही कवि का अभिप्राय है। अतएव इसे हम दोप नही कह सकते।

निम्नलिखित दोहे मे हतवृत्तत्ता दोप विद्यमान है —

तनक झूठ न सवादिली कौन वात परि जाइ।
तिय मुख रति आरभ की नहिं झूठियै मिठाइ॥

इस दोहे के प्रथम चरण मे लक्षण का तो अनुसरण ठीक किया गया है किन्तु पढने मे अश्रव्य है, अतएव यहाँ पर हतवृत्तत्ता दोप है। यदि इस चरण को 'तनक न झूठ सवादिली' इस रूप मे वदल दिया जावे तो उक्त दोप जाता रहेगा। इसी प्रकार 'कौन वात परि जाइ' मे ऐसे शब्दो का प्रयोग किया है जो अभीष्ट अर्थ देने मे कुण्ठित हो जाते है। कवि को यहाँ पर कहना तो यह अभीष्ट है कि चाहे किसी

बात मे पड़ जावे। किन्तु इन शब्दो से केवल प्रश्नवाचक अर्थ ही निकलता है। अतएव द्वितीय चरण मे वाक्यगत असमर्थ दोप है। पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने निम्नलिखित सोरठे मे भी हतवृत्तता दोप माना है —

मैं करि नारी ज्ञानु करि राख्यौ निरधारु यह।
वहई रोग निदानु वहै वैद ओषधि वहै।।

श्री व्यास जी के अनुसार इस सोरठे मे विपम मे जगण है और सप्तगण विभाग मे वैपम्य है।

विहारी के निम्नलिखित दोहे में सन्धिगत दोप है —

औरै भाँति भए ऽब ए चोसरू, चदनु, चदु।
पति बिनु अति पारतु विपति मारतु मारूतु मदु।।

'भयेऽब' में पूर्वरूप किया गया है। इस प्रकार का पूर्वरूप सस्कृत मे तो ठीक माना जाता है किन्तु हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध है। किन्तु यहाँ पर अनुशासन का अतिक्रमण नही है। निम्नलिखित दोहे में तो अनुशासन का भी अतिक्रमण कर दिया गया है: —

इहि अब जौंऽब दुखौ भये चला चलैं जिय सग।

'अब लोऽब मे औ के बाद पूर्वरूप किया गया है जो अनुशासन विरुद्ध है।

निम्नलिखित दोहे मे कथितपदता दोप है —

तिय तिथि तरुन-किसोर-वय पुण्य काल सम दोनु।
काहूँ पुण्यनु पाइयतु वैस सन्धि सक्रोनु।।

इस दोहे मे पुन्य शब्द का दो बार प्रयोग किया गया है। अतएव कथित-पदता दोप है। कुछ लोगो ने प्रथम पुण्य शब्द को विशेपण मानकर पवित्र काल अर्थ किया है। इस प्रकार पुनरुक्ति का किसी अश मे निराकरण हो जाता है। तथापि कुछ न कुछ दोप तो बना ही रहता है।

बिहारी ने भापा की सामासिकता को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। किन्तु यह सामासिकता कही-कही इतनी अधिक बढ गई है कि दोप की सीमातक पहुँच जाती है। निम्नलिखित दोहे मे कोई नायिका अपने प्रियतम को पत्र लिख रही है —

तो ही, निरमोही, लग्यौ मो ही इहै सुभाउ।
अनआएँ आवै नहीं, आएँ आवतु आउ।।

इस पत्र मे न तो नायिका की विरह वेदना ध्वनित होती है और न इसमे हृदय को स्पर्श करने की शक्ति है। नायक को वह निरमोही कहती है किन्तु स्वय नायक से भी अधिक उदासीन जान पड़ती है। चतुर्थ चरण मे तो ऐसा लगता है कि तार दिया जा रहा है और उसे चिन्ता है कि कही शब्द अधिक न बढ जावें।

निम्नलिखित दोहे में पतत्प्रकर्पता है —

कज नयनि मजनु किए बैठी ब्यौरति बार।।
कच अँगुरी बिच दीठि दै, चितवत नन्दकुमार।।

यहाँ पर प्रथम चरण का अनुप्रास धीरे-धीरे गिर गया है।

निम्नलिखित दोहे मे अश्लीलता विद्यमान है'—

वह कि न इहिं बहिना पुली, जब तब वीर विनासु ।
बचै न बड़ी सबील हूँ चील घोंसुवा माँसु ॥

यहाँ पर 'विनासु' शब्द का प्रयोग अमागलिक होने से अश्लील है तथा 'मांसु' शब्द मे घृणा की व्यजना होती है. अतएव यह शब्द भी अश्लील है। श्री पद्मसिह जी शर्मा ने इसके समर्थन में कालिदास के प्रमदामिप शब्द का निदर्शन उपस्थित किया है। इस पर मेरा निवेदन है कि 'वाधे दृढेऽन्यासम्यार्तिक, दृढेऽन्यदपि बाध्यताम्'—यदि बन्धन दृढ है तो दूसरे की समानता से छुटकारा नही मिल सकता। दृढ बन्धन में दूसरा भी उसी प्रकार बँध जाता है। दूसरी बात यह है कि आमिष शब्द का अर्थ भोग्य वस्तु भी है। अतएव कालिदास के दोष का जैसे-तैसे परिहार हो जाता है, किन्तु बिहारी के दोष का परिहार नही होता।

अर्थ-दोष—

बिहारी ने वर्षा काल मे चक्रवाक मिथुन का वर्णन किया है। मिश्रबन्धुओ का कहना है कि वर्षाकाल मे चक्रवाक होते ही नहीं। कवियो ने भी अधिकतर वर्षाकाल मे चक्रवाको के अभाव का ही वर्णन किया है। अतएव इस दोहे से बिहारी का प्रकृतिविषयक अज्ञान सिद्ध होता है। दूसरी ओर अनेक उदाहरणो के आधार पर सिद्ध किया जाता है कि कवि लोग वर्षा काल मे भी चक्रवाको का होना मानते है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि वास्तविकता क्या है ? कवियो का कहना है कि चक्रवाक की प्रकृति गन्दे जल मे रहने की नहीं होती। जब वर्षाकाल प्रारम्भ हो जाता है और नदियो का जल गदला होने लगता है तो चक्रवाक मानसरोवर को चले जाते हैं। मिश्रबन्धुओ ने लिखा है कि वे बन्दूक लेकर शिकार की तलाश मे निरन्तर इधर उधर घमते रहे किन्तु वर्षाकाल मे उन्हे कही हँस नही मिले। इसके अतिरिक्त मिश्रबन्धुओ ने पुरस्कार की भी घोषणा की थी। इन सब बातो से सिद्ध होता है कि चक्रवाको का वर्षा में न होना ही प्रमाण प्रतिपन्न है और जो कवि वर्षा काल मे चक्रवाको का वर्णन करते हैं वे भी बिहारी के समान भ्रान्त ही है। कवि समय ख्यातियो का वर्णन दूषित नही माना जाता। किन्तु यह विषय कवि समय ख्याति का नही है। अतएव यह बिहारी का ख्याति-विरुद्ध दोष माना ही जावेगा। रत्नाकर ने पालतू चक्रवाको की सत्ता लिखकर जो समाधान दिया वह भी अगतिक-गति ही है। अतएव मान्य नही हो सकता।

बिहारी ने निम्नलिखित दोहे मे मस्तक मे नख-रेखा का वर्णन किया है —

प्रान प्रिया हिय में बसै, नखरेखा-ससि भाल ।
भलौ दिखायौ आइ यह हरि-हर रूप रसाल ॥

कामसूत्रकार ने लिखा है कि पार्श्व प्रदेश तथा कक्षा, स्तनमण्डल तथा वक्ष स्थल, कण्ठ प्रदेश, जघन प्रदेश, नितम्ब प्रदेश तथा पूरी कमर, ऊरु प्रदेश और

पाठ ये ही स्थान नखक्षत के होते हैं। वात्स्यायन मस्तक को नखक्षत का स्थान नही मानते। अतएव यहाँ पर विद्या-विरुद्ध दोष है। किन्तु सुवर्णाभ का कहना है कि राग की प्रचण्डता मे स्थान-विशेष की अपेक्षा नही रह जाती और प्रवृत्ति के अनुरूप रति-चक्रप्रवृत्त नायक-नायिका कही भी नखच्छेदन कर बैठते हैं। इस प्रकार मस्तक मे नखरेखा के वर्णन से यह ध्वनि भी निकलती है कि तुम्हारा विश्रम्भ विहार इतनी प्रचण्ड रागावस्था मे हुआ है कि तुम्हें मर्यादा का भी ध्यान नही रहा। इस प्रकार ध्वनिपरक होने के कारण यहाँ पर मस्तक मे नखरेखा का वर्णन दोष नही कहा जा सकता।

प्रसिद्धि-विरोध का एक और उदाहरण दिया जाता है :—

अरी, खरी सटपट परी बिधु आधैं मग हेरि।
संग लगैं मधुपनु लई भागनु गली अँधेरि॥

रात्रि मे भ्रमर-वर्णन प्रसिद्धि-विरुद्ध है। किन्तु बाण, माघ, मतिराम और देव ने भी रात्रि मे भ्रमरो का वर्णन किया है। ऐसा कोई भी नियम नही कि वर्षाकाल मे भौंरे नही होते। अतएव इसे हम दोष नही कह सकते। प्रत्युत भौंरो के वर्णन से शरीर-सुगन्ध की अभिव्यक्ति होती है जिससे नायिका पद्मिनी सिद्ध हो जाती है। (अतएव ध्वनि-प्रवण होने के कारण भ्रमर-वर्णन गुण ही है)।

पंडित अम्बिकादत्त व्यास ने चर्खा कातने के वर्णन मे ग्राम्यत्व दोष माना है। किन्तु चर्खा ग्राम्यता का ही परिचायक नहीं कहा जा सकता। इसका वर्णन प्राय कवियो ने किया है। बिहारी सभी प्रकार के समाज का प्रतिनिधित्व करना चाहते थे। चर्खा वर्णन भी उसी का एक अंग है। मन्त्र-ब्राह्मण मे रहटा कातने वाली को देवी कहा गया है।

निम्नलिखित दोहे मे पतत्प्रकर्षता है —

कहा कुसुमु कहँ कौमुदी, कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखैं आँखि ऊजरी होति॥

कुसुम के बाद कौमुदी का कथन और फिर उसके बाद आरसी ज्योति का कहना प्रकर्ष का पतन है। किन्तु यहाँ पर कुसुम अपनी आह्लादकता के साथ कोमलता का परिचायक है, कौमुदी शीतलता की परिचायिका है और आरसी जोति चिक्कणता की परिचायिका है। तीनो पदार्थ तीन पृथक्-पृथक् गुणो के परिचायक हैं।

निम्नलिखित दोहे मे क्रम भंग दोष है —

इहिं बसत न खरी, अरी, गरम न सीतल बात।
कहि, क्यौं झलके देखियत पुलक, पसीजे गात॥

यहाँ पर गरम पहले कहा गया है और शीतल बाद मे। अतएव गर्मी का प्रभाव पसीना पहले कहना चाहिए और शीतलता का प्रभाव पुलक बाद मे कहना

चाहिए। किन्तु कवि ने उत्तरार्ध में पुलक पहले कहा है और पसीजना बाद मे। इस प्रकार यहाँ पर क्रम-भग दोष है। किन्तु यदि पसीजे को गात का विशेपरण मानें और यह अर्थ करें कि पसीजे हुए शरीर मे पुलक क्यो दिखाई दे रहे हैं तो इस दोप का परिमार्जन हो जाता है।

अलंकार-दोष

आचार्यों ने यमक अलकार का तीन पादो मे होना दोण माना है। विहारी के निम्नलिखित दोहे में तीन पदो मे यमक देखा जाता है —

तो पर वारौं उरबसी, सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन कैं उर बसी ह्वै उरबसी-समान॥

उपमा के अन्तर्गत उपमान और उपमेय मे लिंग-भेद एक दोप माना जाता है। विहारी ने निम्नलिखित स्थानो पर उपमान और उपमेय में लिंग-भेद कर दिया है :—

विरह विथा जल परस बिनु बसियत मो मन ताल।
कछु जानत जल थम्भ विधि दुरयोधन लौ लाल॥

यहाँ पर विथा उपमेय है और जल उपमान। व्यथा स्त्री लिंग शब्द है और जल पुलिंग। इस प्रकार लिंग-भेद होने के कारण यहाँ पर दोप है। इसी प्रकार :—

रह्यौ ऐंचि, अंतु, न लहै अवधि-दुसासन बीर।
आली, बाढतु विरहु ज्यौं पांचाली कौ चीर॥

यहाँ पर उपमेय स्त्री लिंग है और उपमान दुश्शासन वीर पुलिंग है।

उपमा में किसी वस्तु का बहुत अधिक बढ़ाकर कहना जिससे असत्यता का प्रतिभास होने लगे दोप माना जाता है। निम्नलिखित दोहे मे यही दोप है :—

बुधि अनुमान, प्रमान श्रुति किऐं नीठि ठहराइ।
सूछम कटि पर ब्रह्म की अलख, लखी नहिं जाइ॥

यहाँ पर कमर के लिए ब्रह्म की उपमा दी गई है, जो कि मर्यादातीत रूप मे अधिक है। इस प्रकार यहा पर दोप है। इन सब दोपो का समाधान यह है —

न लिंगवचने भिन्ने न न्यूनाधिकतेऽपि वा।
उपमादूपणायाभवो यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥

(लिंग और वचन के भिन्न होने पर अथवा न्यूनता और अधिकता मे वहाँ पर उपमा दोप नही होता जहाँ सुनने वालो को उद्वेग न उत्पन्न हो।) प्राय कवि लिंग और वचन के भेद मे भी उपमा देते है। यह दोप अधिकतर वही माना जाता है जहाँ दोनो के विशेपरण के रूप में एक ही शब्द का प्रयोग करना हो और वह दोनो से एक साथ मेल न खा रहा हो। अथवा जहाँ क्रिया बिना वचन-व्यत्यय के दोनो से न जुड सकती हो। उपर्युक्त दोहो मे यह बात नही है। अतएव दोप नही

माना जा सकता। कतिपय आलोचको ने विरह-विथा के लिये जल की उपमा मे एक दोप यह भी माना है कि व्यथा को प्राय अग्नि की उपमा ही दी जाती है, जल की नही। किन्तु यह दोप भी ठीक नहीं है। उपमा सर्वदा धर्म के आधार पर दी जाती है। यहाँ निर्लिप्तता साधारण धर्म है जिसके लिए जल की उपमा ही समीचीन है।

कुछ लोगो ने निम्नलिखित दोहे मे अन्त्यानुप्रास मे एक ही शब्द का होना दोप माना है —

लहि रति-सुखु लगि पै हियैं लखी लजौहीं डीठि।
खुलति न, मो मन बँधि रही वहै अधखुली डीठि॥

किन्तु यहाँ पर प्रथम दल मे परिष्कृत पाठ नीठि है। अतएव यह दोप नही आता।

रस-दोष

शास्त्रकारो ने विरह की दशम अवस्था मरण के वर्णन का निपेध किया है —

रसविच्छेदहेतुत्वान्मरण नैव वर्ण्यते।
जातप्राय तु तद्वाच्य चेतसाकाङ्क्षितं तथा॥

अर्थात् रस के विच्छेद मे हेतु होने के कारण मरण का वर्णन नही करना चाहिये। मरण का या तो जातप्राय अवस्था मे कथन किया जाना चाहिये, या चित्त से आकांक्षित अवस्था मे कहा जाना चाहिये। विहारी ने निम्नलिखित दोहे मे मरण का वर्णन किया है —

कहा कहौं वाकी दसा, हरि प्राननु के ईस।
विरह ज्वाल जरिबौ लखैं मरियौ भई असीस॥

यहाँ पर नायिका की सखी केवल यही कहना चाहती है कि नायिका की दशा ऐसी हो गई है कि यदि उसका मरण ही हो जावे तो भी शान्ति मिल सकती है। 'प्राननु के ईस' सम्बोधन के द्वारा वह यह भी प्रकट करना चाहती है कि उसके प्राण तुम्हारे ही हाथ मे हैं, अत चलकर उसकी रक्षा करो। इस प्रकार यहाँ पर मरण-वर्णन समझना भ्रममात्र है। मरण-वर्णन का दूसरा उदाहरण यह दिया जाता है —

कहे जु वचन वियोगिनी विरह-विकल विललाइ।
किये न को अँसुवा-सहित सु वाति वोल सुनाइ॥

इस दोहे मे प्रयुक्त शब्दो से ऐसा ज्ञात होता है कि नायिका मर चुकी है। क्योकि यदि नायिका जीवित होती और नायक के लौटने के वाद ये शब्द कहे गये होते तो सुनने वालो को हसी ही आती, आँसू तो तभी आ सकते हैं जब उन शब्दो का कहने वाला विद्यमान न हो। किन्तु विहारी ने कुछ न कुछ सभी रसो का वर्णन

किया है। अतएव इसे हम करुण शृ गार का उदाहरण मान सकते हैं।

गर्भिणी नायिका का वर्णन भी कवि-जगत् मे अधिक समादृत नही है। बिहारी के समर्थक कालिदास और बाण द्वारा इस प्रकार के वर्णन की युक्ति देकर बिहारी का समर्थन करते हैं। किन्तु ये वर्णन प्रबन्ध के उपयुक्त हो सकते हैं। कथा-प्रवाह में सभी कुछ वर्णन खप जाता है पर मुक्तक के क्षेत्र मे ऐसी बात नही है। इस विषय मे भी यही ज्ञात होता है कि बिहारी सभी अवस्थाओ का वर्णन करना चाहते थे। इसीलिये उन्होंने गर्भिणी नायिका का वर्णन करने मे भी सकोच नही किया। शृ गार के वर्णन मे बिहारी कही-कही मर्यादा का उल्लघन कर गये है —

लरिका लैबें कैं मिसनु लगरु मो ढिग आइ।
गयौ अचानक आँगुरी छाती छैलु छुआइ॥

ऊपर बिहारी के कतिपय दोषो का उल्लेख किया गया है। ये तथा इसी प्रकार के दो-चार स्थान ही प्रयत्न पूर्वक निकाले जा सकते हैं जिनमे स्फुट रूप मे दोष विद्यमान हो। इन दोषो से बिहारी की काव्य-साधना मे हीनता नहीं आती। जितनी परिष्कृत शैली में बिहारी ने मुक्तक काव्य-जगत् का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने की चेष्टा की है और जिस प्रकार के दोहा जैसे छोटे छद में पूर्ण प्रबन्ध को भर देने में सफलता प्राप्त की है उसे देखते हुए ये दोष नगण्य हैं और बिहारी की अति-शायिनी प्रतिभा मे किसी प्रकार की कमी नही आती।

बिहारी का हिन्दी-साहित्य में स्थान

हिन्दी साहित्य एक व्यापक शब्द है। इसमे कवि भी है, उपन्यासकार भी है, कहानीकार भी है और आलोचक भी है। इन सभी प्रकार के लेखको से बिहारी की तुलना नही की जा सकती। बिहारी ने कोई भी प्रबन्ध काव्य नही लिखा, इनका रीति शास्त्र पर कोई ग्रन्थ नही पाया जाता, उपन्यास, कहानी और आलोचना तो आधुनिक युग की वस्तुयें हैं; बिहारी से इस प्रकार के ग्रन्थो के लिखने की सम्भावना ही नहीं की जा सकती। अतएव सामान्यतया हिन्दी साहित्य मे बिहारी का स्थान निर्धारित कर देना न तो सम्भव ही है और न समीचीन ही। तुलना सदा साधर्म्य मे होती है। जो वस्तु, व्यजना, उपकरण, परिस्थिति इत्यादि प्रत्येक बात मे भिन्न है उनकी तुलना ही क्या? यदि बिहारी की तुलना प्रस्तुत की जा सकती है तो मुक्तक काव्यकारो से ही की जा सकती है। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कवियो का अपना-अपना क्षेत्र होता है। कोई किसी क्षेत्र मे बढ़ा-चढ़ा होता है दूसरा दूसरे क्षेत्र मे। अतएव सर्वथा एक कवि को दूसरे से बडा या छोटा कह देना किसी प्रकार भी सगत नही हो सकता।

तुलना दो दृष्टियो से की जा सकती है—प्रतिष्ठा तथा प्रभाव की दृष्टि से और काव्य की रमणीयता की दृष्टि से। प्रभावगत तुलना भी दो दृष्टियो से हो सकती है—दूसरे कवियो और साहित्यकारो पर प्रभाव डालने की दृष्टि से और परि-

शीलक-जगत् पर प्रभाव जमाने की दृष्टि से। जैसा वतलाया जा चुका है लेखकों को जितना बिहारी ने अपनी ओर आकर्षित किया है और बिहारी सतसई को लेकर जितने काव्य-ग्रन्थ लिखे गये हैं उतने हिन्दी साहित्य के किसी ग्रन्थ को लेकर नही लिखे गये। इस दिशा में कहना ही होगा कि राम चरित मानस भी अपवाद नही है। इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि बिहारी की रचना हिन्दी साहित्य मे सर्वोच्च शिखर पर आसीन हैं और बिहारी हिन्दी के प्रथम कवि होने के अधिकारी हैं। परिशीलको पर प्रभाव जमाने का जहाँ तक प्रश्न है, बिहारी द्वितीय कोटि के कवियो में आते है। अपनी धार्मिक भावना, आध्यात्मिक चेतना, भक्ति के क्षेत्र मे अनन्यता, काव्यागो का सर्वाङ्गीण उपादान और अभिव्यक्ति की विशेषता तथा समाज-सुधार की भावना को लेकर तुलसी ने जो प्रभाव भारतीय जनता पर जमाया है और काव्य-मर्मज्ञो में जो प्रतिष्ठा प्राप्त की है, स्वप्न मे भी कोई दूसरा कवि उसकी आशा नही कर सकता। यद्यपि समाज-सुधार की चेतना और काव्यागो के सर्वांगीण उपादान के क्षेत्र मे तुलसी से सूर पीछे रहे तथा अपनी गहराई के कारण रसिक जनो में उन्हें तुलसी के समकक्ष या उससे कुछ घटकर ही स्थान प्राप्त हुआ तथापि ये दोनो महाकवि हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य और चन्द्र माने जाते हैं और सहृदय पाठको की दृष्टि मे इनकी प्रतिष्ठा सर्वथा अक्षुण्ण है, किन्तु इन महाकवियो के वाद यदि रसिक जनो मे किसी का सर्वाधिक मान कहा जा सकता है तो वे बिहारी ही हैं। यद्यपि भूषण को अपनी वीरभावना की अभिव्यक्ति तथा देशानुराग के कारण पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है, जयदेव और विद्यपति भी अपनी उदार भावना के कारण पर्याप्त प्रतिष्ठित हैं और रीति काल के अन्य कवि भी आदर की दृष्टि से देखे जाते है तथापि सहृदयो मे जो स्थान बिहारी को प्राप्त हुआ है वह किसी और को प्राप्त नहीं है। इस प्रकार बिहारी को इस दृष्टि से तीसरा स्थान दिया जा सकता है अथवा हम इन्हें द्वितीय कोटि का कवि कह सकते हैं।

तुलना का दूसरा दृष्टिकोण हो सकता है काव्य कुशलता। बिहारी ने मुक्तक काव्य रचना की है और इसी क्षेत्र मे हम बिहारी के स्थान का निर्धारण कर मकते हैं। जैसा कि पिछले अध्यायो मे वतलाया गया है, मुक्तक काव्य को चार भागो मे विभाजित किया जा सकता है—रसात्मक मुक्तक, धार्मिक मुक्तक, सूक्ति मुक्तक और प्रशस्ति मुक्तक।

रसात्मक मुक्तक के क्षेत्र मे बिहारी के सामने आते हैं देव, केशव, मतिराम; विद्यापति, तोपनिधि और पद्माकर। अन्तिम तीन कवियो के बिहारी से नीचे होने मे तो कोई सन्देह ही नही। पद्माकर के भावो मे गाढा रस परिपाक है, उनकी काव्यानुभूति मे एक शक्ति है, भाषा पर भी इनका पर्याप्त अधिकार है। कहीं इनकी भाषा सजीव-प्रेमभरी मूर्ति उपस्थित करती है, कही भाव या रस की धारा वहाती है, कहीं अनुप्रासो की मिलित धारा वहती है और कही वीरदर्प की अभिव्यक्ति होती है,

किन्तु विहारी जैसी सामासिकता, वैसी अभिव्यक्ति की विशेपता और वैसी सूक्ष्म-दर्शिता इनमे विद्यमान नही है। तोपनिधि मे सरसता है, सहृदयता है और भापा मे स्वाभाविक प्रवाह है तथापि विहारी जैसी स्निग्धता, उनका जैसा उक्ति-वैचित्र्य और चमत्कार की प्रवृत्ति उनमे नही है। विद्यापति के गीतो मे सरसता पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है तथापि उनका क्षेत्र सकुचित है। इसी प्रकार ठाकुर, बोधा और घनानन्द का भी स्थान विहारी से नीचा ही है। यद्यपि घनानन्द में आवेग और तन्मयता पर्याप्त मात्रा में है, भापा विहारी से अधिक परिप्कृत तथा शुद्ध और व्यवस्थित है तथापि काव्य समृद्धि में वे विहारी से नीचे पड जाते हैं। मतिराम ने विहारी की अपेक्षा पारिवारिक जीवन के सच्चे चित्र अधिक उतारे हैं। मतिराम की भापा सरस और हृदय-ग्राहिणी है। भाव सरल और उच्च कोटि के हैं पर विहारी जैसा समास गुण उनमें विद्यमान नही है। मतिराम ने साज शृंगार के द्वारा कुछ चित्रो को मनोरम वनाया है पर विहारी के चित्र स्वतः पूर्ण तथा सुहावने है। मतिराम के भाव शुद्ध और सच्चे है, भापा में माधुर्य है और उपमायें उच्च कोटि की है किन्तु विहारी जैसी सामासिकता, समाहार शक्ति और अभिव्यक्ति की रमणीयता उनमें नही है।

केशव हिन्दी साहित्य में उच्च कोटि के स्थान पर विराजमान है। इन्होने अलकारप्रियता के साथ रसिकता भी पर्याप्त मात्रा मे दिखलाई है। इनका पाण्डित्य विहारी की अपेक्षा अधिक समृद्ध तथा प्रशस्त प्रतीत होता है, तथापि विहारी का जैसा हृदय तत्व इनमे विद्यमान नही है। इन्होने सस्कृत काव्य-जगत् के जिन भावो का उपादान किया है उनको प्राय ज्यो का त्यो रख दिया है और इसमे भापा की योग्यता तथा अयोग्यता का भी ध्यान नही रक्खा है। कही-कही वैसे के वैसे ही क्लिष्ट पद रख दिये हैं। विहारी ने भी सस्कृत तथा दूसरे साहित्यो के भाव लिये है परन्तु उनमे अपनी प्रतिभा के वल पर ऐसा पानी चढाया है कि उसमे एक नवीनता सी आ गई है। केशव की अपेक्षा जहाँ विहारी मे सरसता, सहृदयता और विवेक-शीलता अधिक है, वहाँ विहारी की भापा भी केशव से अधिक समृद्ध तथा परिष्कृत है। इस प्रकार हम विहारी को केशव से अधिक उच्च कोटि का कवि कहने को वाध्य है।

अव हमारे सामने इस दिशा मे केवल देव रह जाते हैं। इस शताब्दी के पहले किसी को कल्पना भी नही थी कि देव और विहारी की तुलना भी सम्भव हो सकेगी। जव पहले पहल मिश्रवन्धुओ ने देव को विहारी से अधिक अच्छा सिद्ध करने की चेष्टा की तव समालोचक जगत् को आश्चर्य ही हुआ था। इसका कारण देव की हीनता नही, अपितु देव के अध्ययन की कमी थी। वास्तव मे देव ने भावना का अच्छा चित्रण किया है। प्रेम के सच्चे चित्र उतारने मे देव को पर्याप्त सफलता मिली है। ये सौन्दर्य मे पूर्णतया रसमग्न होने की क्षमता रखते है। किन्तु देव और

विहारी की तुलना मे एक वात पूर्णतया ध्यान मे रखनी चाहिए। देव और विहारी दोनो के दृष्टिकोण तथा क्षेत्र मे भेद था। विहारी ने काव्य के विभिन्न तत्त्वों को समझ कर उनका पूरा प्रतिनिधित्व करने की चेष्टा की। सस्कृत तथा प्राकृत की मुक्तक कविता का सच्चा स्वरूप सहृदयो के सामने रखने मे जो सफलता विहारी ने प्राप्त की है वह अभूतपूर्व है। गोवर्धन ने तो प्राकृत गाथाओ की सुन्दरता को सस्कृत मे उतारने के दुष्कर कार्य की प्रतिज्ञा ही की थी किन्तु विहारी ही एक ऐसे कवि है जिन्होने हिन्दी काव्य मर्मज्ञो को उस रस-सागर का पान ही नही कराया किन्तु उसको कही अधिक वढा-चढा कर सुन्दर रूप मे सहृदयो के सामने उपस्थित किया है। हम इस वात को मान सकते हैं कि देव मे भावना की तीव्रता और रस-मग्नता पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है। हम यह भी स्वीकार कर सकते है कि इन्होने शव्दो की सगीतात्मकता को अधिक महत्त्व दिया है और देश की विभिन्न भागो की स्त्रियो के स्वभाव और प्रभाव के वर्णन मे इन्होने सवसे अधिक पटुता प्रदर्शित की है तथापि ये विहारी से दूसरी वातो मे पीछे रह जाते हैं। यद्यपि देव की भाषा मे सगीतात्मकता अधिक है और अनुप्रास की छटा अधिक दिखलाई देती है तथापि विहारी की जैसी परिष्कृत भाषा लिखने मे ये समर्थ नही हो सके है। अनुप्रास के लिए इन्हें प्राय शव्द गढने पड़े हैं और अनुप्रास के लोभ मे इन्होंने प्राय अपने उठाये हुए भाव का निर्वाह नही कर पाया है। विहारी मे कलात्मकता अधिक है। जहां इन्होंने सयोग वियोग के तीव्रतम भावो को देव के समकक्ष ही अभिव्यक्त किया है वहाँ चम्त्कार विधान मे देव विहारी से कही अधिक पीछे छूट जाते हैं। कुछ लोगो ने विहारी पर यह आरोप लगाया है कि विहारी ने उचित चमत्कार के फेर मे पड़कर वहुत से पद्यो की रसार्द्रता की उपेक्षा कर दी है। उन्हें यह वात ध्यान मे रखनी चाहिए कि विहारी मुक्तक काव्य जगत् के प्रतिनिधि कवि है। विहारी ने रसमयता तथा चमत्कार विधान का जैसा सुन्दर सामञ्जस्य उपस्थित किया है वह वडे वडे कवियो के लिए भी स्पृहणीय है। विहारी ने सौन्दर्य के सूक्ष्म ने सूक्ष्म तत्त्व को ग्रहण कर शव्दवद्ध करने की जैसी अपूर्व क्षमता प्राप्त की है वैसी देव अथवा रीतियुग के किसी कवि मे नही। विहारी ने कला का माध्यम सूक्ष्म ही चुना था। विहारी मे लाक्षणिकता और व्यजनात्मकता की जैसी रमणीयता दृष्टिगत होती है वैसी दूसरे कवि को दुर्लभ है। इनमे भाषा का समास गुण भी अद्वितीय है। यदि आनन्दवर्धन के शव्दो मे कहा जावे तो मानना पडेगा व्यजना की महत्ता ही किसी कवि की कसौटी होती है और उसी के वल पर महाकवित्व का पद प्राप्त हुआ करता है। कालिदास इत्यादि दो चार महा कवियो को भी अपनी व्यञ्जना की सम्पत्ति के कारण ही महाकवित्व का प्रशस्त पद प्राप्त हुआ है। यदि लाक्षणिकता और व्यजनात्मकता ही कविता का माप-दण्ड माना जावे तो विहारी निस्सदेह देव ही नही रीति काल के किसी भी कवि से आगे हैं। ठीक अर्थ मे इन्हीं की कविता मे अलंकार दिखलाई देते हैं। भावो का उनसे अलकरण ही होता है तिरोधान नही।

दूसरा दृष्टिकोण धार्मिक कविता सम्बन्धी है। बिहारी मे जितनी भी धार्मिक व्यजनायें की गई है उनको देखते हुए यह नही कहा जा सकता कि वे परम्परा निर्वाह मात्र के लिए ही हैं अथवा उनकी रागात्मिका प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया मात्र है। बिहारी मे सन्त कवियो के समकक्ष ही आत्म-गर्हणा, आत्म-निवेदन तथा वैराग्य की भावना विद्यमान है। बिहारी का सम्बन्ध हरिदासी सम्प्रदाय से था और बिहारी इस सम्प्रदाय के दीक्षित शिष्य थे। अपने प्रारम्भिक जीवन मे इन्होने इस सम्प्रदाय से सस्कार प्राप्त किए थे और अपने परवर्ती जीवन मे भी ये इसी सम्प्रदाय के आश्रय मे रहे थे। अतएव इनका धार्मिक सस्कार प्रौढ़ था। इसीलिए इनकी अभिव्यक्तियो मे आत्म-तत्व के दर्शन होते है। निर्गुण धारा के कवियो से तुलना करना ही व्यर्थ है क्योकि इनके दृष्टिकोणो मे भेद है। सगुण धारा मे सूर तथा तुलसी धार्मिक क्षेत्र के नेता माने जाते हैं। अपनी हीनता तथा अपने आराध्य की महत्ता स्थापित करने मे इन कवियो की तुलना कोई नही कर सकता। मीरा की विरह-वेदना भी तीव्र तथा प्रौढ़ है। रसखान की प्रेम-साधना भी अधिक उत्कृष्ट है। इन कवियो के बाद यदि आत्म निवेदन की दिशा मे कोई कवि आ सकता है तो बिहारी ही है। बिहारी ने सूर से अधिक भाव लिये है और सूर के निकट भी अधिक पडते हैं। अष्ट छाप तथा कृष्ण भक्ति के दूसरे कवियो ने कृष्ण की लीलाओ मे आनन्द लिया है। आत्म-निवेदन की दिशा मे उनमे वह बात नही पाई जाती।

सूक्ति काव्य मे बिहारी के अतिरिक्त कबीर, नानक, मलूकदास, तुलसी तथा रहीम की सूक्तियाँ अधिक प्रसिद्ध हुई है। निर्गुण धारा के कवियो की सूक्तियाँ एकागी हैं। उनमे वैराग्य की भावना तो पाई जाती है किन्तु आर्थिक, व्यावहारिक तथा कामपरक सूक्तियो की हम इन कवियो से आशा ही नही कर सकते। तुलसी की सूक्तियो मे व्यावहारिकता भी है और धार्मिकता भी किन्तु कामसम्बन्धी सूक्तियो की इनमे भी कमी है। सूक्ति-काव्य की दृष्टि से रहीम का स्थान बहुत ऊँचा है। रहीम ने अपने लौकिक ज्ञान के आधार पर जो रचनायें की हैं और जैसा व्यावहारिक ज्ञान देने की चेष्टा की है उसकी तुलना करना बहुत कठिन है। किन्तु बिहारी की सूक्तियो मे एक मौलिक अन्तर है। एक तो बिहारी की सूक्तियाँ सभी दिशाओ मे प्रवृत्त हुई है और सर्वाङ्गपूर्ण हैं, दूसरे कलात्मकता रहीम की अपेक्षा बिहारी मे अधिक है और व्यावहारिक ज्ञान के क्षेत्र मे रहीम आगे है। एक बात और है बिहारी ने दोनों प्रकार की सूक्तियाँ लिखी हैं— अन्योक्ति पद्धति पर भी और प्रत्यक्षोक्ति के रूप मे भी। बिहारी की अन्योक्तियाँ हिन्दी काव्य जगत् मे अपना जोड नही रखतीं। इस प्रकार भी बिहारी अग्रगण्य ही सिद्ध होते हैं।

अब रह गई प्रशस्ति-काव्य की बात। जैसा कि बतलाया जा चुका है कि बिहारी की मनोवृत्ति प्रशस्तियो मे नही लगती थी। बिहारी ने केवल परम्परा-निर्वाह तथा परिस्थितियो की विवशता से ही प्रशस्तिया लिखी थी। उनमे हृदय-तत्व विद्यमान नही है। इस दिशा मे भूषण का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त कवि गंग इत्यादि भी विहारी से कहीं अधिक आगे हैं इसमें सन्देह नहीं।

उपसंहार

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि विहारी ने प्राचीन काव्यो का पूरा अध्ययन कर उसके रहस्य को समझने की चेष्टा की थी और उसका पूरा प्रतिनिधित्व अपने काव्य मे किया है। शास्त्रीय परम्परा की दृष्टि से भी विहारी की रचना पूर्ण है और वस्तुमूलक परम्परा की दृष्टि से भी सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ इनकी कविता मे अधिगत हो जाती हैं। लाक्षणिक वक्रता, व्यजनात्मकता इत्यादि काव्य के महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी तत्त्वो पर विहारी ने पर्याप्त ध्यान दिया था और अभिव्यक्ति के क्षेत्र में बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया था। इनकी कविता मे स्वाभाविक तथा अतिशयोक्तिपूर्ण दोनो प्रकार के चित्र प्राप्त होते हैं। एक ओर इनमे भारतीय काव्यधारा की आत्मा सुरक्षित है और दूसरी ओर मुसलमानी दरबार की छाप भी पायी जाती है। अलकार-प्रयोग की दिशा में ये पूर्णरूप से सिद्ध हस्त हैं और अलकारो को अलकारो के रूप मे रखने की इनमे अभूतपूर्व क्षमता है। इस विषय में आचार्यों के निर्देशो का इन्होने पूर्ण रूप से पालन किया है। इनका ध्यान भाषा की अव्यवस्थितता पर भी गया था और इन्होने पूर्ण प्रयत्न के साथ भाषा का व्यवस्थित रूप अपने हृदय में कल्पित कर लिया था तथा उसी प्रकार की भाषा का सर्वत्र प्रयोग किया। हम कह सकते हैं कि विहारी कवि धन्य हैं और उनकी सूक्तियो का सेवन करने से हम भी धन्य ही हो गए हैं।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थों की सूची

LIST OF ENGLISH BOOKS

(a) **History of literature** —

(1) Keith·History of Sanskrit Literature.
(2) Mackdonell—Sanskrit Literature.
(3) Wever—History of Sanskrit Literature.
(4) Winternitza—History of Indian Literature Vol. I
(5) Winternitza—History of Indian Literature Vol. II
(6) Rhyse David—Psams of Sisters
(7) Rhyse David—Psams of Brothers.
(8) Sir, George Griarson—Introduction to Lal Chandrika.
(9) Ajit Prasad Jain—Historical Jainism.
(10) Sir Radha Krishna—Indian Phliosophy
(11) A Sen—Schools and Sents of Jain Literature.
(12) Bulhar—The Indian Sect of Jainism.
(13) C. L. Sah—Jainism in North India.

(b) **History Books**

(1) Dr. Tara Chand—Influence of Islam on Indian Culture.
(2) Ishwari Prasad—A Short History of Muslim Rule in India.
(3) Banarsi Prasad Saxena—History of Shahjehan of Delhi.
(4) Jadunath Sarkar—History of Aurangzeb. 4 Volumes.
(5) Dr. Veni Prasad—History of Jehangir.
(6) Jadunath Sarkar —Fall of Moghal Empire, 2 Volumes.
(7) Tod—Annals and Antiquities of Rajasthan.
(8) R. C Dutta—History of Ancient Indian Civilization.
(9) Majumdar—Ancient India
(10) A. L. Bassom—History of India.
(11) Bhartiya Vidya Bhawan—The History and Culture of Indian People, Ist. three volumes.

(c) **Poetic**

(1) S. K. De.—Sanskrit Poetics.
(2) P. V. Kane—Introduction to Sahitya Darpan.
(3) Pande Ji—Indian Aesthetics.
(4) Pande Ji—Abdinava Gupta.

संस्कृत ग्रन्थ

१. पचाशिका
२ घट कर्पट काव्यम्
३. कलिविडम्बन काव्य द्वारा नीलकण्ठ दीक्षित
४ अमरूक शतक
५ औचित्य विचार चर्चा
६. आर्यासप्तशती
७ कटाक्षशतक द्वारा मूक कवि
८ निर्वाणाष्टक " शुक
९ पुष्पवाण विलास " कालिदास
१०. भामिनी विलास " पण्डितराज
११. मेघदूत " कालिदास
१२ शृ गार तिलक " कालिदास
१३ काव्य माला (१५ भाग)
१४ समयोचित पद्यमालिका
१५ ऋतु सहार
१६ सुभाषितावलि
१७ वात्स्यायन कामसूत्र
१८ रति रहस्य

प्राकृत ग्रन्थ

१. थेरी गाथा
२ थेर गाथा
३ गाथा सप्तशती
४. पारमी महाशतक—धम्मय किति
५. महावीर वाणी
६. नान्दी
७. अनु योगदार
८. सुत्त पिटक

लक्षण-ग्रन्थ

१. सीताराम शास्त्री —साहित्योद्देश
२ विश्वनाथ —साहित्य दर्पण ✓
३. दण्डी —काव्यादर्श
४. वामन —काव्यालकार सूत्र ✓

५. व्यास —अग्नि पुराण
६ पण्डितराज जगन्नाथ —रस गगाधर
७. भरत मुनि —नाटय शास्त्र
८. आनन्दवर्धन —ध्वन्यालोक
९. अभिनवगुप्त —लोचन
१० कुन्तक —वक्रोक्ति जीवित
११. धनञ्जय —दशरूपकम्
१२. राजशेखर —काव्यमीमासा
१३ मम्मट —काव्यप्रकाश
१४. जयदेव —चन्द्रालोक
१५. अप्पयदीक्षित —कुवलयानन्द
१६. भानुदत्त —रस मजरी
१७. क्षेमेन्द्र —औचित्य विचार चर्चा
१८. नन्ददास —रसमजरी
१९. रहीम —वरवै नायिका भेद
२०. केशव —रसिकप्रिया
२१ मतिराम —ललित ललाम
२२ रुद्रट —काव्यालकार
२३. वाग्भट —वाग्भटालकार
२४. हेमचन्द्र —काव्यानुशासन
२५ बलदेव प्रसाद उपाध्याय —भारतीय काव्य शास्त्र
२६. रामचन्द्र शुक्ल —रसमीमांसा
२७. हरि औध —रस कलश
२८. कन्हैयालाल पोद्दार —अलकार प्रकाश
—काव्य कल्पद्रुम
—संक्षिप्त अलकार मजरी
२९ गुलाबराय —नवरस
३०. चिन्तामणि —कविकुल कल्पतरु
३१. जयदेव —चन्द्रालोक
३२. जसवन्तसिंह —भाषा भूषण
३३ रहीम —वरवैनायिका भेद
३४ रामदहिन मिश्र —काव्यदर्पण
—काव्य मे अप्रस्तुत योजना
—काव्यालोक
३५. रघुनाथ पाण्डेय —काव्यशास्त्र

आलोचना

आलोचनात्मक पुस्तकें

१ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र —जयदेव
२. भुवनेश्वर मिश्र —मीरा की प्रेम साधना
३ डा० धीरेन्द्र वर्मा —अष्टछाप
४ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल —तुलसीदास
५. डा० बड़थ्वाल —सूरदास
६ मुंशीराम शर्मा —सूर-सौरभ
७. श्री जनार्दन मिश्र —विद्यापति
८ उमेश मिश्र —विद्यापति ठाकुर
९ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र —वाङ्मय विमर्श
१०. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल —सूरदास
११. भुवनेश्वर नाथ मिश्र —सन्त साहित्य
१२. ब्रजेश्वर एम० ए० —हिन्दी के वैष्णव कवि
१३. डा० बड़थ्वाल —हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय
१४. डा० नगेन्द्र —रीति काव्य की भूमिका और देव
१५. डा० भागीरथ मिश्र —हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास
१६ लीलाधर गुप्त एम० ए० —पाश्चात्य साहित्या लोचना के सिद्धान्त
१७. रामदहिन मिश्र —काव्य मे अप्रस्तुत योजना
१८. गुलाब राय —हिन्दी काव्य विमर्श
१९ दीनदयालु गुप्त —अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय
२०. उमरावसिंह —रहीमरत्नाकर
२१ किरणकुमारी गुप्त —हिन्दी काव्य में प्रकृतिचित्रण
२२. कृष्णलाल —मीराबाई
२३. कृष्णशंकरशुक्ल —केशव की काव्यकला
२४ गुणानन्द जुयाल —विद्यापति का अमर काव्य
२५ गुलाबराय —सिद्धान्त और अध्ययन
२६ चन्द्रबली पाण्डेय —केशवदास
२७ चन्द्रशेखर पाण्डेय —रसखान और उनका काव्य
२८ जगन्नाथराय शर्मा —सूर साहित्य
२९ जितेन्द्रभारती —कवि सेनापति
३०. ज्ञानचन्द्र जैन —मीरा और उनकी प्रेम वाणी
३१. दुर्गाशंकर मिश्र —रसखान का अमर काव्य
—सेनापति और उनका काव्य

३२. द्वारकादास पारीख —सूरनिर्णय

३३ डा० धीरेन्द्र वर्मा — व्रजभाषा

३४. नन्ददुलारे वाजपेयी —महाकवि सूरदास

३५. डा० नगेन्द्र —देव और उनकी कविता
—भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका

३६. नरेन्द्रनाथ दास —विद्यापति का काव्यालोक

३७. परशुराम चतुर्वेदी —मध्यकालीन शृंगारिक प्रवृत्तिया
मध्यकालीन प्रेम साधना

३८. प्रभुदयाल मीतल —अष्टछाप परिचय
व्रजभाषा साहित्य का सौन्दर्य
सूरनिर्णय

३९ बलदेव उपाध्याय —सस्कृत कवि चर्चा

४०. भारतभूषण सरोज —सूरदास एक अध्ययन

४१. मनोहरलाल गौड —आलोचक क्षेमेन्द्र

४२. मुन्शीराम शर्मा —भारतीय साधना और सूर-साहित्य

४३. मुरलीधर श्रीवास्तव —मीराबाई का काव्य

४४. राजेन्द्रसिंह गौड —प्राचीन कवियो की काव्य साधना

४५. राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी —रीति कालीन कवितायें एवं शृंगार रस का विवेचन

४६. राम नरेश वर्मा —वक्रोक्ति और अभिव्यंजना

४७. रामरतन भटनागर —नन्ददास एक अध्ययन
—विद्यापति
—सूरदास

४८. लक्ष्मीनारायण सुधांशु —काव्य मे अभिव्यंजनावाद ✓

४९. विजयेन्द्र स्नातक —प्राचीन कवियो की काव्य साधना

५०. विश्वम्भरनाथ —हिंदी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि ✓

५१ सतीशचन्द्रराव —विद्यापति और उनकी कविता

५२. सरयूप्रसाद अग्रवाल —अकवरी दरवार के कवि

५३. सावित्री सिन्हा —मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ

५४. सीताराम चतुर्वेदी —समीक्षाशास्त्र ✓

५५ डा० सुधीन्द्र —रास पञ्चाध्यायी और भ्रमर गीत
५६ सुरेशचन्द्रगुप्त —प्राचीन कवियो की काव्य साधना
५७ हजारी प्रसाद द्विवेदी —मध्यकालीन धर्मसाधना
—हिन्दी साहित्य की भूमिका
५८ हरवंशलाल शर्मा —सूर काव्य की आलोचना
५९ हीरालाल दीक्षित —आचार्य केशवदास

साहित्य का इतिहास

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल —हिन्दी साहित्य का इतिहास
२ मिश्र वन्धु —मिश्र वन्धु विनोद
३ हजारीप्रसाद द्विवेदी —हिन्दी साहित्य की भूमिका
४ डा० रामकुमार वर्मा —हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
५ सूर्यकान्त शास्त्री —हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास
६. कामताप्रसाद जैन —हिन्दी जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास
७ राम वावू सक्सेना —उर्दू साहित्य का इतिहास
८ चन्द्र सेन वावू —जैन ग्रन्थ सग्रह
९ मूल चन्द्र जैन —जैन कवियो का इतिहास
१०—अगरचन्द्र नाहटा —ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह

विहारी विषयक ग्रन्थ

इस सूची मे विहारी पर लिखी हुई टीकायें तथा पद्यात्मक व्याख्याये सम्मिलित नहीं हैं।

१ ज्वालाप्रसाद मिश्र —भावार्थ प्रकाशित की भूमिका
२ कृष्ण कवि —विहारी सतसई
३ रामरतन भटनागर —विहारी सतसई
४ कमला देवी गर्ग —विहारी वैभव
५ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र —विहारी की वाग्विभूति
६ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – विहारी
७ कृष्ण विहारी मिश्र —देव और विहारी

८. लाला भगवान दीन —बिहारी और देव
९. लोकनाथ द्विवेदी —बिहारी दर्शन
१०. प० पद्मसिंह शर्मा —सजीवन भाष्य की भूमिका
११. प० अम्बिकादत्त जी व्यास --बिहारी बिहार की भूमिका
१२. डा० रमाशकर प्रसाद —सक्षिप्त बिहारी की भूमिका
१३. मिश्रबन्धु --हिंदी नवरत्न
१४ रत्नाकर —कविवर बिहारी
१५. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका (आठवाँ भाग)
१६ लाला भगवान दीन —बिहारी बोधिनी की भूमिका
१७. शारदा पत्रिका —लाला भगवान दीन का लेख
१८. भारत भूषण सरोज —आलोचनात्मक अध्ययन
